(ज्ञानोदय ग्रंथमाला पुष्प-2)

ॐ

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

समयसार

समयपाहुड - समयप्राभृत

(श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति श्रीमद् जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीकाद्वयोपेत:)

आचार्य कुन्दकुन्द कृत - प्राकृत गाथा सूत्र

(संस्कृत छाया, हिन्दी पद्यानुवाद, गाथार्थ सहित)

आचार्य अमृतचन्द्र कृत - आत्मख्याति संस्कृत टीका

(पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत हिन्दी भाषा वचनिका एवं भावार्थ)

आचार्य जयसेन कृत - शुद्धात्मानुभूतिलक्षण तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका

(हिन्दी अनुवाद सहित)

आलेख

बाबू 'युगल' जैन एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा

आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय

Jainism : The Real Metaphysics and Comparative Study

सम्पादक

बाल ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम', भोपाल

सह-सम्पादक

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

तीर्थधाम ज्ञानोदय (दीवानगंज) भोपाल

श्री कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान, उज्जैन

प्रथम संस्करण - 3200 प्रतियाँ (भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव के अवसर पर - नवम्बर 2020)

वीर निर्वाण सम्वत् 2547 विक्रम सम्वत् 2077 ईस्वी सन् 2020

लागत राशि २५०/- न्यौछावर : 100 रुपये **(आगामी प्रकाशन हेतु)** **OUT OF INDIA - US $ 15**

प्राप्ति स्थान / Available at –

- **श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट** तीर्थधाम ज्ञानोदय (दीवानगंज) भोपाल मो. ९४२५६१३०९६
- **श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल** चौक भोपाल 462001 मो. ९९९३३५४५३३
- **पूज्यश्री कानजीस्वामी स्मारक ट-स्ट** वेलतगाँव रास्ता, देवलाली-नाशिक 422401 मो. ९५२९८०५७३१
- **श्री कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान** चिमनगंज मण्डी, उज्जैन मो. ९४२५०९११०२
- **तीर्थधाम मंगलायतन** पो. सासनी 204216 जिला-हाथरस (उ.प्र.) मो. ९७५६६३३८००
- **श्री कुन्दकुन्द स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट** नेहरू पुतला इतवारी, नागपुर मो. ८६६८५६७३१७
- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट-स्ट** ए-4, बापू नगर, जयपुर 302015 (राज.) मो. ९७८५६४३२०२
- **आचार्य अकलंक जैन न्याय महाविद्यालय** कुपड़ा-बाँसवाड़ा (राज.) मो. ७७२६८८८३९९
- **श्री कुन्दकुन्द कहान दिग.जैन मुमुक्षु आश्रम ट-स्ट** गिरधरपुरा कोटा-324007 मो. ९७८५६४३२०३
- **शाश्वत धाम,** उदयपुर (राज.) मो. ९४१४१९३४९२
- **श्री कु.कु.कहान दिग. जैन विद्यार्थीगृह** सोनगढ़-भावनगर 364250 मो. ९७८५६४३२७७
- **Shree Kundkund Kahan Parmarthik Trust** मो. ०२२-२६१०४९१२, २६१३०८२०
  302, Krishna Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd., V. L. Mehta Marg,
  Vile Parle (W), Mumbai 400056 INDIA

U.S.A.

- **President, Jain Center of Greater Boston**
  556, Nichols Street, Norwood MA 02062 U.S.A.
- **Dr. Kirit P. Gosaliya,**
  14853, North 12th Street, Phoenix, Arizona, 85022 U.S.A. e-mail : digjain@aol.com
- **Mrs. Jyotsana V. Shah,**
  602, Hamilton Avenue, Kingston, PA 18704-5622, U.S.A. e-mail : jyotsana2@yahoo.com

U.K.

- **President, Shri Digamber Jain Association**
  1, The Broadway, Wealdstone, Harrow, Middlesex, HE3 7EH, U.K.

Kenya

- **President, Digamber Jain Mumukshu Mandal, Nairobi**
  M/s. Coblantra Ltd., G.P.O. 00100, P.O. Box - 41619, Nairobi, **Kenya**
  e-mail : spraja@mitsuminet.com

Laser Type Setting and Printing

Jain Computers, A- 4, Bapu Nagar, **Jaipur**-15 **Mob.** 094147-17816, **e-mail-** jaincomputers74@gmail.com

The

SAMAYASARA

in Prakrut-Gatha Sutras by

AACHARYA KUNDA-KUNDA DEVA

with
The Atmakhyati Sanskrit commentary by
Aacharya Amrut Chandra Deva alongwith its
Hindi commentary by **Pt. Jaichand ji Chhabada**
and
The Tatparyavrutti Sanskrit commentary by
Aacharya Jayasena Deva alongwith its
Hindi version

Composition by

Babu 'Yugal' Jain, M. A. Sahityaratna, Kota
Aacharya Kunda-Kunda & his Biography
Jainism : The Real Metaphysics and Comparative Study

Edited by
with Prologue in English by

Bal. Br. Hem Chand Jain 'Hem'
(Retd. Sr. Manager/Steam Turbine Engineer)
Bharat Heavy Electricals Ltd. Bhopal. (M.P.)

Assisted by

Pt. Ramesh Chand Jain Shastri
Jaipur (Raj.)

Published by

Shri KundKund Kahan Digambar Jain Trust
Tirthadham Gyanoday, (Deewan ganj) Bhopal
Shri KundKund Pravachan Prasaran Sansthan, Ujjain

अनुक्रमणिका

–	प्रकाशकीय शृंखला		7-12
–	सम्पादकीय	– बा.ब्र.पण्डित हेमचन्द जैन 'हेम' देवलाली	13-20
–	उपोद्घात	– पण्डित हिम्मतलाल जे. शाह, सोनगढ़	21-26
–	Prologue (भूमिका)	– Br. Hem Chand Jain "Hem" Bhopal	27-35
–	The Sum and Substance of Smayasara	– Br. Hem Chand Jain "Hem" Bhopal	36-40
–	आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय	– बाबू 'युगल' जैन, एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा	41-57
–	जैनदर्शन - स्वरूप एवं समीक्षा	– बाबू 'युगल' जैन, एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा	58-65
–	Jainism : The Real Metaphysics and Comparative Study	– Babu "Yugal" Jain, M.A. Sahityaratan, Kota	66-71
–	शिलालेख		72
–	The Upright Man	– Babu "Yugal" Jain, M.A. Sahityaratan, Kota	73
–	आत्मध्यान से सम्यक्त्व	ह्न आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी	74-76
–	श्री समयसार स्तुति	– पण्डित हिम्मतलाल जे. शाह, सोनगढ़	77
–	शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति	– 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' ग्रंथ से साभार	78
–	स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण	– 'विद्वज्जन बोधक' ग्रंथ से साभार	80
1.	**पूर्वरंग**	गाथा १ से गाथा ३८ तक	**1-100**
2.	**जीवाजीव-अधिकार**	गाथा ३९ से गाथा ६८ तक	**101-151**
3.	**कर्ताकर्म-अधिकार**	गाथा ६९ से गाथा १४४ तक	**152-292**
4.	**पुण्यपाप-अधिकार**	गाथा १४५ से गाथा १६३ तक	**293-324**
5.	**आस्रव-अधिकार**	गाथा १६४ से गाथा १८० तक	**325-355**
6.	**संवर-अधिकार**	गाथा १८१ से गाथा १९२ तक	**356-377**
7.	**निर्जरा-अधिकार**	गाथा १९३ से गाथा २३६ तक	**378-456**
8.	**बंध-अधिकार**	गाथा २३७ से गाथा २८७ तक	**457-525**
9.	**मोक्ष-अधिकार**	गाथा २८८ से गाथा ३०७ तक	**526-561**
10.	**सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार**	गाथा ३०८ से गाथा ४१५ तक	**562-727**
	परिशिष्ट –		**728-776**
	स्याद्वाद-अधिकार		728-764
	गाथाओं की वर्णानुक्रमणिका (तात्पर्यवृत्ति अतिरिक्त सहित)		765-771
	कलशों की वर्णानुक्रमणिका		772-776

आर्हत्-वन्दना

'युगल' एम.ए. साहित्यरत्न, कोटा

तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण
लक्ष वन्दन, कोटि वन्दन !

तुम चिरंतन
मैं लघुक्षण
जागरण तुम
मैं सुषुप्ति
दिव्यतम आलोक हो प्रभु
मैं तमिस्रा हूँ अमा की,
क्षीण अन्तर, क्षीण तन-मन

चेतना के
एक शाश्वत
मधु मदिर
उच्छ्वास ही हो
पूर्ण हो, पर अज्ञ को तो
एक लघु प्रतिभास ही हो
दिव्य कांचन, मैं अकिंचन

शोध तुम
प्रतिशोध रे ! मैं
क्षुद्र-बिन्दु
विराट हो तुम
अज्ञ मैं पामर अधमतम
सर्व जग के विज्ञ हो तुम
देव ! मैं विक्षिप्त उन्मन

व्याधि मैं
उपचार अनुपम
नाश मैं
अविनाश हो रे !
पार तुम, मँझधार हूँ मैं
नाव मैं, पतवार हो रे !
मैं समय, तुम सार अर्हन् !

तुम चिरंतन, मैं लघुक्षण
लक्ष वन्दन, कोटि वन्दन !

श्री समयसार प्रकाशन के प्रस्तुत संस्करण में अर्थ सहयोगियों की नामावलि

100000/- बा. ब्र. श्री हेमचन्दजी 'हेम' भोपाल/देवलाली (माता - श्रीमती मुलाबाईजी जैन एवं पिता- सिंघई श्री लक्ष्मणप्रसादजी जैन, निवासी-नई गढ़िया, बेगमगंज-रायसेन (म.प्र.) की स्मृति में

100000/- डॉ. प्रो. मानमलजी जैन कोटा, (राज.)

51000/- संघवी श्री भवूतमलजी भण्डारी की स्मृति में हस्ते-श्री चम्पालालजी एवं रमेशजी भण्डारी, बेंगलौर

51000/- श्री कुन्दकुन्द स्वाध्याय मण्डल ट्रस्ट, नेहरू पुतला इतवारी, नागपुर।

50000/- श्रीमती सरलाबेन बेलजी मारू वीरायतन देवलाली।

50000/- श्रीमती अमृता सुनीलजी गाँधी परिवार पुणे।

50000/- श्रीमती मंजुला डॉ. कमलकुमारजी बाकलीवाल कोटा।

31000/- श्री सुनीलकुमारजी सर्राफ सागर, पिताश्री महेन्द्रकुमारजी सर्राफ की स्मृति में।

26000/- श्रीमती अरुणाबेन प्रवीणचन्दजी मेहता सूरत।

25000 **रुपये देनेवाले ह्र** श्रीमती निर्मला बसंतलालजी संघवी हस्ते-डॉ. अमितजी संघवी वीरायतन देवलाली। श्रीमती अनुपमा हितेषभाई पारेख वीरायतन देवलाली। श्री प्रकाशभाई सुजेशभाई हैक्कड़ परिवार मुम्बई। श्री प्रवीणचन्दजी छोटाभाई मेहता सूरत। डॉ. श्री किरणजी शाह पुणे। प्राचार्य श्री जयकुमारजी शान्तिनाथजी शेट्टे सांगली। श्रीमती रमाबेन किशोरभाई गाँधी चर्चगेट मुम्बई।

21000 **रुपये देनेवाले ह्र** डॉ. धनकुमारजी जैन की स्मृति में हस्ते सुपुत्र श्री सुनीलजी, पियूषजी सूरत। पण्डित श्री गुलाबचन्दजी बीना। श्री प्रशान्तजी प्रकाशचन्दजी छाबड़ा सूरत। इंजी. श्री रजतजी जैन बेंगलौर। इंजी. श्री प्रतीकजी ईश्वरचन्दजी जैन हैदराबाद। श्री अभयकुमारजी लक्ष्मीलालजी बण्डी उदयपुर। श्री मनोज जैन बंगेला सागर। श्री राजेशजी जैन (GM. HPCL) मुम्बई। श्रीमती अभिलाषाजी जैन (श्रीमंत परिवार बीड़ीवाले) सागर।

15000 **रुपये देनेवाले ह्र** श्रीमती रूपाबेन सूरत हस्ते-जवाहरभाई सोनगढ़।

11111 **रुपये देनेवाले ह्र** स्व. ब्र. पद्माबेन केशबलालजी शाह जलगांव सोनगढ़।
श्रीमती देशना भावेशभाई शाह जलगांव।

11000 **रुपये देनेवाले ह्र** श्री बसंतभाई एम. दोशी (महामंत्री, श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट) मुम्बई। (इंजी.) पण्डित श्री ऋषभकुमारजी जैन साउथ तुकोगंज इन्दौर। पण्डित श्री महावीरजी पाटील सांगली। पण्डित श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन जबलपुर। श्री नेमीचन्दजी अर्पल औरंगाबाद। श्री शान्तिलालजी जैन सरावगी कोलकाता।

7500 **रुपये देनेवाले ह्र** श्रीमती पुष्पा मोहनात द्वारा श्री शान्तिलालजी मोहनात पिट्सवर्ग (U.S.A.)

5100 **रुपये देनेवाले ह्र** श्रीमती सुशीला नेमीचन्दजी जैन लालघाटी भोपाल।
गुप्तदान हस्ते श्री नेमीचन्दजी जैन लालघाटी भोपाल।

5000 **रुपये देनेवाले ह्र** श्री ज्ञानानन्दजी बंसल की स्मृति में श्रीमती रंजना डॉ. राजेन्द्रजी बंसल बुढ़ार शहडोल।
श्री सन्तोषकुमारजी जैन (B.H.E.L) सोनागिरि भोपाल। श्री संजीवजी जैन (C.A.) इन्दौर।

2100 **रुपये देनेवाले ह्र** श्री निर्मलकुमारजी जैन अहमदाबाद।

1100 **रुपये देनेवाले ह्र** श्रीमती पुष्पाजी बड़जात्या कांदीवलि मुम्बई । श्री सतीशजी जैन अकलतरा।
श्रीमती ममता रमेशचन्दजी जैन हस्ते श्रीमती पूजा साकेतजी जैन जयपुर।

श्री कुन्दकुन्द कहान दिग. जैन ट्रस्ट भोपाल के अध्यक्ष की कलम से ह्र

प्रकाशकीय

इस क्षेत्र-काल में वीतराग परमात्मा का तो विरह है, परन्तु तत्त्वपिपासुजनों की ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए जिनवाणी माँ ही एकमात्र आधार है। हमें हर्ष है कि हम आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के त्रि-जन्मशताब्दी एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को ग्रंथ समयसारजी प्राप्ति के (सन् 1921 से 2021) शताब्दी के उपलक्ष्य में 'श्री समयसार कहानसार' वर्ष मनाया जा रहा है।

हमें इस बात का परम हर्ष है कि इस अवसर पर 'श्री ज्ञानोदय ग्रंथमाला' के द्वितीय पुष्प के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसारजी ग्रंथ एवं उसकी आचार्य अमृतचन्द्र देव की गद्य-पद्यमय आत्मख्याति संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद सहित आचार्य जयसेन देव की शुद्धात्मानुभूति लक्षण तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका एवं पण्डित जयचंदजी छाबड़ा द्वारा लिखित हिन्दी भाषा वचनिका एवं भावार्थ सहित सरस-सरल रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। पूर्व में इसका प्रकाशन 'पारस मूलचंद चतर चैरिटेबल ट्रस्ट, कोटा' के द्वारा सन् 2010 में आ. बाबू युगलजी के निर्देशन एवं बा. ब्र. हेमचंदजी 'हेम' देवलाली के सम्पादन में किया गया था।

वर्तमान में ग्रंथ की अनुपलब्धता एवं बढ़ती माँग के चलते श्री ज्ञानोदय दिगंबर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय के अधिष्ठाता एवं ग्रंथ के सम्पादक श्री हेमचंदजी भाईसाहब की तीव्र भावना से प्रेरणा लेकर इस महान ग्रन्थाधिराज के प्रकाशन का निश्चय किया गया और प्रस्तुत संस्करण उन्हीं के द्वारा शब्द, अक्षर, मात्रा, अनुवाद से शुद्ध करके एवं उनके सह-सम्पादक के रूप में पण्डित श्री रमेशचंदजी शास्त्री दाऊ जयपुर के अथक् परिश्रम से सम्पन्न हुआ है। हम उन विद्वानों के प्रति अत्यंत आभार ज्ञापित करते हैं, जिन्होंने सूक्ष्म से सूक्ष्म त्रुटियों को सही करने में अपना सहयोग प्रदान किया।

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में तीर्थधाम ज्ञानोदय के साथ श्री कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान, उज्जैन भी सहभागी बना। इस प्रकाशन में अर्थ सहयोग के रूप में स्वयं श्री हेमचन्दजी के अतिरिक्त डॉ. मानमलजी कोटा, डॉ. अमितजी संघवी देवलाली का विशेष आभार मानते हुए सभी दानदाताओं के प्रति ट्रस्ट अपना आभार ज्ञापित करता है। सभी दानदाताओं की सूची यथास्थान प्रकाशित है। ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण के लिए जैन कम्प्यूटर्स जयपुर के भी हम हृदय से आभारी हैं।

हमारी ऐसी भावना है कि वर्ष में एक या दो अप्रकाशित अथवा अनुपलब्ध मूल शास्त्रों का प्रकाशन श्री ज्ञानोदय ग्रंथमाला के अंतर्गत ट्रस्ट के माध्यम से होता रहे। ग्रंथमाला में प्राप्त होने वाली दानराशि शास्त्रों के प्रकाशन में ही प्रयोग होगी ह्र ऐसा हमारा संकल्प है। तृतीय पुष्प के रूप में आचार्य भास्करनंदीजी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र की अप्रकाशित संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित अतिशीघ्र हम प्रकाशित करेंगे।

और अंत में इस महान ग्रंथराज जो कि जगत का अद्वितीय चक्षु है, उसे दोनों ही महान टीकाओं एवं भावार्थ के साथ आत्मार्थियों के कर कमलों में भेंट करते हुए भावना भाते हैं कि इसके पठन-पाठन एवं अभ्यास से हम सभी के मोक्षमार्ग का उदय हो और परम ब्रह्मरूपी समयसार के दर्शन हों।

ह्र **अशोक जैन**

श्री तीर्थधाम ज्ञानोदय : एक संक्षिप्त परिचय

भोपाल में श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल की स्थापना आज से लगभग 62 वर्ष पूर्व सन् 1958 में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी, सोनगढ़ द्वारा प्ररूपित वीतराग सर्वज्ञ देव प्रणीत तत्त्वज्ञान से प्रेरित होकर सर्वश्री स्व.धन्नालालजी पाण्डे, सेजमलजी (सेंट्रल बैंक), सौभाग्यमलजी (स्वतंत्रता सेनानी), डालचंदजी सर्राफ आदि के द्वारा हुई थी। इसके पश्चात् स्व.सर्वश्री पं. राजमलजी बी.कॉम, पं. राजमलजी पवैया, सूरजमलजी नरपत्या, रतनलालजी सौगानी, नन्नूमलजी कठनेरा, बिहारीलालजी चौधरी वेरसिया, केशरीमलजी जैन एवं डॉ. कपूरचंदजी कौशल, पं. हेमचंदजी 'हेम' आदि ने प्रेरित होकर श्रुतपंचमी 1963 के दिन **श्री शांतिनाथ जिनालय चौक** की स्थापना एवं वेदी प्रतिष्ठा पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों से हुई। **टी टी नगर** एवं 1975 **पिपलानी जिनमन्दिर** की विशाल प्रतिष्ठा भी पूज्य गुरुदेवश्री के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। सन् 1985 में श्री डालचंद कमलश्री बाई ट्रस्ट ने एक उदासीन आश्रम की स्थापना की, जिसमें 1998 में **श्री सीमन्धर जिन चैत्यालय** स्थापित किया गया। जहाँ तब से आज तक ब्रह्मचर्य आश्रम एवं नित्य पूजन-पाठ स्वाध्याय आदि सुचारू रूप से चलते हैं। चौक मन्दिर के समीप श्रीमती शकुन्तला रतनलालजी सौगानी ट्रस्ट एवं श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भोपाल द्वारा सन् 2014 में **श्री महावीर स्वामी समवशरण जिनालय एवं स्वाध्याय भवन की** स्थापना की गई।

भोपाल स्वयं ही एक घनी आवादी वाला शहर है, साथ ही म.प्र. की राजधानी भी ह्न ऐसी स्थिति में जब भी मण्डल द्वारा विधान, शिविर आदि कोई भी कार्यक्रम होते तो लाभार्थियों को आने-जाने एवं पार्किंग आदि अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता था, परिणामस्वरूप वे आयोजित कार्यक्रमों का मनोयोगपूर्वक लाभ नहीं ले पाते थे। अत: भोपाल एवं विदिशा मुमुक्षु मण्डल के सदस्यों ने विचार-विमर्श कर यह निर्णय लिया कि पूज्य गुरुदेव श्री द्वारा उद्घाटित हुए तत्त्वज्ञान के लाभार्थ और प्रभावनार्थ उनके आदर्शों के अनुरूप महाविद्यालय, ग्रंथालय, शुद्ध सात्विक भोजनालय एवं आत्मार्थियों के लाभार्थ एक योग्य संस्थान का निर्माण होना चाहिए। फलस्वरूप भोपाल-विदिशा राजमार्ग पर दीवानगंज ग्राम में 7 एकड़ जमीन खरीदकर सन् 2010 में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर ट्रस्ट की स्थापना करके ज्ञानोदय तीर्थधाम नाम से शुद्ध तेरहपंथ आम्नाय अनुसार शिलान्यास कर तीन मंजिला विशाल जिनमन्दिर एवं मानस्तम्भ का निर्माण कराके 1 से 6 फरवरी 2017 तक भव्य पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के माध्यम से पाषाण एवं धातु एवं रत्नों के मनोहारी वीतरागी जिनबिम्ब विराजमान किये गये। जिनमन्दिर के भूतल में स्वाध्याय भवन, प्रथम खण्ड में पंचबालयति जिनालय एवं वर्तमान चौबीसी जिनालय तथा द्वितीय खण्ड में 1008 श्री शीतलनाथ भगवान समवशरण मन्दिर एवं पंचमेरु गजदंत जिनालय में अकृत्रिम जिनबिम्ब और आचार्य कुन्दकुन्द आदि महामुनिराजों के चरण विराजमान हैं। जो दर्शनार्थियों को निरन्तर वीतरागी होने की प्रेरणा देते रहते हैं। यहाँ समय-समय पर आयेजित पर्वों व शिविरों के अतिरिक्त प्रतिदिन महाविद्यालय की धार्मिक कक्षायें, सामूहिक पूजन, स्वाध्याय, भक्ति आदि के कार्यक्रम अनवरत रूप से चलते रहते हैं। यहाँ अतिथि गृह एवं विद्यार्थी गृह के अतिरिक्त रूप में 21 बंगलों एवं 30 फ्लेटों का निर्माण भी हो चुका है। **ह्न अशोक जैन** अध्यक्ष, श्री कु.कु. क.दि. ट्रस्ट, तीर्थधाम ज्ञानोदय भोपाल

सम्पादक की कलम से ह्र

आद्यमिताक्षर

(ज्ञानोदय ग्रंथमाला पुष्प-2 के सन्दर्भ में)

अहो उपकार जिनवर नो कुन्द नो ध्वनि दिव्य नो।
जिन कुन्द ध्वनि आप्या अहो ते गुरु कहान नो।।

बड़े ही प्रसन्नता की बात है कि अध्यात्म जगत की अलौकिक निधिरूप ग्रन्थाधिराज समयसारजी का दोनों टीकाओं सहित (आत्मख्याति व तात्पर्यवृत्ति) ज्ञानोदय तीर्थधाम (दीवानगंज) भोपाल से प्रकाशन हो रहा है। विदित हो कि ठीक 10 वर्ष पूर्व सन् 2010 में बाबूजी श्रीयुगलजी की प्रेरणा से यही समयसार श्री पारस मूलचन्द चतर चेरिटेबल ट्रस्ट, कोटा ने इसे प्रकाशित किया था, जिसका संयोजन बाबूजी के सुपुत्र श्री चिन्मय बाबू ने किया था और सम्पादनकार्य बाबूजी ने मुझे सौंपा और कहा कि इस ग्रन्थ के लिये अंग्रेजी भाषा में भूमिका एवं समयसार ग्रंथ की प्रतिपाद्य वस्तु को 'समयसार के सार' के रूप में देना है, जिसे तुम लिखो, क्योंकि आजकल श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों का स्वाध्याय समस्त दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि सभी साधुगण एवं विद्वद्गण दिव्यध्वनि तुल्य प्रमाणभूत मानकर परम आदरभाव से करने लगे हैं। चतर ट्रस्ट के द्वारा ही इस महान ग्रंथ को भारत के विभिन्न मुमुक्षु मण्डलों, स्वाध्याय प्रेमी विद्वानों, ब्रह्मचारी भाईयों एवं बहिनों में बिना मूल्य स्वाध्याय हेतु वितरित कर दिया गया था।

इसी ग्रंथ में बाबूजी का स्वयं का एक लेख ''जैनदर्शन स्वरूप और समीक्षा'' अंग्रेजी अनुवाद सहित और एक विस्तृत आलेख ''आचार्य कुन्दकुन्द और उनका प्रदेय'' एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिन्हें सबको अवश्य पढ़ना चाहिए। जिसका संयोजन ब्र. नीलिमा बहन ने किया था, तथा सम्पादन कार्य में मेरा पूर्ण सहयोग ग्रन्थ के सहसम्पादक पण्डित श्री रमेशचन्दजी शास्त्री (दाऊ) जयपुर का रहा है।

सर्वमान्य ऐसे समयसार एवं प्रवचनसार दोनों ग्रन्थों की दोनों आचार्यों की संस्कृत टीकाओं के सुगम-हिन्दी अनुवाद सहित माँग बढ़ती देखकर सर्वप्रथम श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई ने, डॉ. उत्तमचन्द्रजी जैन, सिवनी/छिन्दवाड़ा द्वारा सम्पादित, अनुवादित कराकर सन् 2008 में समयसार को प्रकाशित कराया था। दोनों टीकाओं सहित प्रवचनसार भी शीघ्र प्रकाशित होने जा रहा है।

सचमुच यह समयसार ग्रंथ ही ऐसा है कि जिसे मिला वही कल्याण के मार्ग में अग्रसर हो गया। स्वयं अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है ह्र **''न खलु समयसरादुत्तरं किंचिदस्ति''** समयसार से महान इस जगत में और कुछ भी नहीं है। **''इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं''** यह ग्रन्थाधिराज द्रव्यश्रुतरूप एवं भावश्रुतरूप - दोनों प्रकार से जगत के भव्यजीवों को अक्षय अद्वितीय चक्षु समान है।

ग्रन्थाधिराज समयसार पर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी, सोनगढ़ ने आद्योपान्त 19 बार सभा में प्रवचन कर इसे जन-जन की वस्तु बना दिया। दिगम्बर मुनिराजों को वे अत्यधिक बहुमान के साथ स्मरण किया करते थे। 'भगवान आत्मा' शब्दोच्चारणपूर्वक जिनका वैराग्यपोषक प्रवचन ठीक समय पर प्रारम्भ होता था और ठीक समय पर समाप्त होता था। वे कहा करते थे ह्र ''यह समयसार शास्त्र आगमों

का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है। यह जैन शासन का स्तंभ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा 6वें 7वें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनिराजों के आत्मानुभव से निकली हुई है।'' 'आत्मध्यान से सम्यक्त्व' नामक स्वामीजी के प्रवचन का अंश भी उपयोगी जानकर इसमें प्रकाशित किया है।

इन दोनों टीकाओं के अतिरिक्त जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश लिखित इतिहास अनुसार हुए प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा (सन् 980-1065 ई.) कुन्दकुन्दत्रयी (समयसार प्रवचनसार, पंचास्तिकाय) पर टीकायें भी लिखी गई हैं। जिसकी समयसार की 'समयप्रकाश' नामक टीका का संस्कृत से हिन्दी अनुवाद डॉ. पं. श्री राकेशजी शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य नागपुर द्वारा किया जा रहा है। प्रवचनसार की 'सरोजभास्कर' नामक टीका का मुनिश्री प्रणम्यसागरजी द्वारा हिन्दी अनुवाद होकर सागर (म.प्र.) से प्रकाशित हो चुका है।

हमारे एवं अनेक स्वाध्यायी विद्वानों द्वारा जो भी अशुद्धियाँ संज्ञान में आईं, उन्हें हमने भलेप्रकार विचार कर प्रस्तुत संस्करण में संशोधित कर दिया है। मूल प्राकृत गाथाओं के संशोधन में प्रो. डॉ. सुदीपजी जैन नई दिल्ली, संस्कृत टीकाओं एवं उनके हिन्दी अनुवादों के संशोधन में डॉ. राकेशजी शास्त्री नागपुर, इंजीनियर पण्डित विकासजी छाबड़ा इन्दौर, इंजीनियर रजत जैन बैंगलौर एवं पण्डित नरेन्द्रकुमारजी जबलपुर, पण्डित ऋषभजी शास्त्री शंकरनगर-दिल्ली का विशेष योगदान रहा है। इन संशोधनों की प्रमाणिकता हेतु सौ.प्रज्ञाबेन डोंणगांवकर कारंजा का विशेष सहयोग रहा है, जिन्होंने तात्पर्यवृत्ति की लगभग 500 वर्ष पुरानी हस्तलिखित प्रति से मिलान कर संशोधन कराया। एतदर्थ इन सभी के प्रति भी खूब-खूब आभार एवं साधुवाद।

ज्ञातव्य है कि ज्ञानोदय ग्रंथमाला के प्रथम पुष्प के रूप में श्री देवसेनाचार्य कृत ''श्रुतभवनदीपक नयचक्र'' श्री कुन्दकुन्द कहान दिग. जैन ट्रस्ट भोपाल द्वारा पूर्व में प्रकाशित हो चुका है, जिसका विमोचन एवं वितरण अक्टूबर 2019 में सम्मेदशिखरजी में आयोजित के.के.पी.पी.एस. के शिविर में हुआ था।

अनेक वर्षों से इस उभयटीका सहित परमागम शास्त्र की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही थी। अनुपलब्ध होने से मुझे ऐसा भाव आया कि अब आयु के अन्तिम (75 वर्ष) समय में मैं भी अपने वित्त का सदुपयोग जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में अपने ही सामने कर लूँ, अत: मैंने अपने अर्थ सहयोग से इस कार्य को अपने माता-पिता (सिंघई लक्ष्मणप्रसाद-श्रीमती मुलाबाई जैन, निवासी-नई गढ़िया, बेगमगंज-रायसेन (म.प्र.) की स्मृति में करने की योजना घोषित करदी। जब मेरे साधर्मी मित्रों को पता चला तो उन्होंने भी अर्थ सहयोग करते हुए मेरे भावों की अनुमोदना कर मेरा उत्साहवर्द्धन किया, जिनकी साभार नामावलि पृष्ठ 6 पर अंकित है। बस प्रसन्नता यही है कि मेरे द्वारा दस वर्ष पूर्व सम्पादित इस समयसार शास्त्र की छोटी-मोटी अशुद्धियाँ मेरे रहते ही ठीक करली गईं। अत: मैं पुन: सभी का आभार मानते हुए और स्वयं को समयसारमय अनुभव करने की प्रेरणा लेते हुए विराम लेता हूँ और भावना भाता हूँ कि निज समयसार को समझकर उसमें समाकर सभी भव्यजीव अपने चिरकाल के दुखों का अंत करें।

2547 वाँ भगवान महावीर निर्वाणोत्सव (नवम्बर 2020) शिवाकांक्षी

कहाननगर, देवलाली-नासिक (महाराष्ट्र) **बा. ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'** भोपाल (म.प्र.)

पण्डित प्रदीपजी झांझरी की कलम से ह्र

अनंत सिद्धों को अगणित वंदन

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रणीत समयसार ग्रंथाधिराज सदा जयवंत वर्ते। भव्यात्माओं को जिनवर कथित श्रुत शिरोधार्य हो। समयसार आध्यात्मिक विरासत है। समयसार में स्व से एकत्व व पर से विभक्त आत्मा अर्थात् निजवैभव दिखाया है। यह अद्भुत कला सिखाकर मोक्षमार्ग प्रशस्त किया है।

एक ओर जीवनगाथा बदल देने में समर्थ इन प्राकृत गाथाओं में सत्य का जयघोष है तो दूसरी ओर आचार्य अमृतचंद्र ने मानो कुन्दकुन्द ऋषि के हृदय में बैठकर साहित्य सिन्धु का मंथन करके पाताली रहस्यमयी सरस संस्कृत टीका लिख उन्हें कलशों में भर-भरकर अमृत वर्षण किया है। वहीं आचार्य परम्परा के महामुनि जयसेनाचार्य ने तात्पर्यवृत्ति टीका में परमागम के गूढ़ सिद्धान्त सरल कर दिये हैं। गाथा 320 में 'मैं' का स्वरूप कुछ ऐसा दर्शाया है ह्र ''**सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षणरूप निजपरमात्मद्रव्य है वह ही मैं हूँ।**'' ऐसा मुझे 'मैं' दिखाकर निहाल कर दिया। इसी शृंखला में पण्डित श्री जयचंदजी छाबड़ा ने मूल गाथाओं एवं आत्मख्याति की टीका की भाषा वचनिका एवं भावार्थ लिखकर सरलता से उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान परोसा है।

इसप्रकार संत त्रिवेणी से प्रवाहित अमृतधारा द्वारा भवयजीव परम सौख्य प्राप्त करेंगे ह्र ऐसी भावना भाकर कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान के समस्त 591 ट्रस्टी परिवारों ने अपने अन्तर्मन से यह परमागम प्रकाशन को अपना सौभाग्य स्वीकार है।

आज परमागम आप श्री के हाथों में है। एक सौ वर्ष पूर्व ऐसी ही एक प्रति गुरुदेव श्री कानजी स्वामी को दामोदर सेठ द्वारा प्राप्त हुई थी और पढ़कर उनके मुख से निकला था ह्र ''**अहो यह तो अशरारी होने का शास्त्र है**'' और इसतरह एकबार इस युग में यही परमागम जीवन परिवर्तन का सूत्रधार बन गया। सभा में समयसार पर 19 बार आद्योपांत प्रवचन कर गुरुदेवश्री ने उसके रहस्यों का सम्यक्रूप से प्रतिपादन किया। उनके इस पुण्य प्रभावना योग में कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान का उदय हुआ, देश-विदेश के जिनधर्म के अनुयायी ट्रस्टी बनकर जुड़ते चले गये और मात्र तत्त्वप्रचार के इस संस्थान के मंगल उद्देश्य, शिविर और प्रकाशन आदि विभिन्न गतिविधि द्वारा गत दो दशकों से सफल होते रहे।

आ. बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा का कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान पर मंगल आशीर्वाद सदा रहा है। यह आचार्यत्रय का त्रिवेणी संगम रूप समयसार संस्करण का आधार आ. बाबूजी की भावना और श्रम ही बना। और प्रथमवार प्रकाशन का सौभाग्य पारस मूलचन्द चतर चेरिटेबल ट्रस्ट, कोटा को हुआ। अत: समान उद्देश्यों को लिए ऐसी संस्था और मार्गदर्शक आ. बाबूजी ह्र दोनों का बहुत आभार। उस प्रकाशन की योजना का संयोजन, रूपरेखा में श्री चिन्मय जैन एवं ब्र. नीलिमा बेन कोटा का महत्त्वपूर्ण

सहयोग रहा। एतदर्थ बहुत आभार।

गुरुजनों तथा परिजनों के मंगल आशीर्वाद से यह मंगल क्षण प्रस्तुत हआ है। मेरे स्वयं के जीवन में सोनगढ़ जाकर समयसार पढ़ने का योग मेरे पिताश्री स्व. श्री फूलचंदजी झांझरी एवं मातु श्री माणकबाई की सत्प्रेरणा से बना। वहाँ पर गुरुदेवश्री की वाणी से आत्मतत्त्व की अपूर्वता भासित हुई, दशा और दिशा ने करवट ली, जो आजतक इस तत्त्वज्ञान को ही समर्पित है। आज सम्पूर्ण झांझरी परिवार एक आध्यामिक परिवार के रूप में प्रसिद्ध है।

इस अवसर पर मैं मेरे परम सखा विद्वतवर्य बाल ब्र. पण्डित हेमचंदजी 'हेम' देवलाली एवं तीर्थधाम ज्ञानोदय अध्यक्ष श्री अशोकजी जैन के प्रति बहुत धन्यवाद एवं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान को योग्य जानकर इस महान समयसार के प्रकाशन में सहप्रकाशक बनने का अवसर प्रदान किया। साथ ही सुन्दर प्रकाशन के साथ-साथ शुद्ध प्रकाशन हेतु महत्त्वपूर्ण भूमिका के रूप में काम करने वाले सह-सम्पादक पण्डित श्री रमेशचन्दजी शास्त्री (दाऊ) जयपुर के प्रति भी साधुवाद व्यक्त करता हूँ। अंत में ह्न

आत्मार्थी बन जिनवाणी माँ को समर्पित होकर, इस ज्ञानदीप आगम के अनुसार प्रवर्तन कर, परमपारिणामिक ज्ञायक देव की उपासना करें और दुर्लभ भव सार्थक कर अनंतकाल तक आनंद करें ह्न ऐसी मंगल भावना के साथ...

प्रदीप झांझरी

अध्यक्ष, कुन्दकुन्द प्रवचन प्रसारण संस्थान, उज्जैन

देहोऽहं इति या विद्या अविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते।।

अर्थ :- ''मैं देह हूँ'' ऐसी जो विद्या (ज्ञान) है, उसे अविद्या (अज्ञान) कहा गया है, और ''मैं देह नहीं, किन्तु चिदात्मा हूँ'' ऐसी जो बुद्धि (ज्ञान) है, उसे विद्या (सम्यग्ज्ञान) कहते हैं।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्तरिव।
प्रतिभाति बालिशानां, प्रतिभासः स खलु भव बीजं।।

अर्थ : - इसप्रकार यह आत्मा कर्मकृत मोहादि, अथवा शरीरादि भावों से संयुक्त नहीं होने पर भी अज्ञानी जीवों को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है, वह प्रतिभास ही निश्चय से भव का बीज है।

- पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्लोक १४

सम्पादकीय

बनाऊँ पत्र कुन्दनना, रत्नोना अक्षरो लखी।
तथापि कुन्दसूत्रोना, अंकाये मूल्य ना कदी॥

कलिकाल सर्वज्ञ दिगम्बर जैनाचार्य परम्परा के शिरोमणि, अध्यात्म-विद्या के प्रतिष्ठापक भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव हैं। जो आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत वसुन्धरा को अपने रत्नत्रय तेज से सुशोभित कर रहे थे। कविवर वृन्दावनजी ने आपकी प्रशस्ति में लिखा है– **''हुए हैं न होहिंगे मुनिन्द कुन्दकुन्द से।''**

दिगम्बर जैनाचार्यों में द्वितीय श्रुतस्कन्ध परम्परा के ग्रन्थों के सर्जक भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव का नाम सर्वोपरि है। उनके उत्तरवर्ती आचार्य-लेखक-टीकाकार सभी अपने को कुन्दकुन्दाचार्य का चिरऋणी मानते आये हैं और भविष्य में भी जो कोई भी आत्मज्ञ संत होंगे, वे भी अपने को उनका चिरऋणी मानते रहेंगे। मूर्ति-लेखों, शिला-लेखों एवं ग्रन्थों के प्रशस्ति-लेखों आदि में भगवान महावीर स्वामी की आदर्श परम्परा के रूप में ''मूलसंघे कुन्दकुन्दान्वये (कुन्दकुन्दाम्नाये)'' अनिवार्य रूप से लिखा ही जाता है और लिखा ही जाता रहेगा। निम्न पद्य में कुन्दकुन्दस्वामी का नाम भगवान महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम स्वामी के तत्काल बाद तीसरे स्थान पर मिलता है।

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

कुन्दकुन्दाचार्य देव की सर्वोपरि महानता का कारण उनके द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्य, सात तत्त्व, नौ पदार्थों का सरल हृदयग्राही विवेचन विशेषरूप से शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप आत्मतत्त्व का विशद वर्णन ही है जो पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार में एवं इन ग्रन्थों की टीकाओं में ही पाया जाता है और अन्यत्र कहीं भी इतनी विशदता लिये नहीं पाया जाता। उन्होंने इन ग्रन्थों में तथा अनुसरणकर्त्ता टीकाकार आचार्यों ने अध्यात्मधारा रूप जिस गंगा को प्रवाहित किया है वह सर्व ही केवली-श्रुतकेवली भगवन्तों द्वारा कथित सार-तत्त्व है। इनमें विशुद्ध आत्मतत्त्व का स्पष्ट विवेचन आया है। निकट भव्यात्मा जीव जिसकी प्रतीति, अनुभूति एवं स्वरूपलीनता (रत्नत्रय भावना) पूर्वक अशरीरी सिद्ध दशा की प्राप्ति कर लेता है।

परम सौभाग्य की बात है कि कुन्दकुन्दाचार्यदेव (१२७-१७९ ई.) के कुन्दकुन्दत्रयी – समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय संग्रह पर आद्य टीकाकार श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव (९०५-९५५ ई.) ने परिभाषा-सूत्र शैली में सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक संस्कृत एवं न्याय की भाषा में आत्मख्याति, तत्त्व-प्रदीपिका, समय-व्याख्या टीकायें लिखी हैं, उन्हीं तीन ग्रन्थों पर उनका ही अनुसरण करते हुए उनके दो सौ वर्ष बाद श्रीमद् जयसेनाचार्य ने सरल-सुगम संस्कृत भाषा में तात्पर्यवृत्ति नामक टीकायें लिखी। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य

के गाथा-सूत्रों का मर्म हृदयंगम कर प्रचुर स्वसंवेदन रस का पान करते हुए अकाट्य जैन न्याय सिद्धान्तों के साथ गूंथकर यह अलौकिक टीकायें लिखी हैं, जो पंचमकाल के अन्त तक भव्यजीवों को प्रकाश-स्तम्भ की तरह मुक्ति पथ आलोकित करती रहेगी। आज तक जितने भी ज्ञानी-ध्यानी, मुनिराज एवं विद्वज्जन हो गये हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होंगे; वे सभी कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, जयसेन आदि आचार्यों के चिरऋणी रहेंगे। इन आचार्य भगवन्तों ने आगम व अध्यात्म के सुमेलरूप इन परमागमों की रचना की है। यदि आज हमें यह ग्रन्थ व टीकायें उपलब्ध न होती तो सोचो हम कितने प्रतिशत सच्चे जैन होते ? वस्तुत: आचार्य कुन्दकुन्द को उनकी दिव्यध्वनि तुल्य रचनाओं के कारण तीर्थंकर तुल्य और उनके टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य को गणधर तुल्य स्मरण किया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

समयसार ग्रन्थाधिराज की महिमा स्वयं टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने कलश २४४ व २४५ में ''**न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति**'' एवं ''**इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्**'' लिखकर की है। जैसे मयूर की टहुंकार सुनके चन्दनवृक्ष से लिपटे रहने वाले भुजंग भाग खड़े होते हैं, ठीक उसी प्रकार इस भेदविज्ञान मूलक समयसार की मधुर वाणी कर्णगोचर होते ही भ्रमरूपी भूत (मोह) भाग खड़ा होता है। जयसेनाचार्य ने भी तात्पर्यवृत्ति टीका के अन्त में समयसार की महिमा सूचक श्लोक में कहा है– ''स्वरूपरसिकों द्वारा वर्णित इस तात्पर्य नामक प्राभृत शास्त्र को जो कोई आदरपूर्वक सुनेगा, पढ़ेगा, अभ्यास करेगा और इसकी प्रभावना करेगा, वह जीव शाश्वत, निर्मल, अद्‌भुत केवलज्ञान को प्राप्त करेगा, आगे मोक्षरूपी लक्ष्मी में लीन रहेगा।''

जिन भव्यात्माओं ने आत्मकल्याण की पवित्र भावना से समयसार को पढ़ा वे समयसारी बनते गये; जिनमें कविवर पण्डित राजमलजी पाण्डे (१५४६-१६०५ ई.), महाकवि पण्डित बनारसीदासजी (१५८७-१६४४ ई.), आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी (१७१९-१७६६ ई.), पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा (१७५८-१८२५ ई.), श्रीमद् राजचन्द्रजी (१८६७-१९०० ई.), क्षु.गणेशप्रसादजी वर्णी (१८७४-१९६१ ई.), ब्र.शीतलप्रसादजी (१८७९-१९४२ ई.) प.पू. आचार्य शांतिसागरजी (१८७१-१९५५ ई.) क्षु.मनोहरलालजी वर्णी (१९१५-१९७८ ई.), आध्यात्मिक सत्पुरुष बा.ब्र. श्री कानजी स्वामी (१८९०-१९८० ई.) तथा मुनिवर वीरसागरजी (१९४०-१९९३ ई.) आदि के नाम मुख्य हैं। वर्तमान काल में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के सदुपदेश से जितना अधिक समयसार, प्रवचनसार आदि पंचपरमागमों का एवं मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार का, पठन-पाठन का एवं प्रकाशन का कार्य हुआ है, उतना अन्य किसी भी ग्रन्थ का नहीं हुआ है। वे समयसार को अशरीरी होने का शास्त्र एवं प्रवचनसार को दिव्यध्वनि का सार कहते थे। उनके इस समयसार ग्रन्थ पर १९वीं बार हुए प्रवचन ''प्रवचन रत्नाकर'' के नाम से ग्यारह भागों में प्रकाशित हो चुके हैं, आज यह समयसार ग्रन्थ जन-जन के स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा की वस्तु बन गया है। वस्तुतः इसका श्रेय पूर्णरूप से आत्मज्ञ सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को ही है, जिन्होंने इस युग को समयसार युग बना दिया। उनके इस अनन्त उपकार को समग्र जैन समाज कभी भुला नहीं सकेगा।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन ''पारस मूलचन्द चतर चेरिटेबल ट-स्ट, कोटा'' की ओर से किया जा रहा है। श्रीमती पारस चतर तत्त्वरुचिवन्त स्वाध्यायी महिला हैं, तत्त्व समझने के लिए वर्षों से उन्हें किसी तत्त्वज्ञानी की तलाश थी, संयोग से कोटा में आदरणीय बाबूजी युगलजी का समागम उन्हें मिला, उनकी शुद्धात्मबोधक वाणी से उनका जीवन बदल गया। इसी सत्य तत्त्व से अभिभूत हो उनका ट-स्ट यह समयसार दोनों टीकाओं सहित प्रकाशित कर रहा है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य मुझे सौंपा एवं बताया गया कि आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद सहित समयसार ग्रंथ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। यद्यपि यह कार्य मुझ मंदबुद्धि के लिये एवरेस्ट की चढ़ाई चढ़ने के समान अत्यन्त कठिन एवं श्रमसाध्य था, तथापि पूज्य बाबूजी श्री युगलजी के अनुरोध को यह अपूर्व लाभ समझ, मैं टाल नहीं सका कि मुझे अब और अधिक गहराई से समयसार को समझने का अवसर मिलेगा।

श्रीमती पारस चतर एवं उनका ट-स्ट समयसार ग्रन्थ को पूरे विश्व में प्रसारित करना चाहता है। समूचा विश्व इस ग्रन्थ का लाभ ले सके इस हेतु आदरणीय बाबूजी ने मुझे कहा कि वे इस ग्रन्थ के लिये अंग्रेजी भाषा में भूमिका एवं समयसार ग्रंथ की प्रतिपाद्य वस्तु को 'समयसार के सार' के रूप में देना चाहते हैं, जिसे हेमचन्द ! तुम लिखो। जैन दर्शन के सम्बन्ध में उन्होंने मुझे कुछ दार्शनिक बिन्दु भी दिये जिनको मुझे इन लेखों में प्रस्तुत करना था। मैंने अपनी योग्यता प्रमाण यह लेख तैयार किये। ८७ वर्ष की अस्वस्थ वयोवृद्ध अवस्था होने पर भी कोटा में प्रत्यक्ष आदरणीय बाबूजी को यह दोनों अंग्रेजी लेख पढ़कर सुनाये, उन्होंने जो सुझाव दिये मैंने उन्हें शिरोधार्य कर लेखों में समाहित किया। उनकी अगाध दार्शनिक विद्वत्ता एवं हार्दिक वात्सल्य पूर्ण आतिथ्य अन्यत्र कहीं दूर-दूर तक दिखाई नहीं देता है। वे हम मुमुक्षुओं के आदर्श आत्मार्थी विद्वान हैं एवं अंग्रेजी भाषा के भी अच्छे जानकार हैं।

सौभाग्य है कि मेरे विशेष अनुरोध पर श्रद्धेय बाबूजी युगलजी की अध्यात्म लेखनी से लिखा गया अप्रकाशित लेख 'आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय' तथा नवीन लेख 'Jainism : The Real Metaphysics and Comparative Study' (जैनदर्शन स्वरूप एवं समीक्षा) प्राप्त हुए, जो इस ग्रंथ के अनमोल मुक्ता हैं। इनमें जैन दर्शन की श्रेष्ठता, आ. बाबूजी की अगाध विद्वत्ता एवं आध्यात्मिक चिंतन की धारा परिलक्षित होती है।

इतने विशाल ८४० पृष्ठीय ग्रन्थ का अकेले ही प्रूफरीडिंग करना और दोनों संस्कृत टीकाओं में कोई भी शब्द, मात्रा आदि की भूल न हो – यह असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। अत: विद्वान पण्डित रमेशचन्दजी शास्त्री को जयपुर से देवलाली बुलाकर उनके साथ लगातार दो माह (मई-जून २०१०) प्रतिदिन ८-१० घण्टे साथ बैठकर पूर्व में विभिन्न प्रकाशन संस्थाओं से प्रकाशित समयसार ग्रंथों से प्राकृत गाथा-सूत्र, उनकी संस्कृत छाया, आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति संस्कृत टीका, उसकी पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा कृत हिन्दी भाषा वचनिका भावार्थ सहित एवं आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका का

हिन्दी अनुवाद पूर्ण सावधानी पूर्वक शब्दानुगामी तथा भावों की अक्षुण्णता को ध्यान में रखते हुए मुद्रित किया गया है। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास से प्रकाशित आत्मख्याति (संस्कृत-हिन्दी भाषा वचनिका), कारंजा-लाड से प्रकाशित तात्पर्यवृत्ति (संस्कृत) एवं मंगलायतन से प्रकाशित भाषा वचनिका को इस ग्रंथ के संशोधन का आधार बनाया है। समयसार तात्पर्यवृत्ति का हिन्दी अनुवाद इस प्रकाशन से पूर्व ब्र. शीतलप्रसादजी (सरला मार्बल्स दिल्ली), मुनिवर श्री वीरसागरजी (चंकेश्वरा परिवार पंढरपुर-सोलापुर), डॉ. उत्तमचन्दजी जैन सिवनी (श्री कुन्दकुन्द कहान दिग. जैन तीर्थसुरक्षा ट-स्ट मुम्बई) एवं आचार्य श्री ज्ञानसागरजी द्वारा अनुवादित जबलपुर आदि से भी प्रकाशित हो चुके हैं

यह सर्व विदित है कि आत्मख्याति टीका तथा तात्पर्यवृत्ति टीका में समयसार की गाथाओं की संख्या एवं उनकी क्रमिकता में भी किंचित् अन्तर पाया जाता है। आत्मख्याति टीका के सर्व प्रकाशनों में कुल ४१५ गाथायें एवं २७८ श्लोक-कलश प्राप्त होते हैं। जबकि तात्पर्यवृत्ति टीका में जयसेनाचार्य देव ने ग्रन्थ के अन्त में पातनिका में लिखा है, कि ''कुल ४३९ गाथायें हैं।'' जबलपुर से प्रकाशित संस्करण में ४३९ गाथायें प्राप्त होती हैं, परन्तु सोलापुर से प्रकाशित संस्करण में मात्र ४३७ गाथायें ही दी हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आत्मख्याति की ये छह गाथायें (गाथा नं. ११९,१२०, १३७,२४९,२५० और २५२) तात्पर्यवृत्ति टीका में नहीं पाई जाती हैं। इसीप्रकार तात्पर्यवृत्ति के उपर्युक्त प्रकाशनों में कुछ गाथाओं की टीका में भी एकरूपता नहीं मिलती है।

सम्प्रति इस ग्रन्थ में आत्मख्याति टीका से तात्पर्यवृत्ति टीका में जो अतिरिक्त २७ गाथायें पाई जाती हैं, इन २७ गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका भी पाई जाती है, इनके अलावा निम्न ३ गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका नहीं पाई जाती है। मोक्षाधिकार में गाथा-२९२ में मात्र एक शब्द (छेत्तूण की जगह भेत्तूण व मुत्तूण) बदलकर दो गाथायें तथा गाथा-२९९ में मात्र एक शब्द (णादा की जगह उवलद्धो) बदलकर एक गाथा – इसप्रकार ३ गाथाओं का फुटनोट में मात्र पाठान्तर दर्शाया है, इन्हें अलग से नहीं दिया गया है। इसप्रकार (४१५-६=४०९+२७+३ = ४३९) चार सौ उनचालीस गाथायें प्राप्त होती हैं, जैसा कि आचार्य जयसेनदेव ने तात्पर्यवृत्ति टीका के अन्त में स्वयं उल्लेख किया है।

इस संस्करण में आत्मख्याति टीकानुसार ४१५ गाथाओं का गाथा क्रमांक ही मुख्य रखा है और तात्पर्यवृत्ति टीका में समागत सभी अतिरिक्त गाथाओं को ''अतिरिक्त गाथा क्रमांक'' देकर लिखा है।

गाथा २९७, २९८ व २९९ और गाथा ३९० से ४०४ तक की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन स्वामी ने आत्मख्याति टीका का कुछ अंश भी उद्धृत किया है, उन टीकांशों की पुनरावृत्ति न हो इस हेतु से तात्पर्यवृत्ति टीका में उस टीकांश को नहीं दिया है, क्योंकि वह टीकांश आत्मख्याति टीका में अखण्ड रूप से दिया ही गया है। गाथा १३२ एवं १३३ के फुटनोट में जो पाठान्तर दर्शाया गया है, वह वस्तुत: इन गाथाओं की ऊपर-नीचे की पंक्तियाँ आपस में बदल जाने से हो गया होगा प्रतीत होता है और यह पाठान्तर पूर्व से ही चला आ रहा है। अत: हमने समस्त उपलब्ध प्रकाशनों के आधार से तात्पर्यवृत्ति

संस्कृत टीका को अत्यन्त सावधानी पूर्वक शुद्धता के साथ प्रकाशित किया है। जहाँ कुछ टीका में आये शब्दों में संदेह हुआ उसका निवारण हस्तलिखित प्रतियों से मिलान कर सही किया है।

गाथा १५६ **(मोत्तूण णिच्छयट्ठं......जदीण कम्मक्खओ विहिओ)** में आये शब्द **'ववहारेण'** का अर्थ आत्मख्याति टीका में एक शब्द मानकर तृतीया विभक्ति करण कारक के रूप में (गाथार्थ में) लिया गया है, जबकि तात्पर्यवृत्ति टीका में **'ववहारे ण'** इस प्रकार दो शब्द मानकर सप्तमी विभक्ति अधिकरण कारक के अर्थ में लिया गया है। आत्मख्याति टीका में गाथार्थ इस प्रकार दिया है–

''निश्चय नय के विषय को छोड़कर विद्वान व्यवहार के द्वारा प्रवर्तते हैं, परन्तु परमार्थ (आत्मस्वरूप) के आश्रित यतीश्वरों के ही कर्मों का नाश आगम में कहा गया है। (केवल व्यवहार में प्रवर्तन करने वाले पण्डितों के कर्मक्षय नहीं होता।)'' तथा इस गाथा की आत्मख्याति टीका में कहा है– व्यवहार व्रत, तप आदि शुभकर्म अन्य द्रव्य के स्वभाव वाले (पुद्गल स्वभाव वाले) होने से उनके द्वारा परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता अर्थात् वे मोक्ष के कारण नहीं हैं, मात्र परमार्थ मोक्ष हेतु (आत्मस्वभावी ज्ञान ही) एक द्रव्य के स्वभाव वाला (जीव स्वभाव वाला) है, इसलिये उसके द्वारा ज्ञान का भवन (मोक्ष होना) बनता है। (ऐसा सिद्ध किया गया है।)

जबकि पदखण्डना शैली रूप तात्पर्यवृत्ति टीका में– ''निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार के विषय में विद्वान ज्ञानीजन प्रवर्तन नहीं करते हैं। किस कारण से प्रवर्तन नहीं करते हैं ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्र (अभेद) परिणति लक्षण वाले निजशुद्धात्मभावना रूप परमार्थ का आश्रय करने वाले यतियों का कर्मक्षय होता है– इस कारण से ज्ञानीजन व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते हैं।''

उपरोक्त दोनों टीकाओं पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि ''व्यवहाराश्रित ज्ञानी को मोक्ष नहीं होता है, परमार्थ (निश्चय) आश्रित ज्ञानी साधुजनों को ही मोक्ष होता है।'' अत: 'ववहारेण' को एक शब्द न मानकर 'ववहारे ण'– ऐसे दो शब्द मानकर गाथार्थ किया जाना चाहिये।

गाथा ३१६ **(अण्णाणी कम्मफलं.......जाणदि उदिदं ण वेदेदि)** की दूसरी पंक्ति की तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका जबलपुर एवं सोलापुर से प्रकाशित समयसारों में इस प्रकार से दी गई है– ''ज्ञानी पुन: **तन्मयो भूत्वा** पूर्वोक्त भेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानन्दरूप सुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणत: सन् कर्मफलमुदितं वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ॥३३६॥''

इसमें जो प्रारम्भ में ''**तन्मयो भूत्वा**'' शब्द आया है वह ज्ञानी जीव के लिये विचारणीय लगा। आचार्य ज्ञानसागरजी ने ''तन्मयो भूत्वा'' शब्द का (जो कि उपर्युक्त टीका में दो बार लिखा गया है) हिन्दी अनुवाद ही नहीं किया – उसे छोड़ दिया और मुनिवर वीरसागरजी ने उसी का हिन्दी अनुवाद सम्भालकर करते हुए लिखा है कि ''सम्यग्ज्ञानी जीव तन्मय होकर भी पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से वीतराग सहज परमानन्द का सुखरस के आस्वाद से – परमसमरसीभाव से परिणत होकर उदय में आये हुए कर्मफल को वस्तुस्वरूप से जानता ही है, लेकिन हर्ष-विषादमयता से तन्मय होकर नहीं भोगता है।''

वस्तुत: ज्ञानी जीव के लिये टीका के प्रारम्भ में दिया गया 'तन्मयो भूत्वा' शब्द मुझे उचित प्रतीत नहीं हुआ, अत: कारंजा में उपलब्ध हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों से देखकर सन्देह निवारण करना आवश्यक प्रतीत हुआ, इसी निमित्त इस वर्ष मैं दशलक्षण पर्व में कारंजा गया। वहाँ विदुषी बहिन श्रीमती प्रज्ञा संतोष डोणगांवकर, जो स्वयं समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका का मराठी भाषा में अनुवाद/सम्पादन कर रही हैं के अनन्य सहयोग से श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन सेनगण मंदिर कारंजा-लाड में उपलब्ध तीन हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों का अवलोकन किया तो पाया कि उन तीनों प्रतियों में प्रारम्भ का 'तन्मयो भूत्वा' शब्द ही नहीं है, कारंजा के दूसरे बलात्कार दिगम्बर जैन मन्दिर में उपलब्ध हस्तलिखित अतिप्राचीन प्रति में भी प्रारम्भ का 'तन्मयो भूत्वा' शब्द नहीं पाया गया। इस शोध-खोज से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई।

गाथा ३२० **(दिट्ठी जहेव णाणं.........कम्मुदयं णिज्जरं चेव)** की तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका में "यद्येकांतेन शुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाश: प्राप्नोति, न च तथा।" इसमें जो "यद्येकान्तेन शुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति" यह वाक्य आया है वह सही है, परन्तु सोलापुर से प्रकाशित प्रति में "यद्येकान्तेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति"– ऐसा वाक्य लिखा है। वह सही नहीं है। इस शंका का भी निवारण हस्तलिखित प्रतियों से हो गया। **"यद्येकान्तेन"** शब्द सही है और **"यद्येकान्तेना"** शब्द सही नहीं है क्योंकि यदि एकान्त से शुद्धोपयोग पर्याय शुद्धपारिणामिक भाव से अभिन्न हो तो इस भावना रूप मोक्ष की कारणभूत पर्याय का नाश होने पर शुद्धपारिणामिक भाव का भी विनाश हो जायेगा, परन्तु शुद्धपारिणामिक भाव का नाश नहीं होता है।" पृष्ठ २० पर हस्तलिखित प्रतियों के पृष्ठ मुद्रित किये गये हैं।

उपरोक्त शोध-खोज से यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि एक मात्रा की भूल से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हमारे आचार्य भगवन्त ग्रन्थों व टीकाओं के लिखने में कितने अधिक सावधान रहते होंगे – इससे हम सबको यह सीख ले लेना चाहिये कि कहीं हमसे आगम-अध्यात्म से विरुद्ध कुछ भी न लिखा जाय, कुछ भी न बोला जाय।

इस नवीन संस्करण में निम्नलिखित महत्वपूर्ण विशेषता है, जो इसे अन्य प्रकाशनों से कुछ पृथक्-विशेष सिद्ध करती है –

१. पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित आत्मख्याति टीका की देशभाषा वचनिका को भावार्थ सहित पूर्ववत् हिन्दी भाषा में दिया गया है।

२. स्व.पण्डित हिम्मतलाल जे. शाह, सोनगढ़ द्वारा लिखित उपोद्घात, समयसार स्तुति तथा स्व. पण्डित नेमीचन्दजी पाटनी, आगरा कृत गाथाओं के पद्यानुवाद भी दिये गये हैं।

३. जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका आत्मख्याति टीका के तत्काल बाद ही दी गई है, जिससे पाठक दोनों टीकाओं का लाभ एक ही जगह प्राप्त कर सकते हैं। इसमें भी यह विशेषता है कि एक ही पेज में ऊपर संस्कृत टीकायें और नीचे उनकी हिन्दी दी गई है।

४. अंग्रेजी भाषा में Prologue (भूमिका) समयसार का सार एवं सम्यग्दृष्टि पुरुष के सम्बन्ध में एक कविता दी गई है, जो आंग्लभाषाविदों के लिए उपयोगी है।

५. नाटक समयसार के कतिपय पद्य भी यथास्थान अधिकारों के अन्त में दिये गये हैं।

६. बाबू युगलजी द्वारा लिखित 'आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय' तथा 'Jainism : The Real Metaphysics and Comparative Study' भी इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

इस ग्रन्थ-प्रकाशन के कार्य में पण्डित श्री रमेशचन्दजी जैन शास्त्री, जैन कम्प्यूटर्स जयपुर प्रारम्भ से ही जुडे हुये हैं उन्होंने ग्रन्थ की कम्प्यूटर टाईपिंग, सेटिंग, प्रूफ रीड़िंग, साज-सज्जा का श्रमसाध्य कार्य एवं तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका के हिन्दी अनुवाद में अपनी निर्मल भावनाओं के साथ अमूल्य समय एवं सहयोग देकर इस पवित्र कार्य को सफलता पूर्वक सम्पन्न किया। साथ ही संस्कृत टीका आदि के मिलान में उनकी सुपुत्री श्रीमती स्वाति जैन शास्त्री बाँसवाड़ा का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन में सर्वश्री नीतेश शास्त्री, सुदीप शास्त्री, प्रसन्न शेट्टे शास्त्री, तपिश शास्त्री एवं प्रकाश उखलकर शास्त्री का भी सराहनीय सहयोग प्राप्त हुआ। एतदर्थ मैं उन सभी विद्वानों का विशेष आभारी हूँ। हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध कराने का श्रेय श्रीमती प्रज्ञाबेन संतोष डोणगांवकर कारंजा-लाड को है, मैं उनके इस अनन्य सहयोग के लिए उनका बहुत-बहुत आभारी हूँ।

इस ग्रन्थाधिराज के प्रकाशन की सम्पूर्ण योजना में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जिनका अनन्य सहयोग रहा है ऐसे बाबू चिन्मय जैन एवं विदुषी बहिन ब्र. नीलिमा जैन, कोटा के सहयोग हेतु भी मैं बहुत-बहुत आभारी हूँ, क्योंकि इनके संयोजकत्व के बिना यह कार्य सम्भव नहीं था।

इसमें हमारा ज्ञातभाव से तो यही प्रयास रहा है कि इस संस्करण में किसी भी प्रकार की भूल/अशुद्धि न रहने पाये, तथापि अज्ञातभाव से यदि कोई भूल रह गई हो तो विज्ञजनों से निवेदन है कि वे उसे सुधारकर पढ़ें तथा हमें भी सूचित करने का कष्ट करें। अन्त में मैं आ. बाबू श्री युगलजी सा. एवं श्री पारस मूलचन्द चतर चेरिटेबल ट-स्ट, कोटा का हार्दिक आभार मानता हूँ, जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थाधिराज समयसार जैसे महान आध्यात्मिक ग्रन्थ के संशोधन व सम्पादन के गुरुतर कार्य में प्रेरित किया। इससे मुझे तीनों आचार्य भगवन्तों के हार्द को गहराई से समझने का अवसर प्राप्त हुआ।

आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि यह कल्पवृक्ष समयसार भविजनों को चिरकाल तक मुक्ति की राह प्रदान करता रहेगा। ऐसी मंगल भावना के साथ –

जयवन्त वर्ते समयसार परमागम – जयवन्त वर्ते ऋषिराज आचार्य कुन्दकुन्द

2537वाँ भगवान महावीर निर्वाणोत्सव
नवम्बर 2010
कहाननगर, देवलाली-नासिक (महाराष्ट-)

शिवाकांक्षी
बा. ब्र. हेमचन्द जैन 'हेम'
भोपाल (म.प्र.)

Page no 20

श्री वीतरागाय नमः

उपोद्घात

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत यह **समयप्राभृत** अथवा **समयसार** नाम का शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कंध में का सर्वोत्कृष्ट आगम है। द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? – यह पहले अपने को पट्टावलिओं के आधार से संक्षेप में देख लेना चाहिए।

आज से २४६६ वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र की पुण्य भूमि में मोक्षमार्ग का प्रकाश करने के लिये जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान श्री महावीरस्वामी अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रकट कर रहे थे। उनके निर्वाण के पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें से अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी हुये। वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा। तत्पश्चात् काल दोष से क्रम-क्रम से अंगों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई। इस प्रकार अपार ज्ञान सिंधु का बहु भाग विच्छेद हो जाने के पश्चात् दूसरे श्री भद्रबाहुस्वामी आचार्य की परिपाटी में दो महा-समर्थ मुनि हुए एक का नाम श्री धरसेन आचार्य तथा दूसरे का नाम श्री गुणधर आचार्य था। उनसे मिले हुए ज्ञान के द्वारा उनकी परम्परा मे होने वाले आचार्यों ने शास्त्रों की रचनाएँ की और श्री वीरभगवान के उपदेश का प्रवाह प्रवाहित रखा।

श्री धरसेनाचार्य को अग्रायणी पूर्व का पांचवाँ वस्तु अधिकार उसके महा-कर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उस ज्ञानामृत में से अनुक्रम से उनके पीछे के आचार्यों द्वारा षट्खण्डागम तथा उसकी टीका धवल, महाधवल, जयधवल एवं गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रों की रचना हुई। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति है। उसमें जीव और कर्म के संयोग से हुए आत्मा की संसार पर्याय का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का संक्षिप्त वर्णन है, पर्यायार्थिक नय को प्रधान करके कथन है। इस नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक भी कहते हैं और अध्यात्मभाषा से अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहार कहते हैं।

श्री गुणधर आचार्य को ज्ञानप्रवादपूर्व की दसवीं वस्तु के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। उस ज्ञान में से उनके पीछे के आचार्यों ने अनुक्रम से सिद्धांत रचे। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान महावीर से प्रवाहित होता हुआ ज्ञान आचार्यों की परम्परा से भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव को प्राप्त हुआ। उन्होंने पंचास्तिकाय संग्रह, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र रचे – इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कथन है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव विक्रम संवत् के प्रारंभ में हो गये हैं। दिगम्बर जैन परम्परा में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्।।

प्रत्येक दिगम्बर जैन इस श्लोक को शास्त्राध्ययन प्रारंभ करते समय मंगलाचरण के रूप में बोलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतम स्वामी के अनंतर ही भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधुगण स्वयं को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव मानते हैं, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र साक्षात् गणधर देव के वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके अनंतर हुये ग्रन्थकार आचार्य स्वयं के किसी कथन को सिद्ध करने के लिये कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, जिससे वह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। उनके पीछे के रचे हुए ग्रंथों में उनके शास्त्रों में से अनेकानेक अवतरण लिये हुए हैं। यथार्थत: भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं के परमागमों में तीर्थंकरदेवों के द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धांतों को साध रखा है और मोक्षमार्ग को टिका रखा है। वि.सं. ९९० में हुए श्री देवसेनाचार्यवर अपने दर्शनसार नाम के ग्रंथ में कहते हैं कि –

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।। (दर्शनसार)

''विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञान के द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते – प्राप्त करते?''

दूसरा एक उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कलिकाल सर्वज्ञ कहा गया है – ''पद्मनंदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पांचों नामों से विराजित चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनको ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेह में जाकर श्री सीमंधर भगवान को वंदन किया था और जिनके पास से मिले हुये श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्यजीवों को प्रतिबोधित किया है ऐसे जो श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरणरूप कलिकाल सर्वज्ञ (भगवानश्री कुन्दकुन्दाचार्य देव) उनके द्वारा रचित इस षट्प्राभृत ग्रन्थ में सूरीश्वर श्री श्रुतसागर द्वारा रचित मोक्ष प्राभृत की टीका समाप्त हुई।'' इसप्रकार श्री श्रुतसागर सूरि कृत षट्प्राभृत की टीका के अंत में लिखा हुआ है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव की महत्ता बताने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्य में मिलते हैं। शिलालेख[१] भी अनेक हैं। इस प्रकार यह निर्णीत है कि सनातन जैन (दिगम्बर) संप्रदाय में कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का स्थान अजोड़ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के रचे हुये अनेक शास्त्र हैं, उसमें से थोड़े अभी विद्यमान हैं। त्रिलोकनाथ

---

१. शिलालेख हेतु आगे पृष्ठ क्र.७२ देखें

सर्वज्ञ देव के मुख से प्रवाहित श्रुतामृत की सरिता में से जो अमृत भाजन भर लिये गये वे, वर्तमान में भी अनेक आत्मार्थियों को आत्म-जीवन अर्पण करते हैं। उनके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार नाम के तीन उत्तमोत्तम शास्त्र नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय कहलाते हैं इन तीन परमागमों में हजारों शास्त्रों का सार आ जाता है। इन तीन परमागमों में श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् लिखे हुये अनेक ग्रंथों के बीज निहित हैं ऐसा सूक्ष्म दृष्टि से अभ्यास करने पर मालूम होता है। पंचास्तिकाय में छह द्रव्यों का और नौ तत्त्वों का स्वरूप संक्षेप में कहा है। प्रवचनसार को ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इस प्रकार तीन अधिकारों में विभाजित किया है। समयसार में नवतत्त्वों का शुद्धनय की दृष्टि से कथन है।

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान ने इस जगत के जीवों पर परम करुणा करके इस शास्त्र की रचना की है। उसमें मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप जैसा है, वैसा कहा गया है, अनंतकाल से परिभ्रमण करते हुये जीव को जो कुछ समझना बाकी रह गया है, वो इस परमागम में समझाया गया है। परम कृपालु आचार्य भगवान इस शास्त्र को प्रारंभ करते ही स्वयं ही कहते हैं – कामभोग बंधन की कथा सबने सुनी है, परिचय किया है, अनुभव किया है; लेकिन पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है । उस एकत्व की – पर से भिन्न आत्मा की बात मैं इस शास्त्र में समस्त निज वैभव से (आगम युक्ति परम्परा और अनुभव से) कहूँगा, इस प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्यदेव इस शास्त्र में आत्मा का एकत्व तथा परद्रव्य से और परभावों से भिन्नत्व समझाते हैं। वे कहते हैं कि जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखते हैं, वे समग्र जिनशासन को देखते हैं और भी वे कहते हैं कि ऐसा नहीं देखने वाले अज्ञानी के सर्व भाव अज्ञानमय हैं। इस प्रकार जहाँ तक जीव को स्वयं की शुद्धता का अनुभव नहीं होता वहाँ तक वो मोक्षमार्गी नहीं है, भले ही वो व्रत समिति गुप्ति आदि व्यवहार चारित्र पालता हो और सर्व आगम भी पढ़ चुका हो।

जिसको शुद्ध आत्मा का अनुभव वर्तता है वह ही सम्यग्दृष्टि है। रागादि के उदय में सम्यक्त्वी जीव कभी एकाकाररूप परिणमता नहीं है, परन्तु ऐसा अनुभवता है कि यह पुद्‌गलकर्म रूप राग का विपाकरूप उदय है ये मेरे भाव नहीं है मैं तो एक ज्ञायक भाव हूँ। यहाँ प्रश्न होगा कि रागादिभाव होते रहने पर भी आत्मा शुद्ध कैसे हो सकता है? उत्तर में स्फटिकमणि का दृष्टांत दिया गया है। जैसे स्फटिकमणि लाल कपड़े के संयोग से लाल दिखाई देती है – होती है, तो भी स्फटिकमणि के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर स्फटिकमणि ने निर्मलपना छोड़ा नहीं है, उसीप्रकार आत्मा रागादि कर्मोदय के संयोग से रागी दिखाई देता है – होता है, तो भी शुद्धनय की दृष्टि से उसने शुद्धता छोड़ी नहीं है। पर्यायदृष्टि से अशुद्धता वर्तते हुये भी द्रव्यदृष्टि से शुद्धता का अनुभव हो सकता है। वह अनुभव चतुर्थ गुणस्थान में होता है। इससे वाचक के समझ में आवेगा कि सम्यग्दर्शन कितना दुष्कर है। सम्यग्दृष्टि का परिणमन ही पलट गया होता है। वह चाहे जो कार्य करते हुये भी शुद्ध आत्मा को ही अनुभवता है। जैसे लोलुपी मनुष्य नमक और

शाक के स्वाद का भेद नहीं कर सकता, उसीप्रकार अज्ञानी ज्ञान का और राग का भेद नहीं कर सकता, जैसे अलुब्ध मनुष्य शाक से नमक का भिन्न स्वाद ले सकता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि राग से ज्ञान को भिन्न ही अनुभवता है। अब यह प्रश्न होता है कि ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् राग और आत्मा की भिन्नता किस प्रकार अनुभवपूर्वक समझ में आवे ? आचार्य भगवान उत्तर देते हैं कि – प्रज्ञारूपी छैनी से छेदते वे दोनों भिन्न हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान से ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहिचान से ही – अनादिकाल से राग-द्वेष के साथ एकाकाररूप परिणमता आत्मा भिन्नपने परिणमने लगता है, इससे अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये प्रत्येक जीव का वस्तु के यथार्थ स्वरूप की पहिचान करने का प्रयत्न करना ही सदा कर्तव्य है।

इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यथार्थ आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस शास्त्र में आचार्य भगवान ने अनेक विषयों का निरूपण किया है। जीव और पुद्गल के निमित्त-नैमित्तिकपना होने पर भी दोनों का अत्यंत स्वतंत्र परिणमन ज्ञानी को राग-द्वेष का अकर्त्ता अभोक्तापना, अज्ञानी को राग द्वेष का कर्ता-भोक्तापना, सांख्यदर्शन की एकान्तिकता, गुणस्थान आरोहण में भाव का और द्रव्य का निमित्त-नैमितिकपना, विकाररूप परिणमन करने में अज्ञानी का स्वयं का ही दोष, मिथ्यात्वादि का जड़पना, उसीप्रकार चेतनपना पुण्य और पाप दोनों का बंधस्वरूपपना, मोक्षमार्ग में चरणानुयोग का स्थान इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्र में प्ररूपण किये हैं। इन सबका उद्देश्य भव्यजीवों को यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने का है। इस शास्त्र की महत्ता देखकर अन्तर उल्लास आ जाने से श्रीमद् जयसेनाचार्य कहते हैं कि **जयवंत वर्तें वे पद्मनंदि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्द आचार्य कि जिन्होंने महातत्त्व से भरे हुये प्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्यजीवों को समर्पित किया है।** यथार्थतया इस समय में यह शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवों को परम आधार है। ऐसे दु:षमकाल में भी ऐसा अदभुत अनन्य शरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेव के मुख में से निकला हुआ अमृत विद्यमान है, यह अपना सबका महा-सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की ऐसी संकलनाबद्ध प्ररूपणा दूसरे कोई भी ग्रंथ में नहीं है। परमपूज्य श्रीकानजीस्वामी के शब्दों में कहा जाये तो यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है, जैनशासन का यह स्तम्भ है, साधक की यह कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। चौदह पूर्व का रहस्य इसमें समाया हुआ है। इसकी हर एक गाथा छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुये महामुनि के आत्म-अनुभव में से निकली हुई है। इस शास्त्र के कर्ता भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समवसरण में गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे यह बात यथातथ्य है, अक्षरश: सत्य है, प्रमाण सिद्ध है, इसमें लेशमात्र भी शंका के लिये स्थान नहीं है। उन परम-उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस समयसार में तीर्थंकर देव की निरक्षरी ॐकार ध्वनि में से निकला हुआ ही उपदेश है।

इस शास्त्र में भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका लिखने वाले जो विक्रम की दसवीं शताब्दी में हो गये हैं, श्रीमदमृतचंद्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार इस शास्त्र के मूलकर्ता अलौकिक पुरुष हैं, उसीप्रकार इसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति जैसी टीका अभी तक भी दूसरे कोई जैन ग्रंथ की नहीं लिखी गयी है। उन्होंने पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार की भी टीका लिखी है और तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथों की रचना भी की है। उनकी एक इस आत्मख्याति टीका ही पढ़ने वाले को उनकी अध्यात्म रसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वता वस्तुस्वरूप को न्याय से सिद्ध करने की उनकी असाधारण शक्ति और उत्तम काव्यशक्ति का पूरा ज्ञान हो जावेगा। अति संक्षेप में गंभीर रहस्यों को भर देने की अनोखी शक्ति विद्वानों को आश्चर्यचकित करती हे। उनकी यह दैवीटीका श्रुतकेवली के वचनों के समान है। जिसप्रकार मूलशास्त्रकर्ता ने समस्त निजवैभव से इस शास्त्र की रचना की है, उसीप्रकार टीकाकार ने भी अत्यंत उत्साहपूर्वक सर्व निजवैभव से यह टीका रची है ऐसा इस टीका के पढ़ने वालों को सहज ही निश्चय हुये बिना नहीं रह सकता। शासन मान्य भगवान श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव ने इस कलिकाल में जगद्गुरु तीर्थंकर देव के जैसा काम किया है और श्री अमृतचंद्राचार्यदेव ने मानों कि वे कुन्दकुन्द भगवान के हृदय में बैठ गये हों, उसप्रकार से उनके गम्भीर आशयों को यथार्थतया व्यक्त करके उनके गणधर के समान कार्य किया है। इस टीका में आने वाले काव्य (कलश) अध्यात्मरस से और आत्मानुभव की मस्ती से भरपूर हैं। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव जैसे समर्थ आचार्यों पर भी उन कलशों ने गहरी छाप डाली है और आज भी वे तत्त्वज्ञान से और अध्यात्मरस से भरे हुये मधुर कलश अध्यात्मरसिकों के हृदय के तार को झनझना देते हैं। अध्यात्म-कविरूप में श्री अमृतचंद्राचार्य देव का जैन साहित्य में अद्वितीय स्थान है।

समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्राकृत में ४१५ गाथाओं की रचना की है। उस पर श्री अमृतचंद्राचार्य देव ने आत्मख्याति नामकी और श्री जयसेनाचार्य देव ने तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीका लिखी है। पण्डितश्री जयचंद्रजी छाबड़ा ने मूल गाथाओं का और आत्मख्याति का हिन्दी में भाषांतर किया और उसमें स्वयं ने थोड़ा भावार्थ भी लिखा है। वह पुस्तक समयप्राभृत के नाम से विक्रम सं. १९६४ में प्रकाशित हुई। उसके बाद उस पुस्तक को पण्डित मनोहरलालजी ने प्रचलित हिन्दी में परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा समयसार के नाम से वि. सं. १९७५ (ई.१९१८) में प्रकाशित हुआ। उस हिन्दी ग्रंथ के आधार से उसीप्रकार संस्कृत टीका के शब्दों तथा आशय से चिपटे रहकर यह गुजराती अनुवाद तैयार किया गया है।

यह अनुवाद करने का महाभाग्य मुझे प्राप्त हुआ यह मुझे अत्यंत हर्ष का कारण है। परमपूज्य श्री कानजीस्वामी की छत्रछाया में इस गहन शास्त्र का अनुवाद हुआ है। अनुवाद करने की समस्त शक्ति मुझे पूज्य स्वामीजी के पास से ही मिली है। मेरी मार्फत अनुवाद हुआ इससे यह अनुवाद मैंने किया है, ऐसा

व्यवहार से भले ही कहा जावे, परन्तु मुझे मेरी अल्पज्ञता का पूरा ज्ञान होने से और अनुवाद की सर्व शक्ति का मूल पूज्य श्री गुरुदेव ही होने से मैं तो बराबर समझता हूँ कि श्रीगुरुदेव की अमृतवाणी का तीव्र वेग ही, उनके द्वारा मिला हुआ अनमोल उपदेश ही, यथाकाल इस अनुवादरूप में परिणमा है। जिनके बल पर ही इस अतिगहन शास्त्र के अनुवाद करने का मैंने साहस किया था और जिनकी कृपा से ही यह निर्विघ्न पूरा हुआ है, उन परम उपकारी गुरुदेव के चरणारविंद में अति भक्तिभाव से वंदन करता हूँ।

इस अनुवाद में अनेक भाइयों की मदद है। भाईश्री अमृतलाल माणेकलाल झाटकिया की इसमें सबसे ज्यादा मदद है। उन्होंने सम्पूर्ण अनुवाद का अति परिश्रम करके बहुत ही सूक्ष्मता से और उत्साह से संशोधन किया है। बहुत सी अति उपयोगी सूचनाएँ उन्होंने बताई, संस्कृत टीका की हस्त लिखित प्रतियों का मिलान कर पाठान्तरों को ढूँढ़ कर दिया, शंका-स्थलों का समाधान पण्डितजनों से बुलाकर दिया इत्यादि अनेक प्रकार से उन्होंने जो सर्वतोमुखी सहायता की है, उसके लिये मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ। अपने विशाल शास्त्रज्ञान से इस अनुवाद में पड़ने वाली छोटी-मोटी दिक्कतों को दूर कर देने वाले माननीय श्री वकील रामजीभाई माणिकचंद दोशी का मैं हृदयपूर्वक आभार मानता हूँ। भाषान्तर करते समय जब-जब कोई अर्थ बराबर नहीं बैठा तब-तब मैंने **पण्डित गणेशप्रसादजी वर्णी और पण्डित राम प्रसादजी शास्त्रीजी** को पत्र द्वारा (भाई अमृतलाल द्वारा) अर्थ पुछवाने पर उन्होंने मेरे को हर समय बिना संकोच के प्रश्नों के उत्तर दिये, उनकी सलाह मुझे भाषान्तर में – अनुवाद में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके लिये मैं उनका अन्त:करणपूर्वक आभार मानता हूँ। इसके अनंतर भी जिन-जिन भाइयों की इस अनुवाद में सहायता है उन सबका भी मैं आभारी हूँ।

यह अनुवाद भव्यजीवों को जिनदेव द्वारा प्ररूपित आत्मशान्ति का यथार्थ मार्ग बतावे यह मेरी अन्तर की भावना है, श्रीमदमृतचन्द्राचार्यदेव के शब्दों में यह शास्त्र आनंदमय विज्ञानघन आत्मा को प्रत्यक्ष दिखाने वाला अद्वितीय जगतचक्षु है। जो कोई उसके परम गम्भीर और सूक्ष्मभावों को हृदयङ्गत करेगा उसको वह जगतचक्षु आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करावेगा, जब तक वे भाव यथार्थ प्रकार से हृदयङ्गत नहीं होवें, तब तक रात दिन वह ही मंथन वह ही पुरुषार्थ कर्तव्य है। श्री जयसेनाचार्य देव के शब्दों में समयसार के अभ्यास आदि का फल कहकर यह उपोद्घात पूर्ण करता हूँ – स्वरूपरसिक पुरुषों द्वारा वर्णित इस प्राभृत का जो कोई आदर से अभ्यास करेगा, श्रवण करेगा, पठन करेगा, प्रसिद्धि करेगा, वह पुरुष अविनाशी स्वरूपमय अनेक प्रकार की विभिन्नता वाले केवल एक ज्ञानात्मक भाव को प्राप्त करके अग्रपद की मुक्ति ललना में लीन होगा।

– हिम्मतलाल जेठालाल शाह
दीपोत्सव वि.सं.१९९६

PROLOGUE

Philosophy is said to be the sweet milk of adversities and miseries. Adversity introduces a man to himself. Had there been no adversities and miseries on this earth, there would have been no need of philosophy or religion or school of faith. Every being (Jiva) is trying his level best to get rid of all sorts of adversities, miseries, ailments etc. and wants to attain imperishable and infinite happiness by gratifying his carnal desires. But it is next to impossible to attain true spiritual happiness by way of gratifying his desires that are endless. As a matter of fact, satisfying the desires is in no way the true means of attaining real happiness, because by the time one desire gets fulfilled partly or fully, another desire arises. Thus perturbedness continues which is caused by desires.

Happiness-unhappiness varies directly in proportion to one's desires. More desires more unhappiness, less desires less unhappiness. No desires no unhappiness; i.e., desirelessness is real happiness. Hence one should go on reducing the radius of desires till it coincides with the centroid. The end of desires is the end of perturbedness and so is the end of miseries. He will then remain the knower and seer only and not the doer of the events happening on their own. **A true philosophy is concerned with the determination of the nature of substances, the causes of misery and perturbedness and the means of eradication of the same. It engages a rational thinker into the pursuit of knowledge and wisdom and unprejudicedly in search of truth.**

Now-a-days the unbiased thinkers have arrived at the following conclusions, that there are two main categories of the schools of faith or religion:-

1. One creator God theory :- Under which fall all the so-called religions of the world excepting the Jainism.

2. No creator God theory :- under which falls Jainism & Buddhism.

The first category people, that is the believers of "One Creator God theory" call themselves as non-atheist (Aastik) and to the second category people, i.e.; to the believers of "No Creator God theory", they call them atheist (Nastik) but such sort of discrimination is totally irrational, illogical and biased one, because however far back we may go in time, no beginning of the constituents of the universe (souls, matter etc.) could be discovered or conceived, so that we could arrive at a point when those substances were not existing. The jains only believe in the eternity of universe as expounded by true passionless omniscient supreme men-monk Arihanta.

According to Jainism there is no creator God or Gods. Jainism shows the path of purification to capable souls (Bhavya Jivas) who, by following it, attain the God-hood (omniscience) in the man-monk state of existence. **Thus Jainism is the path of purification and the science of attaining Godhood-'Moksha' (liberation),i.e., freedom from birth and death cycle and from karmic-matter which are the instrumental cause of reincarnation and miseries. The omniscient God is not the doer or creator of the naturally existing world-phenomenon;** He is the happiest omniscient and will remain so for ever - enjoying the self-evolved infinite spiritual bliss. The omniscient in super corporeal body (Param-Audarik Deha free from all sorts of 18 blemishes- (1. Hunger 2. Thirst 3. Birth (reincarnation) 4. Senility 5. Surprise 6. Disease

7. Death 8. Fear 9. Pride 10. Attachment 11. Aversion 12. Infatuation 13. Worry 14. Conceit 15. Hatred 16. Uneasiness 17. Sweat and 18. Sleep) is called Arihanta God and with termination of age-karma he attains the 'Siddhatva',i.e.,the non-corporeal purest immaterial natural form of soul and immediately reaches the summit of the universe by upward motion-nature and remains situated there for ever in the happiest and omniscient state of the soul.

Forming its deep doctrinal base, Jainism comprises metaphysics and ontology, logic and dialectics, cosmology, ethics and rituals, psychology, theology and mythology etc.

Thus, Jainism provides logically approved facts and all sorts of knowledge to the eager seeker of the truth. Hence it is a well-developed comprehensive philosophical and religious system. There is no room for any superstition and blind faith in Jainism. It discourages us of all sorts of misconceptions and encourages for substance-based free rational thinking.

Jainism is a metaphysical realism, a spiritual idealism, a philosophical non-absolutism, an ethical Puritanism, an ontological optimism psychological rationalism. It is not the revelation of the so-called imaginary God, but it is expounded by Arihantas (the passionless omniscient supreme men) who have attained the omniscience by undergoing rigorous self discipline and having had known and experienced the reality, realized the truth in the state of self absorbed monkhood and achieved the goal. **Jaina metaphysics rests on the scientific axiom that"Nothing is absolutely destructible " i.e. nothing can be created out of nothing or out of something which does not at all exist in any form. It proves that this cosmos or universe is nothing but a conglomeration of all that exists on its own. It is uncreated and really self-existing reality which is eternal, ever lasting without a beginning and without an end. This is proved by modern science too. If we take any formula of chemistry, it reveals that valency remains equal either side. No atom is really created or destroyed and as such all the six constituents of the cosmos (Jiva, Pudgal or matter, Dharma, Adharma, Akash, Kaal) are eternal, uncreated and imperishable. Hence it is futile to believe in the existence of some imaginary god.**

Thus, ontologically Jainism does not accept any whimsical idea of creation of the world by some so-called imaginary God on analogy of a carpenter or a smith. The cosmic constituents are themselves capable of explaining the diverse phenomena by their respective functioning and interaction. Hence, believing the uncreated as created one is nothing but the riddle of the creation. **About 100 years ago, Barrister C.R. Jain, in his great book 'Key of knowledge'** (P-135) has put forth the following unchallengeable verdicts about the creation of the world before the thinking souls for ascertaining it.

"The first question, which arises in connection with the idea of creation is, why should God make the world at all? One system suggests, that he wanted to make the world, because it pleased him to do so; another, that he felt lonely and he wanted company; a third, he wanted to create beings who would praise his glory and worship; a fourth, that he does it in sport and so on.

Why should it please the creator to create a world where sorrow and pain are the

inevitable lot of the majority of his creatures? Why should he not make happier beings to keep him company?" (This is really a most unchallengeable argument to the believers of a creator God).

A great German research scholar Dr. Harman Jakobi has flatly declared (in the third International Congress of the history of religions) his supreme judgment as follows:-

"In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all other and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India."

Definition of the term 'dharma' in Jainism.

In Jainism, the nearest word for the term 'dharma' is 'religion'. But, in fact, it has two fold connotation: Primarily it means 'The nature of substance', i.e. the essential, inherent nature of a thing or substance-living or non-living that exists-is 'dharma' of that thing/substance and secondarily it connotes the means or the path by following which the essential inherent nature of self is realised. Thus, the term 'dharma' denotes faith, conviction, belief, creed, philosophy, path, law, righteousness, piety and in short everything included in religious theory and practice. In Jainism, the 'dharma' (religion) is defined as under :-

धम्मो वत्थु सहावो, खमादिभावो य दसविह धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।478।। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

Meaning - The nature of substance is 'dharma'. Supreme forbearance etc. ten forms of pure passionless dispositions of soul are 'dharma'. The triple jewels, i.e., right belief, knowledge and conduct are 'dharma' and protecting the life of all beings (from one sensed to five sensed rational beings) is 'dharma', i.e., Ahinsa (non violence) is the highest religion.

Showing the right path of liberation to the misbelievers (mundane rational beings) is the greatest benefaction of those selfless enlightened souls. Even the omniscient 'Tirthankaras' and 'Ganadharas' (chief of the congregation of monks & next to Tirthankaras) render such type of benefaction only. In this 'Shastra'- "Samayasara" also the discourses are given by the great pontiff Digamber Jain Acharya 108 Shri Kund-Kund (127-179 A.D.) in accordance with the preachings of omniscient (Kevali) the last 24th Tirthankara Bagwan Mahaveer Swami (557-527 B.C.) and the last 'Shrut-Kevali'-108 Aacharya Bhadra Bahu swami (394-365 B.C.)

The prime objective of Jainism

The prime objective of Jainism is (i) to show the right path of salvation to the miserable capable souls (ii) to make them realise that they are potentially God (Paramatma) and they can attain Godhood through self realisation and they need not to remain just like a slave of the socalled imaginary creator God (iii) to make them understand the true nature of omniscient Arihanta God and that of the self soul through the true posture of Jina's idol silently preaching the devotee to remain self-absorbed like him and (iv) for attaining happiness they need not to grope in the darkness of uncertainty and doubt and (v) to free the mundane souls from all sorts of pains & miseries of embodied state of existence and to install them in supreme bliss for ever and (vi) to get rid of birth & death cycle for ever.

The 'Peculiarity of Jainism'

The peculiarity of Jainism in the words of Justice Lt. J.L. Jaini (Indore High court) written by him about 70-80 years ago in his book "outlines of Jainism" is being reproduced here :-

"Jainism more than any other creed gives absolute religious independence and freedom to man. nothing can intervene between the actions which we do and the fruits thereof. Once done, they become our masters and must fructify. As my independence is great, so my responsibility is coextensive with it. I can live as I like, but my choice is irrevocable and I cannot escape the consequences of it. This Principle distinguishes Jainism from other religions e.g., Christianity, Muhammadanism, Hinduism, Buddhism etc. No god or his prophet or deputy or beloved can interfere with human life. The soul and it alone is directly and necessarily responsible for that it does".

The above statement reveals that one who owes his fortune to another he will have to remain like a slave always depending on other's mercy. But Jainism provides its votary complete independence to do or not to do good-bad deeds and reap the consequences there of, i.e. "As you sow so you reap." Thus attaining perfect independence through self-reliance is the final goal of human-life and it is attained by trinity of right belief-knowledge and conduct.

He is a true believer who has, through self- realisation, fully identified the self soul as distinct from the non self foreign things - (Physique, Karmic matter clinging with him and all sorts of impure dispositions- attachment- aversion passions). He knows that his work-limitation is to know and see only but not to interfere with or do any thing to the other because from realistic point of view, no soul possesses the quality of interfering with or doing any thing in the matter of other non-self things including all the other Jivas.

In English'Tattvartha-Sutra' by J. L. Jaini (Page 15) the Specific remark given in this regard is worth paying attention :-

"Right belief is not identical with blind faith. Its authority is neither external nor autocratic. It is reasoned- knowledge. It is a sort of a sight of a thing. You can not doubt its testimony. So long as there is doubt, there is no right belief. But doubt must not be suppressed; it must be destroyed. Things have not to be taken on trust. They must be tested and tried by every one himself . This sutra lays down the mode in which it can be done. It refers the enquirer to the first laws of thought and to the universal principles of all reasoning, that is, to logic under names of 'Pramaan' comprehensive knowledge) and 'Naya' Partial - Knowledge)".

SAMAYASARA
(The Eternal Truth)

Samayasara is the holiest spiritual canon (book) in the present time on this earth. It is the direct revelation of the omniscient-Arihanta God . It was composed 2000 years ago by the great Digamber Jain Aacharya 108 Shri Kund-Kund Deva who flourished in south India during 127-179 A.D. and who is said to have gone to Videha-Kshetra for directly listening to omniscient's

preachings (discourses) in the "Samava-sharan" of 1008 Seemandhar Swami. He stayed there for 7 days, listened to Divya-Dhwani (Divine discourses) and came back to India and wrote 84 Pahudas (spiritual books) out of which only 14 Pahudas-books are available and the remaining ones are not available.

The Samayasara Gatha Sutras of the great Digamber Jain Aacharya kund-kund (127-179 A.D.) and the "Atma-khyati" commentary there on by the great DigamberJain Aacharya Amrut Chandra (905-955 A.D.) and the 'Tatparya Vrutti' commentary of the great Digamber Jain Aacharya Jaisen (12th century A.D.) occupy a unique position in Jain scripture (canon.) Atma-khyati commentary written in superb Sanskrit is the most propitious, highly literary and full of erudition spiritual commentary on 'Samayasara'. It is written in prose and verse with unique blending of both. The total Prakrut Gatha Sutras of Samayasara are 415 in number and the total Shlokas in Sanskrit (Atma-Khyati Commentary) are 278 and these are given the name of 'Kalashas' i.e., golden pots full of spiritual nectar by drinking of which one attains the immortal imperishable non-corporeal state of 'Siddha' (Liberated state of soul) who are an embodiment of infinite knowledge and bliss free from all sorts of karmic matter and consequently free from birth & death cycle for ever.

In Kalash no.245 the commentator Aacharya Amrit Chandra has himself called this 'Samayasara'as to be the world's unique eye of wisdom and in kalash no. 244 he has written that nothing is so great other than 'Samayasara' on this earth. And rev. Gurudeo Shri Kanji Swami (Songadh) 1890-1980 A.D. has said about this 'Samayasara' as to be the "Shastra of attaining the non- corporeal state of the soul. He changed his "Sthanakvasi" sectarian belief and gave up 'Muha-patti'- the emblem of false preceptor after realising the truth from 'Samayasara' and 'Moksha marg Prakashak' These books are like the search-light and the key of true knowledge for the unbiased seeker of Truth. After declaring himself a Digamber Jain, Bal Brhmachari Shravak, he gave discourses nineteen times on 'Samayasara'prior to his leaving for heavenly abode on 28th Nov. 1980. Lakhs of people (his listeners) from Sthanakvasi, Shwetamber, Digamber Jains as well as many non- Jains also became his Disciples. His 'Pravachanas (Discourses) on Samayasara have been published in the form of 'Pravachan Ratnakar' in eleven volumes in Gujrati and Hindi. It is really a great boon to whole of the mankind.It is because of him only that now-a-days 'Samayasara'; Moksha Marg Prakashak etc. are being studied by all every where irrespective of caste, creed & nation.

Shri Kanji Swami had not only studied Samayasara but almost all Digamber Jaina-scripture covering all the four Anuyogas were studied by him and interpreting the truth continuously for 45 years he gave discourses on 'Pravachansara Niyamsara, Panchastikaya, Ashta-pahud, Padmanandi Panchvinshatika, Moksha Marg Prakashak, Dravya Sangrah, Kartikeyaanupreksha, Ishtopadesha, Purushartha-siddhyupaya, Praramatma-Prakash, Yogasara, Samayasara-Kalash-Tika, Chhaha-dhala etc and Bhaktamar Hymn, Vishapahara Hymn etc. Stotras (hymns). Fortunately his all discourses are safe guarded in the form of audio-video tapes as well as in the form of books published from Songadh and different Digamber Jain Mumukshu Mandal Trusts. His unique influential personality and lucid interpretation of deep spiritual matters attracted the attention of the eager

seekers of truth and thus Songadh (Saurashtra-India) became the seat of spiritual learning during his time. Songadh, Samayasara, Bhagwan Atma & Kanji Swami have become synonymous words. One of his photos in meditating posture has been selected as the only best photo in deeply engrossed meditation posture in the whole world .In this way he is remembered to be the right interpreter of 'Samayasara' and real meditator of the truth in the present world. He had highest regard for all Digamber Jain Aacharyas (monks) for their unforgetable contribution in composing the Jain scripture in accordance with ommiscients preachings. He also had deep feeling of indebtedness to Aacharyakalp Pt. Todarmal ji whose Moksha Marg Prakashak turned his life and made him a staunch follower of Digamber Jain religion which is the only a non-sectarian eternal religion on this earth showing the true path of liberation.

It is said that "A little philosophy inclines man's mind to atheism but depth in philosophy brings man's mind about to religion. Jainism, being preached by omniscient and realised by passionless Digamber Jain monks, is the only scientifically and logically proved ultimate philosophy and religion on this earth because therein lies the solution to all sorts of problems and questions pertaining to soul's existence, its eternity, reincarnation and salvation. Jain religion when studied unbiasedly makes the sceptic realise the mystery and pathos of moral existence and fact as to why one should attain the right-belief, knowledge & conduct (triple jewels). Jain philosophy aims at perfection of knowledge & bliss to its votary through the oneness of triple jewels ,i.e., right belief - knowledge & conduct.

A Short History of Jain-Scripture

During the last 2500 years after the Nirvana of the last 24th Tirthankar Mahavira (599-527 B.C.), many outstanding Digamber Jain Monks (Aacharyas) flourished in this great country (Bharat).They were great thinkers and enjoyers of spiritual bliss. They practised and preached the supreme Digamber Jain religion showing the eternal way to real happiness to the miserable mundane beings. It should therefore be very much interesting to know about and try to understand this great religion.

According to Original jain tradition established by the last Shrut Kevali Bhadrabahu-I (394-365B.C.) the authentic Digamber Jain tradition of the Aacharyas (Chief monks) as given in Tilloya-Pannati, 683 years after the Nirvana of Mahavira,there had been the second Bhadrabahu Swami Aacharya. But as per "Shrut-Avatar" of Aacharya Indranandi (939A.D.) he had been in 492-515V.N.S.* (35-12 B.C.) and there after in his tradition had been Dharsen Aacharya 614-633 V.N.S. (38-106A.D.), Aacharya Pushpdanta 633-663 V.N.S. (66-136A.D.), Aacharya Bhootbali 633-683 V.N.S.(66-156A.D.), Aacharya Jina Chandra 614-654 V.N.S.(87-127A.D.) and Aacharya kund-kund 654-706V.N.S.(127-179A.D.).These periods of Aacharya are as per given in Jainendra Siddhant Kosh vol.1 page 316-317 & 328. and are acceptable to scholars.

Shri Dharsenaacharya who possessed the knowledge of "Maha-Karma-Prakritis" the 4th Prabhrut of the fifth chapter of "Agrayani Poorva" taught it to two highly genius monks namely Pushpadant and Bhutbali. These monks, knowing the gradual reduction of the intellect and memory

* V.N.S. = Veer Nirvan Samvat

power of the people, composed the same in prakrut axioms-formulas, topicwise in six chapters and hence the first ever written canon named as "Shat-Khandaagam" came into being after 683 years of Nirvan of Mahavira Swami. Later on in 8th-9th century Aacharya Virsen Swami (770-827A.D.) wrote commentary on "Shat-Khandaagam". The commentary on first five chapters is termed as "Dhawala" and on the last sixth chapters it is termed as "Maha-Dhawala"

In the same tradition of Bhadrabahu Swami-II but a little earlier to Dharsenaacharya, that is just in the beginning of first century A.D. there had been one great Aacharya "Gunadhar" who possessed the knowledge of third 'Prabhrut' of tenth chapter of "Jnan-Pravad-Poorva". He composed Kashay-Pahud named canon in 180 Gathas in Prakrut. Later on Aacharya Aryamankshu (73-123A.D.) and Aacharya Nagahasti (93-162A.D.), it is said, extended this Kashay- Pahud from 180 Gathas to 215 Gathas by adding 35 more Gathas. Later on Yati-Brishabhaacharya (93-173A.D.), wrote 6000 Churni-Sutras on this original scripture by dividing it into 15 chapters. And later on, the same Virsen Swami (who wrote "Dhawala" commentary on "Shatkhandaagam") wrote "Jai-Dhawala" named commentary on "Kashay-Pahud" but it could not be completed as he left for his heavenly abode, so later on his disciple 'Jinasenaacharya' (818-878A.D.) completed the same in 837A.D.

Contemporary to Aacharya Bhutbali (66-156A.D.) there had been Jina Chandra Aacharya (87-127A.D.) who conferred "Diksha" (oath of monkhood) to Kund-Kund with Diksha name as "Padmanandi" (127-179A.D.). Aacharya Kund-Kund was exceptionally very intelligent person . He was possessing the knowledge of aforesaid 'Shastras'-"Shat- Khandaagam" & "Kashay-Pahud". He wrote "Parikarma" named commentary on the first three chapters of Shat-khandaagam but alas! it is not available any where. Thus Parikarma was the first ever written commentary on the first great canon "Shat-khandaagam."

This 'Agam' was committed to writing, just at the time when the whole Jain canon was on the verge of being forgotten. According to the Digamber tradition all the 'Twelve Angas' canon have been lost excepting these portions of the last "Ditthivaya-Anga" and a bit of the fifth Anga.

Aacharya Kund-Kund's birth took place in the sky-clad (naked) Digamber Jain monk's tradition at the time when there was a great challenge before him. Any kind of slackness, if taken for granted at this time, would have proved extremely detrimental to the original Digamber tradition of Mahavira. Being the prominent pontiff (Aacharya) of Digamberas, it was the great responsibility of Kund-Kund Aacharya to protect the originality any how. He not only practised himself but also preached others the veracity of true path of salvation and so he composed second ever written canon –'Parama-agama' (spiritual Shastras) with admonition against any kind of slackness in the original path of liberation .

"Shat-Khandaagam"-being written first by Dharsena- acharya's disciples Pushpadant and Bhutbali is called 'Pratham Shruta- skandha' (first scriptural canon put in words) and the Samayasara, Pravachansara, Niyamsara, Panchastikaya, Ashta-Pahudas etc. being written little later by the intellectually highly capable Aacharya Kund-Kund are called "Dwiteeya Shruta-Skandha" (second scripture canon put in words).

As a matter of fact, presently available original scripture (canon) are only these two categories of "Shastras", yet they with the commentaries there on, are fully efficacious in illuminating the right path of liberation in the hearts of highly deserving capable souls till the end of this fifth era.

It is an established fact that in 'Jinaagam' (Jina's scripture) the descriptions of purposeful Tattvas (realities) are found from two stand-points (Nayas). The one is Nishchaya Naya (the real stand-point) and the other is Vyavahara Naya (the unreal or conventional stand - point). In them, the real stand point is called Nishchaya (Yathartha) and the unreal or conventional stand-point is called Vyavahara (Upachara). Without grasping this truth of the stand-points one is sure to remain ignorant and misbeliever. If these two Nayas (stand-points) are properly fathommed, then only there lies the chance of self-realisation. In Samayasara & Niyamsara the purposeful seven Tattvas or nine Padarthas are expounded through these two Nayas only. The Samayasara & Niyamsara are meant for accomplishing the purpose of "self-realisation" by way of pure thought activity (Shuddhopayoga) form of self meditation.

The Pravanchansara is meant for knowing the true nature of the knower's knowledge Pramaan and the known or Knowable (Prameya) and treading on the pathway to liberation by renouncing all possessions & passions, ,i.e., observing sky clad monkhood with complete conduct knowing the self (soul) and the non-self by their (i) Substanceness, qualities (attributes) and modes (ii) origination, destruction and permanence nature of "Sat" (iii) structure, construction and the constitution of all the six substances as expounded by the omniscient Jina in accordance with their own substance (Dravya), space (Kshetra), time (kaal) and essence (Bhava). Thus, pure ontology metaphysics is the subject of "Pravachansara" and that is why "Pravachansara" has been included in the courses of various universities of the world under the faculty of eastern philosophy. Pleased with its minute scientific predication rev. Shri Kanji Swami used to call "Pravachansara" as "Divya-Dhwani-ka-saar", i.e., "the essence of omniscient's preachings."

However, for understanding the very structure of the soul substance or any substance, there is another set of two standpoint specified in Jina's scripture. The one is 'Dravyaarthika' (substantial stand-point) and the other is 'Paryayaarthika' (modificational stand-point). The six categories of substances (Jiva, Pudgala, Dharma, Adharma, Aakash and kaal are called "Dravyas" and the differentia of a Dravya is"Sat",i.e.,Existence without beginning and without end. The "Sat"(reality) is characterised by the trio of origination (utpada), destruction (Vyaya) and permanence (Dhrauvya), that is, the "Sat"(Dravya) is "Permanency with a change". The "Sat"(Dravya) thus changes every moment its mode without losing its substanceness and qualities. In other words, we can say that the appearance or origination of newer modification and disappearance or destruction of former modification of qualities on the permanent bedrock of substance is the trio characteristic of "Sat" (Dravya).

The "Panchastikaya" is said to be the entry door to the realm of Jina's canon and spiritualism where in the automatic functioning of the six substances (the so called six constituents of the cosmos) and the togetherness of the real and conventional paths of liberation are described. Panchastikaya is meant for the beginners who want to understand the liberation-path in brief. The "Pravachansara" is meant for medicore interest people who want to know the reality by logic and

logically approved facts. The "Samayasara" is meant for the deeply interested people who want to know the reality in detail and realise the truth after verifying it minutely through the doer and the deed (Karta-Karma) principle and after grasping firmly what is rejectable and what is acceptable worth taking shelter.

The "Ashtapahud" is said to be the administrative volume where in Kund-Kund Aacharya has set the rules and regulations for the treaders on the path to liberation and cautioned them by strict admonitions and by making them aware of the consequences of neglecting religious observances and proper conduct. He has refuted the'Shvetamberas' for their misconception about the true original sky-clad path of liberation and misbelief about the true Arihanta God (Deva), Shastra (scripture) & Guru (preceptor / possessionless saint).

It is a matter of immense pleasure that by the dawn of shri Kanji Swami in the 20th century, many shvetamberas, Sthanakvasis and Digamberas too, after listening to his 'Pravachanas' (discourses) corrected their faith- knowledge and conduct by accepting the original Digamber Jain religion. This has proved the saying that "Time eats away everything except the truth" and "Time is precious, nay truth is more precious. Truth is always alive, it never dies".

Realisation of self-soul is possible

The formless form of the soul can be realised easily because it is the only substance which possesses the unique property of consciousness -i.e., the power of knowing and seeing. We are rational beings, we are possessed of the power of differentiating and distinguishing the self from the non-self, the right from the wrong, the specific characteristics of one substance from the specific characteristics of the other substance and so on The inner theme of Samayasara is to give up wrong belief and attain right belief or true insight about the self soul and this alone will bring the end of endless miseries of mundane existence. In short, the answer to above question is given in Gatha 38 as under :-

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ।।38।। समयसार

Meaning :- "Actually I am unique, pure, Identical with perception and knowledge,as well as always formless, any other thing except me is not related to me,even a little whatsoever,i.e.,none else except my consciousness is mine which is naturally pure immaterial and manifested in the form of perception and knowledge".

Soul is self illuminated and self intuted pure by nature, devoid of material form and an embodiment of consciousness identical with perception, knowledge, bliss and power from beginningless time and will exist so ad- infinitum. He who meditates upon his pure form of soul, they attain self-realisation, experience peace and self-evolved spiritual bliss and finally attain omniscience in Digamber Jain Monk state only

2537वाँ भगवान महावीर निर्वाण दिवस (नवम्बर 2010)
पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,
देवलाली, नासिक 422 401 (महा.)

An humble disciple of Kunda-Kunda Aacharya
Br. Hemchand Jain 'Hem'
Retd. Sr. Manager/ Steam Turbine Engineer, BHEL, Bhopal
M-10-A- Sonagiri, Bhopal (MP) INDIA
Ph. +91 755 2681049 Mob. - +91 9373293167

THE SUM & SUBSTANCE OF SAMAYASARA

Samayasara is also called "Samaya-Pahuda" (in Prakrit) or "Samaya-Prabhruta" (in Sanskrit). The 'Pahuda' or 'Prabhrut' is a canonical text and it means that which was propounded by Tirthankaras directly. This meaning of Pahuda is written in 'Kashaya-Pahuda' vol. 1 page 325. Also Pahuda means a gift or present. Thus Samayasara is the direct revelation of omniscient Tirthankar God of gods and a gift of soul to all Jivas. The etymological meaning of Samayasara is the eternal essential nature of the soul substance. The word Samayasara is not a single word but it is constituted of two interconnected words 'Samaya+sara' ,'sam' is a prefix and 'Ay' is a verb (root) which carries three meanings (I) To modify (II) To go or to move and (III) to know. (because all verbs which mean"to go" do also mean "to know.") Modifying and knowing simultaneously is the attribute of soul. And 'sara' means the essence that is free from any sort of contamination of impurity. Thus Samayasara means the eternal substantial purity of soul-substance.

Although the embodied mundane beings -"Jivas" are found in impure state of existence contaminated with karmic matter from beginningless time, yet their substantial purity is intact, i.e., substantially pure and modificationally impure are the mundane Jivas. The capable souls (Bhavya Jivas) on knowing this fact that they are potentially pure as are the Arihanta and Siddha Gods, try their best to attain the non-corporeal omniscient state through self-reliance path of triple jewels-right belief, right-knowledge and right conduct. Thus Jainism is the path of purification and attaining Godhood and ending the miseries of birth and death cycle for ever. This holy spiritual book advises us to detach our attention from worldly affairs and sinful acts and attaches/focuses it on the substantial purity of the self soul.

As per Atma-Khyati commentary there are total eleven chapers (topic-wise) as follows:- 1. Poorva-Rang (Synopsis) 2. Jiva-ajiva-adhikar (soul & non-soul) 3. Karta-Karma-adhikar (doer & deed) 4. Punya-Papa-adhikar (virtue & vice) 5. Aasrava-adhikar (Influx) 6. Samvar (stoppage) adhikar 7. Nirjara (shedding) adhikar 8. Bandha (bondage) adhikar 9. Moksha (liberation) adhikar 10. sarva-vishuddha Jnana (perfectly pure knowledge) adhikar and 11. Parishishta (Appendix).

In "Poorva-Rang" first chapter, Aacharya Kund-Kund has described 'what is soul (samaya)', what is self-Conscious soul (swa-Samaya), what is non-self-conscious soul (par-samaya) and pledged to explain the sublimity of oneness of soul detached from all other non-self objects through his faculty of self-realistion and inspired all of us to know and realise the self soul which has been existing substantially pure from beginningless time. The mundane beings do not realise their eternal purity of detached oneness because of perverse belief-knowledge and conduct and realise themselves otherwise modificationally impure, unified with passions. The singularity and eternal purity of the self-soul is neither heared, nor recognized, nor experienced by the mundane souls, hence Aacharya tries to expose the same with his generosity and benevolence that (i) In case, I may expose, determine it as authentic through self-realisation and (ii) In case, if I may deviate from giving a genuine exposition, misconception may not be held.

In case of the question – "what is the pure soul?" the author describes :–

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।6।।

Meaning :- The pure soul entity is neither dispassionate nor passionate. But pure soul is that which is merely invariably sentient – (an embodiment of consciousness only). The preceptors (omniscient-kevali and non-omniscient imbiber of whole traditional scriptural knowledge – shrut kevali) describe such a soul as pure. And that which is realised (experienced) as purely sentient (conscious entity) that is that only. (It can not be expressed through words).

The pure soul exists from beginningless time and will exist always. Each soul is inner-luminous. It can be perceived and experienced through the vision of its permanent nature stated by real stand-point and not by any other conventional-vision because the empirical stand point (vyavahara Naya) is not capable to treat the whole indivisible, real soul-substance in its inherent intrinsic form. The conventional stand-point is meant for explaining to ignorant people in their language the soul substance which is an indivisible mass of infinite attributes and their modes. Just as a barbarian can not be explained to without using his language, similarly the discourse of the absolute entity can not be related without using conventional stand-point, because there is no other way to explain. However the empirical (conventional) stand-point must not be followed literally because its subject is unreal, mixed, conjunct and partial whereas the subject of real stand-point (Nishchaya Naya) is real, absolute, unmixed and existent. Verily the perceiver of the real stand-point & dependent on the real existence becomes a right believer. Therefore the perceiver of self-soul, detached from all non self things, need not to surrender to conventional stand-point. But only those should be discoursed through the empirical stand-point who are staying in the inferior and relative notions' state.

In-spite of being identical with consciousness, the mundane soul is ignorant so far as he does not know the self consciousness. He can, of course, become wise by distinguishing the self from non-self body & emotions etc. and making concerted efforts to realise and experience the self. The main objective of 'Jiva-Ajiva' chapter is to make understand the self as identical with consciousness only by discriminating the whole of the world, corporeal body, bodily-structure, touch, taste, smell, colour, voice, attachment-aversion-delusion, psychic-influx, material-karmic influx & bondage, quantum, super-quantum, spiritual-postures, fruitive-degrees of karmas, vibration-degrees, bondage degrees-postures, rise-postures, soul-search postures (quest places), duration bondage, affliction-postures, degrees of chastity & modesty, restraint postures, soul-postures, quality-postures etc. as to be identical with non- self.

In spite of knowing the self as totally different from non self, if the mundane being even yet believes the self soul as the doer and enjoyer of non-self things, he remains ignorant and the true discriminative-knowledge does not evolve. This is why immediately after Jiva-Ajiva chapter the karta- karma (doer & deed) chapter is written, because the jiva pressed by the psychic load of doership of non-self things, can neither become free (independent), nor can attain the inner power of self reliance. If one substance is accepted as to be the doer & enjoyer of other substance then their freedom as well as their existence itself will fall in danger, i.e., inter-dependence of two

different substances can not be accepted from realistic point of view. Wherever the soul is said to be the doer or enjoyer of other things or of karmas, it should be understood as to be the statement of conventional stand-point (Vyavahar Naya). That soul which does not become the doer of anger etc. psychic emotions, karmic-matter obscuring knowledge etc. and physique etc. quasi-karmas, simply knows them only, he is really the enlightened soul (true-believer).

In Virtue-vice (Punya-Papa) chapter Aacharya has proved both type of karmas (auspicious & inauspicious dispositions) as to be belonging to karma category, both causing the bondage of karmic-matter irrespective of their sweet-bitter taste, fruition, intense-mild nature and difference in the subject of shelter. Those who believe “Punya” (Virtuous-deeds and dispositions) as to be good & beneficial and “Papa” (Vicious-deeds and dispositions) as to be bad & harmful, their belief is not correct, they are ignorant because both are harmful whether it is gold chain or iron-chain, both cause bondage and places the soul in transmigration.

In Aasrava (influx) chapter Aacharya has proved ‘Samyag-drishti’ (true-believer) as to be free from influx (Aasrava) because he has attained the true insight, he has understood that all sorts of psychic influx are injurious to spiritual health. They are caused by the rise of conduct-deluding karma which is always inauspicious in nature hence both are rejectable at the level of right belief; only the pure thought-activity (shuddhopayoga) is acceptable by taking the shelter of self pure soul being the subject of real stand point.

Stoppage of influx is called ‘Samvar’. It is produced on annihilation of perverse belief-knowledge and conduct. It is the manifestation of purity and spiritual bliss in the form of right belief knowledge and conduct. The true path of liberation begins from the manifestation of ‘Samvar’ and it is the cause of ending transmigration. The inflow of karmic matter stops further in the absence of perverse belief etc. which were the causes of influx and bondage. Thus we find that ‘Samvar’ is the destroyer of infinite miseries form of mundane existence and acts as the direct cause of infinite happiness form of liberation. This ‘Samvar’ is attained by self realisation and self realisation is attained by discriminative knowledge. It is, therefore, utmost necessary to contemplate continuously about the discriminative knowledge till self realization takes place. This is what narrated in ‘Samvar’ chapter.

A true-believer gradually increases his staying in the self soul through self meditation due to which the spiritual power also increases and it causes more shedding /annihilation of karmas.

This is termed “Nirjara” The decrease in psychic impurity & increase in psychic purity is called “Bhava-Nirjara” and the annihilation of the earlier bonded karmas is termed as “Dravya-Nirjara”. Even the indulgence in the objects of senses and enjoying them acts as the instrumental cause of Nirjara only because of his being possessed of right belief-knowledge and conduct. This is analogous to that physician who eats poison yet he does not die. A true believer possesses innerly deep renunciation feeling and wants to quit the indulgence in external things. It is due to this reason he does not get bonded with fresh karmic matter.

The root cause of bondage is impure thought activity (Ashuddhopayoga). This is what described in the chapter of "Bondage". All living beings get agreeable or disagreeable associations

according to their own rise of karmas. None can give or take other's life because all survive as per their age karma. Hence it is futile to believe that someone can harm or provide happiness-unhappiness to other beings. The direct root cause of karmic bondage is one's own perverse belief and attachment-aversion etc. passions and not the physical activity. A true believer's life is never found unrestrained. He leads a modest and chasteful life and fears sinful acts.

In 'Moksha' chapter Aacharya says that as a person tied and bonded with iron chains does not get liberated simply by knowing and thinking about the type and quality of bondage but gets liberated from bondage only by cutting the chains. Similarly this soul bonded with the clutched of karmic matter since beginningless time does not get liberated simply by knowing and thinking about the type and quality of bondage but gets liberated only by cutting (Shedding off) the karmic bondage. In short, only that soul gets liberated who by knowing the nature of bondage and that of the soul detaches himself from (the causes of) bondage and cuts the fetters of karmas by the wisdom chisel. By the same wisdom chisel by which one knows his soul totally distinct & different from the bondage, he realises (experiences) his soul free from bondage. The true believer knows that "I am soul- an embodiment of knowledge & bliss only rest all sorts of dispositions are different from me." As in the world the culprit (guilty conscious person) always remains worried & doubtful (that he may be caught) but the one who is not a culprit (do not have any guilty conscious) always remains unworried & doubtless (about being caught); Similarly, the true believer, i.e., the adorer of the soul does never feel worried & doubtful about his being caught by karmic bondage.

In "Sarva Vishuddha Jnana" chapter Aacharya says that as the eye sees only the external things, it does neither do any thing of those things nor enjoys or experiences them, so, in the same manner, the knowledge too knows only various virtue-vice forms of karmas, their fruition (effects), their bondage, shedding off and annihilation but does not do anything of them. As a matter of fact, there is no connection of any type between the soul and non-soul things, how can then the soul be the doer & enjoyer of them? Telling one substance as to be the doer-enjoyer of the other substance is simply the statement of "Vyavahara" (conventional stand-point). From the conventional stand-point only, the doer and the deed are said to be different but if thought from the real stand-point then both the doer and the deed are always accepted as one and not different.

The touch, taste, smell, colour and words etc. which are the states of matter, do not tell the soul that " You ought to know us" and the soul too does not go anywhere for knowing them by quitting his place; both (the soul and the matter) continue functioning freely in accordance with their own traits. In this way, in ignorant state, the mundane soul, even on its naturally being totally apathetic to all other substances, feels attachment-aversion in them by knowing them good-bad.

In the end, Aacharya says that many a people consider the external rituals – (observing of 28 rites moolgunas) only as to be the true path of salvation, but from realistic stand- point the (oneness of) right belief-knowledge & conduct is the true path of salvation. Such is the discourse of lord Jinendra. Hence Oh! Capable souls! You should engross yourself in the adoration of self soul in the form of its right belief-knowledge & conduct which constitute the right path of liberation and do not let your mind (upayoga) wander elsewhere. You should establish your self in the self-realisation form of liberation path, focus your attention in thy ownself, experience the spiritual bliss, travel in thy ownself, do not travel elsewhere. This is the sum and substance of 'Samayasara'.

In the 'Parishishta' (appendix) Aacharya Amrut Chandra has explained the multifarious nature of soul substance very minutely for the correctness of the style of predication means of attaining the attainable goal and the 47 potentialities of the knowing entity-soul.

Let my this human birth remain devoted in the study and meditation of the self soul and in the teaching-preaching of this ultimate truth & spiritual science. **Getting ' Samayasara' means getting the end of 'Sansara'. Let truth prevail because time eats away everything, except the truth. Knowing the truth is getting the truth.**

Victory to Jain-Religion

2537वाँ भगवान महावीर निर्वाण दिवस (नवम्बर 2010)
पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,
देवलाली, नासिक 422 401 (महा.)

An humble disciple of Kunda-Kunda Aacharya
Br. Hemchand Jain 'Hem'
Retd. Sr. Manager/ Steam Turbine Engineer, BHEL, Bhopal
M-10-A- Sonagiri, Bhopal (MP) INDIA
Ph. +91 755 2681049 Mob. - +91 9373293167

Samayasara Gatha – 415

Concluding this text 'Samayasara', Bhagwan Kunda-Kunda Aacharya expresses the dignity-importance and the fruit of studying this book in the last Gatha (verse) 415 –

जो समयपाहुडमिणं पढिदूणं अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही चेदा सो होही उत्तमं सोक्खं॥415॥

Meaning :- That person (Bhavya Jiva), who having studied this 'Samaya Prabhruta' and having comprehended its real expressible meaning, stays firmly in its expressible substantial meaning, i.e., supreme-self, will attain supreme bliss.

Gist of commentary 'Atma-Khyati' :- The name of this scripture is 'Samaya Prabhruta', It is also called 'Samaya – Pahuda' or 'Samayasara' . 'Samaya' means soul substance and 'Sara' means essence and 'Pahuda or Prabhruta' means a present (gift). The true eternal nature of the soul is described in this text. The soul- the supreme self (Parama Brahma) is the illuminator of all substances of the universe. It is characterised by perfect knowledge and perfect bliss and it is the subject matter of this book. Hence this book is termed as 'Sabda-Brahma', i.e., word-divine. The complete 12 Angas- scripture is called 'Sabda Brahma' and the essence of that is contained in this book. Therefore, this 'Sabda-Brahma' is the gateway to the realm of Ultimate Reality- the 'Parama-Brahma' – the Supreme Self. It illuminates the whole of reality and comprehends it within itself. Thus the self-soul is the true light.

One who studies this scripture carefully and comprehends its meaning clearly, has the privilege of realising the supreme-self and he will attain par-excellence knowledge and bliss which is paramount, self-evolved, self-dependent, disturbanceless and imperishable. So, O Bhavya Jivas! for your own benediction you must study this sacred book, listen to discourses on this and always remember and meditate on it, so that you may attain the desired imperishable knowledge and bliss.

- Br. Hem Chand Jain 'Hem'

आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनका प्रदेय

बाबू 'युगल' जैन एम.ए., साहित्यरत्न, कोटा

श्रमण संस्कृति के 'मुकुटमणि' आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर मूल परम्परा के 'वज्रकवच' हैं, दो हजार वर्ष से जैन क्षितिज पर चमकते दिनकर कुन्दकुन्द ने अपनी प्रभा से शासन की धवल कीर्ति को जीवित रख इसका शीर्ष ऊँचा किया है इनके सर्वाधिक गरिमामय यशस्वी जीवन का प्रबल प्रमाण यह है कि उन्हें भगवान महावीर और गौतम गणधर के ठीक बाद मंगल के रूप में स्मरण किया जाता है। यह एक अबाधित सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द तो दिगम्बर धर्म की मुद्रा ही बन गये हैं।

अध्यात्म श्रुत शिखर के 'नींव प्रस्तर' भरत क्षेत्र के जन-मन को ''आत्म विद्या'' का पाठ पढ़ाने वाले आचार्य कुन्दकुन्द इतिहास के पृष्ठों पर अपनी विशिष्ट पहिचान बनाये हुये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ज्ञानसिन्धु से प्रवाहित अध्यात्म की अजस्रधारा आज भी इस धरती को समृद्ध बना लोक मांगल्य की ओर ही बढ़ रही है। साहित्य धारा की सृजन श्रृंखला में गद्य की अपेक्षा पद्य में भावाभिव्यक्ति क्षमता अधिक होने से 'काव्य' को ही उन्होंने अपने साहित्य प्रणयन का माध्यम बनाया और 'जैन साहित्य कोष' को विपुल काव्य भण्डार देकर इस विश्व को उपकृत किया है। सचमुच कुन्दकुन्द की ''आत्मविद्या'' का यह अशोक वृक्ष ''मूलाम्नाय'' को छाया देने में मजबूत जड़ों वाला तरू है।

'मूलसंघ परम्परा' भगवान वीरनाथ के पश्चात् अर्हद्बलि, माघनन्दि, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों पर्यन्त अविरुद्ध रूप से विक्रम की पहली शती तक चलती रही। इसी बीच अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय कुछ संघ विच्छेद देखे गये। असह्य दुर्भिक्ष से पीड़ित साधुजनों में शिथिलाचार की दुष्प्रवृतियाँ कांटों-सी पनपने लगीं, सम्प्रदाय व एकान्त अविद्या मतवाद के घेरे में चारित्र धर्म की श्वासें घुटने लगीं, धर्मान्धता धर्मारूढ़ हो अपना ताण्डव दिखाने लगी, ऐसे विषम समय में मूलसंघ की डोर अपने हाथों में लेकर यति कुन्दकुन्द ने परिशुद्ध चारित्र धर्म एवं मूल आचार संहिता की पुनः स्थापना कर इसकी सुरक्षा की और वे बड़े कड़क शब्दों में कहते हैं 'कि विकृत आचरण करने वाले 'नटश्रमण' हैं।

दिगम्बर आम्नाय मूलाम्नाय ही कही जाती है, मूल का अर्थ प्रधान एवं जड़ भी होता है। जैन श्रावक व साधु की कसौटी मूलगुण होती है, और वह मूल परम्परा का अनुगामी होता है। प्राचीन शिलापट्टों एवं पौराणिक प्रतिमाओं पर 'मूलाम्नाय' 'कुन्दकुन्दान्वय' लेख प्राप्त होते हैं। जिनसे इस शुद्ध परम्परा की प्राचीनता प्रामाणित हो जाती है। जैसे मूल के बिना वृक्ष व शाखा की उत्पत्ति संभव नहीं वैसे ही मूल मार्ग बिना 'परमार्थ' की उत्पत्ति असंभव है।

मूर्तमान इस प्रदेय से उनके अर्न्तमुखी व्यक्तित्व का अंकन कर लेना कठिन नहीं, उनकी दार्शनिकता व साहित्य में समग्र ही व्यक्तित्व उजागर हुआ है। वे ऋद्धिप्राप्त महामुनि थे, बाल दीक्षित थे, विलक्षण

प्रज्ञा सम्पन्न थे, इतना मात्र उनके व्यक्तित्व का पैमाना नहीं वरन् मुख्यतः इसलिए कि उन्होंने जन-जीवन के उत्थान हेतु अध्यात्म की व्यापक दृष्टि, शाश्वत सुख के अकाट्य समाधान दिये, जिन्हें पाकर मृतक कलेवर को मानों प्राणवायु ही मिली है। सच उनके व्यक्तित्व का भावपक्ष जितना पवित्र व धवलधरा-सा स्वच्छ है, द्रव्यपक्ष भी कोमल भावनाओं से आच्छादित पूर्णमासी के चन्द्र-सा श्वेत है। आपके इस व्यक्तित्व व साहित्य की गोदी में अनेक निर्ग्रन्थ संतों को विश्राम मिला है।

परवर्ती आचार्यों की सम्मान मंजूषा से अलंकृत आचार्य कुन्दकुन्द सहस्रों श्रमणों की श्रद्धा के केन्द्र बने हुए हैं, दर्शनसार में देवसेनाचार्य लिखते हैं –

विदेहक्षेत्र स्थित सीमंधरस्वामी से प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध न दिया होता, तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते ?

परम्परा में कुन्दकुन्द का उदय –

श्रुत परम्परा की अटूट धारा में तीर्थनायक वीरनाथ के निर्वाण पश्चात् गौतम गणधर, सुधर्माचार्य एवं जम्बूस्वामी ये तीन केवली एवं विष्णुनंदि, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन एवं भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवलियों का अवतरण हुआ, दस पूर्व के ज्ञाता ग्यारह आचार्य एवं ग्यारह अंग धारक पांच आचार्य हुए, तथा एक आचारांगधारी चार आचार्य हुए। श्रुतधारियों के पश्चात् किसी को एक अंग का ज्ञान, किसी को अंग के एक हिस्से का ज्ञान, किसी को एक पूर्व का और किसी को पूर्व के एक हिस्से का ज्ञान – ऐसे भिन्न-भिन्न क्षयोपशम की योग्यता के धारक आचार्य हुए। सत्य भी है कि तीर्थंकरों के समय ज्ञान उत्कर्ष पर होता है बाद में उसका ह्रास होता जाता है।

इस प्रकार ६८३ वर्ष तक श्रुत की मौखिक परम्परा चली। अंगों व पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परा से आकर आचार्य धरसेन को प्राप्त हुआ। आचार्य धरसेन गिरीनगर (सौराष्ट-) की चंद्रगुफा में ध्यान करते थे। इनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी संवत् १४४ अथवा ईस्वी की पहली शताब्दी सन् ८७ माना गया है। सिद्धान्त के सिद्धहस्त साधक आचार्य धरसेन को अग्रायणी पूर्व के पांचवे वस्तु अधिकार के महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था, आचारांग के पूर्ण ज्ञाता एवं धवलानुसार अंगों व पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे। कालदोष से जीवों की बुद्धि का उत्तरोत्तर ह्रास होता जान उन्होंने निमित्तज्ञान से यह जाना कि मेरी आयु अल्प रह गई है, मेरा यह ज्ञान मेरे साथ ही क्षीण हो जाने वाला है, तब उन्हें श्रुतदेवता की सुरक्षा का समर्थ व करुण विकल्प आया, कि मुक्ति का प्रदाता, श्रुत का विशद ज्ञान किसी सुयोग्य पात्र को मिलना चाहिए। उसी समय आँध्रप्रदेश की महिमानगरी में मुनि सम्मेलन चल रहा था, वहाँ के संघपति महासेनाचार्य अथवा अर्हद्बलि को आचार्य धरसेन ने पत्र लिखाया कि विद्या ग्रहण में कुशल, निर्मल ज्ञान सम्पन्न, विनयवंत दो मुनिपुंगव को चुनकर यहाँ भेजिये, आचार्य ने श्रुत में पारंगत दो मुनिश्रेष्ठ नरवाहन एवं सुबुद्धि (भूतबली-पुष्पदन्त) को आचार्य धरसेन के पास भेजा।

ज्ञानोदधि आचार्य धरसेन ने विद्या द्वारा उनकी परीक्षा कर योग्य पात्र जान सम्पूर्ण सिद्धान्त का शिक्षण देकर इसे लिपिबद्ध करने को कहा, श्रुत का यह अभ्यास आषाढ़ शुक्ला एकादशी को पूर्ण हुआ। दोनों आचार्यों ने गुरू की आज्ञा को शिरोधार्य कर उनके द्वारा प्रदत्त बोध से षट्खंड-आगम का लेखन पूर्णकर विशालकाय 'प्रथम श्रुतस्कन्ध' अनमोल मणि के रूप में प्रदान किया। यह पुनीत लेखन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पूर्ण हुआ। **''प्रथम श्रुतावतार आचार्य धरसेन के एक विकल्प का वरदान है।''**

धरसेन आचार्य के लगभग ही सिद्धान्त के धारक धीर आचार्य गुणधर हुए, इन्हें ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के तीसरे प्राभृत (कषाय प्राभृत) का ज्ञान था, इन्होंने कषायपाहुड सूत्र रचे। इसी पुनीत परम्परा में सरस्वती के नंदन आचार्य वीरसेन स्वामी का उद्‌भव हुआ। छह खण्डों पर ७२,००० श्लोक प्रमाण प्राकृत व संस्कृत टीका (धवल, महाधवल) तथा कषाय प्राभृत की ४ विभक्तियों पर २०,००० श्लोक प्रमाण टीका इसप्रकार कुल ९२,००० श्लोक प्रमाण टीका अकेले आचार्य वीरसेन का दीर्घकाय लेखन है, **जो दिगम्बर इतिहास का ही नहीं बल्कि विश्व का एक कीर्तिमान है।** महाभारत का परिमाण एक लाख श्लोक प्रमाण कहा जाता है पर वह किसी एक पुरुष की रचना नहीं है। इसी कषायप्राभृत पर शेष ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका (जयधवला) उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने लिख इसे पूर्ण किया।, गुणधर आचार्य के शिष्य नागहस्ति मुनि एवं आर्यमंक्षु ने इस सिद्धान्त का अध्ययन कर यतिवृषभ को सौंपा, उन्होंने छह हजार चूर्णिसूत्र लिखे, उन पर बारह हजार सूत्र प्रमाण रचना समुद्धरण नामक मुनि द्वारा हुई । ऐसे अनेक **सिद्धान्त पारगामी आचार्यों द्वारा प्रदत्त आगम का यह प्रासाद सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का अद्‌भुत संगम है।**

आचार्य धरसेन के लगभग ही प्रबल मेधावी आचार्य कुन्दकुन्द इस भारत भू पर विचरण कर रहे थे। जिस समय 'षट्खण्डागम' सिद्धान्त सूत्र का लेखन सिद्धान्तसूरि पुष्पदन्त एवं भूतबली द्वारा किया जा रहा था, उसी समय आचार्य कुन्दकुन्द को सिद्धान्तगुरू परिपाटी में अध्यात्म के प्रणयन का सशक्त विचार आया, क्योंकि उन्हें अपने निर्मल ज्ञान से यह विदित हो चुका था कि यह ज्ञान का स्रोत धीरे-धीरे अवरुद्ध हो जाने वाला है, **अतः बोधिबुद्ध कुन्दकुन्द ने श्रुतधारा के प्रधान अंग 'परमागम' को ताडपत्रों में लिपिबद्ध कर भरतक्षेत्र में द्वितीय श्रुतस्कन्ध की प्रतिष्ठा कर मुक्तिद्वार खोल दिया।**

सूरि कुन्दकुन्द को आचार्य परम्परा में पाँचवे ज्ञानप्रवाद पूर्व के बारह वस्तु अधिकारों में से एक-एक के बीस प्राभृत अधिकार में, दसवें वस्तु में, समय नामक जो प्राभृत है उसके अर्थ का ज्ञान था। इसी प्राभृत ज्ञान को आधार बना उन्होंने इसे 'पंच परमागम' प्राभृत पात्र में भर दिया। आगम का सार अध्यात्म में छुपा होता है, अतः आगम व अध्यात्म का प्राण शुद्ध चैतन्य को ही उन्होंने अपनी लेखनी का मुख्य बिन्दु चुना। **आगम के साथ कुन्दकुन्द का यह परमागम स्वर्ण सौरभ योग था।**

वस्तुतः आगम की शैली पर्यायार्थिक एवं व्यवहारनय प्रधान होती है, अतः उसमें से परमार्थ मोक्षमार्ग

की विधि निकाल पाना अल्पबुद्धि सामान्य जन द्वारा संभव नहीं, उसकी परिस्पष्ट विवेचना परम अध्यात्मरूप परमागम में ही होती है। इसी दृष्टिकोण को आपने अपने करुण हृदय में स्थान दिया और भरतक्षेत्र की बंजर भूमि पर 'अध्यात्म वाटिका' का बीजारोपण कर इसकी जड़ों का सिंचन किया। इस पर खिले 'परमागम' की शीतल छाया अनेकों मुनिवरों एवं अज्ञ प्राणियों को मुक्ति की राह देती रही है।

जीवन दर्शन -

लोकेषणा व लोक सन्निधियों से दूर महापुरुष कुन्दकुन्द का जीवन प्रतिष्ठा, नाम व यश की लिप्सा से परे निखरे हुए स्वर्ण समान है। सच भी है निरूपाधि गृह में रहने वाले को यह उपाधियाँ कैसे सह्य हों, अतः उन्होंने अपनी मौलिक नैसर्गिक रचनाओं में भी जन्म नामादि एवं व्यक्तित्व संबंधी किसी प्रकार के विवरण प्रस्तुत नहीं किये और जो संक्षिप्त-सा परिचय प्राप्त है, वह प्रशस्तियों, पाण्डुलिपियों, ऐतिहासिक शिलालेखों पत्रादि की ही देन समझना चाहिए।

बालरत्न कुन्दकुन्द का जन्म विक्रम की प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व १०८ संवत्सर के माघ मास के शुक्लपक्ष की पावन पंचमी को पेडथनाडू या अनंतपुर जिले में स्थित कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) नामक ग्राम में गुणकीर्ति श्रेष्ठी एवं मां शान्तला के गर्भ से हुआ। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति को सार्थक करने वाला यह 'कोमल किसलय' ज्ञान व वैराग्य की हिंडोले लेता चन्द्रकला सा वृद्धिगत होता रहा। गर्भ समय मां ने स्वप्न में श्वेत चांदनी देखी, संभवतः इस आधार पर इनका जन्म नाम पद्मप्रभ रखा गया। पूर्व संस्कारों का 'श्रुत' पुरस्कार लेकर जन्मा यह बालक पलने में **'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमाया-परिवर्जितोऽसि'** की मधुर लोरियाँ सुन शांत व गंभीर हो जाता था। ऐसे बाल्यदशा के कुछ वर्ष ही बीते थे, संस्कार व भाषा का शिक्षण दिया जा रहा था कि जिनकांची संघ के वयोवृद्ध आचार्य अंनतवीर्य अष्टांग निमित्त ज्ञाता थे, दक्षिण भारत में उनका विहार होता था। विहार करते हुए वे पेनगोंडे संघ के आचार्य जिनचंद्र के साथ 'कौण्डकुन्दपुर' नगर की ओर पधारे, बालक के अतिशय ज्ञान व गुणों की गौरव गाथा सुन उसे बुलवाया तो उसकी चातुर्यता, सौम्यमुद्रा, तीक्ष्णप्रज्ञा पर आश्चर्य चकित से रह गये और उनके पिता को यह बालक **'श्रुत का जनक विख्यात मुनि बनेगा'** ऐसा शुभ सन्देश देकर विहार कर गये।

कुन्दन से कुन्दकुन्द ने ग्यारह वर्ष की बालक्रीड़ावय में ही प्रचण्ड तप की अग्नि में अपने अन्तर्बाह्य चारित्र को तपाकर मुनिधर्म का उच्चतम आदर्श श्रमण समूह के समक्ष प्रस्तुत किया और वे भगवती दीक्षारथ में आरूढ़ हो निर्जन वन की ओर चल पड़े......।

कुन्दकुन्द ने अपने दीक्षा गुरू का उल्लेख यद्यपि कहीं नही किया, फिर भी कई प्रामाणिक स्रोतों, अभिलेखों से गुरू नामोल्लेख प्रकाश में आये है। नंदिसंघ के बलात्कारगण की पट्टावली के आधार पर ज्ञात होता है कि आचार्य जिनचन्द्र कुन्दकुन्द के दीक्षा गुरू थे और इसी संघ द्वारा आपको मुनि पद्मनंदि

नाम से विभूषित किया गया। पंचास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य ने कुमारनंदि सिद्धान्तदेव को आपके मूलगुरू के रूप में स्वीकार किया है, बोधपाहुड के आधार पर कुछ मनीषी आचार्य कुन्दकुन्द को भद्रबाहु का शिष्य मानते हैं और ईसा पूर्व तृतीय शती के समकालीन मानते हैं, किन्तु अन्य पुष्ट प्रमाणों में श्रुतकेवली स्वामी भद्रबाहु को 'गमकगुरू' के रूप में स्वीकारा है।

नंदिसंघ की गुर्वावली के लेखानुसार आचार्य १. भद्रबाहु, माघनन्दी प्रथम, जिनचन्द्र और इनके शिष्य कुन्दकुन्द (पद्मनंदि) थे और ये आचार्य उमास्वामी के गुरू थे। २. यह नंदिसंघ आचार्य अर्हद्बलि द्वारा वीर निर्वाण सं. ५९६ में स्थापित हुआ था, मूलसंघ में नंदिसंघ है, उसमें अतिरम्य बलात्कारगण है, उसमें अपूर्व पदांशवेदी नरसुरवंद्य माघनंदि आचार्य हुए है, उनके शिष्य मुनिमान्य जिनचन्द्र और उनके शिष्य पंचनामधारी श्री पद्मनंदिमुनि चक्रवर्ती हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की पहली गाथा में ''मिणमो सुदकेवली भणिदं'' लिख केवली-श्रुतकेवली को साक्ष्य के रूप में स्मरण किया है।

मुनिपद्मनंदी पद्म सरोवर में क्रीड़ा करते चैतन्य से उत्पन्न आनन्द की घूंटें पीने में व्यस्त थे, मुनिदशा के तेतीस वर्ष पूर्ण होने जा रहे थे, तभी चतुर्विधसंघ ने ४४ वर्ष की आयु में इन्हें संघ के अधिष्ठाता पद पर आसीन कर दिया। आचार्य पद का समय ईसा पूर्व ६४ मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी गुरूवार माना गया है। परम-समाधि जिन्हें सदा ही थी, ऐसे मुनिनाथ ९५ वर्ष १० माह व १५ दिन की आयु पूर्णकर ईसा पूर्व १२ में समाधिस्थ अवस्था में नश्वर देह को छोड़ सदा के लिए प्रयाण कर गये।

सार्थक प:ानाम -

कुन्दकुन्द, पद्मनंदी, गृद्धपिच्छाचार्य, एलाचार्य एवं वक्रग्रीवाचार्य यह प:ानाम कुन्दकुन्द के पवित्र निस्पृही जीवन का स्पर्श पा अपनी सार्थकता प्रगट कर रहे हैं।

कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आप 'कुन्दकुन्द' नाम से आदि से अंतिम जीवनकाल तक ख्यातिप्राप्त करते रहे। नंदिसंघ में दीक्षित होने से आपका मूल दीक्षानाम 'पद्मनंदि' रखा गया। विदेह से लौटते समय आपकी मयूर-पिच्छिका गिर गई थी, अत: सामायिक काल में साधन हेतु गिद्धपक्षी के पंख की पीछी लेकर भरतक्षेत्र लौटे, तभी से 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम से प्रचलित हो गये। विदेहक्षेत्र में समवशरण के मध्य चक्रवर्ती सम्राट ने इनकी छोटी काया को हथेली में उठा 'एलाचार्य' नाम से वन्दन किया अतः एलाचार्य नाम से पुकारा जाने लगा। सिद्धान्त सूत्र के अध्ययन व ध्यान की प्रचुरता से गर्दन टेढ़ी हो गई थी, किन्तु पुनः तपानुष्ठान द्वारा ऋद्धियाँ प्रगट हो जाने से वह ठीक हो गई, तभी से 'वक्रग्रीवाचार्य' नाम से प्रख्यात हुए।

षट्-प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने इन्हें उपरोक्त पाँच नाम से अभिहित किया है। श्रवणबेलगोल की अनेक प्रशस्तियों में इन्हें 'कौण्डकुन्द' कहा है। नंदिसंघ से सम्बंधित विजयनगर के शिलालेख में पद्य मिलता है –

आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो, वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपृच्छ, इति तन्नाम पःाधा॥

नंदिसंघ पट्टावलि में छन्द की निचली पंक्ति इस प्रकार मिलती है 'ततोऽभवत् पःासुनामधामा, श्रीपद्मनंदीः मुनि चक्रवर्ती'। बारस अणुवेक्खा गाथा ९१ में स्वयं कुन्दकुन्द अपना नाम कुन्दकुन्द ही लिखते हैं। जैन इतिहास पर स्वर्णिम अक्षरों से उकेरे जाने वाले मुनि मण्डलेश्वर के ये नाम सार्थक व गरिमामय है।

विदेह गमन –

आचार्य कुन्दकुन्द का जीवन अनेक प्रेरक प्रभावी घटनाचक्रों से भरा पड़ा है, किन्तु घटनाओं के ये परिवर्तन उनके निर्ग्रन्थ पंथ में तनिक भी प्रभाव नहीं डाल पाये, वरन् उनकी स्वरूप साधना का ही परिचय देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्राप्त थी, उनके जीवन में एक सातिशय असाधारण घटना घटी और वे सदेह विदेह पहुँच गये, आठ दिवस वहाँ निराहार रहे और भगवान सीमधंर की दिव्य वाणी सुनी, यह उपलब्ध प्रमाण से ज्ञात होता है। यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द ने विदेहगमन सम्बन्धी चर्चा एवं घटनाओं को अपने मूल ग्रन्थों में कही उद्घाटित नहीं किया, क्योंकि प्रथम तो जीवन की प्रत्येक विशेष घटना उल्लेख के योग्य नहीं होती और यदि वे अपने विदेहगमन को प्रकाशित कर भी देते, तो उसका प्रमाण प्रस्तुत करना संभव नहीं था तथा युग की बदलती मनःस्थिति में उसका अर्थ ऐसा लगाया जाता कि वे अपने विदेहगमन के चमत्कार के बल पर स्वयं को व अपने साहित्य को मनवाना चाहते हैं, इस प्रकार उनके साहित्य व तत्त्वज्ञान पर एक प्रश्नचिन्ह लग जाता, बल्कि दिगम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व ही छीन लिया जाता। सचमुच उनका अध्यात्म सागर विदेह से लाया हुआ नहीं था वरन् वह तो महावीर जैसे केवली-श्रुतकेवलियों से प्राप्त प्रखर ज्ञान प्रकाश था।

परवर्ती आचार्यों के लेख अभिलेख स्तूप प्राचीन प्रशस्तियाँ नि:संदेह बड़ी स्पष्टता से चारणऋद्धि एवं विदेहगमन सम्बन्धी पुष्टि करते हैं–

श्रवणबेलगोल शिलालेख से .....''निर्दोष तथा ऊर्ध्वचारित्र से जिन्हें उत्तम चारण ऋद्धि प्राप्त हुई थी और जिन्हें 'पद्मनंदि' ऐसा निर्दोष नामाभिधान था, इनका ही दूसरा नाम आचार्य 'कौण्डकुन्द' था।''

आचार्य जयसेन की पंचास्तिकाय टीका से – ''अथ श्रीकुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा.....कथ्यते।''

षट्-प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर सूरि इन्हें कलिकाल सर्वज्ञ कहने में पीछे नहीं हटे और वे लिखते हैं – ''इन पंचनामधारी यति ने जमीन से चार अँगुल ऊपर आकाश गमन ऋद्धि द्वारा पूर्व विदेह की पुण्डरीकणी नगरी में विराजित श्री सीमंधरनाथ की वंदना की थी.....'' एक लेख यह भी मिलता है – ''तमिलनाडू में स्थित पौन्नूर नामक ग्राम आपकी तपोभूमि रही है और वहीं से आचार्य कुन्दकुन्द विदेह पधारे थे।''

चन्द्रगिरि शिलालेख में ''वन्द्यो विभुर्भुवि .... प्रतिष्ठाम्। अर्थ - कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दशों दिशायें विभूषित हुई है, जो चारणों के चारणऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर हस्त-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्र आत्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं।''

ऐसे कथन भी मिलते हैं कि पूर्व के दो देव-मित्र इन्हें विदेह ले गये थे, दूसरा उग्रतप के प्रभाव से इन्हें चारण ऋद्धि प्रकट हो गई थी अथवा दो चारण ऋद्धि मुनि युगल आकाश मार्ग से पधारे, उन्होंने कुन्दकुन्द को स्वयं उनकी चारण ऋद्धि का बोध कराया और वे उन्हें विदेह ले गये।

आपके जीवनकाल की एक अतिशय युक्त घटना का उल्लेख शुभचन्द्राचार्य के पाण्डव पुराण में मिलता है –

कुन्दकुन्दगणी, येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद्वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥

गिरनार पर्वत पर अन्यमत के आचार्य से वाद के पश्चात् आपकी महत्वपूर्ण विजय हुई तथा पाषाण मूर्ति में से निर्ग्रन्थ धर्म की सत्यता का उद्घोष हुआ। ऐसे बहु तथ्यों के साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्वभव की भी एक प्रेरक कथा पुण्यास्रव कथाकोष में मिलती है।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रदेय –

भाषा – भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द ने अपना सम्पूर्ण साहित्य 'प्राकृत' भाषा में लिखा। प्राकृत उस युग की बोलचाल की भाषा थी, अतएव उन्होंने सरल सुबोध लोक भाषा को ही अपनी रचनाओं का माध्यम चुना। अर्द्धमागधी या शौरसैनी जैन आगम की भाषा कही जाती है, इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा का रूप शौरसैनी प्राकृत कहा जा सकता है।

कुन्दकुन्द की काव्य रचनायें माधुर्य एवं प्रासाद गुणयुक्त है। साहित्य के प्रमुख अंग, व्याकरण, तर्क छन्द, अंलकार आदि से भी आपके काव्य अछूते नहीं रहे, स्थान-स्थान पर यथायोग्य इनका प्रयोग हुआ है, छन्द और संगीत एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं, इन दोनों के संयोजन से आचार्य कुन्दकुन्द की विद्वता एवं काव्य की निष्णात शक्ति का परिचय मिलता है। गाथाओं को मंथर गति से पढ़ा जाय या तीव्र गति से, पढ़ने पर अंतरंग सुषुप्त भाव-चेतना मुखरित हो उठती है।

प्रज्ञापुंज आचार्य कुन्दकुन्द की नयों से समवेत अध्यात्म अभिसिक्त प्रमुख कृतियाँ हैं। समयसार गाथा ४१५, प्रवचनसार गाथा २७५, नियमसार गाथा १८७, पंचास्तिकाय गाथा १७३, अष्टपाहुड गाथा ५०३ में निबद्ध ये पाँचों ही परमागम इस कलिकाल के अनमोल मणि-मुक्ता है। जिनमें यथावसर छह द्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ, क्रमबद्धपर्याय, अनेकान्त, ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव आदि का परिस्पष्ट विवेचन आया

है किन्तु सभी में शुद्धनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही मुख्य स्थान पर रहा है। उपसंहार के रूप में कहा जाय तो समयसार सम्यग्दर्शन, प्रवचनसार सम्यग्ज्ञान और नियमसार सम्यग्चारित्र का ग्रन्थ है, पंचास्तिकाय में भी उन्होंने सर्व पुरुषार्थों में सारभूत मोक्षतत्त्व का, षट्-द्रव्यात्मक वस्तु व्यवस्था एवं नवतत्त्वों का स्वरूप दर्शाया है, और चारित्र चूड़ामणि अष्टपाहुड तो उत्कृष्ट मुनिधर्म का साक्षात् व्याख्याता है।

इन प्राभृत के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द की और भी गौरवशाली रचनाएँ चौरासी पाहुड, भक्तिसंगहो, रयणसार, बारस अणुवेक्खा, मूलाचार आदि आपके गहन चिंतन से प्रसूत हैं। परमागम के आदि प्रणेता के रूप में विख्यात होने पर भी आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नामक विस्तृत टीका की, जो वर्तमान में अनुपलब्ध है।

पद्मनंदीनाथ की समस्त रचनाएँ 'पाहुड' नाम से जानी जाती रही हैं, 'पाहुड' का संस्कृत रूप 'प्राभृत' होता है, प्राभृत का अर्थ भेंट भी किया जाता है। आचार्य जयसेन ने भी अपनी टीका का नाम समयप्राभृत रखा। जयधवला में वीरसेन स्वामी प्राभृत का अर्थ ऐसा करते हैं – प्र+आभृत अर्थात् जो प्रकृष्टरूप से तीर्थंकर के द्वारा प्रस्थापित किया गया है और प्रकृष्ट आचार्यों द्वारा धारण किया जाता है एवं पूर्व परम्परा से आभृत है, वह प्राभृत है। अंगों व पूर्वधारियों के प्राभृत अधिकार होते हैं, इसी परम्परा को मस्तक पर धारण कर सूत्र की तरह इससे जुड़ा रहकर आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रन्थों के नाम पाहुड रखे।

इन महा-परमागम की महिमा में स्वयं आचार्य जयसेन के वचन-जयवंत वर्ते ! वे पद्मनंदि आचार्य जिन्होंने महातत्त्व से भरे हुए प्राभृत रूपी पर्वत को बुद्धि रूपी सिर पर उठाकर भव्यजीवों को समर्पित किया। कुन्दकुन्द की रचना-दर्पण को मूल आधार बना अपर सन्तों एवं विद्वानों ने बड़ी असंदिग्धता से अनेक ग्रंथ व सूत्र रचे हैं, जिनमें कुन्दकुन्द रचना का प्रभाव परिलक्षित है।

टीकाकार –

सुधासिंचन आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन एवं मुनिवर पद्मप्रभमलधारीदेव ने कुन्दकुन्द के साहित्य सिन्धु का मंथन अपने बलिष्ठ ज्ञानभुजा द्वारा कर एक कुशल गोताखोर की भांति, सागर के तल से मोती निकालने जैसा पाताली गाथाओं का अकल्पित भाव गाम्भीर्य प्रकाशित किया।

योगीश्वर कुन्दकुन्द के एक हजार वर्ष पश्चात् हुई 'सन्त त्रिवेणी' ने इन परमागम पर टांकी से टंकित विशद एवं मनोहारी सरस टीकाएँ कीं। एक आश्चर्य है यह भी कि दोनों आचार्यों के मध्य लम्बा कालान्तराल हो जाने पर भी अन्य आचार्य एवं मनीषी इन रचनाओं पर अपनी कलम चलाने का साहस नहीं कर पाये । इस साहसी कलम के उद्गम प्रथम आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन एवं मुनि पद्मप्रभमलधारि देव रहे, जिन्होंने प्राकृत गाथाओं के हार्द को गहरी पैठ द्वारा समझ उन पर संस्कृत भाषा में सशक्त टीकायें लिख उन्हें कलशों द्वारा सजाया।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्राभृतत्रय समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र ने

आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका, समयव्याख्या नामक टीका तदनन्तर २०० वर्ष पश्चात् आचार्य जयसेन ने तीनों ही परमागम पर एक नाम प्रसूत टीका 'तात्पर्यवृत्ति' एवं मुनिकमलों के मुनि भ्रमर पद्मप्रभमलधारी देव ने नियमसार पर अलंकारों से अलंकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका रची, और भट्टारक श्रुतसागरसूरी ने अष्टपाहुड के षट्पाहुड पर संस्कृत टीका लिखी, जिसमें आचार्य श्रुतसागर मुनिधर्म शिथिलता के विरोध में बड़े शौर्य से सामने आये हैं। सचमुच यह सभी टीकायें आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं से आक्रान्त हैं। **आकाश-सी ऊँचाई रत्न-सी जड़ित शब्दावलि एवं अनुपम भावों से आच्छादित यह अध्यात्म टीकायें जैन साहित्य की ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य का बेजोड़ संग्रहालय हैं।**

आचार्यों की प्राकृत व संस्कृत भाषा को पढ़ पाना व उनको समझ उसका मर्म ढूढ़ लेना सैकड़ों भाषायुक्त इस आधुनिक भोग-प्रधान मंदबुद्धि युग में कठिन नहीं असंभव-सा था। उसके पूर्ति स्थल पण्डित जयचन्दजी छाबडा 'जयपुर' ने समयसार पर देशभाषा टीका (वचनिका) पण्डित राजमलजी पाण्डे ने कलश टीका एवं पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार लिख 'समयसार' को सुगम व सरल बना इसकी प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाया।

कालखण्ड के मंगल मुहूर्त में दिगम्बर प्रांगण पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का अवतरण युग की एक क्रांति थी, सदियों से बन्द जिनवाणी के विमोचक पूज्य गुरुदेव के तत्त्व सम्पादन की एक स्पर्धाजनक कहानी है, श्रुत रत्नाकर समयसार उन्हें मिला, जैसे सत्य का पिटारा ही पाया, अब वह पन्नों पर लिखा न रहा, बल्कि ज्ञान की अनुभूति में छप चुका था और उनके मन-मन्दिर में उपास्य देव के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका था। यही समयसार अभीष्ट मित्रवत् जीवन के अन्त तक उनके साथ रहा। दिगम्बर सन्तों के ग्रन्थों का अपने स्वच्छ ज्ञान द्वारा दोहन कर उन्होंने शुद्ध आत्म तत्त्व की प्रतिष्ठा की। ''पूज्य गुरुदेव से पूर्व आध्यात्मिक चिंतन का रिवाज तो था, पर चिंतन में अध्यात्म नहीं था'', **सच कहा जाय तो पथ तो था पर पाथेय इस युग को आपसे मिला।**

दिगम्बर ऋषियों के प्रति आपके भावोद्गार ''मुनि भगवन्त तो शासन के सम्राट हैं, वीतराग मार्ग के स्तम्भ हैं, केवली के लघुनन्दन हैं और कल्पवृक्ष समयसार आगमों का आगम है।'' यह अध्यात्म बदरियाँ सावनी घटा के मेघों-सी ४५ वर्षों तक बरसती रहीं, कर्तृवाद की जड़ों को हिला देने वाली वायु की तरंग-सी आपकी वाणी क्या थी, एक जादू था, जिसने लाखों मुमुक्षुओं के असत्य चिंतन बदले, सत्य राह दृष्टा यह महापुरुष आज भी लाखों हृदय की श्वासों में समाये हैं।

समयसार एवं उसकी द्रव्यदृष्टि –

अध्यात्म गगन में विचरने वाले आचार्य कुन्दकुन्द की यह प:। रचनाएँ सम्यक्त्व, संयम व सिद्धान्तों का दस्तावेज है। जिनमें जीवन की शाश्वत अनुभूति व सुख-दु:ख की समस्याओं के सरल समाधान प्रस्तुत कर दु:ख की व्याख्या का ही अन्त कर द्रव्यदृष्टि का सुखद अवदान विश्व को दिया। द्रव्यदृष्टि की ही

सर्वोपरि रचना समयसार है, न केवल कुन्दकुन्द साहित्य वरन् सम्पूर्ण जिनागम में समयसार जैसी आत्म-प्रस्फुटक कृति दूसरी नहीं है। इसकी एक-एक गाथा मोहविष निवारक गारूडी मंत्र ही है।

समर्थ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने नाटक की अलंकारिक शैली, दृष्टान्त की बहुरंगी छटा देकर इसे नौ अधिकारों में विभक्त किया, लौकिक आठ रसों के अनेक भावों में लीन जीव विचित्र स्वाँग धरता हुआ भ्रम से महाकष्ट पाता हुआ संसार के रंगमंच पर आवागमन करता रहता है, जब नाटक का नायक शान्त रसिया धीर व प्रकाशक ज्ञान जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव आदि के स्वांग को पहचान लेता है, तो वह इन्हें रंगभूमि से बाहर कर देता है।

समयसार की पृष्ठभूमि क्या कहें, सम्यग्दर्शन की पृष्ठभूमि के रूप में पूर्वरंग लिखा गया, इसमें शुद्धात्मा के शुद्ध स्वरूप का सर्वांगीण विवेचन अनेक गाथाओं के माध्यम से स्फुरित हुआ है। पहली ही गाथा में आचार्यदेव द्रव्य व भाव स्तुति द्वारा वंदित्तु सव्व सिद्धे....मंत्रोच्चारण कर अनंत सिद्ध समूह को वंदन करते हैं, वोच्छामि समयपाहुड मिणमो सुदकेवली भणिदं .....तथा केवली-श्रुतकेवली के वचनों से प्रतिज्ञाबद्ध होकर आगे बढ़े हैं।

वोच्छामि (वक्षामि) गाथा में सूत्ररूप से कहा गया, किन्तु उसका गर्भगृह बहुत बड़ा होता है, केवली श्रुतकेवली द्वारा कथित यह अनादिनिधन परमागम परम-प्रामाणिक है, इसे कहूँगा और अनन्त सिद्धों को अपने श्रुतज्ञान की बलवान वेदी में आंमत्रण देकर स्थापित करता हूँ तथा सभी आत्माओं के लिए भी यही पावन बोध है, गाथा का संदेश है कि द्रव्यस्तुति की स्फुरणा भावस्तुति पर हो, सिद्धों की द्रव्यस्तुति, भक्ति भी तीव्र आवेग वाली होती है, जिसमें पूज्य-पूजक भाव समाप्त हो जाता है, किन्तु अकेली द्रव्य स्तुति मुक्ति की उत्पादक, भवछेदन में समर्थ नहीं, क्योंकि वह स्वयं राग रूप है। इसके विकल्पों को तोड़कर सुमेरूवत् ज्ञान का पुरुषार्थ साध्य को सिद्ध करने वाले ध्रुव साधन की ओर अव्याबाध गति से बढ़ता है तो भावश्रुतज्ञान शुद्धात्मा में एकाकार होकर उसकी अनुभूति कर लेता है और यही भाव स्तुति की सर्वोच्च दशा है।

समयसार की पूर्व पीठिका स्वरूप आचार्यदेव ने पन्द्रह गाथाओं में द्रव्यार्थिकनय एवं शुद्धनय की मुख्यता से शुद्ध आत्मा के स्वरूप का अत्यन्त सरल एवं परिस्पष्ट प्रतिपादन किया है, कुछ प्रमुख गाथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है–

मंगलाचरण पश्चात् दूसरी गाथा में समय का अर्थ आचार्य ऐसा करते हैं, जो एक ही साथ जाने व परिणमन करे वह समय है और तीसरी गाथा में जड़ चेतन विश्व का अकृत सौंदर्य बताते हैं। ''**एयत्त णिच्छयगदो, समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए**...... एकत्व निश्चय को प्राप्त जो समय है वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है।'' पूज्य गुरूदेव के शब्दों में छठी का लेख यह छठी गाथा है, 'ज्ञायकभाव' का स्वरूप दर्शाते हैं, वह ज्ञायक ध्रुव, एकरूप, नित्यभाव स्वरूप सत्ता होने से प्रमत्त दशाओं के साथ परिणमित होकर

प्रमत्त नहीं होता और अप्रमत्त दशा के साथ भी परिणमित होकर वह अप्रमत्त नहीं होता, ऐसे विकारी व निर्विकारी क्षणिक भावों से सदा ही व्यतिरिक्त, शून्य होने से वह ज्ञायक त्रिकाल शुद्ध ही रहता है, ऐसे ज्ञायक की श्रद्धा, अनुभूति ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है, जीवन में एक मात्र उपासना करने योग्य यही चैतन्य देव है। मुक्ति के प्रथम चरण सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ इसी गाथा से हुआ है।

जिनागम का सार ग्यारहवीं गाथा की एक पंक्ति में सारे आगम का निचोड़ भर दिया –

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो॥११॥

गाथा का मर्म यह है कि जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है और सारा ही व्यवहार पर्यायाश्रित होने से अभूतार्थ व असत्य है।

सम्पूर्ण व्यवहार को स्पष्ट शब्दों में हेय कहकर १२वीं गाथा में निश्चय के साथ व्यवहार की दृढ़ता से स्थापना करते हैं। आगे गाथा १३ में आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से नवतत्त्व का स्वरूप बताते हैं। इन नवतत्त्वों के बीच रहकर भी जो अपने एकत्व को नहीं छोड़ता ऐसा यह शुद्ध आत्मा शुद्धनय द्वारा प्रकाशित होता है।

आत्मा की एक अनुभूति में सम्पूर्ण जिनशासन दिखाने वाली १५वीं गाथा भावों की पराकाष्ठा है। ''आत्मा की अनुभूति ही निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है'' ऐसा कहकर भावश्रुतज्ञान (अनुभूति) को द्वादशांग के केन्द्र स्थान पर रखा है, क्योंकि इसके बिना अंगों व पूर्वों का ज्ञान भी परिग्रह संज्ञा (नाम) ही प्राप्त करता है।

टीका में एक और मोड़ देकर कुछ मार्मिक पंक्तियों में, आचार्य देव ने ज्ञान की जानन कला का अनूठा चित्रांकन किया है। श्रद्धा में चलने वाले पर्याय के अहं को पूर्व गाथाओं में साफ कर देने के पश्चात् भी ज्ञान में सूक्ष्म कर्ता-कर्म का अज्ञान, जानने की आड़ में बचा रह जाता है, उसे लवण व शाक के परिचित दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं। ''अनेक प्रकार के ज्ञेय के आकारों के साथ से मिश्ररूपता से उत्पन्न......... विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप स्वाद में आता है।''

लोक में ज्ञान का ऐसा दिव्य स्वभाव है, कि वह समस्त पदार्थों के स्वभाव को न केवल जानता है, बल्कि उनके अस्तित्व की सिद्धि भी करता है वह पदार्थों के निकट गये बिना, उन्हें अपनी सतह पर लाये बिना, अपनी उपादान शक्ति से अप्रतिहत भाव से परिणमित होता ही रहता है, न कि ज्ञेय की कृपा से। ज्ञान के ज्ञेयाकारों (विशेष का आविर्भाव) में ज्ञानत्व (सामान्य ज्ञान) की अखण्डता, धारावाहिकता, अन्वयता भंग नहीं होती। उन ज्ञेयाकारों में ज्ञान की ही प्रतिध्वनि है, और वे ज्ञान के विशेष ज्ञान ही हैं, तथा स्वयं ज्ञान सामान्य से नियत समय पर उत्पन्न होते रहते हैं, अत: ज्ञानी इन विशेषों का तिरोभाव करता हुआ, ज्ञान के प्रतिबिम्बों को ज्ञान का ही रसायन जानता हुआ, 'यह तो सब मैं ही हूँ' ऐसे शुद्ध ज्ञान की अनुभूति कर लेता है।

ज्ञान के इन प्रतिबिम्बों में जिसको क्यों – ऐसा विषम भाव पैदा होता है, वह ज्ञान के ज्ञेयाकारों सहित, ज्ञान सामान्य, और आत्मा का नाश चाहता है ऐसा अज्ञानी तो सदा ही ज्ञेयाकारों के ज्ञान में प्रवेश की भ्रांति से उद्वेलित रहता है, वह ज्ञेयों की सत्ता ज्ञान में मानता हुआ, ज्ञान को ज्ञेयमय हो जाने की कल्पना से, मैं इनको ही जानता हूँ – ऐसे अध्यवसान (अज्ञान) का अन्त नहीं कर पाता। वास्तव में इन्द्रिय विषय ज्ञान में प्रतिबिम्बित मात्र हुए थे, वह इन्हें साक्षात् ज्ञेय ही समझता है जैसे– यह देहादि मैं ही हूँ' ऐसा मानता हुआ सदा शाक व लवण की तरह मिश्र स्वाद लेता है। समयसार २७० गाथा की टीका में भी इसी संबंध में मार्मिक चर्चा आई है – ''मेरे ज्ञान में धर्मास्तिकाय ज्ञात होता है,'' ऐसे अध्यवसान से अपने को धर्मास्तिकाय रूप करता है तथा उनके साथ कर्त्ता-कर्म संबंध जोड़ता हुआ, ज्ञेय लुब्धता को एक क्षण भी नहीं छोड़ता हुआ अध्यवसान (मिथ्यादर्शन) का ही सेवन करता है।

ज्ञानी तो इस प्रतीति से सदा निश्चिन्त रहता है, कि मेरी ज्ञान परिधि में जगत का प्रवेश ही निषिद्ध है। अत: ज्ञान सामान्य को ही सदा आस्वादता हुआ उसकी अनुभूति में तल्लीन रहता है ऐसे त्रिकाल ज्ञान की अनुभूति जयवंत वर्ते।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि भी शुद्धनय की महिमा को अपने काव्य में प्रगट करते हैं –

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन: समंतात् ॥१३॥

अर्थ - इस प्रकार जो पूर्व कथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके सदा सर्व ओर से एक ज्ञानघन आत्मा है, इस प्रकार देखना चाहिए।

सचमुच शुद्धनय व सम्यग्दर्शन का विषय इतना सूक्ष्म, दुरूह एवं कल्पनातीत है कि शरीर, कर्म एवं मोह, राग, द्वेष, संयुक्त आत्म पदार्थ में उसे तलाश लेना सुलभ नहीं, वह विद्वत्ता एवं ज्ञान के विकास का विषय भी नहीं है तथा आगम में भी निमित्तों की ओर से सच्चे देव-शास्त्र-गुरू की श्रद्धा, सात तत्त्व की श्रद्धा अथवा स्व-पर की श्रद्धा आदि के रूप में उसकी अनेक परिभाषायें मिलती हैं; किन्तु सचमुच उसका विषय तो इन कर्म संयोगों, आत्मा में उत्पन्न प्रमत्त-अप्रमत्त की क्षणिक पर्यायों एवं मैं लोकालोक को जानता हूँ आदि अध्यवसानों एवं स्वयं जीवतत्त्व के सम्बन्ध में प्रवर्तित विकल्पों से अतीत है, चूंकि सम्यग्दर्शन अर्थात श्रद्धा का विषय ध्रुव, अविनश्वर, अपरिणामी, शुद्ध जीवतत्त्व ही होता है और वह उसी में अहंशील होकर अपना सर्वस्व समर्पण करती है।

पूर्वरंग की समाप्ति ३८ गाथा में करने के उपरान्त जीव-अजीव अधिकार का संक्षेप कहते हैं। अनादि

से जीव (चेतन) व अजीव (संयोग, संयोगीभाव, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) दोनों का सम्बन्ध देखा जाने पर भी जीव इन समस्त सम्बन्ध, उपाधियों से न्यारा निर्बन्ध, अकेला शुद्ध रहता हुआ अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। ५० से ५५ गाथाओं में आचार्य सर्व ही गुणस्थान, अरहंत व सिद्ध दशा को पुद्गल कहने में तनिक संकोच नहीं करते, वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जितने भी भाव हैं, वे सर्वथा पुद्गल हैं और जीव तो इनसे विलक्षण शुद्ध चेतनामय, चैतन्यधातुमय, ज्ञानप्रकाश पुंज है। हे भव्यजीवो ! उसी का साक्षात् अनुभव करो, ऐसा मंगल वचन कहते हैं। टीकाकार अमृतचन्द्र का इसी सम्बन्ध में मधुर काव्य दृष्टव्य है –

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी।।३६।।

अर्थ - ''चैतन्य शक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है, इस चित्शक्ति से शून्य जो ये भाव हैं, वे सभी पुद्गलजन्य है – पुद्गल के ही हैं।'' उक्त कलश में इस अधिकार के निष्कर्ष रूप अद्भुत भाव गम्भीरता व्यक्त हुई है।

समयसार की उपरोक्त गाथाओं एवं सभी अधिकारों में इस शुद्ध जीवतत्त्व के परिशुद्ध स्वरूप का पता देना ही आचार्य देव को अभीष्ट रहा है, क्योंकि इसका सुनिश्चित स्वरूप जाने बिना सम्यग्दर्शन, स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति (सम्यग्ज्ञान) ही नहीं होती, फिर चारित्र की चर्चा तो काफी दूर रह जाती है।

समयसार एवं उसका कर्त्ताकर्म अधिकार –

कर्त्ताकर्म अधिकार समयसार का अलौकिक अधिकार है, आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव-अजीव अधिकार के ठीक बाद कर्त्ताकर्म अधिकार लिखा– यद्यपि समयसार में शुद्ध जीवतत्त्व का स्वरूप नवतत्त्वों से भिन्न दिखाने के लिए नवतत्त्वों का विस्तार से वर्णन है, किन्तु नवतत्त्वों में 'कर्त्ताकर्म' नामक कोई तत्त्व नहीं है, फिर आचार्य देव को यह अधिकार लिखने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? यह एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रश्न है।

समाधान यह है कि जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य अनेक दर्शन भी जीव और अजीव की भिन्न सत्ता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु फिर भी उनमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन का मानना है कि भिन्न सत्ता एवं भिन्न स्वभाव वाले तत्त्वों में किसी प्रकार का षट्कारकीय सम्बन्ध संभव नहीं और यदि सम्बन्ध मान भी लिया जावे तो वे भिन्न नहीं रह सकेंगे। यह जैन दर्शन का मौलिक सूक्ष्म चिंतन एवं महत्वपूर्ण शोध है।

आचार्य कुन्दकुन्द कर्त्ता-कर्म अधिकार में इसका रहस्योद्घाटन कर कहते हैं, चेतन एवं जड़ में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध तभी संभव है, जब वे दोनों एक हों और उनका एक होना अंसभव है। कर्त्ता व कर्म

की व्यवस्था एक ही पदार्थ में होती है और होनी भी चाहिए यदि दो पदार्थों में स्वीकार की जाती है तो कर्त्ता एक पदार्थ होगा कर्म दूसरा पदार्थ होगा और कर्मफल की व्यवस्था किसी तीसरे पदार्थ में होगी, इस प्रकार कर्त्ता, कर्म व कर्मफल की व्यवस्था ही चरमरा जायेगी। एक दूसरी युक्ति यह कि एक कार्य की निष्पत्ति के समय अनेक पदार्थ होंगे तो वहाँ कर्त्ता का ही निश्चय नहीं हो सकेगा, कर्त्ता व कर्म की भिन्न सत्ता मानने वालों को आचार्य देव द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि कहकर सर्वज्ञ के मत के बाहर रखते हैं, और गाथा ८६ में ऐसा स्पष्ट करते हैं –

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति।।८६।।

गाथार्थ - क्योंकि आत्मा के भाव को और पुद्गल के भाव को दोनों को आत्मा करता है, ऐसा वे मानते है, इसलिए एक द्रव्य के दो क्रियाओं का होना मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

इसी के समर्थन में अमृतचन्द्रसूरि के कलश काव्य दृढ़ता पूर्वक प्रस्तुत हैं –

य: परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणति: क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया।।५१।।

अर्थ - ''जो परिणमित होता है सो कर्त्ता है, जो परिणाम है सो कर्म है, जो परिणति है सो क्रिया है – यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।'' कर्त्ता की संक्षिप्त परिभाषा देकर कर्त्ता, कर्म, क्रिया की अभिन्नता सिद्ध की, क्योंकि तीनों में वस्तुगत भेद नहीं है। इसी को ५३ कलश में और अधिक स्पष्ट करते हैं –

नोभौ परिणमत: खलु परिणामो नोभयो: प्रजायेत।
उभयोर्न परिणति: स्वाद्यदनेकमनेकमेव सदा।।५३।।

अर्थ - दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और दो द्रव्य की एक परिणति – क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते। वास्तव में प्रतिसमय एक पदार्थ में क्रम से एक ही परिणाम होता है, उस परिणाम को ही उसका कर्म कहते हैं, कर्त्ता-कर्म दोनों व्याप्य-व्यापक भाव से एक ही वस्तु (तत्स्वरूप) में रहते हैं। अतः जीव भी व्याप्य-व्यापक भाव से अपने ही परिणाम को करता है और भाव्य-भावक भाव से उसी को भोगता है। ऐसा असंदिग्ध एवं यथार्थ निर्णय होता है।

कर्त्ता-कर्म जीव के अज्ञान से उत्पन्न एक पर्याय विशेष का ही नाम है, इस कर्तृत्व की पाषाणवत् शिला के टुकड़े कर इसके भार से मुक्त कर देने वाला यह अधिकार अकर्त्ता की मंगल दृष्टि प्रदान कर निश्चिन्त व निर्भार जीवन जीना सिखाता है। अनेकानेक अकाट्य न्याय, युक्ति एवं सिद्धान्त इस अधिकार में उभर कर आये हैं, जिनसे कर्त्ता-कर्म के शत्रु को छिपने की कोई जगह शेष नहीं बचती। **जिनशासन पर सर्वत्र अकर्त्तावाद की ही विजय पताका फहरा जाती है।**

आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्त्ता-कर्म के अज्ञान का स्थूल से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया है। आत्मा से भिन्न शरीर, आठ कर्म आदि और आत्मा में ही उत्पन्न क्रोधादि वृत्तियों के स्थूल कर्त्ता-कर्म में तो यह अज्ञानी निरन्तर व्यस्त ही रहता है, किन्तु इस अधिकार की अन्तिम गाथाओं (१४२,१४३,१४४) एवं बीस कलशों में आत्मानुभूति के पूर्व स्वयं के ही शुद्ध स्वभाव (शुद्धनय) के सम्बन्ध में चलने वाले सूक्ष्म चिंतन के विकल्प (कर्तृत्व) को भी कर्त्ता-कर्म का सूक्ष्म अज्ञान ही घोषित करते हैं।

चैतन्य की प्राप्ति के पूर्व पुरुषार्थी साधक को चैतन्य वस्तु के ही सम्बन्ध में अनेक प्रकार की विचार कक्षा (नयकक्षा) प्रवर्तित होती है। इस सहज क्रम में विचार आये बिना नहीं रहते, किन्तु जिसे शुद्धात्मा की प्राप्ति का उत्साह बहुत है, वह इन नय सम्बन्धी विचारों में रुकता नहीं, यदि रुक जाता है तो वस्तु तक नहीं पहुँच पाता, विचार आते हैं, इतना मात्र वे साधक हैं, किन्तु वास्तव में बाधक हैं; क्योंकि विचार चपल है, तरंगित है, तरल है, उनसे राग व विकल्प होकर रह जाते हैं, किन्तु आनन्द की उत्पत्ति नहीं होती, अनुभूति तो साक्षात् घन होती है, अतएव नयों की तरंगित नदी को पार करता हुआ शुद्धात्मा के तट पर बड़ी त्वरा से पहुँचता है तो निर्विकल्प विज्ञानघन दशा को प्राप्त होता हुआ वह भावश्रुतज्ञानी भी केवली परमात्मा सदृश अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करता है। इस संदर्भ में आचार्य देव १४२ गाथा में कहते हैं –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो।।१४२।।

गाथार्थ – जीव में कर्म बद्ध है अथवा अबद्ध है, इस प्रकार तो नयपक्ष जानो, किन्तु जो पक्षातिक्रांत कहलाता है वह समयसार है।

आचार्य अमृतचन्द्र इन नयपक्ष के त्याग की भावना रूप कलश कहते हैं–

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः।।९१।।

अर्थ – "विपुल महान चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरण मात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है, वह चिन्मात्र तेजपुंज मैं हूँ।" विकल्प रहित जीव ही अमृत का पान करता है इसका उपसंहार आचार्य कलश द्वारा करते हैं –

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति।।६९।।

अर्थ – जो नय पक्षपात को छोड़कर स्वरूप में गुप्त होकर सदा निवास करते हैं, वे ही जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है, ऐसे होते हुए साक्षात् अमृत पान करते हैं।

कर्त्ता-कर्म अधिकार के उपसंहार स्वरूप ये मार्मिक कलश एवं १४३-१४४ गाथायें, समस्त विकल्पों

से खण्डित नहीं होने वाला ऐसा 'समयसार'(शुद्धात्मा) के निर्विकल्प अनुभव की महामहिम संक्षिप्त सरल विधि बताती है जिनमें सूक्ष्म चिंतन का कर्तृत्व (पक्ष) भी अनुभूति में बड़ी बाधा है, और वह भी कर्त्ता-कर्म का अज्ञानजन्य भाव है, ऐसा न्याय की बौछारों से आचार्य ने सिद्ध किया। **सचमुच समयसार का कर्त्ता-कर्म अधिकार विश्व के विधान का प्रकाशक जैन दर्शन का वैज्ञानिक अन्वेषण है।**

समयसार के अन्य अधिकार को भी इसी अकर्त्तावाद के सागर में समेटते हुए इसे विराम देता हूँ। इस ग्रन्थराज का 'ध्रुवतारा' तो चैतन्य है और नवऋषि मण्डल (नव अधिकार) इसकी परिक्रमा करते हैं। आगे भी पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष एवं सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारों में जीव के परिशुद्ध स्वरूप का बोध कराना ही आचार्य का विशुद्ध प्रयोजन है। उन्होंने सर्वत्र इसी का यशोगान किया है, क्योंकि इसका सम्यक् स्वरूप जाने बिना कर्तृत्व व दु:ख की गठरी शीश से नहीं उतर पाती, फिर सम्यग्दर्शन निर्विकल्प आत्मानुभूति (सम्यग्ज्ञान) एवं आत्म रमणता (वीतराग चारित्र) कैसे हो सकेंगे ?

सचमुच यदि कुन्दकुन्द का समयसार नहीं होता तो प्राप्त जिनागम में से द्रव्यदृष्टि खोज पाना सम्भव नहीं था, **अतः समयपाहुड की यह द्रव्यदृष्टि एवं शुद्ध जीव ही कुन्दकुन्द का भवान्तक प्रदेय है।**

अष्टपाहुड -

अष्टपाहुड की ठोस चट्टान पर खड़े आचार्य कुन्दकुन्द पवित्र मुनिधर्म के प्रिय प्रतिनिधि हैं। जिन्होंने महावीर के अचेलक धर्म में आये शिथिलाचार एवं विकृतियों पर निर्दय प्रहार किये और उस मुनिधर्म का सुदृढ़ एवं सघन गठन कर उसकी सुरक्षा की, जिसमें स्खलन का किंचित भी अवकाश नहीं।

अष्ट पाहुड में विभक्त यह ग्रन्थ साक्षात् निर्ग्रन्थ पंथ है। इस ग्रन्थ में आचार्य देव का मुख्य प्रतिपाद्य मुनिधर्म व उसकी विकृतियाँ है, और इसकी रचना मुनियों को लक्ष करके ही हुई है। श्रमण धर्म में व्याप्त विषमता उन्हें तनिक भी सह्य नहीं, अतएव सूत्रपाहुड की १७-१८ गाथा में वे बिल्कुल बेलिहाज बोलते हैं कि बाल के अग्रभाग की कोटि अर्थात् अणि मात्र भी परिग्रह यदि मुनि ग्रहण करता है, तो वह निगोद का पात्र है। **उन्होंने मुनिधर्म के भव्य भवन का शिलान्यास सम्यग्दर्शन की फौलादी भूमि पर किया है और कहा है– ''जो दर्शन से भ्रष्ट हैं वे सभी प्रकार से भ्रष्ट है, उनका निर्वाण नहीं होता।''**

उन्होंने रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग को ही मुनि का अंतरंग स्वरूप कहा, किन्तु साथ में उसके सहचर पैदा हुए बालक सदृश नग्नत्व एवं २८ मूलगुण, महाव्रतादि रूप शुभाचार की भी दृढ़ता से स्थापना की और पुनः इस बाह्यरूप के प्रति अनासक्त रहने के लिए वे लिंगपाहुड में मुनि को सजग करते हुए बोले–

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥२॥

अर्थ - वेश तो धर्म सहित होता है, वेश मात्र से धर्म की प्राप्ति नहीं होती, अतः हे मुनि ! तू भावधर्म को जान, वेश से तुझे क्या काम है ?

इस तरह दिगम्बर श्रमण का सर्वज्ञ प्रणीत आचार संहिता का अन्तर्बहिर्निर्दोष स्वरूप प्रतिपादित कर चैतन्य विहारी सन्त कुन्दकुन्द ने श्रमण संस्कृति को युगों-युगों तक सुरक्षित कर दिया, और **उनका यह प्रदेय प्रदीप की तरह सदैव महाश्रमणों को दिशादान करता रहेगा। नयों के संतुलित चिन्तन से उद्भूत भावों के भंवर यह पंचरत्न सचमुच 'वीतरागता' की जन्मस्थली हैं।**

चिंतन के नये आयाम –

महामनीषी आचार्य कुन्दकुन्द का एक महत्वपूर्ण प्रदेय यह है कि उन्होंने जीव का चिर चिंतन बदला है और उनकी समग्र साहित्य धारा सानुरोध तीव्र वेग से इसी उद्देश्य की दिशा में प्रवाहित हुई है। कुन्दकुन्द का निदान यह है कि सदा से ही प्राप्त मनुष्यादि मोह-राग-द्वेषादि क्षणिक पर्याय में तन्मयता अहं ही जीव के अनन्त कष्टों का जनक है, इस पर्याय निष्ठा के विरुद्ध उन्होंने समयसार के ३८वें सूत्र में एक सशक्त स्वर दिया –

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥३८॥

अर्थ - निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ किंचित् मात्र भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

कुन्दकुन्द की इस दिव्यवाणी के अनुशीलन में जब जीव की अविराम चिंतनधारा साधना के इस सहज क्रम में गतिमान होती है, तो चिंतन के मधुर उन्माद व तरलता का व्यय होकर, आत्मसंवेदन में श्रद्धा एवं ज्ञान एकीभूत हो मुखर उठते हैं और यह अनुभूति मुक्ति की अनन्तता में विलीन हो जाती है, यही आनन्दवेदना आर्हत दर्शन का प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द है। सचमुच चिंतन के ये नये आयाम देकर **महान दार्शनिक कुन्दकुन्द ने ''मुक्तिमंगला'' का उद्घाटन कर दिया।**

इस प्रकार दो हजार वर्ष की श्रमण संस्कृति के छत्र एवं अचेलक धारा के शीर्ष आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने वरद् हस्त से जो दान दिया, यह वसुन्धरा उससे कभी उऋण नहीं हो सकेगी।

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमत्वचनं यस्य, तस्य कार्यो परिग्रह॥

अर्थ :– मेरा वीर (महावीर) में कोई पक्षपात नहीं है, और कपिलादि के प्रति कोई द्वेष नहीं है किन्तु जिसका वचन सुयुक्ति से अलंकृत है, उसी का ग्रहण करना चाहिए। **– भद्रबाहु चरित्र**

जैन दर्शन - स्वरूप एवं समीक्षा

– बाबू 'युगल' जैन एम.ए. साहित्यरत्न, कोटा

(इस लेख का विद्वान श्री बाबू हेमचन्दजी जैन इंजीनियर भोपाल (देवलाली) द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद इसी ग्रंथ के पृष्ठ ६६ पर मुद्रित है।)

जैन दर्शन अनादि एवं प्राकृतिक वस्तु व्यवस्था के वज्र धरातल पर प्रतिष्ठित विश्व के समस्त दर्शनों से बिल्कुल अलग एक मात्र मुक्ति प्रदाता विलक्षण दर्शन है। यह दर्शन सर्वथा असत् वस्तु की उत्पत्ति किसी भी प्रकार संभव न होने से उसका नितांत निषेध करता है। सर्वथा असत् वस्तु की उत्पत्ति न होना यह नैसर्गिक वस्तु व्यवस्था है। इस वस्तु स्थिति के आलोक में विश्व की प्रत्येक ही वस्तु पूर्ण स्वतन्त्र, अकृत्रिम, स्वयंसिद्ध एवं अनादिसिद्ध हो जाती है और जैन दर्शन इसी अकृत्रिम एवं स्वयंसिद्ध वस्तु व्यवस्था की अनादिता एवं अनन्तता के परम सत्य की सघन चट्टान पर खड़ा है। अन्य दर्शन सर्वथा असत् सृष्टि के उत्पाद के श्रद्धावान् होने से इस अनादि वस्तु व्यवस्था की परम सत्यता का निषेध करते हैं, अतः इस प्रकार वे दर्शन अपने परम सत्य होने की गर्वोक्ति का स्वयं अपने ही हाथों से चूरा कर डालते हैं।

जैन दर्शन के अतिरिक्त विश्व के प्रायः सभी दर्शन एक ईश्वर को सृष्टि का उत्पादक स्वीकार करते हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि के सर्वथा नवीन जन्म से पहिले उसका किसी भी रूप में कोई अस्तित्व नहीं था। यद्यपि वे दर्शन सर्वथा असत् वस्तु के रूप में आकाश के फूल, गधे के सींग और बंध्या के पुत्र आदि के अस्तित्व का पूर्ण निषेध भी करते हैं किन्तु ईश्वर और सृष्टि के रूप में सर्वथा असत् की उत्पत्ति के सुदृढ़ समर्थक होने से वे सभी दर्शन स्वयं अपने ही द्वारा पूर्वापर विरोध से ग्रस्त होकर सत्य से बहुत दूर घने अंधकार में चले जाते हैं। किन्तु जैन दर्शन में सर्वथा असत् वस्तु की उत्पत्ति को तनिक भी स्थान नहीं होने से इस विश्व में अनादि से जितनी जड़ चेतन वस्तुएँ हैं उतनी ही अनन्तकाल तक रहेंगी, एक भी कम या अधिक नहीं। अतः एक ईश्वर को सर्वथा असत् सृष्टि का जन्मदाता अथवा कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता स्वीकार करना स्वयं ही मात्र काल्पनिक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि सर्वथा असत् वस्तु का उत्पाद और सत् का सर्वनाश तो कभी भी संभव नहीं है।

एक महत्वपूर्ण युक्ति यह है कि जैन दर्शन के अतिरिक्त विश्व के प्रायः सभी दर्शनों के परस्पर विपरीत मन्तव्य वाले अलग अलग सर्वथा नये नये प्रवर्त्तक हुए हैं, और वे सभी प्रवर्त्तक अपने दर्शन के परम सत्य होने की घोषणा करते हैं। किन्तु परस्पर विपरीत मन्तव्य वाले होने से उनकी सत्यता ही पूरी तरह खतरे में पड़ जाती है, और सर्वथा नये होने के कारण उनका सत्य भी मनोकल्पित बिल्कुल नया ही होता है। किन्तु वास्तव में सत्य कभी भी नया नहीं होता। वह अनादि अनन्त एवं सनातन ही होता है। जैसे यह सनातन सत्य है कि सूर्य का उदय सदैव पूर्व में ही होता है, इसलिये यदि कोई इसका प्रतिवाद करे तो वह लोक में सर्वत्र महामूर्ख एवं असत्यवादी ही माना जाता है।

सभी दर्शनों में जैन दर्शन इसलिये परम सत्य दर्शन है क्योंकि उसका कोई प्रवर्त्तक नहीं है अतः वह अनादि है। और एक मात्र अनादि अनन्त सनातन वस्तु व्यवस्था ही इस दर्शन के यथार्थ प्रतिपादन का आधार अथवा विषय रही है अतः इसकी सत्यता असंदिग्ध है।

इस प्रकार जैन दर्शन के तीर्थंकर, वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा तथा वीतराग नग्न दिगम्बर महान सन्त एवं उनके श्रद्धावान् आत्मज्ञानी गृहस्थ महापुरुष इस सनातन वस्तु व्यवस्था के अनादि से वास्तविक प्रतिपादक ही रहे हैं, किन्तु प्रवर्त्तक नहीं। प्रत्येक अज्ञानी आत्मा आत्मानुभूति सम्पन्न महापुरुषों से ही अपने ध्रुव एवं परम शुद्ध आत्मा का स्वरूप पूरी तरह समझ कर उसी जन्म अथवा जन्मान्तर में मात्र अपने पुरुषार्थ से परमात्मा बन सकता है। किसी की कृपा अथवा भाग्य के भरोसे नहीं। इस तरह आत्मज्ञानी महापुरुष एवं परमात्मा बनने की परम्परा भी अनादि अनन्त सिद्ध हो जाती है और जैन दर्शन भी विश्व के समस्त दर्शनों से अलग अनादि अनन्त सत्य दर्शन सिद्ध हो जाता है। यदि कोई यह पूछे कि जैन दर्शन का सबसे पहला महापुरुष कौन हुआ तो यह प्रश्न ही नितांत अविवेक है क्योंकि सबसे पहला कोई महापुरुष होता ही नहीं। किन्तु आत्मज्ञानी महापुरुषों से उपदिष्ट होकर ही मात्र अपने पुरुषार्थ से महापुरुष बना जाता है। ऐसा विश्व का सार्वदेशीय एवं सार्वकालिक अकाट्य नियम है। एक लौकिक प्रश्न भी होता है कि विश्व में सबसे पहला प्रोफेसर कौन हुआ तो इस प्रश्न का सर्वमान्य उत्तर भी यही है कि विश्व में सबसे पहला कोई प्रोफेसर होता ही नही, किन्तु अन्य सुयोग्य प्रोफेसर से शिक्षित होकर ही कुशल विद्यार्थी मात्र अपने परिश्रम से प्रोफेसर बनता है। यही महापुरुष बनने की अनादि अनन्त प्रक्रिया रही है।

जैन दर्शन अनादि अनन्त और परस्पर अत्यन्त भिन्न एवं स्वतंत्र प्रत्येक जड़ और चेतन वस्तु के स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादक होने से हमारा चैतन्य स्वरूप आत्मा भी जगत के अनन्त जड़ चेतन पदार्थों से सर्वथा पृथक एवं स्वतंत्र सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार अपनी आत्मा की सीमा से विश्व के समस्त पदार्थ सदैव अत्यन्त बाह्य होने से वे हमारे लिये रंचमात्र भी इष्ट अनिष्ट और साधक बाधक नहीं होते अतः सदा ज्ञान एवं आनन्द जैसे अनन्त गुणों से विभूषित, अतीन्द्रिय, निर्विकार एवं अविनश्वर एकमात्र हमारा आत्मतत्त्व ही हमारे चिन्तन एवं अनुभूति का विषय रह जाता है। जैसे लोक में भी हम निरन्तर अपनी ही गृह व्यवस्था के चिन्तन एवं अनुभूति में तल्लीनता से व्यस्त रहते हैं किन्तु अपने से पराये घर एवं उनकी व्यवस्था कभी भी तन्मयता से हमारे चिन्तन का विषय नहीं होती। इस विधि से शरीरादि सर्व ही पर पदार्थों के प्रति हमारे मिथ्या अहं एवं ममत्व से उत्पन्न मोह, राग, द्वेष, पाप, पुण्य एवं सुख दुख आदि की क्षणभंगुर एवं व्याकुल विकारी वृत्तियों का हमारे चित्त में कभी प्रादुर्भाव ही नहीं होता।

अतः सदैव अपनी अनन्त शक्तियों से समृद्ध, परम शुद्ध एवं अविनश्वर आत्म द्रव्य के अहं एवं अनुभूति से उत्पन्न परम वीतराग भाव के आल्हाद में अविराम तल्लीन हमारा आत्मा विलक्षण आनन्दमय, अनुपम एवं सर्वोत्कृष्ट मुक्त अवस्था से विलसित होकर सदा के लिये अशरीरी सिद्ध परमात्मा बन जाता है।

इस प्रकार विश्व में अनादि अनन्त जैन दर्शन ही परम निष्पक्ष दृष्टिकोण से चिरस्थायी सुख शांति से अलंकृत मुक्ति का एक मात्र पथ है।

जैन दर्शन की यह मुक्ति अनादि से ही उसके अनेकान्त सिद्धान्त की अचल शिला पर आधारित रही है, क्योंकि अनेकान्त ही वस्तु के अवलोकन की एक मात्र निर्दोष पद्धति है। अतः जैन दर्शन को 'अनेकान्त केतन' अर्थात् अनेकान्त को 'जैन दर्शन का ध्वज' कहते हैं।

सचमुच तो विश्व के समस्त ही दर्शन इस अनेकान्त सिद्धान्त से सर्वथा अनभिज्ञ हैं और वे इसका पूर्ण रूप से निषेध भी करते हैं। कुछ दर्शन अनेकान्त को बाज़ार की सुनी-सुनाई अफ़वाहों की तरह समझौतावादी सिद्धान्त कहते हैं। इस संदर्भ में उनका कथन है कि ''जो मैं कहता हूँ वही सत्य नहीं है, परन्तु अन्य दर्शन अथवा पुरुष जो कहते हैं वह भी किसी दृष्टिकोण से सत्य है'' 'किन्तु अन्य दर्शनों को प्रसन्न रखने के लिए कल्पित उनका समझौते का यह सिद्धान्त सर्वथा असत्य, निराधार, एवं अव्यवहारिक रहा है। क्योंकि समझौतावादी दर्शन के किसी पुरुष की पत्नी को यदि दूसरे दर्शन का कोई पुरुष अपनी पत्नी मानता हो तो क्या वह पुरुष उस दूसरे दर्शन के पुरुष के साथ समझौता करने को तैयार होगा ? समझौता तो बहुत दूर बल्कि अविलम्ब ही वह उसे कारावास दिखावेगा। पुनः यदि दार्शनिक स्तर पर समझौते के तथाकथित सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय, तो वह एक सिद्धान्त बन जाने के कारण उसे विश्व की समस्त ही घटनाओं एवं वार्ताओं के विवाद पर सदैव ही घटित कर उनका सफल समाधान करना होगा, जो कि सर्वथा असंभव है क्योंकि सिद्धान्त त्रिकाल स्थायी ही होते हैं और उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। इस सिद्धान्त को न्यायालय के न्यायाधीश भी अपने संविधान के नियमों के मूल्य पर कभी स्वीकार नहीं करेंगे। क्योंकि वहां फैसला एकांत सत्य के पक्ष में ही होता है और असत्य पक्ष को पराजित घोषित कर दिया जाता है। यदि न्यायालय भी समझौते का सिद्धान्त अपना ले तो संविधान की कोई उपयोगिता एवं आवश्यकता न रहने से वह रद्दी की टोकरी में चला जायेगा और संविधान के विनाश के साथ विश्व के समस्त न्यायालय ही बन्द हो जायेंगे। तथा अन्य दर्शनों के सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध होने से उनमें किसी भी स्तर पर समझौता संभव ही नहीं है, अतः जैन दर्शन के परम सत्य एवं युक्ति संगत अनेकान्त सिद्धान्त को समझौतावाद मानना नितान्त काल्पनिक एवं मिथ्या है।

यह 'अनेकान्त सिद्धान्त' लौकिक नहीं, किन्तु लोकोत्तर मुक्ति प्रदाता महा सिद्धान्त है। अनेकान्त का अर्थ 'अनेक अंत' अर्थात् 'अनन्त धर्म' होता है। ये धर्म प्रत्येक ही वस्तु में अनन्त होते हैं। अनैकान्तिक वस्तु व्यवस्था के अनुरूप विश्व की प्रत्येक ही वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध दो धर्मों (शक्तियों) के अगणित धर्म-युगल होते हैं।

ये परस्पर विरुद्ध धर्म युगल वस्तु में विरोध नहीं किन्तु अविरोध भाव से वस्तु में वस्तुत्व को उपजाते हुए वस्तु की सुदृढ़ संरचना करते हैं। जैसे वस्तु का अस्ति धर्म वस्तु को अपने संपूर्ण वैभव (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) से संयुक्त अस्ति रूप रखता है। तथा इससे विरुद्ध नास्ति धर्म वस्तु के भीतर ही रहता हुआ वस्तु को

अन्य समग्र ही वस्तुओं के सत्व के पूर्ण अभाव रूप अर्थात् नास्ति रूप रखता है, अत: प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अस्ति रूप भी है और नास्ति रूप भी है। इस प्रकार समस्त ही वस्तुयें पूर्व व पश्चिम दिशा की तरह एक ही समय में अस्ति-नास्ति आदि परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्ममय होने से 'अनेकान्त स्वरूप' हैं।

आचार्य कुंदकुंददेव के समयसार परमागम की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में आचार्यदेव अमृतचन्द्र अनेकान्त को निम्न प्रकार परिभाषित करते हैं – ''जो वस्तु तत् है वही अतत् है, वही एक है वही अनेक है, वही सत् (अस्ति) है, वही असत् (नास्ति) है, वही नित्य है और वही अनित्य है इस प्रकार ''एक वस्तु में वस्तुत्व को उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना ही अनेकान्त है।'' ''यहाँ आचार्यदेव ने वस्तु के तत्-अतत्, एक-अनेक, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरुद्ध धर्म युगलों का स्वरूप प्रतिपादित करके प्रत्येक वस्तु की अनंत धर्मात्मकता को ही प्रसिद्ध किया है।

लोक व्यवस्था में भी अनैकान्तिक दृष्टि से नहीं किन्तु लौकिक दृष्टि से परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों के द्वारा विश्व के महान-महान कार्य संपन्न होते हुए देखे जाते हैं। उदाहरण स्वरूप विश्व के समस्त राष्ट-ों के मंत्रिमण्डलों में एक गृहमंत्री होता है और एक विदेशमंत्री। गृहमंत्री राष्ट- की संपत्ति और शांति को सुरक्षित रखते हुए राष्ट- की सम्पूर्ण अंतरंग व्यवस्था करता है, अतः गृहमंत्री अस्ति धर्म स्थानीय है। और विदेशमंत्री राष्ट- में ही रहकर राष्ट- को बाह्य अतिक्रमण एवं हस्तक्षेप से सुरक्षित रखता है। यदि गृहमंत्री के साथ उससे विरुद्ध कार्य करने वाला विदेशमंत्री न हो तो राष्ट- में बाह्य अतिक्रमण का अवरोध न होने से विप्लव होकर राष्ट- का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जावेगा, अतः विदेशमंत्री नास्ति धर्म स्थानीय है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों से राष्ट- की व्यवस्था पूर्ण शान्ति पूर्वक निर्विघ्न संचालित होती है।

इसी प्रकार हमारे स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए भी हमारे शरीर में परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ अर्थात् दो धर्म पाये जाते हैं। एक लाल कण (Red Blood Cells) होते हैं जो संतुलित रहकर शरीर के अंतरंग स्वास्थ्य को व्यवस्थित रखते हैं। ये अगणित लाल कण अस्ति धर्म स्थानीय हैं। तथा दूसरे श्वेत कण (White Blood Cells) होते हैं जो संतुलित रहकर अवरोधक शक्ति के रूप में शरीर को बाहरी विषैली विकृतियों से सुरक्षित रखकर स्वास्थ्य को सुचारू बनाये रखते हैं। ये अगणित श्वेत कण नास्ति धर्म स्थानीय हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध ये दो शक्तियाँ एक ही साथ रहकर हमारे स्वास्थ्य की रक्षा करती रहती हैं।

इन परस्पर विरुद्ध धर्मों को सापेक्ष धर्म भी कहते है, क्योंकि इनका विवेचन भिन्न-भिन्न अपेक्षा से होता है। जैसे वस्तु अपने वैभव (स्व चतुष्टय) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्ति (सत्) रूप है, और अन्य संपूर्ण विश्व के वैभव का अपने में अभाव होने की अपेक्षा नास्ति (असत्) रूप है। उदाहरण के रूप में लोक में भी एक ही व्यक्ति में पिता-पुत्र, चाचा-ताऊ, मामा-भानेज आदि परस्पर विरुद्ध अनेक लौकिक सम्बन्ध पाये जाते हैं, और वह व्यक्ति जिस अपेक्षा से पिता है उसी अपेक्षा से पुत्र नहीं है, दोनों ही दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न-भिन्न होते हैं। इस कृत्रिम लोक व्यवस्था के सदृश अकृत्रिम एवं अनादि लोकोत्तर अनैकांतिक वस्तु व्यवस्था में भी प्रत्येक ही वस्तु सदैव परस्पर विरुद्ध एवं सापेक्ष अनन्त धर्मात्मक

होती है। इसप्रकार दोनों अपेक्षायें सुयुक्तियों से अबाधित परम सत्य होने से विश्व के स्वरूप सौन्दर्य की नियामिका हैं।

वास्तव में तो विवेचन की सापेक्षता के कारण इन धर्मों को सापेक्ष धर्म कहने पर भी ये धर्म किसी भी अपेक्षा के बिना सदैव अपने परम स्वतंत्र, सुन्दर स्वरूप में विद्यमान रहने से निरपेक्ष ही होते हैं और निरपेक्षता तो जैनदर्शन का प्राण ही है।

अनेकान्त स्वरूप वस्तु का यह विवेचन स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान के द्वारा होता है। जब स्यादवाद रूप श्रुतज्ञान एक ही समय में अस्ति नास्ति आदि अनन्त धर्म रूप पूरी वस्तु को विषय करता है तब इस पद्धति को श्रुतज्ञान प्रमाण कहते हैं और वह स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान का अंश (नय) उसी वस्तु के एक-एक धर्म का विवेचन उसी धर्म की अपेक्षा से करता है तब स्याद्वाद की इस शैली को नयज्ञान कहते हैं। स्याद्वाद का अर्थ – स्यात् अर्थात् ''किसी अपेक्षा से वाद अर्थात् कहना'' होता है। वास्तव में स्याद्वाद वाचक है और अनेकान्त स्वरूप वस्तु वाच्य है। श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश को 'नय' कहते हैं और अनन्त धर्मात्मक अनेकान्त स्वरूप वस्तु के अंश को 'धर्म' कहते हैं।

स्याद्वाद यथार्थ में तो श्रुतज्ञान ही है, किन्तु वचन के बिना वस्तु के स्वरूप का बोध नहीं होता अतः सापेक्ष वचन पद्धति को भी स्याद्वाद कहते हैं। स्याद्वाद रूप वचन एवं ज्ञान का विषय परम सत्य अनैकांतिक वस्तु व्यवस्था ही होती है।

आचार्य देव श्री अमृतचन्द्र समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में स्याद्वाद के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये उसकी महिमा में लिखते हैं – ''स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हत् सर्वज्ञ का एक अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) ''सब अनेकान्तात्मक हैं'' इस प्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त स्वभाव वाली है। ''सर्व वस्तुएं अनेकान्त स्वरूप हैं'', इस प्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता, परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है वैसा ही कहता है।

इन अनन्त धर्मों के साथ प्रत्येक वस्तु में अनन्त ही गुण पाये जाते हैं। धर्म व गुण के स्वरूप में अन्तर होता है। धर्म परस्पर विरुद्ध और सापेक्ष होते हैं। परस्पर विरुद्ध एवं सापेक्ष होने के कारण दो-दो धर्म युगल साथ ही रहते हैं, और उनकी पर्याय नहीं होती। इसका सबल हेतु यह है कि पर्याय में विकार की संभावना होती है। तब जैसे नित्य धर्म में विकारी परिणमन हुआ तो वह अवश्य अनित्य रूप ही होगा, और ऐसा होने से स्वरूप (सत्ता) से ही पूरी वस्तु अनित्य हो जाने से नित्यता के सर्व नाश के साथ सम्पूर्ण ही वस्तु का एक क्षण में ही पूर्ण रूप से नाश हो जायगा। गुण परस्पर विरुद्ध और सापेक्ष नहीं होते किन्तु प्रत्येक गुण भिन्न स्वभाव वाला निरपेक्ष ही होता है। तथा प्रत्येक गुण द्रव्य की तरह सदैव ध्रुव होने पर भी प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक गुण की प्रकृति या स्वभाव के अनुरूप गुण के अतिरिक्त एक समयवर्ती क्षणभंगुर पर्याय होती है। उस पर्याय को ही गुण की पर्याय अथवा गुण का परिणमन कहते हैं। इसी प्रकार अपने शुद्ध चैतन्य

द्रव्य में अनन्त ही सुमधुर गुण शाश्वत तथा सघन रूप में एकीभूत एवं परिव्याप्त होने से निज शुद्धात्मानुभूति के क्षण में अनन्त ही गुणों की अनन्त ही पर्यायों का एक स्वादिष्ट पेय की तरह एकमेक मिलित अखण्ड, इन्द्रियातीत, अत्यंत विलक्षण एवं असीम सुस्वादु रसास्वादन होता है।

अनैकांतिक ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण विश्व की सत्ता अत्यन्त भिन्न ज्ञात हो जाने पर निखिल जगत से रंच मात्र भी प्रयोजन नहीं रहने से सर्वथा निरपेक्ष अपने चैतन्य तत्व की अनुभूति ही क्रियमाण होती है। अनुभूति में अनन्त गुणात्मक, शुद्ध, शाश्वत आत्मद्रव्य ही श्रद्धा व ज्ञान का विषय होता है। अनन्त सापेक्ष धर्म व क्षणभंगुर पर्याय उसमें सम्मिलित नहीं होते क्योंकि धर्म परस्पर विरुद्ध स्वभावी – द्रव्य-पर्याय से सम्बद्ध होने से एवं परस्पर विरुद्धता तथा सापेक्षता के कारण दो-दो धर्म साथ ही साथ रहने से तथा पर्याय क्षणभंगुर अनित्य होने से उनके अहं एवं अनुभूति में आकुलतापूर्ण विकल्पों का जन्म हुए बिना नहीं रहता।

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु को एक ही समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक स्वीकार करता है। प्रति समय नयी पर्याय का उत्पाद तथा पूर्व पर्याय का व्यय अर्थात् नाश होता है और द्रव्य शाश्वत ध्रुव अर्थात् वही का वही बना रहता है जैसे समुद्र में एक तरंग उत्पन्न होती है, दूसरे ही क्षण उसका अभाव हो जाता है और समुद्र पूरा का पूरा वही का वही ध्रुव बना रहता है। इस प्रकार द्रव्य व पर्याय एक ही पदार्थ के अभिन्न अवयव होने पर भी पर्याय क्षणभंगुर होने से सम्यक् श्रद्धा के विषय व आत्मानुभूति की प्रयोग पद्धति में शामिल नहीं की जाती क्योंकि श्रद्धा गुण की पर्याय का स्वभाव ही यह है कि वह विश्व में अपनी आत्मा की सत्ता के सिवाय दूसरे पदार्थ का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करती। स्व पर की सत्ता की स्वीकृति ज्ञान का विभाग है। अतः जिस क्षण श्रद्धा गुण की पर्याय अपने नितान्त क्षणभंगुर मोह, रागादि भाव अथवा विश्व के किसी भी द्रव्य या भाव को विषय करती है तो वह उसी में अहं करती हुई उसे अपनी पूरी सत्ता अर्थात् पूरा आत्मा ही मानती है। अतः प्रतिक्षण उसके नाश अथवा परिवर्तन के साथ श्रद्धा की पर्याय को अपनी पूरी आत्मा के ही नाश की प्रतीति होती है। फलस्वरूप प्रतिसमय मृत्यु की तरह असह्य एवं भयंकर आकुलता होती है।

जैसे वन का राजा शेर सर्कस के केप्टिन द्वारा किसी तरह पिंजरे में फंसा लिया जाता है और अत्यन्त निर्दयता पूर्वक बिजली के करंट एवं बिजली के चाबुक मार-मार कर इतना भयभीत एवं त्रस्त कर दिया जाता है कि उसे बिजली के चाबुक के स्मरण मात्र से कंपन होने लगता है, अतः वह केप्टिन के संकेतों पर गधे की तरह नाचता है, और केप्टिन को अपने से महा शक्तिशाली तथा अपने को उसके समक्ष पूरा शक्तिहीन मानता हुआ दिन रात महा आकुल व्याकुल रहता है। य़द्यपि शेर की इस महा दयनीय दुर्दशा के समय भी शेर में अपनी स्वाभाविक, स्थायी, अपार शक्ति सदैव विद्यमान है किन्तु ऐसी सुचारू स्थिति में भी उसकी इस महादुःखमय दशा का एक मात्र कारण यह है कि इस क्षणिक दुर्दशा को ही अब अपनी स्थाई अवस्था मान लेने से उसे अपनी प्रतिक्षण विद्यमान अक्षय महाशक्ति का विस्मरण मात्र हो गया है। यदि इस महा संताप की दशा में भी उसे अपनी अविनश्वर शक्ति का स्वयं अथवा किसी

के द्वारा स्मरण मात्र हो जाय तो वह तत्क्षण ही पूरे शौर्य से दहाड़ मारता हुआ आक्रमण करके केप्टिन को फाड़ डालता है, और उसकी बेहद संकटमय इस दुर्दशा का सदा के लिए अंत हो जाता है। इसी तरह चिरन्तन अनन्त शक्तिमय ध्रुव चैतन्य द्रव्य की सदैव विद्यमानता में भी अपने को मात्र क्षणिक नश्वर पर्याय जितना ही अविराम अनुभव करना प्रतिक्षण महाक्लेशकारी ही होता है। और यही आत्मा के अनन्त कष्टों का एकमात्र कारण है।

पर्याय के क्षणिकत्व के इस विवेचन में एक तथ्य अत्यन्त स्मरणीय है कि पर्याय क्षणभंगुर होने से हमारे लिये अनिष्ट तथा घृणा एवं राग-द्वेष का विषय नहीं है। किन्तु क्षणिकता एवं नश्वरता तो उसका अमिट स्वभाव ही है। अतः पर्याय मात्र के प्रति हमारा प्रतिक्षण ज्ञेयत्वरूप साम्यभाव ही अपेक्षित है। वास्तव में सम्पूर्ण ही विश्व में इष्ट-अनिष्ट का आत्यंतिक अभाव होने से रागद्वेष के लिए किंचित् मात्र भी कोई स्थान नहीं है। ऐसी पावन वस्तु स्थिति की उपेक्षा करके अज्ञानी जीव पर्याय की स्वभाविक नश्वरता, निरपेक्षता एवं स्वतन्त्रता होने पर भी उसे अपनी काल्पनिक एवं कलुषित मिथ्या चेष्टा से मिटाने का प्रयत्न करता हुआ तथा उसके साथ अतिरिक्त उपाधि के रूप में अपना सर्वथा कल्पित एवं अनुचित अहं एवं ममत्व जोड़कर उसे बलात् स्थायित्व देकर अपने अधिकार में रखने का निरन्तर ही विफल प्रयास करता हुआ अनन्त तीर्थंकर परमात्माओं के विरुद्ध सर्वमहान अक्षम्य अपराध करता है जिसका फल प्रतिक्षण मृत्यु तुल्य प्रचण्ड एवं असह्य आकुलतामय अनन्त संसार होता है।

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी होता है कि पदार्थ सदैव द्रव्य पर्यायमय होने के कारण पर्याय के बिना आत्मद्रव्य की अनुभूति अपूर्ण ही होगी। अतः पूर्ण द्रव्य के अनुभव के अभाव में आनन्द के स्थान पर अकेली आकुलता का ही अनुभव होगा। तो यह प्रश्न भी वस्तु व्यवस्था के सम्यग्ज्ञान के अभाव में विवेक सम्मत नहीं है क्योंकि द्रव्य पर्याय पदार्थ के अभिन्न अवयव होने से परस्पर सापेक्षता का व्यवहार होते हुये भी परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले होने से निश्चय से निरपेक्ष ही होते हैं। इसीलिये अनादि काल से पर्याय मोह-राग-द्वेष से कलंकित होने पर भी आत्मद्रव्य शाश्वत एवं शुद्ध, वही का वही रहा है और पर्याय सम्यग्दर्शनादि से निर्मल हो जाने पर भी आत्मद्रव्य निर्मल पर्याय से एक अंश भी लिये बिना पर्याय से अत्यन्त अप्रभावित, पूर्ण निरपेक्ष, वही का वही, शुद्ध एवं ध्रुव रहा है। इस प्रकार पर्याय को श्रद्धा के विषय ध्रुव द्रव्य में शामिल नहीं करने पर भी पर्याय मात्र से सदा ही अप्रभावित एवं निरपेक्ष, अनन्त गुणात्मक, अकेले आत्मद्रव्य की पूर्णता असंदिग्ध है। अतः आत्यन्तिक निरपेक्षता एवं स्वाधीनता होने से प्रतिक्षण पूर्ण, एकान्त शुद्ध, अविनश्वर, अभेद एवं निष्क्रिय चिन्मात्र आत्मद्रव्य की प्रतीति एवं अनुभूति निर्विकल्प समाधिरूप होने से असीम आनन्दमय ही होती है।

तथा इतने विवेचन से यह भी सुतरां सिद्ध है कि आत्मानुभूति के विषय स्थायी शुद्ध चिन्मयतत्व में अनन्त धर्मों को नहीं मिलाने से अनन्त सापेक्ष धर्मों की महिमा तनिक भी कम नहीं होती क्योंकि अनन्त ही धर्म अपनी चित् स्वरूप वस्तु में वस्तुत्व को उपजाते हुए अपनी अनन्त गरिमा में सदैव ही अवस्थित रहते हैं।

इस प्रकार स्याद्‌वाद रूप श्रुतज्ञान से विश्व के अनेकान्त स्वभाव को जानकर श्रुतज्ञान के परिशुद्ध अवयव

शुद्धनय का विषय सारे जगत से भिन्न मात्र ध्रुव एवं शुद्ध चिदात्म द्रव्य होने से उसी की प्रगाढ़, असीम आनन्दमय, अविराम एवं मंगलमय श्रद्धा तथा अनुभूति ही महामहिमामय अनेकान्त सिद्धान्त के परिज्ञान की अपूर्व उपलब्धि है एवं अन्तहीन सुखमय मुक्त दशा ही अनेकान्त के फल की चरमावस्था है।

अतएव साम्प्रदायिक व्यामोह और अन्धविश्वास के अनुरोध से नहीं किन्तु स्वयं सिद्ध अनैकान्तिक अनादि वस्तु व्यवस्था की नैसर्गिक एवं अनाहत वसुंधरा पर प्रतिष्ठित, अनेकान्त एवं स्याद्वाद जैसे विविध महासिद्धान्तों से स्फुरायमान जैन दर्शन एवं उसके द्वारा प्रतिपादित निज [१]"**शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है दूसरा नहीं**" और उसी का फल चिर अनन्त सौख्य निकेतन मुक्ति अर्थात् अविचल एवं अनुपम विश्रामस्थली सिद्धावस्था है।

रेखांकित – १. (आचार्यदेव श्री कुन्दकुन्द प्रणीत प्रवचनसार की गाथा १९९ पर आचार्यदेव श्री अमृतचन्द्र की 'तत्त्वदीपिका' संस्कृत टीका के अंश का हिन्दी भाषान्तर)

प्रवचनसार गाथा १९४ (महत्त्वपूर्ण)

(शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन जीव के ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। गाथा १९३)

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
[१]सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१९४॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥१९४॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो [**एवं ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**विशुद्धात्मा**] विशुद्धात्मा होता हुआ [**परमात्मानं**] परम आत्मा का [**ध्यायति**] ध्यान करता है, [**सः**] वह [**साकारः अनाकारः**] साकार-हो या अनाकार [**मोहदुर्ग्रन्थिं**] मोह दुर्ग्रंथि का [**क्षपयति**] क्षय करता है।

टीका :– इस यथोक्त विधि के द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, उसे उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; इसलिए अनन्त शक्तिवाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्र संचेतन लक्षण ध्यान होता है; और इसलिए (उस ध्यान के कारण) साकार (सविकल्प) उपयोग वाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोगवाले को – दोनों को अविशेष रूप से एकाग्र संचेतन की प्रसिद्धि होने से, अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रन्थि (मोह की दुष्ट गाँठ) छूट जाती है।

इससे (ऐसा कहा गया है कि) मोहग्रन्थि भेद (दर्शनमोह रूपी गाँठ का टूटना) वह शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है॥१९४॥

१. **'सागारोऽणागारो' – पूज्य जयसेनाचार्यदेव कृत तात्पर्यवृत्ति टीका :–** साकारः - सविकल्प ज्ञानोपयोग, अनाकारः - निर्विकल्प दर्शनोपयोग अथवा साकारः - सविकल्प गृहस्थ, अनाकारः - निर्विकल्प तपोधन, यति।

JAINISM: THE REAL METAPHYSICS AND COMPARATIVE STUDY

Babu 'Yugal' Jain, M.A. Sahityaratan, Kota

Jainism, being based on adamantine substratum of beginningless and naturally existing substantial phenomenon is the only liberation bestower unique philosophy totally different from all the world religions and philosophies. This philosophy completely refutes the origination of the totally non-existing thing as its coming into being by any means is impossible. It is quite natural phenomenon that totally non-existing thing can not originate. In the light of such a substantial phenomenon each thing of the universe proves to be uncreated and naturally existing by itself from the beginning less time. And the Jain philosophy, right from the beginning less time, is standing on the adamantine substratum of this ultimate truth of uncreated self existing substantial phenomenon of eternity and infinity. The other religions and philosophies, owing to their believing in totally non-existing creation, criticize the supreme truth (reality) of this eternally self existing phenomenon. Therefore, in this way they themselves crush down by their own hands, the boastful statement of their philosophy being perfectly true.

Excepting Jainism, almost all world religions and philosophies believe in "One creator God theory", i.e., this universe is created by some unknown almighty god. This would mean that there was no existence of this universe prior to its creation. Although these religions and philosophies do negate and refute the origination of totally non-existing things (Asat) in the form of accepting the impossibility of the existence of sky's (space's) flowers, donkey's horns and barren woman's son, yet due to their being strong supporters of the origination of totally 'Asat'- non-existing in the form of some imaginary God and his creation, all those religions and philosophies because of their self contradictory statements about what is said earlier and what is said later go far away from the truth in the dense forest of gross darkness. Whereas the Jainism (Jain religion and philosophy) does not accept even a little bit of the origination of totally 'Asat' – non-existing things, therefore in view of Jainism whatever living and non-living things are found existing in the universe, they are from the beginningless time and will remain existing for ever endlessly, even not a single thing will become less or more. (Now-a-days, this is proved scientifically also. If you take any formula of chemistry you will find that no atom is really destroyed or created, valency remains equal either side; viz. $BaCl_2 + H_2SO_4 \rightarrow 2\,HCl + BaSO_4$).

Moreover, one important logic is this, that excepting Jainism, there have been separate propagandists of all world religions and philosophies with their mutually contradictory opinions and all those propagandists declare that their philosophy is perfectly true. But due to mutually contradictory opinions, their authenticity falls fully in danger, proves dubious and questionable. One good logic disapproving their veracity (authenticity) totally is this that the truth never becomes new, i.e., the truth is never created newly but it is eternal and permanent. For

example-this is an eternal fact that the dawn of the sun takes place always from the East direction and hence if someone refutes this truth then he is treated everywhere in the world as a liar and stupid.

Among all religions and philosophies, the Jainism (the Jain religion and philosophy) is the only perfectly true religion and philosophy, and since it has no propagandist(s), it is beginningless. The eternal substantial phenomenon is the foundation of this philosophy, and that's why its trueness is undoubted. Any word or knowledge will be considered true only if the subject of the word or the knowledge really exists. Due to its being eternal substantial phenomena the omniscient passionless Digamber form of Supreme-men called as Tirthankara-Arihanta Gods and passionless naked Digamber monks and their faithful householders great men possessed of self realisation had been the great interpreters of this religion since beginningless time but not the founders. In this way the tradition of becoming supreme man, on being discoursed by their contemporary or anterior self-enlightened men who interpret the eternal truth, is also established/proved to be from beginningless to endless time and along with it the Jainism also gets proved to be the oldest eternal supreme true religion and philosophy totally distinct from all other world religions and philosophies.

If some one asks- "who had been the first foremost supreme man (omniscient monk-Arihant)?" Then, this question is totally absurd because any common man on being discoursed by the Supreme man of his time or of prior to his time, becomes supreme man. Thus this tradition also is eternal. There can not be the first foremost supreme man. For example-it is a common/worldly question also that who had been the first foremost professor? The answer to this question is also the same; i.e. there can not be the first foremost professor because the student himself, after being educated from professor becomes professor. So is the eternal way of becoming supreme men.

Jainism, being the interpreter of the sentient (soul), insentient (non-soul) substances which are mutually totally different, eternally independent entities forming the substantial world phenomenon, our sentience-characterised soul too is proved to be totally different and independent from the infinite times infinite sentient-insentient substances. Thus, we have nothing to do or we have no concern with all the insentient-sentient substances of the world because of their being totally different from the boundary of our soul-existence. And hence only our pure sentience-soul element which is extremely comely and extremely rich by its qualities and imperishable, remains the subject of our meditation and realisation. The public tradition or mannerism too is this that we always remain engaged in the meditation and realisation of our home's arrangement and not of others' homes. The arrangement of others' homes devotedly does never become the subject of our meditation.

By this type of discrimination, the subject of our self-realisation remains our own soul only and due to this, passionlessness (with the fraternity feelings towards all living-beings) is generated and because of it all sorts of delusion-attachment-aversion etc. tendencies do not arise. Hence the tendencies of delusion-attachment aversion found from beginingless time because of ignorance get finished, which were caused due to imaginary and false I-ness and

mine-ness in the non-self (other than self-soul) substances and our soul attains liberation for endless time by freeing the self totally from all sorts of sorrows and miseries and achieving supreme-blissful disembodied Siddha state.

Thus in this universe, the Jainism alone is the only pathway of attaining liberation which is full of infinite bliss and infinite peace.

Liberation in Jain philosophy is based on the adamantine substratum of 'Anekanta Siddhanta'- multifaceted doctrine, because 'Anekanta' is the only correct way of viewing a substance as it keeps the world-phenomenon fully systematic. Due to this fact Jainism is called 'Anekant-Ketan' (flag), i.e., 'Anekant' is the flag of Jainism.

In fact, all other world religions and philosophies are totally unaware of this multifarious principle and contrarily they condemn it fully. Some philosophies regard it as a compromising doctrine and equate it to hearsay rumour or gossip. In this context their verdict is that- 'whatever I say, that alone is not correct but whatever other philosophies or persons say that also is correct from some point of view. But just with the aim to keep pleased others philosophies this theory of false compromise is absolutely untrue, baseless and impracticable.

The tenets of other philosophies because of their being mutually contradictory there is no possibility of compromise at any level. Therefore, in the 'Anekanta'(multifaceted) doctrine the proposal of compromise proves whimsical and false. The multifaceted substantial system and knowledge of Jainism have been proved true everywhere and at all times and will continue proving true for endless period.

This 'Anekanta-Siddhanta' is not some temporal idea but it is a great principle, it is the bestower of non-temporal liberation. The etymological meaning of 'Anekanta' is 'Anek' (Many) + 'Anta'i.e. Dharmas(facets)- that having many facets or aspects is 'Anekanta'. These traits(facets) are infinite in a substance. Each substance of this universe is possessed of innumerable pairs of 'is' (Asti) and 'is not' (Nasti) etc. forms of mutually contradictory two traits. These mutually contradictory pairs of 'dharmas'(facets) are the cause of strong structure of a substance. The 'Asti' (Isness) trait keeps the substance intact by maintaining the inner existence and function (with respect to its substance, space (region), time and essence) and just opposite to this is the 'Nasti' (is not) trait, dwelling inside the same substance, keeps the substance fully safe from the external invasion. Thus each substance is "Anekantamaya" (full of multifarious facets) in each moment, by virtue of having 'Asti' and 'Nasti' traits. In this way many opposite traits exist in a substance consistently similar to that of East and West directions.

In the appendix of 'Atma-Khyati' commentary on Aacharya Kund-Kunda's Samayasara scripture, Aacharya Amrutchandra has defined 'Anekanta' as under:- A substance which is 'Tat' (that) the same is 'Atat' (not that), which is 'Ek' (one) the same is 'Anek' (not one, many), which is 'Sat' (existent) the same is 'Asat' (not existent), which is 'Nitya' (permanent) the same is 'Anitya' (not permanent). In this manner, the manifestation of many contradictory pairs of traits in a substance which impart substanceness to it is termed as 'Anekanta'.

The above pairs of contradictory traits are analogous to a country's home -minister and foreign affairs minister. The home-minister is to safeguard the country's wealth and peace where as the foreign affairs minister is to safeguard the country from external violation, attack, and interference. Thus, the home-minister acts at the place of 'Asti' (isness) trait. If besides the home-minister there is no foreign affairs minister working opposite to him, then in the absence of obstruction to external violation etc. the country's law and order position will be disturbed and finished. Hence the foreign affairs minister acts at the place of 'Nasti' (is not) trait. In this manner, country's establishment runs beautifully and undisturbedly only because of mutually contradictory two powers.

In the sameway, analogy of R.B.C. (red blood cells) and W.B.C. (white blood cells) in a body can be given respectively for 'Asti' and 'Nasti' traits which, though mutually contradictory, are meant for safeguarding our health. Thus, in the light of 'Anekanta' the existence of both the traits or powers remain unobstructed. These contradictory traits are also termed as the relative aspects but even on being relative they are independent. These are interpreted from two different angles; e.g.- A substance from its quadrangle point of view (swa-Chatushtaya) is 'Asti' (existent) and from "the absence of all the other things in it" point of view, i.e. from the absence of others' quadrangle (Para-Chatushtaya) point of view, it is 'Nasti' (not existent). For example- in a person, there are mutually opposite aspects, i.e., he is simultaneously a father, son, husband, brother, uncle, and nephew etc., according to relationship with respective relatives. The person, if father in a particular relationship, cannot be son in that relationship. In worldly affairs also, the person manifests the principle of 'Anekant'.

This interpretation of 'Anekanta' form of substance is done through 'SYADVADA' or 'Shrut-Jnan'. 'Syadvada' explains the multifarious nature of a substance with respect to different view points (called 'Nayas'). 'Anekanta' is expressible and the 'Syadvada' is its expression. Since many traits of a substance cannot be narrated together with a single word or a single sentence, so one trait or aspect is highlighted at the cost of the rest. While listening about one aspect which is highlighted, one should not get the impression that others are denied. In fact, this is taken care of by use of the word "SYAT". 'SYAT' means with respect to, somehow or from a particular point of view etc. and 'Vada' means to express, to state about a thing. In fact "Syadvada" = (SYAT + VADA) is 'Shrut-Jnan ' only(scriptural or psychic knowledge) only; but without words or speech the nature of substance can not be comprehended properly, hence this the style of narration is called 'Syadvada' or 'Naya-Jnan' – the stand-point or view-point of knowing a thing.

The 'Praman Jnan' is valid comprehensive knowledge about a thing which engulfs all aspects of that substance in a moment without any notion of any particular view-point. It must be borne in mind that 'Syadvada' is not a doctrine of probability. It is very much a certainty. And 'Anekanta' does not mean that all reverse (totally opposite) traits can exist in a substance simultaneously but it accepts only those consistent traits which establish the objectivity or substanceness. If someone sticks only to one of the many aspects of a thing

ignoring and rejecting all the others, he can never realise the truth. It is therefore, utmost necessary to comprehend perfectly well the 'Anekanta' (Logic) as qualified by the term 'Syat'.

In appendix to Atma-khyati, Aacharya Amrut Chandra has explained the characteristics of "Syad-vada" and its glory as under:-

"Syadvada is an unshakable prerogative of omniscient 'Arhat' to establish the entity of all substances. It states that everything is multidimensional with infinite attributes. Thus, what is stated under the ambit of 'Syadvad' is not false imaginative expression but is exactly in accordance with the multifaceted nature of the substance."

Along with these infinite traits or 'Dharmas', infinite attributes or 'Gunas' also exist in each substance. There is difference in the nature of 'Dharma' (trait or facet) and 'Guna' (attribute). Dharmas are mutually contradictory, because of their being relative to one another, the pairs of two traits exist together and they do not modify or undergo any change. The strong reason of this is that, there lies the possibility of blemish in the modification (Paryaya), so what would happen if the other traits like 'Nitya Dharma' (permanent trait) undergo blemish modification? It would be impermanent certainly, and on happening so the whole of the substance will get destroyed along with impermanent modification. The attributes ('Gunas') are neither relative nor mutually contradictory but each attribute is independent and just like sugar and its sweetness, infinite attributes exist embodied in the substance, the substance is always realized indivisible one as a whole.

Having known the multifarious nature of the substance and that of the universe by the 'Anekantatmak Jnan' (multifaceted knowledge) what is left is the realization of the self-consciousness only. In self realization, the subject of belief (Shraddha) and knowledge (Jnan) remains only the embodiment of attributes, pure eternal soul substance. Infinite traits (Dharmas) and momentary modifications are not included in it; because the traits (Dharmas) are mutually contradictory and the modifications are momentary and transient, therefore in its reflection, origination of unsteady thoughts is sure to take place. (Moreover) many traits are correlated with modifications also, that is why, the self realization can not be unwavering and steady, if these traits are included in its subject.

Jain philosophy accepts each substance having possessed of trinity qualities of origination Utpad (appearace of newer modification), destruction Vyaya (disappearance of former modification) and permanence Dhrauvya (imperishableness), in one and the same moment; i.e., appearance of newer mode, disappearance of former mode and the substance's remaining eternally permanent-just like a wave that appears in sea and next very moment it disappears and the sea remains as it is complete one. Substance and modification both are though indivisible parts of the same very thing (but since) modification is transient in nature, so it is not included in the subject of belief as well as in the practical way of self realisation because with its destruction one feels destruction of his own existence and consequently dire perplexity is caused. For example- the king of forest, the tiger is imprisoned in the cage by the ring master in circus by repeated lashings, the tiger dances on the instructions of ring

master and remains most unhappy, the only cause of tiger's extreme unhappiness is his subjugation of momentary mode i.e. acceptance of supremacy of ring master and not realising his own tremendous strength by realising which he can tear apart the ring master. Here someone may ask –what would be objectionable or wrong if the life span of a modification be of infinite time instead of one moment? The Answer is this that –'that modification (paryaya) would become eternal substance by ending its momentary existence. (But this is not possible because the paryaya's life-span is of one moment only).

Another very important question may be this also, that the object is always found as a substance with modification, hence without modification the realisation of the soul-substance will be incomplete, so in the absence of experience of complete substance, only perplexity will be experienced in place of spiritual bliss? (But) This question too is not thoughtful in the absence of right knowledge about the substantial phenomenon, because substance and modification are indivisible parts, they have inter-relationship too empirically, yet due to their nature being mutually opposite to one another, they really have no relativity. That is why, the soul substance, even on its modification remaining blemished by delusion-attachment-aversion right from the beginningless time,has remained eternally pure the same very one, and even on getting its modification purified in the form of right belief etc, the purity of the soul substance being constant, it, without taking even a slight part from its pure modification, remains the same one uninfluenced and independent, from modifications. In this way, without modification the completeness of pure soul substance alone is doubtless. Hence, it is proved that the realization of one eternal complete soul-substance is blissful only.

Therefore not including the mutually relative traits (Dharmas) and momentary modifications in the substance, the subject of right belief (the pure modification of belief attribute) and that of the self-realisation is the only eternal conscious-self replete with infinite indestructible attributes (Gunas) and in this soul substance the unwavering self absorption form of self realization only is the bestower of infinite bliss.

It is irrefutable truth that the importance of infinite mutually relative traits (Dharmas) is not reduced at all by not including them in the pure conscious entity which is the subject of self-realization, because these infinite traits (Dharmas) retain their respective importance by inducing substanceness within their respective ambits.

Thus, having known the 'Anekanta' nature of the universe by means of 'syadvada' form of scriptural comprehensive knowledge (shrut jnan Praman) one should evolve boundless, blissful and uninterrupted benedictory belief and realize one's own highly pleasant and eternal "Chaitanya Dravya" (self soul substance) through "Shuddha-Naya" (absolutely pure stand-point of shrut jnan) and this is the extremity of the fruit of (knowing) the glorious 'Anekanta' doctrine and attaining infinite blissful 'siddha-state' which is the last ultimate state of the self.

Victory to Jainism

Deolali
4.12.10

Translated by
Br. H.C. Jain 'HEM'

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के संबंध में

अभिलेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चःारीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

(चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख)

अर्थ – कुन्द-पुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं जो चारणों के (चारणऋद्धिधारी महामुनियों के) सुन्दर हस्त कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वन्द्य नहीं हैं ?

....................................कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥

(विंध्यगिरि पर्वत का शिलालेख)

अर्थ – यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रज:स्थान को – भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करते थे, उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि वे अन्तर में तथा बाह्य में रज से (अपनी) अत्यंत अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अन्तरङ्ग में रागादिक मल से और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥ (दर्शनसार)

अर्थ – यदि श्री सीमंधरस्वामी (महाविदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुये दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) तत्त्वबोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते?

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं, उसके लिये मैं आपको अत्यंत भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

(श्रीमद् राजचंद्र)

The Upright Man

(सम्यग्दृष्टि पुरुष)

The man of life upright,
Whose guiltless heart is free,
From all dishonest deeds,
or thoughts of vanity. 1

The man whose silent days,
In harmless joys are spent,
Whom hopes cannot delude,
Nor sorrow discontent. 2

That man needs neither towers,
Nor armour for defence,
Nor secret vaults to fly,
From thunder's violence. 3

He only can behold,
With unaffrighted eyes,
The horrors of the deep,
And the terrors of the skies. 4

His soul is free from passions and emotions,
Subduers of all the worldly beings,
Away from senses light eternal,
He every moment resides in it. 5

आत्मध्यान से सम्यक्त्व

ह्न आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के ध्यान द्वारा ही प्रकट होता है। ध्यान के बिना धर्म नहीं होता, मोक्षमार्ग भी नहीं होता।

प्रश्न : इस काल में क्या आत्मा का ध्यान होता है?

उत्तर : हाँ, इस काल में भी आत्मा का ध्यान होता है। आत्मा के ध्यान में ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। जो आत्मा के ध्यान का निषेध करता है, वह सम्यग्दर्शन का ही निषेध करने जैसा है। जो आत्मा के ध्यान को नहीं स्वीकार करता वह सम्यग्दर्शन रहित है, मिथ्यादृष्टि है, उसमें आत्मा की शुद्धि प्रगट करने की योग्यता नहीं है।

यह मिथ्यादृष्टि जीव संसार के सुख में ही लीन रहता है अर्थात् वह राग में ही लीन रहता है। इसलिए उसे संगरहित आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का याने ध्यान का पता नहीं है। वह तो राग में ही लीन होकर शुभराग को ही धर्म मान बैठा है। उसे रागरहित शुद्धोपयोग रूप ध्यान कहाँ से दिखेगा? अरे भाई! अभी तुम्हारा आत्मा है या नहीं? आत्मा है, तो उसका ध्यान भी हो सकता है।

अरे जीव! आत्मा का ध्यान नहीं होता तो तू सम्यग्दर्शन किस विधि से प्रगट करेगा? और सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, साधुपना तू कहाँ से लायेगा?

इस काल में मुनिपना तो होता है और आत्मा का ध्यान नहीं होता - यह कैसी बात है? आत्मा का ध्यान नहीं होता तो मुनिपना कहाँ से आया? अकेले शुभराग से सम्यग्दर्शन या साधुपना कभी नहीं होता।

'ध्यान नहीं होता है' - ऐसा कहने वाले को सम्यग्दर्शन ही नहीं होता। अर्थात् जिसप्रकार अभव्य को कभी शुद्धता प्रगट नहीं होती उसीप्रकार ध्यान का निषेध करने वाले को भी आत्मा के ध्यान बिना कभी शुद्धता प्रगट नहीं होती। तीनों काल में शुद्धता के निर्विकल्प ध्यान द्वारा ही मोक्षमार्ग की शुरुआत होती है, उसके बिना मोक्षमार्ग का अंश भी नहीं होता है। पंचमकाल का बहाना बनाकर मूढ़ जीव आत्मा की रुचि छोड़ देते हैं और विषयों में लीन रहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि अरे भाई! इस भरतक्षेत्र में आज भी आत्मा का प्रेम करके उसे धर्मध्यान हो जाता है और उसको अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो जाता है। इन्द्रिय सुखों की रुचि छोड़कर आत्मा की रुचि कर उसके सन्मुख होकर उसका ध्यान कर।

श्रावक को भी आत्मा के ध्यान का उपदेश दिया है - हे श्रावक! सम्यक्त्व प्रगट करने के लिए शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याओ।

जो शुभराग की क्रिया को धर्म मानता है और आत्मा के ध्यान का निषेध करता है उस जीव को तो राग में ही अटकना रह गया। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! राग से पार ऐसे शुद्धात्मा का निर्विकल्प ध्यान और आनन्द का अनुभव आज भी हो सकता है – उसका तू निषेध नहीं कर, किन्तु होंश से स्वीकार करके अन्तर्मुख झुकने का प्रयत्न कर।

यह आत्मा की बात तुझे इस काल में सुनने को मिली और तू उसमें अन्तर्मुख नहीं हो सकेगा – ऐसा कहकर उसका निषेध करेगा तो तुझे आत्मा की शुद्धता या आनन्द प्रगट नहीं होगा और मोक्षमार्ग का यह अवसर तू चूक जायेगा। इसलिए आत्मा की रुचि करके अर्थात् रागादि विषयों की रुचि छोड़कर आत्मा के धर्मध्यान का प्रयत्न कर। धर्मध्यान के बिना जीव की श्रद्धा सच्ची नहीं होती, क्योंकि ध्यान के द्वारा अन्तर में जीव का अनुभव किए बिना उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं होती। राग में लीन रहते हुए आत्मा की श्रद्धा नहीं हो सकती अर्थात् धर्म नहीं हो सकता है। भाई! इस काल में तुझे धर्म करना है या नहीं? वह धर्म आत्मा के ध्यान द्वारा ही होता है और आत्मा का धर्मध्यान इस काल में भी हो सकता है।

प्रवचनसार के अन्त में कहा है कि हे जीव! अतीन्द्रिय ज्ञानरूप और अतीन्द्रिय सुखरूप आत्मा हमने जोर-शोर से बताया है, इसलिए ऐसे आत्मा का तुम आज ही अनुभव करो, आज ध्यान के द्वारा ऐसा अनुभव हो सकता है, इसलिए तुम आज ही उसका अनुभव करो, ध्यान में उसे ध्याओ।

अरे, पंचमकाल में आत्मा का ध्यान नहीं होता हो, तो यह सब शुद्धात्मा का उपदेश किसे-क्यों दिया है? ज्ञान-आनन्दमय, इन्द्रियातीत महान पदार्थ आत्मा है – ऐसा जानकार ज्ञानी अपने अन्तर में उसका ध्यान करता है। शुद्धात्मा के आश्रय से सच्चा धर्मध्यान आज भी होता है। साक्षात् केवलज्ञान और मोक्ष जिससे होता है – ऐसा ऊँचा शुक्लध्यान नहीं होता, परन्तु जिससे शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है ऐसा निश्चय धर्मध्यान तो आज भी होता है।

ऐसे ध्यान के द्वारा मोक्षमार्ग का आराधक होकर जीव एक भवावतारी हो सकता है। यहाँ से स्वर्ग में जाय और पश्चात् मनुष्य होकर चारित्रदशा में शुक्लध्यान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आज धर्मध्यान का भी जो निषेध करता है वह मोक्षमार्ग का ही निषेध करता है और आत्मा की शुद्धि का ही निषेध करता है। भाई! अपने आत्मा में उपयोग को जोड़। जिसप्रकार पर विषयों को ध्येय बनाकर उनमें उपयोग को एकाग्र करता है, उसीप्रकार अपने आत्मा को अन्तर में ध्येय बनाकर स्वविषय में उपयोग को एकाग्र कर! इसप्रकार तुझे धर्मध्यान होगा। इस धर्मध्यान से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धता प्रगट होती है, वह धर्म है, वह मोक्षमार्ग है। हे भाई! ऐसे मोक्षमार्ग को आज प्रारम्भ कर देगा तो एकाद भव में पूरा हो जायेगा। यदि आज उसका निषेध करेगा और विषयों में प्रवर्तेगा तो तुझे मोक्षमार्ग कहाँ से होगा?

चौथे काल में ही कहीं आत्मा में उपयोग की एकाग्रता के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता था, उस काल

में भी आत्मा में उपयोग की एकाग्रता रूप धर्मध्यान के द्वारा ही मोक्षमार्ग होता था और आज भी इस धर्मध्यान के द्वारा ही मोक्षमार्ग होता है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव अमृतचन्द्राचार्य देव आदि कहते हैं कि ऐसा मोक्षमार्ग हमने अपनी आत्मा में अंगीकार किया है और आप भी उसे अंगीकार करो, आज ही अंगीकार करो। पंचमकाल में निर्विकल्प आनन्दमय धर्मध्यानी संतों को नमस्कार हो।

सन्दर्भ : मोक्षप्राभृत प्रवचन से

आत्मधर्म गुजराती का अनुवाद, वर्ष 27, अंक 12, अक्टूबर 1970

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु॥४१२॥

तू स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में॥४१२॥

गाथार्थ :– (हे भव्य!) **[मोक्षपथे]** तू मोक्षमार्ग में **[आत्मानं स्थापय]** अपने आत्मा को स्थापित कर, **[तं च एव ध्यायस्व]** उसी का ध्यान कर, **[तं चेतयस्व]** उसी को चेत –अनुभव कर **[तत्र एव नित्यं विहर]** और उसी में निरन्तर विहार कर; **[अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः]** अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

टीका :– (हे भव्य !) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में – राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर, तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत – अनुभव कर; तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा अर्थात् (परिणामीपने के द्वारा) तन्मय परिणामवाला (दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर; तथा ज्ञानरूप एक को अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में किंचित् मात्र भी विहार मत कर।

भावार्थ :– परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वही मोक्षमार्ग है। उसी में (दर्शन-ज्ञान-चारित्र में) आत्मा को स्थापित करना चाहिए, उसी का ध्यान करना चाहिए, उसी का अनुभव करना चाहिए और उसी में विहार (प्रवर्तन) करना चाहिए, अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिये। यहाँ परमार्थ से यही उपदेश है कि निश्चय मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहार में ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए॥४१२॥

श्री समयसार स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता बहावी सुधा-तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी।
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुन्द संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी॥

(अनुष्टुभ्)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या।
ग्रंथाधिराज ! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या॥

(शिखरिणी)

अहो ! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नितरती,
मुमुक्षु ने पाती अमृतरस अञ्जलि भरीभरी।
अनादिनी मूर्छा विष-तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरुप भणी दौड़े परिणती॥

(शार्दूलविक्रीडित)

तूं छे निश्चयग्रंथ भङ्ग सगला व्यवहारना भेदवा,
तूं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनीं संधि सहु छेदवा।
साथी साधकनो तूं भानु जगनो संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तूं पंथ मुक्ति तणो॥

(वसंततिलका)

सूण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय।
तूं रूचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तूं रीझतां सकल ज्ञायकदेव रीझे॥

(अनुष्टुभ्)

बनावूं पत्र कुन्दननां, रत्नों ना अक्षरो लखी।
तथापि कुन्दसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी॥

शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को तथा उनके भावों को एवं कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, अत: इसका त्याग करना चाहिए।

और निश्चयनय उसी को यथावत् निरूपण करता है, तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता। इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, अत: उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो, जिनागम में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा, उसका क्या कारण ?

उत्तर - जिनागम में कहीं तो निश्चय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो सत्यार्थ ''इसी प्रकार है'' – ऐसा समझना चाहिए। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए कथन किया है, उसे ''ऐसा नहीं है'' किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है – ऐसा जानना चाहिए।

और इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है, किन्तु दोनों नयों के व्याख्यान (कथन–विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर ''इसप्रकार भी है और इसप्रकार भी है'' – इसप्रकार भ्रमरूप प्रर्वतने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना कहा नहीं है।

प्रश्न - यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनागम में उसका उपदेश क्यों दिया है? एकमात्र निश्चय का ही निरूपण करना चाहिए था।

उत्तर - ऐसा ही तर्क इस श्री समयसार में भी करते हुए यह उत्तर दिया है कि – ''जैसे किसी अनार्यम्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश है।''

और फिर इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि – '' इसप्रकार निश्चय को अंगीकार कराने के लिए व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

– श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक

समयसार गाथा ३८ (महत्त्वपूर्ण)

(भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर आत्मा का परमार्थ दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणमन हुआ।) अब इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं :–

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

गाथार्थ :– दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि **[खलु]** निश्चय से **[अहम्]** मैं **[एकः]** एक हूँ, **[शुद्धः]** शुद्ध हूँ, **[दर्शनज्ञानमयः]** दर्शन-ज्ञानमय हूँ, **[सदा अरूपी]** सदा अरूपी हूँ; **[किंचित् अपि अन्यत्]** किंचित्‌मात्र भी अन्य परद्रव्य **[परमाणुमात्रं अपि]** परमाणुमात्र भी **[मम न अपि अस्ति]** मेरा नहीं है – यह निश्चय है।

टीका :– जो अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाया जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे इस न्याय से, अपने परमेश्वर (अनन्त सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्त्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता इसलिए मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीव के विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता इसलिये मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ इसलिये परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुये ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर मुझे पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर, पुनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है॥३८॥

श्री वीतरागायसर्वज्ञदेवाय नमः

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः॥

अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

श्री परमगुरवे नमः परम्पराचार्यगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसंबंधकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीसमयसारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य **आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचितम्।**

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु !

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥
सर्वमंगल मांगल्यं सर्वकल्याण कारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्॥

ॐ

नमः समयसाराय

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

श्री

समयसार

समयपाहुड़ – समयप्राभृत

पूर्वरंग

श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति संस्कृत टीका

मङ्गलाचरण

(अनुष्टुभ्)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥१॥

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत मूल गाथाओं और श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि कृत आत्मख्याति नामक टीका की महान भाषा टीकाकार आध्यात्मिक विद्वान पण्डित श्री जयचन्दजी सा. छाबड़ा कृत हिन्दी भाषा वचनिका

मङ्गलाचरण

श्री परमातम को प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय।
समयसार शासन करूँ, देश-वचनमय भाय॥१॥
शब्दब्रह्म परब्रह्म कै, वाचक-वाच्य नियोग।
मंगलरूप प्रसिद्ध है, नमों धर्म-धनभोग॥२॥
नय नय लहइ सार शुभवार, पय पय दहइ मार दुखकार।
लय लय गहइ पार भवधार, जय जय समयसार अविकार॥३॥

शब्द अर्थ अरु ज्ञान समय त्रय आगम गाये,
मत सिद्धान्त रु काल भेद त्रय नाम बताये।
इनहिं आदि शुभ अर्थ समय वच के सुनिये बहु,
अर्थसमय में जीव नाम है सार सुनहु सहु।
तातैं जु सार बिन कर्ममल शुद्ध जीव शुध नय कहै।
इस ग्रन्थ माँहिं कथनी सबै समयसार बुधजन गहै।।४।।

नामादिक छह ग्रन्थमुख, तामें मंगल सार।
विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार।।५।।

समयसार जिनराज है, स्याद्वाद जिनवैन।
मुद्रा जिन निरग्रन्थता, नमूँ करैं सब चैन।।६।।

प्रथम, संस्कृत टीकाकार श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगल के लिये इष्टदेव को नमस्कार करते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[नमः समयसाराय]** 'समय' अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा – उसे मेरा नमस्कार हो। वह कैसा है ? **[भावाय]** शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है। इस विशेषणपद से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खंडित हो गया। और वह कैसा है? **[चित्स्वभावाय]** जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है। इस विशेषण से गुण-गुणी का सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकों का निषेध हो गया। और वह कैसा है ? **[स्वानुभूत्या चकासते]** अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाश करता है, अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है, प्रगट करता है – इस विशेषण से आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकर के भेदवाले मीमांसकों के मत का खण्डन हो गया तथा ज्ञान अन्यज्ञान से जाना जा सकता है – स्वयं अपने को नहीं जानता, ऐसा माननेवाले नैयायिकों का भी प्रतिषेध हो गया। और वह कैसा है ? **[सर्वभावान्तरच्छिदे]** स्वतः अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थों को सर्वक्षेत्र-काल सम्बन्धी सर्व विशेषणों के साथ एक ही समय में जाननेवाला है। इस विशेषण से सर्वज्ञ का अभाव माननेवाले मीमांसक आदि का निराकरण हो गया। –इसप्रकार के विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है।

भावार्थ :– यहाँ मंगल के लिये शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उसका समाधान इसप्रकार है – वास्तव में इष्टदेव का सामान्य स्वरूप सर्व कर्म रहित, सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध आत्मा ही है; इसलिये इस अध्यात्म ग्रन्थ में 'समयसार' कहने से इसमें इष्टदेव का समावेश हो गया। तथा एक ही नाम लेने में अन्यमतवादी मतपक्ष का विवाद करते हैं, उन सबका निराकरण समयसार के विशेषणों से किया है। और अन्यवादीजन अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्द का अर्थ घटित नहीं होता, उसमें अनेक बाधाएँ आती

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥२॥

हैं। और स्याद्वादी जैनों को तो सर्वज्ञ-वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है; फिर चाहे भले ही इष्टदेव को परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, परब्रह्म, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान, समयसार – इत्यादि हजारों नामों से कहो; वे सब नाम कथंचित् सत्यार्थ हैं। सर्वथा एकान्तवादियों को भिन्न नामों में विरोध है, स्याद्वादी को कोई विरोध नहीं है। इसलिये अर्थ को यथार्थ समझना चाहिए॥१॥

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप।
सब ज्ञाता लखिकैं नमौं, समयसार सब भूप॥१॥

अब सरस्वती को नमस्कार करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अनेकान्तमयी मूर्तिः**] जिसमें अनेक अन्त (धर्म) हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचन–उसमयी मूर्ति [**नित्यम् एव**] सदा ही [**प्रकाशताम्**] प्रकाशरूप हो। [**अनंतधर्मणः प्रत्यगात्मनः तत्त्वं**] जो अनन्त धर्मोंवाला है और परद्रव्यों से तथा परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार है – ऐसे आत्मा के तत्त्व को अर्थात् असाधारण–सजातीय-विजातीय द्रव्यों से विलक्षण – निजस्वरूप का [**पश्यन्ती**] वह मूर्ति अवलोकन करती है॥२॥

भावार्थ :– यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप से नमस्कार किया है। लौकिक में जो सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है वह यथार्थ नहीं है, इसलिये यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है। सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं; वह अनन्त धर्म सहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह सरस्वती की मूर्ति है और उसी के अनुसार जो श्रुतज्ञान है वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है, इसलिये वह भी सरस्वती की मूर्ति है। और द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी उसकी मूर्ति है; क्योंकि वह वचनों के द्वारा अनेक धर्मोंवाले आत्मा को बतलाती है। इसप्रकार समस्त पदार्थों के तत्त्व को बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है; इसीलिये सरस्वती के वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुत से नाम कहे जाते हैं। यह सरस्वती की मूर्ति अनन्तधर्मों को 'स्यात्' पद से एक धर्मी में अविरोधरूप से साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वती की मूर्ति को अन्यथा (प्रकारान्तर से) स्थापित करते हैं, किन्तु वह पदार्थ को सत्यार्थ कहनेवाली नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा को अनन्त धर्मोंवाला कहा है, सो उसमें वे अनन्त धर्म कौन-कौन से हैं ? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व,

(मालिनी)

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व इत्यादि (धर्म) तो गुण हैं; और उन गुणों का तीनों कालों में समय-समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं; और वस्तु में एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर हैं, किन्तु अन्य विशेषरूप अनन्त धर्म भी हैं जो कि वचन के विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है, इसलिये उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं।

आत्मा के अनन्तधर्मों में चेतनत्व असाधारण धर्म है, वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है। सजातीय जीवद्रव्य अनंत हैं, उनमें भी यद्यपि चेतनत्व है तथापि सबका चेतनत्व निजस्वरूप से भिन्न-भिन्न कहा है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशभेद होने से वह किसी का किसी में नहीं मिलता। वह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मों में व्यापक है, इसलिये उसे आत्मा का तत्त्व कहा है; उसे यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है। इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियों का कल्याण होता है, इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार इसके प्रति आशीर्वादरूप वचन कहा॥२॥

अब टीकाकार इस ग्रंथ का व्याख्यान करने का फल चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं :–

श्लोकार्थ :– श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि [**समयसार-व्याख्यया एव**] इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रंथ) की व्याख्या (टीका) से ही [**मम अनुभूतेः**] मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवनरूप परिणति की [**परमविशुद्धिः**] परमविशुद्धि (समस्त रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) [**भवतु**] हो। कैसी है यह मेरी परिणति ? [**परपरिणतिहेतोः मोहनाम्नः अनुभावात्**] परपरिणति का कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से [**अविरतम्-अनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः**] जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है। और मैं [**शुद्ध-चिन्मात्र-मूर्तेः**] द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।

भावार्थ :– आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, किन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर के मैली है – रागादिस्वरूप हो रही है। इसलिए शुद्ध आत्मा की कथनीरूप इस समयसार ग्रंथ की टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो, मेरे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो। मैं दूसरा कुछ भी ख्याति, लाभ, पूजादिक नहीं चाहता। इसप्रकार आचार्य ने टीका करने की प्रतिज्ञागर्भित उसके फल की प्रार्थना की है॥३॥

अथ सूत्रावतार: –

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं[1] गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

आत्मख्याति टीका – अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादिभावांतरपर-परिवृत्तिविश्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमान विलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्ग संज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवत: सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मन: प्रतिच्छंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभि: स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्या-र्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥१॥

अब मूल गाथा सूत्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं–

(हरिगीतिका छन्द)

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाये हुए सब सिद्ध को।
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो ॥१॥

गाथार्थ :– [**ध्रुवां**] ध्रुव, [**अचलां**] अचल और [**अनौपम्यां**] अनुपम – इन तीन विशेषणों से युक्त [**गतिं**] गति को [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुए [**सर्वसिद्धान्**] सर्व सिद्धों को [**वंदित्वा**] नमस्कार करके [**अहो**] अहो ! [**श्रुतकेवलिभणितं**] श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित [**इदं**] यह [**समयप्राभृतं**] समयसार नामक प्राभृत [**वक्ष्यामि**] कहूँगा।

टीका :– यहाँ (संस्कृत टीका में) 'अथ' शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। ग्रंथ के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों को भाव-द्रव्य स्तुति से अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में स्थापित करके इस समय नामक प्राभृत का भाववचन और द्रव्यवचन से परिभाषण (व्याख्यान) प्रारम्भ करते हैं – इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं – जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति – मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है, इसलिए ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है। चारों गतियाँ परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं। 'ध्रुव' विशेषण से पंचमगति में इस विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया। और वह गति अनादिकाल से परभावों के निमित्त से होनेवाले पर में भ्रमण, उसकी विश्रांति (अभाव) के वश अचलता को प्राप्त है। इस विशेषण से, चारों गतियों में पर-निमित्त से जो भ्रमण होता है, उसका (पंचमगति में) व्यवच्छेद हो गया। और वह जगत् में जो समस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं उनसे विलक्षण–

१. पाठान्तर – ध्रुवममलमणोवमं

अद्‌भुत महिमावाली है, इसलिए उसे किसी की उपमा नहीं मिल सकती। इस विशेषण से चारों गतियों में जो परस्पर कथंचित् समानता पायी जाती है, उसका (पंचमगति में) निराकरण हो गया। और उस गति का नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं; मोक्षगति इस वर्ग में नहीं है, इसलिए उसे अपवर्ग कहा है। ऐसी पंचमगति को सिद्ध भगवान प्राप्त हुए हैं। उन्हें अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करके, समय का (सर्व पदार्थों का अथवा जीव पदार्थ का) प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हत्-प्रवचन का अवयव है उसका, अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह का नाश करने के लिए परिभाषण करता हूँ। वह अर्हत्-प्रवचन का अवयव अनादि-निधन परमागम शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् करनेवाले केवली भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुननेवाले तथा स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली गणधरदेवों के द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त है। यह अन्यवादियों के आगम की भाँति छद्मस्थ (अल्पज्ञानियों) की कल्पनामात्र नहीं है कि जिससे अप्रमाण हो।

भावार्थ :– गाथासूत्र में आचार्यदेव ने 'वक्ष्यामि' कहा है, उसका अर्थ टीकाकार ने 'वच्- परिभाषणे' धातु से परिभाषण किया है। उसका आशय इसप्रकार सूचित होता है कि चौदह पूर्वों में से ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व में बारह 'वस्तु' अधिकार हैं, उनमें भी एक-एक के बीस-बीस 'प्राभृत' अधिकार हैं। उनमें से दशवें वस्तु में 'समय' नामक जो प्राभृत है, उसके मूलसूत्रों के शब्दों का ज्ञान पहले बड़े आचार्यों को था और उसके अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव को भी था। उन्होंने समयप्राभृत का परिभाषण किया – परिभाषासूत्र बनाया। सूत्र की दश जातियाँ कही गई हैं, उनमें से एक 'परिभाषा' जाति भी है। जो अधिकार को अर्थ के द्वारा यथास्थान सूचित करे वह 'परिभाषा' कहलाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृत का परिभाषण करते हैं अर्थात् वे समयप्राभृत के अर्थ को ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषासूत्र रचते हैं। आचार्य ने मंगल के लिए सिद्धों को नमस्कार किया है। संसारी के लिए शुद्ध आत्मा साध्य है और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा हैं, इसलिए उन्हें नमस्कार करना उचित है। यहाँ किसी इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? इसकी चर्चा टीकाकार के मंगलाचरण पर की गई है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिए। सिद्धों को 'सर्व' विशेषण देकर यह अभिप्राय बताया है कि सिद्ध अनन्त हैं; इससे यह माननेवाले अन्यमतियों का खण्डन हो गया कि 'शुद्ध आत्मा एक ही है'। 'श्रुतकेवली' शब्द के अर्थ में (१) श्रुत अर्थात् अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम और केवली अर्थात् सर्वज्ञदेव कहे गये हैं, तथा (२) श्रुत अपेक्षा से केवली समान ऐसे गणधरदेवादि विशिष्ट श्रुतज्ञानधर कहे गये हैं; उनसे समयप्राभृत की उत्पत्ति बताई गई है। इसप्रकार ग्रंथ की प्रमाणता बताई है और अपनी बुद्धि से कल्पित कहने का निषेध किया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप चाहे जैसा कहकर विवाद करते हैं, उनका असत्यार्थपन बताया है।

इस ग्रंथ के अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रकट ही हैं। शुद्ध आत्मा का स्वरूप 'अभिधेय' (कहने योग्य) है। उसके वाचक इस ग्रंथ में जो शब्द हैं उनका और शुद्ध आत्मा का वाचक-वाच्यरूप सम्बन्ध है सो 'सम्बन्ध' है। और शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति का होना 'प्रयोजन' है॥१॥

श्रीमत् जयसेनाचार्यकृत शुद्धात्मानुभूतिलक्षण तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका

मङ्गलाचरण

वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम्।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम्॥

समूहपीठिका – अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्ताररुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं श्री **कुंदकुंदाचार्यदेव**-निर्मिते समयसारप्राभृतग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यानं क्रियते।

तत्रादौ **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** इति नमस्कारगाथामादिं कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतंत्रगाथाषट्कं भवति। तदनंतरं द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादनरूपेण **'ववहारेणुवदिस्सदि'** इत्यादिगाथासूत्रद्वयम्। अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यवहार-श्रुतकेवलिव्याख्यानमुख्यत्वेन **'जो हि सुदेण'** इत्यादिगाथासूत्रद्वयम्। ततः परं चतुर्थस्थले भेदाभेद-रत्नत्रयभावनार्थं तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च **'णाणम्हि भावणा'** इत्यादिसूत्रद्वयम्। तदनंतरं पंचम स्थले निश्चय-व्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण **'ववहारोऽभूदत्थो'** इत्यादिसूत्रद्वयम्। एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलपःाकेन समयसारपीठिका-व्याख्याने समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ प्रथमतस्तावद्गाथायाः पूर्वार्द्धेन मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्द्धेन तु समयसार-ग्रंथव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति – **'वंदित्तु'** इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते।

श्लोकार्थ – ज्ञान और आनन्दरूप एक (अद्वितीय) सम्पदा के धारक वीतराग जिनेन्द्र देव को नमस्कार करके मैं (जयसेनाचार्य) समयसार शास्त्र की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक वृत्ति (टीका) को कहता हूँ।

समूहपीठिका हिन्दी – अब शुद्धपरमात्मतत्त्व के प्रतिपादन की मुख्यता से विस्तार में रुचि रखनेवाले शिष्यों को प्रतिबोधन (समझाने) के लिए, श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव द्वारा निर्मित समयसार प्राभृत ग्रन्थ में अधिकार की शुद्धिपूर्वक पीठिका (पातनिका) सहित व्याख्यान किया जाता है।

वहाँ आरम्भ में **'वंदित्तु सव्वसिद्धे'** इसप्रकार नमस्कार गाथा से प्रारम्भ कर सूत्रपाठ के क्रम से प्रथम स्थल में स्वतंत्र छह गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् द्वितीय स्थल में भेद-अभेद रत्नत्रय के प्रतिपादन रूप **'ववहारेणुवदिस्सदि'** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। तृतीय स्थल में निश्चय श्रुतकेवली और व्यवहार श्रुतकेवली के कथन की मुख्यता से **'जो हि सुदेण'** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। इसके बाद चतुर्थ स्थल में भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना और भावना का फल प्रतिपादन करने की दृष्टि से **'णाणम्हि भावणा'** इत्यादि दो गाथासूत्र हैं। इसके बाद पंचम स्थल में निश्चयनय तथा व्यवहारनय के व्याख्यान रूप से **'व्यवहारो अभूदत्थो'** इत्यादि दो गाथासूत्र हैं। इसप्रकार १४ गाथाओं में पांच स्थलों द्वारा समयसार पीठिका के व्याख्यान में समुदाय पातनिका (पीठिका) है। उसका विस्तार –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सर्वप्रथम गाथा के पूर्वार्द्ध में मंगल के लिए इष्ट देवता को नमस्कार कर और उत्तरार्द्ध में समयसार ग्रंथ का व्याख्यान करने की प्रतिज्ञा का अभिप्राय मन में धारण कर इस प्रथमसूत्र का प्रतिपादन करते हैं। **'वंदित्तु'** इत्यादि पदखण्डना रूप से व्याख्यान किया जाता है।

वंदित्तु निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मक-द्रव्यनमस्कारेण वंदित्वा। कान् ? **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान्। किं विशिष्टान् ? **पत्ते** प्राप्तान्। काम् ? **गदिं** सिद्धगतिं सिद्धपरिणतिम्। कथंभूताम्? **धुवं** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वराम्। **अमलं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममल रहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलाम्। अथवा **अचलं** इति पाठांतरे द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलाम्। **अणोवमं** निखिलोपमानरहितत्वेन निरुपमामद्भुतस्वस्वभावसहितत्वेनानुपमाम्। एवं पूर्वार्द्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्द्धेन संबंधाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थम् प्रतिज्ञां करोति। **वोच्छामि** वक्ष्यामि। किम् ? **समयपाहुडं** समयप्राभृतं सम्यग् अय: बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समय:। प्राभृतं सारं सार: शुद्धावस्था समयस्यात्मन: प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतम्। **इणं** इदं प्रत्यक्षीभूतम्। **ओ** अहो भव्या:। कथंभूतम् ? **सुदकेवलीभणिदं** प्राकृत-लक्षणबलात्केवलीशब्ददीर्घत्वम्। श्रुते परमागमे केवलिभि: सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलि भणितम्। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति। संबंधाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यन्ते। व्याख्यानं वृत्तिग्रन्थ:, व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति, तयोस्संबंधो व्याख्यानव्याख्येयसंबंध:। सूत्रमभिधानं, सूत्रार्थोऽभिधेय:, तयो: संबंधोऽभिधानाभिधेयसंबंध:। निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्राय: ॥१॥

'**वंदित्तु**' निश्चयनय से अपने में ही आराध्य-आराधक भाव से निर्विकल्प समाधि लक्षणरूप भाव नमस्कार द्वारा परन्तु व्यवहारनय से वचनात्मक द्रव्य नमस्कार द्वारा वन्दन करके। किनको ? '**सव्वसिद्धे**'अर्थात् स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि है लक्षण जिनका ऐसे सभी सिद्धों को। किन विशेषताओं वाले सिद्धों को ? '**पत्ते**' अर्थात् प्राप्त हुए (सिद्धों) को। किसको प्राप्त हुए ? '**गदिं**' अर्थात् सिद्धगति या सिद्धपरिणति को (प्राप्त हुए सिद्धों को)। कैसी है वह सिद्धगति या सिद्धपरिणति ? '**धुवं**' अर्थात् टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप से जो ध्रुव है – अविनश्वर है। '**अमलं**' अर्थात् भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म मल से रहित होने से तथा शुद्धस्वभाव से सहित होने से निर्मल है। अथवा '**अचलं**' ऐसा पाठान्तर है, जिसका अर्थ है द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव ऐसे पांच प्रकार के संसार परिभ्रमण से रहित होने से तथा स्वस्वरूप में निश्चल होने से चलपने से रहित अचल है। (ऐसी है सिद्धगति रूप सिद्धपरिणति) '**अणोवमं**' अर्थात् समस्त उपमानों से रहित होने से उपमा रहित है और अद्भुत स्वस्वभाव सहित होने के कारण अनुपम है। इस तरह गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा (सिद्धों को) नमस्कार करके तथा गाथा के उत्तरार्ध द्वारा सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन की सूचना के लिए प्रतिज्ञा करते हैं कि '**वोच्छामि**' अर्थात् कहूँगा। क्या कहूँगा ? '**समयपाहुडं**' अर्थात् समयप्राभृत को (कहूँगा)। समीचीन ज्ञान जिसके होता है, वह समय – आत्मा है अथवा '**समं**' एकीभाव से, 'अयन' गमन अर्थात् जानना तथा परिणमना जहाँ होता है वह समय – आत्मा है। '**प्राभृत**' का अर्थ 'सार' है और सार शुद्ध अवस्था है। 'समय' का अर्थात् आत्मा का प्राभृत अर्थात् सार वह समयप्राभृत या समयसार है। अथवा समय ही है प्राभृत, वह समयप्राभृत है। '**इणं**' अर्थात् यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है। '**ओ**'! अहो भव्यजनो! कैसा है शुद्धात्मा? (वह समयप्राभृत) '**सुदकेवलीभणिदं**' अर्थात् श्रुतकेवली द्वारा कहा गया है। यहाँ प्राकृतभाषा के नियम अनुसार 'केवली' शब्द दीर्घ है। (शुद्धात्मा) श्रुत या परमागम में केवलियों या सर्वज्ञों द्वारा कहा गया होने से केवली कथित है। अथवा श्रुतकेवलियों के द्वारा अर्थात् गणधरों के द्वारा कहा गया होने से श्रुतकेवली-कथित है। (अब) सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं। (यहाँ) व्याख्यान अर्थात्

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते –

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदा[1] तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं[2] च तं जाण परसमयं॥२॥

जीव: चरित्रदर्शनज्ञानस्थित: तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्‌गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम्॥२॥

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया-सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्व: क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्याय: स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूप: प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्मा-धर्मकालपुद्‌गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेऽपिस्वरूपादप्रच्यवनाट्टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ:

ग्रन्थ की टीका, व्याख्येय अर्थात् उसका प्रतिपादन करने वाले सूत्र – इसप्रकार इन दोनों में व्याख्यान तथा व्याख्येय सम्बन्ध है। सूत्र-अभिधान या वाचक है और सूत्र का अर्थ अभिधेय या वाच्य है, इन दोनों का अभिधान-अभिधेय सम्बन्ध है। तथा निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान से शुद्धात्मा को जानना अथवा शुद्धात्मा की प्राप्ति (अनुभूति) करना ही इसका प्रयोजन है ऐसा अभिप्राय है॥१॥

....

प्रथम गाथा में समय का प्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए यह आकांक्षा होती है कि समय क्या है ? इसलिए पहले उस समय को ही कहते हैं :–

जीव चरितदर्शनज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना।
स्थित कर्मपुद्‌गल के प्रदेशों, परसमय जीव जानना॥२॥

गाथार्थ :– हे भव्य ! [**जीव:**] जो जीव [**चरित्रदर्शनज्ञानस्थित:**] दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है [**तं**] उसे [**हि**] निश्चय से (वास्तव में) [**स्वसमयं**] स्वसमय [**जानीहि**] जानो [**च**] और जो जीव [**पुद्‌गलकर्मप्रदेशस्थितं**] पुद्‌गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है [**तं**] उसे [**परसमयं**] परसमय [**जानीहि**] जानो।

टीका :– 'समय' शब्द का अर्थ इसप्रकार है – 'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एकपना' है और 'अय् गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिए एक साथ ही (युगपत्) जानना और परिणमन करना – यह दोनों क्रियायें एकत्वपूर्वक करे वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एकत्वपूर्वक एक ही समय में परिणमन भी करता है और जानता भी है। इसलिये वह समय है। यह जीव पदार्थ सदा ही परिणामस्वरूप अपने स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्ता सहित है। (इस विशेषण से जीव की सत्ता को न माननेवाले नास्तिकवादियों का मत खण्डन हो

---

१. पाठान्तर – चरित्तदंसण णाणट्ठिदं   २. पाठान्तर – पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं, पुग्गल कम्मुवदेसट्ठियं

स समय:। समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः। अयं खलु यदा सकलभावस्वभाव-भासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्ति-रूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्म-तत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति॥२॥

गया; तथा पुरुष को – जीव को सर्वथा अपरिणामी माननेवाले सांख्यवादियों का मत परिणमनस्वभाव कहने से खण्डित हो गया। नैयायिक और वैशेषिक सत्ता को नित्य ही मानते हैं और बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं; उनका निराकरण, सत्ता को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहने से हो गया।) और जीव चैतन्यस्वरूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शन-ज्ञानज्योति स्वरूप है; (क्योंकि चैतन्य का परिणमन दर्शन-ज्ञानस्वरूप है।) (इस विशेषण से चैतन्य को ज्ञानाकारस्वरूप न माननेवाले सांख्यमतवालों का निराकरण हो गया।) और वह जीव, अनन्त धर्मों में रहनेवाला जो एकधर्मीपना है उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है, ऐसा है; (क्योंकि अनन्त धर्मों की एकता द्रव्यत्व है।) (इस विशेषण से, वस्तु को धर्मों से रहित माननेवाले बौद्धमतियों का निषेध हो गया।) और वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होने से जिसने गुण-पर्यायों को अंगीकार किया है – ऐसा है। (पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है; सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते हैं।) (इस विशेषण से, पुरुष को निर्गुण माननेवाले सांख्यमतवालों का निरसन हो गया।) और वह, अपने और परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होने से, जिसने समस्तरूप को प्रकाशनेवाली एकरूपता प्राप्त की है – ऐसा है, (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं के आकार प्रतिभासित होते हैं, ऐसे एक ज्ञान के आकाररूप है) इस विशेषण से, ज्ञान अपने को ही जानता है पर को नहीं, – इसप्रकार एकाकार को ही माननेवाले का तथा अपने को नहीं जानता, किन्तु पर को जानता है, इसप्रकार अनेकाकार को ही माननेवाले का व्यवच्छेद हो गया। और वह, अन्य द्रव्यों के जो विशिष्ट गुण – अवगाहन-गति-स्थिति-वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व हैं, उसके अभाव के कारण और असाधारण चैतन्यरूपतास्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल – इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है। (इस विशेषण से एक ब्रह्मवस्तु को ही माननेवाले का खण्डन हो गया।) और वह, अनन्त द्रव्यों के साथ अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। (इस विशेषण से वस्तु स्वभाव का नियम बताया है।) – ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है।

जब यह (जीव) सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति का उदय होने से, सर्व परद्रव्यों से छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप (अस्तित्वरूप) आत्मतत्त्व के साथ एकत्वरूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ वह 'स्वसमय'

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमयमपरार्द्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति– **जीवो चरित्त** इत्यादि **जीवो** शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। **चरित्तदंसणणाणट्ठिदं तं हि ससमयं जाण** स च जीवश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि। तथाहि – विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणनेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणत-जीवपदार्थं हे शिष्य ! स्वसमयं जानीहि। **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं** पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयम्। तद्यथा–पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यम्॥२॥

है, इसप्रकार प्रतीत किया जाता है; किन्तु जब वह अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गांठ की भाँति (पुष्ट हुआ) मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से, दर्शन-ज्ञानस्वभाव में नियत वृत्तिरूप आत्मतत्त्व से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है, तब पुद्गलकर्म के (कार्माणस्कन्धरूप) प्रदेशों में स्थित होने से युगपद् पर को एकत्वपूर्वक जानता और पररूप से एकत्वपूर्वक परिणमित होता हुआ 'परसमय' है – इसप्रकार प्रतीति की जाती है। इसप्रकार जीव नामक पदार्थ की स्वसमय और परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है।

भावार्थ :– जीव नामक वस्तु को पदार्थ कहा है। 'जीव' इसप्रकार अक्षरों का समूह 'पद' है और उस पद से जो द्रव्य-पर्यायरूप अनेकांतस्वरूपता निश्चित की जाये, वह पदार्थ है। यह जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनंतधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होने से वस्तु है, गुण-पर्यायवान है, उसका स्व-परप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है और वह (जीव पदार्थ) आकाशादि से भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है तथा अन्य द्रव्यों के साथ एक क्षेत्र में रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। जब वह अपने स्वभाव में स्थित हो तब स्वसमय है और परस्वभाव – रागद्वेषमोहरूप होकर रहे तब परसमय है। इसप्रकार जीव के द्विविधता आती है॥२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब (यहाँ दूसरी) गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा स्वसमय तथा उत्तरार्द्ध द्वारा परसमय का कथन करता हूँ, – ऐसा अभिप्राय मन में धारण करके आचार्यदेव यह (अगला) गाथा सूत्र कहते हैं –

'जीवो चरित्त' इत्यादि में, **'जीवो'** अर्थात् शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप निश्चय प्राण के द्वारा तथा अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिक अशुद्ध भावप्राणों के द्वारा और 'अनुपचरित' असद्भूत व्यवहारनय से यथासम्भव द्रव्यप्राणों के द्वारा जो वर्तमान में जीवित है, भविष्य में जीवित रहेगा तथा भूतकाल में जीवित था, वह जीव है। **'चरित्तदंसणणाणट्ठिदं तं हि ससमयं जाण'** अर्थात् वह जीव जिस समय चारित्र-दर्शन-ज्ञान-स्वभाव में (अभेदरत्नत्रय स्वरूप आत्मा में) स्थित रहता है, उस समय वही जीव निश्चय से स्वसमय है – ऐसा जानो। उसका विस्तार इस प्रकार है – विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निज परमात्मा में जो रुचि रूप सम्यग्दर्शन है, उसी में ही जो रागादि रहित स्वसंवेदन है वह सम्यग्ज्ञान है, और उसमें

अथैतद्बाध्यते –

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ।।३।।

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ।।३।।

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्‌गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनांऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बंतोऽत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपाद-पतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते, प्रकारांतरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः। एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः। कुतस्तन्मूल-पुद्‌गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम्। अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ।।३।।

ही जो निश्चल अनुभूति (स्थिरता) है वह वीतराग चारित्र (सम्यग्चारित्र) है – इस प्रकार कहे गये लक्षणवाले निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवपदार्थ को हे शिष्य ! स्वसमय जानो। **'पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं'** और जो जीव पुद्‌गल कर्ममय उपदेश में स्थित है, उसे ही परसमय जानो। वह इस प्रकार है – पुद्‌गलकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली नारकादि संज्ञावाली पर्यायें हैं, पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय का अभाव होने से वहाँ उन पर्यायों में जब यह जीव स्थित होता है, तब वह जीव परसमय है – ऐसा जानो। इस तरह स्वसमय-परसमय का लक्षण जानना चाहिए ।।२।।

....

अब, समय की द्विविधता में आचार्य बाधा बतलाते हैं :–

एकत्व-निश्चय-गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में।
उससे बने बंधनकथा, जु विरोधिनी एकत्व में ।।३।।

गाथार्थ :– [**एकत्वनिश्चयगतः**] एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो [**समयः**] समय है वह [**लोके**] लोक में [**सर्वत्र**] सब जगह [**सुन्दरः**] सुन्दर है [**तेन**] इसलिये [**एकत्वे**] एकत्व में [**बंधकथा**] दूसरे के साथ बंध की कथा [**विसंवादिनी**] विसंवाद – विरोध करनेवाली [**भवति**] है।

टीका :– यहाँ 'समय' शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से (एकत्वपूर्वक) अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो समय है। इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल, जीव द्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने-जितने पदार्थ हैं वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से उसमें सर्वसंकर आदि दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं – स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेय: कर्मबंधेन सहैकत्वगतो हेय इति, अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मन: स्वरूपं, न पुन: परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानंतरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। **एयत्तणिच्छयगदो** स्वकीयशुद्ध-गुणपर्यायपरिणत:, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगत:। **समओ** समयशब्देनात्मा। कस्माद्धेतो: ? सम्यगयते गच्छति परिणमति। कान् ? स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्ते:। **सव्वत्थसुंदरो** सर्वत्र समीचीन:। क्व ? **लोए** लोके अथवा सर्वत्रैकेंद्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेन सुन्दर उपादेय इति। **बंधकहा** कर्मबंधजनितगुणस्थानादिपर्याया:। **एयत्ते** एकत्वे तन्मयत्वे या बंधकथा प्रवर्तते **तेण** तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा **विसंवादिणी** विसंवादी कोऽर्थ: ? विसंवादिनी कथा। प्राकृतलक्षणबलात् पुल्लिङ्गे स्त्रीलिङ्गनिर्देश:। विसंवादिनी असत्या। **होदि** भवति। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थ:। तत: स्थितं स्वसमय एवात्मन: स्वरूपमीति॥३॥

एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते; अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते; पररूप परिणमन न करने से अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती, इसलिये वे टंकोत्कीर्ण की भाँति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं – टिकाये रखते हैं। इसप्रकार सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने से जीव नामक समय को बंध की कथा से ही विसंवाद की आपत्ति आती है; तो फिर बंध जिसका मूल है ऐसा जो पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होना, वह जिसका मूल है ऐसा परसमयपना, उससे उत्पन्न होनेवाला (परसमय-स्वसमयरूप) द्विविधपना उसको (जीव नाम के समय को) कहाँ से हो ? इसलिये समय के एकत्व का होना ही सिद्ध होता है।

भावार्थ :– निश्चय से सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं। परन्तु जीव नामक पदार्थ की अनादि काल से पुद्गलकर्म के साथ निमित्तरूप बंध अवस्था है; उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिये वह शोभा को प्राप्त नहीं होता। इसलिये वास्तव में विचार किया जाये तो एकत्व ही सुन्दर है; उससे यह जीव शोभा को प्राप्त होता है॥३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, अपने गुणों के साथ एकत्व निश्चय को प्राप्त शुद्धात्मा ही उपादेय है और कर्मबन्ध के साथ एकत्वपने को प्राप्त आत्मा हेय है, अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, परसमय शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है – ऐसा अभिप्राय मन में धारण कर अथवा इस सूत्र (दूसरे सूत्र) के पश्चात् यही सूत्र (तीसरा सूत्र) उचित है – ऐसा निश्चय कर विवक्षित गाथा सूत्र कहते हैं। इस प्रकार पातनिका (उत्थानिका) का लक्षण सर्वत्र जानना चाहिये।

एयत्तणिच्छयगदो स्वकीय (अपने) शुद्ध गुण-पर्यायरूप परिणमित अथवा अभेद रत्नत्रयरूप परिणमित आत्मा जो निश्चय से एकत्व को प्राप्त हुआ है वह आत्मा, **समओ** समय है, समय शब्द से तात्पर्य है आत्मा। किस कारण से? जो सम्यक् प्रकार से **अयते** प्राप्त होता है, परिणमित होता है। किसको प्राप्त होता है ? अपने गुण पर्यायों को (प्राप्त होता है) – ऐसा व्युत्पत्ति अर्थ है। **सव्वत्थ सुंदरो** वह शुद्धात्मा सर्वत्र सुंदर है। कहाँ ? **लोए** लोक में अथवा समस्त एकेन्द्रिय आदि अवस्थाओं में शुद्ध निश्चयनय से सुन्दर

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते –

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।४।।

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य।।४।।

इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकालभवभाव-परावर्त्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णा-तंकत्वेन व्यक्तांतराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धाकथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम्। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम्।।४।।

है – उपादेय है। **बंधकहा** (किन्तु) कर्मबन्धजनित जो गुणस्थान आदि पर्यायें हैं उनमें, **एयत्ते** एकपने या तन्मयपने से जो कथा प्रवर्तती है, '**तेण**' उससे पूर्वोक्त जीव पदार्थ के साथ वह बन्धकथा **विसंवादिणी होदि** विसंवाद (विरोध) पैदा करने वाली होती है। विसंवादिनी कथा का क्या अर्थ है ?

यहाँ प्राकृत व्याकरण के नियम से पुल्लिंग में स्त्रीलिंग का निर्देश है। विसंवादिनी असत्य **होदि** होती है। शुद्ध निश्चयनय से वह कथा शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा आशय है। इससे सिद्ध है कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है।।३।।

....

अब, उस एकत्व की असुलभता बताते हैं :–

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधन की कथा।
पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना।।४।।

गाथार्थ :– [**सर्वस्य अपि**] सर्व लोक को [**कामभोगबन्धकथा**] कामभोगसंबंधी बन्ध की कथा तो [**श्रुतपरिचितानुभूता**] सुनने में आ गई है, परिचय में आ गई है और अनुभव में भी आ गई है, इसलिये सुलभ है; किन्तु [**विभक्तस्य**] भिन्न आत्मा के [**एकत्वस्य उपलंभः**] एकत्व का होना कभी न तो सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव में आया है, इसलिये [**केवलं**] एकमात्र वही [**न सुलभः**] सुलभ नहीं है।

टीका :– इस समस्त जीवलोक को, कामभोगसंबंधी कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है। (आत्मा का अत्यन्त अनिष्ट करनेवाली है) तथापि पहले अनन्तबार सुनने में आई है, अनन्तबार परिचय में आई है और अनन्तबार अनुभव में भी आई है। वह जीवलोक, संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त परावर्तन के कारण भ्रमण

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति – "**सुदपरिचिदाणुभूदा**" इत्यादि **सुदा** श्रुता अनंतशो भवति। **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनंतशो भवति। **अणुभूदा** अनुभूतानंतशो भवति। कस्य ? **सव्वस्स वि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य। कासौ ? **कामभोगबंधकहा** कामरूपभोगा: कामभोगा:। अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेंद्रियद्वयं भोगशब्देन घ्राणचक्षु:श्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बंध: संबंधस्तस्य कथा। अथवा बंधशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधास्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भण्यते। कामभोगबंधानां कथा कामभोगबंधकथा, यत: पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किन्तु सुलभैव। **एयत्तस्य** एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य। **उवलंभो** उपलम्भ: प्राप्तिर्लाभ:। **णवरि** केवलं अथवा नवरि किन्तु **ण सुलभो** नैव सुलभ:। कथंभूतस्यैकत्वस्य ? **विहत्तस्स** विभक्तस्य रागादिरहितस्य। कथं न सुलभ ? इति चेत्, श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥४॥

को प्राप्त हुआ है, समस्त विश्व को एक छत्र राज्य से वश करनेवाला महामोहरूपी भूत जिसे बैल की भाँति भार वहन कराता है, जोर से प्रगट हुए तृष्णारूपी रोग के दाह से अंतरंग में पीड़ा प्रगट हुई है, आकुलित हो-होकर मृगजल की भाँति विषयग्राम को (इन्द्रिय विषयों के समूह को) जिसने घेरा डाल रखा है और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरों से कहकर उसीप्रकार अंगीकार करवाता है)। इसलिये कामभोग की कथा तो सबके लिये सुलभ है, किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्न आत्मा का एकत्व ही है, जो कि सदा प्रगटरूप से अंतरंग में प्रकाशमान है, तथापि कषायचक्र (कषाय समूह) के साथ एकरूप जैसा किया जाता है, इसलिये अत्यन्त तिरोभाव को प्राप्त हुआ है (ढक रहा है) वह, अपने में अनात्मज्ञता होने से (स्वयं आत्मा को न जानने से) और अन्य आत्मा को जाननेवालों की संगति – सेवा न करने से, न तो पहले कभी सुना है, न परिचय में आया है और न कभी अनुभव में आया है, इसलिये भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है।

भावार्थ :– इस लोक में समस्त जीव संसाररूपी चक्र पर चढ़कर पंच-परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है, इसलिये वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं; और उस दाह का इलाज (उपाय) इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं; तथा परस्पर भी विषयों का ही उपदेश करते हैं। इसप्रकार काम तथा भोग की कथा तो अनन्तबार सुनी, परिचय में प्राप्त की और उसी का अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है। किन्तु सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान अपने को अपने से कभी नहीं हुआ और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है॥४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब एकत्वपरिणत शुद्धात्मस्वरूप सुलभ नहीं है, ऐसा कहते हैं –

सुदपरिचिदाणुभूदा इत्यादि में **सुदा** अनन्तबार सुनी है **परिचिदा** अनन्तबार परिचय में आई है। **अणुभूदा** अनन्तबार अनुभव की है। किसके सुनने, परिचय एवं अनुभव में आई है? **सव्वस्स वि** समस्त ही जीव लोक के। वह कथा कौन है, जो सुनने परिचय एवं अनुभव में आई है ? **कामभोगबन्ध कहा**

अत एवैतदुपदर्श्यते –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।।५।।

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ।।५।।

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबन जन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरत स्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं-

---

वह काम-भोग बन्धकथा है। कामरूप भोग – कामभोग है अथवा काम शब्द से स्पर्शन, रसना इन दो इन्द्रियों के विषय तथा भोग शब्द से घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन तीन इन्द्रियों के विषय लिए हैं। उन कामभोगों के बंध अर्थात् सम्बन्ध की कथा वह कामभोग बन्धकथा है। अथवा बन्ध शब्द से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशबन्ध तथा उनका फल नर-नारकादि रूप कहा जाता है, इस प्रकार कामभोगबन्ध की कथा वह काम-भोग बन्धकथा है।

अतः पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत, परिचित और अनुभूत होने से वह बन्धकथा दुर्लभ नहीं है, किन्तु सुलभ ही है। **एयत्तस्स** एकत्व की अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐक्य परिणतिरूप निर्विकल्प समाधि के बल से स्वसंवेदनयोग्य जो शुद्धात्म स्वरूप उसके एकत्व की **उवलंभो** उपलब्धि, प्राप्ति या लाभ होना **णवरि** केवल (अथवा परन्तु) **सुलहो ण** सुलभ नहीं है। कैसे एकत्व की ? **विहत्तस्स** विभक्त या रागादि रहित एकत्व की । कैसे सुलभ नहीं है ? ऐसे पूछे जाने पर उत्तर देते हैं कि उसके श्रवण, परिचय तथा अनुभव का अभाव होने से सुलभ नहीं है।।४।।

....

अब आचार्य कहते हैं कि इसीलिये जीवों को उस भिन्न आत्मा का एकत्व बतलाते हैं :–

दर्शाऊँ एक विभक्त को, आत्मातने निज विभव से।
दर्शाऊँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने ।।५।।

गाथार्थ :– [**तं**] उस [**एकत्वविभक्तं**] एकत्वविभक्त आत्मा को [**अहं**] मैं [**आत्मनः**] आत्मा के [**स्वविभवेन**] निज वैभव से [**दर्शये**] दिखाता हूँ; [**यदि**] यदि मैं [**दर्शयेयं**] दिखाऊँ तो [**प्रमाणं**] प्रमाण (स्वीकार) करना, [**स्खलेयं**] और यदि कहीं चूक जाऊँ तो [**छलं**] छल [**न**] नहीं [**गृहीतव्यं**] ग्रहण करना।

टीका :– आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निज वैभव है, उस सबसे मैं इस एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है। मेरे आत्मा का वह निज वैभव इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म – अर्हन्त

तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि। किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम्॥५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते – तं तत्पूर्वोक्तं **एयत्तविहत्तं** एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः। **दाएहं** दर्शयेहम्। केन ? **अप्पणो सविहवेण** आत्मनः स्वकीयमिति विभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति। **जदि दाएज्ज** यदि दर्शयेयं तदा **पमाणं** स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं भवद्भिः। **चुक्किज्ज** यदि च्युतो भवामि **छलं ण घित्तव्वं** तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति॥५॥

का परमागम है, उसकी उपासना से उसका जन्म हुआ है। ('स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकार से किसी अपेक्षा से कहना। परमागम को शब्दब्रह्म कहने का कारण यह है कि अर्हन्त के परमागम में सामान्य धर्मों के वचनगोचर समस्त धर्मों के नाम आते हैं और वचन से अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता है; इसप्रकार वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है, इसलिए उसे सर्वव्यापी कहा जाता है और इसीलिये उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष – अन्यवादियों के द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उस निज वैभव का जन्म हुआ है। और निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु सर्वज्ञदेव और अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त, उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है उससे निज वैभव का जन्म हुआ है। निरन्तर झरता हुआ – स्वाद में आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रा से युक्त प्रचुरसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से निज वैभव का जन्म हुआ है। यों जिस-जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का वैभव है उस समस्त वैभव से दिखाता हूँ। मैं जो यह दिखाऊँ तो उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना; और यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करने में सावधान मत होना। शास्त्र-समुद्र के बहुत से प्रकरण हैं, इसलिये यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिये अर्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

भावार्थ :– आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, पर और अपर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन – यों चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओ ! उसे अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से प्रमाण करो; यदि कहीं किसी प्रकरण में भूल जाऊँ तो उतने दोष को ग्रहण मत करना। कहने का आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है; उससे शुद्ध स्वरूप का निश्चय करो॥५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब चूँकि एकत्व सुलभ नहीं है, इसलिए उसका ही कथन किया जाता है–

तं उस पूर्वोक्त **एयत्तविहत्तं** एकत्वविभक्त – अभेदरत्नत्रयरूप एकाकार परिणत तथा मिथ्यात्व-रागादि रहित परमात्मस्वरूप को **दाएहं** दिखलाता हूँ, किसके द्वारा ? **अप्पणो सविहवेण** अपने निज वैभव से अथवा

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत् –

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।।६।।

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव।।६।।

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्था-यामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषाय-

---

आगम, तर्क, परमगुरुओं के उपदेश तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा **जदि दाएज्ज** यदि दिखलाऊँ तो **पमाणं** अपने स्वसंवेदन ज्ञान से परीक्षा करके प्रमाण करना। **चुक्केज्ज** यदि चूक जाऊँ तो **छलं ण घित्तव्वं** दुर्जन लोगों की तरह छल ग्रहण नहीं करना ।।५।।

....

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है जिसका स्वरूप जानना चाहिए? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है।।६।।

गाथार्थ :– [**यः तु**] जो [**ज्ञायकः भावः**] ज्ञायक भाव है वह [**अप्रमत्तः अपि**] अप्रमत्त भी [**न भवति**] नहीं और [**न प्रमत्तः**] प्रमत्त भी नहीं है; [**एवं**] इसप्रकार [**शुद्धं**] इसे शुद्ध [**भणंति**] कहते हैं; [**च यः**] और जो [**ज्ञातः**] ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ [**सः तु**] वह तो [**स एव**] वही है, अन्य कोई नहीं।

टीका :– जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से) अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है; ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बंध-पर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर-नीर की भाँति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाये तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (कषायसमूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता), इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं, तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूपप्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्ता-कर्म का अनन्यत्व (एकता) होने

चक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेना-परिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति। एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमान: शुद्ध इत्यभिलप्यते। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धे: दाह्यनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञात: स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव॥६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कोऽयं शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति – **णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्त: प्रमत्तश्च। प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यंतान्यष्टगुणस्थानानि गृह्यन्ते। स क: ? कर्ता। **जाणगो दु जो भावो** ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भाव: पदार्थ: शुद्धात्मा। **एवं भणंति सुद्धा** शुद्धनयावलंबिन:, तर्हि किं भवति ? **णादा जो सो दु सो चेव** ज्ञाता शुद्धात्मा य: कथ्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थ:। इति स्वतंत्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतम्॥६॥

से ज्ञायक ही है – स्वयं जाननेवाला है; इसलिए स्वयं कर्ता है और अपने को जाना, इसलिए स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है और अपने को – अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञायक को समझना चाहिए।)

भावार्थ :– अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूलद्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है, वही है और पर्याय (अवस्था) दृष्टि से देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है । इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; यह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्यायें हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं है; इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है,तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है; तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ, सो मैं ही हूँ; अन्य कोई नहीं' – ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तब इस जाननेरूप क्रिया का कर्ता स्वयं ही है और जिसे जाना, वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है। यह शुद्धनय का विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं, वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है – ऐसा आशय समझना चाहिए।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता – दोनों वस्तु के धर्म हैं और

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत् –

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।७।।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ।।७।।

वस्तुधर्म वस्तु का सत्त्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है। अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है, तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। **इसप्रकार दु:ख मिटाने के लिए शुद्धनय का उपदेश प्रधान है।** अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है। ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है; इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए। स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है, वह है – यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है। यहाँ (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है – ऐसा कहा है। वह गुणस्थानों की परिपाटी में छट्ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है, किन्तु ये सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में हैं; शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है।।६।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यह शुद्धात्मा कौन है – ऐसा पूछे जाने पर उसका उत्तर देते हैं –

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा के शुभाशुभ भावरूप परिणमन का अभाव होने से आत्मा अप्रमत्त और प्रमत्त नहीं है। प्रमत्त शब्द से मिथ्यादृष्टि आदि से लेकर प्रमत्त संयत गुणस्थान तक छह गुणस्थान तथा अप्रमत्त शब्द से सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक अन्तिम आठ गुणस्थान ग्रहण किये जाते हैं। वह कौन कर्ता है ? **जाणगो दु जो भावो** ज्ञायक – ज्ञानस्वरूप जो यह भाव या पदार्थ है वह शुद्धात्मा है **एवं भणन्ति सुद्धा** ऐसा शुद्धनय के आलम्बन लेने वाले शुद्ध कहते हैं। तो वह क्या है ? **णादा जो दु सो चेव** ज्ञाता या शुद्धात्मा जो कहा जाता है वह तो वही है अथवा ज्ञाता ही है – ऐसा अर्थ है। इसप्रकार स्वतंत्र छह गाथाओं द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।।६।।

....

अब, प्रश्न यह होता है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र को आत्मा का धर्म कहा गया है, किन्तु यह तो तीन भेद हुए; और इन भेदरूप भावों से आत्मा को अशुद्धता आती है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

चारित्र, दर्शन, ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानि के।
चारित्र नहिं, दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध है।।७।।

गाथार्थ :– [ज्ञानिनः] ज्ञानी के **[चरित्रं दर्शनं ज्ञानं]** चारित्र, दर्शन, ज्ञान – यह तीन भाव **[व्यवहारेण]**

आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यन्ते। यतो ह्यनन्त-धर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरिणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्र-मित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किंचिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायक एवैकः शुद्धः ॥७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथानंतरं यथा प्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यन्ते, शुद्धद्रव्यार्थिक-निश्चयनयेन न विद्यन्ते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोऽपीत्युपदिशति – **ववहारेण** सद्भूतव्यवहारनयेन **उवदिस्सदि** उपदिश्यते कथ्यते। कस्य? **णाणिस्स** ज्ञानिनो जीवस्स। किम्? **चरित्तदंसणं णाणं** चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूपम्। **ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनम्। तर्हि किमस्तीति चेत् ? **जाणगो** ज्ञायकः शुद्धचैतन्यस्वभावः। **सुद्धो** शुद्ध एव रागादिरहित इति अयमत्रार्थः। यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पाचकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति॥७॥

व्यवहार से [**उपदिश्यते**] कहे जाते हैं; निश्चय से [**ज्ञानं अपि न**] ज्ञान भी नहीं है, [**चरित्रं न**] चारित्र भी नहीं है, और [**दर्शनं न**] दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक [**ज्ञायकः शुद्धः**] शुद्ध ज्ञायक ही है।

टीका :– इस ज्ञायक आत्मा को बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धता तो दूर रहो, किन्तु उसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं हैं – ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतलानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का; यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है तथापि नाम से भेद करके, व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है; किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से जो एक है, कुछ मिले हुए स्वादवाला है, अभेद है, ऐसे एक स्वभाव का अनुभव करनेवाले को न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है; एक शुद्ध ज्ञायक ही है।

भावार्थ :– इस शुद्ध आत्मा के कर्मबन्ध के निमित्त से अशुद्धता होती है, यह बात तो दूर ही रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भी भेद नहीं हैं, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मरूप एकधर्मी है। परन्तु व्यवहारीजन धर्मों को ही समझते हैं, धर्मी को नहीं जानते; इसलिये वस्तु के किन्हीं असाधारण धर्मों को उपदेश में लेकर अभेदरूप वस्तु में भी धर्मों के नामरूप भेद को उत्पन्न करके ऐसा उपदेश दिया जाता है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। इस प्रकार अभेद में भेद किया जाता है, इसलिए वह व्यवहार है। यदि परमार्थ से विचार किया जाये तो एक द्रव्य अनन्त पर्यायों को अभेदरूप से पी कर बैठा है, इसलिये उसमें भेद नहीं है।

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्याय भी द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ? उसका समाधान यह है – यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत् –

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥८॥

प्रधान करके उपदेश दिया है। अभेददृष्टि में भेद को गौण कहने से ही अभेद भलीभाँति मालूम हो सकता है। इसलिये भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टि में भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के विकल्प होते रहते हैं; इसलिये जहाँ तक रागादिक दूर नहीं हो जाते वहाँ तक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है, वहाँ नय का आलम्बन ही नहीं रहता॥७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसके बाद जिसप्रकार प्रमत्तादि गुणस्थान रूप भेद व्यवहारनय से जीव के विद्यमान हैं, शुद्ध द्रव्यार्थिक निश्चयनय से वे भेद जीव के विद्यमान नहीं हैं। उसीप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के गुण-भेद भी (जीव में) नहीं हैं – ऐसा उपदेश देते हैं। **ववहारेण** सद्भूत व्यवहारनय से **उवदिस्सदि** उपदेश देते हैं या कहे जाते हैं। किसके ? **णाणिस्स** ज्ञानी जीव के। क्या ? **चरित्तदंसणं णाणं** चारित्र-दर्शन-ज्ञान स्वरूप भेद। **ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनय से न ज्ञान है न चारित्र है न दर्शन है। तो फिर ज्ञानी जीव का स्वरूप क्या है ? **जाणगो** ज्ञायक शुद्धचैतन्यस्वभाव (ही जीव का स्वरूप है)। **सुद्धो** शुद्ध ही है, रागादि रहित है। यहाँ यह अर्थ है कि – जिसप्रकार निश्चयनय से अभेदरूप से अग्नि एक ही है, पश्चात् भेदरूप व्यवहारनय से अग्नि जलाती है अत: दाहक है, पचाती है अत: पाचक है तथा प्रकाश करती है अत: प्रकाशक है – इसप्रकार व्युत्पत्ति रूप विषयभेद से अग्नि तीन प्रकार कही जाती है। उसीप्रकार जीव भी निश्चयरूप अभेदनय से शुद्धचैतन्यरूप होने पर भी भेदरूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान है, देखता है वह दर्शन है और आचरण करता है वह चारित्र है। इस प्रकार व्युत्पत्ति विषयभेद से जीव तीन प्रकार भेदरूप कहा जाता है॥७॥

....

अब यहाँ पुन: यह प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश देना चाहिये; व्यवहार किसलिये कहा जाता है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

भाषा अनार्य बिना न, समझाना ज्यों शक्य अनार्य को।
व्यवहार बिन परमार्थ का, उपदेश होय अशक्य यों॥८॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**अनार्य:**] अनार्य (म्लेच्छ) जन को [**अनार्यभाषां विना तु**] अनार्यभाषा के बिना [**ग्राहयितुम्**] किसी भी वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने के लिये [**न अपि शक्य:**] कोई समर्थ नहीं है [**तथा**] उसीप्रकार [**व्यवहारेण विना**] व्यवहार के बिना [**परमार्थोपदेशनम्**] परमार्थ का उपदेश देना [**अशक्यम्**] अशक्य है।

यथा खलु म्लेच्छ: स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षु: प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव। तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्नकिंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षु: प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थायदर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदांत:सुन्दरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीय:, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य: ॥८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यदि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचारित्राणि न संति तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न – **जह ण वि सक्कं** यथा न शक्य:। कोऽसौ ? **अणज्जो** अनार्यो म्लेच्छ:। किं कर्तुम् ? **गाहेदुं** अर्थग्रहणरूपेण संबोधयितुम्। कथम् ? **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा तां विना। तथा दृष्टान्तो गत:। इदानीं दार्ष्टान्तामाह **तह** तथा **ववहारेण विणा** व्यवहारनयेन विना **परमत्थुवदेसणमसक्कं** परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यं इति। अयमत्राभिप्राय: – यथा कश्चिद् ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गत: तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्षते मेष इव। तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेतिभणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रांत्या निरीक्षत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारनयज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थम् इति कथ्यते तदा संतुष्टो भूत्वा जानातीति। एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम्॥८॥

टीका :– जैसे किसी म्लेच्छ से यदि कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' ऐसा शब्द कहे तो वह म्लेच्छ उस शब्द के वाच्यवाचक सम्बन्ध को न जानने से कुछ भी न समझकर उस ब्राह्मण की ओर मेंढे की भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, किन्तु जब ब्राह्मण की और म्लेच्छ की भाषा का – दोनों का अर्थ जाननेवाला कोई दूसरा पुरुष या वही ब्राह्मण म्लेच्छभाषा बोलकर उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो', तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनंदमय अश्रुओं से जिसके नेत्र भर जाते हैं ऐसा वह म्लेच्छ इस 'स्वस्ति' शब्द के अर्थ को समझ जाता है; इसीप्रकार व्यवहारीजन भी 'आत्मा' शब्द के कहने पर 'आत्मा' शब्द के अर्थ का ज्ञान न होने से कुछ भी न समझकर मेंढे की भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखते रहते हैं, किन्तु जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले सारथी की भाँति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्द को कहनेवाला स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहता हुआ आत्मा शब्द का यह अर्थ बतलाता है कि ''दर्शन-ज्ञान-चारित्र को जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है'', तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्द से जिसके हृदय में सुन्दर बोधतरंगें (ज्ञानतरंगें) उछलने लगती हैं ऐसा वह व्यवहारीजन उस 'आत्मा' शब्द के अर्थ को अच्छी तरह समझ लेता है। इसप्रकार जगत तो म्लेच्छ के स्थान पर होने से और व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषा के स्थान पर होने से परमार्थ का प्रतिपादक (कहनेवाला) है, इसलिये व्यवहार

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत् –

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥९॥
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥१०॥जुम्मं॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम्।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकरा: ॥९॥
य: श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिना:।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥१०॥युग्मम्॥

स्थापित करने योग्य है; किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए – इस वचन से वह व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थ :– लोग शुद्धनय को नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है; किन्तु वे अशुद्धनय को ही जानते हैं, क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है; इसलिये वे व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ को समझ सकते हैं। अत: व्यवहारनय को परमार्थ का कहनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ व्यवहार का आलम्बन कराते हैं, प्रत्युत व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाते हैं – यह समझना चाहिये ॥८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यदि शुद्धनिश्चयनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव के नहीं हैं, तो फिर एक (अकेला) परमार्थ ही कहा जाना चाहिए, व्यवहार नहीं कहा जाना चाहिए। ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि ऐसा नहीं है – **जह ण वि सक्क** जिसप्रकार समर्थ नहीं है। ऐसा कौन है ? **अण्णज्जो** अनार्य म्लेच्छ। क्या करने लिए समर्थ नहीं है ? **गाहेदुं** अर्थग्रहण करने रूप संबोधन के लिए। कैसे समर्थ नहीं है ? **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा के बिना– यह दृष्टान्त हुआ। अब सिद्धान्त कहते हैं– उसीप्रकार **ववहारेण विणा** व्यवहारनय के बिना **परमत्थुवदेसणमसक्कं** परमार्थ का उपदेश करना शक्य नहीं है। यहाँ यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार कोई ब्राह्मण अथवा साधु म्लेच्छों की बस्ती में गया। वहाँ म्लेच्छ द्वारा नमस्कार करने पर ब्राह्मण अथवा साधु द्वारा 'स्वस्ति' ऐसा कहे जाने पर स्वस्ति का अर्थ 'अविनाशी कल्याण हो' ऐसा न जानकर वह म्लेच्छ मेंढ़े की तरह देखता है। उसी प्रकार यह अज्ञानी जन भी 'आत्मा' कहे जाने पर आत्मा शब्द का अर्थ न जानता हुआ भ्रम से देखता ही रहता है। पुन: जब निश्चय-व्यवहार के ज्ञाता पुरुष द्वारा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वाला' ऐसा जीव शब्द का अर्थ है, ऐसा कहा जाता है तब वह संतुष्ट होकर जानता है। इसप्रकार भेद-अभेद रत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा द्वितीय स्थल पूर्ण हुआ ॥८॥

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः। ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति। अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम्। अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति॥९-१०॥

अब, प्रश्न होता है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है ? इसके उद्धरणस्वरूप गाथा कहते हैं:–

इस आत्म को श्रुत से नियत, जो शुद्ध केवल जानते।
ऋषिगण प्रकाशक लोक के, श्रुतकेवली उसको कहें॥९॥
श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहें।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने॥१०॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो जीव [**हि**] निश्चय से (वास्तव में) [**श्रुतेन तु**] श्रुतज्ञान के द्वारा [**इमं**] इस अनुभवगोचर [**केवलं शुद्धम्**] केवल एक शुद्ध [**आत्मानं**] आत्मा को [**अभिगच्छति**] सम्मुख होकर जानता है, [**तं**] उसे [**लोकप्रदीपकराः**] लोक को प्रगट जाननेवाले [**ऋषयः**] ऋषीश्वर [**श्रुतकेवलिनं**] श्रुतकेवली [**भणंति**] कहते हैं; [**यः**] जो जीव [**सर्वं**] सर्व [**श्रुतज्ञानं**] श्रुतज्ञान को [**जानाति**] जानता है [**तं**] उसे [**जिनाः**] जिनदेव [**श्रुतकेवलिनं**] श्रुतकेवली [**आहुः**] कहते हैं, [**यस्मात्**] क्योंकि [**ज्ञानं सर्वं**] ज्ञान सब [**आत्मा**] आत्मा ही है [**तस्मात्**] इसलिये [**श्रुतकेवली**] (वह जीव) श्रुतकेवली है।

टीका :– प्रथम, ''जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं'' वह तो परमार्थ है और ''जो सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं'' यह व्यवहार है। यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं – उपर्युक्त सर्व ज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? यदि अनात्मा का पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादिक पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है)। इसलिये अन्य पक्ष का अभाव होने से 'ज्ञान आत्मा ही है' यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिये श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होने से 'जो आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है और वह तो परमार्थ ही है। इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कहनेवाला जो व्यवहार है उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं कहा जाता। और ''जो श्रुत से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं'' इसप्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से ''जो सर्व श्रुतज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं'' ऐसा व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादकत्व से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।

भावार्थ :– जो शास्त्रज्ञान से अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है,

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पूर्वगाथायां भणितं व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति – **जो** यः कर्ता। **हि** स्फुटं। **सुदेण** भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन। **अभिगच्छदि** अभि समंताज्जानात्य-नुभवति। कम् ? **अप्पाणं** आत्मानम्। **इणं** इमं प्रत्यक्षीभूतम्। **तु** पुनः। किंविशिष्टम् ? **केवलं** असहायम् **सुद्धं** रागादि रहितम् तं पुरुषम्। **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवलिनम्। **इसिणो** परमऋषयः। **भणंति** कथयंति **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति। अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलि लक्षणमुक्तम्। अथ **जो सुदणाणमित्यादि जो** यः कर्ता। **सुदणाणं** द्वादशांग द्रव्यश्रुतं। **सव्वं** सर्वं परिपूर्णम्। **जाणदि** जानाति। **सुदकेवलिं** व्यवहारश्रुतकेवलिनम्। **तमाहु जिणा** तं पुरुषं आहुः ब्रुवंति। के ते? जिनाः सर्वज्ञाः। कस्मादिति चेत्? **जम्हा** यस्मात्मकारणात्। **सुदणाणं** द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानम्। **आदा** आत्मा भवति। कथंभूतं ? **सव्वं** सर्वमात्मसंवित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषयं वा **तम्हा** तस्मात्कारणात्। **सुदकेवली** द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति। अयमत्रार्थः यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थम् जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति। ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन्कालेऽपि श्रुतकेवली भवति ? तन्न यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्मध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः। एवं निश्चयव्यवहार-श्रुतकेवलि व्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्॥९-१०॥

यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है। और जो सर्व शास्त्रज्ञान को जानता है उसने भी ज्ञान को जानने से आत्मा को ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानी के भेद को कहनेवाला जो व्यवहार है, उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा। और परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है, इसलिये व्यवहारनय ही आत्मा को प्रगटरूप से कहता है, ऐसा जानना चाहिए ॥९-१०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पूर्व गाथाओं में कथित व्यवहार से परमार्थ जाना जाता है, अतः उसी अर्थ को कहते हैं – **जो** जो कर्ता। **हि** निश्चय से **सुदेण** भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञान से – निर्विकल्पसमाधिरूप साधन से। **अहिगच्छदि** सर्व प्रकार जानता है – अनुभव करता है। किसको ? **अप्पाणं** आत्मा को **इणं** इस प्रत्यक्षीभूत आत्मा को **तु** पुनः। कैसे आत्मा को ? **केवलं** असहाय आत्मा को **सुद्धं** रागादिरहित आत्मा को अनुभवता है **तं** उस जीव को **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवली **इसिणो** परमऋषि गण **भणंति** कहते हैं **लोयप्पदीवयरा** लोक को प्रकाशित करनेवाले। इस गाथा द्वारा निश्चयश्रुतकेवली का लक्षण कहा है। अब **'जो सुदणाणमित्यादि' जो** जो कर्ता । **सुदणाणं** द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुत को। **सव्वं** सम्पूर्ण श्रुत को। **जाणदि** जानता है। **सुदकेवलिं** व्यवहारश्रुतकेवली । **तमाहु जिणा** उस पुरुष को कहते हैं। वे कौन हैं जो ऐसा कहते हैं ? वे जिनेन्द्र सर्वज्ञ हैं। किस कारण से कहते हैं। ? **जम्हा** क्योंकि। **सुदणाणं** द्रव्यश्रुत के आधार से भावश्रुत ज्ञान उत्पन्न होता है। **आदा** आत्मा भावश्रुत ज्ञानी होता है। कैसे होता है ? **सव्वं** आत्मा के संवेदन के सर्व विषय का अथवा पर विषय का ज्ञान होता है। **तम्हा** इस कारण से। **सुदकेवली** वह द्रव्यश्रुतकेवली है। इसका आशय यह है कि जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञान के बल से शुद्धात्मा को जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली है, किन्तु जो स्वशुद्धात्मा का संवेदन नहीं करता है, भावना नहीं करता है तथा बाह्यविषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

प्रश्न – तो फिर क्या इस काल में भी स्वसंवेदनज्ञान के बल से श्रुतकेवली होते हैं ?

अथ गाथाया: पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति–

ता.अतिरिक्त गाथा १– णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तम्हा कुण भावणं आदे ॥

टीका – सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयभावना खलु स्फुटं कर्तव्या भवति। तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यत: कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ॥१॥

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति –

ता.अतिरिक्त गाथा २– जो आद भावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्व दु:ख मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

टीका – य: कर्ता आत्मभावनामिमां नित्योद्यत: सन् मुनि: तपोधन: समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदु:खमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थ:। इति निश्चय-व्यवहार-रत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् ॥२॥

उत्तर – ऐसा नहीं है क्योंकि जिसप्रकार पूर्व में पुरुषों को शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान होता था, उसप्रकार इस समय नहीं होता है; किन्तु धर्मध्यान के योग्य स्वसंवेदनज्ञान अभी भी होता है – ऐसा अर्थ है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार श्रुतकेवली के व्याख्यान रूप से दो गाथाओं द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥९-१०॥

अतिरिक्त गाथा १ का हिन्दी – अब गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा भेदरत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध द्वारा अभेदरत्नत्रय की भावना का वर्णन करते हैं –

गाथार्थ :– (**णाणम्हि**) ज्ञान में (**दंसणे**) दर्शन में (**य**) और (**चरित्ते**) चारित्र में (**खलु**) दृढ़ता से (**भावणा**) भावना (**कादव्वा**) करनी चाहिए (**पुण**) क्योंकि (**ते**) वे (**तिण्णि वि**) तीनों भी (**आदा**) अभेदनय से एक आत्मा ही हैं, (**तम्हा**) इसलिए (**आदे**) आत्मा में (**भावणं कुण**) भावना करो।

टीका :– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की निश्चय से स्पष्टत: भावना करना चाहिए और वे तीनों भी निश्चय से आत्मा ही हैं, इसलिए अपने शुद्धात्मा की भावना करो ॥१॥

अतिरिक्त गाथा २ का हिन्दी – अब भेदाभेदरत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं –

गाथार्थ :– (**जो**) जो (**आदभावणमिणं**) इस आत्मभावना में (**णिच्चुवजुत्तो**) निरन्तर युक्त होता हुआ (**समाचरदि**) सम्यक् आचरण करता है अर्थात् आत्मभावना में लीन होता है (**सो**) वह (**मुणी**) मुनि (**अचिरेण कालेण**) थोड़े ही काल में (**सव्वदुक्खमोक्खं**) सर्व दुखों से मुक्ति को (**पावदि**) प्राप्त करता है।

टीका :– जो कर्ता मुनि – तपोधन हमेशा इस आत्मभावना में प्रयास रत होता हुआ सम्यक् आचरण करता है, भावना करता है वह मुनि थोड़े ही काल में सर्व दु:खों से मुक्ति को प्राप्त करता है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय की भावना तथा भावना के फल का कथन करनेवाली दो गाथाओं द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ ॥२॥

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत् –

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति। तथा हि यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसो-र्विवेकमकुर्वंतो बहवोनच्छमेव तदनुभवंति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैक-ज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमान-भाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति। भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया

अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले यह कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना चाहिए, किन्तु यदि वह परमार्थ को कहनेवाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों अंगीकार न किया जाये ? इसके उत्तररूप में गाथासूत्र कहते हैं :–

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सद्दृष्टि निश्चय होय है ॥११॥

गाथार्थ :– [**व्यवहारः**] व्यवहारनय [**अभूतार्थः**] अभूतार्थ है [**तु**] और [**शुद्धनयः**] शुद्धनय [**भूतार्थः**] भूतार्थ है, ऐसा [**दर्शितः**] ऋषीश्वरों ने बताया है; [**जीवः**] जो जीव [**भूतार्थं**] भूतार्थ का [**आश्रयः**] आश्रय लेता है वह जीव [**खलु**] निश्चय से (वास्तव में) [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**भवति**] है।

टीका :– व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से विद्यमान, सत्य, भूत अर्थ को प्रगट करता है। यह बात दृष्टान्त से बतलाते हैं – जैसे प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है, ऐसे जल का अनुभव करनेवाले पुरुष जल और कीचड़ का विवेक न करनेवाले (दोनों के भेद को न समझनेवाले) बहुत से तो उस जल को मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथ से डाले हुये कतकफल[१] के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कादव की विवेकता से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपने से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसीप्रकार प्रबल कर्मों के मिलने से जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले पुरुष, आत्मा और कर्म का विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहार से विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्मा को) जिसमें भावों की विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है – ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनय

१. कतकफल = निर्मली (एक औषधि, जिससे कीचड़ नीचे बैठ जाता है।)

स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव सम्यक् पश्यंत: सम्यग्दृष्टयो भवंति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य। अत: प्रत्यगात्मदर्शिभि-र्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य: ॥११॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानी पुरुषोप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति – **ववहारो** व्यवहारनय:। **अभूदत्थो** अभूतार्थ: असत्यार्थो भवति। **भूदत्थो** भूतार्थ: सत्यार्थ:। **देसिदो** देशित: कथित:। **दु** पुन: कोऽसौ ? **सुद्धणओ** शुद्धनय: निश्चयनय:। तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत्? **भूदत्थं** भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयं। **अस्सिदो** आश्रितो गत: स्थित:। **खलु** स्फुटं **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानम्।

द्वितीयव्याख्यानेन पुन: **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो। **भूदत्थो** भूतार्थश्च। **देसिदो** देशित: कथित:। न केवलं व्यवहारो देशित: **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनयोऽपि। **दु** शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोपीतिव्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्। इदमत्र तात्पर्यम् – यथा कोऽपि ग्राम्यजन: सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिक: पुन: विवेकीजन: कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति। तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजन: पुनरभेदरत्नत्रय-लक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थ: ॥११॥

को देखनेवाले) अपनी बुद्धि से डाले हुये शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से उत्पन्न आत्मा और कर्म के विवेक से, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकभावत्व के कारण उसे (आत्मा को) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है – ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ शुद्धनय कतलफल के स्थान पर है, इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करने से सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मों से भिन्न आत्मा के देखने वालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।

भावार्थ :– यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने का आशय यह है कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिए। ऐसा न समझना चाहिए कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जाये तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्म को वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो और उससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्या दृष्टि का ही प्रसंग आये, इसलिए यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नय को मुख्य-गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं उपदेश भी विरल है – वह कहीं-कहीं पाया जाता है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर

अथ च केषांचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान्। यतः –

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे॥१२॥

उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि ''शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है तबतक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।'' – ऐसा आशय समझना चाहिए॥११॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, जैसे कोई ब्राह्मणादि विशिष्ट व्यक्ति म्लेच्छ को समझाने के काल में ही म्लेच्छ भाषा बोलता है, अन्य काल में नहीं; वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अज्ञानी को समझाने के काल में व्यवहार का आश्रय लेता है, अन्यकाल में नहीं। ऐसा क्यों ? क्योंकि व्यवहारनय अभूतार्थ है। यही दिखलाते हैं –

ववहारो व्यवहारनय। **अभूदत्थो** अभूतार्थ असत्यार्थ है। **भूदत्थो** भूतार्थ सत्यार्थ। **देसिदो** कहा गया है। **दु** पुनः वह कौन है ? **सुद्धणओ** शुद्धनय निश्चयनय। तो फिर किस नय से सम्यग्दृष्टि होता है ? **भूदत्थं** भूतार्थ सत्यार्थ निश्चयनय के। **अस्सिदो** आश्रय से, निश्चयनय को प्राप्त करने से, निश्चयनय में स्थित होने से। **खलु** स्पष्टरूप से **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** जीव सम्यग्दृष्टि होता है। इसप्रकार टीका-कथन है।

पुनः द्वितीयव्याख्यान से **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहार अभूतार्थ और **भूदत्थो** भूतार्थ **देसिदो** कहा गया है। न केवल व्यवहार अभूतार्थ और भूतार्थ कहा गया है, अपितु **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनय भी। **दु** शब्द से यह शुद्धनिश्चयनय भी भूतार्थ-अभूतार्थ कहा गया है। इसप्रकार के नय व्याख्यान से व्यवहारनय भूतार्थ-अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का है, निश्चयनय भी शुद्ध निश्चय और अशुद्ध निश्चय के भेद से दो प्रकार का है– इसप्रकार चार नय हैं। यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीणजन कीचड़ सहित जल पीता है, किन्तु नगरवासी विवेकीजन उस कीचड़ युक्त जल में कतकफल (निर्मली द्रव्य) डालकर निर्मल जल को पीता है। उसीप्रकार स्वसंवेदनरूप भेदभावना से रहित अविवेकी जीव मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणाम सहित आत्मा का अनुभव करता है और सम्यग्दृष्टिजन अभेदरत्नत्रय लक्षणरूप निर्विकल्प समाधि के बल से कतकफल (निर्मली द्रव्य) की तरह निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है॥११॥

....

अब, ''यह व्यवहारनय भी किसी-किसी को किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है; इसलिए उसका उपदेश है'' यह कहते हैं –

देखै परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है।
ठहरा जु अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट है॥१२॥

गाथार्थः– [**परमभावदर्शिभिः**] जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतिताऽस्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्।।१२।। उक्तं च –

''जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।''

हो गये उन्हें तो [**शुद्धादेशः**] शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करनेवाला [**शुद्धः**] शुद्धनय [**ज्ञातव्य**] जाननेयोग्य है; [**पुनः**] और [**ये तु**] जो जीव [**अपरमे भावे**] अपरमभाव में अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं; साधक अवस्था में ही (**स्थिताः**] स्थित हैं वे [**व्यवहारदेशिताः**] व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीका :– जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान (वस्तु के) उत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकों की परम्परा से पच्यमान (पकाये जाते हुए) अशुद्ध स्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव हैं उनका अनुभव नहीं होता; इसलिए, शुद्धद्रव्य को कहनेवाला होने से जिसने अचलित अखण्ड एकभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण-वर्ण) समान होने से, जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है। परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान जो (वस्तु का) अनुत्कृष्ट मध्यमभाव का अनुभव करते हैं, उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता; इसलिये, अशुद्ध द्रव्य को कहनेवाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता (ज्ञात होता) हुआ उस काल प्रयोजनवान है; क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है; ऐसा व्यवहार धर्म है और पार होना व्यवहारधर्म का फल है; अथवा अपने स्वरूप को प्राप्त करना तीर्थफल है।) अन्यत्र भी कहा है कि –

अर्थ :– आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय – दोनों नयों को मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ – व्यवहार मार्ग का नाश हो जायेगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा।

भावार्थ :– लोक में सोने के सोलहवान (ताव) प्रसिद्ध हैं। पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोग की कालिमा रहती है, इसलिए तबतक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते देते जब अन्तिम ताव से उतरता है तब वह सोलहवान या सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन्हें सोलहवान वाले सोने

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥

का ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई उन्हें पन्द्रहवान तक का सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता और जिन्हें सोलहवान वाले शुद्ध सोने की प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तबतक पन्द्रहवान तक का सोना भी प्रयोजनवान है। इसी प्रकार यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्गल के संयोग से अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है। उसका, समस्त परद्रव्यों से भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्र का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति – यह तीनों जिसे हो गये हैं, उसे पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपता को कहने वाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलब का) नहीं है; किन्तु जहाँ तक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई, वहाँ तक जितना अशुद्धनय का कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है। जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना तथा जिनवचनों को कहनेवाले श्री जिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति और पंचपरमेष्ठी का ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवं विशेष जानने के लिये शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना – ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान है। +व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिए उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इसलिए शुद्धनय का विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है – ऐसा स्याद्वाद मत में श्रीगुरुओं का उपदेश है॥१२॥

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[उभय-नय-विरोध-ध्वंसिनि]** निश्चय और व्यवहार – इन दो नयों के विषय के भेद से परस्पर विरोध है; उस विरोध का नाश करनेवाला **[स्यात् पद-अंके]** 'स्यात्' – पद से चिह्नित जो

+ व्यवहारनय के उपदेश से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि आत्मा परद्रव्य की क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावों को आत्मा व्यवहार से कर सकता है। और उस उपदेश से ऐसा भी नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव करने से आत्मा शुद्धता को प्राप्त करता है, परन्तु ऐसा समझना कि साधक दशा में भूमिका के अनुसार शुभभाव आये बिना नहीं रहते।

(मालिनी)

व्यवहरणनय: स्याद्यद्यपिप्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंब:।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंत: पश्यतां नैष किंचित् ।।५।।

[**जिनवचसि**] जिन भगवान का वचन (वाणी) है, उसमें [**ये रमन्ते**] जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) [**ते**] वे **(स्वयं)** अपने आप ही (अन्य कारण के बिना) [**वान्त मोहा:**] मिथ्यात्वकर्म के उदय का वमन करके [**उच्चै: परं ज्योति: समयसारं**] इस अतिशयरूप परम ज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को [**सपदि ईक्षन्ते एव**] तत्काल ही देखते हैं। वह समयसाररूप शुद्ध आत्मा [**अनवम्**] नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु पहले कर्मों से आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्ति रूप हो गया है। और वह [**अनय-पक्ष-अक्षुण्णम्**] सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

भावार्थ :– जिनवचन (जिनवाणी) स्याद्वादरूप है। जहाँ दो नयों के विषय का विरोध है, जैसे कि जो सत्‌रूप होता है वह असत्‌रूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता, जो नित्य होता है वह अनित्य नहीं होता, जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता, जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयों के विषय में विरोध है – वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षा से सत्-असत्‌रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप जिसप्रकार विद्यमान वस्तु है उसीप्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, असत् कल्पना नहीं करता। जिनवचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों में, प्रयोजनवश शुद्धद्रव्यार्थिक नय को मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहते हैं। – ऐसे जिनवचन में जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं – अन्य सर्वथा एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्त पक्ष का विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्म को ग्रहण करके वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं – जो असत्यार्थ है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है ।।४।।

– इसप्रकार इन बारह गाथाओं में पीठिका (भूमिका) है।

अब आचार्य शुद्धनय को प्रधान करके निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं। अशुद्धनय की (व्यवहारनय की) प्रधानता में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, जबकि यहाँ उन जीवादि तत्त्वों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं। टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं, उनमें से प्रथम श्लोक में यह कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान कहा है तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है :–

श्लोकार्थ :– [**व्यवहरण-नय:**] जो व्यवहारनय है वह [**यद्यपि**] यद्यपि [**इह प्राक्-पदव्यां**] इस पहली पदवी में (जबतक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक) [**निहित-पदानां**] जिन्होंने

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ।।६।।

अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों को [**हन्त**] अरे रे ! [**हस्तावलंबः स्यात्**] हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, [**तद्-अपि**] तथापि [**चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां**] जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं उन्हें [**एषः**] यह व्यवहारनय [**किंचित् न**] कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

भावार्थ :– शुद्ध स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने के बाद अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनकारी नहीं है।।५।।

अब निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अस्य आत्मनः**] इस आत्मा को [**यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम्**] अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) [**एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्**] – ही नियम से सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा [**व्याप्तुः**] अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त रहनेवाला है, और [**शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य**] शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा [**पूर्ण-ज्ञान-घनस्य**] पूर्ण ज्ञानघन है। [**च**] एवं [**तावान् अयं आत्मा**] जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, [**तत्**] इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि [**इमाम् नव-तत्त्व-सन्ततिं मुक्त्वा**] ''इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, [**अयम् आत्मा एकः अस्तु नः**] यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो।''

भावार्थ :– सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुण-पर्यायभेदों में व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है – शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्यद्रव्यों और अन्यद्रव्यों के भावों से अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता इसलिये नियमरूप है, शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है – सर्व लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है, आत्मा का ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। अतः जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जो नय है सो श्रुतप्रमाण का अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना है; इसलिये यह शुद्धनय सर्व द्रव्यों से

(अनुष्टुभ्)

अत: शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति।।७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयमाश्रितो जीव: सम्यग्दृष्टिर्भवति। अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुन: षोडशवर्णिकासुवर्ण-लाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत् केषांचित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यान-वंचनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति – **सुद्धो** शुद्धनय: निश्चयनय:। कथंभूत: ? **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्यस्यादेश: कथनं यत्र स भवति शुद्धादेश:। **णादव्वो** ज्ञातव्य: भावयितव्य:। कै: ? **परमभावदरसीहिं** शुद्धात्म-भावदर्शिभि:। कस्मादिति चेत् ? यत: षोडशवर्णिकाकार्त्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति। नि:प्रयोजनो न भवतीत्यर्थ:। **ववहारदेसिदो** व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण दर्शित: कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनय:। **पुण** पुन: अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषाम् ? **जे** ये पुरुषा:। **दु** पुन:। **अपरमे** अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा **सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे** प्रमत्ताप्रमत्त-संयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा **ट्ठिदा** स्थिता: कस्मिन् स्थिता: ? **भावे** जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थ:।

एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पंचमं स्थलं गतम्। इति चतुर्दशगाथाभि: स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता।।१२।।

भिन्न, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप – सर्व लोकालोक को जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे सो वह श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। जबतक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वों की संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ? उसका समाधान यह है – नास्तिकों को छोड़कर सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा संपूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होने से ही निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिए।।६।।

अब, टीकाकार आचार्य निम्नलिखित श्लोक में यह कहते हैं कि 'तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन, सर्व द्रव्यों से भिन्न, आत्मज्योति प्रगट हो जाती है :–

श्लोकार्थ :– **[अत:]** तत्पश्चात् **[शुद्धनय-आयत्तं]** शुद्धनय के आधीन **[प्रत्यग् ज्योति:]** जो भिन्न आत्मज्योति है **[तत्]** वह **[चकास्ति]** प्रगट होती है **[यद्]** कि जो **[नव-तत्त्व-गतत्वे अपि]** नवतत्त्वों में प्राप्त होने पर भी **[एकत्वं]** अपने एकत्व को **[न मुंचति]** नहीं छोड़ती।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥१३॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम्॥१३॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थ-प्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्व-

---

भावार्थ :– नवतत्त्वों में प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि उसका भिन्न स्वरूप विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्य-चमत्कार मात्र ज्योति नहीं छोड़ता॥७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – पूर्व गाथा में कहा है कि भूतार्थनय का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है। किन्तु यहाँ इस गाथा में यह कहते हैं कि न केवल भूतार्थ निश्चयनय निर्विकल्प समाधि में स्थित जीवों को प्रयोजनवान् है; अपितु निर्विकल्पसमाधि से रहित किन्हीं प्राथमिक अवस्था वाले जीवों को अन्तिम सोलह तावावाले शुद्ध स्वर्ण के लाभ के अभाव में नीचे के तावावाले स्वर्ण के लाभ की तरह कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व विषय-कषाय भावरूप दुर्ध्यान से बचने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् होता है – ऐसा प्रतिपादन करते हैं। **सुद्धो** शुद्धनय निश्चयनय है। कैसा है शुद्धनय ? **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्य का कथन जहाँ है वह शुद्धादेश है। **णादव्वो** शुद्धनय जानने योग्य है, अनुभव करने योग्य है। किनके द्वारा ? **परमभावदरसीहिं** शुद्धात्म भावदर्शियों द्वारा।

किस कारण से जानने योग्य है ? क्योंकि सोलह तावावाले स्वर्ण के लाभ की तरह अभेद रत्नत्रयस्वरूप समाधिकाल में शुद्धनय प्रयोजनवान है, निष्प्रयोजन नहीं है। **ववहारदेसिदो** व्यवहार से विकल्प भेदरूप पर्याय से कहा गया है, अत: व्यवहार का उपदेश करनेवाला व्यवहारनय है। **पुण** और वह व्यवहारनय नीचे के तावावाले स्वर्ण के लाभ की तरह प्रयोजनवान् होता है। किनके लिए ? **जे** जो पुरुष **दु** पुन: **अपरमे** अशुद्ध भाव में स्थित है अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सरागसम्यग्दृष्टि लक्षणवाले शुभोपयोग में तथा प्रमत्त-अप्रमत्त संयत (सकल संयमी) की अपेक्षा से भेदरत्नत्रय लक्षण में **ट्ठिदा** स्थित है। किसमें स्थित है ? **भावे** उन जीवपदार्थ में स्थित हैं – यह भावार्थ है ॥१२॥

– इसप्रकार निश्चय व्यवहारनय के व्याख्यान रूप प्रतिपादन से दो गाथाओं द्वारा पाँचवां स्थल समाप्त हुआ। इसप्रकार चौदह गाथाओं तथा पांच स्थलों द्वारा पीठिका समाप्त हुई।

....

इसप्रकार ही शुद्धनय से जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथा में कहते हैं :–

भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना॥१३॥

गाथार्थ :– [**भूतार्थेन अभिगता:**] भूतार्थनय से ज्ञात [**जीवाजीवौ**] जीव, अजीव [**च**] और

द्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणाया: संपद्यमानत्वात्। तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रव:, संवार्यसंवारकोभयं संवर:, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंध:, मोच्यमोचकोभयं मोक्ष:, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्ते:। तदुभयं च जीवाजीवाविति। बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनिजीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो, जीवस्य विकारहेतुरजीव:। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणा:, केवलाजीवविकारहेतव: पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमान: शुद्धनय-

---

[**पुण्यपापं**] पुण्य, पाप [**च**] तथा [**आस्रवसंवरनिर्जरा:**] आस्रव, संवर, निर्जरा [**बंध:**] बन्ध [**च**] और [**मोक्ष:**] मोक्ष [**सम्यक्त्वम्**] – यह नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं।

टीका :– यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थनय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं (यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थ की (व्यवहारधर्म की) प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहे गये – ऐसे नवतत्त्व – जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं – उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूप से स्थापित आत्मा की अनुभूति – जिसका लक्षण आत्मख्याति है, वह प्राप्त होती है (शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, इस हेतु से यह नियम कहा है)। वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने योग्य और आस्रव करनेवाला – दोनों आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक) – दोनों संवर हैं, निर्जरा होने के योग्य और निर्जरा करनेवाला – दोनों निर्जरा हैं, बँधने के योग्य और बन्धन करनेवाला – दोनों बन्ध हैं और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला – दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दो में से एक जीव है और दूसरा अजीव)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टि से देखा जाये तो जीव-पुद्गल की अनादि-बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; (वे जीव के एकाकार स्वरूप में नहीं हैं;) इसलिये इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसीप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं – ये केवल जीव के विकार हैं अर्थात् जीव के विशेषभाव हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष – ये विकार हेतु केवल अजीव हैं; ऐसे यह नवतत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं ऐसे एकद्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने

त्वेनानुभूयत एव। या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव। इति समस्तमेव निरवद्यम्।

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव

पर भूतार्थ हैं और सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं – असत्यार्थ हैं। इसलिये इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ शुद्धनयरूप से अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्मा की पहिचान) ही है और जो आत्मख्याति है सो सम्यग्दर्शन ही है। इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है, बाधा रहित है।

भावार्थ :– इन नवतत्त्वों में शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कार मात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जबतक इसप्रकार जीवतत्त्व की जानकारी जीव को नहीं है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है। जीव-पुद्गल की बन्धपर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निजस्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य-पापादि साततत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त-नैमित्तिक भाव से हुए थे इसलिए जब वह निमित्त-नैमित्तिक भाव मिट गया तब जीव-पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है, इसलिये शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जबतक भिन्न-भिन्न नवपदार्थों को जाने और शुद्धनय से आत्मा को न जाने तबतक पर्यायबुद्धि है।

यहाँ, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इति**] इसप्रकार [**चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः**] नवतत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति [**उन्नीयमानं**] शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है, [**वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव**] जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं। [**अथ**] इसलिए अब हे भव्यजीवो ! [**सततविविक्तं**] इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, [**एकरूपं**] एकरूप [**दृश्यताम्**] देखो। [**प्रतिपदम् उद्योतमानम्**] यह (ज्योति) पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

भावार्थ :– यह आत्मा सर्व अवस्थाओं में विविधरूप से दिखाई देता था, उसे शुद्धनय ने एक

भूतार्थ:। प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च। तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च व्युदस्तसमस्त-भेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। नयस्तु द्रव्यार्थिक: पर्यायार्थिकश्च। तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिक:, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिक:। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययो: पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभाव-स्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्। वर्त्तमानतत्पर्यायो भाव:। तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभाव-स्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते।।१३।।

चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिए अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।।८।।

टीका :– अब, जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है, उसीप्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचन के भेदों से प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं)। उनमें से पहले प्रमाण दो प्रकार के हैं – परोक्ष और प्रत्यक्ष। [१]उपात्त और [२]अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है और केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चितरूप से प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाण ज्ञान है, वह ज्ञान पाँच प्रकार का है – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल। उनमें से मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मन:पर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है। इसलिये यह दो प्रकार के प्रमाण हैं।) वे दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय के भेद का अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकार के हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यता से अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराये सो पर्यायार्थिकनय है। यह दोनों नय द्रव्य और पर्याय का पर्याय से (भेद से, क्रम से) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्याय दोनों से अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्ध वस्तुमात्र जीव के (चैतन्यमात्र) स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेप के चार भेद हैं – नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तु में जो गुण न हो उस गुण के नाम से (व्यवहार के लिए) वस्तु की संज्ञा करना सो नाम निक्षेप है। 'यह वह है' – इसप्रकार अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना (प्रतिमारूप स्थापन करना) सो स्थापना निक्षेप है। वर्तमान से अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना सो द्रव्य निक्षेप है। वर्तमान

---

१. प्राप्त (इन्द्रिय मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं।) २. अप्राप्त (प्रकाश उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं।)

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥९॥

पर्याय से वस्तु को वर्तमान में कहना सो भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपों का अपने-अपने लक्षणभेद से (विलक्षणरूप से – भिन्न-भिन्नरूप से) अनुभव किये जाने पर वे भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर वे चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसप्रकार इन प्रमाण-नय-निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ :– इन प्रमाण, नय, निक्षेपों का विस्तार से कथन तद्विषयक ग्रन्थों से जानना चाहिये; उनसे द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। वे साधक अवस्था में तो सत्यार्थ ही हैं, क्योंकि वे ज्ञान के ही विशेष हैं। उनके बिना वस्तु को चाहे जैसे साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं – प्रथम अवस्था में प्रमाणादि से यथार्थ वस्तु को जानकर ज्ञान-श्रद्धान की सिद्धि करना; ज्ञान-श्रद्धान के सिद्ध होने पर श्रद्धान के लिये प्रमाणादि की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु अब यह दूसरी अवस्था में प्रमाणादि के आलम्बन से विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्म के सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है, उससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होने के पश्चात् प्रमाणादि का आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्था में प्रमाण-नय-निक्षेप का अभाव ही है ॥१३॥

इस अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि [**अस्मिन् सर्वङ्कषे धाम्नि अनुभवम् उपयाते**] इन समस्त भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेजपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर [**नयश्रीः न उदयति**] नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती, [**प्रमाणं अस्तम् एति**] प्रमाण अस्त हो जाता है [**अपि च**] और [**निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः**] निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते। [**किम् अपरम् अभिदध्मः**] इससे अधिक क्या कहें ? [**द्वैतम् एव न भाति**] द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ :– भेद को अत्यन्त गौण करके कहा है कि प्रमाण, नयादि भेद की तो बात ही क्या ? शुद्ध अनुभव के होने पर द्वैत ही भासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि अन्त में परमार्थरूप तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ – यही हमारा मत है; इसमें आपने विशेष क्या कहा ? इसका उत्तर – तुम्हारे मत में सर्वथा अद्वैत माना जाता

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कश्चिदासन्नभव्य: पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति। विस्तारुरुचि: पुनर्नवभिरधिकारै: समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति। तद्यथा– विस्ताररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारै: समयसारव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्र-परित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धि: संवित्ति: प्रतीति: ख्यातिरनुभूतिस्तदेव **निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते।** तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका। अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाता: संतस्त एवा-भेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद्व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवन्ति, निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति –

है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाये और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मत में नयविवक्षा है जो कि बाह्यवस्तु का लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभव से विकल्प मिट जाता है तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है, इसलिए अनुभव कराने के लिए यह कहा है कि ''शुद्ध अनुभव में द्वैत भासित नहीं होता।'' यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जाये तो आत्मा का भी लोप हो जायेगा और शून्यवाद का प्रसंग आयेगा। इसलिए जैसा तुम कहते हो उसप्रकार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के बिना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है वह भी मिथ्यारूप है; शून्य का प्रसंग होने से तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुम के अनुभव के समान है।।९।।

आगे शुद्धनय का उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [शुद्धनय: आत्मस्वभावं प्रकाशयन् अभ्युदेति] शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभाव को **[परभावभिन्नं]** परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव – ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है। और वह **[आपूर्णम्]** आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है – समस्त लोकालोक का ज्ञाता है – ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से हैं, शुद्धनय में कर्म गौण हैं।) और वह, **[आदि-अन्त-विमुक्तम्]** आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिकभाव को प्रगट करता है)। और वह, **[एकम्]** आत्मस्वभाव को एक सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार प्रगट करता है और **[विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं]** जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है।।१०।।

भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन **अभिगदा** अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः संतः के ते ? **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षस्वरूपा नवपदार्थाः। **सम्मत्तं** त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवन्ति। निश्चयेनपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति। नवपदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः संतः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नवपदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रय लक्षण-निर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था, असत्यार्था, शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति। तस्मिन् **परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति।** या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मो-पलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यम्। किंच, ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमात्मादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारण भूतास्तेऽपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः। परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयत इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता॥१३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब कोई निकट भव्य जीव पीठिका के व्याख्यान मात्र से ही हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावमय निजस्वरूप की भावना करता है; परन्तु विस्ताररुचि वाला शिष्य नव अधिकारों द्वारा समयसार को जानकर पश्चात् भावना करता है। वह इस प्रकार है – विस्ताररुचि वाले शिष्य को समझाने के लिए जीवादि नवपदार्थ अधिकारों के द्वारा समयसार का व्याख्यान किया जाता है। वहाँ प्रथम नवपदार्थ के अधिकार की गाथा द्वारा आर्तरौद्रध्यान के परित्याग लक्षण वाले निर्विकल्प सामायिक में स्थित रहनेवालों का जो शुद्धात्म स्वरूप का दर्शन, शुद्धात्मा का अनुभव, शुद्धात्मा का अवलोकन, शुद्धात्मा की उपलब्धि, संवेदन, प्रतीति, ख्याति (प्रसिद्धि) तथा अनुभूति है, उसी को निश्चयनय से निश्चयचारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वरूप वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं और वही (सम्यक्त्व) गुण-गुणी के अभेदरूप निश्चयनय से शुद्धात्मा का स्वरूप है, यह प्रथम पीठिका है। अथवा नवपदार्थ भूतार्थ से जानने पर अभेदोपचार से सम्यक्त्व का विषय होने से व्यवहार सम्यक्त्व के निमित्त होते हैं; परन्तु निश्चयनय से अपने आत्मा का शुद्धपरिणाम ही सम्यक्त्व है, इसप्रकार द्वितीय पीठिका है। ऐसी दोनों पीठिकाओं को मन में धारण करके यह गाथासूत्र कहते हैं –

भूदत्थेण भूतार्थ से, निश्चयनय से, शुद्धनय से **अभिगदा** अभिगत होते हैं, निर्णीत होते हैं, निश्चित होते हैं, ज्ञात होते हैं। वे कौन ? **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीव,अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्षस्वरूप नवपदार्थ हैं। **सम्मत्तं** वे नव पदार्थ ही अभेदोपचार से सम्यक्त्व के विषय होने से, कारण होने से सम्यक्त्व हैं। निश्चय से स्वपरिणाम ही सम्यक्त्व है। भूतार्थ से जाने हुए नवपदार्थ सम्यक्त्व हैं – ऐसा आपने कहा, उस भूतार्थ के परिज्ञान का क्या स्वरूप है? ऐसा पूछे जाने पर प्रत्युत्तर देते हैं। यद्यपि प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा से तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं, तथापि अभेदरत्नत्रय लक्षणरूप निर्विकल्प समाधि के काल में वे नव पदार्थ अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं, शुद्धस्वरूप नहीं हैं। उस परमसमाधिकाल में नवपदार्थों में शुद्धनिश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही प्रद्योतित होता है, प्रकाशित होता है, प्रतीत होता है, अनुभव में आता है। जो अनुभूति, प्रतीति या शुद्धात्मोपलब्धि है, वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति निश्चयनय से गुण-गुणी की अभेदविवक्षा

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णगं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव। इत्यात्मैक एव प्रद्योतते। कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनाम-भूतार्थत्वात्। तथा हि – यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्, तथा-

---

में शुद्धात्मा का स्वरूप है ऐसा आशय है। और जो प्रमाण-नय-निक्षेप हैं; वे परमात्मादि-तत्त्वविचार काल में सहकारी कारण रूप हैं। वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं और परमसमाधिकाल में वे अभूतार्थ हैं। उन नव पदार्थों में भूतार्थ से एक शुद्ध जीव की ही प्रतीति होती है। इस प्रकार नवपदार्थ अधिकार की गाथा हुई ॥१३॥

....

उस शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं :–

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जान जो ॥१४॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो नय [**आत्मानं**] आत्मा को [**अबद्धस्पृष्टम्**] बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित, [**अनन्यकं**] अन्यत्व रहित, [**नियतम्**] चलाचलता रहित, [**अविशेषम्**] विशेष रहित, [**असंयुक्तम्**] अन्य के संयोग से रहित – ऐसे पाँच भावरूप से [**पश्यति**] देखता है [**तं**] उसे, हे शिष्य! तू [**शुद्धनयं**] शुद्धनय [**विजानीहि**] जान।

टीका :– निश्चय से अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – ऐसे आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। (शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा – सब एक ही हैं, अलग-अलग नहीं।) यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है? उसका समाधान यह है – बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिए यह अनुभूति हो सकती है। इस बात को दृष्टान्त से प्रगट करते हैं – जैसे कमलिनी-पत्र जल में डूबा हुआ हो तो उसका जल से स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जल से किंचित्मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादिकाल से बँधे हुए आत्मा का पुद्गलकर्मों से बँधने – स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप

त्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थ-

---

जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। तथा जैसे मिट्टी का ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायों से अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का नारक आदि पर्यायों से अनुभव करने पर (पर्यायों के अन्य-अन्यरूप से) अन्यत्व भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है – असत्यार्थ है।

जैसे समुद्र का वृद्धि-हानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है– सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है– असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का वृद्धि-हानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है– सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे सोने का चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान-दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है। जैसे जल का, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप – तप्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णता के साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्मा का, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है – सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप (ज्ञानरूप) है ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है – असत्यार्थ है।

भावार्थ :– आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है – (१) अनादिकाल से कर्मपुद्गल के संबंध से बंधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला दिखाई देता है, (२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-

मपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादि-पर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानता-यामभूतार्थम्। तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्त-विशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्याये-णानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं बोधं जीवस्वभावमुपे-त्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्।।१४।।

नारक आदि पर्यायों में भिन्न-भिन्न स्वरूप से दिखाई देता है, (३) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं – यह वस्तु का स्वभाव है इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, (४) वह दर्शन-ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दिखाई देता है और (५) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामों कर सहित होने से वह सुख-दुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है। इस दृष्टि (अपेक्षा) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है। परन्तु आत्मा का एक स्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता और एक स्वभाव को जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है ? इसलिए दूसरे नय को – उसके प्रतिपक्षी शुद्धद्रव्यार्थिकनय को – ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर, उसे शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्व पर्यायों में एकाकार, हानि-वृद्धि से रहित, विशेषों से रहित और नैमित्तिक भावों से रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावों से जो अनेक प्रकारता है वह अभूतार्थ है – असत्यार्थ है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वस्तु का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्तधर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गल के संयोग से होते हैं। जो कर्म के संयोग से होते हैं, उनसे आत्मा की सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्संबंधी जो सुख-दुःखादि होते हैं उन्हें भोगता है। यह इस आत्मा की अनादिकालीन अज्ञान से पर्यायबुद्धि है; उसे अनादि-अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञ का आगम है। उसमें शुद्धद्रव्यार्थिकनय से यह बताया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड, नित्य और अनादिनिधन है। उसे जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्यों से, उनके भावों से और उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभावों से अपने आत्मा को भिन्न जानकर जब जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्य के भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए कर्मबन्ध नहीं होता और संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता।

इस कथन से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुद्धनय को सत्यार्थ कहा है, इसलिए अशुद्धनय

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥११॥

सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा मानने से वेदान्तमतवाले जो कि संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं, उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आ जायेगा और उससे मिथ्यात्व आ जायेगा; इसप्रकार यह शुद्धनय का आलम्बन भी वेदान्तियों की भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। इसलिये सर्वनयों की कथंचित् सत्यार्थता का श्रद्धान करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना चाहिए, मुख्य-गौण कथन को सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिए। इस गाथासूत्र का विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्य ने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टि से तो सत्यार्थ ही है, परन्तु शुद्धनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथन में टीकाकार आचार्य ने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिए कि वह नय है यह श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है; इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यशक्ति मात्र है। वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्ति कर्मसंयोग से मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होने से प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है और सम्पूर्णज्ञान – केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थ के प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्मा के केवलज्ञानरूप को परोक्ष बतलाता है। जबतक जीव इस नय को नहीं जानता तबतक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्रीगुरु ने इस शुद्धनय को प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना चाहिए, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिए।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है – देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं, उनमें से आगमप्रमाण परोक्ष है; उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना चाहिए, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्ष का ही एकान्त नहीं करना चाहिए॥१४॥

यहाँ, इस शुद्धनय को मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु]** जगत के प्राणियो ! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो कि **[यत्र]** जहाँ **[अमी बद्धस्पृष्टभावादयः]** यह बद्धस्पृष्टादिभाव **[एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि]** स्पष्टतया उस स्वभाव के ऊपर तरते हैं, तथापि वे **[प्रतिष्ठाम् न हि विदधति]** (उसमें) प्रतिष्ठा

(शार्दूलविक्रीडित)

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंत: किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देव: स्वयं शाश्वत: ॥१२॥

(वसन्ततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघन: समंतात् ॥१३॥

नहीं पाते; क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करतीं, ऊपर ही रहती हैं। [**समन्तात् द्योतमानं**] यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। [**अपगतमोहीभूय**] ऐसे शुद्ध स्वभाव का मोहरहित होकर जगत अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

भावार्थ :– यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनय के विषयरूप आत्मा का अनुभव करो ॥११॥

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य पुन: कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है :–

श्लोकार्थ :– [**यदि**] यदि [**क: अपि सुधी:**] कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव [**भूतं भान्तम् अभूतम् एव बन्धं**] भूत, वर्तमान और भविष्य – तीनों काल में कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से [**रभसात्**] तत्काल – शीघ्र [**निर्भिद्य**] भिन्न करके तथा [**मोहं**] उस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को [**हठात्**] अपने बल से (पुरुषार्थ से) [**व्याहत्य**] रोककर अथवा नाश करके [**अन्त:**] अन्तरंग में [**किल अहो कलयति**] अभ्यास करे – देखे तो [**अयम् आत्मा**] यह आत्मा [**आत्म-अनुभव-एक-गम्य-महिमा**] अपने अनुभव से ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा [**व्यक्त:**] व्यक्त (अनुभवगोचर), [**ध्रुवं**] निश्चल, [**शाश्वत:**] शाश्वत, [**नित्यं कर्म-कलंक-पङ्क-विकल:**] नित्य कर्मकलङ्क-कर्दम से रहित [**स्वयं देव:**] स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव [**आस्ते**] विराजमान है।

भावार्थ :– शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरङ्ग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी – पयार्यबुद्धि बहिरात्मा, उसे बाहर ढूँढता है, यह महा-अज्ञान है ॥१२॥

अब, 'शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है' इसप्रकार आगे की गाथा की सूचना के अर्थरूप काव्य कहते हैं :–

समूहपीठिका – तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यन्तं जीवाधिकार: कथ्यते। तथाहि– सहजानन्दैकस्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि** सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनंतरं दृष्टान्तदार्ष्टान्तद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम्। तत: परं जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बंधमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामानामेव कर्तेति तृतीया चेत्येवं **कम्मे णोकम्मम्हि य** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसम्बन्धनिरपेक्षस्वतंत्रं गाथात्रयम्। तदनंतरमिंधनाग्नि-दृष्टांतेनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थम् **अहमेदमित्यादि** चतुर्थस्थले सूत्रत्रयम्। अत: परं शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूति-लक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रयम्।

अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देह एवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थम् **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका। तदनंतरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादन-मुख्यत्वेन **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयम्।

श्लोकार्थ :– [इति] इसप्रकार **[या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूति:]** जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है **[इयम् एव किल ज्ञान-अनुभूति:]** वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है, **[इति बुद्ध्वा]** यह जानकर तथा **[आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य]** आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके, **[नित्यम् समन्तात् एक: अवबोध-घन: अस्ति]** 'सदा सर्व ओर से एक ज्ञानघन आत्मा है', इसप्रकार देखना चाहिये।

भावार्थ :– पहले सम्यग्दर्शन को प्रधान करके कहा था; अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है॥१३॥

....

समूहपीठिका – वहाँ नव अधिकारों में २८ गाथा पर्यन्त पहला जीवाधिकार कहा जाता है। वहाँ सहजानन्द एकस्वभावमय शुद्धात्म-भावना की मुख्यता से **'जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि'** सूत्रपाठ के क्रम से प्रथम स्थल में तीन गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वार से भेदाभेदरत्नत्रय की भावना की मुख्यता से **'दंसणणाणचरित्ताणि'** इत्यादि द्वितीय स्थल में तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद जीव के अप्रतिबुद्धपने– अज्ञानीपने का कथन करने वाली प्रथम गाथा है तथा बंध-मोक्ष योग्य परिणाम का कथन करनेवाली दूसरी गाथा है। जीव (अशुद्ध) निश्चयनय से रागादि परिणामों का ही कर्ता है– ऐसी तीसरी गाथा है। इसप्रकार **'कम्मे णोकम्मम्हि य'** इत्यादि तृतीय स्थल में परस्पर सम्बन्ध निरपेक्ष स्वतंत्र तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद ईंधन एवं अग्नि के दृष्टांत द्वारा अप्रतिबुद्ध का लक्षण कहने के लिए **'अहमेदमित्यादि'** चतुर्थ स्थल में तीन गाथाएँ हैं। इसके बाद शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुभूति लक्षणवाले अभेदरत्नत्रय की भावना के विषय में जो यह अप्रतिबुद्ध – अज्ञानी है, उसे समझाने के लिए **'अण्णाणमोहिदमदी'** इत्यादि पाँचवे स्थल में तीन गाथाएँ हैं।

इसके बाद निश्चयरत्नत्रय लक्षणवाले शुद्धात्मतत्त्व को न जानता हुआ देह ही आत्मा है – ऐसा जो पूर्वपक्ष है उसका स्वरूपकथन करने के लिए **'जदि जीवो'** इत्यादि पूर्वपक्षरूप से एक गाथा है। उसके बाद व्यवहार से देह का स्तवन है तथा निश्चय से शुद्धात्मा का स्तवन है– इसप्रकार दो नयों के भेद के

अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रयम्। एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलम्। ततः परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादि परद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनंतरमनंतज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण-रूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया **अहमेक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेकम्। एवं दंडकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरंतरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ प्रथमगाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिकावार्धिसुवर्णौष्ण्यरहितजलवत्पञ्चविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयति –

जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानाति। कम् ? **अप्पाणं** शुद्धात्मानम्। कथंभूतम् ? **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत्। **अणण्णयं** अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थास-कोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत्। **णियदं** नियतमवस्थितं निस्तरङ्गोत्तरङ्गवस्थासु समुद्रवत्। **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत्। **असंजुत्तं** असंयुक्तमसंबद्धं रागादिविकल्प-रूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति। **तं सुद्धणयं वियाणीहि** तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वा-च्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः॥१४॥

प्रतिपादन की मुख्यता से **'ववहारणओ भासदि'** इत्यादि परिहाररूप चार गाथाएँ हैं। इसके बाद परम उपेक्षालक्षणवाली शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चयस्तुति की मुख्यता से **'जो इंदिए जिणित्ता'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। इसप्रकार आठ गाथाओं में छठवाँ स्थल है। इसके पश्चात् निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही विषय-कषायादि परद्रव्यों का प्रत्याख्यान – त्याग है। इसप्रकार कथन द्वारा **'णाणं सव्वे भावा'** इत्यादि सातवें स्थल में चार गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् अनंतज्ञानादिलक्षण वाले शुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान एवं आचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक स्वसंवेदन ही भावित (भावना के विषयरूप) आत्मा का स्वरूप है – इसप्रकार उपसंहार की मुख्यता की अपेक्षा **'अहमेक्को खलु सुद्धो'** इत्यादि एक गाथा है। इसप्रकार दंडकों को छोड़कर २८ गाथाओं में सात अन्तर्स्थलों द्वारा जीवाधिकार में समूह पातनिका है। वह इसप्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब प्रथम गाथा में संसार अवस्था में भी शुद्धनय से आत्मा अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त – इन पाँच विशेषणों से विशिष्ट है; जिसप्रकार कमलपत्र, मिट्टी, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित जल होता है – ऐसे शुद्धात्मा को कहते हैं – **जो पस्सदि** जो देखता है, जानता है। किसको ? **अप्पाणं** शुद्धात्मा को। कैसा जानता है ? **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्ट, जल में कमलपत्र की तरह द्रव्यकर्म-नोकर्म से असंस्पृष्ट; **अणण्णयं** अनन्य, स्थास-कोश-कुशूल-घटादि पर्यायों में मिट्टी द्रव्य की तरह आत्मा नर-नारकादि पर्यायों में द्रव्यरूप से अनन्य (वह का वह); **णियदं** नियत अवस्थित, निस्तरङ्ग तथा उत्तरङ्ग अवस्थाओं में नियत समुद्र की तरह नियत (अवस्थित); **अविसेसं** अविशेष; गुरुत्व-स्निग्धत्व-पीतत्वादि धर्मों में सुवर्ण की तरह ज्ञान-दर्शनादि भेद रहित अविशेष अभिन्न; **असंजुत्तं** असंयुक्त; उष्णता रहित जल की तरह निश्चयनय से रागादि विकल्परूप भावकर्म रहित असंबद्ध है। **तं सुद्धणयं वियाणीहि** उस आत्मा को अभेदनय से शुद्धनय का विषय होने से, शुद्धात्मा का साधकपना होने से, शुद्ध अभिप्रायरूप परिणत होने से शुद्ध जानो – ऐसा भावार्थ है॥१४॥

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं[1] पस्सदि जिणसासणं सव्वं॥१५॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम्॥१५॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः। किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते। तथा हि – यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजात-

---

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं :–

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्म को।
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो॥१५॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो पुरुष [**आत्मानम्**] आत्मा को [**अबद्धस्पृष्टम्**] अबद्धस्पृष्ट, [**अनन्यम्**] अनन्य, [**अविशेषम्**] अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) [**पश्यति**] देखता है वह [**सर्वम् जिनशासनं**] सर्व जिनशासन को [**पश्यति**] देखता है, जो जिनशासन [[1]**अपदेशसांतमध्यं**] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

टीका :– जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है; क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। परन्तु अब यहाँ, सामान्य ज्ञान के आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव (आच्छादन) से जब ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं उन्हें वह स्वाद में नहीं आता। यह प्रगट दृष्टान्त से बतलाते हैं :– जैसे अनेक प्रकार के शाकादि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण के तिरोभाव और विशेष लवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो (सामान्य के तिरोभावरूप और शाकादि के स्वाद ऐसे भेद से भेदरूप – विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक लोलुप मनुष्यों को आता है; किन्तु अन्य की सम्बन्ध रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थ

पाठान्तर – अपदेससुत्तमज्झं। (१. अपदेश = द्रव्यश्रुत; सुत्त = ज्ञानरूपी भावश्रुत।)

सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते॥१५॥

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्॥१४॥

से देखा जाये तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षार रस रूप) लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (क्षार रस रूप) लवण है।

उसीप्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवों के स्वाद में आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकार की संयोग रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता और परमार्थ से विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है। अलुब्ध ज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव की डली, अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षार रसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है, उसीप्रकार आत्मा भी परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

भावार्थ :– यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही – इन्द्रियज्ञान के विषय में ही लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं, परन्तु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं, जैसे शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इसप्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न, अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है। शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।।१५।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदन-ज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति –

जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति। कम् ? **अप्पाणं** शुद्धात्मानम्। किं विशिष्टं? **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्टम्। अत्र बद्धशब्देन संश्लेषरूपबंधो ग्राह्यः। स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति। द्रव्यकर्मनोकर्माभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत्। **अणण्णं** अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत्। **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत्। नियतमवस्थितं समुद्रवत्। असंयुक्तं परद्रव्यसंयोगरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति। नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति। कथं लभ्यत इति चेत् ? सामर्थ्यात्। तदपि कथं ? **श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः** इति वचनात्। स पुरुषः **पस्सदि** पश्यति जानाति। किं तत् ? **जिणसासणं** जिनशासनं अर्थसमयरूपं जिनमतम्। **सव्वं** सर्व द्वादशाङ्गपरिपूर्णम्। कथंभूतम्? **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेशसूत्रमध्यं अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्। सूत्रं

श्लोकार्थ :– आचार्य कहते हैं कि **[परमम् महः नः अस्तु]** हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो **[यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलनं-निर्भरं]** कि जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है, **[उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम्]** जैसे नमक की डली एक क्षार रस की लीला का आलम्बन करती है, उसीप्रकार जो तेज **[एक-रसम् आलंबते]** एक ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है; **[अखण्डितम्]** जो तेज अखण्डित है, जो ज्ञेयों के आकाररूप खण्डित नहीं होता, **[अनाकुलं]** जो अनाकुल है, जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, **[अनन्तम् अन्तः बहिः ज्वलत्]** जो अविनाशीरूप से अन्तरंग में और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है – जानने में आता है, **[सहजम्]** जो स्वभाव से हुआ है, जिसे किसी ने नहीं रचा और **[सदा उद्विलासं]** सदा जिसका विलास उदयरूप है, जो एकरूप प्रतिभासमान है।

भावार्थ :– आचार्यदेव ने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूप ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो ।।१४।।

अब, आगे की गाथा का सूचनारूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [एषः ज्ञानघनः आत्मा] यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, **[सिद्धिम् अभीप्सुभिः]** स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को **[साध्यसाधकभावेन]** साध्यसाधकभाव के भेद से **[द्विधा]** दो प्रकार से, **[एकः]** एक ही **[नित्यम् समुपास्यताम्]** नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो।

भावार्थ :– आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव है और अपूर्णरूप साधकभाव है; ऐसे भावभेद से दो प्रकार से एक का ही सेवन करना चाहिए ।।१५।।

परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति यावत्। तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति। अयमत्र भाव: यथा लवणखिल्य एकरसोऽपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वाद: प्रतिभात्यज्ञानिनाम्। ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथात्माप्यखंड ज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगंधशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खंडखंडज्ञानरूप: प्रतिभाति। ज्ञानिनां पुनरखंडकेवलज्ञानस्वरूप एव। इति हेतोरखंडज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति। किंच, **मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्॥१५॥**

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – पूर्व गाथा में जो शुद्धात्मानुभूति का कथन किया है, वह ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानानुभूति है, अब ऐसा दूसरी गाथा में प्रतिपादन करते हैं –

जो पस्सदि जो कर्ता (पुरुष) देखता है, जानता है, अनुभव करता है। किसको ? **अप्पाणं** शुद्धात्मा को। कैसा है वह शुद्धात्मा? **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्ट, यहाँ बद्ध शब्द से संश्लेषरूप बंध ग्रहण करने योग्य है तथा स्पृष्ट शब्द से संयोगमात्र ग्रहण करने योग्य है। जल में कमलपत्र की तरह आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म से अछूता है। **अणण्णं** मिट्टी की तरह अनन्य है (आत्मा नर-नरकादि पर्यायों में द्रव्यरूप से अनन्य है) **अविसेसं** सुवर्ण की तरह अविशेष है, अभिन्न (अभेद) है (आत्मा ज्ञान-दर्शनादि भेदों से रहित है)। समुद्र की तरह आत्मा नियत अवस्थित है। उष्णता रहित जल (के असंयुक्त शीतल स्वभाव) की तरह निश्चयनय से आत्मा परद्रव्य के संयोग से रहित असंयुक्त है। नियत एवं असंयुक्त दोनों विशेषण सूत्र में नहीं हैं, फिर अर्थ में कैसे ग्रहण किये गये हैं, ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं – सामर्थ्य वश ग्रहण किये गये हैं।

वह भी किस प्रकार ग्रहण किये गये हैं ? **सूत्र का अर्थ शास्त्र के प्रकरण-सामर्थ्य से युक्त होता है – इस वचन के आधार से ग्रहण किये गये हैं।** वह आत्मा **पस्सदि** देखता है, जानता है। वह क्या ? **जिणसासणं** जिनशासन को, अर्थ-समयरूप जिनमत को। **सव्वं** सम्पूर्ण द्वादशाङ्गरूप । कैसा है वह अनुभव? **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेश एवं सूत्रमय है। अपदेश अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाय – ऐसे शब्द अपदेश हैं तथा शब्द का अर्थ द्रव्यश्रुत है। सूत्र अर्थात् परिच्छित्तिरूप ज्ञानरूप भावश्रुत अर्थात् ज्ञानमय आत्मा ही सूत्र है। इसप्रकार उस शब्दसमय रूप द्रव्यश्रुत से जो वाच्य है तथा ज्ञानसमय रूप भावश्रुत से जो परिच्छेद्य – ज्ञेय है, उसको 'अपदेशसूत्रमध्यं' कहा गया है।

यहाँ यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार नमक की डली एक क्षार रसमय होने पर भी अज्ञानीजनों को फलशाक तथा पत्रशाक आदि परद्रव्य के संयोग से भिन्न-भिन्न स्वादवाली प्रतीत होती है; परन्तु ज्ञानीजनों को वह नमक की डली एक खारे रसवाली ही अनुभव में आती है। उसीप्रकार आत्मा भी अखण्ड ज्ञानस्वभावरूप होने पर भी निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट अज्ञानीजनों को स्पर्श-रस-गन्ध-शब्द-नीले-पीले आदि वर्णरूप ज्ञेयपदार्थों के विषयभेद से खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप प्रतीत होता है और ज्ञानीजनों को वही आत्मा अखण्ड-केवल ज्ञानस्वरूप ही प्रतीत होता है। इसकारण अखण्ड ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव होने पर सम्पूर्ण जिनशासन का ज्ञान हो जाता है, ऐसा मानकर समस्त मिथ्यात्व रागादि के त्याग द्वारा उसी शुद्ध आत्मा की भावना करनी चाहिए। यहाँ विशेष यह है कि मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह – ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए॥१५॥

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम्।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयत: ॥१६॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्य: साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण

अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति –

ता.अतिरिक्त गाथा-३ – **आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।**
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

टीका – आदा शुद्धात्मा। **खु** स्फुटं। **मज्झ** मम भवति। क्व विषये ? **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये। **योगे कोऽर्थ:?** निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भाव:। भोगाकांक्षानिदानबंधशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वसम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थ:। एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥३॥

अतिरिक्त गाथा ३ का हिन्दी – अब तीसरी गाथा में ऐसा निरूपण करते हैं कि शुद्धात्मभावना के होने पर सम्यग्ज्ञानादि सभी प्राप्त हो जाते हैं।

गाथार्थ – (खु) (निश्चय से **(मज्झ णाणे)** मेरे ज्ञान में **(आदा)** आत्मा है, **(मे दंसणे)** मेरे दर्शन में **(य)** और **(चरित्ते)** मेरे चारित्र में **(आदा)** आत्मा है। **(पच्चक्खाणे)** प्रत्याख्यान में **(आदा)** आत्मा है तथा **(मे संवरे जोगे)** मेरे संवर और योग में **(आदा)** आत्मा है।

टीका – आदा शुद्धात्मा **खु** निश्चय से **मज्झ** मेरा है। किस विषय में ? **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-प्रत्याख्यान-संवर-योग-भावना के विषये में। योगे शब्द का क्या अर्थ है? निर्विकल्प समाधि में, परम सामायिक में, परमध्यान में, इन सभी का एक ही भाव है। भोग आकांक्षा निदान बंध शल्यादि भाव रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने से सर्व सम्यग्ज्ञानादिक प्राप्त होते हैं। इसप्रकार शुद्धनय के कथन की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथाएँ हुईं ॥३॥

....

अब, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव है यह गाथा में कहते हैं :–

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेविये।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टि में ॥१६॥

गाथार्थ :– [**साधुना**] साधु पुरुष को [**दर्शनज्ञानचारित्राणि**] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [**नित्यम्**] सदा [**सेवितव्यानि**] सेवन करने योग्य हैं; [**पुन:**] और [**तानि त्रीणि अपि**] उन तीनों को भी [**निश्चयत:**] निश्चयनय से [**आत्मानं च एव**] एक आत्मा ही [**जानीहि**] जानो।

टीका :– यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य

साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात्। यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव, न वस्त्वंतरम्। तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव, न वस्त्वंतरम्। तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते।।१६।। स किल –

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वत: स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणत:।।१६।।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभि: परिणतत्वत:।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचक:।।१७।।

है, इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं कि 'साधु पुरुष को दर्शन, ज्ञान, चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।' किन्तु परमार्थ से देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं; क्योंकि वे अन्यवस्तु नहीं, किन्तु आत्मा की ही पर्यायें हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन न करने से (वे) देवदत्त ही हैं, अन्यवस्तु नहीं। इसीप्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लंघन न करने से आत्मा ही हैं, अन्यवस्तु नहीं। इसलिये यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है।

भावार्थ :– दर्शन, ज्ञान, चारित्र – तीनों आत्मा की ही पर्यायें हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिए साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना यह निश्चय है और व्यवहार से दूसरों को भी यही उपदेश करना चाहिए।१६।।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**प्रमाणत:**] प्रमाणदृष्टि से देखा जाये तो [**आत्मा**] यह आत्मा [**समम् मेचक: अमेचक: च अपि**] एक ही साथ अनेक अवस्थारूप (मेचक) भी है और एक अवस्थारूप (अमेचक) भी है, [**दर्शन-ज्ञान-चारित्रै: त्रित्वात्**] क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो त्रित्व (तीनपना) है और [**स्वयम् एकत्वत:**] अपने से अपने को एकत्व है।

भावार्थ :– प्रमाणदृष्टि में तीनकालस्वरूप वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्मा को भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिए।।१६।।

अब, नयविवक्षा कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**एक: अपि**] आत्मा एक है, तथापि [**व्यवहारेण**] व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो [**त्रिस्वभावत्वात्**] तीन स्वभावरूपता के कारण [**मेचक:**] अनेकाकाररूप (मेचक) है, [**दर्शन-ज्ञान-चारित्रै: त्रिभि: परिणतत्वत:**] क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावों में परिणमन करता है।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावांतर-ध्वंसि-स्वभावत्वादमेचकः॥१८॥

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा॥१९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – इत ऊर्ध्वम् भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते। तद्यथा – प्रथमगाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रय- भावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति – **दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं। **ताणि पुण जाण तिण्णि वि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि। **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मानं चैव। **णिच्छयदो** निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः। अयमत्रार्थः – पंचेन्द्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति॥१६॥

भावार्थ :– शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है; जब इस नय को प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है, इसलिए एक को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ। इसप्रकार व्यवहारनय से आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामों के कारण 'मेचक' कहा है॥१७॥

अब, परमार्थनय से कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[परमार्थेन तु]** शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो **[व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा]** प्रगट ज्ञायकत्व-ज्योतिमात्र से **[एककः]** आत्मा एकस्वरूप है। **[सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभाव-त्वात्]** क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिए वह **[अमेचकः]** शुद्ध एकाकार (अमेचक) है।

भावार्थ :– भेददृष्टि को गौण करके अभेददृष्टि से देखा जाये तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है।१८॥

आत्मा को प्रमाण-नय से मेचक-अमेचक कहा है, उस चिन्ता को मिटाकर जैसे साध्य की सिद्धि हो वैसा करना चाहिए – यह आगे के श्लोक में कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[आत्मनः]** यह आत्मा **[मेचक-अमेचकत्वयोः]** मेचक है – भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है – अभेदरूप एकाकार है **[चिन्तया एव अलं]** ऐसी चिन्ता से बस हो। **[साध्यसिद्धिः]** साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र – इन तीन भावों से ही होती है, **[न च अन्यथा]** अन्य प्रकार से नहीं, (यह नियम है)।

भावार्थ :– आत्मा के शुद्ध स्वभाव की साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष साध्य है। आत्मा मेचक है या अमेचक, ऐसे विचार ही मात्र करते रहने से साध्य सिद्ध नहीं होता; परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्ध स्वभाव का अवलोकन, ज्ञान अर्थात् शुद्ध स्वभाव का प्रत्यक्ष जानना और चारित्र अर्थात् शुद्धस्वभाव में स्थिरता से ही साध्य की सिद्धि होती है। यही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं। व्यवहारीजन पर्याय में – भेद में समझते हैं इसलिये यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद से समझाया है॥१९॥

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिदूण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण॥१८॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिक: प्रयत्नेन॥१७॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्य:।
अनुचरितव्यश्च पुन: स चैव तु मोक्षकामेन॥१८॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्य: तत: स एव श्रद्धातव्य: तत: स एवानुचरितव्यश्च साध्य-

---

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इससे आगे भेदाभेदरत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथाएँ कही जाती हैं। वे इसप्रकार हैं – प्रथम गाथा में पूर्वार्द्ध द्वारा भेदरत्नत्रय की भावना का और उत्तरार्द्ध द्वारा अभेदरत्नत्रय की भावना का कथन किया है – **दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं** व्यवहारनय से साधु पुरुष को सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का नित्य प्रतिसमय सेवन करना योग्य है। **ताणि पुण जाण तिण्णि वि** और फिर उन तीनों को भी जानो। **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मा ही जानो। **णिच्छयदो** निश्चय या शुद्धनिश्चय से जानो। यहाँ यह आशय है कि – पंचेन्द्रिय विषय, क्रोधादि कषायों से रहित निर्विकल्प समाधि में सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तीनों हैं॥१६॥

....

अब, इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :–

ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करे॥१७॥
जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥१८॥

गाथार्थ :– [**यथा नाम**] जैसे [**क: अपि**] कोई [**अर्थार्थिक: पुरुष:**] धन का अर्थी पुरुष [**राजानं**] राजा को [**ज्ञात्वा**] जानकर [**श्रद्दधाति**] श्रद्धा करता है, [**तत: पुन:**] और फिर [**तं प्रयत्नेन अनुचरति**] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीति से सेवा करता है, [**एवं हि**] इसीप्रकार [**मोक्षकामेन**] मोक्ष के इच्छुक को [**जीवराज:**] जीवरूपी राजा को [**ज्ञातव्य:**] जानना चाहिए, [**पुन: च**] और फिर [**तथा एव**] इसीप्रकार [**श्रद्धातव्य:**] उसका श्रद्धान करना चाहिए [**तु च**] और तत्पश्चात् [**स एव अनुचरितव्य:**] उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिये।

टीका :– निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने कि

सिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्। तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन नि:शंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्ति:। यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परै: सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरश्रृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ-द्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन नि:शंक मवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्ति: ॥१७-१८॥

'यह राजा है' फिर उसी का श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी' और फिर उसी का अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे; इसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा' और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिए – अनुभव के द्वारा उसमें लीन होना चाहिए; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप – उसकी सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् इसीप्रकार से साध्य की सिद्धि होती है, अन्यप्रकार से नहीं।)

(इसी बात को विशेष समझाते हैं :–) जब आत्मा को अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी, सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ, 'इस आत्मा को जैसा जाना है वैसा ही है' इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा श्रद्धान उदित होता है, तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से, नि:शंक स्थिर होने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की तथोत्पत्ति (इसप्रकार उपपत्ति) है। परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादिबन्ध के वश पर (द्रव्यों) के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ – अज्ञानी जन को 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के श्रद्धान समान है इसलिए, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में नि:शंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को नहीं साध सकता। इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है।

भावार्थ :– साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्यप्रकार से नहीं; क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभव में आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा ? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने में स्थिर हो – इसप्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता; और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ करेगा ? इसलिये यह निश्चय है कि अन्यप्रकार से सिद्धि नहीं होती।

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सतत-मनुभवामोऽनंत-चैतन्य-चिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥२०॥

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेत्, तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येऽपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयंबुद्धबोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात् ? एवमेतत्।

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– आचार्य कहते हैं कि [**अनन्तचैतन्यचिह्नं**] अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी [**इदम् आत्मज्योतिः**] इस आत्मज्योति का [**सततम् अनुभवामः**] हम निरन्तर अनुभव करते हैं [**यस्मात्**] क्योंकि [**अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु**] उसके अनुभव के बिना अन्यप्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति ऐसी है कि [**कथम् अपि समुपात्त-त्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्**] जिसने किसी प्रकार से त्रित्व अंगीकार किया है, तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई और [**अच्छम् उद्गच्छत्**] जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है।

भावार्थ :– आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार पर्यायदृष्टि से त्रित्व प्राप्त है, तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टि से जो एकत्व से रहित नहीं हुई तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त हो रही है ऐसी आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं। यह कहने का आशय यह भी जानना चाहिए कि जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे, जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा अनुभव करें॥२०॥

टीका :– अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिये वह ज्ञान का नित्य सेवन करता है; तब फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? उसका समाधान यह है – ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप से है तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरे के बताने से जानना) – इन कारणपूर्वक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। (या तो काललब्धि आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने – जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।)

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जानने के कारण से पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है ?

उसका उत्तर – ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है॥१७-१८॥

तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् –

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि दाव॥१९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टांतदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति –

जह यथा। **णाम** अहो स्फुटं वा। **को वि** कोऽपि कश्चित्। **पुरिसो** पुरुषः। **रायाणं** राजानम्। **जाणिऊण** छत्रचामरादिराजचिन्हैर्ज्ञात्वा। **सद्दहदि** श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति। **तो** ततो ज्ञानश्रद्धानानंतरम्। **तं** तं राजानम्। **अणुचरदि** अनुचरति आश्रयत्याराधयति। कथंभूतः सन् ? **अत्थत्थीओ** अर्थार्थिको जीवितार्थी। **पयत्तेण** प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टांतगाथा गता।

एवं अनेन प्रकारेण। **हि** स्फुटं। **जीवराया** शुद्धजीवराजा। **णादव्वो** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः। **तह य** तथैव। **सद्दहेदव्वो** अयमेव नित्यानन्दैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः। **अणुचरिदव्वो य** अनुचरितव्यश्च निर्विकल्पसमाधिनानुभवनीयः। **पुणो** पुनः। **सो चेव** स चैव शुद्धात्मा। **दु** पुनः। **मोक्खकामेण** मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टान्तः। इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचिंतयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति ? एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथात्रयं गतम्॥१७-१८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उपर्युक्त भेदाभेद रत्नत्रय की भावना को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त से आगे दो गाथाओं से स्पष्ट करके बतलाते हैं– **जह** यथा **णाम** अहो यह स्पष्ट है कि **को वि** कोई भी **पुरिसो** पुरुष **रायाणं** राजा को **जाणिऊण** छत्र, चमर, आदि राजचिन्हों के द्वारा जानकर **सद्दहदि** श्रद्धान करता है कि 'यही राजा है' – ऐसा निश्चित करता है, **तो** पश्चात् ज्ञान-श्रद्धान के बाद **तं** उस राजा का **अणुचरदि** अनुसरण करता है – आश्रय लेकर सेवा करता है। कैसा होता हुआ ? **अत्थत्थीओ** धनार्थी या जीवितार्थी (आजीवकार्थी) होकर। **पयत्तेण** प्रयत्न पूर्वक सर्वप्रकार से सेवा करता है। इसप्रकार दृष्टांत गाथा हुई। **एवं** इसीप्रकार **हि** स्पष्टरूप से **जीवराया** शुद्ध जीवराजा **णादव्वो** निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानने योग्य है। **तह य** उसीप्रकार **सद्दहेदव्वो** यही नित्यानन्द एक स्वभावी, रागादिरहित शुद्धात्मा है– ऐसा निश्चय – निर्णय करना चाहिए। **अणुचरिदव्वो य** निर्विकल्प समाधि द्वारा अनुभव करने योग्य है। **पुणो** पुनः **सो चेव** वही शुद्धात्मा **दु** पश्चात् **मोक्खकामेण** मोक्ष की इच्छावाले आत्मा को – यह सिद्धान्त है। यहाँ यह आशय है कि भेदाभेदरत्नत्रय की भावना रूप परमात्मा के चिंतन से ही हमारी सभी सिद्धि हो जाती है। तो फिर विशेष शुभाशुभ विकल्पजाल से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इसप्रकार भेदाभेद रत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से दूसरे स्थल में तीन गाथाएँ हुईं॥१७-१८॥

....

अब यहाँ पुनः पूछते हैं कि यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है, वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं :–

नोकर्म कर्म जु "मैं" अवरु, "मैं" में कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जबतक जीव की, अज्ञानी तबतक वो रहे॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत्॥१९॥

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोऽयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोऽन्तरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतः परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति॥१९॥

गाथार्थ :– [**यावत्**] जबतक इस आत्मा की [**कर्मणि**] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म, [**च**] और [**नोकर्मणि**] शरीरादि नोकर्म में [**अहं**] 'यह मैं हूँ' [**च**] और [**अहकं कर्म नोकर्म इति**] मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं' [**एषा खलु बुद्धिः**] ऐसी बुद्धि है, [**तावत्**] तबतक [**अप्रतिबुद्धः**] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [**भवति**] है।

टीका :– जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुये पुद्गल के स्कन्धों में 'यह घट है' इसप्रकार और घड़े में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्गल स्कन्ध हैं' इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है; इसीप्रकार कर्म – मोह आदि अंतरंग परिणाम तथा नोकर्म – शरीरादि बाह्य वस्तुयें सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा के तिरस्कार करनेवाले हैं, उनमें 'यह मैं हूँ' इसप्रकार और आत्मा में 'यह कर्म – मोह आदि अंतरंग तथा नोकर्म – शरीरादि बहिरंग आत्म-तिरस्कारी (आत्मा के तिरस्कार करने वाले) पुद्गल-परिणाम हैं' – इसप्रकार वस्तु के अभेद से जबतक अनुभूति है तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है। और जब कभी, जैसे रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है; इसीप्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं – इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से, जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

भावार्थ :– जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं, उसीप्रकार जबतक आत्मा को, कर्म-नोकर्म में आत्मा की और आत्मा में कर्म-नोकर्म की भ्रान्ति होती है अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं तबतक तो वह अप्रतिबुद्ध है और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है वहाँ यह ज्ञात होता है कि ''ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है, और जो दर्पण में दिखाई दे रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही

(मालिनी)

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते। तद्यथा – स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति। परं किंतु कियत्कालपर्यंतं इति न ज्ञायते एवं पृष्टे सति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति –

कम्मे कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च। **णोकम्मम्हि** य शरीरादिनोकर्मणि च। **अहमिदि** अहमिति प्रतीतिः। **अहकं च कम्म णोकम्मं** अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः, यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणतपुद्‌गलस्कंधाश्च वर्णादिषु च घट इत्यभेदेन। **जा** यावंतं कालम्। **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता। **खलु** स्फुटं। **बुद्धी** तथा कर्मनोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुनः ऐक्यबुद्धिः। **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा। **हवदि** भवति। **ताव** तावत्कालमिति। अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिं स्वतः स्वयंबुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभंते ते पुरुषाः शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुन्दवदविकारा भवंतीति भावार्थः॥१९॥

है;'' इसीप्रकार ''कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं हैं; आत्मा की ज्ञान स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं''– ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो तभी वह प्रतिबुद्ध होता है ॥१९॥

अब, इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[ये]** जो पुरुष **[स्वतः वा अन्यतः वा]** अपने ही अथवा पर के उपदेश से **[कथम् अपि हि]** किसी भी प्रकार से **[भेदविज्ञानमूलाम्]** भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्ति कारण है ऐसी अपने आत्मा की **[अचलितम्]** अविचल **[अनुभूतिम्]** अनुभूति को **[लभन्ते]** प्राप्त करते हैं, **[ते एव]** वे ही पुरुष **[मुकुरवत्]** दर्पण की भाँति **[प्रतिफलन-निमग्न-अनन्त-भाव-स्वभावैः]** अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से **[सन्ततं]** निरन्तर **[अविकाराः]** विकाररहित **[स्युः]** होते हैं, ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते॥२१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ कही जाती हैं। वह इसप्रकार – जबतक जीव को स्व तथा पर का भेदविज्ञान नहीं है, तबतक वह अज्ञानी रहता है; परन्तु कितने काल तक अज्ञानी रहता है, यह ज्ञात नहीं है – ऐसा पूछे जाने पर प्रथम गाथा में प्रत्युत्तर देते हैं –

कम्मे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और **णोकम्मम्हि** शरीरादि-नोकर्म में **अहमिदि** 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति **अहकं च कम्म णोकम्मं** 'मुझमें ये कर्म-नोकर्म हैं' ऐसी प्रतीति; जिसप्रकार घट में वर्णादि गुण तथा घटाकार परिणत पुद्‌गल स्कंध हैं और वर्णादि में घट है – इसप्रकार अभेद से प्रतीति होती है। **जा** जबतक **एसा** यह प्रत्यक्षरूप **खलु** वास्तव में **बुद्धी** उसीप्रकार कर्म-नोकर्म के साथ शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव निजपरमात्म

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बंधो भवतीत्याख्याति –

ता.अतिरिक्त गाथा ४ – जीवे व अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंध मोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ।।४।।

टीका – जीवे व स्वशुद्धजीवे वा। **अजीवे वा** देहादौ वा। **संपदि समयम्हि** वर्तमानकाले। **जत्थ उवजुत्तो** यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्धया परिणतः। **तत्थेव** तत्रैव अजीवे जीवे वा। **बंधमोक्खो** अजीवदेहादौ बंधो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः। **हवदि** भवति। **समासेण णिद्दिट्ठो** संक्षेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति। अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावनिजात्मनि रतिः कर्त्तव्या। तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः।।४।।

अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति–

ता.अतिरिक्त गाथा ५ – जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं।।५।।

टीका – जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्तेति, भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वम्। **ववहारा** अनुपचरितासद्भूत व्यवहारनयात्। **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां **कत्तारं** कर्तेति। कर्त्तारं इति कर्मपदं कर्तेति कथं भवतीति चेत्, **प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो लिंग-व्यभिचारश्च।** अत्र रागादीनां जीवः कर्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः। एवं स्वतंत्रव्याख्यान-मुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।।५।।

द्रव्य की एकत्वबुद्धि है। **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिबुद्ध स्वानुभूति रहित बहिरात्मा **हवदि** होता है **ताव** तबतक। यहाँ भेदविज्ञान जिसका मूल है – ऐसी शुद्धात्मानुभूति स्वयंबुद्ध की अपेक्षा स्वयं तथा बोधितबुद्ध की अपेक्षा पर के उपदेश के निमित्त से जो आत्मा प्राप्त करते हैं, वे आत्मा दर्पण में झलकने वाले ज्ञेयों से निर्विकार दर्पण की तरह शुभाशुभ बाह्य द्रव्यों में विद्यमान होने पर भी निर्विकार रहते हैं – ऐसा भावार्थ है।।१९।।

अतिरिक्त गाथा ४ का हिन्दी – अब शुद्धजीव में जब रागादिरहित परिणाम होता है तब मोक्ष होता है तथा अजीव देहादि में जब रागादि परिणाम होता है तब बंध होता है, यह कहते हैं–

गाथार्थ – (संपदि समयम्हि) वर्तमान काल में **(जीवे व)** शुद्ध पारिणामिक भाव में अथवा **(अजीवे)** शरीरादि अनात्मा में **(जत्थ उवजुत्तो)** जहाँ पर उपयोग युक्त होता है **(तत्थेव)** वहाँ पर ही **(बंध मोक्खो वा)** बंध अथवा मोक्ष **(हवदि)** होता है **(समासेण)** संक्षेप से **(णिद्दिट्ठो)** सर्वज्ञ भगवान ने निर्दिष्ट किया है।

जीवे व अपने शुद्धजीव में **अजीवे वा** अथवा देहादि में **संपदि समयम्हि** वर्तमान काल में। **जत्थ उवजुत्तो** जहाँ उपयोग युक्त – लीन होता है, तन्मय या उपादेयबुद्धि से परिणत होता है **तत्थैव** वहाँ ही अजीव में या जीव में **बंधमोक्खो** अजीव देहादि में तन्मय होने से बंध तथा जीव शुद्धात्मा में तन्मय होने से मोक्ष **हवदि** होता है **समासेण णिद्दिट्ठो** संक्षेप में सर्वज्ञ भगवन्तों ने कहा है। यहाँ ऐसा जानकर सहजानन्द एकस्वभावी निज आत्मा में लीनता करना चाहिए। तथा उससे विपरीत परद्रव्य में विरति करना चाहिए – ऐसा आशय है।।४।।

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत –

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

अतिरिक्त गाथा ५ का हिन्दी – अब अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा रागादि भावकर्म का कर्ता है तथा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता है, ऐसा कहते हैं–

गाथार्थ – (णिच्छयदो) निश्चयनय से **(आदा)** आत्मा **(जं भावम्)** जिस भाव को **(कुणदि)** करता है **(सो)** वह **(तस्स भावस्स)** उस भाव का **(कत्ता)** कर्ता **(होदि)** होता है **(ववहारा)** व्यवहारनय से **(पोग्गलकम्माण)** पुद्गल कर्म का **(कत्तारं)** कर्ता है।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स जो आत्मा जिस रागादिभाव को कर्ता है, वह उस भाव या परिणाम का कर्ता होता है। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्धभावों का तथा शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्ता होता है, यहाँ भावों का परिणमन ही कर्तृत्व है। **ववहारा** अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से **पोग्गलकम्माण** पुद्गल द्रव्यकर्म आदि का **कत्तारं** कर्ता है। 'कर्त्तारं' यह कर्मपद है, उसका प्रयोग कर्तृपद के अर्थ में किसप्रकार किया गया है ? ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं– प्राकृत भाषा में कभी-कभी कारकव्यभिचार और लिंगव्यभिचार देखा जाता है। यहाँ रागादी का कर्ता जीव है – ऐसा कहा गया है। तथा वे रागादि संसार के कारण हैं, अत: संसार से भयभीत मोक्षार्थी के द्वारा समस्त रागादि विभावों से रहित शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप निजपरमात्मा में भावना करनी चाहिए – ऐसा अभिप्राय है। इसप्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल में तीन गाथाएँ हुईं॥५॥

....

अब शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध को कैसे पहिचाना जा सकता है ? उसका चिह्न बताइये; उसके उत्तररूप तीन गाथाएँ कहते हैं :–

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे।
जो अन्य हैं परद्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे ॥२०॥

मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में ॥२१॥

अयथार्थ आत्मविकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे ॥२२॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत्।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥
आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम्।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥२२॥

यथाग्निरिन्धनमस्तीन्धनमग्निरस्त्यग्नेरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतीन्धन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा। नाग्निरिन्धनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तीन्धनस्येन्धनमस्ति, नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीन्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धनस्येन्धनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिन्धनं-

---

गाथार्थ :– [**अन्यत् यत् परद्रव्यं**] जो पुरुष अपने से अन्य जो परद्रव्य [**सचित्ताचित्तमिश्रं वा**] सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त धन-धान्यादिक अथवा मिश्र ग्राम-नगरादिक हैं – उन्हें यह समझता है कि [**अहं एतत्**] मैं यह हूँ, [**एतत् अहम्**] यह द्रव्य मुझस्वरूप है, [**अहम् एतस्य अस्मि**] मैं इसका हूँ, [**एतत् मम अस्ति**] यह मेरा है, [**एतत् मम पूर्वम् आसीत्**] यह मेरा पहले था, [**एतस्य अहम् अपि पूर्वम् आसम्**] इसका मैं भी पहले था, [**एतत् मम पुनः भविष्यति**] यह मेरा भविष्य में होगा, [**अहम् अपि एतस्य भविष्यामि**] मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा, [**एतत् तु असद्भूतम्**] ऐसा झूठा [**आत्मविकल्पं**] आत्मविकल्प [**करोति**] करता है वह [**संमूढः**] मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है; [**तु**] और जो पुरुष [**भूतार्थं**] परमार्थ वस्तुस्वरूप को [**जानन्**] जानता हुआ [**तम्**] वैसा झूठा विकल्प [**न करोति**] नहीं करता वह [**असंमूढः**] मूढ़ नहीं, ज्ञानी है।

टीका :– (दृष्टान्त से समझाते हैं) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि ''जो अग्नि है सो ईंधन है और ईंधन है सो अग्नि है; अग्नि का ईंधन है, ईंधन की अग्नि है; अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी; अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी;'' – ऐसा ईंधन में ही अग्नि का विकल्प करता है वह झूठा है, उसमें अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है। इसीप्रकार कोई आत्मा परद्रव्य में ही असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि 'मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है; यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ; मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था; मेरा यह भविष्य में होगा, मैं इसका भविष्य में होऊँगा;' – ऐसे झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है।

और ''अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है, – अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है; अग्नि का ईंधन नहीं, ईंधन की अग्नि नहीं, – अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन

पुनर्भविष्यति नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ॥२०-२२॥

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

है; अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी, – अग्नि की अग्नि पहले थी और ईंधन का ईंधन पहले था; अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में नहीं होगी, – अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा;''– इसप्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो सो प्रतिबुद्ध का लक्षण है, इसीप्रकार ''मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है – मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य है वह परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्य का मैं नहीं, मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्य का परद्रव्य है; यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, इस परद्रव्य का मैं पहले नहीं था, – मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्य में नहीं होगा, इसका मैं भविष्य में नहीं होऊँगा, – मैं अपना ही भविष्य में होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्य में होगा।''– ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है, इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।

भावार्थ :– जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्मा को ही अपना मानता है वह ज्ञानी है – यह अग्नि-ईंधन के दृष्टान्त से दृढ़ किया है ॥२०-२१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [जगत्] जगत् अर्थात् जगत् के जीवो ! **[आजन्मलीनं मोहम्]** अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को **[इदानीं त्यजतु]** अब तो छोड़ो और **[रसिकानां रोचनं]** रसिकजनों को रुचिकर, **[उद्यत् ज्ञानम्]** उदय हुआ जो ज्ञान उसको **[रसयतु]** आस्वादन करो; क्योंकि **[इह]** इस लोक में **[आत्मा]** आत्मा **[किल]** वास्तव में **[कथम् अपि]** किसीप्रकार भी **[अनात्मना साकम्]** अनात्मा (परद्रव्य) के साथ **[क्व अपि काले]** कदापि **[तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न]** तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा **[एकः]** एक है वह अन्यद्रव्य के साथ एकतारूप नहीं होता।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यथा कोऽप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिंधनं भवति इंधनमग्निर्भवति अग्निरिंधनमासीत् इंधनमग्निरासीत् अग्निरिंधनं भविष्यति इंधनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेऽपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति –

अहमेदं एदमहं अहं इदं, परद्रव्यं इदं अहं भवामि। **अहमेदस्सेव हि होमि मम एदं** अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीदं। **अण्णं जं परदव्वं** देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यम्। **सचित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्ताचित्तमिश्रं वा। तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि। अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमण्डलुपुस्तकादि, मिश्रमुपकरणसहित-छात्रादि। अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्मादि, मिश्रं द्रव्यभावकर्मद्वयम्। अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपं, अचित्तं पुद्गलादिपःद्रव्यरूपं, मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता। **आसीत्यादि। आसि मम पुव्वमेदं** आसीत् मम पूर्वमेतत्। **अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि** अहमिदं चैव पूर्वकाले। **होहिदि पुणो वि मज्झं** भविष्यति पुनरपि मम। **अहमेदं चावि होस्सामि** अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता।

भावार्थ :– आत्मा परद्रव्य के साथ किसीप्रकार किसी समय एकता के भाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार आचार्यदेव ने, अनादिकाल से परद्रव्य के प्रति लगा हुआ जो मोह है उसका भेदविज्ञान बताया है और प्रेरणा की है कि एकत्वरूप मोह को अब छोड़ दो और ज्ञान का आस्वादन करो; मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है॥२२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, जैसे कोई अज्ञानी ऐसा कहता है– अग्नि ईंधन है, ईंधन अग्नि है; अग्नि ईंधन था, ईंधन अग्नि थी; अग्नि ईंधन होगी, ईंधन अग्नि होगा; वैसे ही जो तीनों काल में देह-रागादि परद्रव्य को आत्मा में जोड़ता है, वह अप्रतिबुद्ध बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी होता है – ऐसा प्ररूपण करते हैं–

अहमेदं एदमहं मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझरूप है। **अहमेदस्सेव होमि मम एदं** मैं इस परद्रव्य का सम्बन्धी हूँ, यह परद्रव्य मेरा सम्बन्धी है। **अण्णं जं परदव्वं** अन्य जो देह से भिन्न पुत्र, कलत्र आदि परद्रव्य हैं। **सचित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्त, अचित्त तथा मिश्र तीन प्रकार के परद्रव्य हैं। उनमें गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त, सुवर्णादि अचित्त और आभरण सहित स्त्री आदि मिश्र परद्रव्य हैं। अथवा तपोधन की अपेक्षा शिष्यादि सचित्त, पिच्छि-कमण्डलु-पुस्तक आदि अचित्त तथा उपकरण सहित शिष्यादि मिश्र परद्रव्य हैं। अथवा 'कर्म की अपेक्षा' रागादि भावकर्म सचित्त, द्रव्यकर्मादि अचित्त तथा द्रव्यकर्म व भावकर्म दोनों मिश्र परद्रव्य हैं। अथवा विषय-कषाय रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप सचित्त हैं, पुद्गलादि पाँच द्रव्यरूप अचित्त हैं तथा गुणस्थान-जीवस्थान-मार्गणास्थान आदि रूप परिणत संसारी जीव का स्वरूप मिश्र है – इसप्रकार वर्तमान काल की अपेक्षा से गाथा हुई।

'आसीत्यादि' आसि मम पुव्वमेदं ये सब मेरे पहले थे। **अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि** मैं पूर्वकाल में इनका था। **होहिदि पुणो वि मज्झं** आगे ये मेरे होंगे। **अहमेदं चावि होस्सामि** मैं भी आगे इनका होऊँगा– इसप्रकार भूतकाल एवं भविष्यकाल की अपेक्षा गाथा हुई।

'एदमित्यादि' एदं इसप्रकार **तु** पुनः **असंभूदं** परद्रव्य सम्बन्धी तीनों काल के मिथ्या आत्मविकल्प

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसाय: क्रियते –

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं॥२४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्को वत्तुं जं मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं॥२५॥

एदमित्यादि। एदं इमं **तु** पुन:। **असंभूदं** असद्भूतं कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्यारूपं। **आदवियप्पं** आत्मविकल्पं अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामम्। **करेदि** करोति। **संमूढो** सम्यङ्मूढ: अज्ञानी बहिरात्मा। **भूदत्थं** भूतार्थं निश्चयनयम्। **जाणंतो** जानन् सन्। **ण करेदि** न करोति। **दु** पुन: कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्याविकल्पं। **असंमूढो** असम्मूढ: सम्यग्दृष्टिरंतरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारत:।

किंच, यथा कोऽप्यज्ञानी अग्निरिंधनम् इंधनमग्नि: कालत्रये निश्चयेनैकांतेनाभेदेन वदति तथा देहरागादि-परद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरंतरात्मेति। एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढ़यति। यथा कोऽपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभि: सह संसर्गं कुर्वाण: सन् राजाराधको न भवति, तथा परमाऽऽत्माराधक पुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभि: परिणममान: परमात्माऽऽराधको न भवतीति भावार्थ:। एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम्॥२०-२२॥

– असद्भूत विकल्प करता है। **आदवियप्पं** वे मिथ्या आत्मविकल्प अशुद्ध निश्चयनय से जीव परिणाम को **करेदि** करता है **संमूढो** भलीप्रकार मूढ़ अज्ञानी बहिरात्मा। **भूदत्थं** भूतार्थ निश्चयनय को **जाणंतो** जानता हुआ ज्ञानी तीन काल सम्बन्धी मिथ्या विकल्प **ण करेदि** नहीं करता है। **दु** पुन: **असंमूढो** वह सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा ज्ञानी भेदाभेद रत्नत्रय भावना में रत रहता है।

कुछ और विशेष कहते हैं – जिसप्रकार कोई भी अज्ञानी तीनों काल में निश्चय एकान्त के अभेद कथन से अग्नि ईंधन है, ईंधन अग्नि है – ऐसा कहता है, उसीप्रकार देह, रागादि परद्रव्य रूप मैं हूँ, पूर्व में भी मैं परद्रव्य रूप था या भविष्य में भी मैं परद्रव्य रूप होऊँगा – ऐसा जो कहता है वह अज्ञानी बहिरात्मा है। उससे विपरीत ज्ञानी – सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। इसप्रकार अज्ञानी एवं ज्ञानी जीव के लक्षण को जानकर, निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण रूप भेदज्ञान में स्थित होकर भावना करनी चाहिए। उस भावना को ही दृढ़ करते हैं – जैसे कोई राजा का सेवक पुरुष राजा के शत्रुओं के साथ सम्पर्क रखता हुआ राजा का आराधक अनुयायी नहीं है, उसीप्रकार परमात्मा की आराधना करनेवाला पुरुष उसके विरोधी मिथ्यात्व रागादि रूप परिणमन करनेवाला परमात्मा (शुद्धात्मा) का आराधक नहीं है। – ऐसा आशय है, इसप्रकार अप्रतिबुद्ध के लक्षण कथन द्वारा चतुर्थ स्थल में तीन गाथाएँ हुईं॥२०-२२॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः।।२३।।
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम्।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम्।।२४।।
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम्।।२५।।

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयो-परक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते – रे दुरात्मन्! आत्मपंसन्[1] जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यव-

---

अब अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न करते हैं :–

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभावसंयुत जीव है।
''ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा'' वो कहै।।२३।।

सर्वज्ञ ज्ञानविषैं सदा, उपयोग लक्षण जीव है।
वो कैसे पुद्गल हो सके, जो तू कहे मेरा अरे !।।२४।।

जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
तू तब हि ऐसा कह सके, ''है मेरा'' पुद्गलद्रव्य को।।२५।।

गाथार्थ :– [**अज्ञानमोहितमतिः**] जिसकी मति अज्ञान से मोहित है [**बहुभावसंयुक्तः**] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा [**जीवः**] जीव [**भणति**] कहता है कि [**इदं**] यह [**बद्धम् तथा च अबद्धं**] शरीरादिक बद्ध तथा धन-धान्यादिक अबद्ध [**पुद्गलं द्रव्यम्**] पुद्गल द्रव्य [**मम**] मेरा है। आचार्य कहते हैं कि [**सर्वज्ञज्ञानदृष्टः**] सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो [**नित्यम्**] सदा [**उपयोगलक्षणः**] उपयोगलक्षणवाला [**जीवः**] जीव है [**सः**] वह [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप [**कथं**] कैसे हो सकता है [**यत्**] जिससे कि [**भणसि**] तू कहता है कि [**इदं मम**] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? [**यदि**] यदि [**सः**] जीवद्रव्य [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाये और [**इतरत्**] पुद्गलद्रव्य [**जीवत्वम्**] जीवत्व को [**आगतम्**] प्राप्त करे [**तत्**] तो [**वक्तुं शक्तः**] तू कह सकता है [**यत्**] कि [**इदं पुद्गलं द्रव्यम्**] यह पुद्गल द्रव्य [**मम**] मेरा है। (किन्तु ऐसा तो नहीं होता।)

टीका :– एक ही साथ अनेक प्रकार की बन्धन की उपाधि की अति निकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश जो (अप्रतिबुद्ध – अज्ञानी जीव) अनेक प्रकार के वर्णवाले आश्रय[2] की

---

१. आत्मपंसन् = आत्मविनाशक २. आश्रय = जिसमें स्फटिकमणि रखा हुआ हो वह वस्तु।

हारित्वम्। दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि, यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत्, तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथा हि – यथा क्षारत्वलक्षणं लवण-मुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोग-लक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते। तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव॥२३-२५॥

निकटता से रंगे हुए स्फटिक-पाषाण जैसा है, अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्व से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है ऐसा है और महा-अज्ञान से जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है – ऐसा अप्रतिबुद्ध/अज्ञानी जीव स्व-पर का भेद न करके, उन अस्वभावभावों को ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ, पुद्गलद्रव्य को 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता है। (जैसे स्फटिकपाषाण में अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेक वर्णरूपता दिखाई देती है, स्फटिक का निज श्वेत-निर्मलभाव दिखाई नहीं देता; इसीप्रकार अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्धस्वभाव आच्छादित हो रहा है – दिखाई नहीं देता इसलिए पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है।) ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि रे दुरात्मन्! आत्मघात करनेवाले! जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृण सहित खा जाते हैं उसीप्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़, छोड़! जिसने समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति है। ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान से स्फुट (प्रकट) किया गया जो नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो गया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'? क्योंकि यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमक के पानी' (के अनुभव) की भाँति ऐसी अनुभूति वास्तव में ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से नहीं बनता।

दृष्टान्त देकर इसी बात को स्पष्ट करते हैं – जैसे खारापन जिसका लक्षण है, ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखाई देता है और द्रवत्व (प्रवाहीपन) जिसका लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है; क्योंकि खारेपन और द्रवत्व के एक साथ रहने में अविरोध है, अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती। इसप्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखाई नहीं देता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखने में नहीं आता; क्योंकि प्रकाश और अन्धकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग का एक ही साथ रहने में विरोध है; जड़ और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते। इसलिये तू सर्व प्रकार से प्रसन्न हो (अपने चित्त को उज्ज्वल करके) सावधान हो, और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव कर।

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥२३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथाप्रतिबुद्धसंबोधनार्थम् व्यवसायः क्रियते –

अण्णाणेत्यादिं व्याख्यानं क्रियते। **अण्णाणमोहिदमदी** अज्ञानमोहितमतिः। **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** ममेदं भणति पुद्गल द्रव्यं। कथंभूतं ? **बद्धमबद्धं च** बद्धं संबद्धं देहरूपं। **अबद्धं च** असंबद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि। **तहा** तथा। **जीवे** जीवद्रव्ये। **बहुभावसंजुत्तो** मिथ्यात्वरागादिबहुभावसंयुक्तः। अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्यं ममेदं भणतीत्यर्थः। इति प्रथमगाथा गता।

अथास्य बहिरात्मनः संबोधनं क्रियते – रे दुरात्मन् ! **सव्वण्हु** इत्यादि **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञज्ञानदृष्टः। **जीवो** जीवो जीवपदार्थः। कथंभूतो दृष्टः? **उवओगलक्खणो** केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। **णिच्चं** नित्यं सर्वकालं। **कह** कथं। **सो** सः जीवः। **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि **जं** येन कारणेन **भणसि** भणसि त्वं। **मज्झमिणं** ममेदं पुद्गलद्रव्यं इति द्वितीया गाथा गता। **जदि** इत्यादि। **जदि** यदि चेत् **सो** सः जीवः **पुग्गलदव्वीभूदो**

भावार्थ :– यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकार से एकरूप नहीं होते ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है; इसलिये हे अज्ञानी ! तू परद्रव्य को एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थ की मान्यता से बस कर॥२३-२५॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[अयि]** 'अयि' यह कोमल सम्बोधन का सूचक अव्यय है। आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू **[कथम् अपि]** किसीप्रकार महा कष्ट से अथवा **[मृत्वा]** मरकर भी **[तत्त्वकौतूहली सन्]** तत्त्वों का कौतूहली होकर **[मूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती भव]** इन शरीरादिक मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर **[अनुभव]** आत्मानुभव कर **[अथ येन]** कि जिससे **[स्वं विलसन्तं]** अपने आत्मा के विलासरूप को **[पृथक्]** सर्व परद्रव्यों से भिन्न **[समालोक्य]** देखकर **[मूर्त्या साकम्]** इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ **[एकत्वमोहम्]** एकत्व के मोह को **[झगिति त्यजसि]** शीघ्र ही छोड़ देगा।

भावार्थ :– यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषह के आने पर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मानुभव की ऐसी महिमा है तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिये श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया॥२३॥

पुद्गलद्रव्यं जात:। **जीवो** जीव:। **जीवत्तं** जीवत्वं। **आगदं** आगतं प्राप्तं। **इदरं** इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यम्। **तो सक्का वुत्तुं** तत: शक्यं वक्तुं। **जे** अहो अथवा यस्मात्कारणात्। **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति। न चैवं यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणोभवति। तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति, पुद्गलद्रव्यं च मूर्त्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति। रे दुरात्मन् ! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात्। ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्त्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति। एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति तात्पर्यं। इत्यप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं पंचमस्थले गाथात्रयं गतम्॥२३-२५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब अप्रतिबुद्ध अज्ञानी को समझाने का उद्यम करते हैं –

'अण्णाणेत्यादिं' का व्याख्यान किया जाता है । **अण्णाणमोहिदमदी** अज्ञान से मोहित बुद्धिवाला जीव **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** पुद्गल द्रव्य को 'यह पुद्गल मेरा है' ऐसा कहता है। कैसे पुद्गल को ? **बद्धमबद्धं च बद्ध** देह से संबद्ध या **असंबद्ध च** असंबद्ध देह से भिन्न पुत्र-स्त्री आदि को **तहा** तथा **जीवे** जीवद्रव्य में **बहुभावसंजुत्तो** मिथ्यात्व रागादि अनेक भावों से संयुक्त अज्ञानी जीव देह-पुत्र-स्त्री आदि परद्रव्य को 'ये मेरे हैं' ऐसा कहता है। इसप्रकार प्रथम गाथा हुई।

अब इस बहिरात्मा को संबोधन किया जाता है – रे दुरात्मन् ! **'सव्वण्हु इत्यादि' सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो** सर्वज्ञ के ज्ञान में जीवपदार्थ देखा गया है । कैसा देखा गया है ? **उवओगलक्खणो** केवल ज्ञान-दर्शनोपयोग लक्षणवाला। **णिच्चं** नित्य सर्वकाल। **कह** कैसा है **सो** वह जीव? **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यत्व को किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं होता है। **जं** जिस कारण से **भणसि** तू कहता है **मज्झमिणं** कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है। इसप्रकार दूसरी गाथा हुई।

'जदि इत्यादि' – जदि यदि कि **सो** वह जीव **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय **जीवो** जीव। और **जीवत्तं** जीवत्व को **आगदं** आगत प्राप्त **इदरं** शरीर पुद्गलद्रव्य हो जाय। **तो सक्का वुत्तुं** तो कहा जा सकता है **जे** कि इस कारण से **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, परन्तु ऐसा होता नहीं है।

जैसे – वर्षा काल में नमक पिघलकर जलरूप होता है तथा ग्रीष्मकाल में वही जल नमक की डली होता है, उसी तरह यदि जीवद्रव्य चैतन्यपने को छोड़कर पुद्गलद्रव्य रूप परिणमन करता है और पुद्गलद्रव्य मूर्तिकपना व अचेतपना छोड़कर चैतन्यपने और अमूर्तिकपने से परिणमन करे, तब तुम्हारे वचन सत्य हों; परन्तु हे दुरात्मन्! उस प्रकार नहीं होता है, क्योंकि ऐसा होने में प्रत्यक्ष रूप से विरोध दिखाई देता है। इसलिए जीवद्रव्य देह से भिन्न, अमूर्तिक, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव सिद्ध है। इसप्रकार देह और आत्मा के भेदज्ञान को जानकर मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त विकल्पजाल को त्यागकर निर्विकार चैतन्यचमत्कार मात्र निज परमात्मतत्त्व में भावना करनी चाहिए ऐसा अभिप्राय है। इसप्रकार अप्रतिबुद्ध अज्ञानी को सम्बोधन करने के लिए पाँचवे स्थल में तीन गाथाएँ हुईं॥२३-२५॥

अथाहाप्रतिबुद्धः –

जदि जीवो ण सरीरं तित्थगरायरियसंथुदी चेव।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो॥२६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः॥२६॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा –

(शार्दूलविक्रीडित)

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥२४॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः॥२६॥

अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैं :–

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव-देह की !॥२६॥

गाथार्थ :– अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि [**यदि**] यदि [**जीवः**] जीव [**शरीरं न**] शरीर नहीं है तो [**तीर्थकराचार्यसंस्तुति**] तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह [**सर्वा अपि**] सभी [**मिथ्या भवति**] मिथ्या है; [**तेन तु**] इसलिये (हम समझते हैं कि) [**आत्मा**] जो आत्मा है वह [**देहः च एव**] देह ही [**भवति**] है।

टीका :– जो आत्मा है वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या सिद्ध होगी। वह स्तुति इसप्रकार है –

श्लोकार्थ :– [**ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्द्याः**] वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं। कैसे हैं वे? [**ये कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति**] अपने शरीर की कांति से दसों दिशाओं को धोते हैं – निर्मल करते हैं, [**ये धाम्ना उद्दाम-महस्विनां धाम निरुन्धन्ति**] अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढक देते हैं, [**ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति**] अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं, [**दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः**] दिव्यध्वनि से (भव्यों के) कानों में साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे [**अष्टसहस्रलक्षणधराः**] एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं॥२४॥

– इत्यादिरूप से तीर्थंकरों-आचार्यों की जो स्तुति है, वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिये हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है। इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने कहा॥२६॥

नैवं, नयविभागानभिज्ञोऽसि –

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो ।।२७।।
व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेक:।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थ: ।।२७ ।।

समूहपीठिका – अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टक कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्ष: गाथाचतुष्टये निश्चय-व्यवहारसमर्थनरूपेण परिहार:। गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका।

तात्पर्यवृत्ति टीका – तद्यथा– प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति, तदा तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्य: पूर्वपक्षं करोति – **जदि जीवो ण सरीरं** हे भगवन् ! यदि जीव: शरीरं न भवति। **तित्थयरायरियसंथुदी चेव** तर्हि ''**द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलावित्यादि**'' तीर्थकरस्तुति:, ''**देसकुलजाइसुद्धा**'' इत्याचार्यस्तुतिश्च। **सव्वा वि हवदि मिच्छा** सर्वापि भवति मिथ्या। **तेण दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देह:। इति ममैकांतिकी प्रतिपत्ति:। एवं पूर्वपक्षगाथा गता।।२६।।

समूहपीठिका – अब पूर्व पक्ष के निराकरण हेतु आठ गाथाएँ कही हैं। वहाँ प्रथम गाथा में पूर्वपक्ष का कथन है, उसका निराकरण निश्चय-व्यवहार के समर्थन रूप से चार गाथाओं में है तथा तीन गाथाओं में निश्चय स्तुति रूप से निराकरण है, इसप्रकार छठवें स्थल में समूहपीठिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सर्वप्रथम, यदि जीव और शरीर का एकपना नहीं है, तब तो तीर्थंकर-आचार्य की स्तुति निरर्थक है – ऐसा अप्रतिबुद्ध अज्ञानी का पूर्वपक्ष है।

जदि जीवो ण सरीरं हे भगवन् ! यदि जीव शरीर नहीं है, **तित्थयरायरियसंथुदी चेव** तो ''द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ''दो तीर्थंकर कुन्दपुष्प की तरह लाल, दो चन्द्रमा या बर्फ के समान सफेद वर्ण वाले हैं इत्यादि तीर्थंकर की स्तुति और ''देसकुलजाइसुद्धा'' देश, कुल, जाति से शुद्ध इसप्रकार आचार्यों की स्तुति **सव्वा वि हवदि मिच्छा** सब मिथ्या हो जायेगी। **तेण दु आदा हवदि देहो** इसलिए वास्तव में आत्मा देह ही है ऐसी मेरी एकांतरूप से मान्यता है । इसप्रकार पूर्वपक्ष की गाथा हुई।।२६।।

....

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभाग को नहीं जानता। जो नयविभाग इसप्रकार है, उसे गाथा द्वारा कहते हैं :–

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का।
निश्चयविषैं तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना ।।२७।।

गाथार्थ :– [**व्यवहारनय:**] व्यवहारनय तो [**भाषते**] यह कहता है कि [**जीव: देह: च**] जीव और शरीर [**एक: खलु**] एक ही [**भवति**] है; [**तु**] किन्तु [**निश्चयस्य**] निश्चयनय के अभिप्राय से [**जीव: देह: च**] जीव और शरीर [**कदा अपि**] कभी भी [**एकार्थ:**] एक पदार्थ [**न**] नहीं हैं।

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयो: समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहार-वद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयत:, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयो: कनककल-धौतयो: पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्ते: नानात्वमेवेति। एवं हि किल नयविभाग:। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम्॥२७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – हे शिष्य ! यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावं न जानासि त्वमिति–

ववहारणओ भासदि व्यवहारनयो भाषते ब्रूते। किं ब्रूते ? **जीवो देहो य हवदि खलु एक्को** जीवो देहश्च भवति खल्वेक:। **ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो** न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थं एको भवति। यथा कनककलधौतयो: समावर्त्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थ:। तत: कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोष:॥२७॥

टीका :– जैसे इस लोक में सोने और चांदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है, उसीप्रकार आत्मा और शरीर की परस्पर एक क्षेत्र में रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। यों व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से देखा जाये तो, जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है ऐसे सोने और चांदी में अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसलिए अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मा और शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है।

भावार्थ :– व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चयनय से भिन्न हैं। इसलिए व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है॥२७॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – हे शिष्य ! तुमने जो कहा, वह सही घटित नहीं होता; क्योंकि निश्चय-व्यवहारनय में परस्पर साध्य-साधकभाव है, तुम उसे नहीं जानते।

ववहारणओ भासदि व्यवहारनय कहता है। क्या कहता है ? **जीवो देहो य हवदि खलु एक्को** वास्तव में जीव और देह दोनों एक है। **ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो** परन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह किसी भी काल में एक पदार्थ नहीं है । जिसप्रकार सोना और चाँदी मिली हुई अवस्था में व्यवहारनय से एक होने पर भी निश्चयनय से भिन्न हैं, उसीप्रकार जीव और देह भिन्न हैं – ऐसा भावार्थ है। इस कारण व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मानना उचित है, इसमें कोई दोष नहीं है॥२७॥

तथा हि –

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भगवं॥२८॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान्॥२८॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम्। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ॥२८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – तथाहि – **इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी** इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमय स्तुत्वा मुनिः। **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते

यही बात इस गाथा में कहते हैं :–

जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी।
माने मुनी जो केवली, वन्दन हुआ स्तवना हुई॥२८॥

गाथार्थ :– [**जीवात् अन्यत्**] जीव से भिन्न [**इदम् पुद्गलमयं देहं**] इस पुद्गलमय देह की [**स्तुत्वा**] स्तुति करके [**मुनिः**] साधु [**मन्यते खलु**] ऐसा मानते हैं कि [**मया**] मैंने [**केवली भगवान्**] केवली भगवान की [**स्तुतः**] स्तुति की और [**वंदितः**] वन्दना की।

टीका :– जैसे परमार्थ से सफेदी सोने का स्वभाव नहीं है, फिर भी चांदी का जो श्वेत गुण है, उसके नाम से सोने का नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है यह व्यवहारमात्र से ही कहा जाता है। इसीप्रकार परमार्थ से शुक्ल-रक्तता तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्वभाव न होने पर भी, शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं, उसके स्तवन से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का 'शुक्ल-रक्त तीर्थंकर-केवलीपुरुष' के रूप में स्तवन किया जाता है वह व्यवहारमात्र से ही किया जाता है; किन्तु निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं हो सकता।

भावार्थ :– यहाँ कोई प्रश्न करे कि व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है तब व्यवहाराश्रित जड़ की स्तुति का क्या फल है ? उसका उत्तर यह है – व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। और छद्मस्थ को अपना, पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्रा को देखकर अपने को भी शांतभाव होते हैं। ऐसा उपकार समझकर शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है; तथा शांतमुद्रा को देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है यह भी उपकार है॥२८॥

तथा हि –

तं णिच्छये ण जुंजदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥२९॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति॥२९॥

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वर-गुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभा-वान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात्॥२९॥

संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवानिति। यथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो, न निश्चयः। तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्यादि देहस्तवनेन व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति, न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः॥२८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसी को पुनः स्पष्ट करते हैं – **इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी** इससे भिन्न अन्य अर्थात् जीव से भिन्न पुद्गलमय देह की स्तुति करके मुनि (ज्ञानी) **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** ऐसा मानते हैं कि व्यवहार से मेरे द्वारा केवली भगवान की स्तुति वंदना की गई। जिसप्रकार सोना और चाँदी के एक होने पर 'सफेद सोना' है – ऐसा व्यवहार किया जाता है, परन्तु निश्चय से सोना सफेद नहीं है। उसीप्रकार 'केवली भगवान सफेद-लाल कमल के वर्णवाले हैं' – इत्यादि देह के स्तवन से व्यवहार से आत्मा का स्तवन होता है, निश्चयनय से नहीं – यह तात्पर्य है॥२८॥

....

ऊपर की बात को गाथा में कहते हैं :–

निश्चयविषैं नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के।
जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे॥२९॥

गाथार्थ :– [**तत्**] वह स्तवन [**निश्चये**] निश्चय में [**न युज्यते**] योग्य नहीं है [**हि**] क्योंकि [**शरीरगुणाः**] शरीर के गुण [**केवलिनः**] केवली के [**न भवंति**] नहीं होते; [**यः**] जो [**केवलिगुणान्**] केवली के गुणों की [**स्तौति**] स्तुति करता है, [**सः**] वह [**तत्त्वं**] परमार्थ से [**केवलिनं**] केवली की [**स्तौति**] स्तुति करता है।

टीका :– जैसे चांदी का गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्ण में अभाव है इसलिये निश्चय से सफेदी के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नाम से ही सुवर्ण का नाम होता है; इसीप्रकार शरीर के गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर-केवलीपुरुष में अभाव है; इसलिये निश्चय से शरीर के शुक्ल-रक्तता आदि गुणों का स्तवन करने से तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता है, तीर्थंकर-केवलीपुरुष के गुणों का स्तवन करने से ही तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन होता है॥२९॥

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत् –

णगरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति॥३०॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति॥३०॥

तथा हि –

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्॥२५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयति –

तं णिच्छयेण जुज्जदि तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते। कथमिति चेत्? **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** यतः कारणाच्छरीरगुणाः शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवन्ति। तर्हि कथं केवलिनः स्तवनं भवति ? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति। यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न भण्यते, तथा शुक्लाादिकेवलि-शरीरस्तवनेन चिदानन्दैकस्वभावं केवलिपुरुषस्वतनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः॥२९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान का स्तवन नहीं होता – यह दृढ़ करते हैं। **तं णिच्छये ण जुज्जदि** पूर्वोक्त प्रकार से देह का स्तवन होने पर केवली का स्तवन (मानना) निश्चय से युक्त नहीं है। कैसे युक्त नहीं है ? **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** क्योंकि शुक्ल-कृष्ण आदि शरीर के गुण केवली के नहीं होते। तब फिर केवली का स्तवन कैसे होता है? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** जो केवली के अनन्तज्ञानादि गुणों की स्तुति करता है, वह वास्तव में प्रगट केवली की स्तुति करता है। जिसप्रकार 'शुक्ल वर्ण की चाँदी शब्द के कथन से स्वर्ण नहीं कहा जाता है, उसीप्रकार शुक्लादि शब्द से केवली के शरीर का स्तवन करने से निश्चयनय से चिदानन्द एक स्वभावी केवली आत्मा का स्तवन नहीं होता – यह अभिप्राय है॥२९॥

....

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है, इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों युक्त नहीं है ? उसके उत्तररूप दृष्टान्त सहित गाथा कहते हैं:–

रे ग्राम वर्णन करने से, भूपाल वर्णन हो न ज्यों।
त्यों देहगुण के स्तवन से, नहिं केवलिगुण स्तवन हो॥३०॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**नगरे**] नगर का [**वर्णिते अपि**] वर्णन करने पर भी [**राज्ञः वर्णना**] राजा का वर्णन [**न कृता भवति**] नहीं किया जाता, इसीप्रकार [**देहगुणे स्तूयमाने**] शरीर के गुण का स्तवन करने पर [**केवलिगुणाः**] केवली के गुणों का [**स्तुताः न भवन्ति**] स्तवन नहीं होता।

इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात्। तथैव–

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति॥२६॥

इति शरीरे स्तूयमानेऽपि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादि-गुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ॥३०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ शरीरप्रभुत्वेऽपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति निश्चयनयेन। तत्र दृष्टांतमाह –

यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेऽपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति, तथा शुक्लादि- देहगुणे स्तूयमानेऽप्यनंतज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवन्तीत्यर्थः। इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं गतम्॥३०॥

टीका :– उपरोक्त अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इदं नगरम् हि] यह नगर ऐसा है कि जिसने **[प्राकार-कवलित-अम्बरम्]** कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है), **[उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्]** बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है (अर्थात् चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढ़क गई है), और **[परिखावलयेन पातालम् पिबति इव]** कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है)॥२५॥

इसप्रकार नगर का वर्णन करने पर भी उससे राजा का वर्णन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि, वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है।

इसीप्रकार शरीर का स्तवन करने पर तीर्थंकर का स्तवन नहीं होता; यह भी श्लोक द्वारा कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [जिनेन्द्ररूपं परं जयति] जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, **[नित्यम्-अविकार-सुस्थित-सर्वांगम्]** जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, **[अपूर्व-सहज-लावण्यम्]** जिसमें (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और **[समुद्रं इव अक्षोभम्]** जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है॥२६॥

इसप्रकार शरीर का स्तवन करने पर भी उससे तीर्थंकर-केवलीपुरुष का स्तवन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुष के शरीर का अधिष्ठात्रत्व है तथापि सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्मा के गुण नहीं हैं इसलिये तीर्थंकर-केवलीपुरुष के उन गुणों का अभाव है॥३०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मा के शरीर का प्रभुत्व होने पर भी निश्चय नय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता है। इसका दृष्टान्त कहते हैं।

जिसप्रकार कोट, उपवन और खाई आदि के द्वारा नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं

अथ निश्चयस्तुतिमाह। तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत् –

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिगं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू।।३१।।

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिता: साधव: ।।३१।।

य: खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांत:स्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडश: आकर्षंति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्ते: स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान्

होता है, उसीप्रकार केवली भगवान के शुक्ल आदि शरीर गुणों का स्तवन करने पर भी केवली के अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्तवन नहीं होता है – ऐसा अर्थ फलित हुआ। इसप्रकार निश्चय व्यवहाररूप से चार गाथाएँ समाप्त हुईं।।३०।।

....

अब, (तीर्थंकर-केवली की) निश्चय स्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं :–

कर इन्द्रिजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को।।३१।।

गाथार्थ :– [**य:**] जो [**इन्द्रियाणि**] इन्द्रियों को [**जित्वा**] जीतकर [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक [**आत्मानम्**] आत्मा को [**जानाति**] जानते हैं [**तं**] उन्हें, [**ये निश्चिता: साधव:**] जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं [**ते**] वे [**खलु**] वास्तव में [**जितेन्द्रियं**] जितेन्द्रिय [**भणंति**] कहते हैं।

टीका :– (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को – तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ।

भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों को प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ।

स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वत: पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांत:प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्य: परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुति: ।।३१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथानंतरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियपंचेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योऽसौ शुद्धमात्मानं संचेतयते स जिनो जितेन्द्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुति: परिहारं ददाति –

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं य: कर्त्ता द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियपंचेन्द्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयति। **तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधव:। के ते ? ये निश्चिता: निश्चयज्ञा इति। किंच – ज्ञेया: स्पर्शादिपंचेन्द्रियविषया: ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणि तेषां योऽसौ जीवेन सह संकर: संयोग: संबंध: स एव दोष: तं दोषं परमसमाधिबलेन योऽसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थ:।।३१।।

ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुये, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ।

इसप्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर, ज्ञेयज्ञायकसंकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से, एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्यद्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ भी (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वत:सिद्ध और परमार्थरूप – ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है। इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का – दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एक-सा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना।)।।३१।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यदि देह के गुणों के स्तवन करने से निश्चय स्तुति नहीं होती है तो निश्चय स्तुति कैसी होती है ? ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के विषयों को स्वसंवेदनलक्षण रूप भेदज्ञान से जीतकर जो इस शुद्धात्मा को अनुभव करता है, वह जिन है, जितेन्द्रिय है, इसप्रकार वह ही पहली निश्चय स्तुति है।

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण –

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधिगं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणगा बेंति।।३२।।

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम्।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति।।३२।।

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांत:प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्य: सर्वेभ्यो भावांतरेभ्य: परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुति:।

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं जो द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के विषयों को जीत कर शुद्ध ज्ञानचेतना गुण से अधिक परिपूर्ण शुद्धात्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है, संचेतन करता है। **तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** उस आत्मा को निश्चय से वे साधु जितेन्द्रिय कहते हैं। वे कौन हैं ? जो निश्चय से निश्चय के ज्ञाता हैं। और विशेष कहते हैं – स्पर्शन आदि पंचेन्द्रियों के विषय ज्ञेय हैं और द्रव्येन्द्रियाँ एवं भावेन्द्रियाँ उनकी ज्ञायक हैं– ऐसा यह जो जीव के साथ संकर – संयोग सम्बन्ध है वही दोष है। उस दोष को परमसमाधि के बल से जो जीतना है, वही प्रथम निश्चयस्तुति है – ऐसा भावार्थ है।।३१।।

....

अब, भाव्यभावक-संकरदोष दूर करके स्तुति कहते हैं :–

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मा।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा।।३२।।

गाथार्थ :– [**य: तु**] जो मुनि [**मोहं**] मोह को [**जित्वा**] जीतकर [**आत्मानम्**] अपने आत्मा को [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक [**जानाति**] जानता है [**तं साधुं**] उस मुनि को [**परमार्थविज्ञायका:**] परमार्थ के जाननेवाले [**जितमोहं**] जितमोह [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं।

टीका :– मोहकर्म फल देने की सामर्थ्य से प्रगट उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा – भाव्य, उसको भेदज्ञान के बल द्वारा दूर से ही अलग करने से, इसप्रकार बलपूर्वक मोह का तिरस्कार करके, समस्त भाव्यभावक-संकरदोष दूर हो जाने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों के स्वभावों से होनेवाले सर्व अन्यभावों से परमार्थत: भिन्न अपने आत्मा को जो (मुनि) अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितमोह (जिसने मोह को जीता है) जिन हैं। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव? समस्त लोक के ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूप से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनाशी, अपने से ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादशपंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।।३२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण कथयति। अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह – **जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं** यः पुरुषः उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति। **तं जितमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायकाः ब्रुवंति कथयन्तीति। इयं द्वितीया स्तुतिरिति। किंच – भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटते इति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह संकरः संयोगः संबंधः स एव दोषः। तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति स जिनः सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः। एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्यैकादश पःानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्वयाख्येयानि। अनेनैव प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ।।३२।।

इसप्रकार भाव्यभावक भाव के संकरदोष को दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है।

इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पद को बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना तथा स्पर्शन – इन पाँचों के सूत्रों को इन्द्रियसूत्र के द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इसप्रकार सोलह सूत्रों को भिन्न-भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

भावार्थ :– भावक मोह के अनुसार प्रवृत्ति करने से अपना आत्मा भाव्यरूप होता है, उसे भेदज्ञान के बल से भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं। यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोह का उदय अनुभव में न रहे और जो अपने बल से उपशमादि करके आत्मानुभव करता है, उसे जितमोह कहा है। यहाँ मोह को जीता है; उसका नाश नहीं हुआ ।।३२।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उसी निश्चय स्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य-भावक संकरदोष के निराकरण द्वारा कहते हैं। अथवा उपशमश्रेणी की अपेक्षा जितमोहरूप से कहते हैं।

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं जो आत्मा उदयागत मोह को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर शुद्ध-ज्ञानगुण से अधिक परिपूर्ण आत्मा को मानता है, जानता है, भाता है। **तं जितमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** उस साधु को परमार्थ के ज्ञाता जितमोह या मोहरहित बोलते हैं, कहते हैं– यह द्वितीय स्तुति है।

और विशेष कहते हैं – भाव्य-भावक संकरदोष के निराकरण से दूसरी स्तुति होती है, ऐसा पातनिका-उत्थानिका में आपके द्वारा कहा गया है, वह किसप्रकार घटित होता है ? भाव्य अर्थात् रागादिरूप परिणत

अथ भाव्यभावकभावाभावेन –

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हवेज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः॥३३॥

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि॥३३॥

हुआ आत्मा और भावक अर्थात् रंजक उदयागत मोह उन दोनों के भाव्य-भावक भाव का शुद्ध जीव के साथ संकर-संयोग सम्बन्ध है वही (संकर) दोष है। उस दोष को जो पुरुष स्वसंवेदन ज्ञान के बल से दूर करता है, वह जिन है। वह दूसरी स्तुति है – ऐसा भावार्थ है।

इसी प्रकार यहाँ 'मोह' पद के परिवर्तन द्वारा राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय – इन ग्यारह सूत्रों तथा श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन – इन पाँच इन्द्रिय सूत्रों द्वारा पृथक्-पृथक् कथन व्याख्या करना चाहिए। इसीप्रकार और भी असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणाम हैं, उनको भी जानना चाहिए॥३२॥

....

अब, भाव्यभावक भाव के अभाव से निश्चयस्तुति बतलाते हैं :–

जितमोह साधु पुरुष का जब, मोह क्षय हो जाय है।
परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे॥३३॥

गाथार्थ :– [**जितमोहस्य तु साधोः**] जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के [**यदा**] जब [**क्षीणः मोहः**] मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट [**भवेत्**] हो [**तदा**] तब [**निश्चयविद्भिः**] निश्चय के जाननेवाले [**खलु**] निश्चय से [**सः**] उस साधु को [**क्षीणमोहः**] 'क्षीणमोह' नाम से [**भण्यते**] कहते हैं।

टीका :– इस निश्चयस्तुति में पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्यद्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने से मोह की संतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो – इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भाव का अभाव होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ, वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। यह तीसरी निश्चय स्तुति है।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ।।२७।।

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव।।२८।।

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन – इन पदों को रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना और इसप्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना।

भावार्थ :– साधु पहले अपने बल से उपशमभाव के द्वारा मोह को जीतकर, फिर जब अपनी महासामर्थ्य से मोह को सत्ता में से नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते हैं।

अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुति के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं] शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है **[तु पुनः]** किन्तु **[निश्चयात् न]** निश्चयनय से नहीं है; **[वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति]** इसलिये शरीर के स्तवन से आत्मा – पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है, **[तत्त्वतः तत् न]** निश्चयनय से नहीं; **[निश्चयतः]** निश्चय से तो **[चित्स्तुत्या एव]** चैतन्य के स्तवन से ही **[चितः स्तोत्रं भवति]** चैतन्य का स्तवन होता है। **[सा एवं भवेत्]** उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह इत्यादिरूप से कहा वैसा है। **[अतः तीर्थंकर- स्तवोत्तरबलात्]** अज्ञानी ने तीर्थंकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था, उसका इसप्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि **[आत्म-अङ्गयोः एकत्वं न]** आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है।।२७।।

अब फिर, इस अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है, इस अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं:–

श्लोकार्थ :– [परिचित तत्त्वैः] जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप किया है ऐसे मुनियों ने **[आत्म-काय-एकतायां]** जब आत्मा और शरीर के एकत्व को **[इति नय-विभजन-युक्त्या]** इसप्रकार नयविभाग की युक्ति के द्वारा **[अत्यन्तम् उच्छादितायाम्]** जड़मूल से उखाड़ फेंका है – उसका

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते। अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह – **जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स** पूर्वगाथाकथित क्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत्। कस्य ? साधोः शुद्धात्मभावकस्य। **तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं** तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते। कैः ? निश्चयविद्भिः परमार्थ- ज्ञायकैर्गणधरदेवादिभिः। इयं तृतीया निश्चयस्तुतिरिति। भाव्यभावकभावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत् – भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भावः स्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः। एवं रागद्वेष इत्यादि दंडको ज्ञातव्यः॥३३॥

इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षस्तदनंतरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं गतम्।

अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने **[स्व-रस-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव]** निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर **[कस्य]** किस पुरुष को वह **[बोधः]** ज्ञान **[अद्य एव]** तत्काल ही **[बोधं]** यथार्थपने को **[न अवतरति]** प्राप्त न होगा ? अवश्य ही होगा।

भावार्थ :– निश्चय-व्यवहारनय के विभाग से आत्मा और पर का अत्यन्त भेद बताया है; उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है; क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरस से स्वयं अपने स्वरूप को जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्मा को पर से भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घ संसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है॥२८॥

इसप्रकार, अप्रतिबुद्ध ने जो यह कहा था कि ''हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है'' उसका निराकरण किया॥३३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब भाव्य-भावक भाव के अभावरूप से तीसरी निश्चयस्तुति कहते हैं अथवा उसको ही क्षपकश्रेणी की अपेक्षा से क्षीणमोहरूप से कहते हैं – **जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स** पूर्व गाथा में कहे हुए क्रम से जितमोह को प्राप्त साधु का जब निर्विकल्प समाधि के काल में मोह क्षीण हो जाता है। कैसे साधु के ? शुद्ध आत्मा की भावना करने वाले साधु के। **तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं** तब उस गुप्ति – समाधिकाल में उस साधु को क्षीणमोही कहा जाता है। किसके द्वारा कहा जाता है ? निश्चय को जाननेवाले, परमार्थ को जाननेवाले गणधरादि देवों द्वारा क्षीणमोही कहा जाता है। इसप्रकार तीसरी निश्चयस्तुति पूर्ण हुई।

प्रश्न – यहाँ भाव्य-भावक के अभाव रूप से यह स्तुति कैसे हुई ?

उत्तर – भाव्य अर्थात् रागादि परिणत आत्मा और भावक रंजक अर्थात् उदय में आनेवाला मोह है। उन भाव्य-भावक भाव के स्वरूप का अभाव, क्षय, विनाश है; वही तीसरी निश्चय स्तुति हुई।

ऐसा आशय है यहाँ पर राग-द्वेष आदि रूप जो दण्डक हैं वे सभी लगा लेना – जान लेना चाहिए॥३३॥

इसप्रकार प्रथम गाथा में पूर्वपक्ष का कथन किया है। उसके बाद चार गाथाओं में निश्चय-व्यवहार के समर्थन रूप से परिहार किया है। तत्पश्चात् तीन गाथाओं में निश्चय स्तुतिकथन रूप से परिहार है। इसतरह पूर्वपक्ष के परिहार रूप आठ गाथाओं के समूह रूप से षष्ठम् स्थल पूर्ण हुआ।

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोऽपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञान-ज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः ? साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः –

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खादी परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ।।३४।।

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ।।३४।।

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभाव-भावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्य-वनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।।३४।।

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोह के संतान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से नेत्र के विकार की भाँति (जैसे किसी पुरुष की आँखों में विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्यों के त्यों – यथार्थ दिखाई देने लगे, इसीप्रकार) पटल समान आवरणकर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात् द्रष्टा आपको अपने से ही जानकर तथा श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि 'इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' उसको आचार्य इसप्रकार कहते हैं कि :–

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है ।।३४।।

गाथार्थ :– [**यस्मात्**] जिससे [**सर्वान् भावान्**] अपने 'अतिरिक्त सर्व पदार्थों को [**परान्**] पर हैं' [**इति ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**प्रत्याख्याति**] प्रत्याख्यान करता है – त्याग करता है, [**तस्मात्**] उससे, [**प्रत्याख्यानं**] प्रत्याख्यान [**ज्ञान**] ज्ञान ही है। [**नियमात्**] ऐसा नियम से [**ज्ञातव्यम्**] जानना। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

टीका :– यह भगवान ज्ञाता-द्रव्य (आत्मा) है वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, उनके अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर, त्याग देता है; इसलिए जो पहले जानता है वही बाद में त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है – इसप्रकार आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (त्याग के) समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग-कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है, स्वयं तो इस नाम से रहित है क्योंकि ज्ञानस्वभाव से स्वयं छूटा नहीं है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है – ऐसा अनुभव करना चाहिए।

समूहपीठिका – अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते। तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टांतरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयं। तदनंतरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम्। एवं सप्तमस्थले समुदायपातनिका।

तात्पर्यवृत्ति टीका – तथाहि – तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन् ! रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति। ''इति पृच्छति'' कोऽर्थः? इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति। एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूण जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं (तत्) ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति निराकरोति। **तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मंतव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति। इदमत्र तात्पर्यं – परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चयप्रत्याख्यानमिति ।।३४।।

भावार्थ :– आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है वह नाममात्र है। वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना और फिर परभाव का ग्रहण न करना वही त्याग है। इसप्रकार, स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है ।।३४।।

....

समूहपीठिका – अब रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप लक्षण वाले प्रत्याख्यान के विवरण रूप से चार गाथायें कहेंगे। उनमें स्वसंवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान (त्याग) है, इस कथन रूप से प्रथम गाथा है और प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्त रूप से दूसरी गाथा है – इसप्रकार दो गाथाएँ है। उसके बाद मोह के परित्यागरूप से एक गाथा है और ज्ञेयपदार्थ के परित्यागरूप से दूसरी गाथा है इसप्रकार दो गाथाएँ हैं। इसतरह सप्तम् स्थल में समुदायरूप पीठिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसका विशेष यह है कि – यदि जीव और शरीर को एक नहीं माना तो तीर्थंकर और आचार्य की स्तुति निरर्थक होगी, इसप्रकार पूर्वपक्ष के अनुसार जीव और शरीर की एकता सिद्ध नहीं होती है – ऐसा जानकर शिष्य प्रतिबुद्ध होकर पूछता है कि हे भगवन् ! 'रागादि का प्रत्याख्यान क्या होता है ?' – ऐसा पूछने पर आचार्य देव प्रत्युत्तर देते हैं। इसप्रकार प्रश्नोत्तररूप पातनिका के सन्दर्भ में सभी जगह 'इति' शब्द का अर्थ 'प्रश्न पूछने पर उत्तर दिया जा रहा है' – ऐसा जानना चाहिए।

णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूण जानता है वह ज्ञान है इसप्रकार व्युत्पत्ति अर्थ से 'स्वसंवेदन ज्ञान आत्मा है ऐसा कहा गया है। 'मिथ्यात्व रागादि विभाव परस्वरूप है' – ऐसा वह स्वसंवेदन ज्ञान जानकर त्यागता है, प्रत्याख्यान करता है, निराकरण करता है। **तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है – ऐसा मानना चाहिए, जानना चाहिए, अनुभव करना चाहिए। यहाँ तात्पर्य यह है कि जो परमसमाधिकाल में स्वसंवेदन ज्ञान के बल से शुद्धात्मा का अनुभव करता है और वह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है।।३४।।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह –

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णादूण विमुःादे णाणी।।३५।।

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी।।३५।।

यथा हि कश्चित्पुरुषः[१] संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः[२] स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु[३] प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं माम-कमित्यसकृद्वाक्यं श्रृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयम-ज्ञानीसन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ-ौतं वाक्यं श्रृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावान-चिरात्।।३५।।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाता का प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है ? उसके उत्तर में दृष्टान्त-दाष्ट-र्न्तिरूप गाथा कहते हैं :–

ये और का है जानकर, परद्रव्य को को नर तजे।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे।।३५।।

गाथार्थ :– [**यथा नाम**] जैसे लोक में [**कः अपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा**] परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर [**त्यजति**] परवस्तु का त्याग करता है, [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी पुरुष [**सर्वान्**] समस्त [**परभावान्**] परद्रव्यों के भावों को [**ज्ञात्वा**] 'यह परभाव हैं' ऐसा जानकर [**विमुञ्चति**] उनको छोड़ देता है।

टीका :– जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (यह वस्त्र दूसरे का है ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है; (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे,' तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र के) सर्व चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरे के) वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसीप्रकार ज्ञाता भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्रीगुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह

---

१. कोऽपि इत्यपि ग. पुस्तके पाठः   २. सुप्यम नः   ३. झटिति

(मालिनी)

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥२९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तमाह –

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति। **तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी** तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्धया विमुःाति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति।

अयमत्र भावार्थः – यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रांत्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रांचलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलांच्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुञ्चति। तथायं ज्ञानीजीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवन्ति, एक एव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुंचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति। एवं गाथाद्वयं गतम्॥३५॥

तेरा आत्मा वास्तव में एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्य के भाव हैं),' तब बारम्बार कहे गये इस आगम के वाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-पर के) चिह्नों से भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही हैं, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थ :– जबतक परवस्तु को भूल से अपनी समझता है तभी तक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होने से परवस्तु को दूसरे की जानता है तब दूसरे की वस्तु में ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नहीं रहेगा यह प्रसिद्ध है॥३५॥

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अपर-भाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः**] यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि, [**अनवम् अत्यन्त-वेगात्-यावत् वृत्तिम् न अवतरति**] पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेग से जबतक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, [**तावत्**] उससे पूर्व ही [**झटिति**] तत्काल [**सकल-भावैः अन्यदीयैः विमुक्ता**] सकल अन्यभावों से रहित [**स्वयम् इयम् अनुभूतिः**] स्वयं ही यह अनुभूति [**आविर्बभूव**] प्रगट हो जाती है।

भावार्थ :– यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्यभावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तु को पर की जान लेने के बाद ममत्व नहीं रहता॥२९॥

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह –

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणगा बेंति ॥३६॥*

नास्ति मम कोऽपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥३६॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैक-ज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोऽपि न नाम मम मोहोऽस्ति। किंत

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब प्रत्याख्यान विषय में दृष्टान्त कहते हैं –

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि जैसे कोई पुरुष वस्त्र, आभरण आदि को 'ये परद्रव्य है' ऐसा जानकर छोड़ देता है। **तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी** उसीप्रकार मिथ्यात्व रागादि परभावों को – पर पर्यायों को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से पर जानकर विशेष रूप से मन-वचन-काया की त्रिशुद्धिपूर्वक स्वसंवेदन ज्ञानी उन्हें छोड़ देता है। यहाँ भावार्थ यह है कि – जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष दूसरे के वस्त्र को भ्रम से अपना मानकर धोबी के घर से लाकर और ओढ़कर सो जाता है। बाद में उस वस्त्र के स्वामी अन्य व्यक्ति द्वारा वस्त्र के आंचल को खींचकर उसको नग्न करते हुए उस वस्त्र के लांछन (चिह्न) को निरीक्षण करके चिह्न को देखकर के "यह वस्त्र दूसरे का है" ऐसा मानकर उस वस्त्र को छोड़ देता है। इसीप्रकार यह ज्ञानी जीव भी अत्यन्त ज्ञानी-वैरागी गुरु द्वारा "ये मिथ्यात्व रागादि विभाव-भाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, एक शुद्धात्मा ही तुम्हारा स्वभाव है" – इसप्रकार समझाये जाने पर उन सब भावों को 'पर के ही हैं' ऐसा जानकर तत्काल छोड़ देता है तथा शुद्ध आत्मा की अनुभूति का अनुभव करता है। इसप्रकार दो गाथाएँ हुई ॥३५॥

....

अब, 'इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ?' ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावक-भाव – मोहकर्म के उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं :–

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोह निर्ममता कहैं ॥३६॥

गाथार्थ :– [**बुध्यते**] जो यह जाने कि [**मोहः मम कः अपि नास्ति**] 'मोह मेरा कोई भी (सम्बन्धी) नहीं है, [**एकः उपयोगः एव अहम्**] एक उपयोग ही मैं हूँ [**तं**] ऐसे जानने को [**समयस्य**] सिद्धान्त के अथवा स्वपर स्वरूप के [**विज्ञायकाः**] जाननेवाले [**मोहनिर्ममत्वं**] मोह से निर्ममत्व [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं।

टीका :– निश्चय से, (यह मेरे अनुभव में) फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाला पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ

---

* (इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही (आत्मा ही) जाने, उस उपयोग को (आत्मा को) समय के जाननेवाले मोह के प्रति निर्मम (ममता रहित) कहते हैं।)

तत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवाव-बुध्यते यत्किलाहं खल्वेक: तत: समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात् मज्जिता-वस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्व-गतत्वेन समयस्यैवमेव स्थिततत्वात्। इतीत्थं भावकभावविवेको भूत:।

(स्वागता)

सर्वत: स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह: शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ।।३०।।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन-स्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।।३६।।

से पर के भाव द्वारा [१]भाना अशक्य है। और यहाँ स्वयमेव, विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्ति मात्र स्वभावभाव के द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है कि परमार्थ से मैं एक हूँ इसलिए, यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का (एकक्षेत्रावगाह का) निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड़, श्रीखंड की भाँति, एकमेक हो रहे हैं तथापि, श्रीखंड की भाँति, स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वाद के भेद के कारण, मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलाने से श्रीखंड बनता है उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वाद के भेद से भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं; इसीप्रकार द्रव्यों के लक्षण भेद से जड़-चेतन के भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक है, वह चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही है।) इसप्रकार भावकभाव जो मोह का उदय उससे भेदज्ञान हुआ।

भावार्थ :– यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है; उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है; वह भाव भी, मोहकर्म का भाव होने से, पुद्गल का ही विकार है। यह भावक का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञान-दर्शनोपयोग मात्र है और यह कलुषता राग-द्वेष-मोहरूप है वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्य की है', तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनुभवरूप स्थित होता है।

अब इस अर्थ का द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इह]** इस लोक में **[अहं]** मैं **[स्वयं]** स्वत: ही **[एकं स्वं]** अपने एक आत्मस्वरूप का **[चेतये]** अनुभव करता हूँ, **[सर्वत: स्व-रस-निर्भर-भावं]** जो स्वरूप सर्वत: अपने निजरसरूप

---

[१] भाना = भाव्यरूप करना; बनाना।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टे सति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह –

णत्थि मम को वि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयनयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रंजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोह:। **बुज्झदि उवओग एक अहमेक्को** बुध्यते जानाति। स क: ? कर्त्ता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव। किं बुध्यते ? यत: कारणादहमेक: ततो मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि निर्मोहो भवामि। अथवा बुध्यते जानाति। किं जानाति ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेक:। **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्य वियाणया विंति** तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं निर्ममत्वं ब्रुवंति वदंति जानंति वा। के ते ? समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायका: पुरुषा: इति।

किंच विशेष: – यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेषव्याख्यानमिति। एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडशव्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि॥३६॥

चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये यह **[मोह:]** मोह **[मम]** मेरा **[कश्चन नास्ति नास्ति]** कुछ भी नहीं लगता, नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। **[शुद्ध-चिद्घन-मह:-निधि: अस्मि]** मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुंज की निधि हूँ। (भाव्य-भावक के भेद से ऐसा अनुभव करे।) ॥३०॥

इसीप्रकार गाथा में जो 'मोह' पद है उसे बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन – इन सोलह पदों के भिन्न-भिन्न सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना॥३६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव मोहादि के परित्याग का उपाय कहते हैं –

णत्थि मम को वि मोहो शुद्ध निश्चयनय से टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाववाला जो मैं हूँ – ऐसे मुझे कर्तृभूत रागादि परभावों के द्वारा रंजायमान करने के लिए मोह असमर्थ है, इसलिए द्रव्यमोह और भावमोह मेरा कोई भी नहीं है। **बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को** किन्तु ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षण वाला होने से मैं उपयोग स्वरूप ही हूँ – ऐसा मैं जानता हूँ। क्या जानता हूँ ? कि जिस कारण से मैं एक हूँ, इसलिए मोह के प्रति निर्ममत्व हूँ, निर्मोही हूँ। अथवा मैं जानता हूँ। क्या जानता हूँ ? कि मैं एक विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन उपयोग वाला ही हूँ – ऐसा जानता हूँ या अनुभव करता हूँ। **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्य वियाणया विंति** उस निर्मोही शुद्धात्मा की भावना स्वरूप आत्मा को ''निर्ममत्व वाला'' कहते हैं, बतलाते हैं, जानते हैं। वे कौन है जो ऐसा कहते हैं ? शुद्धात्मस्वरूप को जाननेवाले पुरुष कहते हैं।

कुछ और विशेष कहते हैं – पूर्व गाथा में जिस स्वसंवेदन ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा था, उसके ही यह निर्मोहपना कहा है। इसीप्रकार 'मोह' शब्द बदलकर राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-कर्म-नोकर्म-मन-वचन-काया-श्रोत्र-चक्षु-घ्राण-रसना-स्पर्शन – ये सोलह सूत्रों की व्याख्या कर लेना चाहिए। इसीप्रकार अन्य भी जो असंख्यात लोकप्रमाण मात्र विभाव परिणामरूप भाव हैं, उन्हें जानना चाहिए॥३६॥

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह –

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणगा बेंति ॥३७॥*

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका ब्रुवन्ति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचंड-चिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽन्त-स्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति। किःतैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेऽपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गल-जीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ॥३७॥

अब ज्ञेयभाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं :–

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
इस ज्ञान को, ज्ञायक समय के धर्मनिर्ममता कहैं ॥३७॥

गाथार्थ :– [**बुध्यते**] यह जाने कि [**धर्मादिः**] 'यह धर्म आदि द्रव्य [**मम नास्ति**] मेरे कुछ भी नहीं लगते, [**एकः उपयोगः एव**] एक उपयोग ही [**अहम्**] मैं हूँ' [**तं**] ऐसा जानने को [**समयस्य विज्ञायकाः**] सिद्धान्त के अथवा स्व-पर के स्वरूपरूप समय के जाननेवाले [**धर्मनिर्ममत्वं**] धर्मद्रव्य के प्रति निर्ममत्व [**विंदंति**] जानते हैं – कहते हैं।

टीका :– अपने निजरस से जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है तथा समस्त पदार्थों को ग्रसित करने का जिसका स्वभाव है – ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति के द्वारा ग्रासीभूत किये जाने से मानों अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों – ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों इसप्रकार आत्मा में प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंगतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने के लिए असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभाव का अभाव करके ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते।) और यहाँ स्वयमेव (चैतन्य में) नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ, इसलिये ज्ञेय-ज्ञायकभाव मात्र से उत्पन्न परद्रव्यों के साथ परस्पर मिलन होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव

---

* इस गाथा का अर्थ ऐसा भी होता है :– 'धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोग को समय के जाननेवाले धर्म के प्रति निर्मम कहते हैं।

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटित-परमार्थै-र्दर्शन-ज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः।।३१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवंतीति प्रतिपादयति –

णत्थि मम धम्म आदी न संति न विद्यन्ते धर्मास्तिकायादि ज्ञेयपदार्था ममेति। **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी। तर्हि किमहम् ? **उवओग एव अहमेक्को** विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहम् अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति। केन रूपेण ? यतोऽहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखण्डशिखिरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवन्तीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि। **तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषाः ब्रुवंति कथयन्तीति। किञ्च – इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यम्। इति गाथाद्वयं गतम्। एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तम्।।३७।।

भेद के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्‌गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता)। इसप्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ।।३७।।

यहाँ इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इति] इसप्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब **[सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति]** सर्व अन्यभावों से भिन्नता हुई तब **[अयं उपयोगः]** यह उपयोग **[स्वयं]** स्वयं ही **[एकं आत्मानम्]** अपने एक आत्मा को ही **[बिभ्रत्]** धारण करता हुआ, **[प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः]** जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा **[आत्म-आरामे एव प्रवृत्तः]** अपने आत्मारूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता।

भावार्थ :– सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना तब उपयोग के रमण के लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ वह आत्मा में ही रमण करता है ऐसा जानना।।३१।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब धर्मास्तिकायादि ज्ञेयपदार्थ भी मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादित करते हैं–

णत्थि मम धम्म आदी धर्मास्तिकायादि ज्ञेयपदार्थ मेरे नहीं हैं, मेरे में विद्यमान नहीं हैं। **बुज्झदि** ऐसा ज्ञानी जानता है। तब फिर मैं क्या हूँ ? **उवओग एव अहमेक्को** मैं तो विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वरूप

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति–

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतयासामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेऽपि स्पर्शादिरूपेण स्वयम-

---

ही हूँ अथवा अभेद से ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षणवाला होने से उपयोग ही आत्मा है– ऐसा ज्ञानी जानता है। किसप्रकार से जानता है ? जिस हेतु से मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभावरूप एक हूँ, उसी हेतु से दधि और खाण्ड से मिश्रित शिखिरिणी के समान व्यवहार से पर ज्ञेयों के साथ एकत्व होने पर भी शुद्धनिश्चयनय से यह मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये मैं परद्रव्य के प्रति निर्ममत्व हूँ। **तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** उस शुद्धात्मभावनास्वरूप आत्मा के परद्रव्य से निर्ममत्व है – ऐसा शुद्धात्मा को जाननेवाले पुरुष कहते हैं। विशेष – 'स्वसंवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान है' ऐसा जो पूर्व में कहा था, उसका ही परद्रव्य के प्रति निर्ममत्वरूप यह विशेष व्याख्यान जानना चाहिए। इसप्रकार दो गाथाएँ पूर्ण हुईं। ऐसे चार गाथाओं के समुदायरूप सातवाँ स्थल पूर्ण हुआ॥३॥

....

अब, इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप परिणत आत्मा को स्वरूप का संचेतन कैसा होता है यह कहते हुए आचार्य इस कथन को समेटते हैं :–

मैं, एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञान-दृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे !॥३८॥

गाथार्थ :– दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि [**खलु**] निश्चय से [**अहम्**] मैं [**एकः**] एक हूँ, [**शुद्धः**] शुद्ध हूँ, [**दर्शनज्ञानमयः**] दर्शन-ज्ञानमय हूँ, [**सदा अरूपी**] सदा अरूपी हूँ; [**किंचित् अपि अन्यत्**] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [**परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र भी [**मम न अपि अस्ति**] मेरा नहीं है – यह निश्चय है।

टीका :– जो, अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार से समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे इस न्याय से, अपने परमेश्वर

परिणमनात्परमार्थत: सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमान: प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न कि:ञनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुन:प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ।।३८।।

(वसन्ततिलका)

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ता: ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधु: ।।३२।।

(अनंत सामर्थ्य के धारक) आत्मा को भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकार के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता इसलिए मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीव के विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भाव के द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता इसलिये मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ इसलिये परमार्थ से मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुये ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकार की स्वरूप-सम्पदा के द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप से मेरे साथ एक होकर पुन: मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर पुन: अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थ :– आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था, वह श्रीगुरुओं के उपदेश से और स्वकाललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसम्पदा अनुभव में आई; तब फिर पुन: मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है ? नहीं हो सकता ।।३८।।

अब, ऐसा जो आत्मानुभव हुआ उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक निमग्न हो जाओ :–

श्लोकार्थ :– [एष: भगवान् अवबोधसिन्धु:] यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा **[विभ्रम तिरस्करिणीं**

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः।

भरेण आप्लाव्य] विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर (दूर करके) [**प्रोन्मग्नः**] स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; [**अमी समस्ताः लोकाः**] इसलिये अब समस्त लोक [**शांतरसे**] उसके शांत रस में [**समम् एव**] एक साथ ही [**निर्भरम्**] अत्यन्त [**मज्जन्तु**] मग्न हो जाओ जो शांत रस [**आलोकम् उच्छलति**] समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

भावार्थ :– जैसे समुद्र के आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होने पर, लोगों को प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जल में सभी लोग स्नान करो', इसीप्रकार जब यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जाने से यथास्वरूप (ज्यों का त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया; इसलिए 'अब उसके वीतराग-विज्ञानरूप शांतरस में एक ही साथ सर्व लोक मग्न होओ' इसप्रकार आचार्यदेव ने प्रेरणा की है। अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होने पर समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान में झलकते हैं उसे (आत्मा को) समस्त लोक देखो।।३२।।

इसप्रकार इस समयप्राभृत ग्रंथ की आत्मख्याति नामक टीका में टीकाकार ने पूर्वरंग स्थल कहा।

यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रंथ को अलंकार से नाटकरूप में वर्णन किया है। नाटक में पहले रंगभूमि रची जाती है। वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है और (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं जो विविध प्रकार के स्वांग रखते हैं तथा शृंगारादिक आठ रसों का रूप दिखलाते हैं। वहाँ शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत – यह आठ रस लौकिक रस हैं; नाटक में इन्हीं का अधिकार है। नवमा शांत रस है जो अलौकिक है; नृत्य में उसका अधिकार नहीं है। इन रसों के स्थायीभाव, सात्विकभाव, अनुभावीभाव, व्यभिचारीभाव और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रसग्रन्थों में है, वहाँ से जान लेना। सामान्यतया रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया उसमें ज्ञान तदाकार हुआ, उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाय और अन्य ज्ञेय की इच्छा नहीं रहे सो रस है। उन आठ रसों का रूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्यरस को अन्यरस के समान करके भी वर्णन करते हैं तब अन्यरस का अन्यरस अंगभूत होने से तथा अन्यभाव रसों का अंग होने से रसवत् आदि अलंकार से उसे नृत्यरूप में वर्णन किया जाता है।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है, उनको दिखलाते हैं। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनों का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उसके स्वांग हैं। उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं, आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं, सो वह नृत्य है। वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्नस्वरूप को जानता है, वह तो इन सब स्वांगों

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ **शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्रमिति** निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति –

अहं अनादिदेहात्मैक्य भ्रांत्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोऽपि करतलविन्यस्तसुप्तविस्मृतपश्चान्निद्राविनाशस्मृत चामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोऽहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः। पुनरपि कथंभूतः ? **एक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः। **खलु** स्फुटं। पुनरपि किंरूपः ? **सुद्धो** व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा रागादिभावेभ्यो भिन्नोऽहमिति शुद्धः। पुनरपि किंविशिष्टः ? **दंसणणाणमइओ** केवलदर्शनज्ञानमयः। पुनरपि किंरूपः? **सदारूवी** निश्चयनयेन रूपरसगंधस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्तः। **णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि** इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि परद्रव्यं किमपि। यदेकत्वेन रंजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति। कस्मात् ? परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात्॥३८॥

को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव के भेद नहीं जानते, इसलिये वे इन स्वांगों को ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूप में रंगभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वांग का वर्णन करेंगे इसका सूचक है ऐसा आशय प्रगट होता है।

इसप्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है।

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय।
निजानन्द रस में छको, आन सवै छिटकाय॥

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्रीसमयसार परमागम की (श्रीमद् अमृत-चन्द्राचार्यदेवविरचित) आत्मख्याति नामक टीका में पूर्वरंग समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्धात्मा ही उपादेय है – ऐसा श्रद्धान सम्यक्त्व है। उस शुद्धात्मा में ही स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान है। उस निजात्मा में ही वीतराग स्वसंवेदनरूप निश्चलता चारित्र है। इन तीनों की एकतारूप निश्चयरत्नत्रय परिणत ऐसे जीव का क्या स्वरूप है – यह बतलाते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं :–

अहं मैं अनादिकाल से देह और आत्मा के एकत्व की भ्रान्ति रूप अज्ञान से जो पहले अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) था फिर भी, हाथ (मुट्ठी) में रखे हुए स्वर्ण को भूल गया हो, निद्रामग्न हो गया हो, पश्चात् निद्रा समाप्त होने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाता है – अवलोकन होता है – इस न्याय से परमगुरु के प्रसाद (अनुग्रह) से प्रतिबुद्ध – सावधान होकर जो शुद्धात्मा में लीन होता है ऐसा मैं 'वीतराग चिन्मात्र ज्योति हूँ' और कैसा हूँ ? **एक्को** यद्यपि व्यवहार नय से नर-नारक आदि रूप से अनेक रूप हूँ तथापि शुद्ध निश्चयनय से टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकस्वभाव वाला होने से मैं एक हूँ। **(खलु)** स्पष्ट (प्रत्यक्ष) रूप

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन जो **पस्सदि अप्पाणमित्यादि** सप्तविंशति गाथा:। तदनन्तरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशति गाथाभिर्जीवाधिकार: समाप्त:। इति प्रथमरंग:।

से और क्या हूँ ? **सुद्धो** शुद्ध निश्चयनय से व्यावहारिक नव पदार्थों से भिन्न हूँ। अथवा रागादि भावों से भिन्न हूँ ऐसा मैं शुद्ध हूँ। और क्या विशेषताओं वाला हूँ **दंसणणाणमइओ** केवल दर्शन-ज्ञानमय हूँ। और किस रूप हूँ ? **सदारूवी** निश्चयनय से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित होने से सदा ही अमूर्तिक हूँ। **णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि** इसप्रकार होने से परमाणुमात्र भी परद्रव्य कुछ भी मेरा नहीं है, जो एकत्व रूप से रंजकरूप या ज्ञेयरूप होकर मुझे फिर से मोह उत्पन्न कर सके। किस कारण ? परमविशुद्धज्ञान रूप परिणत होने से॥३८॥

इसप्रकार शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली समयसार की व्याख्यारूप तात्पर्यवृत्ति टीका में सात स्थलों द्वारा **जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि** इत्यादि सत्ताईस गाथाएँ पूर्ण हुईं। उसके बाद एक गाथा उपसंहार रूप से है अर्थात् सब मिलकर अट्ठाईस गाथाओं द्वारा जीवाधिकार पूर्ण हुआ।

– इसप्रकार प्रथम रंग (अंक) पूर्ण हुआ।

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रसस्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम॥

– समयसार नाटक छन्द १७ पृष्ठ १३

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोखको, अनुभव मोख सरूप॥

– समयसार नाटक छन्द १८ पृष्ठ १३

बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैंहू के ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोहकौ अनंतकाल जीजिए॥

समयसार नाटक, पृष्ठ ४३, छन्द २४

१

जीवाजीव-अधिकार

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्मारामम्अनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्॥३३॥

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य – वे दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं।

इसके प्रारम्भ में मंगल के आशय से (काव्य द्वारा) आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओं को जाननेवाला यह ज्ञान है, वह जीव-अजीव के सर्व स्वांगों को भलीभाँति पहिचानता है। ऐसा (सभी स्वांगों को जाननेवाला) सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है – इस अर्थरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**ज्ञानं**] ज्ञान है वह [**मनो ह्लादयत्**] मन को आनन्दरूप करता हुआ [**विलसति**] प्रगट होता है। वह [**पार्षदान्**] जीव-अजीव के स्वांग को देखनेवाले महापुरुषों के [**जीव-अजीव-विवेक-पुष्कल-दृशा**] जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा [**प्रत्याययत्**] भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। [**आसंसार-निबद्ध-बन्धन-विधि-ध्वंसात्**] अनादि संसार से जिनका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से [**विशुद्धं**] विशुद्ध हुआ है, [**स्फुटं**] स्फुट हुआ है; जैसे फूल की कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है। और [**आत्म-आरामम्**] उसका रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूप में ही रमता है; [**अनन्तधाम**] उसका प्रकाश अनन्त है और वह [**अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं**] प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। तथा [**धीरोदात्तम्**] वह धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिए [**अनाकुलं**] अनाकुल है – सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है। (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल – यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्व-मंदाणुभागगं जीवं।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति।
तिव्वत्तण-मंदत्तण-गुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

भावार्थ :– यह ज्ञान की महिमा कही। जीव-अजीव एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्य में कोई स्वांग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूप में जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वांगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूप को जैसा का तैसा कर लेता है, उसीप्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है; मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते ॥३३॥

अब जीव-अजीव का एकरूप वर्णन करते हैं :–

को मूढ़, आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है।
'है कर्म, अध्यवसान ही जीव' यों हि वो कथनी करे ॥३९॥

अरु कोई अध्यवसान में, अनुभाग तीक्षण मंद जो।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्म को ॥४०॥

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।
को तीव्रमंदगुणोंसहित, कर्मों हि के अनुभाग को ॥४१॥

को कर्म आत्मा, उभय मिलकर जीव की आशा धरें।
को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें ॥४२॥

दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा पर को, कहै।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहै ॥४३॥

गाथार्थ :– [**आत्मानम् अजानंतः**] आत्मा को न जानते हुए [**परात्मवादिनः**] पर को आत्मा कहनेवाले [**केचित् मूढ़ाः तु**] कोई मूढ़, मोही, अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान को [**तथा च**] और

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित्।
जीवमध्यवसानं कर्मं च तथा प्ररूपयन्ति॥३९॥
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम्।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्मं चापि जीव इति॥४०॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः॥४१॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति॥४२॥
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः॥४३॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति। नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अनाद्यनंतपूर्वापरिभूतावयवैकसंसरण-क्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमंदानुभवभिद्य-

---

कोई [**कर्मं**] कर्म को [**जीवम् प्ररूपयंति**] जीव कहते हैं॥३९॥ [**अपरे**] अन्य कोई [**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानों में [**तीव्रमंदानुभागगं**] तीव्रमंद अनुभागगत को [**जीवं मन्यंते**] जीव मानते हैं। [**तथा**] और [**अपरे**] दूसरे कोई [**नोकर्मं अपि च**] नोकर्म को [**जीवः इति**] जीव मानते हैं॥४०॥ [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणः उदयं**] कर्म के उदय को [**जीवम्**] जीव मानते हैं, कोई [**यः**] जो [**तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां**] तीव्रमंदतारूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है [**सः**] वह [**जीवः भवति**] जीव है' – इसप्रकार [**कर्मानुभागम्**] कर्म के अनुभाग को [**इच्छंति**] जीव इच्छते हैं (मानते हैं)॥४१॥ [**केचित्**] कोई [**जीवकर्मोभयं**] जीव और कर्म [**द्वे अपि खलु**] दोनों मिले हुओं को ही [**जीवम् इच्छंति**] जीव मानते हैं [**तु**] और [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणां संयोगेन**] कर्म के संयोग से ही [**जीवम् इच्छंति**] जीव मानते हैं॥४२॥ [**एवंविधाः**] इसप्रकार के तथा [**बहुविधाः**] अन्य भी अनेक प्रकार के [**दुर्मेधसः**] दुर्बुद्धि – मिथ्यादृष्टि जीव [**परम्**] पर को [**आत्मानं**] आत्मा [**वदंति**] कहते हैं। [**ते**] उन्हें [**निश्चयवादिभिः**] निश्चयवादियों ने (सत्यार्थवादियों ने) [**परमार्थवादिनः**] परमार्थवादी (सत्यार्थवक्ता) [**न निर्दिष्टाः**] नहीं कहा है॥४३॥

टीका :– इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं, बकते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राय युक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव है, क्योंकि जैसे कालेपन से अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता॥१॥ कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य

मानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते ॥३९-४३॥

का अवयव है ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है उसरूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥२॥ कोई कहते हैं कि तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होते हुए दुरंत (जिसका अन्त दूर है ऐसा) रागरूप रस से भरे हुये अध्यवसानों की संतति (परिपाटी) ही जीव है, क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥३॥ कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है, क्योंकि इस शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥४॥ कोई यह कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥५॥ कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रमन्दत्वगुणों से भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव ही जीव है, क्योंकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥६॥ कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों ही मिलकर जीव हैं, क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता ॥७॥ कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया में (प्रयोजनभूत क्रिया में) समर्थ ऐसा जो कर्म का संयोग वह ही जीव है, क्योंकि जैसे आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता; इसीप्रकार कर्मों के संयोग से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता। (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना तब वह अर्थक्रिया में समर्थ हुआ; इसीप्रकार यहाँ भी जानना) ॥८॥ इसप्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे-ऐसे अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि (विविध प्रकार से) पर को आत्मा कहते हैं; परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते।

भावार्थ :– जीव-अजीव दोनों अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाह संयोगरूप से मिले हुए हैं और अनादिकाल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थायें हो रही हैं। परमार्थदृष्टि से देखने पर जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावों को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता। परन्तु जो परमार्थ को नहीं जानते वे संयोग से हुये भावों को ही जीव कहते हैं, क्योंकि पुद्गल से भिन्न परमार्थ से जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जा सकता है, इसलिये जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें

समूहपीठिका – अथानंतरं शृंगारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः। तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यन्तमजीवाधिकारः कथ्यते। तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन **अप्पाणमयाणंता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापंचकं, तदनंतरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथाष्टविधं कर्मपुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति –

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई आत्मानमजानंतः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदंतीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः। **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** यथांगारात् कार्ष्ण्यं भिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदंतीति। अथ **अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं मण्णंति** अपरे केचनैकांतवादिनः रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमंदतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्तिमाहात्म्यं गच्छतीति तीव्रमंदानुभावगस्तं जीवं मन्यंते। **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति** तथैवापरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्म चापि जीवं मन्यंते। अथ **कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छंति। **कम्माणुभागमिच्छंति** अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छंति। कथंभूतः स चानुभागः? **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां वर्त्तते यः स जीवो भवतीति। अथ **जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीवकर्मोभयं द्वे अपि जीवकर्मणी शिखिरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छंति। **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति** अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदष्टकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छंति। कस्मात् ? अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः। अथ **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** एवंविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदंति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः। **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदंतीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पःगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः॥३९-४३॥

करके कहते हैं। उनमें से वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतों के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं और अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करके अनेक प्रकार से कहते हैं सो उन्हें कहाँ तक कहा जाये ?॥३९-४३॥

समूहपीठिका – अब इसके बाद शृंगार सहित पात्र के समान जीव और अजीव दोनों एकरूप होकर प्रवेश करते हैं। वहाँ तीन स्थलों द्वारा तीस गाथाओं पर्यन्त अजीवाधिकार कहा जाता है। उनमें पहले स्थल में शुद्धनिश्चयनय से देह और रागादिरूप परद्रव्य जीव का स्वरूप नहीं है, इसप्रकार निषेध की मुख्यता से **'अप्पाणमयाणंता'** इत्यादि गाथा से शुरू करके दस गाथा तक पाठक्रम से व्याख्यान करते हैं। उन दस गाथाओं में परद्रव्य को आत्मा मानने वालों के पूर्वपक्ष की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हैं। उसके बाद उसका निराकरण करने की मुख्यता से एक गाथा सूत्र है। पुनः आठ प्रकार के कर्म पुद्गल द्रव्य हैं ऐसे कथन की मुख्यता से एक गाथा सूत्र है। उसके बाद व्यवहारनय के समर्थनरूप से तीन गाथाएँ कही हैं – इसप्रकार समुदायरूप पीठिका हुई। वह इसप्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब देह तथा रागादिरूप परद्रव्य 'निश्चय से जीव हैं' – ऐसा पूर्वपक्ष (अज्ञानी का मत) प्रस्तुत करते हैं –

कुतः –

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्व-परिणाम-णिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिदा कह ते जीवो त्ति वुच्चंति।।४४।।

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते।।४४।।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई आत्मा को न जाननेवाले अज्ञानी जीव तो परद्रव्य को आत्मा कहते हैं – ऐसे कोई परात्मवादी जीव हैं। **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** जैसे 'अंगार से कालापन कोई भिन्न (वस्तु) नहीं है, वैसे रागादि से भिन्न जीव नहीं है' इसप्रकार कोई रागादि अध्यवसान एवं कर्म को जीव कहते हैं और (१) **अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं मण्णंति** दूसरे कोई एकान्तवादी रागादि अध्यवसानों में तीव्रता-मंदतारूप तारतम्य लिए हुए अनुभव या अनुभाग स्वरूप की शक्ति के माहात्म्यरूप तीव्र-मंद अनुभाग को (जो) प्राप्त होता है, उसे ही जीव मानते हैं (२) **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति** उसीप्रकार दूसरे चार्वाक आदि जो कर्म-नोकर्म से रहित एवं आत्मा और पर के भेदज्ञान से रहित हैं, वे शरीरादि नोकर्म को जीव मानते हैं (३) और **कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** दूसरे कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। (४) **कम्माणुभागमिच्छंति** अन्य कोई कर्म का अनुभाग जो कि लता, दारू, अस्थि और पाषाण रूप है, उसको जीव मानते हैं (५) **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** वह अनुभाग तीव्रपने-मन्दपने गुणरूप वर्तता है, उसको जीव मानते हैं (६) **जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु के वि जीवमिच्छंति** और कोई शिखिरिणी (श्रीखण्ड) की तरह मिले हुए जीव और कर्म दोनों को जीव मानते हैं। (७) **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति** और कोई जैसे आठ काठों के परस्पर मिलने से एक खाट बन जाती है, वैसे ही आठ कर्मों के संयोग से जीव हो जाता है – ऐसा मानते हैं। किस कारण से ऐसा मानते हैं ? क्योंकि आठ कर्मों के संयोग से भिन्न शुद्ध जीव की उपलब्धि नहीं है।(८)

और **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** इसप्रकार अनेक प्रकार से देह, रागादि परद्रव्य को दुर्बुद्धिजन आत्मा कहते हैं। **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** इसकारण से जो देह रागादि परद्रव्य को आत्मा कहते हैं। ऐसी मान्यता वाले परात्मवादी हैं। ऐसा निश्चयवादी सर्वज्ञ भगवान के द्वारा र्निदिष्ट है। – इसप्रकार पांच गाथाओं द्वारा पूर्वपक्ष रखा गया।।३९-४३।।

....

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं, सो कहते हैं :–

पुद्गलदरव परिणाम से, उपजे हुए सब भाव ये।
सब केवलीजिन भाषिया, किस रीति जीव कहो उन्हें।।४४।।

गाथार्थ :– [**एते**] यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि [**सर्वे भावाः**] भाव हैं, वे सभी [**पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः**] पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं – इसप्रकार [**केवलिजिनैः**]

यत: एतेऽध्यवसानादय: समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भि: पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ता: संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिन: परमार्थवादिन:। एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागम:। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्ति:। न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीव: कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वे नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीव: शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीव: शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां

केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने [**भणिता:**] कहा है [**ते**] उन्हें [**जीव: इति**] जीव ऐसा [**कथं उच्यंते**] कैसे कहा जा सकता है ?

टीका :– यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहंतदेवों के द्वारा, पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं, इसलिये वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने के लिये समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिए जो इन अध्यवसानादिक को जीव कहते हैं वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं हैं क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञ का वचन है वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है। स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेष के द्वारा मलिन अध्यवसान हैं वे जीव नहीं हैं क्योंकि, कालिमा से भिन्न सुवर्ण की भाँति; अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभाव को प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं।।१।। अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है ऐसी एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।२।। तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होने पर दुरंत रागरस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि उस संतति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।३।। नई-पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।४।। समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।५।। साता-असातारूप से व्याप्त समस्त

भिद्यमान: कर्मानुभवो जीव: सुखदु:खातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीव: कात्स्न्र्यत: कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वर्थक्रियासमर्थ: कर्मसंयोगो जीव: कर्मसंयोगात्खट्वाशायिन: पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति।

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्न: साम्नैवैवमनुशास्य:।।४४।।

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृत: सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंस: पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि:।।३४।।

तीव्रमंदतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दु:ख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।६।। श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं, क्योंकि संपूर्णतया कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।७।। अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से (पलंग से) भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।।८।। (इसीप्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकार से कहा जाये तो वहाँ भी यही युक्ति जानना।)

भावार्थ :– चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावों से भिन्न, भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है; इसलिए अज्ञानी जैसा मानते हैं वैसा नहीं है ।।४४।।

यहाँ पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विरोध करनेवाले (पुद्गल को ही आत्मा जाननेवाले) पुरुष को (उसकी हितरूप आत्मप्राप्ति की बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभाव से) ही इसप्रकार उपदेश करना – यह काव्य में बतलाते हैं :–

श्लोकार्थ :– हे भव्य ! तुझे [**अपरेण**] अन्य [**अकार्य-कोलाहलेन**] व्यर्थ ही कोलाहल करने से [**किम्**] क्या लाभ है ? तू [**विरम्**] इस कोलाहल से विरक्त हो और [**एकम्**] एक चैतन्यमात्र वस्तु को [**स्वयम् अपि**] स्वयं [**निभृत: सन्**] निश्चल लीन होकर [**पश्य षण्मासम्**] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से [**हृदय-सरसि**] अपने हृदय सरोवर में, [**पुद्गलात् भिन्नधाम्न:**] जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे उस [**पुंस:**] आत्मा की [**ननु किम् अनुपलब्धि: भाति**] प्राप्ति नहीं होती है [**किं च उपलब्धि:**] या होती है ?

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ परिहारं वदति –

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा एते सर्वे देहरागादय: कर्मजनितपर्याया: पुद्‌गलद्रव्यकर्मोदय-परिणामेन निष्पन्ना:। **केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति** केवलिजिनै: सर्वज्ञै: कर्मजनिता इति भणिता: कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यन्ते न कथमपि। किंच विशेष: – अङ्गारात् काष्ण्र्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यद् भणितं तदयुक्तं। कथमिति चेत्? रागादिभ्यो भिन्न: शुद्धजीवोऽस्तीति **पक्ष:**, परमसमाधिस्थपुरुषै: शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति **हेतु:**। किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति **दृष्टान्त:**। किंच – अङ्गारदृष्टांतोऽपि न घटते। कथमिति चेत् ? यथा सुवर्णस्य पीतत्वं अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथाङ्गारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति। रागादयस्तु विभावा: स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक्त्वं कर्तुं शक्यते इति। यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितं अष्टकर्मसंयोगात् भिन्न: शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिन: पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टांतसहितहेतु:। किंच – देहात्मनोरत्यंतं भेद: इति पक्ष: भिन्नलक्षणलक्षितत्वादिति हेतु:, जलानलवदिति दृष्टान्त:। इति परिहारगाथा गता॥४४॥

भावार्थ :– यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है। यहाँ छह मास के अभ्यास की बात कही है इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्त मात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है। यदि समझने में अधिक काल लगे तो छहमास से अधिक नहीं लगेगा; इसलिए यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जायेगी॥३४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं – **एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणाम-णिप्पण्णा** ये सभी देह रागादिक कर्मजनित पर्यायें पुद्‌गल द्रव्यकर्म के उदयरूप परिणाम से निष्पन्न हैं। **केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति** सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवन्तों ने (देह रागादिक को) कर्मजनित कहा है, अत: निश्चयनय से इन्हें कैसे जीव कहा जा सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता।

और विशेष कहते हैं – जैसे अंगार से कालापना भिन्न नहीं है, वैसे रागादि से भिन्न आत्मा नहीं है – ऐसा जो पूर्वपक्ष कहा था, वह सही नहीं है। कैसे सही नहीं है ? शुद्ध जीव रागादि से भिन्न है **यह पक्ष है।** परम समाधि में स्थित स्वानुभवी पुरुषों के द्वारा शरीर और रागादि से सर्वथा भिन्न ऐसे चिदानन्द एक स्वभाववाले शुद्ध जीव की उपलब्धि देखी जाती है **यह हेतु है।** जिसप्रकार किट्टकालिमा से स्वर्ण भिन्न है **यह उदाहरण है।** विशेष यह है कि अंगार से कालापना भिन्न नहीं है यह दृष्टान्त भी घटित नहीं होता है। कैसे घटित नहीं होता है ? जैसे सोने का पीलापना, अग्नि का उष्णपना, उनका स्वभाव है वैसे अंगारे का भी कृष्णपना स्वभाव है, उसे पृथक् नहीं कर सकते; परन्तु स्फटिक की उपाधि के समान रागादिक तो विभावभाव हैं, अत: निर्विकार शुद्धात्मा की अनुभूति के बल से उनको अलग किया जाना सम्भव है। इसी तरह जो यह कहा गया है कि आठ काठों के संयोग से खाट बन जाती है, क्योंकि आठ कर्मों के

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्‌गलस्वभावा इति चेत् –

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्‌गलमयं जिना ब्रुवन्ति।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य॥४५॥

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्‌गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षण-त्वात्किल दुःखं, तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमे-प्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्‌गलस्वभावाः॥४५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ चिद्रूपप्रतिभासेऽपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्‌गलस्वभावा भवन्तीति चेत् – **अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति** सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्‌गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवंति कथयंति। कथंभूतम् ? यत्कर्म **जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं त्ति विपच्चमाणस्स** यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किं व्याकुलत्वस्वभावत्वाद् दुःखमिति। कथंभूतस्य कर्मणः ? विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य। इदमत्र तात्पर्यम् अष्टविधकर्मपुद्‌गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं रागादयो-ऽप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्‌गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्‌गलिका इति। अष्टविधं कर्म पुद्‌गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता॥४५॥

संयोग से जीव बन जाता है, सो वह अनुचित (ठीक नहीं) है; क्योंकि आठ कर्मों के संयोग से भिन्न शुद्ध जीवद्रव्य है **यह पक्ष है**। जैसे आठ काठ के संयोग रूप खाट पर सोने वाला पुरुष उससे भिन्न होता है **यह उदाहरण है**। परमसमाधि में स्थित रहनेवाले महापुरुषों के द्वारा आठ कर्मों के संयोग से पृथग्भूत् शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले जीव की उपलब्धि होती देखी जाती है। **इसप्रकार यह दृष्टान्त सहित हेतु है** और विशेष कहते हैं कि देह और आत्मा में अत्यंत भेद है **यह पक्ष है,** क्योंकि दोनों का लक्षण भिन्न है **यह हेतु है**। जैसे शीतलस्वभाव वाले जल और उष्णस्वभाव वाली अग्नि में भेद है यह उदाहरण है। इसप्रकार निराकरण करने वाली गाथा पूर्ण हुई॥४४॥

....

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावों को जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभाव को जीव कहा; तो यह भाव भी कथंचित् चैतन्य के साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं (वे चैतन्य के अतिरिक्त जड़ के तो दिखाई नहीं देते), तथापि उन्हें पुद्‌गल के स्वभाव क्यों कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

रे ! कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्‌गलमय कहा।
परिपाक में जिस कर्म का फल दुःख नाम प्रसिद्ध है॥४५॥

गाथार्थ :– [**अष्टविधम् अपि च**] आठों प्रकार का [**कर्म**] कर्म [**सर्वं**] सब [**पुद्‌गलमयं**] पुद्‌गलमय है ऐसा [**जिनाः**] जिनेन्द्र भगवान सर्वज्ञदेव [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं – [**यस्य विपच्यमानस्य**]

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् –

ववहारस्स दरीसणमुवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादयो भावा॥४६॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः॥४६॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति

जो पक्व होकर उदय में आनेवाले कर्म का [**फलं**] फल [**तत्**] वह प्रसिद्ध [**दुःखम्**] दुःख है [**इति उच्यते**] ऐसा कहा है।

टीका :– अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाला जो आठों प्रकार का ज्ञानावरणादि कर्म है वह सभी पुद्गलमय है ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। विपाक की मर्यादा को प्राप्त उस कर्म के फलरूप से जो कहा जाता है वह, (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलतालक्षण-सुखनामक आत्मस्वभाव से विलक्षण है इसलिए, दुःख है। उस दुःख में ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिये, यद्यपि वे चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं तथापि, वे आत्मस्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।

भावार्थ :– जब कर्मोदय आता है तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है और दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है, इसलिये दुःखरूप भावों में (अध्यवसान में) चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थ से दुःखरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है इसलिये जड़ ही है॥४५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब चिद्रूप – चैतन्यरूप प्रतिभासित होने पर भी रागादि अध्यवसानादि पुद्गलस्वभावी किसप्रकार हैं ? – ऐसा पूछे जाने पर आचार्य गाथा सूत्र कहते हैं –

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति सभी आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा जिनेन्द्र वीतराग सर्वज्ञदेव कहते हैं। वे कर्म पुद्गलमय कैसे हैं ? **जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं त्ति विपच्चमाणस्स** जिन कर्मों का फल प्रसिद्ध है ऐसा कहा गया है। क्या कहा गया है ? व्याकुलपना स्वभाव होने से दुःख कहा गया है। किसप्रकार के कर्मों का फल दुःख है ? विशेषरूप से उदय में आये हुए कर्मों का फल दुःख है। यहाँ तात्पर्य यह है कि आठ प्रकार के पुद्गल कर्मों का कार्य, अनाकुलता लक्षणवाले परमार्थिक सुख से विलक्षण आकुलता उत्पन्न करनेवाला दुःख है और रागादिभाव भी आकुलता उत्पन्न करनेवाले दुःखलक्षण रूप हैं। इसकारण से रागादिकभाव भी पुद्गल के ही कार्य हैं, इसलिए शुद्ध निश्चयनय से वे पौद्गलिक हैं। आठ प्रकार के कर्म पुद्गलद्रव्य ही हैं – ऐसा कथन करनेवाली गाथा पूर्ण हुई॥४५॥

रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव: ।।४६।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यद्यध्यवसानादय: पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रंथांतरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति – **ववहारस्स दरीसणं** व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं। यत्किं कृतम्? **उवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं** उपदेशो वर्णित: कथितो जिनवरै:। कथंभूत: ? **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावा: परिणामा: भण्यंत इति। किंच विशेष: – यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्याव-लंबनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलंबनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादक-त्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवंतीति मत्वा नि:शंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जना:। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं। तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहित: पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति। ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्राय: ।।४६।।

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव हैं, वे पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं :–

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भाव को जँह जिव कहे ।।४६।।

गाथार्थ :– [**एते सर्वे**] यह सब [**अध्यवसानादय: भावा:**] अध्यवसानादि भाव [**जीवा:**] जीव हैं – इसप्रकार [**जिनवरै:**] जिनेन्द्रदेव ने [**उपदेश: वर्णित:**] जो उपदेश दिया है, सो [**व्यवहारस्य दर्शनम्**] व्यवहारनय दिखाया है।

टीका :– यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है वह, यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि व्यवहारनय को भी बताया है; क्योंकि व्यवहारनय म्लेच्छों को म्लेच्छभाषा के समान, व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक (कहनेवाला) होने से अपरमार्थभूत होने पर भी, धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है। परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसीप्रकार त्रस-स्थावर जीवों को नि:शंकतया मसल/कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का भी अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थ के द्वारा जीव को राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताया जाने पर, 'रागी-द्वेषी-मोही जीव कर्म से बँधता है, उसे छुड़ाना' – इसप्रकार मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायेगा और इससे मोक्ष का ही अभाव होगा। (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो बन्ध-मोक्ष का ही अभाव ठहरता है।)

भावार्थ :– परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है। यदि इसी का एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होगी तथा राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं होगा। इसप्रकार परमार्थ से जो संसार-मोक्ष

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत् –

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो॥४८॥

दोनों का अभाव कहा है, एकान्त से यह ही ठहरेगा; किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है; अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है। इसलिये व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है। इसप्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना, सो सम्यक्त्व है॥४६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यदि अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं, तो फिर 'जीव रागी-द्वेषी-मोही है' – इसतरह अन्य ग्रन्थों में इनको जीवस्वरूप कैसे प्रतिपादन किया है ? इसका उत्तर देते हैं – **ववहारस्स दरीसणं** व्यवहारनय का स्वरूप दिखाया है। किसके द्वारा व्यवहार दिखाया गया है ? **उवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं** जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा उपदेश – वर्णन किया गया है, कथन किया गया है। किसप्रकार का उपदेश – वर्णन किया है ? **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** ये सब अध्यवसानादि भाव या परिणाम जीवरूप कहे गये हैं।

अब विशेष कहते हैं – यद्यपि यह व्यवहारनय बाह्यद्रव्यों के अवलम्बन वाला होने से अभूतार्थ है तथापि रागादि बाह्यद्रव्यों के अवलम्बन से रहित, विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव के स्वालम्बन सहित परमार्थ का प्रतिपादक होने से उसका दिखाया जाना उचित है। यदि व्यवहारनय नहीं होता तब तो शुद्ध निश्चयनय से त्रस-स्थावर जीव नहीं है ऐसा मानकर उनका निःशंक होकर लोग मर्दन (घात) करने लगेंगे। इससे पुण्यरूप व्यवहार धर्म का अभाव होगा, यह एक दूषण है। उसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय से तो जीव राग-द्वेष-मोह रहित पहले से ही हैं, इसलिए मुक्त ही हैं – ऐसा मानकर फिर मोक्ष के लिए कोई भी अनुष्ठान नहीं करता। इससे मोक्ष का अभाव होता, यह दूसरा दूषण है। इसलिए व्यवहारनय का व्याख्यान करना उचित है, ऐसा अभिप्राय है॥४६॥

....

अब शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ है ? उसका उत्तर कहते हैं :–

"निर्गमन इस नृप का हुआ"– निर्देश सैन्यसमूह में।
व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है॥४७॥
त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्यभाव जु जीव है।
शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहाँ जीव निश्चय एक है॥४८॥

गाथार्थ :– जैसे कोई राजा सेनासहित निकला वहाँ [**राजा खलु निर्गतः**] 'यह राजा निकला' [**इति एषः**] इसप्रकार जो यह [**बलसमुदयस्य**] सेना के समुदाय को [**आदेशः**] कहा जाता है सो वह

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेश:।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम्।
जीव इति कृत: सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीव: ॥४८॥

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यव - हारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहार:, परमार्थतस्त्वेक एव राजा; तथैष जीव: समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहार:, परमार्थतस्त्वेक एव जीव: ॥४७-४८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति –

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एवं बलसमुदयस्यादेश: कथनं। **ववहारेण दु वुच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया** बलसमूहं दृष्ट्वा पःायोजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते। निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टान्तो गत:। इदानीं दार्ष्टान्तमाह – **एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** एवमेव राजदृष्टांतप्रकारेणैव व्यवहार:। केषाम् ? अध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्नभावादीनां रागादिपर्यायाणां। **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथंभूतो व्यवहार: ? रागादयो भावा: व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे। **तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो** तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्य:। कोऽसौ ? जीव:। कथंभूत: ? शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहित: शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थ:। इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम्। एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोऽन्तराधिकारो व्याख्यात: ॥४७-४८॥

[व्यवहारेण तु उच्यते] व्यवहार से कहा जाता है, **[तत्र]** उस सेना में (वास्तव में) **[एक: निर्गत: राजा]** राजा तो एक ही निकला है; **[एवम् एव च]** इसीप्रकार **[अध्यवसानाद्यन्यभावानाम्]** अध्यवसानादि अन्य भावों को **[जीव: इति]** '(यह) जीव है' इसप्रकार **[सूत्रे]** परमागम में कहा है सो **[व्यवहार: कृत:]** व्यवहार किया है, **[तत्र निश्चित:]** यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमें **[जीव: एक:]** जीव तो एक ही है।

टीका :– जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है, सो यह व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है; क्योंकि एक राजा का पाँच योजन में फैलना अशक्य है; परमार्थ से तो राजा एक ही है, (सेना राजा नहीं है); उसीप्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राम में (राग के स्थानों में) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है – ऐसा कहना वह व्यवहानीजनों का अध्यवसानादिक भावों में जीव कहने का व्यवहार है; क्योंकि एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है; परमार्थ से तो जीव एक ही है (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं) ॥४७-४८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त होता है यह बतलाते हैं – **राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो** सेना के निकलने पर यह राजा ही निकला है और **ववहारेण**

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थ जीव इति पृष्टः प्राह –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणा-गुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ-संठाणं ॥४९॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुण-त्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावा-

---

दु वुच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया पांच योजन के विस्तार में सेना समूह को देखकर 'राजा जाता है' ऐसा व्यवहार से ही कहा जाता है। निश्चयनय से तो वहाँ एक ही राजा जाता है – इसप्रकार यह दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) कहते हैं – **एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** इसीप्रकार राजा के दृष्टान्त की तरह व्यवहार है। किसका व्यवहार है ? जीव से भिन्न अध्यवसानादि भावों का तथा रागादि पर्यायों का व्यवहार है। **जीवो त्ति कदो सुत्ते** किसप्रकार व्यवहार है ? कि रागादिभावों को व्यवहार से परमागम या सूत्र में जीव कहा गया है। **तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो** वहाँ उन रागादि परिणामों के बीच ''जीव कौन है ? कैसा है ?'' – यह निश्चित रूप से जानना चाहिए। शुद्ध निश्चयनय से भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित, शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव वाला जीवपदार्थ है। इसप्रकार व्यवहारनय के समर्थन रूप से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥४७-४८॥

– इसप्रकार अजीव अधिकार के बीच शुद्धनिश्चयनय से देह, रागादि परद्रव्य जीव स्वरूप नहीं हैं, इसप्रकार के कथन की मुख्यता से दस गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार का व्याख्यान हुआ।

....

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं है तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं :–

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंग से ॥४९॥

गाथार्थ :– हे भव्य ! तू [**जीवम्**] जीव को [**अरसम्**] रसरहित, [**अरूपम्**] रूपरहित, [**अगन्धम्**] गन्धरहित, [**अव्यक्तम्**] अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, [**चेतनागुणम्**] चेतना जिसका गुण है ऐसा, [**अशब्दम्**] शब्दरहित, [**अलिंगग्रहणं**] किसी चिह्न से ग्रहण न होनेवाला और [**अनिर्दिष्टसंस्थानम्**] जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा [**जानीहि**] जान।

टीका :– जीव निश्चय से पुद्गल से भिन्न है इसलिये उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है अत: वह अरस है ॥१॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने से स्वयं भी रसगुण नहीं है इसलिये अरस है ॥२॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामित्व भी उसके नहीं है इसलिये वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता अत:

भावाद् भावेन्द्रियावलंबेनारसनात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गन्धपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः

अरस है ॥३॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाये तो उसके क्षायोपशमिक भाव का भी अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन से भी रस नहीं चखता इसलिये अरस है ॥४॥ समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रसवेदनापरिणाम को पाकर रस नहीं चखता इसलिये अरस है ॥५॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का (एकरूप होने का) निषेध होने से रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता इसलिये अरस है ॥६॥ इसप्रकार छह तरह से रस के निषेध से वह अरस है।

इसप्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अरूप है ॥१॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है इसलिये अरूप है ॥२॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी नहीं देखता इसलिये अरूप है ॥३॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है ॥४॥ सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक रूपवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है ॥५॥ (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रूप-रूप से नहीं परिणमता इसलिये अरूप है ॥६॥ इसतरह छह प्रकार से रूप के निषेध से वह अरूप है।

इसप्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें गंधगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अगंध है ॥१॥ पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी गंधगुण नहीं है इसलिये अगंध है ॥२॥ परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूँघता इसलिये अगंध है ॥३॥ अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूँघता इसलिये अगंध है ॥४॥ सकल विषयों

पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद् भावेंद्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः। द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियत-

---

के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक गंधवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर गंध नहीं सूँघता इसलिये अगंध है।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गंध के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं गंधरूप से नहीं परिणमता अतः अगंध है।।६।। इसतरह छह प्रकार से गंध के निषेध से वह अगंध है।

इसप्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अस्पर्श है।।१।। पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है अतः अस्पर्श है।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है।।४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं स्पर्शरूप से नहीं परिणमता अतः अस्पर्श है।।६।। इसतरह छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से वह अस्पर्श है।

इसप्रकार, जीव वास्तव में पुद्गलद्रव्य से अन्य होने के कारण उसमें शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है अतः अशब्द है।।१।। पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है अतः अशब्द है।।२।। परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामीपना भी उसे नहीं होने से वह द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है।।३।। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखने में आवे तो क्षायोपशमिक भाव का भी उसे अभाव होने से वह भावेन्द्रिय के आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है।।४।। सकल विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होने से वह केवल एक शब्दवेदनापरिणाम को प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है।।५।। (उसे समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप से नहीं परिणमता अतः अशब्द है।।६।। इसतरह छह प्रकार से शब्द के निषेध से वह अशब्द है।

संस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणत-समस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहज संवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूति-तयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः। षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्-व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्य निमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्र-प्रतिभासेऽपिव्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चा-व्यक्तः। रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेऽपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वा-भावादलिंगग्रहणः। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवली-कृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेवसकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च। स खलु भगवनमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः ॥४९॥

(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषण को समझाते है :–) पुद्गलद्रव्यरचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता इसलिये जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है॥१॥ अपने नियतस्वभाव से अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरों में रहता है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है॥२॥ संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है (इसलिये उसके निमित्त से भी आकार नहीं है) इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है॥३॥ भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति संबंधित (तदाकार) है ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोक के मिलाप से (संबंध से) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है ऐसा होने से स्वयं अत्यन्तरूप से संस्थान रहित है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है॥४॥ इसप्रकार चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा।

(अब 'अव्यक्त' विशेषण को सिद्ध करते हैं :–) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है॥१॥ कषायों का समूह जो भावकभाव व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है॥२॥ चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है॥३॥ क्षणिक-व्यक्तिमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है॥४॥ व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है॥५॥ स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है तथापि व्यक्तता के प्रति उदासीनरूप से प्रकाशमान है इसलिये अव्यक्त है॥६॥ इसप्रकार छह हेतुओं से अव्यक्तता सिद्ध की है।

इसप्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से सदा आत्मप्रत्यक्ष होने से अनुमान-गोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है।

अपने अनुभव में आनेवाले चेतनागुण के द्वारा सदा अंतरंग में प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है। वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों को (जीव को अन्यप्रकार से माननेरूप झगड़ों को) नाश करनेवाला है; जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्॥३५॥

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥३६॥

ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्ति से उपशान्त हो गया है, इसप्रकार (अत्यन्त स्वरूप-सौख्य से तृप्त-तृप्त होने के कारण स्वरूप में से बाहर निकलने का अनुद्यमी हो इसप्रकार) सर्व काल में किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेश मात्र भी नहीं चलित अन्यद्रव्य से असाधारणता होने से जो (असाधारण) स्वभावभूत है।

ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है, जिसका प्रकाश निर्मल है – ऐसा यह भगवान इस लोक में एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है ॥४९॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्मा के अनुभव की प्रेरणा करते हैं:–

श्लोकार्थ :– [**चित्-शक्ति-रिक्तं**] चित्शक्ति से रहित [**सकलम् अपि**] अन्य समस्त भावों को [**अह्नाय**] मूल से [**विहाय**] छोड़कर [**च**] और [**स्फुटतरम्**] प्रगटरूप से [**स्वं चित्-शक्तिमात्रम्**] अपने चित्शक्तिमात्र भाव का [**अवगाह्य**] अवगाहन करके, [**विश्वस्य उपरि**] समस्त पदार्थ समूहरूप लोक के ऊपर [**चारु चरन्तं**] सुन्दर रीति से प्रवर्तमान ऐसे [**इमम्**] इस [**परम्**] एकमात्र [**अनन्तम्**] अविनाशी [**आत्मानम्**] आत्मा का [**आत्मा**] भव्यात्मा [**आत्मनि**] आत्मा में ही [**साक्षात् कलयतु**] साक्षात् अनुभव करो।

भावार्थ :– यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्यभावों से रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभव का अभ्यास करो ऐसा उपदेश है॥३५॥

अब चित्शक्ति से अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्यसम्बन्धी हैं ऐसी आगे की गाथाओं की सूचनारूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**चित्-शक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारः**] चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है ऐसा [**अयम् जीवः**] यह जीव [**इयान्**] इतना मात्र ही है; [**अतः अतिरिक्ताः**] इस चित्शक्ति से शून्य [**अमी भावाः**] जो ये भाव हैं [**सर्वे अपि**] वे सभी [**पौद्गलिकाः**] पुद्गलजन्य हैं – पुद्गल के ही हैं॥३६॥

समूहपीठिका – अथानंतरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनंतज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदसुखसमरसीभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरूव** इत्यादिसूत्रगाथैका। अथाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेष-विवरणार्थं **जीवस्स णत्थि वण्णो** इत्यादिसूत्रषट्कम्। ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण सन्ति शुद्ध-निश्चयनयेन न सन्तीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं **ववहारेण दु** इत्यादि सूत्रमेकम्। तदनंतरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत् संबंधो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एदेहिं य संबंधो** इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तसमर्थनरूपेण **पंथे मुस्संतं** इत्यादि गाथात्रयम्। इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथंभूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह – **अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं** निश्चयनयेन रसरूपगंधस्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादि-विकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मम्। पुनरपि किं विशिष्टम् ? शुद्धचेतनागुणम्। पुनश्च किं रूपम् ? **जाण अलिंगग्ग-गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं समचतुरस्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवं गुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य: ! जानीहि। इदमत्र तात्पर्यम्। शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्य-संबंधिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेष-जीवांतरभिन्नोऽनंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्ण-भेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरंजननिजशुद्धात्म-समाधिसंजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति। एवं सूत्रगाथा गता॥४९॥

समूहपीठिका – इसके बाद, 'वर्ण-रसादि पुद्गलस्वरूप से रहित, अनन्तगुणादिमय शुद्धजीव ही उपादेय है' – ऐसी भावभासना की मुख्यता से बारह गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। वहाँ बारह गाथाओं के बीच परमसामायिक भावना रूप से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षणवाले निर्विकल्प समाधि से समुत्पन्न परमानन्द सुख समरसीभाव से परिणत शुद्धजीव ही उपादेय है, इस मुख्यता से **'अरसमरूवं'** इत्यादि एक गाथा है। उसके बाद अभ्यन्तर में रागादिक और बहिरंग में जो वर्णादि भाव हैं, वे शुद्धजीव का स्वरूप नहीं हैं। इसतरह उसका ही विशेष वर्णन करने के लिए **'जीवस्स णत्थि वण्णो'** इत्यादि छह गाथाएँ हैं।

उसके बाद वे ही रागादि और वर्णादि भाव व्यवहार से (जीव के) हैं और शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं, इसप्रकार परस्पर सापेक्ष दो नयों के विवरण के लिए **ववहारेण दु** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। इसके बाद इन रागादि का व्यवहारनय से ही जीव के साथ दूध एवं जल के समान सम्बन्ध है, परन्तु निश्चयनय से सम्बन्ध नहीं है, इसके समर्थन रूप से **एदेहिं य संबंधो** इत्यादि एक गाथा है। इसके आगे उस व्यवहारनय को ही फिर से व्यक्त करने के लिए दृष्टान्त-दार्ष्टान्त के समर्थन रूप से **पंथे मुस्संतं** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं – यह द्वितीय स्थल की समूहरूप पीठिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यदि निश्चयनय से रागादिरूप भाव जीव नहीं हैं, तो फिर किसप्रकार का शुद्धजीव उपादेयस्वरूप है, यह कहते हैं – **अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं** निश्चयनय से रस, रूप, गंध, स्पर्श एवं शब्द रहित और मनोगत काम-क्रोध आदि विकल्प रहित होने से अव्यक्त है,

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणगा केई ॥५३॥

सूक्ष्म है। और भी क्या विशेषता है ? शुद्ध चेतना गुणवाला है। और किस रूप है ? **जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** निश्चयनय से स्वसंवेदन का विषय होने से अलिंगग्रहण स्वरूप वाला है और समचतुरस्र आदि छह संस्थानों से रहित है, ऐसा जो पदार्थ (आत्मा) है, उन गुणोंवाले, शुद्धात्मा को हे शिष्य ! उपादेय जानो। इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चयनय से जो सर्व पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी वर्णादि गुण और शब्दादि सभी पर्यायों से रहित है, सभी द्रव्येन्द्रियों-भावेन्द्रियों तथा मनोगत रागादि विकल्पों का जो विषय नहीं है; धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य तथा अपने से अन्य शेष सब जीवों से जो भिन्न है और अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य वाला है वही शुद्धात्मा है। वह शुद्धात्मा समस्त पदार्थ, सर्व देश तथा सर्व काल, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नाना वर्णभेद से भिन्न है, लोगों के समस्त मन-वचन-काय के व्यापारों में यह शुद्धात्मा दुर्लभ है। वह शुद्धात्मा ही अपूर्व है, वह ही उपादेय है – ऐसा मानकर निर्विकल्प निर्मोह, निरंजन, निज शुद्धात्म-समाधि से प्रगट होने वाले सुखामृत रस की अनुभूति लक्षणवाले शुद्धात्मा का गिरि-गुफा दुर्गम स्थान में स्थिर होकर सर्वप्रकार से ध्यान करना चाहिए। इसतरह यह गाथा पूर्ण हुई॥४९॥

....

ऐसे इन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में करते हैं :–

नहिं वर्ण जीव के, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीव के नहीं।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं॥५०॥
नहिं राग जीव के, द्वेष नहिं, अरु मोह जीव के है नहीं।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीव के नहीं॥५१॥
नहिं वर्ग जीव के, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक हैं नहीं।
अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं॥५२॥
जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी हैं नहीं।
नहिं उदयस्थान भी जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं॥५३॥

णो ठिदिबंध-ट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेस-ठाणा वा।
णेव विसोहि-ट्ठाणा णो संजमलद्धि-ठाणा वा॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य संति जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा॥५५॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम्॥५०॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति॥५१॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित्।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि॥५२॥
जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानिवा।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित्॥५३॥
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा॥५४॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः॥५५॥

स्थितिबंधस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं॥५४॥
नहिं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
ये सब ही पुद्गल द्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही॥५५॥

गाथार्थ :– [**जीवस्य**] जीव के [**वर्णः**] वर्ण [**नास्ति**] नहीं, [**न अपि गंधः**] गंध भी नहीं, [**रसः अपि न**] रस भी नहीं [**च**] और [**स्पर्शः अपि न**] स्पर्श भी नहीं, [**रूपं अपि न**] रूप भी नहीं, [**न शरीरं**] शरीर भी नहीं, [**संस्थानम् अपि न**] संस्थान भी नहीं, [**संहननं न**] संहनन भी नहीं; [**जीवस्य**] जीव के [**रागः नास्ति**] राग भी नहीं, [**द्वेषः अपि न**] द्वेष भी नहीं, [**मोहः**] मोह भी [**न एव विद्यते**] विद्यमान नहीं, [**प्रत्ययाः नो**] प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, [**कर्म न**] कर्म भी नहीं [**च**] और [**नोकर्म अपि**] नोकर्म भी [**तस्य नास्ति**] उसके नहीं है; [**जीवस्य**] जीव के [**वर्गः नास्ति**] वर्ग नहीं, [**वर्गणा न**] वर्गणा नहीं, [**कानिचित् स्पर्धकानि न एव**] कोई स्पर्धक भी नहीं, [**अध्यात्मस्थानानि नो**] अध्यात्मस्थान भी नहीं [**च**] और [**अनुभागस्थानानि**] अनुभागस्थान भी [**न एव**] नहीं है; [**जीवस्य**] जीव के [**कानिचित् योगस्थानानि**] कोई योगस्थान भी [**न संति**] नहीं [**वा**] अथवा [**बंधस्थानानि**

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि

न] बंधस्थान भी नहीं, [**च**] और [**उदयस्थानानि**] उदयस्थान भी [**न एव**] नहीं, [**कानिचित् मार्गणास्थानानि न**] कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं; [**जीवस्य**] जीव के [**स्थितिबंधस्थानानि नो**] स्थितिबंधस्थान भी नहीं [**वा**] अथवा [**संक्लेशस्थानानि न**] संक्लेशस्थान भी नहीं, [**विशुद्धिस्थानानि**] विशुद्धिस्थान भी [**न एव**] नहीं [**वा**] अथवा [**संयमलब्धिस्थानानि**] संयमलब्धिस्थान भी [**नो**] नहीं हैं; [**च**] और [**जीवस्य के**] जीव के [**जीवस्थानानि**] जीवस्थान भी [**न एव**] नहीं [**वा**] अथवा [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान भी [**न संति**] नहीं हैं; [**येन तु**] क्योंकि [**एते सर्वे**] यह सब [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्य के [**परिणामाः**] परिणाम हैं।

टीका :– जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।१।। जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वह सर्व ही जीव की नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।२।। जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।३।। जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हल्का, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है वह सर्व ही जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।४।। जो स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र रूप है वह जीव का नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।।५।। जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।।६।। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।७।। जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है।।८।। जो प्रीतिरूप राग है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय

नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीय-मोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात्। यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वाऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामा-तिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृति-

---

होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥९॥ जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥१०॥ जो यथार्थ तत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न है ॥११॥ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१२॥ जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१३॥ जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (पुद्गलस्कन्ध) रूप नोकर्म है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१४॥ जो कर्म के रस की शक्तियों का (अविभागप्रतिच्छेदों का) समूहरूप वर्ग है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१५॥ जो वर्गों का समूहरूप वर्गणा है वह सर्व ही जीव का नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१६॥ जो मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप (वर्गणा के समूहरूप) स्पर्धक हैं वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१७॥ स्व-पर के एकत्व का अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप जिनका लक्षण है ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥१८॥ भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो अनुभागस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति

परिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यापि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपक-

---

से भिन्न हैं ॥१९॥ काय, वचन और मनोवर्गणा का कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२०॥ भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२१॥ अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२२॥ गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२३॥ भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का अमुक मर्यादा तक कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२४॥ कषायों के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२५॥ कषायों के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२६॥ चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२७॥ पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जीवस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं ॥२८॥ मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण-उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादर-सांपराय-उपशमक तथा क्षपक;

सूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।।५०-५५।।

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा: सर्व एवास्य पुंस:।
तेनैवांतस्तत्त्वत: पश्यतोऽमी नो दृष्टा: स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।।३७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ बहिरंगे वर्णाद्यभ्यंतरे रागादिभावा: पौद्गलिका: शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति–

वर्णगंधरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्या: स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्त्तिश्च औदारिकादिपंचशरीराणि, समचतुरस्रादिषट्-संस्थानानि वज्रर्षभनाराचादिषट्संहननानि चेति। एते वर्णादयो धर्मिण: शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्तीति साध्यो धर्मश्चेति, धर्मधर्मिसमुदायलक्षण: **पक्ष:**, आस्था सन्धा प्रतिज्ञेति यावत्। पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूते-

---

सूक्ष्मसांपराय-उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीव के नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से (अपनी) अनुभूति से भिन्न हैं।।२९।।(इसप्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्य के परिणाममयभाव हैं; वे सब, जीव के नहीं हैं जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है।) ।।५०-५५।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**वर्ण-आद्या:**] जो वर्णादिक [**वा**] अथवा [**राग-मोह-आदय: वा**] रागमोहादिक [**भावा:**] भाव कहे [**सर्वे एव**] वे सब ही [**अस्य पुंस:**] इस पुरुष (आत्मा) से [**भिन्ना:**] भिन्न हैं [**तेन एव**] इसलिये [**अन्त:तत्त्वत: पश्यत:**] अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को [**अमी नो दृष्टा: स्यु:**] यह सब दिखाई नहीं देते, [**एकं परं दृष्टं स्यात्**] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है – केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

भावार्थ :– परमार्थनय अभेद ही है, इसलिये इस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दिखाई देता; इस नय की दृष्टि में पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है। इसलिये वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुष से भिन्न ही हैं। ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जो भाव हैं, उनका स्वरूप विशेषरूप से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रंथों से जान लेना।।३७।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब बहिरंग में वर्णादि तथा अन्तरंग में रागादिभाव पुद्गल के हैं, शुद्धनिश्चय से वे जीव के स्वरूप नहीं हैं, ऐसा निरूपण करते हैं –

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श जो रूप शब्द से वाच्य हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाली मूर्ति और औदारिक आदि पाँच शरीर, समचतुरस्र आदि छह संस्थान, वज्रवृषभनाराच आदि छह संहनन हैं – ये सभी वर्णादिक (धर्म) शुद्धनिश्चयनय से 'धर्मी' जीव के नहीं हैं, यह 'धर्म' साध्य है। धर्म-धर्मी का समुदायलक्षण यह 'पक्ष' है जिसे

र्भिन्नत्वादिति **हेतुः।** एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणांगद्वयमनुमानं ज्ञातव्यम्। अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाय-योगरूपपंचप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तिरूपनोकर्माणि इति। **से** तस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सन्ति। कस्मात् ? पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूते-र्भिन्नत्वात्। अथ परमाणोरविभागप्रतिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते। वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते। वर्गणासमूह लक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न सन्ति। अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः स्पर्द्धकलक्षणम्। तथा चोक्तं वर्ग वर्गणास्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणम् –

''वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूनां वर्गणोदिता। वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकापहैः॥''

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यन्ते, तानि च न सन्ति। लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्म-चतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यन्ते। गुडखाण्डशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यन्ते। निम्बकांजीरविष-हालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति। कस्मात्? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। अथ वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलंबन-

---

आस्था सन्धा, प्रतिज्ञा भी कहते हैं। ये (वर्णादिक) पुद्गलद्रव्य परिणाममय होने के कारण शुद्धात्मानुभूति से भिन्न होने से, यह 'हेतु' है। इसप्रकार यहाँ व्याख्यान में पक्ष व हेतुरूप से दो अंगवाला अनुमान जानना चाहिए।

अब राग-द्वेष-मोह और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग ये पाँच प्रत्यय तथा मूल प्रकृतियों एवं उत्तर प्रकृतियों के भेद से भिन्न किए जाने वाले ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म और औदारिक वैक्रियक आहारक ये तीन शरीर, आहार आदि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म ये सभी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं। किस कारण से जीव के नहीं हैं ? क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्यपरिणाममय होने से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं।

अब परमाणु के अविभागप्रतिच्छेदरूप शक्ति के समूह को वर्ग कहते हैं। वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं तथा वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं – ये सभी जीव के नहीं हैं। अथवा कर्मशक्ति की क्रमशः जो विशेष वृद्धि ही स्पर्द्धक का लक्षण है।

इसीप्रकार वर्ग, वर्गणा और स्पर्द्धक तीनों का लक्षण आगम में कहा गया है। ''अणु की शक्ति के समूह को वर्ग कहते हैं, बहुत से वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं और वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं – इन तीनों का लक्षण स्पर्द्धकों का नाश करनेवालों (जिनेन्द्र देव) के द्वारा कथित है।''

शुभाशुभ रागादि विकल्परूप अध्यवसान कहे गये हैं, वे भी जीव के नहीं हैं। लता, दारू, अस्थि, पाषाण शक्तिरूप चार घातिया कर्मों के अनुभागस्थान कहे गये हैं। गुड, खाण्ड, शर्करा, अमृत के समान शुभ अघाति कर्मों के अनुभागस्थान कहे गये हैं। निम्ब, कांजीर, विष, हलाहल के समान अशुभ अघाति कर्मों के अनुभागस्थान कहे गये हैं। ये सभी अनुभागस्थान शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं। किस कारण से जीव के नहीं है ? क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं।

अब वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले मन-वचन-काय की वर्गणा के आलम्बन से कर्म ग्रहण करने को हेतुभूत जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन – कम्पन है लक्षण जिनका, ऐसे योगस्थान हैं; प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार के बन्धस्थान हैं; सुख-दुख रूप फल के अनुभव रूप उदयस्थान

कर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबंधस्थानानि सुखदु:खफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति। कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। अथ जीवेन सह कालांतरावस्थानरूपाणि स्थितिबंधस्थानानि कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमंदोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति। कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। अथ जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन **'बादरसुहमेइंदी वितिचउरिंदी असण्णिसण्णीणं। पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति।।'** (गो.जी.७२) इति गाथाकथितक्रमेण बादरैकेन्द्रियादि चतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सन्ति। कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। कुत इति चेत् ? यत: कारणादेते वर्णादिगुणस्थानांता: परिणामा: शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति। अयमत्र भावार्थ: – सिद्धांतादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोऽपि जीवा: इत्युक्ता:। अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध:। इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतम्।।५०-५५।।

हैं और गति आदि मार्गणास्थान हैं। ये सर्व ही शुद्धनिश्चय से जीव के नहीं हैं। किस कारण से जीव के नहीं हैं ? क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं।

अब जीव के साथ कुछ काल तक रहनेवाले स्थितिबन्धस्थान हैं, कषाय के उद्रेक आवेगरूप संक्लेशस्थान हैं, कषाय के मंद उदय रूप विशुद्धिस्थान हैं, कषाय की क्रमश: हानि रूप संयमलब्धि स्थान हैं। ये सर्व ही शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं। किस कारण से जीव के नहीं हैं ? क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं।

अब शुद्धनिश्चयनय नय से –

बादरसुहमेइंदी वितिचउरिंदी असण्णिसण्णीणं।
पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति।। (गो.जी.७२)

इसप्रकार गाथा में कहे गये क्रम से बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय ये सात पर्याप्त तथा सात अपर्याप्त ऐसे चौदह जीवस्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान ये सभी जीव के नहीं हैं। किस कारण से जीव के नहीं हैं ? क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं। कैसे भिन्न हैं ? कारण कि ये वर्णादि से लेकर गुण्स्थानान्त परिणाम शुद्धनिश्चयनय से पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं।

यहाँ यह भावार्थ है कि सिद्धान्तादि शास्त्रों (आगम ग्रन्थों) में अशुद्ध पर्यायार्थिकनय से अन्तरंग में होने वाले रागादिभाव तथा बहिरंग में शरीर के वर्ण की अपेक्षा से वर्णादिक भावों को जीव का कहा है; परन्तु यहाँ अध्यात्म शास्त्र (परमागम) में शुद्धनिश्चयनय से उनको (वर्णादिगुणस्थानान्त भावों को) जीव मानने का निषेध किया है। इसप्रकार दोनों ही जगह अर्थात् आगम-अध्यात्म में नयविभाग की विवक्षा से विरोध नहीं है। इसप्रकार वर्णादि अभाव के विशेष कथन रूप से छह गाथाएँ पूर्ण हुईं।।५०-५५।।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत् –

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छय-णयस्स॥५६॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य॥५६॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुम्भ-रक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः॥५६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धांतादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिताः अत्र तु प्राभृतग्रंथे निश्चयनयेन निषिद्धाः तमेवार्थं दृढयति – व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्या गुणस्थानान्ता भावाः पर्याया न तु केऽपि निश्चयनयेनेति। एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता॥५६॥

अब शिष्य पूछता है कि यदि यह वर्णादि भाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं' ? उसका उत्तर गाथारूप में कहते हैं :–

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीव के व्यवहार से।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीव के निश्चयविषैं॥५६॥

गाथार्थ :– [**एते**] यह [**वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः**] वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव कहे गये वे [**व्यवहारेण तु**] व्यवहारनय से तो [**जीवस्य भवंति**] जीव के हैं (इसलिये सूत्र में कहे गये हैं), [**तु**] किन्तु [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनय के मत में [**केचित् न**] उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

टीका :– यहाँ, व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से, सफेद रुई से बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रंग से रंगा हुआ है ऐसे वस्त्र के औपाधिकभाव (लाल रंग) की भाँति, पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीव के औपाधिकभाव (वर्णादि) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ (वह व्यवहारनय) दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से, केवल एक जीव के स्वाभाविकभाव का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरे के भाव को किंचित्मात्र भी दूसरे का नहीं कहता, निषेध करता है। इसलिये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं – ऐसा (भगवान का स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है ॥५६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पूर्वोक्त सिद्धान्तग्रन्थों में वर्ण आदि भावों को व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं, और यहाँ समयप्राभृत में निश्चयनय से उन्हें जीव के मानने का निषेध किया गया है। इसी अर्थ को यहाँ दृढ़ करते हैं– ये वर्णादि गुणस्थानपर्यन्त भाव – पर्यायें व्यवहारनय से जीव के हैं, परन्तु निश्चयनय से वे कोई भी जीव के नहीं हैं। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार के समर्थनरूप से गाथा पूर्ण हुई॥५६॥

कुतो जीवस्स वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत् –

एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदगं मुणेदव्वो।
ण य होंति तस्स ताणि दु उवओग-गुणाधिगो जम्हा ।।५७।।

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्य:।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ।।५७।।

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षण-भूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् न निश्चयेन सलिलमस्ति, तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मन: पुद्गलद्रव्येण सह परस्परा-वगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वाद-ग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामा: सन्ति।।५७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सन्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति –

एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो एतै: वर्णादिगुणस्थानांतै: पूर्वोक्तपर्यायै: सह संबंधो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मंतव्य:। न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसंबंध:। कुत इति चेत् ? **ण य होंति तस्स ताणि दु** न च भवन्ति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानांता भावा: पर्याया:। कस्मात् ? **उवओगगुणाधिगो जम्हा** यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिक: परिपूर्ण इति। ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसंबंधो भवतु न चाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति। नैवं, द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थ:।।५७।।

अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादि निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ? इसका कारण कहिये। इसका उत्तर गाथारूप से कहते हैं :–

इन भाव के संबंध जीव का, क्षीर जलवत् जानना।
उपयोग गुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का ।।५७।।

गाथार्थ :– [**एतै: च सम्बन्ध:**] इन वर्णादिभावों के साथ जीव का सम्बन्ध [**क्षीरोदकं यथा एव**] दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध जैसा है ऐसा [**ज्ञातव्य:**] जानना [**च**] और [**तानि**] वे [**तस्य तु न भवंति**] उस जीव के नहीं हैं [**यस्मात्**] क्योंकि जीव [**उपयोगगुणाधिक:**] उनसे उपयोगगुण से अधिक है (वह उपयोगगुण के द्वारा भिन्न ज्ञात होता है)।

टीका :– जैसे जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध, जल से अधिकपने से प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा जल के साथ दूध का सम्बन्ध न होने से निश्चय से जल दूध का नहीं है; इसप्रकार वर्णादि पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का, पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होने पर भी स्वलक्षणभूत उपयोगगुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से अधिकपने से (परिपूर्णपने से) प्रतीत होता है; इसलिये जैसा अग्नि

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् –

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।
गंध-रस-फास-रूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

का उष्णता के साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है, वैसा वर्णादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है; इसलिये निश्चय से वर्णादि पुद्गलपरिणाम आत्मा के नहीं हैं।।५७।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – निश्चयनय से वर्णादिक जीव के क्यों नहीं हैं ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं– **एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो** इन पूर्वोक्त पर्यायरूप वर्णादि से लेकर गुणस्थान के अन्तर्गत आनेवाले भावों के साथ जीव का वैसा ही संश्लेष सम्बन्ध है, जैसा कि दूध एवं जल में संश्लेष सम्बन्ध होता है। ऐसा मानना योग्य है; परन्तु अग्नि और उष्णता की तरह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हैं। तादात्म्य सम्बंध क्यों नहीं है ? **ण य होंति तस्स ताणि दु** वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव उस जीव के नहीं हैं। किस कारण से जीव के नहीं हैं ? **उवओगगुणाधिगो जम्हा** क्योंकि जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है, वैसे जीव केवलज्ञान केवलदर्शन गुण से अधिक है, परिपूर्ण है। (शंका) वहाँ जो बहिरंग वर्णादिक हैं उनका जीव के साथ संश्लेष सम्बन्ध क्षीर-नीर (दूध-पानी) की तरह व्यवहार से भले होवे, परन्तु अभ्यंतर रागादि भावों का संबंध (जीव के साथ व्यवहार से भी) नहीं है। वहाँ अशुद्धनिश्चयनय से तो (अभ्यंतर रागादि भावों का संबंध) जीव के साथ होना चाहिए? (समाधान) ऐसा नहीं है; क्योंकि द्रव्यकर्म बन्ध की अपेक्षा जो असद्भूत व्यवहार है उसकी अपेक्षा से तारतम्यता दिखलाने के लिए रागादिक भावों को अशुद्ध निश्चय से जीव के कहा जाता है; परन्तु वस्तुतः शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से तो अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही है – ऐसा भावार्थ है।।५७।।

....

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इसप्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं :–

देखा लुटाते पंथ में, को 'पंथ ये लुटात है'
जनगण कहैं व्यवहार से, नहिं पंथ को लुटात है।।५८।।
त्यों वर्ण देखा जीव में इन कर्म अरु नोकर्म का।
जिनवर कहैं व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का'।।५९।।
त्यों गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबैं।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये।।६०।।

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिण:।
मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥५८॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम्।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत: उक्त: ॥५९॥
गंधरसस्पर्शरूपाणि देह: संस्थानादयो ये च।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥६०॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेऽपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षण: कश्चिदपि पंथा मुष्येत; तथा जीवे बंध-पर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थान-योगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थान-गुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् ॥५८-६०॥

गाथार्थ :– [**पथि मुष्यमाणं**] जैसे मार्ग में जाते हुये व्यक्ति को लुटता हुआ [**दृष्ट्वा**] देखकर '[**एष पंथा**] यह मार्ग [**मुष्यते**] लुटता है' इसप्रकार [**व्यवहारिण: लोका:**] व्यवहारीजन [**भणंति**] कहते हैं; किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो [**कश्चित् पंथा**] कोई मार्ग तो [**न च मुष्यते**] नहीं लुटता, मार्ग में जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है; [**तथा**] इसीप्रकार [**जीवे**] जीव में [**कर्मणां नोकर्मणां च**] कर्मों का और नोकर्मों का [**वर्णम्**] वर्ण [**दृष्ट्वा**] देखकर '[**जीवस्य**] जीव का [**एष: वर्ण:**] यह वर्ण है' इसप्रकार [**जिनै:**] जिनेन्द्रदेव ने [**व्यवहारत:**] व्यवहार से [**उक्त:**] कहा है। [**एवं**] इसीप्रकार [**गंधरसस्पर्शरूपाणि**] गंध, रस, स्पर्श, रूप, [**देह: संस्थानादय:**] देह, संस्थान आदि [**ये च सर्वे**] जो सब हैं, [**व्यवहारस्य**] वे सब व्यवहार से [**निश्चयद्रष्टार:**] निश्चय के देखनेवाले [**व्यपदिशंति**] कहते हैं।

टीका :– जैसे व्यवहारीजन, मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा कहते हैं; तथापि निश्चय से देखा जाये तो, जो आकाश के अमुक भागस्वरूप है वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता। इसीप्रकार भगवान अरहन्तदेव, जीव में बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके, 'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं; तथापि निश्चय से सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोग गुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है। इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तर्हि कृष्णवर्णोऽयं धवलवर्णोऽयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका। द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टांतद्वारेण परिहरति – **पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी** पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिणो लोका भणन्ति। किं भणन्ति ? **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एषः प्रत्यक्षीभूतः पंथाश्चौरैः कर्तृभूतैः। **ण य पंथो मुस्सदे कोई** न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पंथा मुष्यते कश्चिदपि, किन्तु पंथानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यन्त इति दृष्टांतगाथा गता। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टांतेन जीवेऽधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा। **जीवस्य एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टान्तगाथा गता। **एवं रसगंधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टांतदार्ष्टांतन्यायेन रसगंधस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः। **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशन्ति कथयन्तीति नास्ति व्यवहारविरोधः। इति दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम्। एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिः द्वितीयांतराधिकारो व्याख्यातः ॥५८-६०॥

गुणस्थान – यह सब ही (भाव) व्यवहार से अरहन्तभगवान जीव के कहते हैं; तथापि निश्चय से सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य से अधिक है ऐसे जीव के वे सब नहीं हैं; क्योंकि इन वर्णादिभावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है।

भावार्थ :– ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव सिद्धान्त में जीव के कहे हैं वे व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है।

यहाँ ऐसा जानना कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एकद्रव्य को भिन्न, पर्यायों से अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके कहा जाता है तब परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिकभाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्यायें वे सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है। ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे गये हैं सो व्यवहार से कहे गये हैं। यदि निमित्त-नैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा और सर्व व्यवहार का लोप होने से परमार्थ का भी लोप हो जायेगा। इसलिये जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यग्ज्ञान है और सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है ॥५८-६०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – तब 'यह कृष्ण वर्णवाला पुरुष, यह धवल वर्णवाला पुरुष है'– ऐसा व्यवहार विरोध को प्राप्त होता है, अब इसप्रकार पूर्वपक्ष रखने पर व्यवहार का अविरोधपना दिखाते हैं, इसप्रकार एक पीठिका हुई। तथा दूसरी पीठिका में उस ही पूर्वोक्त व्यवहार के विरोध को लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा निराकरण करते हैं।

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत् –

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी।
संसार-पमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित्॥६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मक-

---

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी मार्ग में सार्थ (धनी पुरुष) को लुटा हुआ देखकर व्यवहारीजन कहते हैं। क्या कहते हैं ? **मुस्सदि एसो पंथो** यह सामने वाला मार्ग चोरों से लुटता है। **ण य पंथो मुस्सदे कोई** शुद्ध आकाश लक्षणवाला मार्ग किसी से भी लुटता नहीं है, किन्तु उस मार्ग का आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं (लूटे जाते हैं)। यह दृष्टान्त गाथा पूर्ण हुई। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** उसीप्रकार उस मार्ग के धनी के दृष्टान्त से आधारभूत जीव में कर्मों-नोकर्मों का सफेद आदि वर्ण देखकर **जीवस्य एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो** जीव का यह वर्ण है – ऐसा जिनेन्द्रदेव द्वारा व्यवहार से कहा गया है। इसतरह यह दार्ष्टान्त गाथा पूर्ण हुई। **एवं रसगंधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** इसीप्रकार दृष्टान्त-दार्ष्टान्त न्याय से रस, गंध, स्पर्श, संस्थान, संहनन, राग-द्वेष-मोह आदि जो पूर्वोक्त छह गाथाओं में कहे गये हैं, **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** वे सभी व्यवहारनय के अभिप्राय से जीव के हैं – ऐसा निश्चय के जानने वाले कहते हैं, उसमें व्यवहार से विरोध नहीं है। इसतरह दृष्टान्त-दार्ष्टान्तरूप से व्यवहारनय के समर्थन रूप तीन गाथाएँ पूर्ण हुई॥५८-६०॥

इसप्रकार शुद्ध जीव ही उपादेय है – ऐसे प्रतिपादन की मुख्यता से १२ गाथाओं द्वारा दूसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

....

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :–

संसारी जीव के वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में।
संसार से परिमुक्त के नहिं, भाव को वर्णादिके॥६१॥

गाथार्थ :– [**वर्णादयः**] जो वर्णादि हैं वे [**संसारस्थानां**] संसार में स्थित [**जीवानां**] जीवों के [**तत्र भवे**] उस संसार में [**भवंति**] होते हैं और [**संसार प्रमुक्तानां**] संसार से मुक्त हुए जीवों के [**खलु**] निश्चय से [**वर्णादयः केचित्**] वर्णादि कोई भी (भाव) [**न सन्ति**] नहीं हैं; (इसलिये तादात्म्यसम्बन्ध नहीं हैं)।

टीका :– जो निश्चय से समस्त ही अवस्थाओं में यद्-आत्मकपने से अर्थात् जिस स्वरूपपने से व्याप्त हो और तद्-आत्मकपने की अर्थात् उस-स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओं में जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्था

त्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभि: सह तादात्म्यलक्षण: सम्बन्ध: स्यात्। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभि: सह तादात्म्यलक्षण: सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात्॥६१॥

समूहपीठिका – अत: परं जीवस्य निश्चयनयेन वर्णादितादात्म्यसंबंधो नास्तीति पुनरपि दृढ़ीकरणार्थं गाथाष्ट-कपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं **तत्थभवे** इत्यादि सूत्रमेकम्। तत: परं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन **जीवो चेव हि** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरमेकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च **एक्कं च दोण्णि** इत्यादि गाथात्रयम्। ततश्च मिथ्यादृष्ट्-यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं तथैवाभ्यंतरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं च **मोहणकम्म** इत्यादि सूत्रमेकम्। एवमष्टगाथाभि: तृतीयस्थले समुदायपातनिका।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं जीवस्य वर्णादिभि: सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति–

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवंति। **संसारपमुक्काणं** संसारप्रमुक्तानाम्। **णत्थि हु वण्णादओ केई** पुद्गलस्थवर्णादितादात्म्य-सम्बन्धाभावात्। केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायै: सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोऽस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावाद-शुद्धनयेनापि न सन्ति पुनर्वर्णादय: केऽपि। इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता॥६१॥

में उस भावस्वरूपता को न छोड़े, उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है।) इसलिये सभी अवस्थाओं में जो वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता – ऐसे पुद्गल का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है और यद्यपि संसार-अवस्था में कथंचित् वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त होता है तथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित नहीं होता, तथापि मोक्ष-अवस्था में जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपता की व्याप्ति से रहित होता है और वर्णादिस्वरूपता से व्याप्त नहीं होता ऐसे जीव का वर्णादिभावों के साथ किसी भी प्रकार से तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ :– द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में द्रव्य में जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावों के साथ द्रव्य का तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है। पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में पुद्गल में वर्णादि भाव व्याप्त हैं इसलिये वर्णादि भावों के साथ पुद्गल का तादात्म्यसम्बन्ध है। संसारावस्था में जीव में वर्णादि भाव किसी प्रकार से कहे जा सकते हैं; किन्तु मोक्ष अवस्था में जीव में वर्णादिभाव सर्वथा नहीं हैं। इसलिये जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है – यह बात न्यायप्राप्त है।

समूहपीठिका – इसके बाद जीव के निश्चयनय से वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हैं, ऐसा पुन: दृढ़ करने के लिए आठ गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहाँ पहले संसारी जीव का व्यवहारनय से वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, परन्तु मुक्तावस्था में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, यह दिखलाने के लिए **तत्थभवे** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। उसके बाद जीव के वर्णादि का तादात्म्य है ऐसा मिथ्या अभिप्राय होने पर जीव का अभाव रूप दोष प्राप्त होता है। ऐसे कथन की मुख्यता से **जीवो चेवहि** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम् –

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।।६२।।

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित्।।६२।।

यथा वर्णादयो भावा: क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभि: पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंत: पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावा: क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभि-

---

बाद एकेन्द्रिय आदि चौदह जीव समासों का जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य नहीं है ऐसा कहने के लिए, उसीप्रकार वर्णादि के साथ तादात्म्य का निषेध करने के लिए **एक्कं च दोण्णि** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीव के साथ शुद्ध निश्चयनय से तादात्म्य के निषेध के लिए और उसी तरह अभ्यंतर में रागादि का तादात्म्य निषेध करने के लिये **मोहणकम्म** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। इसप्रकार आठ गाथाओं द्वारा तीसरे स्थल में यह समुदाय पीठिका है। वह इसप्रकार है–

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध किसप्रकार नहीं है ? ऐसा पूछे जाने पर गाथा द्वारा प्रत्युत्तर देते हैं –

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी वहाँ विवक्षित (वर्तमान) भव तथा अविवक्षित (भूत व भावी) भव में जो संसार में स्थित हैं, उन्हीं जीवों के अशुद्धनय से वर्णादिक हैं। **संसारपमुक्काणं** लेकिन संसार से मुक्त जीवों का **णत्थि हु वण्णादओ केई** पुद्गल में पाये जानेवाले वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बंध का अभाव है। अथवा केवलज्ञानादि गुण का सिद्धत्वादि पर्याय के साथ जैसा तादात्म्य सम्बन्ध है वैसे तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव होने से अशुद्धनय से भी वर्णादिक का जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य के निषेध रूप से गाथा पूर्ण हुई।।६१।।

....

अब यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है, तो उसमें यह दोष आता है ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं :–

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीव में कुछ, भेद तुझ रहता नहीं !।।६२।।

गाथार्थ :– वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य माननेवाले को कहते हैं कि हे मिथ्या अभिप्रायवाले! [**यदि हि च**] यदि तुम [**इति मन्यसे**] ऐसे मानोगे कि [**एते सर्वे भावा:**] यह वर्णादि सर्व भाव [**जीव: एव हि**] जीव ही हैं, [**तु**] तो [**ते**] तुम्हारे मत में [**जीवस्य च अजीवस्य**] जीव और अजीव का [**कश्चित्**] कोई [**विशेष:**] भेद [**नास्ति**] नहीं रहता।

टीका :– जैसे वर्णादिभाव, क्रमश: आविर्भाव (प्रगट होना, उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना,

स्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेश: तस्य शेषद्रव्या-साधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभाव:॥६२॥

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोष: –

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा॥६३॥
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तह-लक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो॥६४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति – **जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि** यथानंतज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादय: सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत् **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई** तदा किं दूषणम् ? विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जड़त्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोऽपि विशेषो भेदो नास्ति। ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थ:॥६२॥

नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा (अर्थात् पर्यायों के द्वारा) पुद्गलद्रव्य के साथ ही साथ रहते हुए, पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं – विस्तारते हैं। इसीप्रकार वर्णादिभाव, क्रमश: आविर्भाव और तिरोभाव को प्राप्त होती हुई ऐसी उन-उन व्यक्तियों के द्वारा जीव के साथ ही साथ रहते हुए, जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं – ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मत में, अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता जो कि पुद्गलद्रव्य का लक्षण है, उसका जीव के द्वारा अंगीकार किया जाता है इसलिये, जीव-पुद्गल के अविशेष का प्रसंग आता है और ऐसा होने से, पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से, जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ :– जैसे वर्णादिभाव पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं उसीप्रकार जीव के साथ तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव-पुद्गल में कोई भी भेद न रहे और ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाये यह महादोष आता है॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जीव का वर्णादि से तादात्म्य सम्बन्ध है, ऐसा दुराग्रह होने पर आनेवाले दोष को दिखलाते हैं – **जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मण्णसे जदि हि** जैसे अनन्तज्ञान, अव्याबाध सुख आदि गुण ही जीव हैं और वर्णादि गुण पुद्गल हैं, वैसे ही स्पष्ट रूप से 'ये वर्णादि सर्वभाव जीव ही हैं' – ऐसा यदि तू मानता है या माना जावे तो **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई** तो क्या दोष है? विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव लक्षणवाले जीव और जड़त्वादि लक्षण वाले अजीव का उसके मत में कोई भेद नहीं रहता है। तब जीव के अभावरूप दोष प्राप्त होता है – ऐसा सूत्र का अर्थ है॥६२॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६३॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति। रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति, मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति, तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ॥६३-६४॥

अब, 'मात्र संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है' इस अभिप्राय में भी यही दोष आता है, सो कहते हैं :–

वर्णादि हैं संसारी जीव के, योहिं मत तुझ होय जो।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्व को ॥६३॥

इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढ़मति ! समचिह्न से।
अरु मोक्षप्राप्त हुआ भि पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे ॥६४॥

गाथार्थ :– [**अथ**] अथवा यदि [**तव**] तुम्हारा मत यह हो कि [**संसारस्थानां जीवानां**] संसार में स्थित जीवों के ही [**वर्णादयः**] वर्णादि (तादात्म्यस्वरूप से) [**भवंति**] हैं, [**तस्मात्**] तो इस कारण से [**संसारस्थाः जीवाः**] संसार में स्थित जीव [**रूपित्वम् आपन्नाः**] रूपित्व को प्राप्त हुये; [**एवं**] ऐसा होने से, [**तथालक्षणेन**] वैसा लक्षण (रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्य का होने से, [**मूढमते**] हे मूढमते! [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य ही [**जीवः**] जीव कहलाया [**च**] और (मात्र संसार अवस्था में ही नहीं किन्तु) [**निर्वाणम् उपगतः अपि**] निर्वाण प्राप्त होने पर भी [**पुद्गलः**] पुद्गल ही [**जीवत्वं**] जीवत्व को [**प्राप्तः**] प्राप्त हुआ।

टीका :– फिर, जिसका यह अभिप्राय है कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसके मत में संसार-अवस्था के समय वह जीव अवश्य रूपित्व को प्राप्त होता है और रूपित्व तो किसी द्रव्य का, शेष द्रव्यों से असाधारण ऐसा लक्षण है। इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो वही जीव है। रूपित्व से लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है। ऐसा होने पर, मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसंबंधोऽस्तीति दुरभिनिवेशेऽपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति– **जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी** यदि चेत्संसारस्थजीवानां पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकांतेन भवन्तीति। **तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** ततः किं दूषणं? संसारस्थजीवा अमूर्त्तानंतज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवंति। अथ **एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः, नान्यः कोऽपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तव लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते ! न केवलं संसारावस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः **णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोऽपि पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोऽपि चिद्रूपः। कस्मादिति चेत् ? वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः।

किंच – संसारावस्थायामेकांतेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादि-चतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न संभवतीति भावार्थः। एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतम्॥६३-६४॥

(सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षण से लक्षित ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओं में हानि अथवा ह्रास को प्राप्त न होने से अनादि-अनन्त होता है। ऐसा होने से, उसके मत में भी (संसार-अवस्था में ही जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य माननेवाले के मत में भी), पुद्गलों से भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहने से, जीव का अवश्य अभाव होता है।

भावार्थ :– यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है; इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा। और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलों का ही मोक्ष हुआ; इसलिये मोक्ष में भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इसप्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का अभाव हो गया। इसलिये मात्र संसार-अवस्था में ही वर्णादिभाव जीव के हैं ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है ॥६३-६४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब संसार अवस्था में ही जीव के वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसा दुराग्रह होने पर जीव के अभाव का दोष आता है – ऐसा उपदेश देते हैं –

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी संसार अवस्था में स्थित जीवों के पुद्गल की तरह ही वर्णादि गुण हैं, यदि ऐसा तेरे मत या अभिप्राय से एकान्त मान लिया जाये **तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** तो क्या दोष आयेगा ? तो कहते हैं कि संसार में स्थित जीव अमूर्त अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय लक्षण छोड़कर, शुक्ल कृष्ण आदि लक्षणवाले मूर्तिकपने को प्राप्त होते हैं – यह दोष प्राप्त होता है। **एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** हे मूढमति जीव ! तेरे अभिप्राय से पूर्वोक्त प्रकार से जीव के रूपीपना होने पर पुद्गलद्रव्य ही जीव है, इससे भिन्न विशुद्ध चैतन्य चमत्कार वाला जीव कोई अन्य नहीं ठहरा। इतना ही नहीं कि संसार अवस्था में पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त हुआ। **णिव्वाणमुवगदो वि य**

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति –

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवा:।
बादरपर्याप्तेतरा: प्रकृतयो नामकर्मण: ॥६५॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभि:।
प्रकृतिभि: पुद्गलमयीभिस्ताभि: कथं भण्यते जीव: ॥६६॥

निश्चयत: कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं

जीवत्तं पुग्गलो पत्तो अपितु मोक्ष को प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त हुआ, इससे अन्य कोई भी चिद्रूप जीव (मोक्ष में) नहीं रहा। किस कारण से चिद्रूप जीव नहीं रहा ? क्योंकि वर्णादि का तादात्म्य पुद्गल के साथ है, इसका निषेध अशक्य होने से जीव का अभाव (सिद्ध) हुआ।

विशेष यह कि संसार अवस्था में एकान्त से जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य होने पर मोक्ष ही घटित नहीं होता। क्यों घटित नहीं होता है ? क्योंकि केवलज्ञान आदि चतुष्टय की व्यक्ति रूप कार्य समयसार की मोक्ष संज्ञा है और (यह मोक्ष) जीव को पुद्गलपना प्राप्त होने से सम्भव नहीं है, ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य मानने पर जीव के अभावरूप दोष प्राप्त होता है, इसप्रकार तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥६३-६४॥

....

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिभाव जीव नहीं हैं, यह अब कहते हैं :–

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति हैं ॥६५॥

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे ॥६६॥

गाथार्थ :– [**एकं वा**] एकेन्द्रिय, [**द्वे**] द्वीन्द्रिय, [**त्रीणि च**] त्रीन्द्रिय, [**चत्वारि च**] चतुरिन्द्रिय और [**पंचेन्द्रियाणि**] पंचेन्द्रिय, [**बादरपर्याप्तेतरा:**] बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त [**जीवा:**] जीव तथा – यह [**नामकर्मण:**] नामकर्म की [**प्रकृतय:**] प्रकृतियाँ हैं; [**एताभि: च**] इन [**प्रकृतिभि:**] प्रकृतियों [**पुद्गलमयीभि: ताभि:**] जो कि पुद्गलमयरूप से प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा [**करणभूताभि:**] करणस्वरूप होकर [**निर्वृत्तानि**] रचित [**जीवस्थानानि**] जो जीवस्थान (जीवसमास) हैं वे [**जीव:**] जीव [**कथं**] कैसे [**भण्यते**] कहे जा सकते हैं ?

कनकमेव, न त्वन्यत्, तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतु:पंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभि: पुद्गलमयीभि: नामकर्मप्रकृतिभि: क्रियमाणानि पुद्गल एव, न तु जीव:। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्म प्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्त: ।।६५-६६।।

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम् ।।३८।।

(उपजाति)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यत: स विज्ञानघनस्ततोऽन्य: ।।३९।।

टीका :– निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है (होता है) वह वही है – यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है। इसीप्रकार जीवस्थान, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से किये जाते होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। और नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है तथा अनुमान से भी जानी जा सकती है; क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं, वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य हैं, इसलिये कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं ऐसा अनुमान हो सकता है। इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा रचित होने से पुद्गल से अभिन्न हैं; इसलिये, मात्र जीवस्थानों को पुद्गलमय कहने पर, इन सबको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिये। इसलिये वर्णादि जीव नहीं हैं यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।।६५-६६।।

यहाँ इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[अत्र येन]** यहाँ जिस वस्तु से **[यद् किंचित् निर्वर्त्यते]** जो कोई भाव बने, **[तत्]** वह भाव **[तद् एव स्यात्]** वह वस्तु ही है, **[कथंचन]** किसी भी प्रकार **[अन्यत् न]** अन्य वस्तु नहीं है; **[इह]** जैसे जगत में **[रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं]** स्वर्ण निर्मित म्यान को **[रुक्मं पश्यन्ति]** लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) **[कथंचन]** किसी प्रकार से **[न असिम्]** तलवार नहीं देखते।

भावार्थ :– वर्णादि पुद्गलरचित हैं इसलिये वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।।३८।।

अब दूसरा कलश कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– अहो ज्ञानीजनो ! **[इदं वर्णादिसामग्र्यम्]** ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव हैं उन समस्त को **[एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्]** एक पुद्गल की ही रचना **[विदन्तु]** जानो; **[तत:]**

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम् –

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।६७।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ।।६७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेंद्रियादिसंज्ञिपंचेंद्रियपर्यंतचतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा देहगता वर्णादयोऽपीत्यावेदयति – एकद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्तेतराभिधानाः प्रकृतयो भवंति। कस्य संबंधिन्यो? नामकर्मण इति। अथ एताभिरमूर्तातीन्द्रियनिरंजनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नाम-कर्मप्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिः पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवंति ? न कथमपि। तथाहि – यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं तु रुक्मैव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवन्ति न च जीवस्वरूपाणि। तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टान्तेन तदाश्रिता वर्णादयोऽपि पुद्गलस्वरूपा भवन्ति, न च जीवस्वरूपा इत्यभिप्रायः ।।६५-६६।।

इसलिये [**इदं**] यह भाव [**पुद्गलः एव अस्तु**] पुद्गल ही हों, [**न आत्मा**] आत्मा न हों; [**यतः**] क्योंकि [**सः विज्ञानघनः**] आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है, [**ततः**] इसलिये [**अन्यः**] वह इन वर्णादिभावों से अन्य ही है।।३९।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यह सिद्ध हुआ कि बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त चौदह जीवस्थान शुद्धनिश्चय नय से जीवस्वरूप नहीं हैं, उसीतरह देहगत वर्णादि भी जीव के स्वरूप नहीं हैं – ऐसा कहते हैं –

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त नामक प्रकृतियाँ है। किससे सम्बन्धित प्रकृतियाँ हैं ? नामकर्म से सम्बन्धित प्रकृतियाँ हैं। अब अमूर्त, अतीन्द्रिय, निरञ्जन परमात्मतत्त्व से भिन्न इन पुद्गलमयी नामकर्म प्रकृतियों से निर्मित चौदह जीवस्थान निश्चयनय से जीव कैसे हो सकते हैं ? किसी भी प्रकार से नहीं हो सकते हैं। विशेष यह है कि जिसप्रकार स्वर्ण के द्वारा निर्मित तलवार की म्यान स्वर्ण ही है, उसीप्रकार पुद्गलमय प्रकृतियों से निर्मित जीवस्थान पुद्गलद्रव्य स्वरूप ही हैं और वे जीव स्वरूप नहीं हैं। इसप्रकार उस जीवस्थान के उदाहरण द्वारा उसके आश्रयभूत (पुद्गलाश्रित) वर्णादि भी पुद्गलस्वरूप ही हैं, जीव स्वरूप नहीं हैं ऐसा आशय है।।६५-६६।।

....

अब, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है उसे जीव कहना सो सब व्यवहार मात्र है :–

पर्याप्त अनपर्याप्त जो हैं, सूक्ष्म अरु बादर सभी।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं।।६७।।

गाथार्थ :– [**ये**] जो [**पर्याप्तापर्याप्ताः**] पर्याप्त, अपर्याप्त [**सूक्ष्माः बादराः च**] सूक्ष्म और बादर

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतु:पंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञा: सूत्रे जीवसंज्ञा-त्वेनोक्ता: अप्रयोजनार्थ: परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहार:। यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैक घृतकुम्भ-स्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भ: स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहार:, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीव: स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहार:।।६७।।

(अनुष्टुभ्)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मय:।।४०।।

आदि **[ये च एव]** जितनी **[देहस्य]** देह की **[जीवसंज्ञा:]** जीवसंज्ञा कही है, वे सब **[सूत्रे]** सूत्र में **[व्यवहारत:]** व्यवहार से **[उक्ता:]** कही है।

टीका :– बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त – इन शरीर की संज्ञाओं को (नामों को) सूत्र में जीवसंज्ञारूप से कहा है, वह पर की प्रसिद्धि के कारण, 'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बात को स्पष्ट कहते हैं :–

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो, उसे समझाने के लिये ''जो यह 'घी का घड़ा है, सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं'' इसप्रकार (समझानेवाले के द्वारा) घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिये (शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिये) ''जो यह 'वर्णादिमान जीव' है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं'' इसप्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादिमानपने का व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है ।।६७।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[चेत्]** यदि **[घृतकुम्भाभिधाने अपि]** 'घी का घड़ा' ऐसा कहने पर भी **[कुम्भ: घृतमय: न]** घड़ा है वह घीमय नहीं है (मिट्टीमय ही है), **[वर्णादिमत्-जीवजल्पने अपि]** तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहने पर भी **[जीव: न तन्मय:]** जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (ज्ञानघन ही है)।

भावार्थ :– घी से भरे हुए घड़े को व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा घी-स्वरूप नहीं है; घी घी-स्वरूप है, घड़ा मिट्टी-स्वरूप है; इसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से 'पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव,

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति –

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि।।६८।।

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ग्रंथांतरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवा: कथ्यन्ते तत्कथं घटते इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति– **पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा** पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवा: कथिता: सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिता:। **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षण-शुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता। क्व ? सूत्रे परमागमे। कस्मात्, व्यवहारादिति नास्ति दोष:। एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतम्।।६७।।

बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है तथापि निश्चय से जीव उसस्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्‌गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है।।४०।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब अन्य ग्रन्थों में पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव, बादर जीव, सूक्ष्म जीव कहे गये हैं, वे कैसे घटित होते हैं – इसप्रकार पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं –

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा पर्याप्त तथा अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर जो जीव कहे गये हैं। **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** वे पर्याप्त-अपर्याप्त शरीर को देखकर पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म से विपरीत परम चैतन्य ज्योति लक्षण रूप शुद्धात्म स्वरूप से पृथक्‌रूप शरीर की वह जीवसंज्ञा कही गई है। कहाँ कही गई है ? सूत्र में अथवा परमागम में किस नय से कही गई है ? व्यवहार नय से कही गई है, इसमें दोष नहीं है। इसप्रकार जीवस्थान और जीवस्थान के आश्रित वर्णादि निश्चय नय से जीवस्वरूप नहीं हैं, इसप्रकार कथन रूप से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।।६७।।

....

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं हैं यह सिद्ध हुआ, उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं :–

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये।
वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे ?।।६८।।

गाथार्थ :– [**यानि इमानि**] जो यह [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान हैं वे [**मोहनकर्मण: उदयात् तु**]

कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा, यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन, पुद्गल एव, न तु जीवः। गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमान-त्वाच्च प्रसाध्यम्। एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थान-बंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्म-पूर्वकत्वे सति, नित्यमचेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीव इति स्वयमायातम्। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम्॥६८॥

मोहकर्म के उदय से होते हैं [**वर्णितानि**] ऐसा (सर्वज्ञ के आगम में) वर्णन किया गया है; [**तानि**] वे [**जीवाः**] जीव [**कथं**] कैसे [**भवंति**] हो सकते हैं [**यानि**] कि जो [**नित्यं**] सदा [**अचेतनानि**] अचेतन [**उक्तानि**] कहे गये हैं ?

टीका :– ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर (निश्चयकर) जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं – इसी न्याय से, वे पुद्गल ही हैं – जीव नहीं। और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा, उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही हैं – जीव नहीं, ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।

भावार्थ :– शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि, चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से चैतन्यशून्य हैं – जड़ हैं। और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते हैं इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं।

प्रश्न – यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या ? वे पुद्गल हैं या कुछ और ?

उत्तर – वे पुद्गलकर्म पूर्वक होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल ही हैं; क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं॥६८॥

तर्हि को जीव इति चेत् –

(अनुष्टुभ्)

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम्।।४२।।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादि और रागादि जीव नहीं हैं तो जीव कौन है ? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अनादि**] जो अनादि[1] [**अनन्तम्**] अनन्त[2] है, [**अचलं**] अचल[3] है, [**स्वसंवेद्यम्**] स्वसंवेद्य[4] है [**तु**] और [**स्फुटम्**] प्रगट[5] है – ऐसा जो [**इदं चैतन्यम्**] यह चैतन्य [**उच्चैः**] अत्यन्त [**चकचकायते**] चकचकित – प्रकाशित हो रहा है, [**स्वयं जीवः**] वह स्वयं ही जीव है।

भावार्थ :– वर्णादि और रागादिभाव जीव नहीं हैं, किन्तु जैसा ऊपर कहा वैसा चैतन्य भाव ही जीव है।।४१।।

अब, काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीव का योग्य लक्षण है :–

श्लोकार्थ :– [**यतः अजीवः अस्ति द्वेधा**] अजीव दो प्रकार के हैं – [**वर्णाद्यैः सहितः**] वर्णादिसहित [**तथा विरहितः**] और वर्णादिरहित; [**ततः**] इसलिये [**अमूर्तत्वम् उपास्य**] अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) [**जीवस्य तत्त्वं**] जीव के यथार्थ स्वरूप को [**जगत् न पश्यति**] जगत् नहीं देख सकता; – [**इति आलोच्य**] इसप्रकार परीक्षा करके [**विवेचकैः**] भेदज्ञानी पुरुषों ने [**न अव्यापि अतिव्यापि वा**] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित [**चैतन्यम्**] चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है [**समुचितं**] वह योग्य है। [**व्यक्तं**] वह चैतन्य लक्षण प्रगट है, [**व्यञ्जित-जीव-तत्त्वम्**] उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है और [**अचलं**] वह अचल है – चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। [**आलम्ब्यताम्**] जगत् उसी का आलम्बन करो ! (उससे यथार्थ जीव का ग्रहण होता है।) ।।४२।।

---

१. अर्थात् किसी काल उत्पन्न नहीं हुआ। २. अर्थात् किसी काल जिसका विनाश नहीं। ३. अर्थात् जो कभी चैतन्यपने से अन्यरूप – चलाचल नहीं होता। ४. अर्थात् जो स्वयं अपने आप से ही जाना जाता है। ५. अर्थात् छुपा हुआ नहीं।

(वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम्।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति॥४३॥

नानट्यतां तथापि –

भावार्थ :– निश्चय से वर्णादिभाव – वर्णादिभावों में रागादिभाव अन्तर्हित हैं – जीव में कभी व्याप्त नहीं होते, इसलिये वे निश्चय से जीव के लक्षण हैं ही नहीं; उन्हें व्यवहार से जीव का लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है; क्योंकि सिद्ध जीवों में वे भाव व्यवहार से भी व्याप्त नहीं होते। इसलिये वर्णादिभावों का आश्रय लेने से जीव का यथार्थस्वरूप जाना ही नहीं जाता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवों में व्याप्त है, तथापि उसे जीव का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है, कारण कि पाँच अजीव द्रव्यों में से एक पुद्गलद्रव्य के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल – ये चार द्रव्य अमूर्त होने से, जैसे अमूर्तत्व जीव में व्यापता है वैसे ही चार अजीव द्रव्यों में भी व्यापता है; इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये अमूर्तत्व का आश्रय लेने से भी जीव का यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता है।

चैतन्यलक्षण सर्व जीवों में व्यापता होने से अव्याप्तिदोष से रहित है और जीव के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य में व्यापता न होने से अतिव्याप्तिदोष से रहित है और वह प्रगट है; इसलिये उसी का आश्रय–ग्रहण करने से जीव के यथार्थ स्वरूप का ग्रहण हो सकता है॥४२॥

अब, 'जबकि ऐसे लक्षण से जीव प्रगट है, तब भी अज्ञानीजनों को उसका अज्ञान क्यों रहता है ? – इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इति लक्षणतः]** यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण **[जीवात् अजीवम् विभिन्नं]** जीव से अजीव भिन्न हैं **[स्वयम् उल्लसन्तम्]** उसे (अजीव को) अपने आप ही (स्वतंत्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित होता हुआ – परिणमित होता हुआ **[ज्ञानी जनः]** ज्ञानीजन **[अनुभवति]** अनुभव करते हैं, **[तत्]** तथापि **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी को **[निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु]** अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्वपर के एकत्व की भ्रान्ति) **[कथम् नानटीति]** क्यों नाचता है – **[अहो बत]** यह हमें महा-आश्चर्य और खेद है॥४३॥

अब पुनः मोह का प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो ? तथापि ऐसा ही है :–

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ।।४४।।

(मन्द्राकान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ।।४५।।

श्लोकार्थ :– **[अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाट्ये]** इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में **[वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति]** वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, **[न अन्यः]** अन्य कोई नहीं; (अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव अनेक प्रकार का नहीं है;) **[च]** और **[अयं जीवः]** यह जीव तो **[रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्यधातुमय-मूर्तिः]** रागादिक पुद्गलविकारों से विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

भावार्थ :– रागादि चिद्विकार को (चैतन्यविकारों को) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं; क्योंकि चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हों तो चैतन्य के कहलायें। रागादि विकार सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते – मोक्ष-अवस्था में उनका अभाव है। और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। इसलिये वे चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्य का अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है ऐसा जानना ।।४४।।

अब, भेदज्ञान की प्रवृत्ति के द्वारा यह ज्ञाता-द्रव्य स्वयं प्रगट होता है – इसप्रकार कलश में महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इत्थं]** इसप्रकार **[ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं]** ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है उसे **[नाटयित्वा]** नचाकार **[यावत्]** जहाँ **[जीवाजीवौ]** जीव और अजीव दोनों **[स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः]** प्रगटरूप से अलग नहीं हुए, **[तावत्]** वहाँ तो **[ज्ञातृद्रव्यं]** ज्ञाता-द्रव्य, **[प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या]** अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से **[विश्वं-व्याप्य]** विश्व को व्याप्त करके, **[स्वयम्]** अपने आप ही **[अतिरसात्]** अतिवेग से **[उच्चैः]** उग्रतया अर्थात् आत्यंतिकरूप से **[चकाशे]** प्रकाशित हो उठा।

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपक: प्रथमोऽङ्क:।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ न केवलं बहिरंगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति अभ्यंतर-मिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोऽपि न भवन्तीति स्थितं –

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षण- परमात्मतत्त्व-प्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकंदलीकंदायमानसंतानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि गुणस्थानानि। तथा चोक्तं ''गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा''। **ते कह हवंति जीवा** तानि कथं भवन्ति जीवा? न कथमपि।

भावार्थ :– इस कलश का आशय दो प्रकार का है –

उपरोक्त ज्ञान का अभ्यास करते-करते जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न समझ में आये कि तत्काल ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हुआ – सम्यग्दर्शन हुआ। (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञान से विश्व के समस्त भावों को संक्षेप से अथवा विस्तार से जानता है और निश्चय से विश्व को प्रत्यक्ष जानने का उसका स्वभाव है; इसलिये यह कहा कि वह विश्व को जानता है।) एक आशय तो इसप्रकार है।

दूसरा आशय इसप्रकार से है – जीव-अजीव का अनादिकालीन संयोग केवल अलग होने से पूर्व अर्थात् जीव का मोक्ष होने से पूर्व, भेदज्ञान के भाते-भाते अमुक दशा होने पर निर्विकल्प धारा जमीं – जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा और वह श्रेणि अत्यन्त वेग से आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ। और फिर अघातियाकर्मों का नाश होने पर जीवद्रव्य अजीव से केवल भिन्न हुआ। जीव-अजीव के भिन्न होने की यह रीति है।।४५।।

टीका :– इसप्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गये।

भावार्थ :– जीवाजीवाधिकार में पहले रंगभूमि स्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्य ने ऐसा कहा था कि नृत्य के अखाड़े में जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनों ने एकत्व का स्वाँग रचा है। वहाँ, भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने सम्यग्ज्ञान से उन जीव-अजीव दोनों की उनके लक्षणभेद से परीक्षा करके दोनों को पृथक् जाना, इसलिये स्वाँग पूरा हुआ और दोनों अलग-अलग होकर अखाड़े से बाहर निकल गये। इसप्रकार अलंकार पूर्वक वर्णन किया है।

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं;
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमाँहि महन्त कहाय वसैं शिव जाय सुखी नित थावैं।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ।

कथंभूतानि ? **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यंतररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवमभ्यंतरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता। एवमष्टगाथाभिस्तृतीयांतराधिकारो व्याख्यात:।

ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेऽपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं? तन्न, विस्ताररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारै: समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं। तत्रापि समयसार व्याख्यानमात्रापि समयसारव्याख्यानमेव। यदि पुन: समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तम्।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्ध निश्चयनय से न केवल बहिरंग वर्णादि जीवस्वरूप नहीं हैं अपितु अभ्यन्तर मिथ्यात्व आदि गुणस्थानरूप रागादि भी जीवस्वरूप नहीं हैं ऐसा सिद्ध करते हैं –

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा निर्मोह परमचैतन्य प्रकाश लक्षणवाले परमात्मतत्त्व से विरुद्ध पक्षवाले, अनादि अविद्या रूप केले के कन्द के समान परम्परा से आने वाले मोहकर्म के उदय से होने वाले ये गुणस्थान कहे हैं। और जैसा कि गोम्मटसार में कहा गया है। **गुणसण्णा सा च मोह जोग भवा** मोह और योग से उत्पन्न होने वाले जीव के परिणाम को गुणस्थान कहते हैं। **ते कह हवंति जीवा** वे गुणस्थान जीव कैसे हो सकते हैं ? किसी भी प्रकार से वे जीव नहीं हो सकते हैं। वे कैसे हैं? **जे णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यपि अशुद्ध निश्चयनय से वे गुणस्थान चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चयनय से नित्य-सर्वकाल अचेतन हैं। **परन्तु वस्तुत: अशुद्ध निश्चयनय से यद्यपि द्रव्यकर्म की अपेक्षा से अभ्यन्तर रागादिक भाव चेतन हैं ऐसा मानकर वे निश्चय संज्ञा को प्राप्त होते हैं। तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहार है। ऐसा व्याख्यान निश्चय-व्यवहारनय के विचारकाल में सर्वत्र जानना चाहिए।** इसप्रकार अभ्यन्तर में जैसे मिथ्यात्वादि गुणस्थान जीव का स्वरूप नहीं हैं वैसे ही रागादि भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हैं। इसप्रकार के कथन रूप से इस पातनिका की आठवीं गाथा पूर्ण हुई। इसप्रकार आठ गाथाओं द्वारा तीसरे अन्तराधिकार का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

यहाँ कोई **शंका** करता है कि रागादि जीव का स्वरूप नहीं हैं ऐसा जीवाधिकार में कहा गया है, वही बात इस अजीवाधिकार में फिर से क्यों कही गई है, यह तो पुनरुक्त दोष है **(समाधान)** नहीं, यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं हैं, क्योंकि विस्ताररुचि वाले शिष्य को नव अधिकारों द्वारा उसी समयसार का ही व्याख्यान किया गया है, अन्य का नहीं। इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ भी समयसार का व्याख्यान संक्षेप में किया था, यहाँ भी उसी समयसार का व्याख्यान (कुछ विस्तार से किया) है। यदि समयसार को छोड़कर, कुछ अन्य व्याख्यान किया जाता तो प्रतिज्ञा भंग का दोष आता। अत: यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है ? अथवा भावना ग्रन्थों में समाधिशतक, परमात्मप्रकाश आदि (आध्यात्मिक) ग्रन्थों के समान इस भावना ग्रन्थ में पुनरुक्त दोष नहीं है। जैसे रागियों को शृंगार कथा बार-बार कही जाती है उसमें पुनरुक्त दोष नहीं आता।

अथवा भावनाग्रंथे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रंथवद्रागिणां शृङ्गारकथावद्वा पुनरुक्तदोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता। **विवक्षितो मुख्य** इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानम्। किंवत् ? एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति **परिहारपंचकं** ज्ञातव्यम्॥६८॥

एवं जीवाजीवौ जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गाररहित-पात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रांताविति।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकार: समाप्त:।

अथवा वहाँ जीवाधिकार में जीव की मुख्यता है तथा यहाँ अजीवाधिकार में अजीव की मुख्यता है। विवक्षित को मुख्य कहते हैं ऐसा वचन है। अथवा वहाँ (जीवाधिकार में) सामान्य व्याख्यान है, यहाँ (अजीवाधिकार में) विशेष विस्तार व्याख्यान है।

अथवा वहाँ रागादि से भिन्न जीव है ऐसा विधि (अस्ति) की मुख्यता से व्याख्यान है। यहाँ रागादि जीवस्वरूप नहीं है ऐसा निषेध (नास्ति) की मुख्यता से व्याख्यान है। किसप्रकार से विधि-निषेध की मुख्यता कही है ? जैसे एकत्व अनुप्रेक्षा में विधिकथन की मुख्यता है तथा अन्यत्व अनुप्रेक्षा में निषेध कथन की मुख्यता है। इसप्रकार शंका का निराकरण पाँच प्रकार से किया गया है जो ज्ञातव्य है॥६८॥

इसप्रकार जीव और अजीव, जीव-अजीवाधिकार रंगभूमि में शृंगार सहित पात्र के समान व्यवहारनय से एकरूप होकर प्रविष्ट हुए, परन्तु निश्चयनय से शृंगार रहित पात्र के समान ये दोनों पृथक्-पृथक् होकर निकल गये।

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्यकृत शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार व्याख्या में तीन स्थलों के समुदायरूप से तीस गाथाओं द्वारा यह दूसरअजीवाधिकार पूर्ण हुआ।

भैया जगवासी तू उदासी ह्वै कैं जगत सौं,
एक छ महीना उपदेश मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठ कैं एकन्त मन एक ठौर आनु रे॥
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे,
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसो तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति स्वरूप यौं ही जानु रे॥

समयसार नाटक, पृष्ठ ५६, छन्द ३

२

कर्ताकर्म-अधिकार

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः।

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम्॥४६॥

(दोहा)

कर्ताकर्म-विभाव कूं, मेटि ज्ञानमय होय।
कर्म नाशि शिव में बसे, तिन्हें नमूँ, मद खोय॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब जीव-अजीव ही एक कर्ताकर्म के वेष में प्रवेश करते हैं।' जैसे दो पुरुष परस्पर कोई एक स्वाँग करके नृत्य के अखाड़े में प्रवेश करें, उसीप्रकार जीव-अजीव दोनों एक कर्ताकर्म का स्वाँग करके प्रवेश करते हैं; इसप्रकार यहाँ टीकाकार ने अलंकार किया है।

अब पहले, उस स्वाँग को ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं:–

श्लोकार्थ :– [**इह**] 'इस लोक में [**अहम् चिद्**] मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो [**एकः कर्ता**] एक कर्ता हूँ और [**अमी कोपादयः**] यह क्रोधादि भाव [**मे कर्म**] मेरे कर्म हैं' [**इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्**] ऐसी अज्ञानियों के जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है उसे [**अभितः शमयत्**] सब ओर से शमन करती हुई (मिटाती हुई) [**ज्ञानज्योतिः**] ज्ञानज्योति [**स्फुरति**] स्फुरायमान होती है। वह ज्ञानज्योति [**परम-उदात्तम्**] परम उदात्त है अर्थात् किसी के आधीन नहीं है, [**अत्यन्तधीरं**] अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है और [**निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि**] पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है इसलिये [**विश्वम् साक्षात् कुर्वत्**] वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है – प्रत्यक्ष जानती है।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि।
अण्णाणी तावदु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो॥६९॥
कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं॥७०॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः॥६९॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंकमात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति, तथा संयोगसिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्तते तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेऽपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति। तदत्र

भावार्थ :– ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह, परद्रव्य तथा परभावों के कर्तृत्वरूप अज्ञान को दूर करके, स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है॥४६॥

अब, जबतक यह जीव आस्रव के और आत्मा के विशेष को (अन्तर को) नहीं जाने तबतक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवों में स्वयं लीन होता हुआ, कर्मों का बन्ध करता है, यह गाथा द्वारा कहते हैं:–

रे आत्म आस्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानि ऐसे जीव की॥६९॥
जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम संचय होय है।
सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के॥७०॥

गाथार्थ :– [**जीवः**] जीव [**यावत्**] जबतक [**आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु**] आत्मा और आस्रव – इन दोनों के [**विशेषान्तरं**] अन्तर और भेद को [**न वेत्ति**] नहीं जानता [**तावत्**] तबतक [**सः**] वह [**अज्ञानी**] अज्ञानी रहता हुआ [**क्रोधादिषु**] क्रोधादिक आस्रवों में [**वर्तते**] प्रवर्तता है; [**क्रोधादिषु**] क्रोधादिक में [**वर्तमानस्य तस्य**] प्रवर्तमान उसके [**कर्मणः**] कर्म का [**संचयः**] संचय [**भवति**] होता है। [**खलु**] वास्तव में [**एवं**] इसप्रकार [**जीवस्य**] जीव के [**बंधः**] कर्मों का बन्ध [**सर्वज्ञदर्शिभिः**] सर्वज्ञदेवों ने [**भणितः**] कहा है।

टीका :– जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होने से उनके भेद को (पृथकत्व को) न देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञान में आत्मपने से प्रवर्तता है और वहाँ (ज्ञान में आत्मपने से) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रिया का स्वभावभूत होने से निषेध

योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः। एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति। एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसंबंधात्मा बन्धः सिध्येत्। स चानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम्॥६९-७०॥

नहीं किया गया है इसलिये, जानता है – जाननेरूप में परिणमित होता है; इसीप्रकार जबतक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी अपने अज्ञानभाव से, विशेष न जानता हुआ उनके भेद को नहीं देखता तबतक निःशंकतया क्रोधादि में अपनेपने से प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादि में अपनेपने से) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रिया का परभावभूत होने से निषेध किया गया है तथापि स्वभावभूत होने का उसे अध्यास होने से, क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है।

अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से; ज्ञानभवनमात्र[१] सहज उदासीन (ज्ञाताद्रष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्ति से भिन्न, जो क्रियमाणरूप[२] से अन्तरंग में उत्पन्न होते हुए प्रतिभासित होते हैं; ऐसे क्रोधादिक वे, (उस कर्ता के) कर्म हैं। इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञान से होनेवाली यह (आत्मा की) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। इसप्रकार अपने अज्ञान के कारण कर्ताकर्मभाव से क्रोधादि में प्रवर्तमान इस आत्मा के, क्रोधादि की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भाव से ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है। इसप्रकार जीव और पुद्गल का, परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है ऐसा सम्बन्धरूप बन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहपना होने से जिसमें से इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है ऐसा वह बन्ध, कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त है।

भावार्थ :– यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है उसीप्रकार जबतक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है; ज्ञान में और क्रोधादि में भेद नहीं जानता तबतक उसके कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है। और अनादि अज्ञान से तो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है, कर्ताकर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है और उस बन्ध के निमित्त से अज्ञान है; इसप्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिए उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता।

इसप्रकार जबतक आत्मा क्रोधादि कर्म का कर्ता होकर परिणमित होता है तबतक कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है और तबतक कर्म का बन्ध होता है ॥६९-७०॥

---

१. भवन = होना वह; परिणमना वह; परिणमन। २. क्रियमाणरूप से = किया जाता वह – उसरूप से।

समूहपीठिका – अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररंगभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृङ्गारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दंडकान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यन्तं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका। अथवा **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादि गाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पंचास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं संक्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका। प्रथमतस्तावत् **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथाद्वयमज्ञानिजीवमुख्यत्वेन, गाथाचतुष्टयं संज्ञानिजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावत्कालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति–

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषांतरं भेदज्ञानं शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः। **अण्णाणी ताव दु सो** तावत्कालपर्यन्तमज्ञानी बहिरात्मा भवति स जीवः। अज्ञानी सन् किं करोति ? **कोहादिसु वट्टदे जीवो** यथा ज्ञानमहम् इत्यभेदेन वर्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूति-लक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधोऽहमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति। अथ **कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य जीवस्य। किं फलं भवति ? **कम्मस्स संचओ होदि** परमात्मप्रच्छादककर्मणः संचय आस्रव आगमनं भवति। **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** तैल-म्रक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसंबंधेन मलबंधवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणः स्वशुद्धात्मावाप्ति-स्वरूप मोक्षविलक्षणो बंधो भवति। जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः।

किंच – यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुञ्चति तस्माद्बन्धो भवति। बंधात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः। एवमज्ञानिजीव-स्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्॥६९-७०॥

समूहपीठिका – अब पूर्वोक्त जीवाधिकार की रंगभूमि में यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से कर्तृकर्मभाव रहित जीव और अजीव ही हैं, तथापि व्यवहारनय से (वही जीव और अजीव) कर्ता और कर्म के वेश में शृंगार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं। इसप्रकार दण्डकों को छोड़कर अठहत्तर गाथा पर्यन्त नव स्थलों से व्याख्यान करते हैं। इसप्रकार पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका रूप से तृतीय अधिकार में समूह पीठिका हुई। अथवा **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादि तीन गाथाओं से पुण्य-पापादि रूप सात पदार्थ, जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम से उत्पन्न हुए हैं। वे शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीवस्वरूप नहीं हैं। इसप्रकार का व्याख्यान पञ्चास्तिकाय प्राभृत ग्रन्थ में जो पहले संक्षेप से किया गया है, उन्हीं पुण्य-पापादि सात पदार्थों का यहाँ स्पष्टीकरण करने के लिए पीठिका रूप समुदाय से कथन रूप तात्पर्य कहा जाता है, इसप्रकार द्वितीय पातनिका हुई। पहले **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि गाथा से आरम्भ करके पाठक्रम से छह गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। वहाँ दो गाथाएँ अज्ञानी जीव की मुख्यता से और चार गाथाएँ सम्यग्ज्ञानी जीव की मुख्यता से कहते हैं – इसप्रकार प्रथम स्थल में सामूहिक पीठिका है। वह इसप्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यह कहते हैं कि जबतक जीव क्रोधादि आस्रव और शुद्धात्मा का भेदविज्ञान नहीं जानता, तबतक अज्ञानी रहता है।

कदास्या: कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत् –

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मन: आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बन्धस्तस्य॥७१॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभाव:। तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादि:। अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि जबतक जीव शुद्धात्मा और क्रोधादि आस्रव दोनों के स्वरूप का भेदविज्ञान या विशेष भेद नहीं जानता **अण्णाणी ताव दु सो** तबतक वह अज्ञानी बहिरात्मा रहता है। वह जीव अज्ञानी होता हुआ क्या करता है ? **कोहादिसु वट्टदे जीवो** जिसप्रकार 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा अभेद रूप से वर्तता है, उसीप्रकार क्रोधादि आस्रव रहित निर्मल आत्मानुभूति लक्षण वाले निज शुद्धात्म स्वभाव से भिन्नरूप क्रोधादि भावों में भी 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अभेदरूप से वर्तता है, परिणमता है।

अब **कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादि स्वरूप परमात्मा से भिन्न क्रोधादि में प्रवर्तन करने वाले उस अज्ञानी को क्या फल होता है ? **कम्मस्स संचओ होदि** परमात्मस्वरूप को आच्छादित करनेवाले कर्मों का संचय अथवा आस्रव -आगमन होता है। **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** जैसे तेल के मालिश करने पर धूल चिपक जाती है, वैसे ही (आत्मा में कर्मों का) आस्रव होने पर मलादि-तैल के सम्बन्ध से मैल बन्ध के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध लक्षण वाला, निज शुद्धात्मा की प्राप्ति स्वरूप मोक्ष से विलक्षण (विपरीत) बन्ध होता है। जीव के साथ इस प्रकार का बन्ध होना निश्चय से सर्वदर्शी सर्वज्ञ देवों ने कहा है।

विशेष यह है कि जबतक क्रोधादि आस्रवों से भिन्न शुद्धात्मा के स्वरूप को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से नहीं जानता है तबतक अज्ञानी होता है, अज्ञानी होने से अज्ञान से उत्पन्न कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता, उससे बन्ध होता है, बन्ध से संसार में परिभ्रमण होता है – ऐसा अभिप्राय है। इसप्रकार अज्ञानी जीव के स्वरूप कथन रूप से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥६९-७०॥

....

अब प्रश्न करता है कि इस कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:–

ये जीव ज्यों ही आस्रवों का, त्यों हि अपने आत्म का।
जाने विशेषांतर, तब हि, बन्धन नहीं उसको कहा॥७१॥

गाथार्थ :– [**तथा एव यदा**] इसीप्रकार जब [**अनेन जीवेन**] यह जीव [**आत्मन:**] आत्मा का [**च**] और [**आस्रवाणां**] आस्रवों का [**विशेषांतरं**] अन्तर और भेद [**ज्ञातं भवति**] जानता है [**तदा तु**] तब [**तस्य**] उसे [**बन्ध: न**] बन्ध नहीं होता।

न तथा क्रोधादिरपि यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं, यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि। इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम्। इत्येवमात्मात्मास्रव-योर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोऽपि निवर्तते। तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिध्येत्॥७१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति –

जइया यदा श्रीधर्मलब्धिकाले **इमेण जीवेण** अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन **अप्पणो आसवाण य तहेव णाणं होदि विसेसंतरं तु** यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणां च ज्ञातं भवति विशेषांतरं भेदज्ञानम्। **तइया** तदा काले सम्यग्ज्ञानी भवति। सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति ? अहं कर्ता भावक्रोधादिरूपमंतरंगं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं मुःाति। ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्विकल्पसमाधौ सति **ण बंधो** न बंधो भवति **से** तस्य जीवस्येति॥७१॥

टीका :– इस जगत में वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है और 'स्व' का भवन (होना) वह स्व-भाव है (अर्थात् अपना जो होना – परिणमना सो स्वभाव है);इसलिये निश्चय से ज्ञान का होना – परिणमना सो आत्मा है और क्रोधादि का होना – परिणमना सो क्रोधादि है। तथा ज्ञान का जो होना – परिणमना है सो क्रोधादि का भी होना – परिणमना नहीं है, क्योंकि ज्ञान के होते (परिणमने के) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है उसीप्रकार क्रोधादि भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते और क्रोधादि का जो होना – परिणमना वह ज्ञान का भी होना – परिणमना नहीं है, क्योंकि क्रोधादि के होने के (परिणमने के) समय जैसे क्रोधादि होते हुए मालूम पड़ते हैं वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इसप्रकार क्रोधादि और आत्मा के निश्चय से एकवस्तुत्व नहीं है। इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का विशेष (अन्तर) देखने से जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है तब इस आत्मा के अनादि होने पर भी अज्ञान से उत्पन्न हुई ऐसी (पर में) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति निवृत्त होती है; उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से होता हुआ पौद्गलिक द्रव्यकर्म का बन्ध भी निवृत्त होता है। ऐसा होने पर, ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

भावार्थ :– क्रोधादि और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुऐं हैं; न तो ज्ञान में क्रोधादि है और न क्रोधादि में ज्ञान है, ऐसा उनका भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूप का अज्ञान नाश होता है और अज्ञान के नाश हो जाने से कर्म का बन्ध भी नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है॥७१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब किस काल में इसके कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति होती है ? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं –

जइया जब श्री धर्मलब्धि के (शुद्धात्मानुभूति) के काल में **इमेण जीवेण** इस स्वानुभवगोचर जीव के द्वारा **अप्पणो आसवाण य तहेव णाणं होदि विसेसंतरं तु** शुद्धात्मा तथा काम-क्रोधादि आस्रवों का विशेष अन्तर अथवा भेदज्ञान जान लिया जाता है। **तइया** उस समय वह सम्यग्ज्ञानी होता है। सम्यग्ज्ञानी

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत् –

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीदभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।७२।।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दु:खस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीव: ।।७२।।

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचय: खल्वास्रवा:, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मल-चिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यंतं शुचिरेव। जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावा: खल्वास्रवा:, भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव। आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दु:खस्य कारणानि खल्वास्रवा:, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दु:खस्याकारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्त-मानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धे:। तत: क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलि-

---

होता हुआ वह क्या करता है ? 'मैं कर्ता हूँ तथा भाव-क्रोधादि रूप अन्तरंग परिणाम मेरे कर्म हैं' ऐसी अज्ञान से उत्पन्न कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को वह छोड़ देता है तथा कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से निवृत्ति होने पर, निर्विकल्प समाधि होने पर **ण बंधो से** उस जीव को बन्ध नहीं होता है।।७१।।

....

अब पूछता है कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध कैसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं:–

अशुचिपना, विपरीतता ये आस्रवों का जानके।
अरु दु:खकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे।।७२।।

गाथार्थ :– [**आस्रवाणाम्**] आस्रवों की [**अशुचित्वं च**] अशुचिता और [**विपरीतभावं च**] विपरीतता तथा [**दु:खस्य कारणानि इति**] वे दु:ख के कारण हैं ऐसा [**ज्ञात्वा**] जानकर [**जीव:**] जीव [**तत: निवृत्तिं**] उनसे निवृत्ति [**करोति**] करता है।

टीका :– जल में सेवाल (काई) है सो मल या मैल है, उस सेवाल की भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभव में आते हैं; इसलिये वे अशुचि हैं – अपवित्र हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्र स्वभावरूप से ज्ञायक है; इसलिये अत्यन्त शुचि ही है – पवित्र ही है – उज्ज्वल ही है। आस्रवों के जड़स्वभावत्व होने से वे दूसरे के द्वारा जानने योग्य हैं (क्योंकि जो जड़ हो वह अपने को तथा पर को नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है); इसलिये वे चैतन्य से अन्य स्वभाववाले हैं और भगवान आत्मा तो, अपने को सदा विज्ञानघन-स्वभावपना होने से, स्वयं ही चेतक (ज्ञाता) है (स्व को और पर को जानता है) इसलिये वह चैतन्य से अनन्य स्वभाववाला ही है (अर्थात् चैतन्य से अन्य स्वभाववाला नहीं है)। आस्रव आकुलता के उत्पन्न करनेवाले हैं; इसलिये दु:ख के कारण हैं और भगवान आत्मा तो सदा ही निराकुलता स्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण न होने से, दु:ख का अकारण ही है (अर्थात् दु:ख का कारण नहीं)। इसप्रकार विशेष (अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा,

कस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत्। किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम्? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः ॥७२॥

आत्मा और आस्रवों के भेद को जानता है उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है; क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है उसे आत्मा और आस्रवों के पारमार्थिक (यथार्थ) भेदविज्ञान की सिद्धि ही नहीं हुई। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्ति के साथ जो अविनाभावी है ऐसे ज्ञानमात्र से ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्म के बन्ध का निरोध होता है।

और, जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदविज्ञान है सो अज्ञान है या ज्ञान ? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि ज्ञान है तो वह आस्रवों में प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त है ? यदि आस्रवों में प्रवृत्त होता है तो भी आत्मा और आस्रवों के अभेदज्ञान से उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि आस्रवों से निवृत्त है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा ? (सिद्ध हुआ ही कहलायेगा।) ऐसा सिद्ध होने से अज्ञान का अंश ऐसे क्रियानय का खण्डन हुआ। और यदि आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान के अंश ऐसे (एकान्त) ज्ञाननय का भी खण्डन हुआ।

भावार्थ :– आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है। इसप्रकार लक्षणभेद से दोनों को भिन्न जानकर आस्रवों से आत्मा निवृत्त होता है और उसे कर्म का बन्ध नहीं होता। आत्मा और आस्रवों का भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवों से निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, किन्तु अज्ञान ही है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता, किन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिये उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी ? उसका समाधान – सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है, क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वक के आस्रवों से निवृत्त हुआ है। उसे प्रकृतियों का जो आस्रव तथा बन्ध होता है, वह अभिप्राय पूर्वक नहीं है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है; इसलिये जबतक उसके चारित्रमोह का उदय है तबतक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बन्ध होता है, उसका स्वामित्व उसको नहीं है। अभिप्राय में तो वह आस्रव-बन्ध से सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है। इसलिये वह ज्ञानी ही है।

जो यह कहा है कि ज्ञानी को बन्ध नहीं होता उसका कारण इसप्रकार है – मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसार का कारण है वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है। अविरति आदि से जो बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभाववाला है, दीर्घ संसार का कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया। अथवा तो ऐसा कारण है कि ज्ञान बन्ध का कारण नहीं। जबतक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था तबतक

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः॥४७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति – क्रोधाद्यास्रवाणां सम्बन्धि कालुष्यरूपमशुचित्वं, जड़त्वरूपं विपरीतभावं, व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखण्डकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंत-सुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानंतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः। इति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः। किंच – यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिरोधसिद्धिः। यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः॥७२॥

वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्व के जाने के बाद अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है। उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है, इसलिये ज्ञानी के बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्ध का कारण है, वह तो बन्ध की पंक्ति में है, ज्ञान की पंक्ति में नहीं। इस अर्थ का समर्थनरूप कथन आगे गाथाओं में आयेगा॥७२॥

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[परपरिणतिम् उज्झत्]** परपरिणति को छोड़ता हुआ, **[भेदवादान् खण्डयत्]** भेद के कथनों को तोड़ता हुआ, **[इदम् अखण्डम् उच्चण्डम् ज्ञानम्]** यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान **[उच्चैः उदितम्]** प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है। **[ननु]** अहो ! **[इह]** ऐसे ज्ञान में **[कर्तृकर्मप्रवृत्तेः]** (परद्रव्य के) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का **[कथम् अवकाशः]** अवकाश कैसे हो सकता है ? **[वा]** तथा **[पौद्गलः कर्मबन्धः]** पौद्गलिक कर्मबन्ध भी **[कथं भवति]** कैसे हो सकता है ? (कदापि नहीं हो सकता।)

(ज्ञेयों के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से ज्ञान में जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभव में आया; इसलिये ज्ञान को 'अखण्ड' विशेषण दिया है। मतिज्ञानादि जो अनेक भेद कहे जाते थे, उन्हें दूर करता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है; इसलिये 'भेद के कथनों को तोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता था, उस परणति को छोड़ता हुआ उदय को प्राप्त हुआ है, इसलिए 'परपरिणति को छोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है; इसलिये 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।)

भावार्थ :– कर्मबन्ध तो अज्ञान से हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति से था। अब जब भेदभाव को और

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत् –

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाण-दंसण-समग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि॥७३॥

अहमेक: खलु शुद्ध: निर्ममत: ज्ञानदर्शनसमग्र:।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्त: सर्वानेतान् क्षयं नयामि॥७३॥

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेक:,

---

परपरिणति को दूर करके एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ, तब भेदरूप कारक की प्रवृत्ति मिट गई; तब फिर अब बन्ध किसलिए होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥४७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब 'ज्ञानमात्र से बन्ध का निरोध कैसे होता है ?' ऐसा प्रश्न करने पर निराकरण प्रस्तुत करते हैं –

यह जीव क्रोधादि आस्रवों सम्बन्धी कलुषता को, अशुचिता को, जड़ता को, विपरीत भाव को, आकुलता लक्षणरूप दु:ख के कारणपने को जानकर, उसीप्रकार अपने आत्मा सम्बन्धी निर्मल आत्मानुभूतिरूप शुचिता को, सहजशुद्ध अखण्ड केवलज्ञानरूप ज्ञातृत्व को तथा अनाकुलत्व लक्षणरूप अनन्तसुख को जानकर; तत्पश्चात् स्वसंवेदनज्ञान के अनन्तर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की एकाग्र परणतिरूप परमसामायिक में स्थिर होकर क्रोधादि आस्रवों की निवृत्ति करता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है। यहाँ सांख्यादिमत का प्रवेश नहीं है अर्थात् यहाँ सांख्यादिमत की भाँति निश्चयाभासी (आत्मानुभूति रहित ज्ञान) की बात नहीं है। विशेष यह है कि जो आत्मा और आस्रव सम्बन्धी भेदज्ञान है, वह भेदज्ञान रागादि आस्रवों से निवृत्त करता है या नहीं ? यदि कहोगे कि निवृत्त करता है तो उस भेदज्ञान में पानक (ठंडाई आदि पेय पदार्थ) की तरह अभेदनय से वीतराग चारित्र एवं वीतराग सम्यक्त्व होता ही है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान से बन्ध के निरोध होने की सिद्धि होती है और यदि वह भेदविज्ञान रागादि से निवृत्ति को प्राप्त नहीं होता है तो वह सम्यग्ज्ञान ही नहीं है – ऐसा भावार्थ है ॥७२॥

....

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधि से आस्रवों से निवृत्त होता है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ॥७३॥

गाथार्थ :– ज्ञानी विचार करता है कि [**खलु**] निश्चय से [**अहम्**] मैं [**एक:**] एक हूँ, [**शुद्ध:**] शुद्ध हूँ, [**निर्ममत:**] ममतारहित हूँ, [**ज्ञानदर्शनसमग्र:**] ज्ञान-दर्शन से पूर्ण हूँ; [**तस्मिन् स्थित:**] उस स्वभाव में रहता हुआ, [**तच्चित:**] उसमें (उस चैतन्य-अनुभव में) लीन होता हुआ (मैं) [**एतान्**] इन [**सर्वान्**] क्रोधादि सर्व आस्रवों को [**क्षयं**] क्षय को [**नयामि**] प्राप्त कराता हूँ।

सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः, पुद्गलस्वामिकस्यक्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः, चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां-सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः, गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि। तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिल-परद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्त-पोतपात्रः समुद्रावर्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघन-भूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्तते।।७३।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्मा क्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्त्तते इति चेत् –

अहं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं। **एक्को** अनाद्यनंतटंकोत्कीर्णज्ञायकैक-स्वभावत्वादेकः। **खलु** स्फुटं। **सुद्धो** कर्तृकर्मकरणसंप्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीयविकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धः। **णिम्ममओ** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावात् ममत्वरहितः। **णाणदंसणसमग्गो** प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्रः परिपूर्णः। एवं गुणविशिष्टपदार्थविशेषोऽस्मि भवामि। **तम्हि ठिदो** तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः। **तच्चित्तो** तच्चित्तः सहजानन्दैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा। **सव्वे एदे खयं णेमि** सर्वानितान्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांस्तान् कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः।।७३।।

टीका :– मैं यह प्रत्यक्ष, अखण्ड, अनंत, चिन्मात्रज्योति आत्मा, अनादि-अनन्त, नित्यउदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभावत्व के कारण एक हूँ; (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपने से शुद्ध हूँ; पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है ऐसे जो क्रोधादिभावों का विश्वरूपत्व (अनेकरूपत्व) उसके स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होने से ममतारहित हूँ; चिन्मात्र ज्योति का (आत्मा का), वस्तुस्वभाव से ही सामान्य और विशेष से परिपूर्ण होने से, मैं ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ – ऐसा मैं आकाशादि द्रव्य की भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ। इसलिये अब मैं समस्त परद्रव्य प्रवृत्ति से निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभाव में निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्य के निमित्त से विशेषरूप चेतन में होती हुई चंचल कल्लोलों के निरोध से इसको ही (इस चैतन्यस्वरूप को ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होते हुए जो यह क्रोधादि भाव हैं उन सबका क्षय करता हूँ – ऐसा आत्मा में निश्चय करके, जिसने बहुत समय के पकड़े हुए जहाज को छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भँवर की भाँति जिसने सर्व विकल्पों को शीघ्र ही वमन कर दिया है ऐसे, निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्मा का अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है।

भावार्थ :– शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया है कि 'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य के प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ।' जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूप में रहता हुआ उसी के अनुभवरूप हो तब क्रोधादि आस्रव क्षय को प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्र के आवर्त्त (भँवर) ने बहुत समय से जहाज को पकड़ रखा हो और जब वह आवर्त्त शमन हो जाता है, तब वह उस जहाज को छोड़ देता है; इसीप्रकार आत्मा विकल्पों के आवर्त्त को शमन करता हुआ आस्रवों को छोड़ देता है।।७३।।

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत् –

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफल त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।।७४।।

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः।।७४।।

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव। अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव। शीतदाहज्वरावेशवत्

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब किसप्रकार की भावना से यह आत्मा क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त होता है, ऐसा पूछे जाने पर कहते हैं –

अहं निश्चयनय से मैं स्वसंवेदनज्ञान प्रत्यक्ष शुद्धचिन्मात्र ज्योति हूँ। **एक्को** अनादि अनन्त, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव वाला होने से एक हूँ। **खलु** स्पष्टरूप से **सुद्धो** कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण षट्कारक रूप विकल्पचक्र से रहित होने के कारण शुद्ध हूँ। **णिम्ममओ** निर्मोह स्वरूप शुद्धात्मतत्त्व से विलक्षण ऐसे मोह के उदय से उत्पन्न क्रोधादि कषाय समूह के स्वामीपने के अभाव के कारण ममत्व रहित हूँ। और **णाणदंसणसमग्गो** प्रत्यक्ष प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान-दर्शन से समग्र परिपूर्ण हूँ। इसप्रकार मैं गुण विशिष्ट पदार्थ विशेष हूँ। **तम्हि ठिदो** उस उपरोक्त लक्षण वाले शुद्धात्मस्वरूप में मैं स्थित हूँ। **तच्चित्तो** उस सहजानन्द एक लक्षणवाले सुखरूप समरसी भाव से तन्मय होकर **सव्वे एदे खयं णेमि** इन निरास्रव परमार्थ पदार्थ से भिन्न उन सभी काम-क्रोधादि भावों के विनाश को प्राप्त होता हूँ अर्थात् आस्रवभावों का नाश करता हूँ– ऐसा अर्थ है।।७३।।

....

अब प्रश्न करता है कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल (एककाल) कैसे है? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं।
ये दुःख, दुःखफल जानके इनसे निवर्तन जीव करे।।७४।।

गाथार्थ :– [**एते**] यह आस्रव [**जीवनिबद्धाः**] जीव के साथ निबद्ध हैं, [**अध्रुवाः**] अध्रुव हैं, [**अनित्याः**] अनित्य हैं [**तथा च**] तथा [**अशरणाः**] अशरण हैं, [**च**] और वे [**दुःखानि**] दुःखरूप हैं, [**दुःखफलाः**] दुःख ही जिनका फल है – ऐसे हैं [**इति ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर ज्ञानी [**तेभ्यः**] उनसे [**निवर्तते**] निवृत्त होता है।

टीका :– वृक्ष और लाख की भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होने से आस्रव जीव के साथ बँधे हुए हैं, किन्तु अविरुद्धस्वभावत्व का अभाव होने से वे जीव ही नहीं हैं। (लाख के निमित्त से पीपल आदि वृक्ष का नाश होता है। लाख घातक है और वृक्ष वध्य (घात होने योग्य)। इसप्रकार लाख और

क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाण-दारुणस्मरसंस्कारवत्त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव। नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद्दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्‌गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दुःखफलाः खल्वास्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्‌गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव। इति विकल्पानंतरमेव शिथिलतकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञान-घनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम्।।७४।।

वृक्ष का स्वभाव एक दूसरे से विरुद्ध है, इसलिये लाख वृक्ष के साथ मात्र बँधी हुई ही है; लाख स्वयं वृक्ष नहीं है। इसीप्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है। इसप्रकार विरुद्ध स्वभाव होने से आस्रव स्वयं जीव नहीं है।) आस्रव मृगी के वेग की भाँति बढ़ते-घटते होने से अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है। आस्रव शीतदाहज्वर के आवेश की भाँति अनुक्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है ऐसा जीव ही नित्य है। जैसे कामसेवन से वीर्य छूट जाता है उसी क्षण दारुण काम का संस्कार नष्ट हो जाता है, किसी से नहीं रोका जा सकता, इसीप्रकार कर्मोदय छूट जाता है उसी क्षण आस्रव नाश को प्राप्त हो जाता है, रोका नहीं जा सकता, इसलिये वे (आस्रव) अशरण हैं; स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है। आस्रव सदा आकुल स्वभाववाले होने से दुःखरूप हैं सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है। आस्रव आगामी काल में आकुलता को उत्पन्न करनेवाले ऐसे पुद्‌गलपरिणाम के हेतु होने से दुःखफलरूप (दुःख जिसका फल है ऐसे) है; जीव ही समस्त पुद्‌गलपरिणाम का अहेतु होने से अदुःखफल (दुःखफलरूप नहीं) है। – ऐसा आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूह की रचना खण्डित हो गई है ऐसी दिशा के विस्तार की भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूप से विकास को प्राप्त चित्शक्ति से ज्यों-ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, त्यों-त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है; उतना विज्ञानघन स्वभाव होता है जितना सम्यक् प्रकार से आस्रवों से निवृत्त होता है और उतना आस्रवों से निवृत्त होता है जितना सम्यक् प्रकार से विज्ञानघनस्वभाव होता है। इसप्रकार ज्ञान और आस्रवों की निवृत्ति को समकालपना है।

भावार्थ :– आस्रवों का और आत्मा का जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही, जिस-जिस प्रकार से जितने-जितने अंश में आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है, उस-उस प्रकार से उतने-उतने अंश में वह आस्रवों से निवृत्त होता है। जब संपूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है तब समस्त आस्रवों से निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञान का और आस्रवनिवृत्ति का एक काल है।

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥४८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति –

एदे जीवणिबद्धा एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा संबद्धा औपाधिकाः। न पुनः निरुपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावाः। **अधुव** विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणिकाः। ध्रुवः शुद्धजीव एव। **अणिच्चा** शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छन्तीत्यनित्याः विनश्वराः। नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव। **तहा असरणा य** तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातुं धर्तुं रक्षितुं न शक्यंत इत्यशरणाः। सशरणो निर्विकारबोधस्वरूपः

यह आस्रवों को दूर होने का और संवर होने का वर्णन गुणस्थानों की परिपाटीरूप से तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रों में है, वहाँ से जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है इसलिये सामान्यतया कहा है।

'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' इसका क्या अर्थ है ? **उसका उत्तर –** 'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञान में स्थित होता जाता है।' जबतक मिथ्यात्व हो तबतक ज्ञान को (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्व के जाने के बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों-ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर – घन होता जाता है त्यों-त्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है और ज्यों-ज्यों आस्रवों की निवृत्ति होती जाती है त्यों-त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर – घन होता जाता है अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है॥७४॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप तथा आगे के कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इति एवं] इसप्रकार पूर्वकथित विधान से, **[सम्प्रति]** अधुना (तत्काल) ही **[परद्रव्यात्]** परद्रव्य से **[परां निवृत्तिं विरचय्य]** उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके, **[विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः]** विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपने को निःशंकतया आस्तिक्यभाव से स्थिर करता हुआ), **[अज्ञानोत्थित-कर्तृकर्मकलनात् क्लेशात्]** अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेशों से **[निवृत्तः]** निवृत्त हुआ, **[स्वयं ज्ञानीभूतः]** स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, **[जगतः साक्षी]** जगत का साक्षी (ज्ञातादृष्टा), **[पुराणः पुमान्]** पुराण पुरुष (आत्मा) **[इतः चकास्ति]** अब यहाँ से प्रकाशमान होता है॥४८॥

शुद्धजीव एव। **दुक्खा** आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दु:खानि भवन्ति कामक्रोधाद्यास्रवा:। अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूपशुद्धजीव एव। **दुक्खफला त्ति य** आगामिनारकादिदु:खफलकारणत्वाद् दु:खफला: खल्वास्रवा:। वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव। **णादूण णिवत्तदे तेहिं** इति भेदविज्ञानानंतरमेव इत्थंभूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान् ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्ते: समानकालत्वं सिद्धमिति॥ ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठाकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वप्रतिज्ञा कृता भवद्भि: व्याख्यानं पुन: अज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृतं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं कथं घटत इति ? तन्न। जीवाजीवौ यदि नित्यमेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति। यदि च एकांतेन परिणामिनौ तन्मयौ भवतस्तदैक एव पदार्थ:। किंतु कथंचित्परिणामिनौ भवत:। कथंचित्कोऽर्थ: ? यद्यपि जीव: शुद्धनिश्चयनयेन स्वरूपं न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति। यद्यपि रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूपं न त्यजति स्फटिकवत्। तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति। कदाचित्पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। तदा काले द्रव्यभावरूपाणां पुण्यपापास्रवबंधपदार्थानां कर्तृत्वं घटते। तत्र ये भावरूपा: पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा ये द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति। य: पुन: सम्यग्दृष्टिरंतरात्मा संज्ञानी जीव: स मुख्यवृत्त्या

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जिसकाल में स्वसंवेदन ज्ञान है उस ही काल में रागादि आस्रवभावों से निवृत्ति है – इसप्रकार दोनों का समकालपना दिखाते हैं–

एदे जीवणिबद्धा ये क्रोधादि आस्रव भाव जीव के साथ निबद्ध हैं, सम्बद्ध हैं, औपाधिक भाव हैं। वे निरुपाधि स्फटिक की तरह शुद्ध जीवस्वभाव नहीं हैं। **अधुव** बिजली की चमक की तरह अध्रुव हैं, अति ही क्षणिक हैं। शुद्धजीव ही ध्रुव है। **अणिच्चा** शीतोष्ण ज्वर के वेग के समान वे क्रोधादि आस्रवभाव अध्रुवता की अपेक्षा क्रम से स्थिर रहने वाले नहीं हैं। इसप्रकार अनित्य एवं विनश्वर हैं। नित्य तो चित्-चमत्कारमात्र शुद्धजीव ही है। **तहा असरणा य** तथा उसीप्रकार से उन क्रोधादि आस्रव भावों को तीव्र कामोद्रेक के समान रोक पाना, रक्षित करना असम्भव है इसलिए अशरण हैं। निर्विकार ज्ञानस्वरूप शुद्धजीव ही शरणभूत है। **दुक्खा** वे काम क्रोधादि आस्रवभाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले होने के कारण दुखरूप हैं। अनाकुल लक्षण वाला होने से शुद्धजीव ही पारमार्थिक सुख स्वरूप है। **दुक्खफल त्ति य** आगामी नारकादि दुखरूप फल के कारण होने से वास्तव में आस्रव भाव दु:खफल रूप हैं। वास्तविक सुखफल स्वरूपतो शुद्धजीव ही है। **णादूण णिवत्तदे तेहिं** इसप्रकार भेदविज्ञान के तुरन्त बाद ही इसप्रकार के स्वरूपवाले मिथ्यात्व रागादि आस्रव भावों को जानकर आस्रवों से मेघपटलरहित सूर्य की तरह जिससमय निवृत्त होता है, उसी समय ही जीव सम्यग्ज्ञानी होता है, इसप्रकार भेदज्ञान के साथ ही आस्रवों से निवृत्ति का समान काल सिद्ध होता है।

यहाँ (इस प्रकरण के) पूर्व में आपने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान किया जाता है और फिर यहाँ व्याख्यान में सम्यग्ज्ञानी और अज्ञानी जीव का स्वरूप मुख्यता से कहा गया है तो यहाँ पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान कैसे घटित होता है ?(अर्थात् घटित नहीं होता।) यह कहना सही नहीं है। जीव और अजीव यदि सदा ही एकांत रूप से अपरिणामी हों, तब तो जीव और अजीव दो ही पदार्थ घटित हों और यदि एकान्त से परिणामी हों तथा तन्मय होकर

निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्त्ता भवति। कदाचित्पुन: निर्विकल्पसमाधि-परिणामाभावे सति विषयकषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थं वा बहिर्बुद्ध्या (हेयबुद्ध्या) ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षा-निदानबंधरहित: सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्ध शुद्धात्माराधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाहु:। यथा कश्चिद्देवदत्त: स्वकीयदेशांतरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्त्तां पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहित: सन् करोति। एवमज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गल-संयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते, नास्ति विरोध:। एवं संज्ञानिजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम्। इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमांतराधिकारे व्याख्यात:।।७४।।

रहते हों तो (जीव-अजीव) एक ही पदार्थ सिद्ध हो; किन्तु (जीव-अजीव दोनों) कथंचित् परिणामी हैं।

कथंचित् का क्या अर्थ है ? यद्यपि जीव शुद्धनिश्चय नय से अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, तथापि व्यवहार से कर्मोदय के वश रागादि उपाधि परिणामों को ग्रहण करता है; यद्यपि रागादि उपाधि परिणामों को ग्रहण करता है, तथापि स्फटिक की भाँति अपना स्वरूप नहीं छोड़ता है। वहाँ कथंचित् परिणामी होने से अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव विषय-कषाय रूप अशुभोपयोग परिणाम को करता है और कदाचित् पुन: चिदानन्द एक स्वभाव रूप शुद्धात्मा को छोड़कर भोग-आकांक्षा निदान स्वरूप शुभोपयोग परिणाम को करता है। उस काल में उसके द्रव्य-भावरूप पुण्यास्रव तथा पापास्रव रूप बन्धपदार्थों का कर्तापना घटित होता है। वहाँ जो भावरूप पुण्य-पाप आदि हैं वे जीव के परिणाम हैं और जो द्रव्यरूप हैं वे अजीव के परिणाम हैं।

और फिर जो सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञानी जीव है वह मुख्यरूप से निश्चयरत्नत्रय लक्षण रूप शुद्धोपयोग के बल से निश्चयचारित्र का अविनाभावी वीतरागसम्यग्दृष्टि होकर निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम परिणति को करता है, उस समय उस परिणाम से द्रव्य-भाव रूप संवर, निर्जरा, मोक्ष पदार्थों का कर्ता होता है। और कभी फिर निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम का अभाव होने पर विषय-कषाय से बचने के लिए अथवा शुद्धात्मा की भावना को साधने के लिए अथवा हेयबुद्धि से ख्याति, पूजा, लाभ, भोगाकांक्षा रूप निदानबन्ध से रहित होकर शुद्धात्म लक्षण वाले अरहन्त, सिद्ध और शुद्धात्मा के आराधक-प्रतिपादक-साधक आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के गुणस्मरण आदि रूप शुभोपयोग परिणामों को करता है।

इस प्रसंग में दृष्टान्त कहते हैं। जिसप्रकार कोई देवदत्त नामक पुरुष अपने देश से देशान्तर में स्थित अपनी स्त्री के निमित्त उसके समीप से आये हुए पुरुषों का सम्मान करता है, उसकी बात पूछता है, उस स्त्री के निमित्त उसकी आवकार करता है, उससे स्नेह करता है और उसे दानादि देता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि भी स्वयं शुद्धात्मा की आराधना में रत न होने पर शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि के निमित्त शुद्धात्मा के आराधक तथा प्रतिपादक आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के गुणस्मरण तथा दानादिक करता है।

इसप्रकार अज्ञानी तथा सम्यग्ज्ञानी जीव के स्वरूप का व्याख्यान किए जाने पर पुण्य-पापादि सात

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत् –

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।७५।।

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम्।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी।।७५।।

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थान-स्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गल-योरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वा-त्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा, किं तु परमार्थतः पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्र-

---

पदार्थों का, जो जीव एवं पुद्गल के संयोग रूप परिणामों से निष्पन्न हैं, उनका कथन भी पीठिका व्याख्यान में घटित होता है, इसमें विरोध नहीं है। इसप्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं। इसप्रकार पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिका रूप अधिकार में छह गाथाओं द्वारा प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।।७४।।

....

अब पूछते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया यह कैसे पहिचाना जाता है ? उसका चिह्न (लक्षण) कहिये। उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानि है।।७५।।

गाथार्थ :– [**तथा एव यः**] इसीप्रकार जो [**आत्मा**] आत्मा [**एनम्**] इस [**कर्मणः परिणामं च**] कर्म के परिणाम को [**च**] तथा [**नोकर्मणः परिणामं**] नोकर्म के परिणाम को [**न करोति**] नहीं करता किन्तु [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**भवति**] है।

टीका :– निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूप से अंतरंग में उत्पन्न होता हुआ जो कर्म का परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूप से बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकर्म का परिणाम; वह सब ही पुद्गलपरिणाम हैं। परमार्थ से, जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है उसीप्रकार पुद्गलपरिणाम के और पुद्गल के ही व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ताकर्मपना है। पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है इसलिये पुद्गलपरिणाम का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापक से स्वयं व्याप्त होने के कारण कर्म है। इसलिये पुद्गलद्रव्य के द्वारा कर्ता होकर कर्मरूप से किया जानेवाला जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम है उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणाम को और आत्मा को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव के

व्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्। न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात् ॥७५॥

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अभाव के कारण कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने से, परमार्थ से कर्त्ता नहीं है, परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को (आत्मा के) कर्मरूप से करता हुआ अपने आत्मा को जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्म से) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। (पुद्गलपरिणाम का ज्ञान आत्मा का कर्म किसप्रकार है? सो समझाते हैं –) परमार्थ से पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को और पुद्गल को घट और कुम्हार की भाँति व्याप्यव्यापकभाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है और जैसे घड़े और मिट्टी के व्याप्यव्यापक का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्मा के व्याप्यव्यापकभाव का सद्भाव होने से कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होने से आत्मपरिणाम का अर्थात् पुद्गलपरिणाम के ज्ञान का कर्ता है और पुद्गलपरिणाम का ज्ञान उस व्यापक से स्वयं व्याप्य होने से कर्म है। और इसप्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणाम का ज्ञान करता है इसलिये) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाता का व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्मा के ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध का व्यवहार मात्र होने पर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है ऐसा ज्ञान ही ज्ञाता का व्याप्य है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।)॥७५॥

अब इसी अर्थ का समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्**] व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, [**अतदात्मनि अपि न एव**] अतत्स्वरूप में नहीं ही होती। और [**व्याप्यव्यापकभावसम्भवम् ऋते**] व्याप्यव्यापकभाव के संभव के बिना [**कर्तृकर्मस्थितिः का**] कर्ताकर्म की स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती। [**इति उद्दाम-विवेक-घस्मर-महोभारेण**] ऐसे प्रबल विवेकरूप और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञानप्रकाश के भार से [**तमः भिन्दन्**] अज्ञानांधकार को भेदता हुआ [**सः एषः पुमान्**] यह आत्मा [**ज्ञानीभूय**] ज्ञानस्वरूप होकर, [**तदा**] उस समय [**कर्तृत्वशून्यः लसितः**] कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।

भावार्थ :– जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होता है सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्थाविशेष वह (उस व्यापक का) व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही है। जो द्रव्य का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है वही पर्याय का आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है।

समूहपीठिका – अत: परं यथाक्रमणैकादशगाथापर्यन्तं पुनरपि संज्ञानि जीवस्य विशेषव्याख्यानं करोति। तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीव: कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवोपादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेन जानाति य: स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण **'कम्मस्स य परिणाम'** इत्यादि प्रथमगाथा। तत: परं पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथ कर्मत्वं स्वपरिणामत्वं सुखदु:खादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण **'ण वि परिणमदि'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं पुद्गलोऽपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण **'ण वि परिणमदि'** इत्यादि सूत्रमेकम्। अत: परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेऽपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया **'जीवपरिणाम'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण **'णिच्छयणयस्स'** इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च व्यवहारेण जीव: पुद्गलकर्मणां कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण **'ववहारस्स दु'** इत्यादि सूत्रमेकम्। एवं ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति –

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा जो जाणदि यथा मृत्तिकाकलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मण: नोकर्मणश्च परिणामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं न करोत्यात्मेति यो जानाति। **सो हवदि णाणी** स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति। इति ज्ञानीभूत जीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता॥७५॥

ऐसा होने से द्रव्य पर्याय में व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्य के द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप में ही (अभिन्न सत्तावाले पदार्थ में ही) होती है; अतत्स्वरूप में (जिनकी सत्ता तत्त्वत: भिन्न-भिन्न है ऐसे पदार्थों में) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्य-व्यापकभाव होता है वहीं कर्ताकर्मभाव होता है; व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्ताकर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है वह पुद्गल और आत्मा के कर्ताकर्मभाव नहीं है – ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ताकर्मभाव से रहित होता है और ज्ञातादृष्टा – जगत का साक्षीभूत होता है॥४९॥

समूहपीठिका – इसके बाद क्रमश: ग्यारह गाथा पर्यन्त फिर से सम्यग्ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करते हैं। वहाँ ग्यारह गाथाओं में जिसप्रकार उपादान रूप से मिट्टी कलश का कर्त्ता है, उसीप्रकार निश्चय से जीव कर्म-नोकर्म का कर्त्ता नहीं है, अपितु जो उनको जानता हुआ स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा को जानता है वह ज्ञानी है – इसप्रकार कथन रूप से **(कम्मस्स य परिणामं)** इत्यादि प्रथम गाथा है। उसके बाद पुण्य-पापादि परिणामों को जीव व्यवहार से करता है परन्तु निश्चय से नहीं करता है – इसप्रकार की मुख्यता से एक सूत्र है। इसके आगे (द्रव्य) कर्मपने को या स्वपरिणामरूप भावकर्म को और सुख-दुखादि कर्मफल को आत्मा जानता हुआ भी उदयागत परद्रव्य को नहीं करता। इसप्रकार प्रतिपादन द्वारा **(ण वि परिणमदि)** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। तदनन्तर पुद्गल भी वर्णादि स्वपरिणाम का ही कर्त्ता है, ज्ञानादि जीव परिणाम का कर्ता नहीं है। इस कथनरूप से **(ण वि परिणमदि)** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। इसके बाद जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त कर्तृत्व होने पर भी परस्पर उपादान कर्तृत्व नहीं है – इसप्रकार के कथन की मुख्यता

अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति –

ता.अतिरिक्त गाथा ६ – कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी॥६॥

कर्ता आत्मा भणित: न च कर्ता केन स उपायेन। धर्मादीन् परिणामान् य: जानाति स भवति ज्ञानी। **कत्ता आदा भणिदो** कर्तात्मा भणित:। **ण य कत्ता सो** न च कर्ता भवति स आत्मा। **केण उवाएण** केनाप्युपायेन नयविभागेन। केन नयविभागेनेति चेत् ? निश्चयेन अकर्ता व्यवहारेण कर्तेति। कान् ? **धम्मादी परिणामे** पुण्यपापादि-कर्मजनितोपाधिपरिणामान्। **जो जाणदि सो हवदि णाणी** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति। इति निश्चयव्यवहारनयाभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता॥६॥

से **(जीवपरिणाम)** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् निश्चय से जीव के अपने ही परिणामों के साथ कर्ता-कर्मभाव तथा भोक्ता-भोग्यभाव होता है – इसप्रकार कथन रूप से **(णिच्छय णयस्स)** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। फिर व्यवहार से जीव, पुद्गल कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है – इसप्रकार कथन रूप से **(ववहारस्स दु)** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। इसप्रकार ज्ञानी जीव के विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं द्वारा द्वितीय स्थल में समूह पीठिका पूर्ण हुई । उसका विशेष –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मा ज्ञानी हो गया – यह कैसे जाना जाता है ? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हैं –

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा जो जाणदि जिसप्रकार मिट्टी कलश को उपादान रूप से करती है, उसीप्रकार कर्म तथा नोकर्म के परिणाम को पुद्गल द्वारा उपादान कारण रूप से किया जाता होने से आत्मा नहीं करता है – इसप्रकार जो जानता है **सो हवदि णाणी** वह निश्चय से शुद्धात्मा को परमसमाधि के बल से भाता हुआ (अनुभव करता हुआ) ज्ञानी होता है। इसप्रकार ज्ञानी हुए जीव के लक्षणकथन रूप से गाथा पूर्ण हुई ॥७५॥

अतिरिक्त गाथा ६ का हिन्दी – अब पुण्य-पापादि परिणामों को आत्मा व्यवहार से कर्ता है, ऐसा कहते हैं –

गाथार्थ – (केण सो उवाएण) किसी एक उपाय से (व्यवहारनय से) **(आदा)** आत्मा **(धम्मादी परिणामे)** पुण्यादि परिणामों का **(कत्ता)** कर्ता है **(य)** और **(केण सो उवाएण)** किसी एक उपाय से (निश्चयनय से) **(आदा)** आत्मा **(धम्मादी परिणामे)** पुण्यादि परिणामों का **(कत्ता ण)** कर्ता नहीं है, **(भणिदो)** ऐसा कहा गया है इसप्रकार **(जो)** जो **(जाणदि)** जानता है, **(सो)** वह **(णाणी)** ज्ञानी **(हवदि)** होता है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – किसी उपाय से आत्मा कर्ता कहा गया है और किसी उपाय से कर्ता नहीं कहा गया है, धर्मादि परिणामों को जो जानता है वह ज्ञानी होता है **कत्ता आदा भणिदो** आत्मा कर्ता कहा गया है, **ण य कत्ता सो** और वह आत्मा कर्ता नहीं कहा गया है। **केण उवायेण** किसी उपाय से अथवा नय

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व-पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेगविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥७६॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७६॥

विभाग से। किस नय विभाग से कहा गया है ? निश्चय से अकर्ता तथा व्यवहार से कर्ता कहा गया है। किनका कर्त्ता कहा है? **धम्मादी परिणामे** पुण्य-पापादि कर्मजनित उपाधिरूप परिणामों का कर्त्ता कहा है। **जो जाणदि सो हवदि णाणी** जो ख्याति, पूजा, लाभ आदि समस्त रागादि विकल्प की उपाधि से रहित समाधि में स्थित होकर (स्वानुभव में ठहरकर पुण्य-पापादि परिणामों को कर्मजनित) जानता है, वह ज्ञानी होता है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार नयों से अकर्तापने तथा कर्तापने के कथन रूप से गाथा पूर्ण हुई॥६॥

....

अब यह प्रश्न होता है कि पुद्गलकर्म को जाननेवाले जीव के पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

बहुभाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करें।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ॥७६॥

गाथार्थ :– [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अनकेविधम्**] अनेक प्रकार के [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म को [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निश्चय से [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्य की पर्याय में [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता [**न उत्पद्यते**] और उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका :– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्यलक्षणवाला पुद्गल का परिणामस्वरूप कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गलपरिणाम को करता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले पुद्गलपरिणाम को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले)

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति निरूपयति–

पुग्गलकम्मं अणेयविहं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्गल- कर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं। **जाणंतो वि हु** विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं। सः कः कर्ता ? **णाणी** सहजानन्दैक-स्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी। **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** तत्पूर्वोक्तं परद्रव्यपर्यायरूपं कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृह्णाति न च तदाकारेणोत्पद्यते। कस्मादिति चेत् ? मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धाभावात्। तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति॥७६॥

परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ :– जीव पुद्गलकर्म को जानता है तथापि उसे पुद्गल के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

सामान्यतया कर्ता का कर्म तीन प्रकार का कहा जाता है – निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्ता के द्वारा, जो पहले न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्ता का निर्वर्त्य कर्म है। कर्ता के द्वारा, पदार्थ में विकार – परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये वह कर्ता का विकार्य कर्म है। कर्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ता का प्राप्य कर्म है।

जीव पुद्गलकर्म को नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि चेतन जड़ को कैसे उत्पन्न कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का निर्वर्त्य कर्म नहीं है। जीव पुद्गल में विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता, क्योंकि चेतन जड़ को कैसे परिणमित कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का विकार्य कर्म भी नहीं है। परमार्थ से जीव पुद्गल को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिक को कैसे ग्रहण कर सकता है ? इसलिये पुद्गलकर्म जीव का प्राप्य कर्म भी नहीं है। इसप्रकार पुद्गलकर्म जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है; इसीलिये ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्म को जानता है; इसलिये पुद्गलकर्म को जानने वाले ऐसे जीव का पर के साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? नहीं ही हो सकता॥७६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ऐसा निरूपण करते हैं – पुद्गल कर्म को जानते हुए जीव का पुद्गल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

पुग्गलकम्मं अणेयविहं कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य के द्वारा उपादान कारण रूप से किये जाने वाले पुद्गलकर्म, मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के हैं। **जाणंतो वि हु णाणी** उनको

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व-पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेगविहं ।।७७।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ।।७७।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।।७७।।

विशिष्ट भेदज्ञान से स्पष्ट जानते हुए भी, वह कर्ता कौन है ? सहजानन्द एक स्वभाव रूप निजशुद्धात्मा को और रागादि आस्रवभावों को जाननेवाला भेदविज्ञानी आत्मा **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** वह पूर्वोक्त परद्रव्य पर्यायरूप कर्म के रूप में, निश्चय से मिट्टी से किये गये कलश की तरह, परिणमन नहीं करता, तादात्म्य रूप होकर ग्रहण नहीं करता और उसके आकाररूप उत्पन्न नहीं होता। किस कारण से परिणमन नहीं करता ग्रहण नहीं करता तथा उत्पन्न नहीं होता ? मिट्टी और कलश की तरह उन पुद्गल कर्मों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव होने से (ग्रहण नहीं करता...), अतः यह सिद्ध होता है कि पुद्गल कर्म को जानते हुए जीव का पुद्गल कर्म के साथ निश्चय से कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है ।।७६।।

....

अब प्रश्न होता है कि अपने परिणाम को जाननेवाले ऐसे जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करें।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ।।७७।।

गाथार्थ :– [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अनेकविधम्**] अनेक प्रकार के [**स्वकपरिणामम्**] अपने परिणाम को [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] निश्चय से [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्य की पर्याय में [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता और [**न उत्पद्यते**] उस-रूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका :– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्यलक्षणवाला आत्मा का परिणामस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस आत्मपरिणाम को

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स्वपरिणामं संकल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसंबंधो नास्तीति दर्शयति –

सगपरिणामं अणेयविहं क्षायोपशमिकं संकल्पविकल्परूपं स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं स्वपरिणाम-मनेकविधं। **णाणी जाणंतो वि हु** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीव: स्वपरमात्मनो विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं। **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागतं पुद्गलकर्मपर्यायरूपं मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मात् ? मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणाभावादिति। एतावता किमुक्तं भवति? स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागतं कर्मं जानतोऽपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥७७॥

करता है। इसप्रकार आत्मा के द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणाम को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है; उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी अपने परिणाम को जानता है तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ :– जैसा ७६वीं गाथा में कहा है तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ **पुद्गलकर्म को जानता हुआ ज्ञानी** ऐसा कहा था उसके स्थान पर यहाँ **'अपने परिणाम को जानता हुआ ज्ञानी'** ऐसा कहा – इतना अन्तर है ॥७७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब संकल्प-विकल्प रूप स्वपरिणाम को जानते हुए जीव के उस परिणाम के निमित्त से उदय में आनेवाले कर्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, यह दिखाते हैं –

सगपरिणामं अणेयविहं क्षायोपशमिक संकल्प-विकल्परूप अपने आत्मा के उपादान कारणरूप से किये जानेवाले स्वपरिणाम अनेक प्रकार के हैं। **णाणी जाणंतो वि हु** निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव स्व और पर के विशिष्ट भेदज्ञान से स्पष्ट जानते हुए भी **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** उसके पूर्वोक्त स्वकीय परिणाम के निमित्तभूत उदय में आये हुए पुद्गलकर्म पर्यायरूप से, मिट्टी से किये गये कलश की तरह, शुद्धनिश्चयनय से परिणमित नहीं होता, तन्मयरूप से ग्रहण नहीं करता तथा उस पर्यायरूप से उत्पन्न भी नहीं होता है। किसकारण से परिणमित या उत्पन्न नहीं होता ? मिट्टी और कलश की तरह आत्मा का पुद्गल कर्म के साथ परस्पर उपादान-उपादेय रूप कारणपने का अभाव है। इससे क्या सिद्ध होता है ? अपने क्षायोपशमिक परिणाम के निमित्त से उदय में आये हुए कर्म को जानता हुआ होने पर भी जीव का उसके साथ निश्चय से कर्ता-कर्म भाव नहीं है॥७७॥

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व-पज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गल-कम्मफलमणंतं ।।७८।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ।।७८।।

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गल- द्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिका-कलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।।७८।।

अब प्रश्न होता है कि पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाले ऐसे जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं :–

पुद्गलकर्म का फल अनन्ता, ज्ञानिजन जाना करे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ।।७८।।

गाथार्थ :– [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पुद्गलकर्मफलम्**] पुद्गलकर्म का फल [**अनंतम्**] जो कि अनन्त है उसे [**जानन् अपि**] जानता हुआ भी [**खलु**] परमार्थ से [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्य की पर्यायरूप [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता और [**न उत्पद्यते**] उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

टीका :– प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा व्याप्यलक्षणवाला सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अंत में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुखदुःखादि रूप पुद्गलकर्मफल को करता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जानेवाले सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफल को ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) ऐसे परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्म के फल को जानता है तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति –

पोग्गलकम्मफलमणंतं उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदु:खरूपशक्त्यपेक्षयानंतकर्मफलं। **णाणी जाणंतो वि हु** वीतरागशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुटं। **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** वर्तमानसुखदु:खरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मादिति चेत् ? मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति। किंच विशेष: – यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमति न गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते तर्हि किं करोति ज्ञानी जीव: ? मिथ्यात्वविषयकषाय-ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकलशवच्चिदानन्दैक-स्वभावेन भरितावस्थं **शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थ:।** एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्।।७८।।

भावार्थ :– जैसा की ७६वीं गाथा में कहा गया था, तदुनसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्म को जाननेवाला ज्ञानी' कहा था और यहाँ उसके बदले में **'पुद्गलकर्म के फल को जाननेवाला ज्ञानी'** ऐसा कहा है – इतना विशेष है।।७८।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पुद्गल कर्म के फल को जानते हुए जीव का पुद्गल कर्मफल के निमित्त से द्रव्यकर्म के साथ निश्चय से कर्ता कर्मभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं –

पोग्गलकम्मफलमणंतं उदयागत द्रव्यकर्म द्वारा उपादान कारणरूप किये जाने वाले सुखदु:ख रूप शक्ति अपेक्षा से अनन्तप्रकार के कर्मफल को **णाणी जाणंतो वि हु** वीतराग शुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न सुखामृत रस से तृप्त भेदज्ञानी निर्मल विवेक – भेदज्ञान से स्पष्ट जानते हुए भी **ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** वर्तमान सुख-दु:खरूप शक्ति अपेक्षा से निमित्तभूत उदयागत पर-पर्यायरूप पुद्गलकर्म के रूप में मिट्टी से किये गए कलश की तरह, शुद्धनय से परिणमित नहीं होता, तन्मय होकर ग्रहण नहीं करता और पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता है। किसकारण से ? मिट्टी के कलशरूप परिणमन की तरह उसका द्रव्यकर्म के साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध का अभाव है।

कुछ विशेष कहते हैं – यदि ज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यकर्मरूप से परिणमित नहीं होता है, कर्म को ग्रहण नहीं करता है, कर्म के आकार रूप से उत्पन्न नहीं होता है तो ज्ञानी जीव क्या करता है? मिथ्यात्व, विषय-कषाय, ख्याति, पूजा, लाभ, भोगों की आकांक्षा रूप निदानबन्ध, शल्यादि विभाव परिणाम के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विकल्प से रहित, जल से पूर्ण भरे हुए कलश की तरह, चिदानन्द एक स्वभाव से भरितावस्था वाले, शुद्धात्मा का निर्विकल्प समाधि में ध्यान करता है – ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार आत्मा निश्चय से द्रव्यकर्मादि परद्रव्यरूप से परिणमन नहीं करता इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।।७८।।

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत् –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्व-पज्जाए।
पोग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सगेहिं भावेहिं ।।७९।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ।।७९।।

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत्पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, किं तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ।।७९।।

अब प्रश्न होता है कि जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नहीं जाननवाले ऐसे पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? इसका उत्तर कहते हैं–

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी, निजभाव से ही परिणमे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ।।७९।।

गाथार्थ :– [**तथा**] इसप्रकार [**पुद्गलद्रव्यम् अपि**] पुद्गलद्रव्य भी [**परद्रव्यपर्याये**] परद्रव्य की पर्यायरूप [**न अपि परिणमति**] परिणमित नहीं होता, [**न गृह्णाति**] उसे ग्रहण नहीं करता और [**न उत्पद्यते**] उसरूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह [**स्वकैः भावैः**] अपने ही भावों से (भावरूप से) [**परिणमति**] परिणमन करता है।

टीका :– जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, घड़े को ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है; उसीप्रकार जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप परिणमित नहीं होता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता; परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे जो व्याप्यलक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म (कर्ता के कार्य) में (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसी को ग्रहण करता है, उसीरूप परिणमित होता है और उसीरूप उत्पन्न होता है। इसलिये जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे नहीं करता होने से, उस पुद्गलद्रव्य को जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंत: कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्य: ।।५०।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ जीवपरिणामं, स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं च जड़स्वभावत्वादजानत: पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति –

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए यथा जीवो निश्चयेनानंतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायरूपेणोत्पद्यते। **पुग्गलदव्वं पि तहा** तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यकलशरूपेणेव चिदानन्दैकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन गृह्णाति न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते। तर्हि किं करोति ? **परिणमदि सएहिं भावेहिं** परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावै: परिणामैर्गुणैर्धर्मैरिति। कस्मादिति चेत् ? मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावादिति। एवं पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता।।७९।।

भावार्थ :– कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जो कि जड़ है और किसी को नहीं जानता, उसका जीव के साथ कर्ताकर्मपना होगा; परन्तु ऐसा भी नहीं है। पुद्गलद्रव्य जीव को उत्पन्न नहीं कर सकता, परिणमित नहीं कर सकता तथा ग्रहण नहीं कर सकता; इसलिये उसका जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। परमार्थ से किसी भी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।।७९।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**ज्ञानी**] ज्ञानी तो [**इमां स्वपरपरिणतिं**] अपनी और पर की परिणति को [**जानन् अपि**] जानता हुआ प्रवर्तता है [**च**] और [**पुद्गल: अपि अजानन्**] पुद्गलद्रव्य अपनी तथा पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है; [**नित्यम् अत्यन्तभेदात्**] इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्नद्रव्य होने से), [**अन्त:**] वे दोनों परस्पर अंतरंग में [**व्याप्तृव्याप्यत्वम्**] व्याप्य-व्यापकभाव को [**कलयितुम् असहौ**] प्राप्त होने में असमर्थ हैं। [**अनयो: कर्तृकर्मभ्रममति:**] जीव-पुद्गल के कर्ताकर्मभाव है ऐसी भ्रमबुद्धि [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण [**तावत् भाति**] वहाँ तक भासित होती है कि [**यावत्**] जहाँ तक [**विज्ञानार्चि:**] (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति [**क्रकचवत् अदयं**] करवत की भाँति निर्दयता से (उग्रता से) [**सद्य: भेदम् उत्पाद्य**] जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न करके [**न चकास्ति**] प्रकाशित नहीं होती।

भावार्थ :– भेदज्ञान होने के बाद, जीव और पुद्गल में कर्ताकर्मभाव है ऐसी बुद्धि नहीं रहती; क्योंकि जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक अज्ञान से कर्ताकर्मभाव की बुद्धि होती है।।५०।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जीव-परिणाम को, स्वपरिणाम को और स्वपरिणाम के फल को जड़स्वभावी

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योऽन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह –

जीवपरिणाम-हेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्म-णिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥८०॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण-णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥८१॥
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सगेण भावेण।
पोग्गलकम्म-कदाणं ण दु कत्ता सव्व-भावाणं॥८२॥

होने से न जानते हुए पुद्गल का निश्चय से जीव के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं–

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए जिसप्रकार जीव निश्चय से अनन्तसुखादि स्वरूप को छोड़कर पुद्गलद्रव्यरूप से परिणमित नहीं होता, उसे तन्मयपने से ग्रहण नहीं करता और उस पर्यायरूप से उत्पन्न नहीं होता। **पुग्गलदव्वं पि तहा** उसीतरह पुद्गलद्रव्य भी स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, मिट्टी द्रव्य से किये गए कलश की तरह, चिदानन्द एक लक्षणरूप जीवस्वरूप से न परिणमित होता है, न जीवस्वरूप को तन्मय रूप से ग्रहण करता है और न ही जीवपर्याय रूप से उत्पन्न होता है। तो फिर क्या करता है ? **परिणमदि सएहिं भावेहिं** अपने वर्णादि स्वभाव से, परिणाम स्वभाव से, गुणधर्म स्वभाव से परिणमित होता है। किस कारण से परिणमित होता है ? क्योंकि मिट्टी और कलश के तादात्म्य सम्बन्ध की तरह पुद्गल का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्य भी जीव के साथ परिणमन नहीं करता है, (उसको ग्रहण नहीं करता है और उसरूप से उत्पन्न नहीं होता है) इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से एक गाथा पूर्ण हुई॥७९॥

....

यद्यपि जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम के अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्रता है तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है ऐसा अब कहते हैं :–

जीवभाव हेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
पुद्गलकरम के निमित से, यह जीव भी त्यों परिणमे॥८०॥

जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे।
अन्योन्य के हि निमित्त से, परिणाम दोनों के बने॥८१॥

इस हेतु से आत्मा हुआ, कर्ता स्वयं निजभाव ही।
पुद्गलकरमकृत सर्व भावों का कभी कर्ता नहीं॥८२॥

गाथार्थ :– [**पुद्गलाः**] पुद्गल [**जीवपरिणामहेतुं**] जीव के परिणाम के निमित्त से [**कर्मत्वं**] कर्मरूप में [**परिणमंति**] परिणमित होते हैं, [**तथा एव**] तथा [**जीवः अपि**] जीव भी [**पुद्गलकर्मनिमित्तं**]

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुदगला: परिणमंति।
पुद्‌गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीव: कर्म तथैव जीवगुणान्।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन।
पुद्‌गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम्॥८२॥

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्‌गला: कर्मत्वेन परिणमंति पुद्‌गलकर्मनिमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमतीति जीवपुद्‌गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपिजीवपुद्‌गलयो: परस्परं व्याप्यव्यापकभावा-भावाज्जीवस्य पुद्‌गलपरिणामानां पुद्‌गलकर्मणोऽपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभाव-मात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणाम:। तत: कारणान्मृत्तिकया कलशस्येवस्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीव: स्वभावस्य कर्ता कदाचित्स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्‌गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चय:॥८०-८२॥

पुद्‌गलकर्म के निमित्त से **[परिणमति]** परिणमन करता है। **[जीव:]** जीव **[कर्मगुणान्]** कर्म के गुणों को **[न अपि करोति]** नहीं करता **[तथा एव]** उसी तरह **[कर्म]** कर्म **[जीवगुणान्]** जीव के गुणों को नहीं करता; **[तु]** परन्तु **[अन्योन्यनिमित्तेन]** परस्पर निमित्त से **[द्वयो: अपि]** दोनों के **[परिणामं]** परिणाम **[जानीहि]** जानो। **[एतेन कारणेन तु]** इस कारण से **[आत्मा]** आत्मा **[स्वकेन]** अपने ही **[भावेन]** भाव से **[कर्ता]** कर्ता (कहा जाता है) **[तु]** परन्तु **[पुद्‌गलकर्मकृतानां]** पुद्‌गलकर्म से किये गये **[सर्वभावानाम्]** समस्त भावों का **[कर्ता न]** कर्ता नहीं है।

टीका :– 'जीवपरिणाम को निमित्त करके पुद्‌गल, कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्‌गलकर्म को निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं' – इसप्रकार जीव के परिणाम के और पुद्‌गल के परिणाम के परस्पर हेतुत्व का उल्लेख होने पर भी जीव और पुद्‌गल में परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव को पुद्‌गलपरिणामों के साथ और पुद्‌गलकर्म को जीवपरिणामों के साथ कर्ता-कर्मपने की असिद्धि होने से, मात्र निमित्त-नैमित्तिकभाव का निषेध न होने से, परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनों के परिणाम (होते) हैं। इसलिये, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है (अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनती है) उसीप्रकार अपने भाव से अपना भाव किया जाता है इसलिये, जीव अपने भाव का कर्ता कदाचित् होता है; परन्तु जैसे मिट्टी से कपड़ा नहीं किया जा सकता, उसीप्रकार अपने भाव से परभाव का किया जाना अशक्य है, इसलिये (जीव) पुद्‌गलभावों का कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता – यह निश्चय है।

भावार्थ :– जीव के परिणाम के और पुद्‌गल के परिणाम के परस्पर मात्र निमित्त-नैमित्तिकपना है, तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए उनका कर्ता तो जीव को अज्ञान दशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव परभाव का कर्ता कदापि नहीं है॥८०-८२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यद्यपि जीवपुद्‌गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावं इत्यावेदयति–

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति यथा कुंभकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसंबंधिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्‌गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति। **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** यथैव च घटनिमित्तेन एवं घटं करोमीति कुंभकार: परिणमति तथैवोदयागतपुद्‌गलकर्महेतुं लब्ध्वा जीवोऽपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमान: सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति। अथ **ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्‌गलकर्मगुणान्न करोति। **कम्मं तहेव जीवगुणे** कर्म च तथैवानंतज्ञानादिजीवगुणान्न करोति। **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि** यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुंभकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्‌गलयोरिति। अथ **एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूति-लक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानंतसुखादिशुद्धभावानां कर्ता। तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्त्ता भवत्यात्मा। कथं ? यथा मृत्तिकाकलशस्येति। **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** पुद्‌गलद्रव्यकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्‌गलकर्मपर्यायाणामिति। एवं जीवपुद्‌गलपरस्पर-निमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥८०-८२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यद्यपि जीव और पुद्‌गल के परिणाम में परस्पर निमित्तमात्रपना है, तथापि निश्चयनय से दोनों का परस्पर में कर्ता-कर्म भाव नहीं है, ऐसा कहते हैं –

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति जैसे कुम्भकार के परिणाम को निमित्तमात्र करके मिट्टी घड़े रूप में परिणमन करती है, उसीप्रकार जीवसम्बन्धी मिथ्यात्व रागादि परिणामों का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप से परिणमन करता है। **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** और जैसे घट को निमित्त मात्र करके ''यह घट मैं करता हूँ'' इसप्रकार कुम्भकार परिणमन करता है, उसीप्रकार उदयागत पुद्‌गलकर्म का निमित्त पाकर जीव भी निर्विकार चित्‌चमत्कारमात्र परिणति को प्राप्त न करता हुआ मिथ्यात्व रागादि विभाव रूप परिणमन करता है।

अब **ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्पर निमित्त से परिणति होती है, तथापि निश्चयनय से जीव पुद्‌गल के वर्णादि गुणों को नहीं करता है। **कम्मं तहेव जीवगुणे** उसी तरह पुद्‌गलकर्म जीव के अनन्तज्ञानादि गुणों को नहीं करता है। **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि** यद्यपि उपादान रूप से नहीं करता है तो भी परस्पर निमित्त से घट और कुम्भकार के परिणाम की तरह जीव और पुद्‌गल दोनों का परिणाम होता है – ऐसा जानो। अब **एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** इसकारण से पूर्व में दो गाथाओं के व्याख्यान द्वारा बताये गये निर्मल आत्मानुभूति लक्षणवाले परिणाम से अथवा शुद्ध उपादान कारणरूप से अव्यावाध, अनन्तसुखादि शुद्धभावों का यह आत्मा कर्ता है। उससे भिन्न अशुद्ध उपादान कारण रूप से रागादि अशुद्ध भावों का आत्मा कर्ता होता है। कैसे ? जैसे मिट्टी कलश की कर्ता होती है। **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** किन्तु पुद्‌गलकर्म द्वारा किये गये जो ज्ञानावरणादि पुद्‌गल कर्मपर्यायरूप भाव हैं, उन सबका कर्ता आत्मा नहीं है। इसप्रकार जीव और पुद्‌गल के परस्पर निमित्तमात्र कारण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥८०-८२॥

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च –

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम्॥८३॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्। यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्। तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीव को अपने ही परिणामों के साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव (भोक्ताभोग्यपना) है ऐसा अब कहते हैं :–

आत्मा करे निज को हि ये, मंतव्य निश्चय नय हि का।
अरु भोगता निज को हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना॥८३॥

गाथार्थ :– [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनय का [**एवम्**] ऐसा मत है कि [**आत्मा**] आत्मा [**आत्मानम् एव हि**] अपने को ही [**करोति**] करता है [**तु पुनः**] और फिर [**आत्मा**] आत्मा [**तं च एव आत्मानम्**] अपने को ही [**वेदयते**] भोगता है ऐसा हे शिष्य ! तू [**जानीहि**] जान।

टीका :– जैसे उत्तरंग[1] और निस्तरंग[2] अवस्थाओं को हवा का चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्र को व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है इसलिये, समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपने को करता हुआ स्वयं एक को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता और फिर जैसे वही समुद्र, भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य होने से, अपने को उत्तरंग अथवा निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ स्वयं एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। इसीप्रकार संसार युक्त और निःसंसार अवस्थाओं को पुद्गलकर्म के विपाक का संभव (होना;) और असंभव (न होना) निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीव को व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से कर्ताकर्मपने की असिद्धि है इसलिये, जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसार युक्त अथवा निःसंसार अवस्था में आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर संसार युक्त अथवा संसार रहित ऐसा

---

१. उत्तरंग = जिसमें तरंगें उठती हैं ऐसा; तरंगवाला। २. निस्तरंग = जिसमें तरंगें विलय हो गई हैं ऐसा; बिना तरंगों का।

व्याप्य ससंसारं नि:संसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्। तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्संसारं नि:संसारं वात्मानमनुभवन्नात्मा-नमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु, मा पुनरन्यत्॥८३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तत एतदायाति जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति – **णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि** यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च। एवं यद्यपि द्रव्यकर्मोदयासद्भावसद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणत: केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकसुखदु:खाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति। अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति। न केवलं करोति **वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं** वेदयत्यनुभवति भुङ्क्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च। स क: कर्ता ? आत्मेति जानीहि। एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता॥८३॥

अपने को करता हुआ अपने को – एक को ही करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्य को करता हुआ प्रतिभासित न हो और फिर उसीप्रकार यही जीव, भाव्य-भावकभाव के अभाव के कारण परभाव का पर के द्वारा अनुभवन अशक्य है इसलिये, संसार सहित अथवा संसाररहित अपने को अनुभव करता हुआ अपने को – एक को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थ :– आत्मा के परद्रव्य – पुद्‌गलकर्म के निमित्त से संसार युक्त और संसार रहित अवस्था है। आत्मा उस अवस्थारूप से स्वयं ही परिणमित होता है, इसलिये वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है; पुद्‌गलकर्म का कर्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है॥८३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय नय से जीव का स्व-परिणामों के साथ ही कर्ता-कर्म भाव और भोक्ता-भोग्य भाव है। यही बतलाते हैं –

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि जिसप्रकार हवा निमित्त होती है तथापि निश्चयनय से समुद्र ही तरंगों को करता है, परिणमन करता है। इसप्रकार यद्यपि द्रव्यकर्म के उदय के असद्भाव तथा सद्भाव शुद्ध तथा अशुद्ध भावों के होने में निमित्त है, तथापि निश्चयनय से निर्विकार परम स्वसंवेदन ज्ञानपरिणत जीव केवलज्ञानादि शुद्धभावों को करता है तथा उसीप्रकार (अशुद्ध निश्चयनय से) अशुद्ध उपादान रूप से परिणत जीव ही सांसारिक सुख-दु:ख आदिरूप अशुद्धभावों को करता है। यहाँ परिणामों के परिणमन को ही कर्तृत्व जानना चाहिए, मात्र करता ही नहीं, अपितु **वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं** वेदन करता है, अनुभव करता है, भोक्ता है, परिणमन करता है। जैसे आत्मा स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूप शुद्ध उपादान से शुद्धात्मा को भोगता है, उसीप्रकार आत्मा अशुद्ध उपादान से अशुद्धात्मा को भोगता है। उसका कर्ता कौन है ? आत्मा है – ऐसा जानो। इसप्रकार निश्चय कर्तृत्व-भोक्तृत्व का व्याख्यान करनेवाली गाथा पूर्ण हुई॥८३॥

अथ व्यवहारं दर्शयति –

ववहारस्स दु आदा पोग्गलकम्मं करेदि णेगविहं।
तं चेव पुणो वेयदि[१] पोग्गलकम्मं अणेगविहं ।।८४।।

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम्।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ।।८४।।

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावक-भावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्तितावद्व्यवहारः। तथांत-र्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषय-सन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्य-ज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद्व्यवहारः ।।८४।।

अब व्यवहार बतलाते हैं –

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म मत-व्यवहार का।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नेकविधमय भोगता ।।८४।।

गाथार्थ :– [**व्यवहारस्य तु**] व्यवहारनय का मत है कि [**आत्मा**] आत्मा [**नैकविधम्**] अनेक प्रकार के [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म को [**करोति**] करता है [**पुनः च**] और [**तद् एव**] उसी [**अनेकविधम्**] अनेक प्रकार के [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म को [**वेदयते**] भोगता है।

टीका :– जैसे, भीतर व्याप्य-व्यापकभाव से मिट्टी घड़े को करती है और भाव्य-भावकभाव से मिट्टी ही घड़े को भोगती है तथापि बाह्य में, व्याप्य-व्यापकभाव से घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदि की क्रियारूप अपने) व्यापार को करता हुआ तथा घड़े के द्वारा किये गये पानी के उपयोग से उत्पन्न तृप्ति को (अपने तृप्तिभाव को) भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ – भोगता हुआ कुम्हार घड़े का कर्ता है और भोक्ता है – ऐसा लोगों का अनादि से रूढ़ व्यवहार है; उसीप्रकार भीतर व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलद्रव्य, कर्म को करता है और भाव्य-भावकभाव से पुद्गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है तथापि बाह्य में, व्याप्य-व्यापकभाव से अज्ञान के कारण पुद्गलकर्म के होने में अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामों को करता हुआ और पुद्गलकर्म के विपाक से उत्पन्न हुई विषयों की निकटता से दौड़ती हुई (उत्पन्न अपनी) सुखदुःखरूप परिणति को भाव्य-भावकभाव के द्वारा अनुभव करता हुआ – भोगता हुआ जीव पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है ऐसा अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार है।

१. पाठान्तर = तं चेव य वेदयदे

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ लोकव्यवहारं दर्शयति –

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं यथा लोके यद्यपि मृत्पिण्डः उपादानकारणं तथापि कुम्भकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुङ्क्त इति लोकानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः। तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्यमुपादानकारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्‌गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृति-भेदभिन्नं करोति। **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं** तथैव च तदेवोदयागतं पुद्‌गलकर्मानेकविधं इष्टानिष्ट-पंचेन्द्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयस्वशुद्धात्मोपलम्भसंजातसुखामृतरसास्वादरहिता-नामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः। एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता। इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभिर्द्वितीयांतराधिकारो व्याख्यातः॥८४॥

भावार्थ :– पुद्‌गलकर्म को परमार्थ से पुद्‌गलद्रव्य ही करता है; जीव तो पुद्‌गलकर्म की उत्पत्ति के अनुकूल अपने रागादिक परिणामों को करता है। और पुद्‌गलद्रव्य ही कर्म को भोगता है तथा जीव तो पुद्‌गलकर्म के निमित्त से होनेवाले अपने रागादिक परिणामों को भोगता है। परन्तु जीव और पुद्‌गल का ऐसा निमित्त-नैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानी को ऐसा भ्रम होता है कि जीव पुद्‌गलकर्म को करता है और भोगता है। अनादि अज्ञान के कारण ऐसा अनादिकाल से प्रसिद्ध व्यवहार है।

परमार्थ से जीव-पुद्‌गल की प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी, जबतक भेदज्ञान न हो तबतक बाहर से उनकी प्रवृत्ति एक-सी दिखाई देती है। अज्ञानी को जीव-पुद्‌गल का भेदज्ञान नहीं होता, इसलिये वह ऊपरी दृष्टि से जैसा दिखाई देता है वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्‌गलकर्म को करता है और भोगता है। श्री गुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीव का स्वरूप बताकर, अज्ञानी के इस प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं॥८४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब लोक व्यवहार को दिखाते हैं – **ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं** जिसप्रकार लोक में यद्यपि घड़े का उपादान कारण रूप से मिट्टी का पिण्ड घड़े को करता है और भोक्ता है, तथापि कुम्हार घट को करता है तथा उसके फल को अर्थात् जलधारण करना, मूल्य लेना आदि घट के फल को कुम्हार भोगता है, इस तरह अनादिकाल से लौकिकजनों का रूढ़ व्यवहार है। उसीप्रकार यद्यपि कर्मवर्गणायोग्य पुद्‌गल द्रव्य उपादान कारण रूप से कर्ता होकर अनेक प्रकार के मूलप्रकृति तथा उत्तरप्रकृति के भेदरूप पुद्‌गल कर्म को करता है, तथापि व्यवहारनय के कथनाभिप्राय से आत्मा अनेकविध मूल-उत्तरप्रकृति के भेदरूप पुद्‌गल कर्म को करता है। **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं** उसीप्रकार उन उदयागत अनेकप्रकार के पुद्‌गलकर्म को इष्ट-अनिष्ट पंचेन्द्रिय के विषय रूप से वेदन करता है, अनुभव करता है – ऐसा अनादिकाल से निर्विषय स्वशुद्धात्मा की उपलब्धि से प्राप्त होनेवाले सुखामृत के रसास्वाद से रहित अज्ञानी लोगों का रूढ़ व्यवहार है। इस तरह व्यवहार से सुख-दुःख के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के कथन की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई।

इसप्रकार ज्ञानी जीव का विशेष व्याख्यान करनेवाली ग्यारह गाथाओं द्वारा, द्वितीय अन्तराधिकार की व्याख्या हुई॥८४॥

अथैनं दूषयति –

जदि पोग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दो-किरिया-वदिरित्तो पसज्जदे सो[1] जिणावमदं ॥८५॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा।
द्विक्रियाव्यतिरिक्त: प्रसजति स जिनावमतम् ॥८५॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्न:। ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति। क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयो: परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमत: स्यात् ॥८५॥

अब इस व्यवहार को दूषण देते हैं :–

पुद्गलकरम जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे।
जिन को असंमत द्विक्रिया से, एकरूप आत्मा हुए ॥८५॥

गाथार्थ :– [**यदि**] यदि [**आत्मा**] आत्मा [**इदं**] इस [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म को [**करोति**] करे [**च**] और [**तद् एव**] उसी को [**वेदयते**] भोगे तो [**स:**] वह आत्मा [**द्विक्रियाव्यतिरिक्त:**] दो क्रियाओं से अभिन्न [**प्रसजति**] ठहरे – ऐसा प्रसंग आता है [**जिनावमतं**] जो कि जिनदेव को सम्मत नहीं है।

टीका :– पहले तो, जगत में जो क्रिया है सो सब ही परिणामस्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है (परिणाम ही है); परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (भिन्न-भिन्न दो वस्तु नहीं हैं)। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावान से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है। इसप्रकार, वस्तुस्थिति से ही (वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने से) क्रिया और कर्ता की अभिन्नता सदा ही प्रगट होने से, जैसे जीव व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्य-भावकभाव से उसी का अनुभव करता है – भोगता है; उसीप्रकार यदि व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से उसी को भोगे तो वह जीव, अपनी और पर की एकत्रित हुई दो क्रियाओं से अभिन्नता का प्रसंग आने पर स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जाने से, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है।

भावार्थ :– दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया को चेतन नहीं करता और चेतन की क्रिया को जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियायें करता हुआ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि दो द्रव्य की क्रियाओं को एक द्रव्य करता है ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है ॥८५॥

---

१. दोकिरियावदिरित्तो पसजदि सम्मं जिणावमदं

समुदायपातनिका – अत: परं प:ाविंशतिगाथापर्यन्तं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं करोति। तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते, तस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण **'जदि पुग्गलकम्ममिणं'** इत्यादि गाथाद्वयं भवति। तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये **'पुग्गलकम्मणिमित्तं'** इत्यादि गाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतंत्रम्। तदनंतरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया **'परमप्पाणं कुव्वदि'** इत्यादि द्वितीयषट्कम्। अत: परं तस्यैव द्विक्रियावादिन: पुनरपि विशेषव्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवन्ति। तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुख्यत्वेन **'ववहारस्स दु'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं निश्चयनयमुख्यतया **'जो पुग्गलदव्वाणं'** इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्। ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्वमुख्यत्वेन **'जीवं हि हेदुभूदे'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन पंचविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकांतेन सम्मतमप्येकांत-नयेन मन्यते। किं मन्यते? भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात्। तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति – **जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा** यदि चेत् पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा। **दोकिरियावादित्तं पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति। अथवा **दोकिरियावदिरित्तो पसज्जदे सो** तत्र पाठांतरे द्वाभ्यां चेतनाचेतन-क्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्न: प्रसजति प्राप्नोति स पुरुष:। **सम्मं जिणावमदं** तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसम्मतम्। यश्चेदं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ॥८५॥

समूहपीठिका – इसके बाद पच्चीस गाथापर्यन्त द्विक्रियावादी के निराकरण के रूप से कथन करते हैं। **वहाँ चेतन-अचेतन का एक उपादानरूप कर्तापना द्विक्रियावादीपना कहा जाता है।** उसका संक्षेप व्याख्यान रूप से **जदि पुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। उनका विवरण बारह गाथाओं में **पुग्गलकम्मणिमित्तं** इत्यादि गाथाक्रम से प्रथम छह स्वतंत्र गाथाएँ हैं। उसके बाद अज्ञानी एवं ज्ञानी जीव के कर्तापने-अकर्तापने की मुख्यता से **परमप्पाणं कुव्वदि** इत्यादि दूसरी छह गाथाएँ हैं।

फिर उसके बाद उन्हीं द्विक्रियावादियों का विशेष व्याख्यान करने के लिए उपसंहार रूप से ग्यारह गाथाएँ हैं। वहाँ ग्यारह गाथाओं में व्यवहार नय की मुख्यता से **ववहारस्स दु** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् निश्चय नय की मुख्यता से **जो पुग्गलदव्वाणं** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं और फिर द्रव्यकर्मों के उपचार कर्तृत्व की मुख्यता से **जीवं हि हेदुभूदे** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं, इसप्रकार समूह रूप से पच्चीस गाथाओं द्वारा तीसरे स्थल में समूह पीठिका है। उसका विवरण इसप्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जो पहले कहे गये कर्म के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के विषय में नयविभाग का कथन है, वह अनेकान्त की दृष्टि से सम्मत है। फिर भी जो एकान्तनय से मानते हैं। क्या मानते हैं? कि भावकर्म के समान निश्चय से आत्मा द्रव्यकर्मों को भी करता है, इसप्रकार चेतन-अचेतन के कार्यों का एक उपादान कर्ता मानना द्विक्रियावादीपना है। उन द्विक्रियावादियों के दोष को दिखाते हैं –

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा यदि आत्मा उपादान रूप से पुद्गलकर्मों के उदय को करता है तथा उसी को उपादान रूप से वेदन या अनुभव करता है। **दोकिरियावादित्तं पसजदि**

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत् –

जम्हा दु अत्तभावं पोग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो-किरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥८६॥

यत: किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यंते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांत:। मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणाम: क्रियमाण: प्रतिभातु। यथा किल कुलाल: कलशसंभवा-नुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभाति, न पुन: कलशकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकाया: कलशपरिणामं मृत्तिकाया अव्यतिरिक्तं मृत्तिकाया अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाण: प्रतिभाति। तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया

तब तो चेतन-अचेतन दोनों की क्रिया के उपादान कर्तृत्वरूप से द्विक्रियावादित्व का दोष प्राप्त होता है। अथवा **दो किरियाविदिरित्तो पसज्जदे सो** इस पाठान्तर की अपेक्षा चेतन तथा अचेतन दोनों की क्रिया से वह आत्मा अव्यतिरिक्त अर्थात् अभिन्न ठहरता है। **सम्मं जिणावमदं** किन्तु वह व्याख्यान जिनेन्द्र भगवन्तों को सम्यक्पने मान्य नहीं है। जो इसे (सम्यक्) मानता है, वह निजशुद्धात्मा की उपादेय रुचिरूप से निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र लक्षणवाले शुद्ध उपादान कारणरूप से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यक्त्व को प्राप्त न करता हुआ मिथ्यादृष्टि होता है॥८५॥

....

अब पुन: प्रश्न होता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे है ? उसका समाधान करते हैं :–

जीवभाव पुद्गलभाव – दोनों भाव को आत्मा करे।
इससे हि मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुए॥८६॥

गाथार्थ :– [**यस्मात् तु**] क्योंकि [**आत्मभावं**] आत्मा के भाव को [**च**] और [**पुद्गलभावं**] पुद्गल के भाव को – [**द्वौ अपि**] दोनों को [**कुर्वंति**] आत्मा करते हैं – ऐसा वे मानते हैं [**तेन तु**] इसलिये [**द्विक्रियावादिन:**] एक द्रव्य के दो क्रियाओं का होना माननेवाले [**मिथ्यादृष्टय:**] मिथ्यादृष्टि [**भवंति**] हैं।

टीका :– निश्चय से द्विक्रियावादी यह मानते हैं कि आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के परिणाम को स्वयं (आत्मा) करता है इसलिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा सिद्धान्त है। एक द्रव्य के द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों। जैसे कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादि की क्रियारूप) व्यापारपरिणाम को – जो कि अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित होता है; परन्तु घड़ा बनाने के अहंकार से भरा

क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ।।८६।।

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।५१।।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ।।५२।।

हुआ होने पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी के घट-परिणाम को – जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञान के कारण पुद्गलकर्मरूप परिणाम के अनुकूल अपने परिणाम को – जो कि अपने से अभिन्न है और अपने से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणाम के अनुरूप पुद्गल के परिणाम को – जो कि पुद्गल से अभिन्न है और पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया से किया जाता है, उसे करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थ :– आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गल के परिणाम को करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो; आत्मा की और पुद्गल की – दोनों की क्रिया एक आत्मा ही करता है ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। जड़-चेतन की एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्यों के पलट जाने से सबका लोप हो जायेगा – यह महादोष उत्पन्न होगा ।।८६।।

अब इसी अर्थ का समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यः परिणमति स कर्ता] जो परिणमित होता है सो कर्ता है। **[यः परिणामः भवेत् तत् कर्म]** (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है सो कर्म है **[तु]** और **[या परिणतिः सा क्रिया]** जो परिणति है सो क्रिया है; **[त्रयम् अपि]** यह तीनों, **[वस्तुतया भिन्नं न]** वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

भावार्थ :– द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी का अभेद है और पर्यायदृष्टि से भेद है। भेददृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया यह तीन कहे गये हैं; किन्तु यहाँ अभेददृष्टि से परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया – तीनों ही एक द्रव्य की अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं।।५१।।

पुनः कहते हैं कि :–

श्लोकार्थ :– [एकः परिणमति सदा] वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, **[एकस्य सदा परिणामः जायते]** एक के ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की

(आर्या)

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा।।५३।।

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात्।।५४।।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः।।५५।।

ही होती है) और [**एकस्य परिणतिः स्यात्**] एक की ही परिणति – क्रिया होती है; [**यतः**] क्योंकि [**अनेकम् अपि एकम् एव**] अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है।

भावार्थ :– एक वस्तु की अनेक पर्यायें होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि से भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होती हैं तथापि एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं; ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तु का स्वभाव है।।५२।।

और कहते हैं कि :–

श्लोकार्थ :– [**न उभौ परिणमतः खलु**] दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, [**उभयोः परिणामः न प्रजायेत**] दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और [**उभयोः परिणतिः न स्यात्**] दो द्रव्यों की एक परिणति – क्रिया नहीं होती; [**यतः**] क्योंकि जो [**अनेकम् सदा अनेकम् एव**] अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते।

भावार्थ :– जो दो वस्तुएँ हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणाम को उत्पन्न नहीं करतीं और उनकी एक क्रिया नहीं होती – ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्यों का लोप हो जाये।।५३।।

पुनः इस अर्थ को दृढ़ करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**एकस्य हि द्वौ कर्तारौ न स्तः**] एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, [**च**] और [**एकस्य द्वे कर्मणी न**] एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते [**च**] तथा [**एकस्य द्वे क्रिये न**] एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होतीं; [**यतः**] क्योंकि [**एकम् अनेकं न स्यात्**] एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

भावार्थ :– इसप्रकार उपरोक्त श्लोक में निश्चयनय से अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनय से वस्तुस्थिति का नियम कहा है।।५४।।

(अनुष्टुभ्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते॥५६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छंस्तमेवार्थम् प्रकारांतरेण दृढयति –

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति यस्मादात्मभावं चिद्रूपं पुद्‌गलभावं चाचेतनं जड़स्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वन्ति। **तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति** ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिनः पुरुषाः मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति। तथाहि – यथा कुम्भकारः स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति। घटस्य वा चेतनत्वं कुम्भकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति। तथा जीवोऽपि यद्युपादानरूपेण पुद्‌गलद्रव्यकर्मं करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्‌गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति। पुद्‌गलकर्मणो वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति।

आत्मा के अनादि से परद्रव्य के कर्ताकर्मपने का अज्ञान है, यदि वह परमार्थनय के ग्रहण से एकबार भी विलय को प्राप्त हो जाये तो फिर न आये, अब ऐसा कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इह]** इस जगत् में मोही **[मोहिनाम्]** (अज्ञानी) जीवों का **[परं अहम् कुर्वे]** 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' **[इति महाहंकाररूपं तमः]** ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा-अहंकाररूप अज्ञानांधकार **[ननुः उच्चकैः दुर्वारं]** जो अत्यन्त दुर्निवार है वह **[आसंसारतः एव धावति]** अनादि संसार से चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि **[अहो]** अहो ! **[भूतार्थपरिग्रहेण]** परमार्थनय का अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से **[यदि]** यदि **[तत् एकवारं विलयं व्रजेत्]** वह एकबार भी नाश को प्राप्त हो **[तत्]** तो **[ज्ञानघनस्य आत्मनः]** ज्ञानघन आत्मा को **[भूयः]** पुनः **[बन्धनम् किं भवेत्]** बन्धन कैसे हो सकता है? (जीव ज्ञानघन है इसलिये यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है ? और जब ज्ञान नहीं जाता तब फिर अज्ञान से बन्ध कैसे हो सकता है ?)

भावार्थ :– यहाँ तात्पर्य यह है कि अज्ञान तो अनादि से ही है, परन्तु परमार्थनय के ग्रहण से, दर्शनमोह का नाश होकर, एकबार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्व के न आने से मिथ्यात्व का बन्ध भी न हो और मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का बन्धन कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है – ऐसा जानना चाहिए॥५५॥

अब पुनः विशेषतापूर्वक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[आत्मा]** आत्मा तो **[सदा]** सदा **[आत्मभावान्]** अपने भावों को **[करोति]** करता है और **[परः]** परद्रव्य **[परभावान्]** पर के भावों को करता है; **[हि]** क्योंकि जो **[आत्मनः भावाः]** अपने भाव हैं सो तो **[आत्मा एव]** आप ही है और जो **[परस्य ते]** पर के भाव हैं सो **[परः एव]** पर ही हैं (यह नियम है)॥५६॥

किंच – शुभाशुभं कर्म कुर्वेऽहमिति महाहंकाररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति। तर्हि केषां नश्यतीति चेत्? विषयसुखानुभवानन्दवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानन्दैकस्वभावे शुद्ध- परमात्मद्रव्ये स्थितानामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाबलेन संज्ञानिनामेव विलयं विनाशं गच्छति। तस्मिन्महाहंकारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बंधो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्यविषये इदं करोमीदं न करोमीति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानंदैकस्वभावेन भरितावस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरन्तरभावना कर्तव्येति भावार्थः। इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्॥८६॥

अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं करोति –

ता.अतिरिक्त गाथा ७ – पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं॥

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं उदयागतं द्रव्यकर्मनिमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसंवित्तिपरिणामशून्यः सन् करोत्यात्मनः संबंधिनं सुखदुःखादिभावं परिणामम्। **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं** तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन् सन् तमेव कर्मोदयजनितस्वकीयरागादिभावं वेदयत्यनुभवति। न च द्रव्यकर्मरूपपरभावमित्यभिप्रायः ॥७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि कैसे होता है ? ऐसा पूछे जाने पर प्रत्युत्तर देकर उसी अर्थ को प्रकारान्तर से दृढ़ करते हैं –

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दो वि कुव्वंति जिस कारण से चिद्रूप (चैतन्यमय) आत्मभाव और अचेतनमय जड़स्वरूप पौद्‌गलिक भाव दोनों कार्यों को एक उपादान रूप से करते हैं। **तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो होंति** उसी कारण से चेतन और अचेतन इन दोनों की क्रिया को करने वाले या माननेवाले वे पुरुष मिथ्यादृष्टि हैं। उसे ही स्पष्ट करते हैं कि जिसप्रकार कुम्हार अपने परिणाम को उपादान रूप से करता है, उसीप्रकार घड़े को भी यदि उपादान रूप से करता है, तब तो कुम्हार को अचेतनपना या घटरूपपना प्राप्त होता है। अथवा घड़े को चेतनपना या कुम्हारपना प्राप्त होता है। उसीप्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से पुद्‌गल द्रव्यकर्म को करता है, तब तो जीव के अचेतनपना या पुद्‌गलद्रव्यपना प्राप्त होता है और पुद्‌गलकर्मों के चिद्रूपपना या जीवपना प्राप्त होता है।

यहाँ विशेष यह है कि शुभ-अशुभ कर्म 'मैं करता हूँ' ऐसा मिथ्याज्ञानियों का महा-अहंकार रूप अन्धकार नाश नहीं होता है। तो फिर किसका अहंकार रूप अंधकार नाश होता है ? विषयसुख के अनुभवरूप आनन्द से रहित वीतराग स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव करने योग्य भूतार्थनय से एकत्व में व्यवस्थापित (सुस्थित) चिदानन्द एक स्वभाव में, शुद्ध परमात्म द्रव्य में स्थिर रहनेवाले समस्त शुभ-अशुभ परभाव रहित, निर्विकल्प समाधिलक्षण स्वरूप शुद्धोपयोग की भावना के बल से सम्यग्ज्ञानी के ही वह मोहान्धकार विलय या विनाश को प्राप्त होता है। उस महा-अहंकार रूप विकल्प जाल के नष्ट होने पर फिर बन्ध भी नहीं होता – ऐसा जानकर बाह्यद्रव्यों के विषय में 'यह मैं करता हूँ' तथा 'यह मैं नहीं करता हूँ' ऐसा दुराग्रह छोड़कर रागादि विकल्प के जाल से रहित जल से भरे हुए पूर्ण कलश की तरह, चिदानन्द एक स्वभाव से भरे हुए निजपरमात्मा

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ। तथाहि – यथा नीलहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव, यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव। तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव, तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ॥८७॥

में निरन्तर भावना करना चाहिए– ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार द्विक्रियावादी के संक्षिप्त व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥८६॥

अतिरिक्त गाथा ७ का हिन्दी – अब उसका ही विशेष व्याख्यान करते हैं – **जह** जिसप्रकार **पुग्गलकम्मणिमित्तं** पुद्गलकर्म के निमित्त से **आदा** आत्मा **अप्पणो भावं** अपने भाव को **कुणदि** करता है **तह** उसीप्रकार **पुग्गलकम्मणिमित्तं** पुद्गलकर्म के निमित्त से **आदा** आत्मा **अप्पणो भावं** अपने भाव को **वेददि** भोगता है अनुभवता है।

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं उदय में आये हुए द्रव्यकर्मों को निमित्त करके जिसप्रकार आत्मा निर्विकार स्वसंवेदन परिणाम से रहित होता हुआ, आत्मा-सम्बन्धी सुख-दुख आदि भाव या परिणाम को करता है। **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं** उसीप्रकार उदय में आये हुए द्रव्यकर्म का निमित्त पाकर स्वशुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वास्तविक सुख के आस्वाद को अनुभव (वेदन) न करता हुआ उन्हीं कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न स्वकीय रागादि भाव को वेदन करता है, अनुभव करता है; परन्तु द्रव्यकर्मरूप परभाव को वेदन या अनुभव नहीं करता – ऐसा अभिप्राय है॥७॥

....

(परद्रव्य के कर्ताकर्मपने की मान्यता को अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है सो मिथ्यादृष्टि है; यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि उन्हें जीव का परिणाम कहा जाये तो पहले रागादि भावों को पुद्गल का परिणाम कहा था उस कथन के साथ विरोध आता है और यदि उन्हें पुद्गल का परिणाम कहा जाये तो जिनके साथ जीव को कोई प्रयोजन नहीं है उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ? इस आशंका को दूर करने के लिये अब गाथा कहते हैं :–)

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है।
अविरमण, योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार हैं॥८७॥

गाथार्थ :– [**पुनः**] और, [**मिथ्यात्वं**] जो मिथ्यात्व कहा है वह – [**द्विविधं**] दो प्रकार का है – [**जीवः अजीवः**] एक जीव-मिथ्यात्व और दूसरा अजीव-मिथ्यात्व; [**तथा एव**] और इसीप्रकार

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ चिद्रूपानात्मभावानात्मा करोति तथैवाचिद्रूपान् द्रव्यकर्मादिपरभावान् परः पुद्गलः करोतीत्याख्याति – **मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं** मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवस्वभावमजीवस्वभावं च। **तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा** तथैव चाज्ञानमविरतिर्योगो मोहः क्रोधादयोऽमी भावाः पर्यायाः जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवन्ति मयूरमुकुरंदवत्। तद्यथा – यथा मयूरेण भाव्यमाना अनुभूयमाना नीलपीताद्याकारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव, तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमानाः सुखदुःखादिविकल्पाः जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव। यथा च मुकुरंदेन स्वच्छतारूपेण भाव्यमानाः प्रकाशमानमुखप्रतिबिंबादिविकारा मुकुरंद एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाः पुद्गल एव अचेतना एवेति॥८७॥

[अज्ञानम्] अज्ञान, **[अविरतिः]** अविरति, **[योगः]** योग, **[मोहः]** मोह तथा **[क्रोधाद्याः]** क्रोधादि कषाय **[इमे भावाः]** यह (सर्व) भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

टीका :– मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक मयूर और दर्पण की भाँति अजीव और जीव के द्वारा भाये जाते हैं, इसलिये वे अजीव भी हैं और जीव भी हैं। इसे दृष्टांत से समझाते हैं – जैसे गहरा नीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूप) भाव जो कि मोर के अपने स्वभाव से मोर के द्वारा भाया जाता है (होता है) वह मोर ही है और (दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देनेवाला) गहरा नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पण की) स्वच्छता के विकारमात्र से दर्पण के द्वारा भाया जाता है वह दर्पण ही है; इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीव के अपने द्रव्यस्वभाव से अजीव के द्वारा भाये जाते हैं वे अजीव ही हैं और मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्य के विकारमात्र से जीव के द्वारा भाये जाते हैं वे जीव हैं।

भावार्थ :– पुद्गल के परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूप से परिणमित होते हैं। उस कर्म का विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है वह मिथ्यात्वादि अजीव है और कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमित होता है, वे विभाव परिणाम चेतन के विकार हैं इसलिये जीव हैं। यहाँ यह समझना चाहिये कि मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्य के परमाणु हैं। जीव उपयोगस्वरूप है। उसके उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्म का उदय होने पर उसके उदय का जो स्वाद आवे उसके आकार उपयोग हो जाता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण उस स्वाद का और उपयोग का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए वह स्वाद को ही अपना भाव समझता है। जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभाव को जीव जानता है और अजीव भाव को अजीव जानता है तब मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है॥८७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब चैतन्य रूप आत्मभावों को आत्मा करता है, उसी प्रकार अचैतन्यरूप जड़रूप द्रव्यकर्म आदि परभावों को पुद्गल करता है, ऐसा कहते हैं –

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं मिथ्यात्व दो प्रकार का है – जीवस्वभाव तथा अजीवस्वभाव।

काविह जीवाजीवाविति चेत् –

पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु॥८८॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिः जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः॥८८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कतिविधौ जीवाजीवाविति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह – **पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं** पुद्गलकर्मरूपं मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीवः। **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोगरूपो भावरूपः शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानं निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः। विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीवः। जीव इति कोऽर्थः। जीवरूपा भावप्रत्यया इति॥८८॥

तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा उसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह, क्रोधादिरूप भी भाव पर्यायें मयूर और दर्पण के मयूर की तरह जीवरूप तथा अजीवरूप (दो-दो प्रकार के) हैं। वे इसप्रकार हैं – जैसे मयूर के द्वारा भाव्यमान या अनुभव में आनेवाले नील, पीत आदि आकार विशेष जो कि मयूर के शरीर के आकार रूप से परिणत हैं वे मयूर हैं, चेतनमय ही हैं। वैसे ही निर्मल आत्मानुभूति से च्युत हुए जीव के द्वारा भाव्यमान या अनुभव में आनेवाले सुख-दुखादि जो विकल्पभाव हैं, जीव ही हैं, वे अशुद्ध निश्चयनय से चेतना ही हैं और जैसे दर्पण की स्वच्छता रूप से भाव्यमान प्रकाशमान मुख के प्रतिबिम्ब आदि विकारभाव दर्पणमयी हैं अचेतन ही हैं। उसी प्रकार कर्मवर्गणायोग्य पुद्गल द्रव्य के उपादान रूप से किए गये ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप पर्यायें पुद्गलमय ही हैं, अचेतन ही हैं॥८७॥

....

अब प्रश्न होता है कि मिथ्यात्वादि को जीव और अजीव कहा है, सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन है ? उसका उत्तर कहते हैं :–

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गलकर्म हैं।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व, जीव उपयोग हैं॥८८॥

गाथार्थ :– [**मिथ्यात्वं**] जो मिथ्यात्व, [**योगः**] योग, [**अविरतिः**] अविरति और [**अज्ञानम्**] अज्ञान [**अजीवः**] अजीव है सो तो [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म है; [**च**] और जो [**अज्ञानम्**] अज्ञान, [**अविरतिः**] अविरति और [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व [**जीवः**] जीव है [**तु**] वह [**उपयोगः**] उपयोग है।

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत् –

उवओगस्स अणादी परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो॥८९॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः॥८९॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाःस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टः; तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो: दृष्टव्यः॥८९॥

टीका :– निश्चय से जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे तो अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य चैतन्य परिणाम के विकार हैं॥८८॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब कितने प्रकार के जीव तथा अजीव हैं, ऐसा पूछे जाने पर प्रत्युत्तर देते हैं –

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं पुद्गल कर्मरूप मिथ्यात्व, योग, अविरति, अज्ञान ये अजीव हैं। **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोग रूप भाव जो शुद्धात्मादि तत्त्वभाव के विषय में विपरीत जानने रूप विकारमय परिणाम है, वह जीव का अज्ञान है, निर्विकार स्वानुभूति से विपरीत अव्रत का परिणाम रूप विकार है वह जीव की अविरति है। विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) रूप उपयोग का जो विकाररूप शुद्धजीवादि पदार्थ के विषय में विपरीत श्रद्धान है – मिथ्यात्व है, वह जीव है। 'जीव' का क्या अर्थ है ? ये अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीवरूप भावप्रत्यय हैं (यह अर्थ है।) ॥८८॥

....

अब पुनः प्रश्न होता है कि मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणाम का विकार कहाँ से हुआ ? इसका उत्तर गाथा में कहते हैं :–

है मोहयुत उपयोग का परिणाम तीन अनादि का।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव ये त्रय जानना॥८९॥

गाथार्थ :– [**मोहयुक्तस्य**] अनादि से मोहयुक्त होने से [**उपयोगस्य**] उपयोग के [**अनादयः**] अनादि से लेकर [**त्रयः परिणामाः**] तीन परिणाम हैं; वे [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व, [**अज्ञानम्**] अज्ञान [**च अविरतिभावः**] और अविरतिभाव (ऐसे तीन) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत् –

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य संबंधित्वेऽनादिसंतानापेक्षया त्रयः परिणामा ज्ञातव्याः। कथंभूतस्य तस्य ? **मोहजुत्तस्स** मोहयुक्तस्य। के ते परिणामाः ? **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति। तथाहि – यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः सम्भवन्ति। तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थः॥८९॥

टीका :– यद्यपि निश्चय से अपने निजरस से ही सर्व वस्तुओं की अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमन में सामर्थ्य है, तथापि (आत्मा का) अनादि से अन्य-वस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तपना होने से; आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति के भेद से तीन प्रकार का परिणामविकार है। उपयोग का वह परिणामविकार, स्फटिक की स्वच्छता के परिणामविकार की भाँति, पर के कारण (पर की उपाधि से) उत्पन्न होता दिखाई देता है। इसी बात को स्पष्ट करते हैं – जैसे स्फटिक की स्वच्छता की स्वरूप-परिणमन में (अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूप में परिणमन करने में) सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् (स्फटिक के) काले, हरे और पीले, तमाल, केले और सोने के पात्ररूपी आधार का संयोग होने से स्फटिक की स्वच्छता का काला, हरा और पीला ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार दिखाई देता है, उसीप्रकार (आत्मा के) अनादि से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है, ऐसे अन्य-वस्तुभूत मोह का संयोग होने से आत्मा के उपयोग का मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकार का परिणामविकार समझना चाहिये।

भावार्थ :– आत्मा के उपयोग में यह तीन प्रकार का परिणामविकार अनादि कर्म के निमित्त से है। ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है। यदि ऐसा हो तो सिद्धों के भी नया परिणामविकार होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि वह अनादि से ही है ॥८९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाले जीव के मिथ्यादर्शनादि विकार कैसे उत्पन्न हुआ, यह बतलाते हैं –

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि उपयोग लक्षण होने से उपयोग रूप आत्मा है। उसके सम्बन्ध में अनादि सन्तान अपेक्षा से तीन प्रकार के परिणाम जानना चाहिए। किसप्रकार के आत्मा के तीन परिणाम जानना चाहिए ? **मोहजुत्तस्स** मोहयुक्त आत्मा के तीन परिणाम जानना चाहिए। वे तीन परिणाम कौन से हैं ? **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो** मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम जानना चाहिए। उसका विस्तार – यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से यह जीव शुद्धबुद्ध एक स्वभाव वाला है तथापि अनादि मोहनीयादि कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति रूप तीन प्रकार के परिणाम विकार होते हैं। वहाँ शुद्ध जीव स्वरूप उपादेय है, मिथ्यात्व आदि विकार परिणाम हेय हैं – ऐसा भावार्थ है॥८९॥

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति –

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविध: शुद्धो निरंजनो भाव:।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता॥९०॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थत: शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैक-विधोऽप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूत: कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मन: करोति तस्य तस्य किलोपयोग: कर्ता स्यात्॥९०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति –

एदेसु य एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषूदयागतेषु निमित्तभूतेषु सत्सु **उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **तिविहो** कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति। परमार्थेन तु **सुद्धो** शुद्धो रागादिभावकर्मरहित:। **णिरंजणो** निरंजनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माञ्जनरहित:। पुनश्च कथंभूत: ? **भावो** भाव: पदार्थ: अखण्डैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोऽपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा। **जं सो करेदि भावं** यं परिणामं करोति स आत्मा **उवओगो** चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूप:। **तस्स सो कत्ता** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युत: सन् तस्यैव मिथ्यात्वादि त्रिविधविकारपरिणामस्य कर्ता भवति। न च द्रव्यकर्मण इति भाव:॥९०॥

अब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व बतलाते हैं :–

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्ता बने॥९०॥

गाथार्थ :– [**एतेषु च**] अनादि से ये तीन प्रकार के परिणामविकार होने से, [**उपयोग:**] आत्मा का उपयोग [**शुद्ध:**] यद्यपि (शुद्धनय से) शुद्ध, [**निरंजन:**] निरंजन [**भाव:**] (एक) भाव है तथापि [**त्रिविध:**] तीन प्रकार का होता हुआ [**स: उपयोग:**] वह उपयोग [**यं**] जिस [**भावम्**] (विकारी) भाव को [**करोति**] स्वयं करता है [**तस्य**] उस भाव का [**स:**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका :– इसप्रकार अनादि से अन्यवस्तुभूत मोह के साथ संयुक्तता के कारण अपने में उत्पन्न होनेवाले जो यह तीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणामविकार हैं उनके निमित्त से (कारण से) यद्यपि परमार्थ से तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तु के सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपने से एक प्रकार का है, तथापि अशुद्ध, सांजन, अनेकभावता को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर, स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्व को प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस-जिस भाव को अपना करता है, उस-उस भाव का वह उपयोग कर्ता होता है।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह–

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं॥९१॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम्॥९१॥

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्, साधकवत्। तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते। तथाहि – यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना

भावार्थ :– पहले कहा था कि जो परिणमित होता है सो कर्ता है। यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ, उस भाव का उसे कर्ता कहा है। इसप्रकार उपयोग को कर्ता जानना चाहिए। यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा को भी कर्ता कहा जाता है॥९०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मा के मिथ्यात्वादि त्रिविध विभाव परिणाम का कर्तृत्व है, यह कहते हैं–

एदेसु य इन उदयागत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र के निमित्त होने पर **उवओगो** जो ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग लक्षणवाला होने से 'उपयोग' रूप आत्मा है वह **तिविहो** कृष्ण, नील, पीत तीन प्रकार की उपाधि से परिणत स्फटिक के समान तीनप्रकार का हो जाता है। लेकिन परमार्थ से **सुद्धो** रागादि भावकर्म रहित शुद्ध है। **णिरंजणो** ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अंजन से रहित निरंजन है। और कैसा है ? **भावो** भाव या पदार्थ अखण्ड एक प्रतिभासमय ज्ञानस्वभाव से एक प्रकार होने पर भी पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन-ज्ञान चारित्र रूप परिणाम विकार से तीन प्रकार होकर **जं सो करेदि भावं** वह आत्मा जो परिणाम करता है, **उवओगो** चैतन्य अनुविधायि परिणाम को उपयोग कहते हैं। उस उपयोग लक्षण के कारण आत्मा उपयोग रूप है। **तस्स सो कत्ता** निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान परिणाम से च्युत होता हुआ (वह) उन्हीं मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के परिणाम का कर्ता होता है, परन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं होता है– ऐसा भाव है॥९०॥

....

अब, यह कहते हैं कि जब आत्मा के तीन प्रकार के परिणामविकार का कर्तृत्व होता है तब पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है :–

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्ता बने।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूपहि परिणमे॥९१॥

गाथार्थ :– [**आत्मा**] आत्मा [**यं भावम्**] जिस भाव को [**करोति**] करता है [**तस्य भावस्य**] उस भाव का [**सः**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है; [**तस्मिन्**] उसके कर्ता होने पर [**पुद्गलं द्रव्यम्**] पुद्गलद्रव्य [**स्वयं**] अपने आप [**कर्मत्वं**] कर्मरूप [**परिणमते**] परिणमित होता है।

परिणमनमानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यन्ते विषव्याप्तयो, विडंब्यन्ते योषितो, ध्वंस्यन्ते बंधाः। तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते।।९१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति – **जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स** यं भावं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्ता भवति। **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं** तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति। किंवत् ? गारुडादिमंत्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशान्तरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमंतरेणापि विषापहारबंध-विध्वंसस्त्रीविडंबनादिपरिणामवत्, तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमंत्रस्य सामर्थ्येन निर्बीजविषवत् स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः। एवं स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम्।।९१।।

टीका :– आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होने से जिस भाव को वास्तव में करता है, उसका वह, साधक की (मंत्र साधने वाले की) भाँति कर्ता होता है; वह (आत्मा का भाव) निमित्तभूत होने पर, पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है। इसी बात को स्पष्टतया समझाते हैं – जैसे साधक उस प्रकार के ध्यानभाव से स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावों को (साधक के साधने योग्य भावों को) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर, साधक के कर्ता हुए बिना (सर्पादिक का) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बना को प्राप्त होती हैं और बंधन स्वयमेव टूट जाते हैं; इसीप्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण मिथ्यादर्शनादि भावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादि भाव का कर्ता होता है और वह मिथ्यादर्शनादि भाव पुद्गलद्रव्य को (कर्मरूप परिणमित होने में) अनुकूल होने से निमित्तमात्र होने पर, आत्मा के कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं।

भावार्थ :– आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है, किसी के साथ ममत्व करता है, किसी के साथ राग करता है और किसी के साथ द्वेष करता है; उन भावों का स्वयं कर्ता होता है। उन भावों के निमित्तमात्र होने पर, पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भाव से ही कर्मरूप परिणमित होता है। परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव मात्र है। कर्ता तो दोनों अपने-अपने भाव के हैं यह निश्चय है।।९१।।

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मा के मिथ्यात्वादि तीन प्रकार के परिणाम विकारों का कर्तापना होने पर कर्मवर्गणा के योग्य पुद्गलद्रव्य स्वयं ही उपादान रूप से कर्मपने परिणमन करता है, ऐसा कहते हैं –

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स जिस भाव या मिथ्यात्वादि विकार परिणाम

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह –

परमप्पाणं कुव्वं[1] अप्पाणं पि य परं करेंतो[2] सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि॥९२॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति॥९२॥

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति। तथाहि – तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्‌गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्‌गलपरिणामावस्थाया इव पुद्‌गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्त तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्‌गलान्नित्य-

को, शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ यह आत्मा करता है, उस भाव का आत्मा कर्ता है। **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं** उस त्रिविध विकार परिणाम का कर्तापना होने पर उसी क्षण कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गलद्रव्य स्वयं ही उपादान रूप द्रव्यकर्म रूप से परिणमन करता है। किसतरह परिणमन करता है? गारूड़ आदि मंत्र परिणत पुरुष के परिणाम होने पर देशान्तर में स्वयं ही उस पुरुष के व्यापार के बिना ही दूसरे के शरीर में विषापहार, बंध-विध्वंस, स्त्री-विडम्बनादि होना अर्थात् विष का उतरना, बन्धन का नाश होना, स्त्री का विडम्बना को प्राप्त होना इत्यादि परिणाम की तरह (स्वयं ही परिणमन करता है)। इसीप्रकार मिथ्यात्व रागादि विभाव के विनाश समय, निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परिणाम होने पर ''गारूड़ी मंत्र की सामर्थ्य से विष रहित हो जाने वाले पुरुष की तरह'' स्वयं ही रसहीन होकर पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म जीव से पृथक् होकर निर्जरा को प्राप्त होते हैं – ऐसा भावार्थ है। इसतरह स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथाएँ पूर्ण हुईं॥९१॥

अब, यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होता है :–

पर को करे निजरूप अरु, निज आत्मा को पर करे।
अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्म का कारक बने॥९२॥

गाथार्थ :– [**परम्**] जो पर को [**आत्मानं**] अपनेरूप [**कुर्वन्**] करता है [**च**] और [**आत्मानम् अपि**] अपने को भी [**परं**] पर [**कुर्वन्**] करता है, [**सः**] वह [**अज्ञानमयः जीवः**] अज्ञानमय जीव [**कर्मणां**] कर्मों का [**कारकः**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका :– यह आत्मा अज्ञान से अपना और पर का परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो तब वह पर को अपनेरूप और अपने को पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मों का कर्ता प्रतिभासित होता है। यह स्पष्टता से समझाते हैं – जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्‌गलपरिणाम की अवस्था पुद्‌गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्‌गल से सदा ही अत्यन्त

१. पाठान्तर = परमप्पाणं कुव्वदि २. पाठान्तर = करंतो

मेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदु:खादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादे: कर्मण: कर्ता प्रतिभाति।।९२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते। तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह–

परं परद्रव्यं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मानं करोति **अप्पाणं पि य परं करंतो** शुद्धात्मानं च परं करोति य: **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** स चाज्ञानमयो जीव: कर्मणां कर्त्ता भवति। तद्यथा – यथा कोऽपि पुरुष: शीतोष्णरूपाया: पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणते: कर्त्ता भवति। तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानु-भूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदु:खानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनो: समस्त-रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखीदु:खीति प्रकारेण परिणमत्कर्मणां कर्त्ता भवतीति भावार्थ:।।९२।।

भिन्न है, इसीप्रकार ऐसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होने वाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब आत्मा अज्ञान के कारण उस राग-द्वेष, सुख-दु:खादि का और उसके अनुभव का परस्पर विशेष नहीं जानता हो तब एकत्व के अध्यास के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (अर्थात् जैसे शीत-उष्णरूप से आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिस रूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे राग-द्वेष, सुख-दु:खादिरूप अज्ञानात्मा के द्वारा परिणमित होता हुआ (परिणमित होना मानता हुआ), **ज्ञान का अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ,** स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ' (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ) इत्यादि विधि से रागादि कर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ :– राग-द्वेष, सुख-दु:खादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है; इसलिये वह, शीत-उष्णता की भाँति, पुद्गलकर्म से अभिन्न है और आत्मा से अत्यंत भिन्न है। अज्ञान के कारण आत्मा को उसका भेदज्ञान न होने से वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता के कारण राग-द्वेषादि का स्वाद, शीत-उष्णता की भाँति, ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने पर, मानों ज्ञान ही राग-द्वेष हो गया हो – इसप्रकार अज्ञानी को भासित होता है। इसलिये वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ इत्यादि। इसप्रकार अज्ञानी जीव राग-द्वेषादि का कर्ता होता है ।।९२।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान कहा जाता है। इसलिए अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होते हैं, ऐसा तात्पर्य कहते हैं –

परं भावकर्म-द्रव्यकर्म रूप परद्रव्य को **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्य और आत्मा के भेदज्ञान का अभाव होने से आत्मरूप करता है। **अप्पाणं पि य परं करंतो** और जो शुद्धात्मा को पररूप करता

ज्ञानात्तु कर्म न प्रभवतीत्याह –

परमप्पाणमकुव्वं[1] अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥९३॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति। तथाहि – तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाःरागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनो-

है– ऐसा वह जीव **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** अज्ञानमय है, वह कर्मों का कर्ता होता है। वह इसप्रकार, जैसे कोई पुरुष शीत-उष्ण रूप पुद्गल परिणामावस्था का और उसप्रकार का शीत और उष्ण अनुभव करता हुआ एकत्व के अभ्यास के कारण भेद को न जानता हुआ 'मैं शीत हूँ, मैं उष्ण हूँ' इसप्रकार शीत-उष्ण परिणति का कर्ता होता है। उसीप्रकार जीव भी निजशुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न उदय में आये हुए पुद्गल परिणाम रूप अवस्था और उसके निमित्त से होने वाले सुख दुखरूप अनुभव में एकत्व के अध्यास के आरोप से परद्रव्य और आत्मा में समस्त रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव के कारण भेद को न जानता हुआ 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इसप्रकार परिणमन करता हुआ कर्मों का कर्ता होता है – यह भावार्थ है॥९२॥

....

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होता :–

पर को नहीं निजरूप अरु, निज आत्म को नहिं पर करे।
यह ज्ञानमय आत्मा अकारक, कर्म का ऐसे बने॥९३॥

गाथार्थ :– [**परम्**] जो पर को [**आत्मानम्**] अपनेरूप [**अकुर्वन्**] नहीं करता [**च**] और [**आत्मानम् अपि**] अपने को भी [**परम्**] पररूप [**अकुर्वन्**] नहीं करता [**सः**] वह [**ज्ञानमयः जीवः**] ज्ञानमय जीव [**कर्मणाम्**] कर्मों का [**अकारकः भवति**] अकर्ता होता है अर्थात् कर्ता नहीं होता।

टीका :– यह आत्मा जब ज्ञान से पर का और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है तब पर को अपनेरूप और अपने को पररूप नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसी को स्पष्टतया समझाते हैं – जैसे शीत-उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणाम की अवस्था पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है, उसीप्रकार वैसा अनुभव कराने में समर्थ ऐसी राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणाम की अवस्था

१. पाठान्तर = परमप्पाणमकुव्वदि

ऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणे-वात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति।।९३।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह –

परं परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यंतरे रागादिकं भावकर्मरूपं द्रव्यकर्मरूपं वा **अप्पाणमकुव्वं** भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसंबंधमकुर्वन्। **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं निजात्मानं च परमकुर्वन्। **सो णाणमओ जीवो कम्माणकारगो होदि** स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति। तथाहि – यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविध-शीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशाद् भेदज्ञानात् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति परिणतेः कर्त्ता न भवति। तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्म-नोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणाममकुर्वाणः कर्मणां कर्त्ता न भवति। ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्रायः।।९३।।

पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्त से होनेवाला उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब ज्ञान के कारण आत्मा उस राग-द्वेष, सुख-दुःखादि का और उसके अनुभव का परस्पर अन्तर जानता है तब, वे एक नहीं किन्तु भिन्न हैं ऐसे विवेक (भेद-ज्ञान) के कारण, शीत-उष्ण की भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिनके रूप में आत्मा के द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे राग-द्वेष, सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानात्मा के द्वारा किंचित्मात्र परिणमित न होता हुआ, **ज्ञान का ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ**, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं (राग को) जानता ही हूँ; रागी तो पुद्गल है (अर्थात् राग तो पुद्गल करता है)' इत्यादि विधि से, ज्ञान से विरुद्ध समस्त रागादि कर्म का अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ :– जब आत्मा राग-द्वेष, सुख-दुःखादि अवस्था को ज्ञान से भिन्न जानता है अर्थात् 'जैसे शीत-उष्णता पुद्गल की अवस्था है उसीप्रकार राग-द्वेषादि भी पुद्गल की अवस्था है' ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपने को ज्ञाता जानता है और रागादि को पुद्गलरूप जानता है। ऐसा होने पर, रागादि का कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।।९३।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के साथ कर्म उत्पन्न नहीं होता है, यह बतलाते हैं–

परं जो परद्रव्य – देहादिक बाह्यविषय नोकर्मरूप, भावकर्मरूप अन्तरंग रागादिक तथा द्रव्यकर्म रूप परद्रव्य को **अप्पाणमकुव्वं** भेदविज्ञान के बल से आत्मामय नहीं करता हुआ, आत्मा का सम्बन्ध नहीं करता हुआ **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभावरूप निजात्मा को परस्वरूप न करता हुआ **सो णाणमओ जीवो कम्माणकारगो होदि** वह निर्मल अनुभूति लक्षणवाला भेदविज्ञानी जीव कर्मों का अकर्ता होता है ।

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत् –

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं[1] करेदि कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९४॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९४॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविध: सविकारश्चैतन्यपरिणाम: परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतना-

---

उसका विस्तार – जैसे कोई पुरुष पुद्गल परिणाम की शीत-उष्ण अवस्था का और उसीप्रकार के शीत-उष्ण अवस्था के अनुभव का आत्मा से भेदज्ञान होने के कारण 'मैं शीत हूँ, मैं उष्ण हूँ' ऐसी परिणति का कर्त्ता नहीं होता है उसीप्रकार जीव भी निज शुद्धात्मानुभूति से भिन्न पुद्गल परिणाम की अवस्था तथा उस अवस्था के निमित्त से होने वाले सुख-दु:ख के अनुभव की और स्व-शुद्धात्मानुभूति से उत्पन्न होने वाले सुख के अनुभव की भिन्नता का ज्ञान होने पर उस भेदज्ञान के अभ्यास से पर और आत्मा का भेदज्ञान होने पर राग-द्वेष-मोह परिणामों को न करता हुआ कर्मों का कर्ता नहीं होता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न नहीं होता है – यह अभिप्राय है ॥९३॥

....

अब यह प्रश्न होता है कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि –

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्ता बने ॥९४॥

गाथार्थ :– [**त्रिविध:**] तीन प्रकार का [**एष:**] यह [**उपयोग:**] उपयोग [**अहम् क्रोध:**] 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा [**आत्मविकल्पं**] अपना विकल्प [**करोति**] करता है; इसलिये [**स:**] वह आत्मा [**तस्य उपयोगस्य**] उस उपयोगरूप [**आत्मभावस्य**] अपने भाव का [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका :– वास्तव में यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के और अपने अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष रति (लीनता) से समस्त भेद को छिपाकर, भाव्य-भावकभाव को प्राप्त चेतन और अचेतन का सामान्य अधिकरण से (मानों उनका एक आधार हो इसप्रकार) अनुभव करने से, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है – ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है। इसीप्रकार 'क्रोध' पद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन,

---

१. पाठान्तर = अस्सवियप्पं

चेतनयो: सामान्याधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, ततोऽयमात्मा क्रोधोऽहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात्। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।।९४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह – **तिविहो एसुवओगो** त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा। **अस्सवियप्पं करेदि** स्वस्वभावस्याभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति। केन रूपेण ? **कोहोहं** क्रोधोऽहमित्यादि। **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो** स जीव: तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्त्ता भवति। कथंभूतस्य ? **अत्तभावस्स** आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति। तथाहि – सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयो:। भाव्यभावकभावापन्नयो: कोऽर्थ: ? भाव्य: क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रंजकश्चान्तरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोध:। इत्थंभूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन्निर्विकल्पस्वरूपाद् भ्रष्ट: सन् क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवतीति भावार्थ:। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति ।।९४।।

वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यानरूप से लेना चाहिये और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिये।

भावार्थ :– अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का जो सविकार चैतन्यपरिणाम है वह अपना और पर का भेद न जानकर 'मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ' इत्यादि मानता है; इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है।।९४।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है ऐसा पूछे जाने पर दो गाथाओं द्वारा उत्तर देते हैं–

तिविहो एसुवओगो यह प्रत्यक्ष रूप से तीन प्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र उपयोग लक्षणवाला उपयोगमय आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि** स्वस्वभाव के अभाव के कारण असत् विकल्प या मिथ्या विकल्प करता है। किसरूप से मिथ्या विकल्प करता है ? **कोहोहं** 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्प करता है। **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो** वह जीव उसके क्रोधादि विकल्परूप उपयोग का कर्ता होता है। किस प्रकार से कर्ता है ?**अत्तभावस्स** अशुद्ध निश्चय नय से आत्मभावरूप जीव परिणाम का कर्त्ता होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं – सामान्य से अज्ञानरूप से एक प्रकार का भाव होने पर भी विशेष रूप से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप से तीन प्रकार होकर यह उपयोगमय आत्मा क्रोधादि और आत्मा के भाव्य-भावक भाव को प्राप्त होता है।

भाव्य-भावक भाव को प्राप्त होने का क्या अर्थ है ? भाव्य अर्थात् क्रोधादि परिणत आत्मा है तथा

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं[१] करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९५॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९५॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् ॥९५॥

भावक अर्थात् रंजायमान करनेवाला अन्तरात्मभावना से विपरीत भावक्रोध है। इसप्रकार दोनों के भेदज्ञान के अभाव से, भेद को न जानता हुआ, निर्विकल्प स्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' ऐसे आत्मा के विकल्प को उत्पन्न करता है, और उस ही क्रोधादि उपयोग रूप परिणाम का अशुद्ध निश्चय नय से कर्ता है – ऐसा भावार्थ है। इसी प्रकार क्रोध पद को बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन इन सोलह सूत्रों की व्याख्या करना चाहिए। इसीप्रकार से अविक्षिप्त चित्त स्वभावमय शुद्धात्मतत्त्व से विलक्षण जो असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणाम हैं, उनको भी जान लेना चाहिए॥९४॥

....

अब इसी बात को विशेषरूप से कहते हैं :–

'मैं धर्म आदि' विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्ता बने॥९५॥

गाथार्थ :– [**त्रिविधः**] तीन प्रकार का [**एषः**] यह [**उपयोगः**] उपयोग [**धर्मादिकम्**] 'मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ' ऐसा [**आत्मविकल्पं**] अपना विकल्प [**करोति**] करता है; इसलिये [**सः**] वह आत्मा [**तस्य उपयोगस्य**] उस उपयोगरूप [**आत्मभावस्य**] अपने भाव का [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है।

टीका :– वास्तव में यह सामान्यरूप से अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकार का सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, पर के और अपने अविशेषदर्शन से, अविशेषज्ञान से और अविशेष रति (लीनता) से समस्त भेद को छिपाकर, ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त ऐसे स्व-पर का सामान्य अधिकरण से अनुभव करने से, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल

१. पाठान्तर = अस्सवियप्पं

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ, **तिविहो एसुवओगो** सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्ररूपेण त्रिविध: सन्नेष उपयोग आत्मा। **अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी** परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोर-विशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोऽहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्प-मुत्पादयति। **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स** निर्मलात्मानुभूतिरहितस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीव-परिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति। ननु धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि कोऽपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति ? अत्र परिहार:। धर्मास्तिकायोऽयमिति योऽसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते। यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति। तथा तद्धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्प: यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीव: तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति। तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्पं उपचारेण घटत इति भावार्थ:। तत: स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति॥९५॥

हूँ, मैं पुद्‌गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसी भ्रान्ति के कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है – ऐसे चैतन्यपरिणाम से परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है।

भावार्थ :– धर्मादि के विकल्प के समय जो, स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होने का भान न रखकर, धर्मादि के विकल्प में एकाकार हो जाता है, वह अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है।

इसप्रकार, अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम अपने को धर्मादिद्रव्यरूप मानता है, इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है ॥९५॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, **तिविहो एसुवओगो** सामान्य से अज्ञानरूप से एक प्रकार होता हुआ भी विशेष से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप से तीन प्रकार का होता हुआ यह उपयोग रूप आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि धम्मादी** परद्रव्य और आत्मा के ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त होने पर अभेददर्शन से, अभेदज्ञान से, अभेद परणति से और भेदज्ञान के अभाव से भेद को नहीं जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इसप्रकार आत्मा के विषय में असत् विकल्प उत्पन्न करता है। **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स** अशुद्ध निश्चय से निर्मलात्मानुभूति से रहित ही स्वयं (आत्मा) के बारे में मिथ्या विकल्प रूप जीव परिणाम का कर्ता होता है।

शंका– 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इस तरह तो कोई भी नहीं कहता है, फिर यह कैसे घटित होता है? इसका निराकरण करते हैं।

समाधान – 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा जो यह ज्ञानरूप विकल्प मन में होता है, उसे ही उपचार से धर्मास्तिकाय कहते हैं। जिस तरह घटाकार के विकल्प से परिणत ज्ञान को घट कहते हैं, उसी तरह ज्ञेयतत्त्व के विचार काल में 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादि विकल्प जीव करता है, उस समय शुद्धात्मस्वभाव का स्मरण नहीं करता है। उसी विकल्प के समय में 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा विकल्प उपचार से घटित होता है– ऐसा भावार्थ है। इसलिए सिद्ध हुआ कि स्वशुद्धात्मा की अनुभूति के अभाव रूप जो अज्ञान है वही कर्म के कर्तापने का कारण है॥९५॥

ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम् –

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाण-भावेण ॥९६॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥९६॥

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्। तथा हि – यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानादेवभाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। यथा वाऽपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रङ्कषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माऽप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्च्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ॥९६॥

''इसलिये कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ'' यह अब कहते हैं :–

यह मंदबुद्धि जीव यों, परद्रव्य को निजरूप करे।
इस भाँति से निज आत्म को, अज्ञान से पररूप करे ॥९६॥

गाथार्थ :– [**एवं तु**] इसप्रकार [**मंदबुद्धिः**] अज्ञानी [**अज्ञानभावेन**] अज्ञानभाव से [**पराणि द्रव्याणि**] परद्रव्यों को [**आत्मानं**] अपने रूप [**करोति**] करता है [**अपि च**] और [**आत्मानम्**] अपने को [**परं**] पररूप [**करोति**] करता है।

टीका :– वास्तव में इसप्रकार, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि की भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादि की भाँति आत्मा परद्रव्यों को अपनेरूप करता है और अपने को भी परद्रव्यरूप करता है; इसलिये यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओं के सम्बन्ध से रहित अनन्त शुद्ध चैतन्यधातुमय है तथापि, अज्ञान के कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्यपरिणामवाला होने से उस प्रकार के अपने भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। इसप्रकार, भूताविष्ट (जिसके शरीर में भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुष की भाँति और ध्यानाविष्ट (ध्यान करने वाले) पुरुष की भाँति, आत्मा के कर्तृत्व का मूल अज्ञान सिद्ध हुआ। यह प्रगट दृष्टान्त से समझाते हैं – जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञान के कारण भूत को और अपने को एक करता हुआ, अमनुष्योचित विशिष्ट चेष्टाओं के अवलम्बन सहित भयंकर आरम्भ (कार्य) से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होने से उसप्रकार

तात्पर्यवृत्ति टीका – एवं एवं पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण। **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोऽहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मानं करोति। स कः कर्ता ? **मंदबुद्धीओ** मंदबुद्धिनिर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः। **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन ? **अण्णाणभावेण** अज्ञानभावेनेति। ततः स्थितं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टांतेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टांतेनेव शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति। तद्यथा – यथा कोऽपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तंभचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्त्ता भवति। तथा जीवोऽपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोऽहं कामोऽहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्त्ता भवति। एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टांतो गतः। तथैव च यथा कश्चिन् महामहिषादिध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोऽहं गरुडोऽहं कामदेवोऽहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशिरहमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वाणः सन् तस्य विकल्पस्य कर्त्ता भवति। तथा च जीवोऽपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोऽहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्त्ता भवति। तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबंधो भवतीति। एवं धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये ध्यानाविष्टदृष्टांतो गतः।

के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ही भाव्य-भावकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावक के लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारों से मिश्रित चैतन्यपरिणाम विकारवाला होने से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञान के कारण भैंसे को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ' ऐसे अध्यास के कारण मनुष्योचित मकान के द्वार में से बाहर निकलने से च्युत होता हुआ उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान के कारण ज्ञेय-ज्ञायकरूप पर को और अपने को एक करता हुआ, 'मैं परद्रव्य हूँ' ऐसे अध्यास के कारण मन के विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव के द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होने से तथा इन्द्रियों के विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों के द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) ढँका हुआ होने से और मृतक शरीर के द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्च्छित हुआ होने से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ :– यह आत्मा अज्ञान के कारण, अचेतन कर्मरूप भावक के क्रोधादि भाव्य को चेतन भावक के साथ एकरूप मानता है और वह, जड़ ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्यों को भी ज्ञायक के साथ एकरूप मानता है। इसलिये वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणाम का कर्ता होता है।

यहाँ, क्रोधादि के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है और धर्मादिक अन्यद्रव्यों के साथ एकत्व की मान्यता से उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझाने के लिये ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त दिया है।।९६।।

हे भगवन् ! धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबंधो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्त्तव्य: ? नैवं वक्तव्यम्। त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवंचनार्थं कर्तव्य:। तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधो भवति परम्परया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोष:। किन्तु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंवदेनज्ञानपरिणत: शुद्धात्मा साक्षादुपादेय: कर्तव्य: इति ज्ञातव्यम्। ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भि:, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं विषयसुखानुभवानंदरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति। शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति। इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थ:।।९६।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – एवं इसप्रकार पूर्वोक्त दो गाथाओं में कहे गये प्रकार से **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि के समान और 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादि के समान क्रोधादि को स्वकीय परिणामरूप और उसीप्रकार से धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेयरूप परद्रव्यों को आत्मामय करता है। वह कौन करता है ? **मंदबुद्धीओ** निर्विकल्पसमाधि लक्षणवाले भेदज्ञान से रहित मंदबुद्धि जीव **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्ध एकस्वभावी आत्मा होने पर भी अपने को स्वस्वरूप से भिन्न पररूप करता है (मानता है) और रागादि में अपना उपयोग लगाता है। किसप्रकार से ? **अण्णाणभावेण** अज्ञानभाव से। इससे यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादि के विषय में भूताविष्ट पुरुष के समान दृष्टान्त द्वारा तथा धर्मादि के विषय में ध्यानाविष्ट पुरुष के दृष्टान्त की तरह ही शुद्धात्मानुभव के अभाव रूप अज्ञान ही कर्म के कृर्तत्व का कारण होता है।

वह इसप्रकार है– जैसे कोई भूतादि-ग्रहाविष्ट (जिसे भूतादि ग्रह लग गया हो ऐसा पुरुष) भूत और आत्मा के भेद को न जानता हुआ अमानुषोचित, (जो कार्य मनुष्य के करने योग्य न हो ऐसे कार्य) शिलास्तम्भ को उठाना आदि आश्चर्यजनक व्यापार को करता हुआ उस व्यापार का कर्ता होता है। उसीतरह जीव भी वीतराग परमसामायिक परिणत शुद्धोपयोग लक्षणरूप भेदज्ञान का अभाव होने से काम-क्रोधादि और शुद्धात्मा दोनों के भेद को न जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ-मैं काम हूँ' इत्यादि विकल्पों को करता हुआ कर्मों का कर्त्ता होता है। इसप्रकार क्रोधादि के सम्बन्ध में भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त पूर्ण हुआ। और उसीप्रकार जैसे कोई ध्यानाविष्ट विशाल भैंसे आदि का ध्यान करनेवाला पुरुष भैंसा आदि तथा अपने में भेद को न जानता हुआ 'मैं विशाल भैंसा हूँ, मैं गरुड़ हूँ, मैं कामदेव हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं दूध की धारा के समान अमृत की राशि हूँ' – इसप्रकार आत्मविकल्प करता हुआ भी उस विकल्प का कर्ता होता है। उसीप्रकार जीव भी सुख-दुख आदि में समताभावना परिणत शुद्धोपयोग लक्षणरूप भेदज्ञान का अभाव होने के कारण धर्मादि ज्ञेय पदार्थो और शुद्धात्मा का भेद न जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प करता है तथा उसी विकल्प का कर्ता होता है। विकल्प का कर्त्ता होने पर उसी समय द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। इसप्रकार धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेयपदार्थ के विषय में ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त पूर्ण हुआ।

शंका – हे भगवन् ! यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है इत्यादि ज्ञेयतत्त्व के विचार-विकल्प करने पर यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्व का विचार करना व्यर्थ है, इसलिए ज्ञेयतत्त्व का विचार नहीं करना चाहिए ?

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वम् –

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मु:ादि सव्वकत्तितं।।९७।।

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति सो मुंचति सर्वकर्तृत्वम्।।९७।।

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति, यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति। तथा हि – इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात्, ततः परात्मा-नावेकत्वेन जानाति, ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति, ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञान-

---

समाधान – ऐसा नहीं कहना चाहिए। यद्यपि त्रिगुप्ति रूप परिणत निर्विकल्प समाधि के काल में ज्ञेयतत्त्वों का विचार नहीं करना चाहिए; तथापि उस त्रिगुप्ति रूप ध्यान के अभाव होने पर शुद्धात्मा को उपादेय करके, आगमभाषा से तो मोक्ष को उपादेय करके, सरागसम्यक्त्व के काल में विषय-कषाय से बचने के लिए (ज्ञेयतत्त्व का विचार) करना चाहिए। उस तत्त्वविचार से मुख्यरूप से पुण्यबन्ध होता है तथा परम्परा से मोक्ष होता है इसमें दोष नहीं है; परन्तु वहाँ तत्त्वविचार काल में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान परिणत शुद्धात्मा साक्षात् उपादेय है – ऐसा जानना चाहिए।

शंका – आपके द्वारा वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के विचार काल में वीतराग विशेषण का प्रचुरता से प्रयोग क्यों किया जाता है ? क्या सराग रूप भी स्वसंवेदन ज्ञान होता है ?

समाधान – इसका उत्तर है कि विषयसुखानुभव के आनन्दरूप स्वसंवेदन ज्ञान सर्वजनप्रसिद्ध है वह सराग स्वसंवेदन ज्ञान ही है और शुद्धात्मसुखानुभूतिरूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग है। इसतरह का व्याख्यान स्वसंवेदन ज्ञान के व्याख्यान काल में सर्वत्र जानना चाहिए– ऐसा भावार्थ है।।९६।।

....

'इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है' यही अब कहते हैं :–

इस हेतु से परमार्थविद्, कर्ता कहें इस आत्म को।
यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्व को।।९७।।

गाथार्थ :– [**एतेन तु**] इसलिये [**निश्चयविद्भिः**] निश्चय के जाननेवाले ज्ञानियों ने [**सः आत्मा**] उस आत्मा को [**कर्ता**] कर्ता [**परिकथितः**] कहा है [**एवं खलु**] ऐसा निश्चय से [**यः**] जो [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह (ज्ञानी होता हुआ) [**सर्वकर्तृत्वम्**] सर्वकर्तृत्व को [**मु:ाति**] छोड़ता है।

टीका :– क्योंकि यह आत्मा अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व का आत्मविकल्प करता है, इसलिये वह निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है – जो ऐसा जानता है वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, इसलिये वह निश्चय से अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसे स्पष्ट समझाते हैं – यह आत्मा अज्ञानी

घनात्प्रभ्रष्टो वारम्वारमनेकविकल्पै: परिणमन् कर्ता प्रतिभाति। ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिध्यता प्रत्येक-स्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्ति: स्यात्, ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंत-मधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसा: कषायास्तै: सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति, ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुन: कृतकोऽनेक: क्रोधादिरपीति क्रोधोऽहमित्यादिविकल्प-मात्मनो मनागपि न करोति, तत: समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति, ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते, ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति।।९७।।

(वसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते य:।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्।।५७।।

होता हुआ, अज्ञान के कारण अनादि संसार से लेकर मिश्रित स्वाद का स्वादन – अनुभवन होने से (अर्थात् पुद्गलकर्म का और अपने स्वाद का एकमेकरूप से मिश्र अनुभव होने से), जिसकी भेदसंवेदन (भेदज्ञान) की शक्ति संकुचित हो गई है ऐसा अनादि से ही है; इसलिये वह स्व-पर को एकरूप जानता है; इसीलिये 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प करता है; इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन (स्वभाव) से भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

और जब आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञान के कारण ज्ञान के प्रारम्भ से लेकर पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभवन होने से (पुद्गलकर्म का और अपने स्वाद का एकरूप नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभवन होने से), जिसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है ऐसा होता है; इसलिये वह जानता है कि ''अनादिनिधन, निरन्तर स्वाद में आनेवाला, समस्त अन्य रसों से विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही एक जिसका रस है ऐसा यह आत्मा है और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं; उनके साथ जो एकत्व का विकल्प करना है, वह अज्ञान से है'' – इसप्रकार पर को और अपने को भिन्नरूप जानता है; इसलिये 'अकृत्रिम, (नित्य), एक ज्ञान ही मैं हूँ किन्तु कृत्रिम (अनित्य), अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ' ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता; इसलिये समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है; अत: सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है और इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ :– जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावों के कर्तृत्व को अज्ञान जानता है, वह स्वयं कर्ता क्यों बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो, तो परद्रव्य का कर्ता बनेगा; इसलिये ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता।।९७।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥५८॥

श्लोकार्थ :– [**किल**] निश्चय से [**स्वयं ज्ञानं भवन् अपि**] स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी [**अज्ञानतः तु**] अज्ञान के कारण [**यः**] जो जीव, [**सतृणाभ्यवहारकारी**] घास के साथ एकमेक हुये सुन्दर भोजन को खानेवाले हाथी आदि पशुओं की भाँति, [**रज्यते**] राग करता है (राग का और अपना मिश्र स्वाद लेता है) [**असौ**] वह, [**दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया**] श्रीखण्ड के खट्टे-मीठे स्वाद की अति लोलुपता से [**रसालम् पीत्वा**] श्रीखण्ड को पीता हुआ भी [**गां दुग्धम् दोग्धि इव नूनम्**] स्वयं गाय का दूध पी रहा है ऐसा माननेवाले पुरुष के समान है।

भावार्थ :– जैसे हाथी को घास के और सुन्दर आहार के भिन्न स्वाद का भान नहीं होता, उसीप्रकार अज्ञानी को पुद्‌गलकर्म का और अपने भिन्न स्वाद का भान नहीं होता; इसलिये वह एकाकाररूप से रागादि में प्रवृत्त होता है। जैसे श्रीखण्ड का स्वादलोलुप पुरुष, श्रीखण्ड के स्वादभेद को न जानकर, श्रीखण्ड के स्वाद को मात्र दूध का स्वाद जानता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव स्व-पर के मिश्र स्वाद को अपना स्वाद समझता है ॥५७॥

अज्ञान से ही जीव कर्ता होता है, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण [**मृगतृष्णिकां जलधिया**] मृगमरीचिका में जल की बुद्धि होने से [**मृगाः पातुं धावन्ति**] हिरण उसे पीने को दौड़ते हैं; [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण ही [**तमसि रज्जौ भुजगाध्यासेन**] अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से [**जनाः द्रवन्ति**] लोग (भय से) भागते हैं; [**च**] और (इसीप्रकार) [**अज्ञानात्**] अज्ञान के कारण [**अमी**] ये जीव, [**वातोत्तरङ्गाब्धिवत्**] पवन से तरंगित समुद्र की भाँति [**विकल्पचक्र- करणात्**] विकल्पों के समूह को करने से [**शुद्धज्ञानमयाः अपि**] यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं तथापि [**आकुलाः**] आकुलित होते हुए [**स्वयम्**] अपने आप ही [**कर्त्री भवन्ति**] कर्ता होते हैं।

भावार्थ :– अज्ञान से क्या-क्या नहीं होता ? हिरण बालू की चमक को जल समझकर पीने दौड़ते हैं और इसीप्रकार वे खेद-खिन्न होते हैं। अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी को सर्प मानकर लोग उससे डरकर भागते हैं। इसीप्रकार यह आत्मा, पवन से क्षुब्ध हुये तरंगित समुद्र की भाँति, अज्ञान के कारण अनेक विकल्प करता हुआ क्षुब्ध होता है और इसप्रकार – यद्यपि परमार्थ से वह शुद्धज्ञानघन है तथापि अज्ञान से कर्ता होता है ॥५८॥

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वा:पयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि।।५९।।

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदास:।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो:
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम्।।६०।।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान से आत्मा कर्ता नहीं होता :–

श्लोकार्थ :– [हंस: वा: पयसो: इव] जैसे हंस दूध और पानी के विशेष (अन्तर) को जानता है उसीप्रकार **[य:]** जो जीव **[ज्ञानात्]** ज्ञान के कारण **[विवेचकतया]** विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से **[परात्मनो: तु]** पर के और अपने **[विशेषम्]** विशेष को **[जानाति]** जानता है **[स:]** वह (जैसे हंस मिश्रित हुये दूध और पानी को अलग करके दूध को ग्रहण करता है उसीप्रकार) **[अचलं चैतन्यधातुम्]** अचल चैतन्यधातु में **[सदा]** सदा **[अधिरूढ:]** आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) **[जानीत एव हि]** मात्र जानता ही है, **[कि:ान अपि न करोति]** किंचित् मात्र भी कर्ता नहीं होता। (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता)।

भावार्थ :– जो स्व-पर के भेद को जानता है वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं ।।५९।।

अब, यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है वह ज्ञान से ही होता है :–

श्लोकार्थ :– [ज्वलन-पयसो: औष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था] (गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद, **[ज्ञानात् एव]** ज्ञान से ही प्रगट होता है। **[लवणस्वादभेदव्युदास: ज्ञानात् एव उल्लसति]** नमक के स्वादभेद का निरसन (निराकरण) ज्ञान से ही होता है (अर्थात् ज्ञान से ही व्यंजनगत नमक का सामान्य स्वाद उभर आता है और उसका स्वादविशेष निरस्त होता है)। **[स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो: च क्रोधादे: भिदा]** निजरस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु का और क्रोधादि भाव का भेद, **[कर्तृभावम् भिन्दती]** कर्तृत्व को (कर्तापन के भाव को) भेदता हुआ, **[ज्ञानात् एव प्रभवति]** ज्ञान से ही प्रगट होता है ।।६०।।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भाव को करता है, किन्तु पुद्गल के भाव को कभी नहीं करता – इस अर्थ का और आगे की गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित्॥६१॥

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – ततः स्थितमेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकर्तृत्वम् – **एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो** एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्त्ता भणितः। कैर्निश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः। तथाहि – वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रय-व्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता भवति, ततश्च द्रव्यकर्मबन्धो भवति। यदा तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणमति तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्व-रागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्ता न भवति। तत्कर्तृत्वाभावे हि द्रव्यकर्मबंधोऽपि न भवति। **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तितं** एवं गाथापूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति। एवमज्ञानात्कर्मप्रभवति, संज्ञानान्नश्यतीति स्थितं। इत्यज्ञानिसंज्ञानिजीवप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतम्। एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गतः॥९७॥

श्लोकार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**अंजसा**] वास्तव में [**आत्मानम्**] अपने को [**अज्ञानं ज्ञानम् अपि**] अज्ञानरूप या ज्ञानरूप [**कुर्वन्**] करता हुआ [**आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात्**] आत्मा अपने ही भाव का कर्ता है, [**परभावस्य**] परभाव का (पुद्गल के भावों का) कर्ता तो [**क्वचित् न**] कदापि नहीं है॥६१॥

इसी बात को दृढ़ करते हुये कहते हैं कि :–

श्लोकार्थ :– [**आत्मा ज्ञानं**] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, [**स्वयं ज्ञानं**] स्वयं ज्ञान ही है; [**ज्ञानात् अन्यत् किम् करोति**] वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? [**आत्मा परभावस्य कर्ता**] आत्मा परभाव का कर्ता है [**अयं**] ऐसा मानना (तथा कहना) सो [**व्यवहारिणाम् मोहः**] व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मानुभूति लक्षणरूप सम्यग्ज्ञान से कर्म के कर्त्तापने का नाश होता है। अब यह कहते हैं –

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो पूर्वोक्त तीन गाथाओं के व्याख्यान द्वारा वह आत्मा अज्ञानभाव से कर्ता कहा गया है। किसके द्वारा कहा गया है ? निश्चय के जानकार सर्वज्ञ भगवन्तों द्वारा कहा गया है। वह इसप्रकार है – वीतराग परम सामायिक संयम रूप परिणत अभेद रत्नत्रय के प्रतिपक्षी पूर्वोक्त तीन गाथाओं द्वारा कथित अज्ञानभाव से जब आत्मा परिणमित होता है, तब उसी मिथ्यात्व रागादिरूप अज्ञानभाव का कर्ता होता है, और उससे द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। किन्तु जब चिदानन्द एक स्वभाव

तथा हि –

ववहारेण दु आदा करेदि घड-पड-रधाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि॥९८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि॥९८॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिः कर्मकुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः॥९८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेषव्याख्यानं करोति। तद्यथा– परभावानात्मा करोतीति यद् व्यवहारिणो वदन्ति स व्यामोह इत्युपदिशति – **ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि** यत्तो यथा अन्योन्यव्यवहारेणैवं तु पुनः घटपटरथादिबहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा। **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** तथाभ्यन्तरेऽपि करणाणीन्द्रियाणि कर्माणि च नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेणाविशेषेण करोतीति मन्यन्ते, ततोऽस्ति व्यामोहो मूढत्वं व्यवहारिणाम्॥९८॥

रूप शुद्धात्मा की अनुभूति रूप परिणाम से परिणमित होता है, तब सम्यग्ज्ञानी होकर मिथ्यात्व रागादि भावकर्म रूप अज्ञानभाव का कर्ता नहीं होता है। उस कर्तापने के अभाव में निश्चय से द्रव्यकर्म का बन्ध नहीं होता है। **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं** इसप्रकार गाथा के पूर्वार्द्ध के व्याख्यान द्वारा मन में जो वस्तुस्वरूप जानता है, वह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभकर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है। वही जीव निश्चयचारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ-अशुभ सर्वकर्म कर्तृत्व को छोड़ता है। इसप्रकार अज्ञान से कर्म उत्पन्न होते हैं, सम्यग्ज्ञान से कर्म नाश होते हैं – यह सिद्ध हुआ। इसप्रकार अज्ञानी एवं सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रतिपादन की मुख्यता से दूसरे स्थल पर छह गाथाएँ पूर्ण हुईं। इसप्रकार द्विक्रियावादी निराकरण के विशेष व्याख्यान रूप बारह गाथाएँ पूर्ण हुईं॥९७॥

....

अब कहते हैं कि व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं :–

घट-पट-रथादिक वस्तुयें, कर्मादि अरु सब इन्द्रियाँ।
नोकर्म विधविध जगत में, आत्मा करे व्यवहार से॥९८॥

गाथार्थ :– [**व्यवहारेण तु**] व्यवहार से अर्थात् व्यवहारीजन मानते हैं कि [**इह**] जगत में [**आत्मा**] आत्मा [**घटपटरथान् द्रव्याणि**] घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओं को [**च**] और [**करणानि**] इन्द्रियों को, [**विविधानि**] अनेक प्रकार के [**कर्माणि**] क्रोधादि द्रव्यकर्मों को [**च नोकर्माणि**] और शरीरादिक नोकर्मों को [**करोति**] करता है।

टीका :– जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादि की क्रियारूप) व्यापार के द्वारा यह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्म को करता हुआ (व्यवहारीजनों को) प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार

स न सन् –

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥९९॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत्।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता॥९९॥

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्, न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति। ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति॥९९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति – **जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज** यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकांतरूपेण करोति तदा तन्मयः स्यात्। **जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** यस्मात्सहज-शुद्धस्वाभाविकानंतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति। ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादान-रूपेण कर्त्ता न भवतीत्यभिप्रायः॥९९॥

(आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त अंतरंग कर्म को भी, (उपरोक्त) दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं, इसलिये उनमें अन्तर न होने से करता है – ऐसा व्यवहारीजनों का व्यामोह (भ्रान्ति – अज्ञान) है।

भावार्थ :– घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि परद्रव्यों को आत्मा करता है ऐसा मानना सो व्यवहारीजनों का व्यवहार या अज्ञान है॥९८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पुनः उपसंहाररूप में ग्यारह गाथा तक द्विक्रियावादी के निराकरण के विषय में विशेष व्याख्यान करते हैं। वह इसप्रकार है – परभावों को आत्मा करता है, इसप्रकार जो व्यवहारीजन कहते हैं, वह उनका व्यामोह है, ऐसा उपदेश देते हैं – **ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि** क्योंकि जैसे अन्योन्य (परस्पर) व्यवहार से घट, पट, रथ आदि बाह्य परद्रव्यों को इच्छापूर्वक आत्मा करता है। **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** उसी तरह अन्तरंग में भी इन्द्रियों, कर्म और नोकर्मों को तथा इस जगत में विविध प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों को इच्छापूर्वक अविशेषपने (भेद न करता हुआ) आत्मा करता है– ऐसा जो मानते हैं, वह व्यवहारीजनों का व्यामोह है, मूढ़ता है॥९८॥

....

अब यह कहते हैं कि व्यवहारीजनों की यह मान्यता यथार्थ नहीं है :–

परद्रव्य को जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्ता जीव है॥९९॥

गाथार्थ :– [**यदि च**] यदि [**सः**] आत्मा [**परद्रव्याणि**] परद्रव्यों को [**कुर्यात्**] करे तो वह [**नियमेन**] नियम से [**तन्मयः**] तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय [**भवेत्**] हो जाये; [**यस्मात् न तन्मयः**] किन्तु तन्मय नहीं है [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**तेषां**] उनका [**कर्ता**] कर्ता [**न भवति**] नहीं है।

निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति –

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता[1] ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥१००॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषङ्गात् व्याप्यव्यापकभावेन

टीका :– यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे तो, अन्य किसी प्रकार से परिणाम-परिणामीभाव न बन सकने से, वह (आत्मा) नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये; परन्तु वह तन्मय नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्य के नाश की आपत्ति (दोष) आ जायेगी। इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता नहीं है।

भावार्थ :– यदि एक द्रव्य का कर्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें, क्योंकि कर्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एक द्रव्य में ही हो सकता है। इसीप्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये, तो उस द्रव्य का ही नाश हो जाये – यह बड़ा दोष आ जायेगा। इसलिये एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहना उचित नहीं है॥९९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वह व्यामोह सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं –

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज यदि वह आत्मा परद्रव्यों को नियम से एकान्त रूप से करता है तब तो वह आत्मा उन परद्रव्यों से तन्मय हो जाएगा **जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** परन्तु अपने सहज, शुद्ध, स्वाभाविक अनन्त सुखादि स्वरूप को छोड़कर परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है। इसलिए वह आत्मा उन परद्रव्यों का उपादान रूप से कर्ता नहीं होता है – ऐसा अभिप्राय है॥९९॥

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्य-व्यापकभाव से ही नहीं किन्तु) निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी कर्ता नहीं है :–

जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे।
उपयोग योग निमित्तकर्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥१००॥

गाथार्थ :– [**जीवः**] जीव [**घटं**] घट को [**न करोति**] नहीं करता [**पटं न एव**] पट को नहीं करता [**शेषकानि**] शेष कोई [**द्रव्याणि**] द्रव्यों को [**न एव**] नहीं करता [**च**] परन्तु [**योगोपयोगौ**] जीव के योग और उपयोग [**उत्पादकौ**] घटादि को उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं [**तयोः**] उनका [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] जीव होता है।

---

१. पाठान्तर = य सो तेसिं हवदि कत्ता

तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ। योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्ताऽस्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात्॥१००॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्त्ता न भवति किन्तु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति –

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि। कुत इति चेत् ? नित्यं सर्वकालं कर्मकर्तृत्वानुषंगात्। कस्तर्हि करोति? **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः। **सो तेसिं हवदि कत्ता** सुखदुःखजीवितमरणादिसमताभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित् कर्त्ता भवति न सर्वदा। अत्र योगशब्देन बहिरंगहस्तादिव्यापारः उपयोगशब्देन चांतरंगविकल्पो गृह्यते। इति परंपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः। इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥१००॥

टीका :– वास्तव में जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं उन्हें आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता; क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयता का प्रसंग आ जाये। तथा वह निमित्त-नैमित्तिकभाव से भी (उनको) नहीं करता, क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्व का (सर्व अवस्थाओं में कर्तृत्व होने का) प्रसंग आ जायेगा। अनित्य (जो सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूप से उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्म के) कर्ता हैं। (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्प को और (आत्मप्रदेशों के चलनरूप) अपने व्यापार को कदाचित् अज्ञान से करने के कारण योग और उपयोग का तो आत्मा भी कर्ता भले हो तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो (निमित्तरूप से भी कदापि) नहीं है।

भावार्थ :– योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञान का कषायों के साथ उपयुक्त होना – जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिक के निमित्त हैं, इसलिए उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिक का निमित्तकर्ता कहा जावे; परन्तु आत्मा को तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता। आत्मा को संसार-अवस्था में अज्ञान से मात्र योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यदृष्टि से कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य की पर्याय की निमित्त होती है, इसलिये इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के परिणामों के निमित्तकर्ता कहलाते हैं। परमार्थ से द्रव्य अपने ही परिणामों का कर्ता है, अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं होता ॥१००॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, न केवल उपादानरूप से कर्ता नहीं होता है अपितु निमित्तरूप से भी कर्ता नहीं होता है, ऐसा कहते हैं –

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् –

जे पोग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।१०१।।

ये पुदगलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी।।१०१।।

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी, किन्तु यथा स गोरसाध्यक्षस्त-दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव। एवं ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्। एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्या-

---

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे जीव न केवल उपादान रूप से अपितु निमित्तरूप से भी घट, पट एवं अन्य द्रव्यों का कर्ता नहीं है। कैसे कर्ता नहीं है ? क्योंकि जीव को हमेशा सर्वकाल ही परद्रव्यों के कार्यों का उपादान रूप से या निमित्तरूप से कर्ता बना रहना पड़ेगा। तब फिर कौन करता है ? **जोगुवओगा उप्पादगा य** आत्मा के विकल्प व्यापार रूप योग और उपयोग दोनों स्वयं विनश्वर हैं, वे (उपचार से) उनके (कार्यों के) उत्पादक कर्त्ता हैं। **सो तेसिं हवदि कत्ता** सुख-दुख, जीवन-मरण आदि में समता भावना रूप से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षणरूप भेदविज्ञान के अभाव से जिस काल में शुद्धबुद्ध एकस्वभावरूप परमात्मस्वरूप से भ्रष्ट होता है, तब वह जीव उन योग तथा उपयोग का कदाचित् कर्त्ता होता है; परन्तु सर्वदा उन योग-उपयोग का कर्ता नहीं है। यहाँ योग शब्द से बहिरंग हस्तादि व्यापार को तथा उपयोग शब्द से अंतरंग विकल्प भाव को ग्रहण किया गया है। इसप्रकार परम्परा से निमित्त रूप से घटादि विषय में जीव का कर्तृत्व है और यदि मुख्यरूप से निमित्तकर्त्तापना होता है– माना जाएगा तो जीव के नित्य होने से उसे नित्य कर्म कर्तृत्व का सदैव (परद्रव्यों के कार्यों के कर्त्तृत्व का) प्रसंग आ जाएगा। उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसतरह व्यवहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।।१००।।

....

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है :–

ज्ञानावरण आदिक सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि है।।१०१।।

गाथार्थ :– [**ये**] जो [**ज्ञानावरणानि**] ज्ञानावरणादिक [**पुद्गलद्रव्याणां**] पुद्गलद्रव्यों के [**परिणामाः**] परिणाम [**भवंति**] हैं [**तानि**] उन्हें [**यः आत्मा**] जो आत्मा [**न करोति**] नहीं करता परन्तु [**जानाति**] जानता है [**सः**] वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**भवति**] होता है।

टीका :– जैसे दूध-दही जो कि गोरस के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होने वाले गोरस के मीठे-खट्टे परिणाम हैं, उन्हें गोरस का तटस्थ दृष्टा पुरुष करता नहीं है, इसीप्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तव में पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होने वाले पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी करता नहीं

साद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि॥१०१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्त्ता न च परभावस्येति कथयति –

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवन्ति। **ण करेदि ताणि आदा** तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत्। **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानमात्रेण। इदमत्र तात्पर्यम् वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्त्ता। किंवदिति चेत् ? पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति। न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानां च तद्रूपेण परिणमन्नेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं भोक्तृत्वं च। न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकुम्भकारवदिति। एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसंज्ञैः सप्तभिः कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येऽपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः॥१०१॥

है; किन्तु जैसे वह गोरस का दृष्टा, अपने परिणाम के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होने वाले गोरस-परिणाम के दर्शन में व्याप्त होकर, मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञानी अपने परिणाम के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला पुद्गलद्रव्य-परिणाम जिसका निमित्त है, ऐसे ज्ञान में व्याप्त होकर मात्र जानता ही है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है।

और इसीप्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्म-सूत्र का (कर्म की गाथा का) विभाग करके कथन करने से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय के सात सूत्र तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन के सोलह सूत्र व्याख्यान रूप करना और इसीप्रकार इस उपदेश से अन्य भी विचार लेना॥१०१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी ज्ञान का ही कर्त्ता है परभाव का कर्त्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं–

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा जो कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल के परिणाम हैं – पर्यायें हैं, वे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप हैं। **ण करेदि ताणि आदा** उन पर्यायों को व्याप्य-व्यापक भाव से, जैसे मिट्टी कलश को करती है, उसीतरह आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को नहीं करता है। जैसे गोरस को ग्वाला देखता व जानता है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों को देखता व जानता है। **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इसप्रकार जो जानता है वह मिथ्यात्व, विषय-कषाय का परित्याग कर निर्विकल्प समाधि में स्थित होता हुआ ज्ञानी होता है। जानने मात्र से ज्ञानी नहीं होता है– यह यहाँ तात्पर्य है। वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्धनय से शुद्ध उपादान रूप से शुद्ध ज्ञान का ही कर्त्ता है। किसके समान शुद्धज्ञान का ही कर्ता है ? जिसप्रकार पीतत्व आदि गुणों का कर्त्ता सोना है, उष्णता आदि गुणों की कर्त्ता अग्नि है, अनन्तज्ञानादि

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् –

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा॥१०२॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्याम-चलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो

गुणों के कर्त्ता सिद्ध परमेष्ठी हैं, उसीप्रकार शुद्धज्ञान का कर्त्ता स्वसंवेदनज्ञानी आत्मा है परन्तु मिथ्यात्व रागादिरूप अज्ञानभाव का कर्ता नहीं है। शुद्ध उपादान रूप से शुद्ध ज्ञानादिभावों का तथा अशुद्ध उपादान रूप से मिथ्यात्व, रागादि भावों का तन्मय (तद्रूप)होकर परिणमन करते हुए ही कर्तापना और भोक्तापना जानना चाहिए; परन्तु हस्तव्यापार आदि क्रिया, जैसे इच्छापूर्वक कुम्भकार घट बनाने का कर्त्ता है, उस कुम्भकार की तरह आत्मा (हस्तव्यापारादि क्रिया का, ज्ञानावरणादि पुद्गल पर्यायों का) व्याप्य-व्यापक भाव से कर्ता नहीं है।

इसीप्रकार ज्ञानावरण पद बदलकर दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय नामक सातों कर्म भेदों के साथ तथा मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह सूत्रों की व्याख्या करना चाहिए। इसप्रकार से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न असंख्यात लोकमात्र प्रमाण अन्य विभाव परिणामों को जानना चाहिए॥१०१॥

....

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है :–

जो भाव जीव करे शुभाशुभ, उस हि का कर्ता बने।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने॥१०२॥

गाथार्थ :– [**आत्मा**] आत्मा [**यं**] जिस [**शुभम् अशुभम्**] शुभ या अशुभ [**भावं**] [अपने] भाव को [**करोति**] करता है [**तस्य**] उस भाव का [**सः**] वह [**खलु**] वास्तव में [**कर्ता**] कर्ता होता है, [**तत्**] वह [भाव] [**तस्य**] उसका [**कर्म**] कर्म [**भवति**] होता है [**सः आत्मा तु**] और वह आत्मा [**तस्य**] उसका [उस भावरूप कर्म का] [**वेदकः**] भोक्ता होता है।

टीका :– अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होने पर भी इस लोक में जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञान के कारण पर के और अपने एकत्व के अध्यास से मंद और तीव्र स्वादयुक्तपुद्गलकर्म के विपाक की दो दशाओं के द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वाद को भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भाव को करता है, वह आत्मा उस समय तन्मयता से उस भाव का व्यापक होने से कर्ता होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होने से उसका कर्म होता है और वही आत्मा

व्याप्यत्वाद्भवति कर्म, स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वाद्भवत्यनुभाव्य: एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्॥१०२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति – **जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता** सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमंदस्वादाभ्यां सुखदु:खरूपाभ्यां वा चिदानन्दैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाण: सन् यं भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मन: स्वतंत्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुटं कर्त्ता भवति। **तं तस्स होदि कम्मं** तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति। तेनात्मना क्रियमाणत्वात्। **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतंत्ररूपेण भोक्तृत्वात्, न च द्रव्यकर्मण:। किं च विशेष: – अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्त्ता न च द्रव्यकर्मण:। स चाशुद्धनिश्चय: यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। हे भगवन् ! रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति ? तत्कथ्यते – औपाधिकमुपादानमशुद्धं तप्ताय:पिण्डवत्, निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्, अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणानामग्निवत्। इदं व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थ:॥१०२॥

उस समय तन्मयता से उस भाव का भावक होने से उसका अनुभव करनेवाला (भोक्ता) होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयता से उस आत्मा का भाव्य होने से उसका अनुभाव्य (भोग्य) होता है। इसप्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है।

भावार्थ :– पुद्गलकर्म का उदय होने पर, ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञान का ही कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञान के कारण कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावों का कर्ता होता है। इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भाव का और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भाव का कर्ता है; परभाव का कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है॥१०२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब अज्ञानी भी रागादि स्वरूप अज्ञान भावों का कर्ता है, परन्तु ज्ञानावरणादि परद्रव्यों का कर्ता नहीं है, ऐसा निरूपण करते हैं –

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता (शुद्धनिश्चयनय से) चिदानन्द एक स्वभावरूप आत्मा एक है, तो भी (अशुद्धनिश्चयनय से) साता-असाता रूप उदय अवस्था में, तीव्रमन्द स्वादरूप से अथवा सुखदुखरूप से दो भेद करनेवाला होकर आत्मा जिस शुभ अथवा अशुभ भाव को करता है वह स्वतन्त्ररूप से, व्यापक होने के कारण उस भाव का स्पष्ट रूप से कर्ता होता है। **तं तस्स होदि कम्मं** वही उसका शुभ-अशुभ रूप भावकर्म है। उस आत्मा के द्वारा किए गए होने से **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** वह आत्मा उस शुभ-अशुभ रूप भावकर्म का स्वतन्त्ररूप से भोक्ता होने के कारण वेदक है, भोक्ता है; परन्तु द्रव्यकर्मों का भोक्ता नहीं है।

कुछ विशेष कहते हैं – अज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादान रूप से मिथ्यात्व रागादि भावों का ही कर्ता है, द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है। वह अशुद्ध निश्चय यद्यपि द्रव्यकर्म के कर्त्तृत्वरूप असद्भूत

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत –

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामदे दव्वं॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रमति द्रव्ये।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम्॥१०३॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः, स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तेत न पुनः द्रव्यांतरं गुणांतरं वा संक्रामेत। द्रव्यांतरं गुणांतरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत्? अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत॥१०३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते – **जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे** यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिंश्चेतनाचेतने द्रव्ये अनादिसंबंधेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रमत्येव सोऽपि। **सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं** स चेतनोऽचेतनो वा गुणः कर्त्ता अन्यद्भिन्नं द्रव्यान्तरमसंक्रांतः सन् कथं द्रव्यांतरं परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि॥१०३॥

व्यवहार की अपेक्षा निश्चय संज्ञा नाम पाता है, तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा वह व्यवहार ही है। हे भगवन् ! आपके द्वारा रागादि का अशुद्ध उपादान रूप से कर्तृत्व कहा गया है, वह उपादान शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो प्रकार कैसे है ? उसे कहा जाता है – उपाधियुक्त अशुद्ध उपादान है, तपे हुए लोह पिण्ड के समान। उपाधिरहित शुद्ध उपादान है, पीले गुणवाले सोने के समान, अनन्त ज्ञानादि गुण युक्त सिद्धजीव के समान तथा उष्ण गुण युक्त अग्नि के समान। उपादान कारण का कथन करते समय यह व्याख्यान शुद्ध तथा अशुद्ध उपादान रूप से सर्वत्र जान लेना चाहिए – ऐसा भावार्थ है॥१०२॥

....

अब यह कहते हैं कि परभाव को कोई (द्रव्य) नहीं कर सकता :–

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
अनसंक्रमा किस भाँति वह, परद्रव्य प्रणमावे अरे॥१०३॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) [**यस्मिन् द्रव्ये**] जिस द्रव्य में और [**गुणे**] गुण में वर्तती है [**सः**] वह [**अन्यस्मिन् तु**] अन्य [**द्रव्ये**] द्रव्य में तथा गुण में [**न संक्रमति**] संक्रमण को प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्य में नहीं मिल जाती); [**अन्यत् असंक्रान्तः**] अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई [**सः**] वह (वस्तु), [**तत् द्रव्यम्**] अन्य वस्तु को [**कथं**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकती है।

टीका :– जगत् में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निजरस से ही अनादि से ही वर्तती है, वह वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से, उसी में (अपने उतने द्रव्य-गुण में ही) वर्तती है; परन्तु द्रव्यान्तर

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्‌गलकर्मणामकर्ता –

दव्व-गुणस्स य आदा ण कुणदि पोग्गलमयम्हि कम्मम्हि।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्‌गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१०४॥

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्‌द्रव्यमृद्‌गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः, द्रव्यांतरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति। तथा पुद्‌गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्‌गलद्रव्यपुद्‌गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते, द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्? ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्‌गलकर्मणामकर्ता ॥१०४॥

या गुणान्तररूप संक्रमण को प्राप्त नहीं होती और द्रव्यान्तर या गुणांतररूप संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है? (कभी नहीं करा सकती।) इसलिए परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता।

भावार्थ :– जो द्रव्यस्वभाव है उसे कोई भी नहीं बदल सकता – यह वस्तु की मर्यादा है ॥१०३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब किसी के भी द्वारा परभावों को (किसी भी प्रकार से) उपादानरूप से किया जाना सम्भव नहीं है –

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे जो चेतन या अचेतन गुण, जिस चेतन या अचेतन द्रव्य में अनादि सम्बन्ध रूप स्वभाव से स्वतः ही प्रवर्तमान है, वह अन्य द्रव्य में संक्रमित नहीं होता है। **सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं** वह चेतन या अचेतन गुण कर्ता होकर दूसरे भिन्न द्रव्यान्तर रूप संक्रमित न होता हुआ द्रव्यान्तर को उपादान रूप से कैसे परिणमन करा सकता है ? किसी भी प्रकार से नहीं ॥१०३॥

....

उपर्युक्त कारण से आत्मा वास्तव में पुद्‌गलकर्म का अकर्ता सिद्ध हुआ, यह कहते हैं :–

आत्मा करे नहिं द्रव्य-गुण पुद्‌गलमयी कर्मों विषै।
इन उभय को उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्ता बने ॥१०४॥

गाथार्थ :– [**आत्मा**] आत्मा [**पुद्‌गलमये कर्मणि**] पुद्‌गलमय कर्म में [**द्रव्यगुणस्य च**] द्रव्य को तथा गुण को [**न करोति**] नहीं करता [**तस्मिन्**] उसमें [**तद् उभयम्**] उन दोनों को [**अकुर्वन्**] न करता हुआ [**सः**] वह [**तस्य कर्ता**] उसका कर्ता [**कथं**] कैसे हो सकता है ?

तात्पर्यवृत्ति टीका – ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति – **दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि** यथा कुम्भकारः कर्त्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य सम्बन्धि जड़स्वरूपं वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा संबंधिस्वरूपं मृत्तिकाकलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसंबंधि जड़स्वरूपं वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसंबंधिस्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति। **तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता** तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादि तद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्त्ता भवति? न कथमपि। चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः। अनेन किमुक्तं भवति ? यथा स्फटिको निर्मलोऽपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोऽपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोऽप्यमूर्तोऽपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति, तन्निरस्तम्। कस्मादिति चेत् ? मूर्तस्फटिकस्य मूर्तेन सहोपाधिसंबंधो घटते तस्य पुनः सदा मुक्तस्यामूर्तस्य कथं मूर्त्तोपाधिः ? न कथमपि, सिद्धजीववत्। अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्ध-निश्चयेनामूर्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टांतो घटत इति भावार्थः। एवं निश्चयनयमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम्॥१०४॥

टीका :– जैसे– मिट्टीमय घटरूपी कर्म जो कि मिट्टीरूपी द्रव्य में और मिट्टी के गुण में निजरस से ही वर्तता है, उसमें कुम्हार अपने को या अपने गुण को डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप में संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है; द्रव्यान्तररूप में (अन्य द्रव्यरूप में) संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण – दोनों को उस घटरूपी कर्म में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। इसीप्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्य में और पुद्गल के गुणों में निजरस से ही वर्तता है, उसमें आत्मा अपने द्रव्य को या अपने गुण को वास्तव में डालता या मिलाता नहीं है; क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप में संक्रमण होना अशक्य है; द्रव्यान्तररूप में संक्रमण प्राप्त किए बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण – दोनों को ज्ञानावरणादि कर्मों में न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थ से उसका कर्ता कैसे हो सकता है ? (कभी नहीं हो सकता।) इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ॥१०४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अतः सिद्ध है कि आत्मा पुद्गल कर्मों का अकर्त्ता है –

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि जैसे कुंभकार कर्ता होकर मिट्टी के कलश को करने के विषय में, मिट्टी द्रव्य सम्बन्धी जड़स्वरूप को, मिट्टी के वर्णादि गुण सम्बंधी स्वरूप को, मिट्टी से किए गये कलश की तरह तन्मय होकर नहीं करता है। उसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलमय द्रव्यकर्म के विषय में, पुद्गल द्रव्यकर्म सम्बन्धी जड़स्वरूप को, पुद्गलद्रव्य के वर्णादि गुण सम्बन्धी स्वरूप को तन्मय होकर नहीं करता है। **तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता** (जब आत्मा) इन दोनों को अर्थात् पुद्गल द्रव्यकर्म के स्वरूप को और उसके वर्णादि गुणों को तन्मय होकर नहीं करता है, तब उस पुद्गलद्रव्यरूप कर्म के विषय में वह जीव कर्ता कैसे हो सकता है ? किसी भी प्रकार से उस पुद्गलद्रव्यरूप कर्म का कर्ता नहीं हो सकता है; क्योंकि (अपने से भिन्न) चेतन या अचेतन परस्वरूप से यह जीव परिणमन नहीं

अतोऽन्यस्तूपचारः –

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार-मेत्तेण।।१०५।।

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम्।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण।।१०५।।

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमितिनिर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः।।१०५।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अतः कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः – **जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं** परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रय-लक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणति-निमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडंबरचंद्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेन्द्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं पर्यायं दृष्ट्वा **जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण** जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति।।१०५।।

करता है – यह अर्थ है। इसका क्या तात्पर्य है ? जैसे स्फटिक निर्मल होने पर भी जपापुष्प की उपाधिरूप से परिणमन करता है, वैसे ही कोई भी सदाशिव नामक पुरुष जो सदा मुक्त है, अमूर्त है तो भी यह पर की उपाधि से परिणमन करके जगत का निर्माण करता है – इस मान्यता का यहाँ निराकरण हो जाता है। किस कारण से निराकरण हो जाता है ? क्योंकि मूर्त स्फटिक का मूर्तिक जपापुष्पादि की उपाधि के साथ सम्बन्ध घटित हो जाता है, किन्तु सदामुक्त और अमूर्त सदाशिव के साथ मूर्त उपाधि का सम्बन्ध कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार भी घटित नहीं हो सकता है, जिसप्रकार सिद्धजीव के साथ उपाधि सम्बन्ध नहीं होता है। अनादि से कर्मबद्ध जीव शुद्धनिश्चय से शक्तिरूप से अमूर्त है, परन्तु व्यक्तिरूप से व्यवहार से मूर्त है इसलिये उसके साथ मूर्त उपाधि का दृष्टान्त भी घटित होता है – ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार निश्चयनय की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं।।१०४।।

....

इसलिए इसके अतिरिक्त अन्य अर्थात् आत्मा को पुद्गलकर्म का कर्ता कहना सो उपचार है, अब यह कहते हैं :–

जीव हेतुभूत हुआ अरे ! परिणाम देख जु बंध का।
उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्मा ने किया।।१०५।।

गाथार्थ :– [**जीवे**] जीव [**हेतुभूते**] निमित्तभूत होने पर [**बंधस्य तु**] कर्मबन्ध का [**परिणामम्**] परिणाम होता हुआ [**दृष्ट्वा**] देखकर, '[**जीवेन**] जीव ने [**कर्म कृतं**] कर्म किया' इसप्रकार [**उपचारमात्रेण**] उपचारमात्र से [**भण्यते**] कहा जाता है।

टीका :– इस लोक में वास्तव में आत्मा स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी,

कथमिति चेत् –

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो, न परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो, न परमार्थः ॥१०६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां दृढ़यति – **जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो** यथा योधैः युद्धे कृते सति राज्ञा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः। **तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण** तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादिकर्म जीवेनेति। ततः स्थितमेतत् यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणामयति न गृह्णाति च तथापि ॥१०६॥

अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभाव से परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिए 'पौद्गलिक कर्म आत्मा ने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट, विकल्प-परायण अज्ञानियों का विकल्प है; वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं।

भावार्थ :– कदाचित् होनेवाले निमित्त-नैमित्तिकभाव में कर्ताकर्मभाव कहना, सो उपचार है ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इस कारण से 'आत्मा द्रव्यकर्म करता है' ऐसा जो कहा जाता है, वह उपचार है–

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं जैसे बादलों की छाया, चन्द्रमा और सूर्य का परिवेश मण्डल आदि के निमित्तरूप योग्य काल होने पर पानी का बरसना, पुद्गलों का इन्द्रधनुष रूप में परिणत हो जाने रूप परिणमन होता देखा जाता है, उसी तरह परम उपेक्षासंयम भावना रूप परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षणरूप भेदज्ञान के अभाव में मिथ्यात्व रागादि परिणति के निमित्त हेतुरूप जीव के होने पर कर्मवर्गणा के योग्य पौद्गलिक ज्ञानावरणादि रूप से द्रव्यकर्म बन्ध की परिणति – पर्याय को देखकर **जीवेण कदं कम्मं भणदि उवयारमेत्तेण** जीव द्वारा कर्म किये गये ऐसा उपचार मात्र से (व्यवहार से) कहा जाता है ॥१०५॥

....

अब, यह उपचार कैसे है ? सो दृष्टान्त द्वारा कहते हैं :–

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीव ने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से ॥१०६॥

गाथार्थ :– **[योधैः]** योद्धाओं के द्वारा **[युद्धे कृते]** युद्ध किये जाने पर **[राज्ञा कृतम्]** 'राजा ने युद्ध किया' **[इति]** इसप्रकार **[लोकः]** लोक **[जल्पते]** (व्यवहार) से] कहते हैं **[तथा]** उसीप्रकार

अत एतत्स्थितम् –

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पोग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥१०७॥

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणामयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणामयति उत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

'**[ज्ञानावरणादि]** ज्ञानावरणादि कर्म **[जीवेन कृतं]** जीव ने किया' **[व्यवहारेण]** ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

टीका :– जैसे युद्धपरिणाम में स्वयं परिणमते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्धपरिणाम में स्वयं परिणमित नहीं होने वाले राजा में 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है; इसीप्रकार ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमित नहीं होने वाले आत्मा में 'आत्मा ने ज्ञानावरणादि कर्म किया' ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है।

भावार्थ :– योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'राजा ने युद्ध किया' इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य के द्वारा किये जाने पर भी उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीव ने कर्म किये' ॥१०६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी –अब उस ही उपचाररूप कर्म के कर्तापने को दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं– **जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो** जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा युद्ध करने पर राजा ने युद्ध किया ऐसा व्यवहार से लोग कहते हैं। **तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण** उसीप्रकार ज्ञानावरण आदि कर्म जीव ने किये ऐसा व्यवहार से कहते हैं। इसलिए सिद्ध हुआ कि यद्यपि शुद्धनिश्चय नय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप होने से जीव न किसी को उत्पन्न करता है, न करता है, न बांधता है, न परिणमाता है और न ही ग्रहण करता है॥१०६॥

....

अब कहते हैं कि उपर्युक्त हेतु से यह सिद्ध हुआ कि :–

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे।
पुद्गलदरब को आतमा, व्यवहारनय वक्तव्य है॥१०७॥

गाथार्थ :– **[आत्मा]** आत्मा **[पुद्गलद्रव्यम्]** पुद्गलद्रव्य को **[उत्पादयति]** उत्पन्न करता है,

कथमिति चेत् –

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहारात् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहारात् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अनादिबंधपर्यायवशेन वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुम्भकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति प्रकृतिबंधं करोति बध्नाति परिणामयति गृह्णातीति व्यवहारनयस्याभिप्रायेण वक्तव्यं व्याख्येयमिति। अथवा उत्पादयति प्रकृतिबंधं करोति स्थितिबंधं बध्नात्यनुभागबंधं परिणामयति प्रदेशबंधं तप्ताय:पिण्डो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्रायः ॥१०७॥

[**करोति च**] करता है और [**बध्नाति**] बाँधता है, [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**च**] और [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है – यह [**व्यवहारनयस्य**] व्यवहारनय का [**वक्तव्यम्**] कथन है।

टीका :– यह आत्मा वास्तव में, व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव के कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्म को ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता और न उसे करता है न बाँधता है; तथा व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने पर भी ''प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-पुद्गलद्रव्यात्मक कर्म को आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है''– ऐसा जो विकल्प वास्तव में उपचार है।

भावार्थ :– व्याप्य-व्यापकभाव के बिना कर्तृत्व-कर्मत्व कहना सो उपचार है; इसलिए आत्मा पुद्गलद्रव्य को ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है इत्यादि कहना सो उपचार है ॥१०७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अनादिकालीन बन्ध पर्याय के वशीभूत होने से वीतराग स्वसंवेदन लक्षणरूप भेदज्ञान के अभाव से रागादि परिणाम से स्निग्ध होता हुआ आत्मा कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य को, कुम्हार द्वारा बनाये गये घड़े की तरह, द्रव्यकर्म रूप से उत्पन्न करता है, प्रकृतिबन्ध करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है, ग्रहण करता है – यह वक्तव्य व्यवहार नय के अभिप्राय से व्याख्येय (कथन करने योग्य) है। अथवा उत्पन्न करता है, प्रकृतिबंध करता है, स्थितिबन्ध बांधता है, अनुभाग बंध को परिणमन कराता है। जिसप्रकार गर्म लोहपिण्ड सर्व ओर से जल को ग्रहण करता – सोखता है; उसीतरह प्रदेशबन्ध को सर्वात्म प्रदेशों से ग्रहण करता है – ऐसा अभिप्राय है ॥१०७॥

....

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है ? उसका उत्तर दृष्टांतपूर्वक कहते हैं :–

गुण-दोष उत्पादक कहा ज्यों, भूप को व्यवहार से।
त्यों द्रव्य गुण उत्पन्न कर्ता, जीव कहा व्यवहार से ॥१०८॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः, तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ॥१०८॥

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैतदेव व्याख्यानं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति –

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषिनिर्दोषिजनानां दोष-

---

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**राजा**] राजा को [**दोषगुणोत्पादकः इति**] प्रजा के दोष और गुणों को उत्पन्न करने वाला [**व्यवहारात्**] व्यवहार से [**आलपितः**] कहा है, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः**] जीव को [**द्रव्यगुणोत्पादकः**] पुद्गलद्रव्य के द्रव्य-गुणों को उत्पन्न करने वाला [**व्यवहारात्**] व्यवहार से [**भणितः**] कहा गया है।

टीका :– जैसे प्रजा के गुण-दोषों में और प्रजा में व्याप्य-व्यापकभाव होने से स्वभाव से ही (प्रजा के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी, यद्यपि उन गुण-दोषों में और राजा में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है तथापि यह उपचार से कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है।' इसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों में और पुद्गलद्रव्य में व्याप्य-व्यापकभाव होने से स्व-भाव से ही (पुद्गलद्रव्य के अपने भाव से ही) उन गुण-दोषों की उत्पत्ति होने पर भी, यद्यपि गुण-दोषों में और जीव में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव है तथापि उनका उत्पादक जीव है – ऐसा उपचार किया जाता है।

भावार्थ :– जगत् में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। इस कहावत से प्रजा के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला राजा कहा जाता है। इसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण-दोषों को उत्पन्न करनेवाला जीव कहा जाता है। परमार्थदृष्टि से देखा जाये तो यह यथार्थ नहीं, किन्तु उपचार है॥१०८॥

अब आगे की गाथा का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यदि पुद्गलकर्म जीवः न एव करोति**] 'यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता [**तर्हि**] तो फिर [**तत् कः कुरुते**] उसे कौन करता है ?' [**इति अभिशंकया एव**] ऐसी आशंका करके [**एतर्हि**] अब [**तीव्ररयमोहनिवर्हणाय**] तीव्र वेगवाले मोह का (कर्तृत्व-कर्मत्व के अज्ञान का) नाश करने के लिए, यह कहते हैं कि – [**पुद्गलकर्मकर्तृ संकीर्त्यते**] पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है ? [**शृणुत**] इसलिए (हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषो !) इसे सुनो ॥६३॥

सामण्ण-पच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य बोद्धव्वा॥१०९॥
तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पोग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करेंति कम्मं ण वि तेसिं वेदगो आदा॥१११॥

गुणोत्पादको भणितः। **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** तथा जीवोऽपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्य-पापगुणयोरुत्पादको भणितः। इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम्। एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यान-मुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः। ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातं तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धं पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति ? नैवं, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः। तथाहि – यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्ध्यतीति हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यम्।

इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थ-पीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण **'जदि सो पुग्गलदव्वं करेज्ज'** इत्यादिगाथाद्वयेन संक्षेपव्याख्यानम्। ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं ततोऽप्येकादशगाथाभिस्त-स्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पंचविंशतिगाथाभिः द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इसी कथन को दृष्टान्त व दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) द्वारा दृढ़ करते हैं –

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो जैसे लोक में व्यवहार से राजा सदोष-निर्दोष जनों के दोष-गुण का उत्पादक कहा जाता है। **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** वैसे ही जीव भी व्यवहार से पुद्गलद्रव्य के पुण्य-पाप रूप गुणों का उत्पादक कहा गया है। इसप्रकार व्यवहार की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं। इसप्रकार द्विक्रियावादी के निराकरण के उपसंहार रूप व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाएँ पूर्ण हुईं।

'निश्चय से आत्मा द्रव्यकर्म को नहीं करता है' ऐसा बहुत बार कहा गया है, उसी से ही द्विक्रियावादी का निराकरण सिद्ध होता है, अतः फिर से उसी का पिष्टपेषण किसलिए किया है ? ऐसा नहीं है। हेतु और हेतुमद् भाव को बताने के लिए बार-बार कथन करने में दोष नहीं है। उसका स्पष्टीकरण यह है निश्चय से जिस हेतु से आत्मा द्रव्यकर्म नहीं करता है, उसी हेतु से द्विक्रियावादी का निराकरण सिद्ध हो जाता है, इसलिए वह हेतुमद्भाव है – ऐसा जानना चाहिए। इसप्रकार पुण्य-पापादि सात पदार्थ की पीठिका रूप महाधिकार में पूर्वोक्त प्रकार से **'जदि सो पुग्गलदव्वं करेज्ज'** इत्यादि दो गाथाओं द्वारा संक्षेप में व्याख्यान किया है। उसके बाद बारह गाथाओं द्वारा उसका विशेष व्याख्यान किया है। उसके बाद ग्यारह गाथाओं द्वारा उपसंहार रूप से उसका ही पुनः विशेष कथन किया है, इसप्रकार समूह रूप से पच्चीस गाथाओं द्वारा द्विक्रियावादी का निषेध रूप तीसरा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ॥१०८॥

गुण-सण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तारः।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥१०९॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः।
मिथ्यादृष्ट्यादिः यावत् सयोगिनश्चरमान्तः ॥११०॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥१११॥
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥११२॥

अब यह कहते हैं कि पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है ? :-

सामान्य प्रत्यय चार निश्चय, बंध के कर्ता कहे।
मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग कषाय ये ही जानने ॥१०९॥

फिर उनहि का दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकार का।
मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरम भेद सयोगि का ॥११०॥

पुद्गल करम के उदय से, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करें कर्मों भले, भोक्ता भि नहिं जीवद्रव्य है ॥१११॥

परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करें इन कर्म को।
तिससे अकर्त्ता जीव है, गुणथान करते कर्म को ॥११२॥

गाथार्थ :– [**चत्वारः**] चार [**सामान्यप्रत्ययाः**] सामान्य प्रत्यय[1] [**खलु**] निश्चय से [**बंधकर्तारः**] बंध के कर्ता [**भण्यंते**] कहे जाते हैं, वे [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व, [**अविरमणं**] अविरमण [**च**] तथा [**कषाययोगो**] कषाय और योग [**बोद्धव्याः**] जानना। [**पुनः अपि च**] और फिर [**तेषां**] उनका, [**अयं**] यह [**त्रयोदशविकल्पः**] तेरह प्रकार का [**भेदः तु**] भेद [**भणितः**] कहा गया है [**मिथ्यादृष्टयादिः**] मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर [**सयोगिनः चरमांतः यावत्**] सयोगकेवली (गुणस्थान) के चरम समय पर्यंत का [**एते**] यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) [**खलु**] जो कि निश्चय से [**अचेतनाः**] अचेतन हैं [**यस्मात्**] क्योंकि [**पुद्गलकर्मोदयसंभवाः**] पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं [**ते**] वे [**यदि**] यदि [**कर्म**] कर्म [**कुर्वंति**] करते हैं तो भले करें; [**तेषां**] उनका (कर्मों का) [**वेदकः अपि**] भोक्ता भी [**आत्मा न**] आत्मा नहीं है। [**यस्मात्**] क्योंकि [**एते**] यह [**गुणसंज्ञिताः तु**] 'गुण'[2] नामक [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय

१. प्रत्यय = कर्मबंध के कारण अर्थात् आस्रव, २. गुण = गुणस्थान

पुद्गलकर्मण: किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषा: मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बंधस्य सामान्यहेतुतया चत्वार: कर्तार:, ते एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तास्त्रयोदश कर्तार:। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतना: संतस्त्रयोदश कर्तार: केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्यात्रापतितम् ? अथायं तर्क: – पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीव: स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किलाविवेक:, यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोऽपि, कथं पुन: पुद्गलकर्मण: कर्ता नाम ? अथैतदायातम् यत: पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्या: केवला एव कुर्वंति कर्माणि, तत: पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तार:। ते तु पुद्गलद्रव्यमेव। तत: स्थितं पुद्गलकर्मण: पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ॥१०९-११२॥

समुदायपातनिका – अथानंतरं '**सामण्णपच्चया**' इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यंतं मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति। तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीव: कर्म न करोति, प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयम्। अथवा शुद्धनिश्चयनयविवक्षां ये नेच्छंत्येकांतेन

[**कर्म**] कर्म [**कुर्वंति**] करते हैं [**तस्मात्**] इसलिए [**जीव**:] जीव तो [**अकर्ता**] कर्मों का अकर्ता है [**च**] और [**गुणा**:] 'गुण' ही [**कर्माणि**] कर्मों को [**कुर्वंति**] करते हैं।

टीका :– वास्तव में पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है; उसके विशेष –मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्ध के सामान्य हेतु होने से चार कर्ता हैं; उन्हीं के भेद करने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवली पर्यंत तेरह कर्ता हैं। अब, जो पुद्गलकर्म के विपाक के प्रकार होने से अत्यन्त अचेतन हैं – ऐसे यह तेरह कर्ता ही मात्र व्याप्य-व्यापकभाव से यदि कुछ भी पुद्गलकर्म को करें तो भले करें; इसमें जीव का क्या आया ? (कुछ भी नहीं)

यहाँ यह तर्क है कि 'पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ, जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है।' (इसका समाधान यह है कि –) यह तर्क वास्तव में अविवेक है, क्योंकि भाव्य-भावकभाव का अभाव होने से आत्मा निश्चय से पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादि का भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गलकर्म का कर्ता कैसे हो सकता है ? इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्य प्रत्ययों के भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय हैं जो कि 'गुण' शब्द से (गुणस्थान नाम से) कहे जाते हैं वही मात्र कर्मों को करते हैं, इसलिए जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है।

भावार्थ :– शास्त्रों में प्रत्ययों को बन्ध का कर्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं, इसलिए ये गुणस्थान बन्ध के कर्ता हैं अर्थात् पुद्गलकर्म के कर्ता हैं और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्ता है; जीव नहीं। जीव को पुद्गलकर्म का कर्ता मानना अज्ञान है॥१०९-११२॥

जीवो न करोतीति वदन्ति सांख्यमतानुसारिण: तान्प्रति दूषणं ददाति। कथमिति चेत् ? यदि ते प्रत्यया एव कर्मं कुर्वन्ति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणम्। अथवा तेषां मते जीव एकान्तेन कर्मं न करोतीति द्वितीयं दूषणम्। तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयम्। अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छंति तान्प्रति पुनरपि दूषणम्। कथमिति चेत् ? जीवप्रत्यययोरेकांतेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणम्। एकान्तेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषणमिति चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा–

तात्पर्यवृत्ति टीका – निश्चयेन मिथ्यात्वादिपौद्‌गलिकप्रत्यया एव कर्मं कुर्वन्तीति प्रतिपादयति –

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्‌गल एक एव कर्त्ता भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं चत्वारो बंधस्य कर्त्तारो भण्यन्ते सर्वज्ञै: उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवन्ति। सामान्यं कोऽर्थ: ? विवक्षाया अभाव: सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थ:। सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति। **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्या:। अथ **तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो तु तेरसवियप्पो** तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरिमो भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्प:। केन प्रकारेण ? **मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं** मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादि सयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति। अथ **एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा** एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्यया: शुद्धनिश्चयेनाचेतना:

समूहपीठिका – इसके बाद **'सामण्णपच्चया'** इत्यादि गाथा से लेकर पाठक्रम से सात गाथा पर्यन्त चार मूल प्रत्ययों का कर्म के कर्तृत्व की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं।

वहाँ सात गाथाओं में से चार गाथाओं में जैनमतानुसार शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध उपादान रूप से जीव कर्म नहीं करता है, किन्तु एकान्त से वे प्रत्यय ही कर्म करते हैं ऐसा कथन है अथवा शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा को जो स्वीकार नहीं करते हैं और एकान्त से '' जीव नहीं करता है'' ऐसा कहते हैं उन सांख्यमतानुसारी को दूषण देते हैं। कैसे दूषण देते हैं ? यदि वे प्रत्यय ही कर्म के कर्ता हैं, तो जीव उन कर्मों का वेदक भी नहीं है – यह एक दूषण है अथवा उनके मत में जीव एकान्त से कर्म को नहीं करता है ऐसा दूसरा दूषण है।

तत्पश्चात् शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप से जीव और प्रत्ययों का एकत्व नहीं है, ऐसा जैनमत का अभिप्राय है ऐसा कथन करनेवाली तीन गाथाएँ हैं अथवा पूर्वोक्त प्रकार से जो लोग नयविभाग को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके प्रति पुन: दूषण देते हैं। कैसे दूषण देते हैं? **जीव और प्रत्ययों का एकान्त से एकत्व होने पर जीव का अभाव होगा यह एक दूषण है तथा एकान्त से उनमें भिन्नपना होने पर संसार का अभाव होगा यह दूसरा दूषण है –**

इसप्रकार चौथे अन्तराधिकार में समूह पीठिका है। इसका विशेष कहते हैं–

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – निश्चय से मिथ्यात्वादि पौद्‌गलिक प्रत्यय ही कर्म करते हैं, इसप्रकार कहते हैं –

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो निश्चयनय से अभेद विवक्षा से पुद्‌गल एक ही कर्ता है, परन्तु भेदविवक्षा से (पौद्‌गलिक) चार सामान्य अथवा मूलप्रत्यय स्पष्ट रूप से बन्ध के कर्ता सर्वज्ञ भगवन्तों द्वारा कहे गये हैं तथा उत्तरप्रत्यय बहुत हैं। सामान्य का क्या अर्थ है? **विवक्षा के अभाव को**

खलु स्फुटं। कस्मात् ? पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्न: पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्ताया: पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्ना: मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया: अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धा:। शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना: पौद्गलिका:। परमार्थत: पुनरेकांतेन न जीवरूपा: न च पुद्गलरूपा: सुधाहरिद्रयो: संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवा: कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति ? ये केचन वदन्त्येकांतेन रागादयो जीवसंबंधिन: पुद्गलसंबंधिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयं ? सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छाम: इति। **ते जदि करंति कम्मं** ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वन्ति कर्म तदा कुर्युरेव जीवस्य किमायातं, शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** इति वचनात्। अथ मतं जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुङ्क्ते यतस्तत: कर्त्तापि भवतीति? नैवं। **ण वि तेसिं वेदहो आदा** यत: शुद्धनिश्चयेन वेदकोऽपि न हि तेषां कर्मणाम्। यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथं भविष्यति ? न कथमपि इति शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव। अथवा ये पुनरेकांतेनाकर्तेति वदन्ति तान्प्रति दूषणं। कथमिति चेत् ? यदैकांतेनाकर्त्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्त्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्त्ता प्राप्नोति। ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणम्। तेषां मते वेदकोऽपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणम्। अथ च वेदकमात्मानं मन्यन्ते सांख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणं प्राप्नोतीति। अथ **गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा** तत: स्थितं गुणस्थानसंज्ञिता: प्रत्यया: एते कर्म कुर्वन्तीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितं। **तम्हा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीव: कर्त्ता न भवति। गुणस्थानसंज्ञिता: प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति सम्मतमेव। एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतम्॥१०९-११२॥

सामान्य कहते हैं ऐसा सामान्य शब्द का अर्थ है। सामान्य के कथन काल में सर्वत्र ऐसा जानना चाहिए। **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** और वे चार प्रत्यय – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग जानना चाहिए। **तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो तु तेरसवियप्पो** अब उन प्रत्ययों के गुणस्थान भेद से तेरह भेद कहे गये हैं। किस प्रकार तेरह भेद कहे हैं ? **मिच्छादिट्ठी आदी जाव सजोगिस्स चरमंतं** वे मिथ्यात्वादि गुणस्थान से लेकर सयोग केवली के चरम समय तक तेरह भेद हैं।

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा अब ये मिथ्यात्व आदि भावप्रत्यय स्पष्टत: शुद्धनिश्चय से अचेतन हैं। किस कारण से अचेतन हैं ? क्योंकि वे पुद्गल कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं, इस कारण अचेतन हैं। जिसप्रकार स्त्री और पुरुष से जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे ही विवक्षा के वश यह देवदत्ता (स्त्री) का पुत्र है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। तथा कुछ लोग उसे यह देवदत्त (पुरुष) का पुत्र है, ऐसा कहते हैं। इन कथनों में विवक्षा वशात् दोष नहीं है। उसीप्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न मिथ्यात्व, रागादि भावप्रत्यय अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादान रूप से चेतना अथवा जीव से सम्बद्ध हैं। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप से अचेतन अथवा पौद्गलिक हैं । परमार्थ से प्रत्यय न तो एकान्त से सर्वथा जीवरूप हैं और न ही एकान्त से पुद्गलरूप हैं, किन्तु चूना एवं हल्दी के संयोग से उत्पन्न कुमकुम के समान हैं। वस्तुत: सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से वे मिथ्यात्वादि प्रत्यय जीव के हैं ही नहीं। वे तो अज्ञान से उत्पन्न हुए कल्पित हैं। इसका क्या तात्पर्य है ? तात्पर्य यह कि जो कोई व्यक्ति एकान्त से रागादि को जीव का कहते

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वम् –

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अयमेगत्ते दोसो पच्चय-णोकम्म-कम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

हैं अथवा एकान्त से पुद्‌गल का कहते हैं, वे दोनों वचन मिथ्या हैं। किस कारण से मिथ्या है ? क्योंकि पूर्वोक्त स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त की तरह वे संयोग से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न – अब यह माना जाये कि वे रागादि भाव सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से किसके हैं ? ऐसा हम पूछते हैं ? **उत्तर –** सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से उनका अस्तित्व ही नहीं है यह पहले ही कहा जा चुका है, अत: हम उत्तर कैसे देवें ? **ते जदि करंति कम्मं** वे प्रत्यय कर्म करते हैं तो करें इसमें जीव का क्या आया? शुद्ध निश्चयनय से यह सम्मत ही है।**'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** ऐसा आगम का वचन है।

अब यदि माना जाये कि जीव मिथ्यात्व के उदय में मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व रागादि भावकर्म को जैसे भोक्ता है, वैसे ही कर्ता भी हो जाता है ? ऐसा नहीं है। **ण वि तेसिं वेदहो आदा** क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा उन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है। जब भोक्ता नहीं है तब कर्ता भी कैसे होगा? किसी प्रकार भी कर्ता नहीं है ऐसा शुद्धनिश्चय नय से सम्मत ही है। अथवा जो फिर एकान्त से अकर्ता कहते हैं, उनको भी दोष देते हैं। कैसे दोष देते हैं? यदि एकान्त से आत्मा अकर्ता है तो जिसप्रकार शुद्धनिश्चय नय से अकर्ता है उसीप्रकार व्यवहारनय से भी अकर्तापने को प्राप्त होता है। तब सर्वथा ही अकर्तृत्व मानने पर संसार का अभाव होता है, यह एक दोष है। उसके मत में आत्मा भोक्ता भी नहीं है यह दूसरा दोष है और यदि सांख्य आत्मा को भोक्ता मानते हैं तो उनके स्वमत का व्याघात होता है – यह भी दोष है। **गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा** इसलिए यह सिद्ध हुआ कि गुणस्थान नामक जो प्रत्यय हैं, वे कर्मों को करते हैं, जैसा कि पूर्व गाथा में कहा है। **तम्हा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** इसलिए शुद्धनिश्चय से जीव उन कर्मों का कर्ता नहीं है। गुणस्थान संज्ञा वाले प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं, यह सम्मत ही है। इसप्रकार शुद्ध निश्चयनय से प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं, इस तरह से व्याख्यान करनेवाली चार गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१०९-११२॥

....

अब यह कहते हैं कि जीव और उन प्रत्ययों में एकत्व नहीं है :–

उपयोग ज्योंहि अनन्य जीव का क्रोध त्यों ही जीव का।
तो दोष आवे जीव त्योंहि अजीव के एकत्व का॥११३॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम्।।११३।।
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम्।।११४।।
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत्।।११५।।

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः। एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः। अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जड-स्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषात्। नास्ति जीवप्रत्यययो-रेकत्वम्।।११३-११५।।

यों जगत में जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुए।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के एकत्व में भी दोष ये।।११४।।

जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोग-आत्मक अन्य है।
तो क्रोधवत् नोकर्म, प्रत्यय कर्म भी सब अन्य हैं।।११५।।

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**जीवस्य**] जीव के [**उपयोगः**] उपयोग [**अनन्यः**] अनन्य अर्थात् एकरूप है [**तथा**] उसीप्रकार [**यदि**] यदि [**क्रोधःअपि**] क्रोध भी [**अनन्यः**] अनन्य हो तो [**एवम्**] इसप्रकार [**जीवस्य**] जीव के [**च**] और [**अजीवस्य**] अजीव के [**अनन्यत्वम्**] अनन्यत्व [**आपन्नम्**] आ गया। [**एवम् च**] और ऐसा होने से, [**इह**] इस जगत् में [**यः तु**] जो [**जीवः**] जीव है [**सः एव**] वही [**नियमतः**] नियम से [**तथा**] उसीप्रकार [**अजीवः**] अजीव सिद्ध हुआ; (दोनों के अनन्यत्व होने में यह दोष आया;) [**प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम्**] प्रत्यय, नोकर्म और कर्म के [**एकत्वे**] एकत्व में भी [**अयम् दोषः**] यही दोष आता है। [**अथ**] अब यदि (इस दोष के भय से) [**ते**] तेरे मत में [**क्रोधः**] क्रोध [**अन्यः**] अन्य है और [**उपयोगात्मकः**] उपयोग स्वरूप [**चेतयिता**] आत्मा [**अन्यः**] अन्य [**भवति**] है, तो [**यथा क्रोधः**] जैसे क्रोध है [**तथा**] वैसे ही [**प्रत्ययः**] प्रत्यय [**कर्म**] कर्म [**नोकर्म अपि**] और नोकर्म भी [**अन्यत्**] आत्मा से अन्य ही हैं।

टीका :– जैसे जीव के उपयोगमयत्व के कारण जीव से उपयोग अनन्य (अभिन्न) है, उसीप्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है यदि ऐसी प्रतिपत्ति[१] की जाये तो चिद्रूप[२] (जीव) और जड़ के अनन्यत्व के

---

१. प्रतिपत्ति – प्रतीति, प्रतिपादन २. चिद्रूप – जीव

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकांतेनेति कथयति –

जह जीवस्स अणण्णुवओगो यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोग:। कस्मात्? अनन्यवेद्यत्वात् अशक्यविवेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत्। **कोहो वि तह जदि अणण्णो** तथा क्रोधोऽपि यद्यनन्यो भवत्येकांतेन तदा किं दूषणं ? **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं** एवमभेदे सति सहजशुद्धाखण्डैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति। अथ **एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो** एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीव: स एव तथैवाजीव: भवति नियमान्निश्चयात्। तथा सति जीवाभावाद् दूषणं प्राप्नोति। **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** अयमेव च दोषो जीवाभावरूप:। कस्मिन् सति ? एकांतेन निरंजननिजानन्दैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति। केषाम् ? मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति। अथ प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति। **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्यो भिन्न: क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात्। **जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं** यथा जड: क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभाव-जीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्मनोकर्माण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मत

कारण जीव के उपयोगमयता की भाँति जड़ – क्रोधमयता भी आ जायेगी और ऐसा होने पर जो जीव है वही अजीव सिद्ध होगा – इसप्रकार अन्य द्रव्य का लोप हो जायेगा। इसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जीव से अनन्य हैं ऐसी प्रतिपत्ति में भी यही दोष आता है। इसलिए यदि इस दोष के भय से यह स्वीकार किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और जड़स्वभाव क्रोध अन्य ही है, तो जैसे उपयोगात्मक जीव से जड़स्वभाव क्रोध अन्य है, उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं क्योंकि उनके जड़स्वभावत्व में अन्तर नहीं है (अर्थात् जैसे क्रोध जड़ है उसी प्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जड़ हैं) इसप्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है।

भावार्थ :– मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्यों के लोप होने का महादोष आता है। इसलिए निश्चयनय का यह सिद्धांत है कि आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है ॥११३-११५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब एकान्त से जीव और प्रत्ययों का एकत्व नहीं है, ऐसा कहते हैं –

जह जीवस्स अणण्णुवओगो जिसप्रकार जीव के ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग का अनन्यत्व अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है, किस कारण से तादात्म्य सम्बन्ध है ? क्योंकि वे अभिन्नता से अनुभव में आते हैं, उन्हें अग्नि और उष्णता की तरह भिन्न करना असम्भव है। **कोहो वि तह जदि अणण्णो** उसीप्रकार क्रोध भी यदि एकान्त से आत्मा से अनन्य या तादात्म्य होता तो क्या दोष आता? **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं** इसप्रकार क्रोध व आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध मानने से सहज शुद्ध अखण्ड एक ज्ञान-दर्शनोपयोगमय जीव और अजीव को एकत्व प्राप्त होता है।

एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो अब, इसप्रकार पूर्वोक्त सूत्र व्याख्यान क्रम से जो जीव है वही अजीव होगा, ऐसा नियम से निश्चय से मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर जीव के अभाव का दोष आयेगा। **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** और जीव का अभाव मानना दोष है। किसके

एव। किंच, शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात् ? निश्चयव्यवहारयो: परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत् ? यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्त: इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभाव:, कर्मबन्धाभावे संसाराभाव:, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोध: संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। एवं प्रत्ययजीवयोरेकांतेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतम्। अत्राह शिष्य: – शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं, तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति ? नैवं। रागादिभावकर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभि: सह तारतम्यज्ञापनार्थम्। कथं तारतम्यमिति चेत् ? द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यत: कारणादशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अयमत्र भावार्थ:। द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन। स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभि: चतुर्थोऽन्तराधिकार: समाप्त:।।११३-११५।।

होने पर जीव के अभाव रूप दोष होगा ? एकान्त से निरंजन, निजानन्द, एक लक्षणवाले जीव के साथ एकत्व होने पर जीव के अभावरूप दोष होगा। किसका एकत्व मानने पर दोष होगा ? मिथ्यात्वादि प्रत्यय, नोकर्म तथा कर्म का एकत्व मानने पर दोष होगा।

यहाँ (प्राकृत गाथा में) प्राकृतभाषा के लक्षण के कारण प्रत्यय शब्द ह्रस्व (एक वचन ही) है। **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अब पूर्वोक्त जीव के अभाव होने रूप दोष से बचने के लिए यदि आपका ऐसा अभिप्राय है कि क्रोध जीव से भिन्न है और विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा क्रोध से भिन्न है। **जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं** जिसतरह जड़ क्रोध निर्मल चैतन्य स्वभाव वाले जीव से भिन्न है, उसी तरह प्रत्यय, कर्म, नोकर्म भी आत्मा से भिन्न है, यह कथन शुद्ध निश्चय से (हमें) सम्मत ही है।

और कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से जीव का अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व तथा क्रोधादि भावों से भिन्नत्व होता है – ऐसा कथन करने पर द्वितीय पक्ष में व्यवहार से कर्तृत्व और भोक्तृत्व तथा क्रोधादि से अभिन्नत्व भी प्राप्त होता ही है। किस कारण से (कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं क्रोधादि से अभिन्नत्व प्राप्त होता है) ? निश्चय तथा व्यवहार के परस्पर सापेक्ष होने के कारण (अकर्तृत्ववत् कर्तृत्व आदि भी प्राप्त होता है)। किसप्रकार से सापेक्षपना है ? जिसप्रकार यह देवदत्त दाईं आँख से देखता है ऐसा कहे जाने पर बायीं आँख से नहीं देखता है ऐसा बिना कहे ही सिद्ध होता है। जो ऐसा परस्पर सापेक्ष नयविभाग नहीं मानते हैं, उन सांख्य, सदाशिव मतानुसारी पुरुषों के मत में जिसतरह शुद्धनिश्चय नय से क्रोधादि का कर्ता नहीं होता है तथा जीव क्रोधादि से भिन्न होता है, उसीतरह व्यवहार से भी जीव क्रोधादि की भिन्नता ठहरेगी। इससे क्रोधादिरूप परिणमन का अभाव होने पर सिद्ध जीवों की तरह कर्मबन्ध का अभाव होने पर संसार का अभाव होगा, संसार का अभाव होने से जीव नित्य मुक्तपने को प्राप्त होगा। परन्तु वह तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है, क्योंकि

अथ पुद्‌गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति –

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पोग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि॥११६॥
कम्मइग-वग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥११७॥
जीवो परिणामयदे पोग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा[1]॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पोग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पोग्गलं दव्वं।
तह तं णाणावरणाइ-परिणदं मुणसु तच्चेव॥१२०॥

संसार तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसप्रकार प्रत्यय तथा जीव के एकान्त से एकत्व के निराकरण रूप से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

प्रश्न – यहाँ शिष्य पूछता है कि शुद्धनिश्चयनय से जीव को अकर्ता तथा व्यवहारनय से जीव को कर्ता है – ऐसा आपने अनेक बार कहा है। वहाँ ऐसा होने पर जैसे द्रव्यकर्मों का व्यवहार से कर्तापना है, वैसे रागादि भावकर्मों का भी कर्तापना हुआ, इससे दोनों द्रव्यकर्म तथा भावकर्म को एकत्व (एकपना) प्राप्त होगा? **उत्तर** – परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि जीव को रागादि भावकर्मों का कर्ता कहने का जो यह व्यवहार है, उसे अशुद्ध निश्चय संज्ञा है। वह तो द्रव्यकर्मों का भावकर्मों के साथ तारतम्य दिखाने के लिए है। किसप्रकार तारतम्य दिखाता है ? द्रव्यकर्म अचेतन हैं और भावकर्म चेतन हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से भावकर्म भी अचेतन ही हैं। इस कारण से अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहारनय ही है– यह यहाँ भावार्थ है। द्रव्यकर्मों का कर्तापना और भोक्तापना अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से तथा रागादि भावकर्मों का कर्तापना और भोक्तापना अशुद्ध निश्चय से है। वह अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है। इसप्रकार पुण्य-पाप आदि सप्त पदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार में सात गाथाओं द्वारा चौथा अन्तराधिकार समाप्त हुआ॥११३-११५॥

....

अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति पुद्‌गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं (अर्थात् सांख्यमतवाले प्रकृति और पुरुष को अपरिणामी मानते हैं, उन्हें समझाते हैं) :–

जीव में स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे।
तो वो हि पुद्‌गलद्रव्य भी, परिणमन हीन बने अरे!॥११६॥

---

१. पाठान्तर = णाणी

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥११८॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम्।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम्।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

जो वर्गणा कार्माण की, नहिं कर्मभावों परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुए! ॥११७॥

जो कर्मभावों परिणमावे जीव पुद्गलद्रव्य को।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहिं परिणमत जो ॥११८॥

स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे।
जीव परिणमावे कर्म को, कर्मत्व में मिथ्या बने ? ॥११९॥

पुद्गलदरव जो कर्मपरिणत, नियम से कर्म हि बने।
ज्ञानावरण इत्यादि परिणत, वोहि तुम जानो उसे ॥१२०॥

गाथार्थ :– [**इदम् पुद्गलद्रव्यम्**] यह पुद्गलद्रव्य [**जीवे**] जीव में [**स्वयं**] स्वयं [**बद्धं न**] नहीं बँधा [**कर्मभावेन**] और कर्मभाव से [**स्वयं**] स्वयं [**न परिणमते**] नहीं परिणमता [**यदि**] यदि ऐसा माना जाये [**तदा**] तो वह [**अपरिणामी**] अपरिणामी [**भवति**] सिद्ध होता है; [**च**] और [**कार्मणवर्गणासु**] कार्मणवर्गणाएँ [**कर्मभावेन**] कर्मभाव से [**अपरिणममानासु**] नहीं परिणमती होने से, [**संसारस्य**] संसार का [**अभावः**] अभाव [**प्रसजति**] सिद्ध होता है [**वा**] अथवा [**सांख्यसमयः**] सांख्यमत का प्रसंग आता है।

और [**जीवः**] जीव [**पुद्गलद्रव्याणि**] पुद्गलद्रव्यों को [**कर्मभावेन**] कर्मभाव से [**परिणामयति**] परिणमाता है ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है कि [**स्वयम् अपरिणममानानि**] स्वयं नहीं परिणमती हुई [**तानि**] उन वर्गणाओं को [**चेतयिता**] चेतन आत्मा [**कथं नु**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकता ? [**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलम् द्रव्यम्**] पुद्गलद्रव्य [**स्वयमेव हि**] अपने आप ही [**कर्मभावेन**] कर्मभाव से [**परिणमते**] परिणमन करता है ऐसा माना जाये, तो [**जीवः**] जीव [**कर्म**] कर्म को अर्थात् पुद्गलद्रव्य को [**कर्मत्वम्**] कर्मरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**इति**] यह कथन [**मिथ्या**] मिथ्या

यदि पुद्‌गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभावः। अथ जीवः पुद्‌गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः। किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्‌गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयम-परिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते। ततः पुद्‌गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु। तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञाना-वरणादिकर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्‌गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम्॥११६-१२०॥

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्‌गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता॥६४॥

सिद्ध होता है। [**नियमात्**] इसलिए जैसे नियम से [**कर्मपरिणतं**] कर्मरूप (कर्ता के कार्यरूप से) परिणमित [**पुद्‌गलम् द्रव्यम्**] पुद्‌गलद्रव्य [**कर्म चैव**] कर्म ही [**भवति**] है [**तथा**] इसी प्रकार [**ज्ञानावरणादिपरिणतं**] ज्ञानावरणादिरूप परिणमित [**तत्**] पुद्‌गलद्रव्य [**तत् चैव**] ज्ञानावरणादि ही है [**जानीत**] ऐसा जानो।

टीका :– यदि पुद्‌गलद्रव्य जीव में स्वयं न बँधकर कर्मभाव से स्वयमेव परिणमता न हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा। और ऐसा होने से संसार का अभाव होगा। (क्योंकि यदि पुद्‌गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे; तब फिर संसार किसका ?) यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि ''जीव पुद्‌गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है इसलिए संसार का अभाव नहीं होगा,'' तो उसका निराकरण दो पक्षों को लेकर इसप्रकार किया जाता है कि – क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्‌गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को दूसरे के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; **क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता।** (इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है) और स्वयं परिणमते हुए को अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं होती; **क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं।** (इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है) अतः पुद्‌गलद्रव्य परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होने से, जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है उसीप्रकार, जड़-स्वभाववाले ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित पुद्‌गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है। इसप्रकार पुद्‌गलद्रव्य का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ॥११६-१२०॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इति**] इसप्रकार [**पुद्‌गलस्य**] पुद्‌गलद्रव्य की [**स्वभावभूतापरिणामशक्तिः**] स्वभावभूत परिणमन शक्ति [**खलु अविघ्ना स्थिता**] निर्विघ्न सिद्ध हुई। और [**तस्यां स्थितायां**] उसके सिद्ध होने पर, [**सः आत्मनः यम् भावं करोति**] पुद्‌गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है [**तस्य सः एव कर्ता**] उसका वह पुद्‌गलद्रव्य ही कर्ता है।

समुदायपातनिका – अत: परं **'जीवे ण सयं बद्धं'** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा गाथाष्टकपर्यंतं सांख्यमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवपुद्गलयोरेकांतेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथंचित् परिणामित्वं स्थापयति। तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयम्। तदनंतरं जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापंचकमिति पंचमस्थले समुदायपातनिका।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति –

जीवे ण सयं बद्धं जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मबद्धं नास्ति। कस्मात् ? सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात्। **ण सयं परिणमदि कम्मभावेण** न च स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति। कस्मात्? सर्वथा नित्यत्वात्। **जदि पुग्गलदव्वमिणं** एवमित्थंभूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्भवतां सांख्यमतानुसारिणां **अप्परिणामी तदा होदि** ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति। ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषणं भवति? अथ **कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण** कार्मणवर्गणाभिरपरिणमंतीभिः कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा **संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा** संसारस्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य, सांख्यसमयवदिति। अथ मतं। **जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** जीवः कर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवतीति चेत् ? **ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि णाणी** ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत्? न तावदपरिणममानं परिणामयति **न च स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।** यथा जपापुष्पादिकं कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तंभादौ किं न जनयतीति ? अथैकांतेन परिणममानं परिणामयति। तदपि न घटते। **न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते** तर्हि जीवो निमित्तकर्तारमंतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु। तथा च सति किं दूषणं?

भावार्थ :– सर्व द्रव्य परिणमनस्वभाववाले हैं, इसलिए वे अपने-अपने भाव के स्वयं ही कर्ता हैं। पुद्गलद्रव्य भी अपने जिस भाव को करता है, उसका वह स्वयं ही कर्ता है॥६४॥

....

समूहपीठिका – इसके बाद **''जीवे ण सयं बद्धं''** इत्यादि गाथा से लेकर आठ गाथा पर्यंत सांख्यमतानुसारी शिष्य को सम्बोधनार्थ जीव तथा पुद्गल के एकान्त रूप से अपरिणामीपने का निषेध करते हुए कथंचित् परिणामीपना स्थापित करते हैं। वहाँ आठ गाथाओं में से पुद्गल के परिणामीपने के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद जीव के परिणामीपने की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हैं। – इसप्रकार पाँचवें स्थल में समूहपीठिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के लिए पुद्गल का कथंचित् परिणामस्वभाव सिद्ध करते हैं–

जीवे ण सयं बद्धं अधिकरणभूत जीव में पुद्गल द्रव्यकर्म स्वयं स्वभाव से बद्ध नहीं है। किस कारण से बद्ध नहीं है ? क्योंकि हमेशा जीव का स्वभाव शुद्ध है। **ण सयं परिणमदि कम्मभावेण** और स्वयं अपने आप ही (पुद्गल द्रव्य) कर्मभाव से अथवा द्रव्यकर्म पर्यायरूप से परिणमित नहीं होते हैं। किस कारण परिणमित नहीं होते हैं ? क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य भी सदा नित्य है। **जदि पुग्गलदव्वमिणं** यदि इसप्रकार पुद्गल द्रव्य को माना जाये तो आपके – सांख्यमतानुसारी के **अप्परिणामी तदा होदि** उस कारण से पुद्गल द्रव्य अपरिणामी ही होगा। तथा अपरिणामीपना होने पर क्या दोष होता है, उसे आगे कहते हैं–

घटपटस्तंभादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात्। स च प्रत्यक्षविरोधः। ततः स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथंचित्परिणामित्वशक्तिः तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता। यं स्वस्य संबंधिनं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य स एवोपादानकारणं कलशस्य मृत्पिण्डमिव। न च जीवः स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिदम्। तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति। एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन **शब्दार्थो** ज्ञातव्यः। व्यवहारनिश्चयरूपेण **नयार्थो** ज्ञातव्यः। सांख्यं प्रति **मतार्थो** ज्ञातव्यः। **आगमार्थस्तु** प्रसिद्धः। हेयोपादानव्याख्यानरूपेण **भावार्थोऽपि** ज्ञातव्यः। इति शब्दनयमतागमभावार्थः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः। एवं पुद्गलपरिणामस्थापनार्थमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥११६-१२०॥

अथ **कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण** यदि कर्मवर्गणा कर्मभाव या द्रव्यकर्म पर्याय रूप से परिणमन नहीं करे, तब **संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा** संसार का अभाव प्राप्त होता है, अथवा हे शिष्य ! वह सांख्यमत की तरह है। और ऐसा माना जाये **जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** कि जीव कर्ता होकर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य को ज्ञानावरणादि कर्मभावरूप – द्रव्यकर्मरूप पर्याय से हठपूर्वक परिणमन कराता है, उस कारण से संसार के अभाव का दोष नहीं आता है ? ऐसा कहने पर पूछते हैं**– ते सयम परिणमंते कह तु परिणामयदि णाणी** ज्ञानी जीव स्वयं अपरिणामी होता हुआ स्वयं अपरिणामी पुद्गलद्रव्य को परिणमाता है या परिणामी पुद्गलद्रव्य को परिणमाता है ?

प्रथम तो अपरिणामी पुद्गलद्रव्य को परिणमन नहीं करा सकता है, क्योंकि **जो शक्ति स्वयं में नहीं है, वह शक्ति दूसरे के द्वारा भी नहीं की जा सकती है।** जैसे जपापुष्पादि कर्ता होकर स्फटिकमणि में उपाधि पैदा कराता है, वैसे काष्ठ-स्तम्भ आदि में उपाधि पैदा क्यों नहीं कराता है ? और यदि एकान्त से कहा जाये कि परिणमनशील द्रव्य को परिणमन कराता है। तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि **वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं रखती हैं।** तो फिर जीव के निमित्तकर्ता बने बिना भी पुद्गल को कर्मरूप से परिणमन करना चाहिए ? ऐसा होने में क्या दोष है ? घट, पट, स्तम्भ आदि पुद्गलों की ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणति होने लग जायेगी। परन्तु वह तो प्रत्यक्ष में विरोध रूप है। इसलिए सिद्ध है कि पुद्गलों की स्वभावभूत कथंचित् परिणमन शक्ति होती है, उस परिणमनशक्ति में स्थित वह पुद्गल उस परिणाम का कर्ता है। वह अपने से सम्बन्धित (कार्माणवर्गणा योग्य पुद्गल) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के परिणामरूप पर्याय को करता है, वह (पुद्गल ही) उस पर्याय का उपादान कारण है; जैसे कलश (घड़े) का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड है। ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता जीव नहीं है, वह तो निमित्तकारण ही है, यह हेयतत्त्व है। इसलिए पुद्गल से भिन्न शुद्धपरमात्मभावना में परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षणवाले भेदज्ञान से अनुभवगम्य चिदानंद एक स्वभाव रूप निज शुद्धात्मा ही शुद्ध निश्चय से उपादेय है, परन्तु भेदरूप रत्नत्रय उपादेयभूत अभेदरत्नत्रय का साधक (निमित्त) होने से, व्यवहार से उपादेय कहा है। इसप्रकार तीन गाथाओं के शब्दार्थ रूप व्याख्यान से **शब्दार्थ** जानना चाहिए। व्यवहार-निश्चयरूप से **नयार्थ** जानना चाहिए। सांख्यमत वाले के सम्बोधनार्थ **मतार्थ** जानना चाहिए। **आगमार्थ** तो प्रसिद्ध ही है। हेय-उपादेय व्याख्यान रूप से **भावार्थ** भी जानना चाहिए। इसप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ तथा भावार्थ व्याख्यान के समय यथासंभव सर्वत्र जानना चाहिए। इस तरह पुद्गल को परिणमनशील सिद्ध करने की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥११६-१२०॥

जीवस्य परिणामित्वं साधयति –

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥१२२॥
पोग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणवजुत्तो य माणमेवादा।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो॥१२५॥

अब जीव का परिणामित्व सिद्ध करते हैं :–

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
तो जीव यह तुझ मतविषैं परिणमनहीन बने अरे !॥१२१॥

क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुए॥१२२॥

जो क्रोध-पुद्गलकर्म जीव को, परिणमावे क्रोध में।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे॥१२३॥

अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे तुझ बुद्धि से।
तो क्रोध जीव को परिणमावे क्रोध में मिथ्या बने॥१२४॥

क्रोधोपयोगी क्रोध जीव, मानोपयोगी मान है।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभ हि बने॥१२५॥

गाथार्थ :– सांख्यमतानुयायी शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! [**एषः**] यह [**जीवः**] जीव [**कर्मणि**] कर्म में [**स्वयं**] स्वयं [**बद्धः न**] नहीं बंधा है और [**क्रोधादिभिः**] क्रोधादिभाव से [**स्वयं**] स्वयं [**न परिणमते**] नहीं परिणमता [**यदि तव**] यदि तेरा यह मत है [**तदा**] तो वह (जीव) [**अपरिणामी**] अपरिणामी [**भवति**] सिद्ध होता है; [**जीवे**] और जीव [**स्वयं**] स्वयं [**क्रोधादिभिः भावैः**] क्रोधादिभावरूप [**अपरिणममाने**] नहीं परिणमता होने से, [**संसारस्य**] संसार का [**अभावः**] अभाव [**प्रसजति**] सिद्ध होता है [**वा**] अथवा [**सांख्यसमयः**] सांख्यमत का प्रसंग आता है।

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति।।१२१।।
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा।।१२२।।
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम्।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः।।१२३।।
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या।।१२४।।
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः।।१२५।।

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात्। तथा सति संसाराभावः। अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः। किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत्? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसति शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।

[**पुद्गलकर्म क्रोधः**] और पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह [**जीवं**] जीव को [**क्रोधत्वम्**] क्रोधरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि [**स्वयम् अपरिणममानं**] स्वयं नहीं परिणमते हुए [**तं**] उस जीव को [**क्रोधः**] क्रोध [**कथं नु**] कैसे [**परिणामयति**] परिणमन करा सकता है ? [**अथ**] अथवा यदि [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयम्**] अपने आप [**क्रोधभावेन**] क्रोधभाव से [**परिणमते**] परिणमता है [**एषा ते बुद्धिः**] ऐसी तेरी बुद्धि हो, तो [**क्रोधः**] क्रोध [**जीवं**] जीव को [**क्रोधत्वम्**] क्रोधरूप [**परिणामयति**] परिणमन कराता है, [**इति**] यह कथन [**मिथ्या**] मिथ्या सिद्ध होता है।

इसलिए यह सिद्धान्त है कि [**क्रोधोपयुक्तः**] क्रोध में उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) [**आत्मा**] आत्मा [**क्रोधः**] क्रोध ही है, [**मानोपयुक्तः**] मान में उपयुक्त आत्मा [**मानः एव**] मान ही है [**मायोपयुक्तः**] माया में उपयुक्त आत्मा [**माया**] माया है [**च**] और [**लोभोपयुक्तः**] लोभ में उपयुक्त आत्मा [**लोभः**] लोभ [**भवति**] है।

टीका :– यदि जीव कर्म में स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभाव में स्वयमेव नहीं परिणमता हो तो वह वास्तव में अपरिणामी ही सिद्ध होगा और ऐसा होने से संसार का अभाव होगा। यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि ''पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं वे जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं इसलिए संसार का अभाव नहीं होता,'' तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इसप्रकार किया जाता है कि – पुद्गलकर्म क्रोधादिक है वह स्वयं अपरिणमते हुए जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए को? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुए को पर के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति

स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तय: परमपेक्षंते। ततो जीव: परिणामस्वभाव: स्वयमेवास्तु। तथा सति गरुडध्यानपरिणत: साधक: स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादि-परिणतोपयोग: स एव स्वयं क्रोधादि स्यात्। इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम्।।१२१-१२५।।

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्ति:।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता।।६५।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति –

ण सयं बद्धो कम्मे स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकांतेन बद्धो नास्ति, सदा मुक्तत्वात्। **ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं** न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभि: परिणमति। कस्मादेकांतेनापरिणामित्वात्। **जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि** यदि चेदेष जीव: प्रत्यक्षीभूत: तव मताभिप्रायेणेत्थंभूत: स्यात्तत: कारणादपरिणाम्येव भवति। अपरिणामित्वे सति किं दूषणं ?

स्वत: न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। और स्वयं परिणमते हुए को तो अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (इसप्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं।) इसलिए जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो। ऐसा होने से, जैसे – गरुड़ के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है, उसीप्रकार अज्ञानस्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है। इसप्रकार जीव का परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ।

भावार्थ :– जीव परिणामस्वभाव है। जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है – ऐसा जानना।।१२१-१२५।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इति] इसप्रकार **[जीवस्य]** जीव की **[स्वभावभूता परिणामशक्ति:]** स्वभावभूत परिणामनशक्ति **[निरन्तराया स्थिता]** निर्विघ्न सिद्ध हुई। **[तस्यां स्थितायां]** यह सिद्ध होने पर, **[स: स्वस्य यं भावं करोति]** जीव अपने जिस भाव को करता है **[तस्य एव स: कर्ता भवेत्]** उसका वह ही कर्ता होता है।

भावार्थ :– जीव भी परिणामी है; इसलिये स्वयं जिस भावरूप परिणमता है उसका कर्ता होता है।।६५।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सांख्यमतानुयायी शिष्य के सम्बोधन हेतु जीव का कथंचित् परिणाम-स्वभावपना सिद्ध करते हैं। अर्थात् जीव कथंचित् परिणमनशील स्वभावी है –

ण सयं बद्धो कम्मे जीव स्वयं अपने स्वभाव से अधिकरणभूत कर्म में सर्वथा बंधा हुआ नहीं है, क्योंकि वह सदा मुक्त है। **ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं** और जीव अपने आप ही द्रव्य कर्मोदय के बिना भावक्रोधादि रूप परिणमन नहीं करता है; क्योंकि एकान्त से जीव अपरिणामी है। **जदि एस तुज्झ**

अथ – अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति हे शिष्य ! सांख्यसमयवत्। अथ मतं **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत्? **तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं** अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत्। कस्मात् ?

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। न हि जपापुष्पादयः कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयंत्युपाधिं तथा काष्ठस्तंभादिष्वपि। अथैकांतेन परिणममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमंतु। कस्मादिति चेत् ? **न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते।** तथा च सति मुक्तात्मानामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेऽपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवंति। न च तदिष्टमागमविरोधात्।

अथ मतं। **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धिः हे शिष्य ! **कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा** तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवं भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति। ततः स्थितं घटाकारपरिणतो मृत्पिण्डपुद्गलाः घट इव अग्निपरिणतोऽयःपिण्डोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति, मानोपयोगपरिणतो मानो भवति, मायोपयोगपरिणतो माया भवति, लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः। तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव। तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति।

जीवो अप्परिणामी तदा होदि यदि इसप्रकार की मान्यता है तो यह प्रत्यक्षरूप से संसारी जीव भी आपके अभिप्राय से अपरिणामी ही होगा। अपरिणामी होने में क्या दोष है ?

अपरिणामी मानने से उस जीव में अपने आप ही भावक्रोधादि रूप से परिणमन न करने से संसार का अभाव प्राप्त होगा। हे शिष्य ! यह मान्यता सांख्यमत की तरह है। यदि ऐसा माना जाये कि **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** उदयागत पुद्गलकर्मरूप द्रव्यक्रोध कर्त्ता होकर हठ से जीव को कर्म से युक्त – भावक्रोधरूप परिणमन कराता है। तो **तं सयमपरिणमन्ते कह परिणामएदि कोहत्तं** क्या स्वयं परिणमन न करनेवाले को परिणमन कराता है या स्वयं परिणमन करनेवाले को परिणमन कराता है ? स्वयं परिणमन नहीं करते हुए को परिणमन नहीं करा सकता है। किस कारण से ? क्योंकि जो शक्ति (वस्तु में) स्वतः न हो उसे अन्य नहीं कर सकता।

जैसे जपापुष्पादि कर्ता होकर स्फटिकमणि में उपाधि उत्पन्न कर सकते हैं, उसीतरह काष्ठ-स्तम्भ आदि में भी जपापुष्पादि कर्ता होकर उपाधि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। दूसरे, यदि एकान्त से परिणामी जीव को पौद्गलिक कर्म परिणमन कराता हो, तो उदयागत द्रव्यक्रोध के निमित्त बिना भी भावक्रोध आदि रूप जीव का परिणमन होवे। किस कारण से ? क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ दूसरे की अपेक्षा नहीं करती हैं और ऐसा मानने पर द्रव्यक्रोधादि कर्मोदय के निमित्त बिना भी मुक्तात्माओं के भी भावक्रोधादि होंगे, जो आगमविरुद्ध होने से इष्ट नहीं हैं।

इसी तरह **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** अब पूर्व दोष के भय से स्वयं

किंच विशेष: – **'जाव ण वेदि विसेसंतरं'** इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयो: संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाषट्कं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्तास्ते च जीवपुद्गलयो: कथंचित्परिणामित्वे सति घटन्ते। तस्यैव कथंचित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदम्। अथवा **'सामण्णपच्चया खलु चउरो'** इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं सामान्यप्रत्यया एव शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वन्तीति न जीव इति **जैनमतम्।** एकान्तेनाकर्तृत्वे सति सांख्यानाम् इव संसाराभावदूषणम् तस्यैव संसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदम्। कथमिति चेत् ?

तत्रैकांतेन कर्तृत्वाभावे सति संसाराभावदूषणम्। अत्र पुनरेकांतेन परिणामित्वाभावे सति संसाराभावदूषणम्। यत: कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च भण्यते। इति जीवपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतम्। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभि: पंचमांतराधिकार: समाप्त:।।१२१-१२५।।

ही आत्मा द्रव्यकर्म के बिना भावक्रोधादि रूप से परिणमन करता है, यदि ऐसी आपकी बुद्धि (मान्यता) है, तो हे शिष्य ! **कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा** द्रव्यक्रोध कर्ता होकर जीव को भाव क्रोधादि रूप से परिणमन कराता है, यह जो पूर्व गाथा में कहा है वह कथन मिथ्या होगा। **कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो** इसलिए यह सिद्ध होता है कि जैसे घटाकार परिणत मिट्टी का पुद्गल-पिण्ड घट है और अग्नि रूप परिणत लोहे का पिण्ड अग्नि है, उसीतरह क्रोधोपयोग परिणत आत्मा क्रोध है, मानोपयोग परिणत आत्मा मान है, मायोपयोग परिणत आत्मा माया है और लोभोपयोग परिणत आत्मा लोभ है, इससे सिद्ध हुआ कि जीव की परिणामशक्ति स्वभावरूप है। उस परिणामशक्ति के स्थित (सिद्ध) होने पर वह जीव कर्ता होकर जो आत्मपरिणाम करता है, उनका वह उपादान कर्ता है, द्रव्यकर्मोदय तो निमित्त मात्र ही है। उसीतरह वही जीव निर्विकार चैतन्यचमत्कार रूप शुद्धभाव से परिणत होने से सिद्धात्मा भी होता है।

और विशेष है – **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादि अज्ञानी ज्ञानी जीवों के संक्षेप व्याख्यान रूप से जो छह गाथाएँ पूर्व में कही थीं। वहाँ कहे हुए पुण्य-पापादि सात पदार्थ जीव पुद्गल के संयोगरूप परिणामों से रचित हैं और वे जीव तथा पुद्गल के कथंचित् परिणामीपना होने पर घटित होते हैं। उसी कथंचित् परिणामीपने का यह विशेष व्याख्यान है। अथवा **सामण्ण पच्चया खलु चउरो** इत्यादि सात गाथाओं में जो पूर्वोक्त सामान्य प्रत्यय हैं, वे ही शुद्धनिश्चय से कर्म को करते हैं, जीव नहीं करता है ऐसा जैनमत है। एकान्त से अकर्तापना होने पर सांख्यमतानुयायियों की भाँति, संसार के अभाव का दोष आता है। उसी संसार अभाव के दोष का ही यह विशेष दोष है। कैसा दोष है ? वहाँ एकान्त से कर्तृत्व का अभाव होने से संसार के अभाव का दोष आता है। यहाँ पुन: एकान्त से परिणामीपने का अभाव होने से संसार के अभाव का दोष आता है। इसकारण से भावकर्म के परिणामीपने को ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व कहते हैं। इसप्रकार जीव के परिणामीपने के कथन की मुख्यता से पांच गाथाएँ पूर्ण हुईं।

इसप्रकार पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में जीव-पुद्गल के परिणामीपने के कथन की मुख्यता से आठ गाथाओं द्वारा पाँचवाँ अन्तराधिकार समाप्त हुआ।।१२१-१२५।।

समुदायपातनिका – तथाहि अथ **'जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि। अण्णाणी तावदु'** इत्यादि गाथाद्वये तावदज्ञानी जीवस्वरूपं पूर्वं भणितं, स चाज्ञानी जीवो यदा **'विसयकसायुवगाढ'** इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापास्रवबंधपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवति। यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां मंदोदये सति भोगाकांक्षा-रूपनिदानबंधादिरूपेण दानपूजादिना परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं संक्षेपेण सूचितम्। **'जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव। णादं होदि विसेसंतरं तु'** इत्यादिगाथाचतुष्टयेन ज्ञानी जीवस्वरूपं च संक्षेपेण सूचितम्। स च ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चय-चारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थाणां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वम्। निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं, तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथंचित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथंचित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थम् पूर्वमेव संक्षेपेण निरूपितम्। पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितम्। तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थम् संक्षेपव्याख्यानं कृतम्। इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते। न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति। किमर्थमिति चेत् ? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थमिति।

समूहपीठिका – अब **'जावण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि। अण्णाणी तावदु'** इत्यादि दो गाथाओं में पहले जो अज्ञानी जीव का स्वरूप कहा गया है, वही अज्ञानी जीव जब 'विसयकसायुवगाढो' इत्यादि (प्रवचनसार गाथा १५८) विषय-कषायरूप अशुभोपयोग से परिणत होता है तब पाप, आस्रव और बन्ध इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है। परन्तु जब वह अज्ञानी जीव मिथ्यात्व कषायों के मन्द उदय होने पर भोग आकांक्षा रूप निदानबन्ध आदि रूप से दान, पूजादिरूप परिणमन करता है, तब पुण्य-पदार्थ का भी कर्ता होता है, ऐसा पहले भी संक्षेप में सूचित किया गया है और **'जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव। णादं होदि विसेसंतरं तु'** इत्यादि चार गाथाओं द्वारा ज्ञानी जीव का स्वरूप संक्षेप में सूचित किया गया है।

वह ज्ञानी जीव शुद्धोपयोग भाव से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले भेदज्ञान से जब परिणमित होता है, तब निश्चय चारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीनों पदार्थों का कर्ता होता है ऐसा संक्षेप में पूर्व में निरूपित किया है; किन्तु निश्चयसम्यक्त्व का अभाव होने पर जब सराग सम्यक्त्व रूप से परिणमित होता है तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परम्परा निर्वाण के कारणरूप तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है ऐसा पहले कहा गया है, वह सभी जीव तथा पुद्गल के कथंचित् परिणामीपना होने पर होता है। वह कथंचित् परिणामीपना भी पुण्य-पापादि सात पदार्थों का संक्षेप सूचनार्थ पहले ही संक्षेप में कहा गया है और वही जीव-पुद्गल के परिणामीपने के व्याख्यान काल में विशेष रूप से कहा गया है। वहाँ इसप्रकार कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर अज्ञानी-ज्ञानी जीव के जो कि गुण के धारक हैं, दोनों के पुण्य-पापादि सात पदार्थों का संक्षेप सूचनार्थ संक्षेप में व्याख्यान किया है।

अब यहाँ पुनः अज्ञानमयगुण और ज्ञानमयगुण की मुख्यता से कथन किया जाता है, किन्तु जीव गुणी और अजीव गुणी की मुख्यता से यह कथन नहीं है। ऐसा किसलिए ? उनके ज्ञानी-अज्ञानी के ही पुण्य-

तत्र **'जो संगं तु मुइत्ता'** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनंतरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठांतराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा –

कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति –

ता. अतिरिक्त गाथा ८ – जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमसाधुर्बाह्याभ्यतंरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचारित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानाति अनुभवति। कं ? कर्मतापन्नम् आत्मानम्। कथंभूतम् ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम्। पुनरपि कथंभूतम्? शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम्। **तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं निस्संगं संगरहितं विंदन्ति जानन्ति ब्रुवंति कथयंति वा। के ते? परमार्थ विज्ञायका गणधरदेवादय इति॥८॥

पापादि सात पदार्थों की संक्षेप सूचना देने के लिए यह कथन किया गया है। यहाँ **'जो संगं तु मुइत्ता'** इत्यादि गाथा से लेकर पाठक्रम से नौ गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं। उसमें पहले तीन गाथाओं में ज्ञानभाव की मुख्यता से कथन है, उसके पश्चात् छह गाथाओं में ज्ञानी जीव के ज्ञानमय भाव होते हैं और अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव होते हैं, ऐसे कथन की मुख्यता से वर्णन किया गया है। इसतरह छठवें अन्तराधिकार की समुदाय पीठिका पूर्ण हुई। वह इसप्रकार है –

अतिरिक्त गाथा ८ का हिन्दी – कथंचित् परिणामीपना सिद्ध होने पर ज्ञानी जीव ज्ञानमय भाव का कर्ता होता है, ऐसा अभिप्राय मन में धारण करके ये तीन गाथा सूत्र कहते हैं –

गाथार्थ – (जो) जो **(सङ्गं तु)** बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह को **(मुइत्ता)** छोड़कर **(सुद्धं उवओगमप्पगं)** शुद्धोपयोगात्मक **(जाणदि)** अपने आत्मा को जानता है **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ को जानने वाले **(तं णिस्सङ्गं साहुं)** उसको निस्सङ्ग साधु **(विन्ति)** कहते हैं।

जो सङ्गं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं जो श्रेष्ठ साधु बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त होकर वीतराग चारित्र के अविनाभावी भेदज्ञान से जानते हैं, अनुभव करते हैं। किसको जानते हैं, अनुभव करते हैं ? कर्मपने को प्राप्त आत्मा को जानते व अनुभव करते हैं। कैसे आत्मा को जानते व अनुभव करते हैं? विशुद्ध ज्ञान-दर्शनोपयोग स्वभाव होने से जो उपयोग रूप है ऐसे ज्ञान-दर्शन स्वरूपी उपयोग को जानते व अनुभव करते हैं। पुन: कैसे आत्मा को जानते व अनुभव करते हैं ? भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म रहित शुद्धात्मा को जानते व अनुभव करते हैं। **तं णिस्सङ्गं साहुं** उस साधु को निस्सङ्ग – परिग्रह रहित जानते हैं, कहते हैं। वे कौन है, जो ऐसा जानते व कहते हैं ? **परमट्ठवियाणया विंति** वे परमार्थ के जानकार गणधर देवादि हैं ॥८॥

ता. अतिरिक्त गाथा ९ – जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहं मुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन आत्मानं मनुते जानाति। कं ? कर्मतापन्नम् आत्मानम्। किं विशिष्टं ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णम्। **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विंदन्ति जानन्ति। के ते ? परमार्थविज्ञायकास्तीर्थंकरपरमदेवादय इति। एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुघ्राण-जिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशतिसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिःपरिणतेर्विलक्षणा असंख्येयलोकमात्र-विभावपरिणामा ज्ञातव्याः ।।९।।

अथ –

ता. अतिरिक्त गाथा १० – जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति।।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमयोगीन्द्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसंगं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन जानात्यनुभवति। कम् ? कर्मतापन्नम् आत्मानम्। कथंभूतम् ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणतम्। पुनरपि कथंभूतम् ? शुद्धं शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितम्। **तं धम्मसंग-मुक्कं परमट्ठवियाणया विंति** तं परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलंभरूपनिश्चयधर्मविलक्षणभोगाकांक्षास्वरूप-निदानबंधादि पुण्यपरिग्रहरूपव्यवहारधर्मरहितं विंदन्ति जानन्ति। के ते ? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति। किंच, कथंचित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं साधयति, परिणामित्वाभावे बद्धो बद्ध एव शुद्धोपयोगरूपं परिणामांतरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः। एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुण-व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ।।१०।।

अतिरिक्त गाथा ९ का हिन्दी – (जो) जो **(मोहं)** मोह को **(तु मुइत्ता)** छोड़कर **(आदं)** अपने आपको **(णाणसहावाधियं)** ज्ञानस्वभावमय **(मुणदि)** अनुभवता है। **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ को जानने वाले **(तं जिदमोहं साहुं)** उसको जितमोह साधु ऐसा **(विन्ति)** कहते हैं।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं जो श्रेष्ठ साधु कर्ता होकर समस्त चेतन-अचेतन, शुभ-अशुभ परद्रव्यों में मोह से मुक्त होकर आत्मा के शुभ-अशुभ मन, वचन, काय व्यापार रूप तीनों योगों से रहित होकर अभेद रत्नत्रय लक्षण रूप से परिणमित भेदज्ञान से आत्मा को मानते हैं, जानते हैं। किसको मानते व जानते हैं ? कर्मपने को प्राप्त आत्मा को मानते व जानते हैं। क्या विशेषता वाले आत्मा को मानते व जानते हैं ? निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से परिणत अधिक – परिपूर्ण आत्मा को मानते व जानते हैं। **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** उस कर्मतापन्न साधु को जितमोही या निर्मोही जानते हैं। वे कौन हैं जो ऐसा जानते हैं ? वे परमार्थ के जानकार तीर्थंकर परमदेव आदि हैं। इसप्रकार मोहपद बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काया, बुद्धि, उदय, शुभाशुभ परिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ऐसे बीस पद बदलकर व्याख्या करना चाहिए। उसीप्रकार से निर्मल

तथा हि –

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स[१]।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत। स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात्। अज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ॥१२६॥

परम चैतन्यज्योति रूप परिणति से भिन्न असंख्यातलोकप्रमाण मात्र विभाव परिणामों को जानना चाहिए॥९॥

अतिरिक्त गाथा १० का हिन्दी – अब, **(जो)** जो **(धम्मं)** व्यवहार धर्म को **(तु मुइत्ता)** छोड़कर **(उवओगमप्पगं सुद्धं)** उपयोगात्मक शुद्धस्वभावमय आत्मा को **(जाणदि)** अनुभवता है। **(परमट्ठवियाणया)** परमार्थ को जानने वाले **(तं धम्मसंगमुक्कं)** उसको धर्म (व्यवहार धर्म) के परिग्रह से रहित **(विन्ति)** कहते हैं।

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं जो परमयोगीन्द्र स्वसंवेदन ज्ञान में स्थित होकर शुभोपयोग परिणामरूप धर्म को अथवा पुण्यरूप परिग्रह को त्याग कर निजशुद्धात्मा रूप परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षणवाले भेदज्ञान से जानता है, अनुभव करता है। किसको ? कर्मपने को प्राप्त आत्मा को जानता है, अनुभव करता है। कैसे आत्मा को ? विशुद्ध दर्शन-ज्ञानोपयोग परिणत आत्मा को जानता है, अनुभव करता है और कैसे आत्मा को ? शुभ-अशुभ, संकल्प-विकल्प रहित शुद्धात्मा को जानता है, अनुभव करता है। **तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति** उस श्रेष्ठ तपोधन को निर्विकार स्वकीय शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निश्चय धर्म से भिन्न भोग-आकांक्षा स्वरूप निदानबन्ध आदि पुण्य परिग्रह रूप व्यवहार धर्म से रहित जानते हैं। वे कौन हैं, जो ऐसा जानते हैं ? वे परमार्थ के जानकार प्रत्यक्ष ज्ञानी हैं। कुछ विशेष कहते हैं – कथंचित् परिणामीपना होने पर जीव शुद्धोपयोग रूप से परिणमित होता है,पश्चात् मोक्ष को साधता है। परिणामीपने के अभाव में बद्ध, बद्ध ही रहते हैं। उनमें शुद्धोपयोगरूप भिन्न परिणाम स्वरूप घटित नहीं होता है, इसलिए उनके मोक्ष का अभाव है ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार शुद्धोपयोग रूप ज्ञानमय परिणाम गुण के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१०॥

....

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमय भाव का और अज्ञानी अज्ञानमय भाव का कर्ता है:–

जिस भाव को आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्म का।
वो ज्ञानमय है ज्ञानि का, अज्ञानमय अज्ञानि का॥१२६॥

गाथार्थ :– [**आत्मा**] आत्मा [**यं भावम्**] जिस भाव को [**करोति**] करता है [**तस्य कर्मणः**]

---

१. पाठान्तर = भावस्स

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह –

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि॥१२७॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिन: करोति तेन कर्माणि।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि॥१२७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – तदनंतरं यथा ज्ञानमयऽज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति –

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं भावं परिणामं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति। **णाणिस्स दु णाणमओ** स च भावोऽनंतज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारंभपरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य तु शुद्धात्म-ख्यातिप्रतीतिसंवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति। **अण्णाणमओ अणाणिस्स** अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्त-भेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थ:॥१२६॥

उस भावरूप कर्म का [**स:**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है; [**ज्ञानिन:**] ज्ञानी को तो [**स:**] वह भाव [**ज्ञानमय:**] ज्ञानमय है और [**अज्ञानिन:**] अज्ञानी को [**अज्ञानमय:**] अज्ञानमय है।

टीका :– इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है तथापि अपने जिस भाव को करता है उस भाव का ही – कर्मत्व को प्राप्त हुए का ही, वह कर्ता होता है (अर्थात् वह भाव आत्मा का कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है) वह भाव ज्ञानी को ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्व-पर के विवेक से (सर्व परद्रव्यभावों से) भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई है। और वह भाव अज्ञानी को तो अज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक न होने से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है।

भावार्थ :– ज्ञानी को तो स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, इसलिए उसके अपने ज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है; और अज्ञानी को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, इसलिए उसके अज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है॥१२६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – उसके बाद जीव जिसप्रकार से ज्ञानमय तथा अज्ञानमय दोनों भावों का कर्ता होता है, उस प्रकार से कथन करते हैं – **जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स** जिस भाव या परिणाम को आत्मा करता है, वह उस ही भाव का कर्ता होता है। **णाणिस्स दु णाणमओ** वे भाव अनन्तज्ञानादि चतुष्टय लक्षणवाले कार्यसमयसार के उत्पादकपने से निर्विकल्प समाधि परिणाम से परिणत **कारणसमयसार लक्षणरूप भेदज्ञान द्वारा सर्व आरम्भ** (उद्यम) **से परिणत** होने के कारण ज्ञानी जीव की शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि, अनुभूतिरूप से ज्ञानमय ही होते हैं। **अण्णाणमओ अणाणिस्स** परन्तु पूर्वोक्त भेदज्ञान के अभाव से अथवा शुद्धात्मानुभूति स्वरूप का अभाव होने पर अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही होते हैं – ऐसा अर्थ है॥१२६॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च, तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि। ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मात् ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति, तस्मात् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि॥१२७॥

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है ? :–

अज्ञानमय अज्ञानि का, जिससे करे वो कर्म को।
पर ज्ञानमय है ज्ञानि का, जिससे करे नहिं कर्म वो॥१२७॥

गाथार्थ :– [**अज्ञानिनः**] अज्ञानी के [**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय [**भावः**] भाव [**तेन**] इसलिए वह [**कर्माणि**] कर्मों को [**करोति**] करता है [**ज्ञानिनः तु**] और ज्ञानी के तो [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय (भाव) है [**तस्मात् तु**] इसलिए ज्ञानी [**कर्माणि**] कर्मों को [**न करोति**] नहीं करता।

टीका :– अज्ञानी के, सम्यक् प्रकार से स्व-पर का विवेक न होने के कारण भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई होने से, अज्ञानमय भाव ही होता है; और उसके होने से, स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में से (आत्म स्वरूप में से) भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे रागद्वेष के साथ एक होकर जिसके अहंकार प्रवर्त्त रहा है ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तव में रागी हूँ, द्वेषी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ)' – इसप्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है, इसलिए अज्ञानमय भाव के कारण अज्ञानी अपने को पर ऐसे रागद्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

ज्ञानी के तो, सम्यक् प्रकार से स्व-पर विवेक के द्वारा भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई होने से, ज्ञानमय भाव ही होता है; और ऐसा होने पर, स्व-पर के भिन्नत्व के विज्ञान के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकार से स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेष से भिन्नत्व के कारण निजरस से ही जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है ऐसा स्वयं वास्तव में मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता (अर्थात् रागद्वेष करता नहीं) इसलिए ज्ञानमय भाव के कारण ज्ञानी अपने को पर ऐसे रागद्वेषरूप न करता हुआ कर्मों को नहीं करता।

भावार्थ :– इस आत्मा के क्रोधादिक मोहनीय कर्म की प्रकृति का (अर्थात् रागद्वेष का) उदय आने पर, अपने उपयोग में उसका रागद्वेषरूप मलिन स्वाद आता है। अज्ञानी के स्वपर का भेदज्ञान न होने से वह यह मानता है कि "यह रागद्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है, वही मैं हूँ।" – इसप्रकार रागद्वेष में अहंबुद्धि करता अज्ञानी अपने को रागीद्वेषी करता है, इसलिए वह कर्मों को करता है।

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ किं ज्ञानमयभावात्फलं भवति किमज्ञानमयाद् भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह –

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते। कस्मात् ? यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीवः। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि** ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीवः कर्माणि न करोतीति। किं च, यथा स्तोकोऽप्यग्निः तृणकाष्ठराशिं महांतमपि क्षणमात्रेण दहति तथा त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरंतर्मुहूर्तेनापि बहुभवसंचितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥१२७॥

इसप्रकार अज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध होता है। ज्ञानी के भेदज्ञान होने से वह ऐसा जानता है कि ''ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है वही मेरा स्वरूप है वही मैं हूँ; रागद्वेष कर्मों का रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है।'' इसप्रकार रागद्वेष में अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपने को रागीद्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है; इसलिए वह कर्मों को नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानमय भाव से कर्मबन्ध नहीं होता ॥१२७॥

अब आगे की गाथा के अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ज्ञानिनः कुतः ज्ञानमयः एव भावः भवेत्] यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है **[पुनः]** और **[अन्यः न]** अन्य (अज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होता ? **[अज्ञानिनः कुतः सर्वः अयम् अज्ञानमयः]** तथा अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा **[अन्यः न]** अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते ?॥६६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञानमय भाव से क्या फल होता है और अज्ञानमय भाव से क्या फल होता है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं –

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि निजात्मोपलब्धि की भावना से विपरीत होने के कारण उनको अज्ञानमय भाव कहते हैं। किस कारण से अज्ञानमय कहते हैं ? क्योंकि वह अज्ञानी जीव उस भावरूप परिणाम से कर्म करता है। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि** परन्तु ज्ञानी के निर्विकार चैतन्य चमत्कार भावना के वश ज्ञानमय भाव होते हैं, उस ज्ञानमय भाव से ज्ञानी जीव कर्म नहीं करता है। यहाँ कुछ विशेष यह है कि जिसप्रकार थोड़ी भी अग्नि, बहुत तृण काष्ठ समूह को भी क्षणभर में दहन करती है, उसीप्रकार त्रिगुप्ति समाधि लक्षण भेदज्ञान रूप अग्नि अन्तर्मुहूर्त में भी अनेक भवों में संचित कर्म समूह को जला देती है, ऐसा जानकर सब प्रकार से उस परमसमाधि में ही भावना करना चाहिए – यह भावार्थ है॥१२७॥

णाणमया भावाओ[1] णाणमओ चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो।
जम्हा तम्हा[2] भावा अण्णाणमया अणाणिस्स॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावात् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः॥१२८॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः॥१२९॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः। यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः॥१२८-१२९॥

इसी प्रश्न के उत्तररूप गाथा कहते हैं :–

ज्यों ज्ञानमय को भाव में से ज्ञानभाव हि उपजते।
यों नियत ज्ञानी जीव के सब भाव ज्ञानमयी बनें॥१२८॥

अज्ञानमय को भाव से, अज्ञानभाव हि ऊपजे।
इस हेतु से अज्ञानि के, अज्ञानमय भाव हि बने॥१२९॥

गाथार्थ :– [**यस्मात्**] क्योंकि [**ज्ञानमयात् भावात् च**] ज्ञानमय भाव में से [**ज्ञानमयः एव**] ज्ञानमय ही [**भावः**] भाव [**जायते**] उत्पन्न होता है [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियों के [**सर्वे भावाः**] समस्त भाव [**खलु**] वास्तव में [**ज्ञानमयाः**] ज्ञानमय ही होते हैं। [**च**] और [**यस्मात्**] क्योंकि [**अज्ञानमयात् भावात्**] अज्ञानमयभाव में से [**अज्ञानः एव**] अज्ञानमय ही [**भावः**] भाव [**जायते**] उत्पन्न होता है [**तस्मात्**] इसलिए [**अज्ञानिनः**] अज्ञानियों के [**भावाः**] भाव [**अज्ञानमयाः**] अज्ञानमय ही होते हैं।

टीका :– वास्तव में अज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है वह सब ही अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इसलिए अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय होते हैं। और ज्ञानमय भाव में से जो कोई भी भाव होता है वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिए ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।

भावार्थ :– ज्ञानी का परिणमन अज्ञानी के परिणमन से भिन्न ही प्रकार का है। अज्ञानी का परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानी का ज्ञानमय है; इसलिए अज्ञानी के क्रोध, मान, व्रत, तप इत्यादि समस्त भाव अज्ञान

---

१. पाठान्तर = भावादो, २. पाठान्तर = तम्हा सव्वे भावा

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।।६७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमयः। किमर्थमिति चेत् ? **णाणमया भावादो णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा** ज्ञानमयाद् भावाद् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थात् ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात्। **तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** तस्मात्कारणात्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणामा ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवन्ति। तदपि कस्मात् ? उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। न हि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफलं भवतीति। तथैव च **अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो** अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात्। **तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** यतः एवं तस्मात्कारणात्सर्वे भावाः परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवन्ति। कस्य ? अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति ।।१२८-१२९।।

जाति का उल्लंघन न करने से अज्ञानमय ही हैं और ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञान जाति का उल्लंघन न करने से ज्ञानमय ही हैं।।१२८-१२९।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ज्ञानिनः] ज्ञानी के **[सर्वे भावाः]** समस्त भाव **[ज्ञान निर्वृत्ताः हि]** ज्ञान से रचित **[भवन्ति]** होते हैं **[तु]** और **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी के **[सर्वे अपि ते]** समस्त भाव **[अज्ञाननिर्वृत्ताः]** अज्ञान से रचित **[भवन्ति]** होते हैं।।६७।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञानी जीव का ज्ञानमय ही भाव होता है, अज्ञानमय भाव नहीं होता है तथा अज्ञानीजीव का अज्ञानमय ही भाव होता है, ज्ञानमय भाव नहीं होता है। किसलिए ऐसा होता है ? कहते हैं **– णाणमया भावादो णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा** ज्ञानमय भाव से अर्थात् निश्चयरत्नत्रयात्मक जीव पदार्थ से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होता है, जिस कारण से (वह ज्ञानमय भावरूप) स्वशुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षणवाली मोक्ष पर्याय प्रगट होती है। **तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** उसी कारण से स्वसंवेदन लक्षण वाले भेदज्ञानी जीव के सभी भाव - सर्व परिणाम ज्ञानमय होते हैं क्योंकि वे ज्ञान से रचित होते हैं। वह भी किस कारण से होते हैं ? क्योंकि **उपादान कारण के समान ही कार्य होता है – ऐसा आगमवचन है।** जैसे यवनाल बीज अर्थात् जौ बोने से वासमति चावल पैदा नहीं होता है। उसीप्रकार ही **अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो** जिस कारण से अज्ञानमय भाववाले जीव पदार्थ से अज्ञानमय भाव या पर्याय ही उत्पन्न होती है। **तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** उस कारण से मिथ्यात्व रागादि रूप सभी परिणाम अज्ञानमय हैं। किसके भाव अज्ञानमय हैं ? अज्ञानी अर्थात् शुद्धात्मोपलब्धि रहित मिथ्यादृष्टि जीव के सभी परिणाम अज्ञानमय हैं।।१२८-१२९।।

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते–

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादओ भावा।
अयमया भावादो जह जायंते दु कडयादी॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥१३१॥

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावा:।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादय:॥१३०॥
अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमया: सर्वे भावास्तथा भवंति॥१३१॥

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनद-मयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमाना जांबूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयु:, न पुन: कालायसवलयादय:, कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमाना: कालायसवलयादय एव भवेयु:, न पुनर्जांबूनद-कुण्डलादय:। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिन: स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयु:, न पुनर्ज्ञानमया: ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमाना: सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयु:, न पुनर-ज्ञानमया:॥१३०-१३१॥

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं :–

ज्यों कनकमय को भाव में से, कुण्डलादिक ऊपजे।
पर लोहमय को भाव से, कटकादि भावो नीपजे॥१३०॥
त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानि के।
पर ज्ञानि के तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने॥१३१॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**कनकमयात् भावात्**] स्वर्णमय भाव में से [**कुण्डलादय: भावा:**] स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [**जायन्ते**] होते हैं [**तु**] और [**अयोमयकात् भावात्**] लोहमय भाव में से [**कटकादय:**] लोहमय कड़ा इत्यादि भाव [**जायन्ते**] होते हैं, [**तथा**] उसीप्रकार [**अज्ञानिन:**] अज्ञानियों के (अज्ञानमय भाव में से) [**बहुविधा: अपि**] अनेक प्रकार के [**अज्ञानमया: भावा:**] अज्ञानमय भाव [**जायन्ते**] होते हैं [**तु**] और [**ज्ञानिन:**] ज्ञानियों के (ज्ञानमय भाव में से) [**सर्वे**] सभी [**ज्ञानमया: भावा:**] ज्ञानमय भाव [**भवन्ति**] होते हैं।

टीका :– जैसे पुद्गल स्वयं परिणामस्वभावी है तथापि, **कारण जैसे कार्य होते हैं** इसलिए, सुवर्णमय भाव में से सुवर्णजाति का उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं किन्तु लोहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते और लोहमय भाव में से लोह जाति का उल्लंघन न करते हुए लोहमय कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं किन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते; इसीप्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभावी होने पर

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्।।६८।।

भी, **कारण जैसे ही कार्य होने से,** अज्ञानी के जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव हैं उसके अज्ञानमय भावों में से, अज्ञानजाति का उल्लंघन न करते हुए अनेक प्रकार के अज्ञानमय भाव ही होते हैं किन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते, तथा ज्ञानी के जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव हैं उसके ज्ञानमय भावों में से ज्ञान की जाति का उल्लंघन न करते हुए समस्त ज्ञानमय भाव ही होते हैं किन्तु अज्ञानमय भाव नहीं होते।

भावार्थ :– 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्याय से जैसे लोहे में से लोहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएँ होती हैं और सुवर्ण में से सुवर्णमय आभूषण होते हैं; इसीप्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होने से उसके (अज्ञानमय भाव में से) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाव होने से उसके (ज्ञानमय भाव में से) ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

अज्ञानी के शुभाशुभ भावों में आत्मबुद्धि होने से उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोह के उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं तथापि उसके उन भावों में आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें पर के निमित्त से उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं वह भविष्य का ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर क्रोधादि भावरूप परिणमता नहीं है यद्यपि [१]उदय की बलवत्ता से परिणमता है तथापि ज्ञातृत्व का उल्लंघन करके परिणमता नहीं है; ज्ञानी का स्वामित्व निरन्तर ज्ञान में ही वर्तता है इसलिए वह क्रोधादि भावों का अन्य ज्ञेयों की भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानी के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।।१३०-१३१।।

अब आगे की गाथा का सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाम्]** (अपने) अज्ञानमय भावों की भूमिका में **[व्याप्य]** व्याप्त होकर **[द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाम्]** (आगामी) द्रव्य कर्म के निमित्त (अज्ञानादि) भावों के **[हेतुताम् एति]** हेतुत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है) ।।६८।।

---

१. सम्यग्दृष्टि की रुचि सर्वदा शुद्धात्म द्रव्य के प्रति ही होती है; उनको कभी रागद्वेषादि भावों की रुचि नहीं होती, उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं वे भाव, यद्यपि उसकी स्वयं की निर्बलता से ही एवं उसके स्वयं के अपराध से ही होते हैं, फिर भी वे रुचि पूर्वक नहीं होते इस कारण उन भावों को 'कर्म की बलवत्ता से होनेवाले भाव' कहने में आता है, इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्मा के ऊपर लेशमात्र-भी जोर कर सकता है;' परन्तु ऐसा समझना, कि 'विकारी भावों के होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्माकी शुद्धात्म द्रव्य रुचि में किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि सम्बन्धी निर्बलता है – ऐसा आशय बतलाने के लिये ऐसा कहा है।' जहाँ जहाँ 'कर्म की जबरदस्ती,' 'कर्म का जोर' इत्यादि कथन होवे वहाँ ऐसा आशय समझना।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तदेव व्याख्यानं दृष्टांतदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति –

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा कनकमयाद्भावात्पदार्थात् 'उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति' कृत्वा कुण्डलादयो भावा: पर्याया: कनकमया एव भवन्ति। **अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी** अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थाद् अयोमया एव भावा: पर्याया: कटकादयो भवन्ति यथा येन प्रकारेणेति दृष्टांतगाथा गता। अथ दार्ष्टान्तमाह **अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते** तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टांतेना-ज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावा: पर्याया: बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायन्ते। **णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति** तथैव च पूर्वोक्तजांबूनददृष्टांतेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमया: सर्वे भावा: पर्याया: भवन्ति। किं च विस्तर:, वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीव: यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणाम: सर्वोऽपि ज्ञानमयो भवति। ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं हित्वा देवेन्द्रलौकांतिकादिमहर्द्धिकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते। ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पंचमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत् ? तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते परमागमे ते दृष्टा: प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु **चतुर्थगुणस्थानयोग्यां** शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरंतरं धर्मध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा, पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजार्द्धमण्डलीक-महामण्डलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्तितीर्थंकरपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेऽपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूपं भेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपाण्डवादिवत्। ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सप्तर्द्धिचतुर्ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते। तदनंतरं समस्त-पुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थ-सुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिन्त्यविभूतिविशेषं केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभत इत्यभिप्राय:। अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं पर्यायं लभत इति भावार्थ:। एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथंचित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोऽन्तराधिकार: समाप्त:॥१३०-१३१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उसी कथन का दृष्टान्त एवं सिद्धान्त द्वारा समर्थन करते हैं –

कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावा उपादान कारण सदृश कार्य होता है, इस सिद्धान्त के अनुसार स्वर्णमय भाव या पदार्थ से कुण्डलादि पर्यायें स्वर्णमय ही होती हैं। **अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी** लोहमय भाव या पदार्थ से कटक-कड़ा आदि पर्यायें लोहमय ही होती हैं। इसप्रकार यह दृष्टान्त गाथा हुई। अब (दार्ष्टान्त) सिद्धान्त कहते हैं– **अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते** उस पूर्वोक्त लोह दृष्टान्त से अज्ञानमयभाव रूप जीव पदार्थ से अज्ञानी जीव के अनेकप्रकार के मिथ्यात्व रागादि रूप अज्ञानमय भाव-पर्यायें प्रकट होती हैं। **णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति** उसीप्रकार पूर्वोक्त स्वर्ण के दृष्टान्त से ज्ञानी जीव के सभी भाव या पर्यायें ज्ञानमय होती हैं।

उसका कुछ विस्तार कहते हैं – वीतरागस्वसंवेदन भेदज्ञानी जीव जो शुद्धात्मभावना रूप परिणाम करता है, वे उसके सभी परिणाम ज्ञानमय होते हैं। तत्पश्चात् वह उस ज्ञानमय परिणाम से संसार की स्थिति को कम करके, देवेन्द्र लौकान्तिक आदि महान ऋद्धिधारी देव होकर दो घड़ी में सुमति, सुश्रुत तथा सुअवधि रूप ज्ञानमय भाव या पर्याय प्राप्त करता है। उसके बाद वह प्राप्त विमान, परिवार आदि विभूति को जीर्ण

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं॥१३२॥[1]
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेदि अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ॥१३३॥[2]
तं जाण जोग उदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कादव्वो विरदिभावो वा॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइगवग्गणागदं जं दु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइगवग्गणागदं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं॥१३६॥

तृण के समान (महत्वहीन) गिनता हुआ मानता हुआ पाँच महाविदेहों में जाकर देखता है। क्या देखता है? कि यह वह समवशरण है, ये वे वीतराग सर्वज्ञदेव हैं और ये वे सब भेदाभदेरत्नत्रय की आराधना करनेवाले गणधरादि देव हैं, जो पहले परमागम में सुने हैं, वे यहाँ प्रत्यक्षरूप से देखे हैं। यह मानकर विशेषरूप से धर्म में दृढ़बुद्धि होकर और चौथे गुणस्थान के योग्य शुद्धात्मभावना को न छोड़ता हुआ निरन्तर धर्मध्यान द्वारा देवलोक में समय व्यतीतकर पश्चात् मनुष्य भव में राजाधिराज, महाराजा, अर्द्धमण्डलीक, महामण्डलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर, परमदेवाधिदेव पद प्राप्त होने पर भी पूर्वभव के संस्कार से संस्कारित शुद्धात्मरूप भेदज्ञान की भावना के बल से राम-पाण्डव आदि की तरह मोह को प्राप्त नहीं होता है।

तत्पश्चात् जिनदीक्षा लेकर सात ऋद्धि एवं चार ज्ञानमय भाव या पर्याय को प्राप्त करता है। उसके बाद समस्त पुण्य-पाप परिणाम के त्यागरूप अभेद रत्नत्रय परिणाम से परिणत लक्षण द्वारा दूसरे शुक्लध्यान रूप से विशेष भेदज्ञान की भावना के बल से स्वात्म-भावना से उत्पन्न सुखरूप अमृतरस से तृप्त होकर सभी अतिशयों से परिपूर्ण तीन लोक अधिपतियों द्वारा आराध्य परम अचिन्त्य वैभव विशेष केवलज्ञान रूप भाव रूप पर्याय को प्राप्त करता है ऐसा अभिप्राय है। परन्तु अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादिमय अज्ञानमय भाव करके नर-नारकादि रूप भाव या पर्याय को प्राप्त करता है ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार ज्ञानमय-अज्ञानमय भावों के कथन की मुख्यता से छह गाथाएँ समाप्त हुईं। इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से पुण्य-पापादि सात पदार्थों का पीठिका रूप से महाधिकार में कथंचित् परिणामीपना होने पर ज्ञानी जीव ज्ञानमय भाव का कर्ता है, उसीप्रकार अज्ञानी जीव अज्ञानमय भाव का कर्ता होता है। इसप्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से नौ गाथाओं द्वारा छठवाँ अन्तराधिकार पूर्ण हुआ॥१३०-१३१॥

---

१. पाठान्तर = मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं। असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं॥१३२॥
२. पाठान्तर = अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी। जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ॥१३३॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम्॥१३२॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम्।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः॥१३३॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः॥१३५॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम्॥१३६॥

इसी अर्थ को पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

जो तत्त्व का अज्ञान जीव के, उदय वो अज्ञान का।
अप्रतीत तत्त्व की जीव के जो, उदय वो मिथ्यात्व का॥१३२॥

जीव का जु अविरतभाव है, वो उदय अनसंयम हि का।
जीव का कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषाय का॥१३३॥

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का।
उत्साह करते जीव के वो उदय जानो योग का॥१३४॥

जब होय हेतूभूत ये तब स्कन्ध जो कार्माण के।
वे अष्टविध ज्ञानावरण इत्यादि भावों परिणमे॥१३५॥

कार्मणवरगणारूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
आत्मा हि जीव परिणाम भावों का तभी हेतू बने॥१३६॥

गाथार्थ :– [**जीवानाम्**] जीवों के [**या**] जो [**अतत्त्वोपलब्धिः**] तत्त्व का अज्ञान है (वस्तुस्वरूप से विपरीत ज्ञान) [**सः**] वह [**अज्ञानस्य**] अज्ञान का [**उदयः**] उदय है [**तु**] और [**जीवस्य**] जीव के [**अश्रद्धानत्वम्**] जो (तत्त्व का) अश्रद्धान है वह [**मिथ्यात्वस्य**] मिथ्यात्व का [**उदयः**] उदय है [**तु**] और [**जीवानां**] जीवों के [**यद्**] जो [**अविरमणम्**] अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है वह [**असंयमस्य**] असंयम का [**उदयः**] उदय [**भवेत्**] है [**तु**] और [**जीवानां**] जीवों के [**यः**] जो [**कलुषोपयोगः**] मलिन (ज्ञातृत्व की स्वच्छता से रहित) उपयोग है [**सः**] वह [**कषायोदयः**] कषाय का उदय है; [**तु**] तथा [**जीवानां**] जीवों के [**यः**] जो [**शोभनः अशोभनः वा**] शुभ या अशुभ [**कर्तव्यः विरतिभावः वा**]

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेत-वस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वद-मानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवा-ज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति॥१३२-१३६॥

प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [**चेष्टोत्साहः**] (मन-वचन-काय आश्रित) चेष्टा का उत्साह है [**तं**] उसे [**योगोदयं**] योग का उदय [**जानीहि**] जानो।

[**एतेषु**] इनको (उदयों को) [**हेतुभूतेषु**] हेतुभूत होने पर [**यद् तु**] जो [**कार्मणवर्गणागतं**] कार्मणवर्गणागत (कार्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य [**ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं**] ज्ञानावरणादि भावरूप से आठ प्रकार [**परिणमते**] परिणमता है, [**तद् कार्मणवर्गणागतं**] वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [**यदा**] जब [**खलु**] वास्तव में [**जीवनिबद्धं**] जीव में बंधता है [**तदा तु**] तब [**जीवः**] जीव [**परिणामभावानाम्**] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावों का [**हेतुः**] हेतु [**भवति**] होता है।

टीका :– तत्त्व के अज्ञानरूप से (वस्तुस्वरूप की अन्यथा उपलब्धिरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ अज्ञान का उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के उदय, जो कि (नवीन) कर्मों के हेतु हैं, वे अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ मिथ्यात्व का उदय है; अविरमणरूप से (अत्यागभावरूप से) ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ असंयम का उदय है; कलुष (मलिन) उपयोगरूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ कषाय का उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप होता हुआ योग का उदय है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादि के उदय हेतुभूत होने पर जो कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीव में निबद्ध होवे तब जीव स्वयमेव अज्ञान से स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण तत्त्व अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणाम भावों का हेतु होता है।

भावार्थ :– अज्ञानभाव के भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय पुद्गल के परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूप से ज्ञान में आता है। वे उदय निमित्तभूत होने पर, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीव के साथ बँधते हैं; और उससमय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावों का कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादि का उदय होना, नवीन पुद्गलों का कर्मरूप परिणमना तथा बँधना और जीव का अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना – यह तीनों एक समय में ही होते हैं; सब स्वतंत्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसी का परिणमन नहीं कराता॥१३२-१३६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपंचप्रत्ययरूपेण पंचविधो भवति स चाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बंधकारणं भवतीति सप्तमांतराधिकारे समुदायपातनिका –

मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनंतज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ-द्धानं रुचिरूपादेयबुद्धिः **असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं** असंयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसंवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्त्तनमिति।

अथ – **अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धि** अज्ञानस्योदयो भवति यत्किं भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः। **जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ** स जीवानां कषायोदयो भवति यः शांतात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति।

अथ – **तं जाण जोग उदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ** तं योगोदयं जानीहि त्वं हे शिष्य ! जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पंदलक्षणः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः। **सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा** स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति। तत्र व्रतादिकर्तव्यरूपः शोभनः पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीयः स चाशोभनः इति।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पूर्वोक्त ही अज्ञानमय भाव द्रव्यरूप तथा भावरूप पाँच प्रत्यय रूप से पाँच प्रकार का होता है। ''शुद्धात्मा ही उपादेय है'' इसप्रकार की रुचि से रहित अर्थात् आत्मा के प्रति अरुचि रखनेवाले, उसी शुद्धात्मा को स्वसंवेदन ज्ञान से न जाननेवाले और उसी की परमसमाधि रूप से भावना न भानेवाले अज्ञानी जीव के वे अज्ञानमय भाव ही बन्ध के कारण होते हैं – इसप्रकार सातवें अन्तराधिकार में समूहपीठिका हुई।

मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप उपादेय शुद्धात्मतत्त्व को छोड़कर जीवों की जो अन्यत्र श्रद्धान रुचि रूप उपादेयबुद्धि है, वह मिथ्यात्व का उदय है। **असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं** जीवों के आत्मसुख की अनुभूति का अभाव होने पर विषय-कषायों से जो विरक्ति नहीं है, वह असंयम का उदय है।

और **अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धि** भेदज्ञान को छोड़कर जीवों के विपरीत अभिप्राय से परद्रव्य के साथ जो एकत्व की प्रतीति है वह अज्ञान का उदय है। **जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ** शान्तात्मा की उपलब्धि लक्षण रूप शुद्धोपयोग को छोड़कर जो क्रोधादि कषाय रूप परिणाम है वह जीवों के कषाय का उदय है।

और **तं जाण जोग उदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाओ** मन-वचन-काय वर्गणा के आधार से, वीर्यान्तराय-क्षयोपशम जनित कर्मों के आने में हेतु रूप जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द है लक्षण जिसका – ऐसे प्रयत्नरूप जो व्यापार, उत्साह या चेष्टा है, उसे हे शिष्य ! तुम जीवों के योग का उदय जानो। **सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा** वह योग शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार है। वहाँ व्रतादि कर्त्तव्य रूप शुभ योग है तथा व्रतादि के निषेधरूप अशुभ योग है।

अथ **एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु** एतेषु पूर्वोक्तेषूदयागतेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपंचप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागतं परिणतं यदभिनवं नवतरं पुद्गलद्रव्यं **परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं** जीवस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामायिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म-रूपेणाष्टविधं परिणमतीति।

अथ – **तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया** तत्पूर्वोक्तसूत्रोदितं कर्मवर्गणा-योग्यमभिनवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिबद्धं जीवसंबद्धं योगवशेनागतं यदा भवति खलु स्फुटं **तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं** तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु सत्सु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतुः कारणं भवति। केषां ? परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति। किंच, उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादिभाव-प्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबंधस्य कारणं भवतीति तात्पर्यम्।

अयमत्र भावार्थः उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बन्धो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत्, यदि पुनरुदयमात्रेण बंधो भवति तदा सर्वदैव संसार एव। कस्मादिति चेत् ? संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभावः पंचप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बंधकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पंचगाथाभिः सप्तमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥१३२-१३६॥

और **एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागदं जं तु** इन पूर्वोक्त उदयागत कारणभूत मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय के रहने पर जो कर्मवर्गणा रूप परिणत नवीन पुद्गल द्रव्य है, **परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं** वह जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एक परणति रूप परम सामायिक के अभाव होने पर, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप से आठ प्रकार परिणमित होता है।

और **तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागदं जइया** वे पूर्वसूत्र में कथित कर्मवर्गणा योग्य अभिनव पुद्गलद्रव्य, जीव के साथ सम्बद्ध होने पर जब योग के वश से आते हैं **तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं** उस काल में पूर्वोक्त उदयागत द्रव्य प्रत्ययों के निमित्त होने पर अपने गुणस्थानानुसार जीवों को कारण होते हैं। किसका कारण होते हैं ? परिणाम रूप भावप्रत्ययों का कारण होते हैं।

कुछ और कहते हैं – उदयागत द्रव्य प्रत्ययों के निमित्त से मिथ्यात्व रागादि भावप्रत्यय रूप परिणमन कर जीव नवीन कर्मबन्ध का कारण होता है ऐसा तात्पर्य है।

यहाँ यह भावार्थ है कि **उदयागत द्रव्य प्रत्ययों के रहने पर यदि जीव स्वस्वभाव को छोड़कर रागादि भावप्रत्यय रूप परिणमित होता है, तब बन्ध होता है, घोर उपसर्ग होने पर भी पाण्डवादि की तरह मात्र उदय रूप रहने पर बन्ध नहीं होता है और यदि कर्मोदय मात्र से बन्ध होता है तब तो हमेशा ही संसार रहेगा। किस कारण से संसार रहेगा ? क्योंकि संसारी जीवों के सदा ही कर्म का उदय विद्यमान रहता है। इसप्रकार पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में अज्ञानभावमय पाँच प्रत्ययरूप से शुद्धात्मस्वरूप से पतित जीवों के बन्ध का कारण होता है।**

इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाओं द्वारा सातवाँ अन्तराधिकार पूर्ण हुआ॥१३२-१३६॥

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः –

जदि जीवेण सह च्चिय पोग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पोग्गलजीवा हु दो वि कम्मत्तमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो पोग्गलदव्वस्स कम्मभावेण।
ता जीवभाव हेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८॥

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३७॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१३८॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः, ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ॥१३७-१३८॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि पुद्गल द्रव्य का परिणाम जीव से भिन्न ही है :–

जो कर्मरूप परिणाम, जीव के साथ पुद्गल का बने।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे! ॥१३७॥

पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्य के।
जीवभाव हेतू से अलग, तब कर्म के परिणाम हैं ॥१३८॥

गाथार्थ :– [**यदि**] यदि [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्य का [**जीवेन सह चैव**] जीव के साथ ही [**कर्मपरिणामः**] कर्मरूप परिणाम होता है (अर्थात् दोनों मिलकर कर्मरूप से परिणमित होते हैं) ऐसा माना जाये तो [**एवं**] इसप्रकार [**पुद्गलजीवौ द्वौ अपि**] पुद्गल और जीव दोनों [**खलु**] वास्तव में [**कर्मत्वम् आपन्नौ**] कर्मत्व को प्राप्त हो जायें। [**तु**] परन्तु [**कर्मभावेन**] कर्मभाव से [**परिणामः**] परिणाम तो [**पुद्गलद्रव्यस्य एकस्य**] पुद्गलद्रव्य के एक के ही होता है [**तत्**] इसलिए [**जीवभावहेतुभिः विना**] जीवभावरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही [**कर्मणः**] कर्म का [**परिणामः**] परिणाम है।

टीका :– यदि पुद्गलद्रव्य के, कर्मपरिणाम के निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञानपरिणाम से परिणत जीव के साथ ही (अर्थात् दोनों मिलकर ही), कर्मरूप परिणाम होता है – ऐसा तर्क उपस्थित किया जावे तो, जैसे मिली हुई फिटकरी हल्दी और फिटकरी का – दोनों का, लाल रंगरूप परिणाम होता है, उसीप्रकार पुद्गल और जीवद्रव्य दोनों के कर्मरूप परिणाम की आपत्ति आ जावे। परन्तु एक पुद्गलद्रव्य के ही कर्मत्वरूप परिणाम होता है; इसलिए जीव का रागादि-अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म का निमित्त है, उससे भिन्न ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः –

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१४०॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः।
एवं जीवः कर्मं च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१३९॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥१४०॥

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो एव जीवस्य परिणामः ॥१३९-१४०॥

भावार्थ :– यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनों के कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो; परन्तु जीव तो कभी भी जड़ कर्मरूप नहीं परिणम सकता, इसलिए जीव का अज्ञानपरिणाम जो कि कर्म का निमित्त है उससे अलग ही पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम है॥१३७-१३८॥

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव का परिणाम पुद्गल द्रव्य से भिन्न ही है :–

जीव के करम के साथ ही, जो भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे ॥१३९॥
पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एक के।
इससे हि कर्मोदय निमित से, अलग जीव परिणाम है ॥१४०॥

गाथार्थ :– [**जीवस्य तु**] यदि जीव के [**कर्मणा च सह**] कर्म के साथ ही [**रागादयः परिणामाः**] रागादि परिणाम [**खलु भवन्ति**] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं) ऐसा माना जाये [**एवं**] तो इसप्रकार [**जीवः कर्म च**] जीव और कर्म [**द्वे अपि**] दोनों [**रागादित्वम् आपन्ने**] रागादिभाव को प्राप्त हो जायें [**तु**] परन्तु [**रागादिभिः परिणामः**] रागादिभाव से परिणाम तो [**जीवस्य एकस्य**] जीव के एक के ही [**जायते**] होते हैं [**तत्**] इसलिए [**कर्मोदयहेतुभिः विना**] कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही अर्थात् भिन्न ही [**जीवस्य**] जीव का [**परिणामः**] परिणाम है।

टीका :– यदि जीव के, रागादि-अज्ञानपरिणाम के निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्म के साथ ही

समुदायपातनिका – अत: परं जीवपुद्‌गलयो: परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमांतराधिकारे समुदायपातनिका।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्‌गलकर्मण: परिणाम इति निरूपयति –

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्‌गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणाम: यत एवं **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यात्व-रागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्यकर्मण: परिणाम: स्यात्।।१३८।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयेन कर्मपुद्‌गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति –

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी यदि जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवन्ति। **एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा** एवं द्वयोर्जीवपुद्‌गलयो: रागादि-परिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरागित्वं प्राप्नोति। तथा सति पुद्‌गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध इति।

(दोनों एकत्रित होकर ही), रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है – ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दी दोनों का लाल रंगरूप परिणाम होता है, उसीप्रकार जीव और पुद्‌गलकर्म दोनों के रागादि-अज्ञानपरिणाम की आपत्ति आ जावे, परन्तु एक जीव के ही रागादि-अज्ञानपरिणाम तो होता है; इसलिए पुद्‌गलकर्म का उदय जो कि जीव के रागादि-अज्ञानपरिणाम का निमित्त है उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है ।।१३९-१४०।।

भावार्थ :– यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्‌गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो दोनों के रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों। किन्तु पुद्‌गलकर्म तो रागादिरूप कभी नहीं परिणम सकता; इसलिए पुद्‌गलकर्म का उदय जो कि रागादिपरिणाम का निमित्त है उससे भिन्न ही जीव का परिणाम है।।१३९-१४०।।

समूहपीठिका – इससे आगे जीव और पुद्‌गल के परस्पर उपादान कारण के निषेध की मुख्यता से तीन गाथाओं द्वारा आठवें अन्तराधिकार में समुदाय पातनिका है।

(आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति में समागत गाथा १३७ की टीका आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति में नहीं मिलती है।)

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय से पुद्‌गलकर्मों का परिणाम जीव से भिन्न ही है, ऐसा निरूपण करते हैं –

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण जिस कारण से एक उपादानभूत कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गलद्रव्य का द्रव्यकर्म रूप से परिणाम है, उसी कारण से **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** जीवगत मिथ्यात्व रागादि परिणामरूप उपादान हेतु के बिना भी द्रव्यकर्मों का परिणाम है।।१३८।।

अथ **एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** अथाभिप्रायो भवतां पूर्व-दूषणभयादेकस्य जीवस्यैकान्तेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते **ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो** तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च। अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुभिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव। किं च, द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीव: रागादिभावकर्मणामशुद्धनिश्चयेन। स चाशुद्धनिश्चय: यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थ:।

इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमोऽन्तराधिकार: समाप्त: ॥१३९-१४०॥

समुदायपातनिका – अथानंतरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादि विकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमोऽन्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय से कर्मपुद्गलों से जीव का परिणाम भिन्न ही है, ऐसा कहते हैं–

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादि यदि उपादानकारणभूत जीव के उपादानभूत कर्मोदय के साथ रागादि परिणाम होते हैं। **एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा** इसप्रकार तो जीव एवं पुद्गल दोनों के रागादि परिणामों का उपादान कारणपना होने पर चूना एवं हल्दी की तरह दोनों रागादिपने को प्राप्त होंगे। ऐसा होने पर पुद्गल के भी चेतनपना प्राप्त होगा और वह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अब **एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** यदि पूर्व दोष के भय से एकान्तत: मात्र जीव के उपादानकारण से ही रागादि परिणाम उत्पन्न होवें – ऐसा आपका मत है तो **ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो** इससे यह दोष हुआ कि कर्मोदय के निमित्त बिना भी शुद्धजीव के रागादि परिणाम उत्पन्न होंगे। और यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है तथा आगम के भी विरुद्ध है। अथवा दूसरा कथन यह है कि उपादानकारणभूत मात्र जीव के यदि रागादि परिणाम, कर्मोदयरूप उपादान हेतु के बिना होते हैं, तो यह सम्मत ही है। और कुछ विशेष कहते हैं – जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से द्रव्यकर्मों का कर्ता है तथा अशुद्धनिश्चय से रागादि भावकर्मों का कर्ता है। वह अशुद्ध निश्चय यद्यपि द्रव्यकर्म के कर्तृत्व के विषयभूत अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है, तथापि शुद्धात्मद्रव्यस्वभाव को विषय करनेवाले शुद्धनिश्चय नय की अपेक्षा से वस्तुत: वह अशुद्धनिश्चय भी व्यवहार ही है – ऐसा भावार्थ है।

इसप्रकार पुण्य-पापादि सात पदार्थों की पीठिका रूप महाधिकार में जीव और कर्म पुद्गलों का परस्पर उपादान कारण के निषेध की मुख्यता से तीन गाथाओं द्वारा आठवाँ अन्तराधिकार समाप्त हुआ॥१३९-१४०॥

समूहपीठिका – अब इसके बाद जीव व्यवहार से बद्ध है तथा निश्चय से अबद्ध है इत्यादि विकल्परूप नय पक्षपात को स्वीकार न करते हुए शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राही शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से पुण्यपापादि

किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह –

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म॥१४१॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः। जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः॥१४१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह– **जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं** जीवेऽधिकरणभूते बद्धं संश्लेषरूपेण क्षीरनीरवत्संबद्धं स्पृष्टं योगमात्रेण लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं** शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेऽधिकरणभूते अबद्धस्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्मस्वरूपं न भवतीति भावार्थः॥१४१॥

पदार्थों से भिन्न शुद्ध समयसार का चार गाथाओं द्वारा कथन करते हैं – इसप्रकार नववें अन्तराधिकार में समूहपीठिका है। वह इसप्रकार है –

....

अब यहाँ नय विभाग से यह कहते हैं कि 'आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है'–

है कर्म जीव में बद्धस्पृष्ट, जु कथन यह व्यवहार का।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीव में, कथन है नय शुद्ध का॥१४१॥

गाथार्थ :– [**जीवे**] जीव में [**कर्म**] कर्म [**बद्धं**] (उसके प्रदेशों के साथ) बँधा हुआ है [**च**] तथा [**स्पृष्टं**] स्पर्शित है [**इति**] ऐसा [**व्यवहारनय भणितम्**] व्यवहारनय का कथन है [**तु**] और [**जीवे**] जीव में [**कर्म**] कर्म [**अबद्धस्पृष्टं**] अबद्ध और अस्पर्शित [**भवति**] है ऐसा [**शुद्धनयस्य**] शुद्धनय का कथन है।

टीका :– जीव को और पुद्गलकर्म को एकबन्धपर्यायपने से देखने पर उनमें उस काल में भिन्नता का अभाव है इसलिए जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट है – ऐसा व्यवहारनय का पक्ष है। जीव को तथा पुद्गलकर्म को अनेकद्रव्यपने से देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए जीव में कर्म अबद्धस्पृष्ट है – यह निश्चयनय का पक्ष है ॥१४१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्ध-अस्पृष्ट हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर नयविभाग से निराकरण करते हैं – **जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणय भणिदं** अधिकरणभूत जीव में क्षीर-नीर की तरह कर्म एकक्षेत्रावगाहरूप होकर सम्बद्ध तथा स्पृष्ट है तथा मात्र संयोग रूप से आत्मा में लगे हैं, ऐसा व्यवहारनय का पक्ष या अभिप्राय है। **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं** शुद्धनय के अभिप्राय से अधिकरणभूत जीव में कर्म न तो बद्ध है और न स्पृष्ट है। ऐसा निश्चय तथा व्यवहार दो नयों के विकल्परूप शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है – ऐसा भावार्थ है॥१४१॥

ततः किम् –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं दु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण[1] भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवोऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयपक्षः। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति। तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन् न विकल्पमतिक्रामति। ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति ॥१४२॥

किन्तु इससे क्या ? जो आत्मा उन दोनों नयपक्षों को पार कर चुका है वही समयसार है, यह अब गाथा द्वारा कहते हैं –

हैं कर्म जीव में बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है।
पर पक्ष से अतिक्रांत भाषित, वो समय का सार है ॥१४२॥

गाथार्थ :– [**जीवे**] जीव में [**कर्म**] कर्म [**बद्धम्**] बद्ध है अथवा [**अबद्धं**] अबद्ध है [**एवं तु**] इसप्रकार तो [**नयपक्षम्**] नयपक्ष [**जानीहि**] जानो; [**पुनः**] किन्तु [**यः**] जो [**पक्षातिक्रांतः**] पक्षातिक्रांत (पक्ष को उल्लंघन करने वाला) [**भण्यते**] कहलाता है [**सः**] वह [**समयसारः**] समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है।

टीका :– 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है) वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघन स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है। यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) जो 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्ष का अतिक्रम न करता हुआ, विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इसलिए जो समस्त नय पक्ष का अतिक्रम करता है वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्प

---

१. पाठान्तर = णय पक्खातक्कंतो

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यस्माद् बद्धाबद्धादिविकल्परूपं नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवो न भवतीति प्रतिपादयति –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं जीवेऽधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोऽपि नयपक्षपातः स्वीकार इत्यर्थः **पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षातिक्रांतो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा। तद्यथा – व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति, निश्चयेनाबद्धो जीव इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति, निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति। कस्मादिति चेत् ? **'श्रुतविकल्पा नया'** इति वचनात्। श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकं, क्षायोपशमिकं तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात्। यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीवस्वरूपं न भवति। तर्हि कथंभूतं जीवस्वरूपमिति चेत् ? योऽसौ नयपक्षपातरहितस्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति।

का अतिक्रम करता है वही समयसार को प्राप्त करता है उसका अनुभव करता है।

भावार्थ :– जीव कर्म से 'बँधा हुआ है' तथा 'नहीं बँधा हुआ है' – यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्धपक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प ही ग्रहण किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को – शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है ॥१४२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जिस कारण से ''व्यवहार नय से बद्ध और निश्चयनय से अबद्ध'' ऐसा विकल्प रूप नय का स्वरूप कहा है, इसलिए शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय से बद्ध-अबद्ध आदि नय विकल्प रूप जीव नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं –

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं अधिकरणभूत जीव में कर्म बद्ध है या अबद्ध है ऐसा जो यह विकल्प है, वह दोनों ही नयों का पक्षपात है ऐसा अर्थ स्वीकार किया गया है। **पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षातिक्रान्त जिसे कहा गया है, वह समयसार है, शुद्धात्मा है। वह इसप्रकार है – व्यवहार से जीव बद्ध है ऐसा नयविकल्प शुद्ध जीवस्वरूप नहीं है और निश्चय से जीव अबद्ध है ऐसा नयविकल्प शुद्ध जीवस्वरूप नहीं है, और निश्चय-व्यवहार दोनों से जीव अबद्ध है या बद्ध है' ऐसा वचन-विकल्प शुद्ध जीवस्वरूप नहीं है। किसकारण से विकल्प शुद्ध जीव स्वरूप नहीं है ? **''श्रुतविकल्पा नयाः'' श्रुतविकल्प ही नय हैं ऐसा आगम वचन है।** श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान है। क्षयोपशमज्ञान ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यद्यपि व्यवहारनय से छद्मस्थ की अपेक्षा वह जीव स्वरूप कहा जाता है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा वह शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है। तो फिर जीव का स्वरूप कैसा है ? यह जो नयपक्षपात रहित स्वसंवेदन ज्ञानी है उसके अभिप्राय से बद्ध-अबद्ध, मूढ-अमूढ आदि नयविकल्प रहित, चिदानन्द एक स्वभाव जीव का स्वरूप है।

तथा चोक्तं – (आत्मख्यातिकलशे) य एव मुक्त्वा......नित्यं खलु चिच्चिदेव॥६९-७०॥

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका।
वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते॥
हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात्।
त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतम्॥ ॥ता.वृ.टीका१४२॥

यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावानां न नाटयति ?

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति॥६९॥

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥७०॥

जैसा कि आत्मख्याति के कलश ६९-७० में कहा है – ''जो पुरुष नय पक्षपात से मुक्त......आत्मा वास्तव में चैतन्य ही है।''

समय – द्रव्य अथवा आगम के व्याख्यान के काल में बुद्धि दो नयोंरूप होती है, किन्तु तत्त्ववेत्ता की बुद्धि पक्षपात रहित होकर अपने स्वरूप में स्थिर होती है। दोनों नयों से हेय-उपादेय तत्त्व का दृढ़ निश्चय रूप निर्णय करके, हेय को त्यागकर उपादेय में अब स्थित रहना ही साधुओं को सम्मत है, स्वीकार है। ॥ता.वृ.टीका१४२॥

....

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को वास्तव में कौन नहीं नचायेगा?' ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्ष के त्याग की भावना वाले २३ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[ये एव]** जो **[नयपक्षपातं मुक्त्वा]** नयपक्षपात को छोड़कर **[स्वरूपगुप्ताः]** (अपने) स्वरूप में गुप्त होकर **[नित्यम्]** सदा **[निवसन्ति]** निवास करते हैं **[ते एव]** वे ही, **[विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः]** जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शांत हो गया है ऐसे होते हुए, **[साक्षात् अमृतं पिबन्ति]** साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

भावार्थ :– जबतक कुछ भी पक्षपात रहता है तबतक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है॥६९॥

अब २० कलशों द्वारा नयपक्ष का विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ऐसे समस्त नयपक्षों को छोड़ देता है वह तत्त्ववेत्ता (तत्त्वज्ञानी) स्वरूप को प्राप्त करता है :–

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

श्लोकार्थ :– **[बद्धः]** जीव कर्मों से बँधा हुआ है **[एकस्य]** ऐसा एक नय का पक्ष है और **[न तथा]** नहीं बँधा हुआ है **[परस्य]** ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; **[इति]** इसप्रकार **[चिति]** चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में **[द्वयोः]** दो नयों के **[द्वौ पक्षपातौ]** दो पक्षपात हैं। **[यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः]** जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है **[तस्य]** उसे **[नित्यं]** निरन्तर **[चित्]** चित्स्वरूप जीव **[खलु चित् एव अस्ति]** चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है)।

भावार्थ :– इस ग्रन्थ में पहले से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के परिणाम पर-निमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव-पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्ध स्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा। अशुद्धनय की तो बात ही क्या है ? किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, इसलिये वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्र स्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनय को जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करनी चाहिये॥७०॥

श्लोकार्थ :– **[मूढः]** जीव मूढ़ (मोही) है **[एकस्य]** ऐसा एक नय का पक्ष है और **[न तथा]** मूढ़ नहीं है **[परस्य]** ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; **[इति]** इसप्रकार **[चिति]** चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में **[द्वयोः]** दो नयों के **[द्वौ पक्षपातौ]** दो पक्षपात हैं। **[यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः]** जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है **[तस्य]** उसे **[नित्यं]** निरन्तर **[चित्]** चित्स्वरूप जीव **[खलु चित् एव अस्ति]** चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है)॥७१॥

श्लोकार्थ :– **[रक्तः]** जीव रागी है **[एकस्य]** ऐसा एक नय का पक्ष है और **[न तथा]** रागी नहीं है **[परस्य]** ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; **[इति]** इसप्रकार **[चिति]** चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७३।।
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७४।।
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७५।।
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७६।।

[**द्वयो:**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**य: तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात:**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभव में आता है)।।७२।।

श्लोकार्थ :– [**दुष्ट:**] जीव द्वेषी है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] द्वेषी नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयो:**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**य: तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात:**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७३।।

श्लोकार्थ :– [**कर्ता**] जीव कर्ता है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] कर्ता नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयो:**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**य: तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात:**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७४।।

श्लोकार्थ :– [**भोक्ता**] जीव भोक्ता है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] भोक्ता नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयो:**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**य: तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात:**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७५।।

श्लोकार्थ :– [**जीवा:**] जीव जीव है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयो:**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**य: तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात:**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७७।।
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७८।।
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७९।।
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।८०।।

का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७६।।

श्लोकार्थ :– [**सूक्ष्मः**] जीव सूक्ष्म है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] सूक्ष्म नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७७।।

श्लोकार्थ :– [**हेतु**] जीव हेतु (कारण) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] हेतु (कारण) नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७८।।

श्लोकार्थ :– [**कार्यं**] जीव कार्य है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] कार्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।७९।।

श्लोकार्थ :– [**भावः**] जीव भाव है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] भाव नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है।।८०।।

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥
एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

श्लोकार्थ :– [**एकः**] जीव एक है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] एक नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८१॥

श्लोकार्थ :– [**सांतः**] जीव सांत है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] सांत नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८२॥

श्लोकार्थ :– [**नित्यः**] जीव नित्य है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] नित्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८३॥

श्लोकार्थ :– [**वाच्यः**] जीव वाच्य है (अर्थात् वचन से कहा जा सके ऐसा) [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] वाच्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८४॥

श्लोकार्थ :– [**नाना**] जीव नानारूप है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥
एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

नानारूप नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८५॥

श्लोकार्थ :– [**चेत्यः**] जीव चेत्य (जाननेयोग्य) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव चेत्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८६॥

श्लोकार्थ :– [**दृश्यः**] जीव दृश्य (देखनेयोग्य) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव दृश्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८७॥

श्लोकार्थ :– [**वेद्यः**] जीव वेद्य (वेदने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव वेद्य नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८८॥

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम्॥९०॥

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः॥९१॥

श्लोकार्थ :– [**भातः**] जीव भात (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है [**एकस्य**] ऐसा एक नय का पक्ष है और [**न तथा**] जीव भात नहीं है [**परस्य**] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [**इति**] इसप्रकार [**चिति**] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [**द्वयोः**] दो नयों के [**द्वौ पक्षपातौ**] दो पक्षपात हैं। [**यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः**] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [**तस्य**] उसे [**नित्यं**] निरन्तर [**चित्**] चित्स्वरूप जीव [**खलु चित् एव अस्ति**] चित्स्वरूप ही है॥८९॥

भावार्थ :– बद्ध, अबद्ध, मूढ़, अमूढ़, रागी, अरागी, द्वेषी, अद्वेषी, कर्ता, अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव, अजीव, सूक्ष्म, स्थूल, कारण, अकारण, कार्य, अकार्य, भाव, अभाव, एक, अनेक, सान्त, अनन्त, नित्य, अनित्य, वाच्य, अवाच्य, नाना, अनाना, चेत्य, अचेत्य, दृश्य, अदृश्य, वेद्य, अवेद्य, भात, अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं। जो पुरुष नयों के कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्व का – वस्तुस्वरूप का निर्णय करके नयों के पक्षपात को छोड़ता है, उसे चित्स्वरूप रूप जीव का चित्स्वरूप अनुभव होता है।

जीव में अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है, इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीव को चित्स्वरूप कहा है॥८९॥

अब उपरोक्त २० कलशों के कथन का उपसंहार करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**स्वेच्छा-समुच्छलद्-अनल्प-विकल्प-जालाम्**] जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठता है ऐसी [**महतीं**] बड़ी [**नय-पक्ष-कक्षाम्**] नयपक्ष-कक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) [**व्यतीत्य**] उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) [**अंतः बहिः**] भीतर और बाहर [**समरसैकरसस्वभावं**] समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे [**अनुभूतिमात्रम् एकं स्वं भावं**] अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (स्वरूप को) [**उपयाति**] प्राप्त करता है॥९०॥

अब नयपक्ष के त्याग की भावना का अन्तिम काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पुष्कल-उत्-चल-विकल्प-वीचिभिः उच्छलत्**] विपुल, महान, चंचल

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत् –

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरं दु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः॥१४३॥

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि

विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उछलते हुए [**इदम् एवम्-कृत्स्नम्-इन्द्रजालम्**] इस समस्त इन्द्रजाल को [**यस्य विस्फुरणम् एव**] जिसका स्फुरण मात्र ही [**तत्क्षणं**] तत्क्षण [**अस्यति**] उड़ा देता है [**तत् चिन्महः अस्मि**] वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ।

भावार्थ :– चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों का विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलय को प्राप्त होता है; ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ॥९१॥

'पक्षातिक्रान्त का स्वरूप क्या है ?' इसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :–

नयद्वय कथन जाने हि केवल समय में प्रतिबद्ध जो।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन वो॥१४३॥

गाथार्थ :– [**नयपक्षपरिहीनः**] नयपक्ष से रहित जीव [**समयप्रतिबद्धः**] समय से प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा का अनुभव करता हुआ), [**द्वयोः अपि**] दोनों ही [**नययोः**] नयों के [**भणितं**] कथन को [**केवलं तु**] मात्र [**जानाति**] जानता ही है [**तु**] परन्तु [**नयपक्षं**] नयपक्ष को [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न गृह्णाति**] ग्रहण नहीं करता।

टीका :– जैसे केवली भगवान, विश्व के साक्षीपन के कारण, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही मात्र जानते हैं; परन्तु निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञान के द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होने से, श्रुतज्ञान की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञान की भूमिका को पार कर चुकने के कारण) समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते। इसीप्रकार जो (श्रुतज्ञानी आत्मा) क्षयोपशम से जो उत्पन्न होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी, पर का ग्रहण करने के प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होने से, श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षों के स्वरूप को ही केवल जानते हैं; परन्तु अतितीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय समय से प्रतिबद्धता के द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्मा

परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदित-चिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूप-विकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्य: परतर: परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्र: समयसार: ।।१४३।।

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।।९२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ नयपक्षातिक्रांतस्य शुद्धजीवस्य किं स्वरूपमिति पृष्टे सति पुनर्विशेषेण कथयति–

योऽसौ नयपक्षपातरहित: स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावम्। **दोण्हवि णयाण भणिदं जाणदि** यथा भगवान केवली निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति। **णवरिं तु समयपडिबद्धो** तथापि नवरि केवलं सहजपरमानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीन: सन् **णयपक्ख-परिहीणो** सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजाल रूपान्नयद्वयपक्षपाताद्-दूरीभूतत्वात् **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि** न तु नयपक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथाऽयं गणधरदेवादिछद्मस्थजनोऽपि नयद्वयोक्तं वस्तुस्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीन: सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नयपक्षपातरूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति ।।१४३।।

के अनुभवन द्वारा) अनुभव के समय स्वयं ही विज्ञानघन हुए होने से, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पों की भूमिका की अतिक्रान्तता के द्वारा समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूर हुए होने से, किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तव में समस्त विकल्पों से अति पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है।

भावार्थ :– जैसे केवली भगवान सदा नयपक्ष के स्वरूप के साक्षी (ज्ञातादृष्टा) हैं। उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभवन करते हैं, तब वे नयपक्ष के स्वरूप के ज्ञाता ही हैं; यदि एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्व के साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजनवश एक नय को प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के अतिरिक्तमात्र चारित्रमोह का राग रहता है; और जब नयपक्ष को छोड़कर वस्तुस्वरूप को मात्र जानते ही हैं, तब उस समय श्रुतज्ञानी भी केवली की भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं – ऐसा जानना।

अब इस कलश में यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है :–

श्लोकार्थ :– **[चित्स्वभाव-भर-भावित-भाव-अभाव-भाव परमार्थतया एकम्]** चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य किये जाते हैं, ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है इसलिये जो एक है ऐसे **[अपारम् समयसारम्]** अपार समयसार को मैं, **[समस्तां बन्धपद्धतिम्]** समस्त बन्धपद्धति को **[अपास्य]** दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होने वाले सर्व भावों को छोड़कर, **[चेतये]** अनुभव करता हूँ।

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते –

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥१४४॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते। यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्णतया

भावार्थ :– निर्विकल्प अनुभव होने पर, जिसके केवलज्ञानादि गुणों का पार नहीं है ऐसे समयसाररूपी परमात्मा का अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता – ऐसा जानना ॥९२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, नय पक्षातिक्रान्त शुद्ध जीव का स्वरूप क्या है ? ऐसा पूछने पर पुन: विशेष रूप से कहते हैं –

जो यह नयपक्षपात रहित स्वसंवेदन ज्ञानी है, उसके अभिप्राय से (शुद्ध जीवस्वरूप) बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़ आदि नयविकल्प रहित चिदानन्द एक स्वभाव रूप है। **दोण्हवि णयाण भणिदं जाणदि** जिसप्रकार केवली भगवान निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयों द्वारा कथित अर्थ को अथवा द्रव्य और पर्याय के स्वरूप को जानते हैं। **णवरिं तु समयपडिबद्धो** तथापि केवल सहजपरमानन्द एकस्वभावी आत्मा के आधीन (प्रतिबद्ध) होकर **णयपक्खपरिहीणो** नित्य उल्लसित होते हुए केवलज्ञान द्वारा श्रुतज्ञानावरणीय क्षयोपशमजनित विकल्पजाल वाले नयों के पक्षपात् से दूर रहने के कारण **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि** कुछ भी नयपक्ष के विकल्प को आत्मरूप से ग्रहण नहीं करते हैं। उसीप्रकार ये गणधर देवादि छद्मस्थ जन भी दो नयों द्वारा कथित वस्तुस्वरूप को जानते हैं, तथापि केवल चिदानन्द एकस्वभावी आत्मा के आधीन होकर श्रुतज्ञानावरणीय क्षयोपशमजनित विकल्पजाल रूप दोनों नयों के पक्षपात् से शुद्धनिश्चय के द्वारा दूर होने के कारण निर्विकल्पसमाधिकाल में शुद्धात्मस्वरूप से नयपक्षपातवाले विकल्प को स्वीकार या ग्रहण नहीं करते हैं ॥१४३॥

....

अब यह कहते हैं कि नियम से यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है :–

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समय का सार है ॥१४४॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो [**सर्वनयपक्षरहितः**] सर्व नयपक्षों से रहित [**भणितः**] कहा गया है [**सः**] वह [**समयसारः**] समयसार है; [**एषः**] इसी (समयसार को ही) [**केवलं**] केवल [**सम्यग्दर्शनज्ञानम्**] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान [**इति**] ऐसी [**व्यपदेशम्**] संज्ञा (नाम) [**लभते**] मिलती है (नामों के भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है।)

टीका :– वास्तव में समस्त नयपक्षों के द्वारा खण्डित न होने से जिसका समस्त विकल्पों का

विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापार: स समयसार:। यत: प्रथमत: श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य तत: खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्व:, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंती: श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रतिभासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विंदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च, तत: सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव॥१४४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो य: समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान: स्वयम्।
विज्ञानैकरस: स एष भगवान्पुण्य: पुराण: पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम्॥९३॥

व्यापार रुक गया है, ऐसा समयसार है; वास्तव में इस एक को ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का नाम प्राप्त है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसार से अलग नहीं है, एक ही है।)

प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके, और फिर आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए, पर-पदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत सर्व इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियों को मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान-तत्त्व को (मतिज्ञान के स्वरूप को) आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा जो नाना प्रकार के नयपक्षों के आलम्बन से होने वाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यंत विकल्प रहित होकर, तत्काल ही निजरस से ही प्रगट होता हुआ, आदि-मध्य और अन्त से रहित अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है, इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ :– पहले आत्मा का आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके फिर इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही मिलाकर, तथा श्रुतज्ञानरूपी नयों के विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके, एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' के नाम को प्राप्त करता है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[नयानां पक्षै: विना]** नयों के पक्षों से रहित, **[अचलं अविकल्पभावम्]** अचल निर्विकल्प भाव को **[आक्रामन्]** प्राप्त होता हुआ **[य: समयस्य सार: भाति]** जो समय का (आत्मा का) सार प्रकाशित करता है **[स: एष:]** वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा) – **[निभृतै: स्वयम्**

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्माहरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत्॥९४॥

आस्वाद्यमानः] जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (अनुभव में आता है) वह **[विज्ञान-एक-रसः भगवान्]** विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान् है, **[पुण्यः पुराणः पुमान्]** पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे **[ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं]** ज्ञान कहो या दर्शन वह यही (समयसार ही) है; **[अथवा किम्]** अधिक क्या कहें? **[यत् किंचन अपि अयम् एकः]** जो कुछ है सो यह एक ही है (मात्र भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है)॥९३॥

अब यह कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था, सो ज्ञान में ही आ मिलता है :–

श्लोकार्थ :– [तोयवत्] जैसे पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो, उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी; पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर, अपने समूह में आ मिलता है। इसीप्रकार **[अयं]** यह आत्मा **[निज-ओघात् च्युतः]** अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर **[भूरि-विकल्प-जाल-गहने दूरं भ्राम्यन्]** प्रचुर विकल्पजालों के गहन वन में दूर परिभ्रमण कर रहा था उसे **[दूरात् एव]** दूर से ही **[विवेक-निम्न-गमनात्]** विवेकरूपी ढाल वाले मार्ग द्वारा **[निज-ओघं बलात् नीतः]** अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिए **[तद्-एक-रसिनाम्]** केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को **[विज्ञान-एक-रसः आत्मा]** जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है ऐसा वह आत्मा, **[आत्मानम् आत्मनि एव आहरन्]** आत्मा को आत्मा में खींचता हुआ अर्थात् ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर **[सदा गतानुगतताम् आयाति]** सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है।

भावार्थ :– जैसे पानी, अपने पानी के निवासस्थल से किसी मार्ग से बाहर निकलकर वन में अनेक स्थानों पर बह निकले; और फिर किसी ढालवाले मार्ग द्वारा, ज्यों का त्यों अपने निवास-स्थान में आ मिले; इसीप्रकार आत्मा भी मिथ्यात्व के मार्ग से, स्वभाव से बाहर निकलकर विकल्पों के वन में भ्रमण करता हुआ किसी भेदज्ञान रूपी ढालवाले मार्ग द्वारा स्वयं ही अपने को खींचता हुआ अपने विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है॥९४॥

अब कर्ताकर्म अधिकार का उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं, उनमें से प्रथम कलश में कर्ता और कर्म का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

विकल्पक: परं कर्ता विकल्प: कर्म केवलम्।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।।९५।।

(रथोद्धता)

य: करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
य: करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।।९६।।

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्ति: करोतौ न हि भासतेऽन्त: ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्त:।
ज्ञप्ति: करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति तत: स्थितं च ।।९७।।

श्लोकार्थ :– [**विकल्पक: परं कर्ता**] विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और [**विकल्प: केवलं कर्म**] विकल्प ही केवल कर्म है; (अन्य कोई कर्ता-कर्म नहीं है;) [**सविकल्पस्य**] जो जीव विकल्पसहित है उसका [**कर्तृ कर्मत्वं**] कर्ता-कर्मपना [**जातु**] कभी [**नश्यति न**] नष्ट नहीं होता।

भावार्थ :– जबतक विकल्पभाव है तबतक कर्ता-कर्मभाव है; जब विकल्प का अभाव हो जाता है तब कर्ता-कर्मभाव का भी अभाव हो जाता है।।९५।।

अब कहते हैं कि जो करता है सो करता ही है, और जो जानता है सो जानता ही है–

श्लोकार्थ :– [**य: करोति स: केवलं करोति**] जो करता है सो मात्र करता ही है [**तु**] और [**य: वेत्ति स: तु केवलम् वेत्ति**] जो जानता है सो मात्र जानता ही है; [**य: करोति स: क्वचित् न हि वेत्ति**] जो करता है वह कभी जानता नहीं [**तु**] और [**य: वेत्ति स: क्वचित् न करोति**] जो जानता है वह कभी करता नहीं।

भावार्थ :– जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं।।९६।।

इसीप्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियाएँ भिन्न हैं :–

श्लोकार्थ :– [**करोतौ अन्त: ज्ञप्ति: न हि भासते**] करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती [**च**] और [**ज्ञप्तौ अन्त: करोति: न भासते**] जाननेरूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; [**तत: ज्ञप्ति: करोति: च विभिन्ने**] इसलिए, 'ज्ञप्तिक्रिया'और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं; [**च तत: इति स्थितं**] इससे यह सिद्ध हुआ कि [**ज्ञाता कर्ता न**] जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

भावार्थ :– जब आत्मा इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को करता हूँ' तब तो वह कर्ताभाव रूप परिणमनक्रिया के करने से अर्थात् 'करोति' क्रिया के करने से कर्ता ही है और जब वह इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' तब ज्ञाताभाव रूप परिणमन करने से अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया के करने से ज्ञाता ही है।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम्।।९८।।

अथवा नानट्यतां तथापि –

(मन्द्राक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत्।।९९।।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि अविरत-सम्यग्दृष्टि आदि को जबतक चारित्रमोह का उदय रहता है तबतक वह कषायरूप परिणमन करता है, इसलिए उसका वह कर्ता कहलाता है या नहीं ?

उसका समाधान – अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्व का अभिप्राय नहीं है; जो कषायरूप परिणमन है वह उदय की बलवत्ता के कारण है, वह उसका ज्ञाता है; इसलिये उसके अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है। निमित्त की बलवत्ता से होने वाले परिणमन का फल किंचित् होता है वह संसार का कारण नहीं है। जैसे वृक्ष की जड़ काट देने के बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे – प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना।।९७।।

पुनः इसी बात को दृढ़ करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [कर्ता कर्मणि नास्ति, कर्म तत् अपि नियतं कर्तरि नास्ति] निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है, और न कर्म कर्ता में ही है **[यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते]** यदि इसप्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाये **[तदा कर्तृकर्मस्थितिः का]** तो कर्ता-कर्म की क्या स्थिति होगी ? अर्थात् जीव-पुद्गल के कर्ता-कर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा। **[ज्ञाता ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणि]** इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही है और कर्म सदा कर्म में ही है **[इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता]** ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है **[तथापि बत]** तथापि अरे ! **[नेपथ्ये एषः मोहः किम् रभसा नानटीति]** नेपथ्य में यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है ? (इसप्रकार आचार्य को खेद और आश्चर्य होता है।)

भावार्थ :– कर्म तो पुद्गल है, जीव को उसका कर्ता कहना असत्य है। उन दोनों में अत्यन्त भेद है, न तो जीव पुद्गल में है और न पुद्गल जीव में; तब फिर उन में कर्ता-कर्म भाव कैसे हो सकता है ? इसलिये जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है; और पुद्गल कर्म हैं वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाता का कर्म नहीं हैं। आचार्य देव ने खेदपूर्वक कहा है कि इसप्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य है, तथापि 'मैं कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' – इसप्रकार अज्ञानी का यह मोह (अज्ञान) क्यों नाच रहा है ?।।९८।।

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः द्वितीयोऽङ्कः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्त-पक्षपातेनातिक्रांत एव समयसार इत्यवतिष्ठति – **सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो** इन्द्रियानिन्द्रिय-जनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितः समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्प-समाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा यतः कारणात् **सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं** नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं संज्ञां लभते। न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति। एवं निश्चयव्यवहारनय-पक्षपातरहितशुद्धसमयसारव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन नवमोऽन्तराधिकारः समाप्तः।।१४४।।

अब यह कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है–

श्लोकार्थ :– [**अचलं**] अचल, [**व्यक्तं**] व्यक्त और [**चित्-शक्तीनां निकर-भरतः अत्यन्त-गम्भीरम्**] चित्शक्तियों के (ज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों के) समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर[**एतत् ज्ञानज्योतिः**] यह ज्ञानज्योति [**अन्तः**] अन्तरंग में [**उच्चैः**] उग्रता से [**तथाज्वलितम्**] ऐसी जाज्वल्यमान हुई कि [**यथा कर्ता कर्ता न भवति**] आत्मा अज्ञान में कर्ता होता था सो अब वह कर्ता नहीं होता और [**कर्म कर्म अपि न एव**] अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था सो वह कर्मरूप नहीं होता; [**यथा ज्ञानं ज्ञानं भवति च**] और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा [**पुद्गलः पुद्गलः अपि**] पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है।

भावार्थ :– जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं होता और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इसप्रकार यथार्थज्ञान होने पर दोनों द्रव्यों के परिणमन में निमित्त-नैमित्तिकभाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है।।९९।।

टीका :– इसप्रकार जीव और अजीव कर्ता-कर्म का वेष त्यागकर बाहर निकल गये।

भावार्थ :– जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्म का वेष धारण करके एक होकर रंगभूमि में प्रविष्ट हुए थे। जब सम्यग्दृष्टि ने अपने यथार्थ दर्शक ज्ञान से उन्हें भिन्न-भिन्न लक्षण से यह जान लिया कि वे एक नहीं किन्तु दो अलग-अलग हैं, तब वे वेष का त्याग करके रंगभूमि से बाहर निकल गये। बहुरूपिया की ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जबतक देखने वाले उसे पहिचान नहीं लेते तबतक वह अपनी चेष्टाएँ किया करता है, किन्तु जब कोई यथार्थरूप से पहिचान लेता है तब वह निजरूप को प्रगट करके चेष्टा करना छोड़ देता है। इसीप्रकार यहाँ भी समझना।

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो,
ताकरि बन्धन आन तणूं फल ले सुख-दुःख भवाश्रम वासो;
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै पर पासो,
आतममाहिं सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री समयसार शास्त्र की श्रीमद्अमतृचन्द्राचार्य-देवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में कर्ता-कर्म का प्ररूपक द्वितीय अंक समाप्त हुआ।

इत्यनेन प्रकारेण **'जाव ण वेदि विसेसं'** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानिसंज्ञानिजीवयोः संक्षेपसूचनार्थम् गाथाषट्कम्। तदनंतरमज्ञानिसंज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाः। ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादान-कर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन गाथापंचविंशतिः। तदनंतरं प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति समर्थनद्वारेणसूत्र-सप्तकम्। ततश्च जीवपुद्गलकथंचित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकम्। ततः परं ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामकथन-मुख्यतया गाथानवकम्। तदनंतरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपंचप्रत्ययभेदप्रतिपादनरूपेण गाथापंचकम्। ततश्च जीव-पुद्गलयोः परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयम्। ततः परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेण गाथाचतुष्टयं चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरंतराधिकारैः कर्ताकर्ममहाधिकारः समाप्तः। तत्रैवं सति जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ नृत्यानंतरं शृंगारपात्रयोः परस्परपृथग्भाववत् शुद्धनिश्चयेन जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संबंधी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः समाप्तः।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से नयविकल्प स्वरूप समस्त पक्षपात से रहित ही समयसार होता है, ऐसा कहते हैं – **सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो** इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय मन जनित बाह्य विषय सम्बन्धी मतिज्ञान के समस्त विकल्पों से रहित होता हुआ, बद्ध-अबद्ध आदि विकल्प रूप नयपक्षपात से रहित समयसार का अनुभव करता हुआ ही निर्विकल्प समाधिस्थ पुरुषों द्वारा देखा और जाना जाता है। आत्मा उस कारण से **सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं** सकल-विमल, केवलदर्शन-ज्ञान संज्ञा को प्राप्त होता है, किन्तु बद्ध-अबद्ध आदि व्यपदेश को प्राप्त नहीं होता है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार दोनों नयों के पक्षपात से रहित शुद्धसमयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा नवमाँ अन्तराधिकार पूर्ण हुआ॥१४४॥

इसप्रकार से **'जाव ण वेदि विसेसंतरं'** इत्यादि गाथा से लेकर पाठक्रम से अज्ञानी, सम्यग्ज्ञानी जीव की संक्षिप्त सूचना के लिए छह गाथाएँ हैं। उसके बाद अज्ञानी तथा सम्यग्ज्ञानी जीव के विशेष कथन रूप से ग्यारह गाथाएँ हैं। फिर चेतन और अचेतन दोनों कार्यों का एक उपादान कर्तृत्व रूप द्विक्रियावादी के निराकरण की मुख्यता से पच्चीस गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् (मिथ्यात्वादि) प्रत्यय ही कर्म करते हैं, इसका समर्थन सात गाथा सूत्रों में है। फिर जीव और पुद्गल के कथंचित् परिणामीपने की सिद्धि की मुख्यता से आठ गाथा सूत्र हैं। उसके बाद ज्ञानमय-अज्ञानमय परिणामों के कथन की मुख्यता से नौ गाथाएँ हैं। उसके बाद अज्ञानमय मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय के भेद-प्रभेद के प्रतिपादन के रूप में पाँच गाथाएँ हैं। फिर जीव-पुद्गल के परस्पर उपादान कर्तृत्व के निषेध की मुख्यता से तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद नयपक्षपात रहित शुद्धसमयसार के कथन रूप से चार गाथाएँ हैं। इसप्रकार समूहरूप से अठहत्तर गाथाओं में नव अन्तराधिकारों द्वारा कर्ता-कर्म महाधिकार समाप्त हुआ। इसप्रकार जीव-अजीव अधिकार की रंगभूमि में नृत्य करने के बाद शुद्धनिश्चयनय से शृंगार और पात्र के परस्पर पृथक् भाव की तरह जीव और अजीव दोनों कर्त्ता-कर्म का वेष छोड़कर चले जाते हैं।

– इसप्रकार जयसेनाचार्यकृत शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नामक समयसार व्याख्या में पुण्य-पापादि सात पदार्थों सम्बन्धी पीठिका रूप में तीसरा महाधिकार पूर्ण हुआ।

●

३

पुण्यपाप-अधिकार

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति –

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

(दोहा)

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पापरूप से प्रवेश करता है।' जैसे नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है, इसीप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है तथापि वह पुण्य-पाप के भेद से दो प्रकार के रूप धारण करके नाचता है उसे सम्यग्दृष्टि का यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है। उस ज्ञान की महिमा का काव्य इस अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार आचार्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अथ**] अब (कर्ता-कर्म अधिकार के पश्चात्), [**शुभ-अशुभ भेदतः**] शुभ और अशुभ के भेद से [**द्वितयतां गतम् तत् कर्म**] द्वित्व को प्राप्त उस कर्म को [**ऐक्यम् उपानयन्**] एकरूप करता हुआ, [**ग्लपित-निर्भर-मोहरजा**] जिसने अत्यन्त मोहरज को दूर कर दिया है ऐसा [**अयम् अवबोध-सुधाप्लवः**] यह (प्रत्यक्ष-अनुभवगोचर) ज्ञान सुधांशु (सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) [**स्वयम्**] स्वयं [**उदेति**] उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– अज्ञान से एक ही कर्म दो प्रकार दिखाई देता था, उसे सम्यग्ज्ञान ने एक प्रकार का बताया है। ज्ञान पर जो मोहरूप रज चढ़ी हुई थी उसे दूर कर देने से यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरे के पटल से चन्द्रमा का यथार्थ प्रकाश नहीं होता, किन्तु आवरण के दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है; इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिए॥१००॥

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्य: शूद्र: स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकाया:
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण॥१०१॥

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥१४५॥

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम्।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्, शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभाव भेदात्, शुभाशुभ-फलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात्, शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि

अब पुण्य-पाप के स्वरूप का दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्म को प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ और दूसरा उसी शूद्रा के यहाँ पला उनमें से) [**एक:**] एक तो [**ब्राह्मणत्व-अभिमानात्**] 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से [**दूरात्**] दूर से ही [**मदिरां**] मदिरा का [**त्यजति**] त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता; तथा [**अन्य:**] दूसरा [**अहम् स्वयं शूद्र: इति**] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर [**नित्यम्**] नित्य [**तया एव**] मदिरा से ही [**स्नाति**] स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है। [**एतौ द्वौ अपि**] यद्यपि वे दोनों [**शूद्रिकाया: उदरात् युगपत् निर्गतौ**] शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिए [**साक्षात् शूद्रौ**] (परमार्थत:) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, [**अपि च**] तथापि वे [**जातिभेद-भ्रमेण**] जाति भेद के भ्रम सहित [**चरत:**] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसीप्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिए।)

भावार्थ :– पुण्य-पाप दोनों विभाव परिणति से उत्पन्न हुए हैं इसलिए दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टि से भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न भासित होने से, वे अच्छे और बुरे रूप से दो प्रकार दिखाई देते हैं। परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही, बुरा ही जानती है॥१०१॥

अब शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन गाथा में करते हैं :–

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्म को।
किस रीत होय सुशील जो संसार में दाखिल करे?॥१४५॥

गाथार्थ :– [**अशुभं कर्म**] अशुभ कर्म [**कुशीलं**] कुशील है (बुरा है) [**अपि च**] और [**शुभकर्म**] शुभकर्म [**सुशीलम्**] सुशील है (अच्छा है) ऐसा [**जानीथ**] तुम जानते हो! (किन्तु) [**तत्**] वह [**सुशीलं**]

कर्म किंचिच्छुभं, किंचिदशुभमिति केषांचित्किलपक्षः। स तु सप्रतिपक्षः। तथाहि – शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकः, तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ, तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।।१४५।।

सुशील **[कथं]** कैसे **[भवति]** हो सकता है **[यत्]** जो **[संसारं]** (जीव को) संसार में **[प्रवेशयति]** प्रवेश कराता है ?

टीका :– किसी कर्म में शुभ जीव परिणाम निमित्त होने से और किसी में अशुभ जीव परिणाम निमित्त होने से कर्म के कारणों में भेद होता है; कोई कर्म शुभ पुद्गल परिणाममय और कोई अशुभ पुद्गलपरिणाममय होने से कर्म के स्वभाव में भेद होता है; किसी कर्म का शुभ फलरूप और किसी का अशुभ फलरूप विपाक होने से कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद होता है; कोई कर्म शुभ (अच्छे) मोक्षमार्ग के आश्रित होने से और कोई कर्म अशुभ (बुरे) बन्धमार्ग के आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद होता है। (इसलिए) यद्यपि (वास्तव में) कर्म एक ही है तथापि कई लोगों का ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है। परन्तु वह प्रतिपक्ष सहित है। वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्ष का निषेध करने वाला निश्चय पक्ष) इसप्रकार है :–

शुभ या अशुभ जीव परिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक हैं; और उनके एक होने से कर्म के कारणों में भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गल परिणाम केवल पुद्गलमय होने से एक है; उसके एक होने से कर्म के स्वभाव में भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ फलरूप होने वाला विपाक केवल पुद्गलमय होने से एक है; उसके एक होने से कर्म के अनुभव में (स्वाद में) भेद नहीं होता; इसलिए कर्म एक ही है। शुभ (अच्छे) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ (बुरे) बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है इसलिए वे अनेक (भिन्न-भिन्न; दो) हैं; और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग के ही आश्रित होने से कर्म के आश्रय में भेद नहीं है; इसलिए कर्म एक ही है।

भावार्थ :– कोई कर्म तो अरहन्तादि में भक्ति-अनुराग, जीवों के प्रति अनुकम्पा के परिणाम और मन्द कषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि शुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता विषयासक्ति और देव-गुरु आदि पूज्य पुरुषों के प्रति विनय भाव से नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभ परिणामों के निमित्त से होते हैं; इसप्रकार हेतुभेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम और शुभगोत्र इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में तथा चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र इन कर्मों के परिणामों (प्रकृति इत्यादि) में भेद हैं; इसप्रकार स्वभाव भेद होने से कर्मों के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। किसी

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

समुदायपातनिका – अथानंतरं निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूयपुण्यपापरूपेण प्रविशति। **कम्ममसुहं कुसीलं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा क्रमेणैकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं पुण्यपापव्याख्यानं करोति। तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कम्। तदनंतरमध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबंधकारणमेव न च मुक्तिकारणम्। सम्यक्त्वसहितं पुनः परंपरया मुक्तिकारणं च भवति इति मुख्यतया **'परमट्ठो खलु'** इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्। ततः परं निश्चयव्यवहार- मोक्षमार्गमुख्यत्वेन **'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादि गाथानवकं कथयतीति पुण्यपापपदार्थाधिकार समुदायपातनिका। तद्यथा –

कर्म के फल का अनुभव सुखरूप और किसी का दुःखरूप है; इसप्रकार अनुभव का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कोई कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्ग के आश्रित है; इसप्रकार आश्रय का भेद होने से कर्म के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय ऐसे चार प्रकार से कर्म में भेद होने से कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है, ऐसा कुछ लोगों का पक्ष है।

अब इस भेदपक्ष का निषेध किया जाता है; जीव के शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं, इसलिए कर्म का हेतु एक अज्ञान ही है; अतः कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं, इसलिए कर्म का स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही है; अतः कर्म एक ही है। सुख दुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं, इसलिए कर्म का अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अतः कर्म एक ही है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्ग में, मोक्षमार्ग तो केवल जीव के परिणाममय ही है और बन्धमार्ग केवल पुद्गल के परिणाममय ही है, इसलिए कर्म का आश्रय मात्र बन्धमार्ग ही है (अर्थात् कर्म एक बन्धमार्ग के आश्रय ही होता है – मोक्षमार्ग में नहीं होता); अतः कर्म एक ही है।

इसप्रकार कर्म के शुभाशुभ भेद के पक्ष को गौण करके उसका निषेध किया है; क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है, यदि अभेदपक्ष से देखा जाये तो कर्म एक ही है – दो नहीं॥१४५॥

अब इसी अर्थ का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [हेतु-स्वभाव-अनुभव-आश्रयाणां] हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों का **[सदा अपि]** सदा ही **[अभेदात्]** अभेद होने से **[न हि कर्मभेदः]** कर्म में निश्चय से भेद नहीं है; **[तद् समस्तं स्वयं]** इसलिये, समस्त कर्म स्वयं **[खलु]** निश्चय से भी **[बन्धमार्ग-आश्रितम्]** बन्ध मार्ग के आश्रित है और **[बन्धहेतुः]** बन्ध का कारण है, अतः **[एकम् इष्टं]** कर्म एक ही माना गया है – उसे एक ही मानना योग्य है॥१०२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – ब्राह्मण्याः पुत्रद्वयं जातम्। तत्रैक उपनयनवशाद्ब्राह्मणो जातः। द्वितीयः पुनरुपनयनाभावाच्छूद्र इति। तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयति–

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं कर्माशुभं कुत्सितं कुशीलं हेयमिति। शुभकर्म सुशीलं शोभनमुपादेयमिति केषांचिद् व्यवहारिणां पक्षः सन् निश्चयरूपेण पक्षांतरेण बाध्यते। **कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि** निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति ? यज्जीवं संसारे प्रवेशयति। हेतुस्वभावानुभवबंधरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति। तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते, शुभाशुभपरिणामो हेतुः, स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्वं प्रति एक एव। द्रव्यं पुण्यपापरूपं पुद्गलद्रव्यस्वभावः सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्यं प्रति एक एव। तत्फलं सुखदुःखरूपं स च फलरूपानुभवः सोऽप्यात्मोत्थनिर्विकारसुखानंदापेक्षया दुःखरूपेणैक एव। आश्रयस्तु शुभाशुभबंधरूपः सोऽपि बंधं प्रत्येक एव। इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदात् यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिनां पक्षो बाध्यत एव॥१४५॥

समूहपीठिका – अब इसके बाद निश्चय से एक ही पुद्गलकर्म व्यवहार से पुण्य-पाप इन दो रूप होकर प्रवेश करता है। **कम्ममसुहं कुसीलं** इत्यादि गाथा से लेकर क्रम से उन्नीस गाथा सूत्र पर्यन्त पुण्य तथा पाप का व्याख्यान करते हैं। वहाँ यद्यपि पुण्य तथा पाप में व्यवहार से भेद है, तथापि निश्चय से भेद नहीं है – इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथा सूत्र हैं। उसके बाद अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मभावना के बिना किन्तु आगमभाषा से वीतराग सम्यक्त्व बिना व्रत-दान आदि पुण्यबन्ध के कारण ही हैं और वे मुक्ति के कारण नहीं हैं और पुनः वे सम्यक्त्व सहित परम्परा से मुक्ति के कारण हैं – ऐसी मुख्यता से **'परमट्ठो खलु'** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं। उसके बाद निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से **'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादि नौ गाथाएँ कहते हैं। इसप्रकार पुण्य-पाप अधिकार की समूह पीठिका है। उसका विस्तार –

तात्पर्यवृत्ति टीका – जिसप्रकार एक ब्राह्मणी के दो पुत्र उत्पन्न हुए। वहाँ, एक उपनयन संस्कार वश ब्राह्मण हो गया, किन्तु दूसरा उपनयन संस्कार के अभाव में शूद्र हो गया। उसीप्रकार निश्चय नय से एक ही पुद्गलकर्म, जीव के शुभ-अशुभ परिणाम के निमित्त से व्यवहार से दो प्रकार का होता है, ऐसा कहते हैं **–कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं** अशुभकर्म कुत्सित या कुशील है, हेय है। शुभकर्म सुशील सुन्दर है, उपादेय है – इसप्रकार कुछ व्यवहारीजनों का पक्ष है, जो निश्चय रूप अन्यपक्ष से वह बाधित है। **कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि** निश्चयवादी कहता है कि वह पुण्य कर्म सुशील या सुन्दर कैसे होता है ? जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है। हेतु, स्वभाव, अनुभव तथा बन्ध रूप आश्रयों का निश्चय से अभेद होने के कारण कर्मभेद नहीं है। उसका विशेष है – प्रथम हेतु कहते हैं, शुभ अशुभ परिणाम हेतु है और वह शुद्धनिश्चय नय से अशुभ (अशुद्धता) की अपेक्षा एक ही है। पुण्य-पापरूप द्रव्य पुद्गलद्रव्य स्वभाव है और वह भी निश्चय से पुद्गल द्रव्यरूप से एक ही है, उसका फल सुख-दुःखरूप है और वह फलरूप अनुभव है, वह सुख-दुःख का अनुभव भी आत्मोत्पन्न निर्विकार सुखानन्द की अपेक्षा दुःखरूप से एक ही है। तथा आश्रय शुभाशुभ बंधरूप है और वह भी बंध की अपेक्षा एक ही है। **इसप्रकार शुभाशुभ दोनों कर्म – हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय के सदा अभेद होने से यद्यपि व्यवहार से भेद है, तथापि निश्चय से शुभाशुभ कर्म में भेद नहीं है। इसप्रकार व्यवहारवादियों का पक्ष बाधित ही है॥१४५॥**

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति –

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥१४६॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम्।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म॥१४६॥

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालायसनिगलवत्॥१४६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथोभयं कर्म, अविशेषेण बंधकारणं साधयति –

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं यथा सुवर्णनिगलं लोहनिगलं च अविशेषेण पुरुषं बध्नाति **बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं** तथा शुभमशुभं वा कृतं कर्म अविशेषेण जीवं बध्नातीति। किं च, भोगाकांक्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिंद्रख्यातिपूजालाभादिनिमित्तं यो व्रततपश्चरण-दानपूजादिकं करोति, स पुरुषः तक्रनिमित्तं रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्तं हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगरुवनच्छेदनवत् वृथैव व्रतादिकं नाशयति। यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरंगव्रततप-श्चरणदानपूजादिकं करोति स परंपरया मोक्षं लभते इति भावार्थः॥१४६॥

अब यह सिद्ध करते हैं कि दोनों शुभाशुभ कर्म, बिना किसी अन्तर के बन्ध के कारण हैंः–

ज्यों लोह की त्यों कनक की जंजीर जकड़े पुरुष को।
इस रीत से शुभ या अशुभ कृत, कर्म बांधे जीव को॥१४६॥

गाथार्थ :– **[यथा]** जैसे **[सौवर्णिकम्]** सोने की **[निगलं]** बेड़ी **[अपि]** भी **[पुरुषम्]** पुरुष को **[बध्नाति]** बाँधती है और **[कालायसम्]** लोहे की **[अपि]** भी बांधती है, **[एवं]** इसीप्रकार **[शुभम् व अशुभम्]** शुभ तथा अशुभ **[कृतं कर्म]** किया हुआ कर्म **[जीवं]** जीव को **[बध्नाति]** (अविशेषतया) बाँधता है।

टीका :– जैसे सोने की और लोहे की बेड़ी बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को बांधती है, क्योंकि बन्धनभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है; इसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी भी अन्तर के पुरुष को (जीव को) बाँधते हैं, क्योंकि बन्धभाव की अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है ॥१४६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब दोनों कर्मों को समान रूप से बन्ध का कारण सिद्ध करते हैं –

सौवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं जिसप्रकार सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी समान रूप से पुरुष को बाँधती है, **बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं** उसीप्रकार शुभ अथवा अशुभ रूप में किया गया कर्म समान रूप से जीव को बाँधता है। और कुछ विशेष कहते हैं – भोग-आकांक्षा निदान रूप से रूप, लावण्य, सौभाग्य, कामदेव, इन्द्र, अहमिन्द्र, ख्याति, पूजा, लाभ आदि के लिए जो व्रत, तपश्चरण, दान, पूजा आदि करता है, वह पुरुष छांछ के लिए रत्न को बेचने के समान, राख के लिए रत्नों के समूह को जलाने के समान, धागे के लिए हार को तोड़ने के समान, कोदों (धान्य)

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति –

तम्हा दु कुसीलेहिं य रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसील-संसग्गरायेण ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम्।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

कुशीलशुभाशुभकर्माभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्॥१४७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथोभयकर्माविशेषेण मोक्षमार्गविषये निषेधयति – **तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं** तस्मात् कारणात् कुशीलैः कुत्सितैः शुभाशुभकर्मभिः सह चित्तगतरागं मा कुरु। बहिरंगवचनकायगतसंसर्गं च मा कुरु। कस्मात् ? इति चेत्। **साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरागेण** कुशीलसंसर्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाशः निर्विकल्पसमाधिविघातरूपः स्वार्थभ्रंशो हि स्फुटं भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति॥१४७॥

को बोने के लिए अगरु-चंदन के वन को काटने के समान, व्यर्थ में ही व्रतादि को नाश करता है; किन्तु जो शुद्धात्म भावना की सिद्धि के लिए बहिरंग व्रत, तपश्चरण दान पूजादि करता है, वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है – ऐसा भावार्थ है ॥१४६॥

....

अब दोनों कर्मों का निषेध करते हैं :–

इससे करो नहिं राग वा संसर्ग उभय कुशील का।
इस कुशील के संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातंत्र्य का॥१४७॥

गाथार्थ :– [**तस्मात् तु**] इसलिये [**कुशीलाभ्यां**] इन दोनों कुशीलों के साथ [**रागं**] राग [**मा कुरुत**] मत करो [**वा**] अथवा [**संसर्गम् च**] संसर्ग भी [**मा**] मत करो [**हि**] क्योंकि [**कुशीलसंसर्गरागेण**] कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से [**स्वाधीनः विनाशः**] स्वाधीनता का नाश (अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है)।

टीका :– जैसे कुशील – मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनी के साथ (हाथी का) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग बन्ध के कारण होने से, शुभाशुभ कर्मों के साथ राग और संसर्ग का निषेध किया गया है॥१४७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब मोक्षमार्ग के विषय में दोनों कर्मों का अविशेष रूप से निषेध करते हैं – **तम्हा दु कुसीलेहि य रागं मा कुणह मा व संसग्गं** इसकारण से कुशील या कुत्सित शुभाशुभ कर्मों के साथ अन्तरंग राग मत करो और बहिरंग वचन तथा कायगत संसर्ग मत करो। किसलिए मत करो ? **साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरागेण** क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से नियम से स्वाधीनता का विनाश होता है, स्पष्ट रूप से निर्विकल्प समाधि के घातरूप आत्मार्थ से भ्रष्ट होता है, अथवा स्वाधीन आत्मसुख का नाश होता है ॥१४७॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते –

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं विजाणित्ता।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्म-पयडी-सील-सहावं च कुच्छिदं णादुं।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरदा ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१४९॥

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञायतया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति, तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ॥१४८-१४९॥

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टान्तपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं–

जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जन को जान के।
संसर्ग उसके साथ त्यों ही, राग करना परितजे ॥१४८॥

यों कर्म प्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जान के।
निज भाव में रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे ॥१४९॥

गाथार्थ :– [**यथा नाम**] जैसे [**कोऽपि पुरुषः**] कोई भी पुरुष [**कुत्सितशीलं**] कुशील अर्थात् खराब स्वभाव वाले [**जनं**] पुरुष को [**विज्ञाय**] जानकर [**तेन समकं**] उसके साथ [**संसर्गं रागकरणं च**] संसर्ग और राग करना [**वर्जयति**] छोड़ देता है; [**एवम् एव च**] इसी प्रकार [**स्वभावरताः**] स्वभाव में रत पुरुष [**कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं**] कर्म प्रकृति के शील-स्वभाव को [**कुत्सितं**] कुत्सित अर्थात् खराब [**ज्ञात्वा**] जानकर [**तत्संसर्गं**] उसके साथ संसर्ग [**वर्जयन्ति**] छोड़ देते हैं [**परिहरन्ति च**] और राग छोड़ देते हैं।

टीका :– जैसे कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बन्धन के लिए निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूप कुट्टनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता, इसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बन्ध के लिए समीप आती हुई (उदय में आती हुई) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्म प्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्य चागमेन साधयति –

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो[1]।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥१५०॥

रक्तो बध्नाति कर्मं मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व॥१५०॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्व-निमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयंकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च॥१५०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथोभयकर्म प्रति निषेधं स्वयमेव श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयन्ति–

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं ज्ञात्वा। **वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च** तेन समकं सह बहिरंगवचनकायगतं संसर्गं मनोगतं रागं च वर्जयतीति दृष्टान्तः। **एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं** एवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन कर्मणः प्रकृतिः शीलं स्वभावं कुत्सितं हेयं ज्ञात्वा। **वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा** इह जगति वर्जयन्ति तत्संसर्गं वचनकायाभ्यां परिहरन्ति मनसा रागं च तस्य कर्मणः। के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेद-रत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभावरताः साधव इति दार्ष्टान्तः॥१४८-१४९॥

भावार्थ :– हाथी को पकड़ने के लिए हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनी रूपी कुट्टनी के साथ राग तथा संसर्ग करता है इसलिए वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है, जो हाथी चतुर होता है वह उस हथिनी के साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता; इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृति को अच्छा समझकर उसके साथ राग तथा संसर्ग करते हैं इसलिए वे बन्ध में पड़कर पराधीन बनकर संसार के दुःख भोगते हैं, और जो ज्ञानी होता है वह उसके साथ कभी भी राग तथा संसर्ग नहीं करता॥१४८-१४९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब दोनों कर्मों के निषेध का श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव स्वयं ही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त से सर्मथन करते हैं **– जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता** जिसप्रकार स्पष्टतः कोई पुरुष कुत्सित शीलवाले पुरुष को जानकर **वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रागकरणं च** उसके साथ बहिरंग वचन-कायगत संसर्ग तथा अन्तरंग मनोगत राग छोड़ देता है – यह दृष्टान्त है। **एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं** इसी पूर्वोक्त दृष्टान्त न्याय से कर्मों की प्रकृति, शील, स्वभाव को कुत्सित और हेय जानकर **वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा** इस जगत में काय-वचन से उसका संसर्ग छोड़ देते हैं तथा मन से उन कार्यों का राग छोड़ देते हैं। वे कौन छोड़ देते हैं ? समस्त द्रव्यगत तथा भावगत पुण्य परिणाम एवं पाप परिणाम रहित परणति वाले, अभेद रत्नत्रय लक्षण रूप निर्विकल्प समाधि वाले, अपने स्वभाव में रत रहने वाले साधक जीव उभय कर्मों की संगति एवं राग को छोड़ देते हैं – यह दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) है॥१४८-१४९॥

---

१. पाठान्तर = विरागसंपण्णो

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

अब आगम से यह सिद्ध करते हैं कि दोनों कर्म बन्ध के कारण हैं और निषेध्य हैं :–

जीव रागी बाँधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ति लहे।
ये जिनप्रभु उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्म से ॥१५०॥

गाथार्थ :– [**रक्तः जीव**] रागी जीव [**कर्म**] कर्म [**बध्नाति**] बाँधता है [**विरागसंप्राप्तः**] और वैराग्य को प्राप्त जीव [**मुच्यते**] कर्म से छूटता है [**एषः**] यह [**जिनोपदेशः**] जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है; [**तस्मात्**] इसलिए (हे भव्यजीव !) तू [**कर्मसु**] कर्मों में [**मा रज्यस्व**] प्रीति-राग मत कर।

टीका :– ''रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्म से छूटता है'' ऐसा जो यह आगमवचन है सो, सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अविशेषतया बन्ध के कारण रूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मों का निषेध करता है ॥१५०॥

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यद्**] क्योंकि [**सर्वविदः**] सर्वज्ञदेव [**सर्वम् अपि कर्म**] समस्त (शुभाशुभ) कर्म [**अविशेषात्**] अविशेषतया [**बन्धसाधनम्**] बन्ध का साधन (कारण) [**उशन्ति**] कहते हैं [**तेन**] इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) [**सर्वम् अपि तत् प्रतिषिद्धं**] समस्त ही कर्म का निषेध किया है और [**ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं**] ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है ॥१०३॥

जबकि समस्त कर्मों का निषेध कर दिया गया तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही, सो अब कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे**] शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म – ऐसे समस्त कर्मों का निषेध कर देने पर [**नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते**] निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था में प्रवर्तमान; [**मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति**] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; [**तदा**] (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब [**ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि**] ज्ञान में आचरण करता हुआ – रमण करता हुआ – परिणमन करता हुआ ज्ञान ही [**एषां**] उन मुनियों को [**शरणं**] शरण है; [**एते**] वे

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति –

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥१५१॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम्॥१५१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथोभयं कर्म शुद्धनिश्चयेन केवलं बंधहेतुं, न केवलं बंधहेतुम् प्रतिषेध्यं हेयं चागमेन साधयति – **रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो** यस्मात् कारणात् रक्तः सन् कर्माणि बध्नाति। मुच्यते जीवः कर्मजनितभावेषु विरागसम्पन्नः। **एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज** एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेशः कर्ता, किं करोति ? उभयं कर्मबंधहेतुं, न केवलं बंधहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं च कथयति तस्मात् कारणात् शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसस्वादेन तृप्तो भूत्वा शुभाशुभकर्माणि मा रज्य स्वरागं मा कुर्विति। एवं यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्धनिश्चयेन पुनस्तद्द्वयजनितेंद्रियसुखदुःखयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम्॥१५०॥

[**तत्र निरताः**] उस ज्ञान में लीन होते हुए [**परमम् अमृतं**] परम अमृत का [**स्वयं**] स्वयं [**विन्दन्ति**] अनुभव करते हैं स्वाद – लेते हैं।

भावार्थ :– किसी को यह शंका हो सकती है कि जब सुकृत और दुष्कृत दोनों का निषेध कर दिया गया है तब फिर मुनियों को कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिए वे किसके आश्रय से या किस आलम्बन के द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे ? आचार्यदेव ने उसके समाधानार्थ कहा है कि समस्त कर्मों का त्याग हो जाने पर ज्ञान का महा शरण है। उस ज्ञान में लीन होने पर सर्व आकुलता से रहित परमानन्द का भोग होता, जिसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मों को ही सर्वस्व जानकर उन्हीं में लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्द के स्वाद को नहीं जानते॥१०४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब दोनों कर्म शुद्धनिश्चय नय से केवल बन्ध के कारण हैं, न केवल बन्ध के कारण हैं अपितु निषेध करने योग्य हैं हेय हैं। यह आगम से सिद्ध करते हैं – **रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो** जिसकारण से रागी होकर जीव कर्मों को बाँधता है, उन कर्मजनित भावों में विराग सम्पन्न जीव मुक्त होता है। **एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज** यह प्रत्यक्ष ही जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है। क्या उपदेश है ? कि दोनों कर्म बन्ध के हेतु हैं, न केवल बन्धहेतु हैं प्रतिषेध्य और हेय हैं ऐसा कहते हैं। उस कारण से शुभाशुभ संकल्प विकल्प रहितपने से स्वकीय शुद्धात्म भावना से उत्पन्न निर्विकार सुखामृतरस के आस्वाद से तृप्त होकर शुभ अशुभ कर्मों में राग मत करो/प्रीति मत करो। इसप्रकार यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य पुण्य तथा द्रव्य पाप में भेद है और अशुद्धनिश्चय से उन दोनों कर्मों द्वारा उत्पन्न सुख-दुख में भेद है, तथापि शुद्धनिश्चय नय से भेद नहीं हैं। इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१५०॥

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत्। स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञान-गमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली, मननमात्र-भावतया मुनिः, स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवनमात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः॥१५१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं मोक्षकारणं कथयति –

परमट्ठो खलु समओ उत्कृष्टार्थः परमार्थः। स कः ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणोऽर्थः परमार्थः सोऽपि स एव। अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि परमात्मैव **खलु** स्फुटं **समओ** सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः। अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः। अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः सोऽपि स एव। **सुद्धो** रागादिभावकर्मरहितो **जो** यः सोऽपि स एव। **केवली** परद्रव्यरहितत्वेनासहायः केवली सोऽपि स एव। **मुणी** मुनिः प्रत्यक्षज्ञानी स एव। **णाणी** विशुद्धज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी सोऽपि प्रत्यक्षज्ञानी सोऽपि परमात्मैव। **तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं** तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाणं प्राप्नुवंति लभंत इत्यर्थः॥१५१॥

अब यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्ष का कारण है :–

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है।
तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्ष की प्राप्ती करै॥१५१॥

गाथार्थ :– [**खलु**] निश्चय से [**यः**] जो [**परमार्थः**] परमार्थ (परम पदार्थ) है, [**समयः**] समय है, [**शुद्धः**] शुद्ध है, [**केवली**] केवली है, [**मुनिः**] मुनि है, [**ज्ञानी**] ज्ञानी है, [**तस्मिन् स्वभावे**] उस स्वभाव में [**स्थिताः**] स्थित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणं**] निर्वाण को [**प्राप्नुवंति**] प्राप्त होते हैं।

टीका :– ज्ञान मोक्ष का कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण नहीं होने से उसके इसप्रकार मोक्ष का कारणपना बनता है। वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियों से भिन्न चैतन्य जातिमात्र परमार्थ (परम पदार्थ) है आत्मा है। वह (आत्मा) एक ही आत्मा है। वह (आत्मा) एक ही साथ एक रूप से प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होने से समय है, समस्त नयपक्षों से अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है; केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है, 'स्व' का [१]भवनमात्र स्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्य का भवनमात्र स्वरूप होने से सद्भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है वह सत्-स्वरूप ही होता है)। इसप्रकार शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है (यद्यपि नाम भिन्न-भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है)।

---

१. भवन - होना

अथ ज्ञानं विधापयति –

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं वेंति सव्वण्हू ॥१५२॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपः कर्मणोः बंधहेतुत्वाद्-बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ॥१५२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसंवदेनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिकं पुण्यबंधकारणमेवेति प्रतिपादयति – **परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि** तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थलक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिकं च धारयति। **तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू** तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवंति कथयंति। के ते ? सर्वज्ञाः। कस्मात् ? इति चेत्, पुण्यपापोदय-जनितसमस्तेंद्रियसुखदुःखविकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वात् इति ॥१५२॥

भावार्थ :– मोक्ष का उपादान तो आत्मा ही है। परमार्थ से आत्मा का ज्ञान स्वभाव है; जो ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। इसलिए ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना योग्य है ॥१५१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब 'विशुद्धज्ञान' शब्द से वाच्य परमात्मा को मोक्ष का कारण कहते हैं –

परमट्ठो खलु समओ उत्कृष्ट पदार्थ है अथवा परमार्थ है। वह कौन है ? वह परमात्मा है अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष लक्षण वाले परमार्थों में जो परम उत्कृष्ट है, वह मोक्ष लक्षणवाला (शुद्ध चैतन्य) पदार्थ अथवा परमार्थ है, वह तो वही है। अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान के भेदों से रहित निश्चय से एक परमार्थ है, वह भी परमात्मा ही है। **खलु समओ** जो स्पष्टतः सम्यक् रूप से जानता तथा अपने शुद्धगुण-पर्याय रूप से परिणमता है, ऐसा समय है। अथवा जो सम्यक् जानता है अर्थात् संशयादि रहित जिसका ज्ञान होता है, वह समय है। अथवा एकत्वरूप से या परमसमरसी भाव से अपने शुद्धस्वरूप में अयन, गमन या परिणमन होना वह समय है, वह तो वही है। **सुद्धो जो** रागादि भावकर्म रहित जो है, वह भी वही समय है। **केवली** परद्रव्य रहितपना होने से जो असहाय केवली है वह भी वही है। **मुणी** मुनि प्रत्यक्ष ज्ञानी है वह भी वही है। **णाणी** विशुद्धज्ञान जिसका है ऐसा ज्ञानी या प्रत्यक्षज्ञानी वह भी वही परमात्मा ही है। **तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं** उस परमात्मतत्त्व में स्थित वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में रत मुनि, तपोधन निर्वाण को प्राप्त करते हैं। ऐसा अर्थ है ॥१५१॥

....

अब, यह बतलाते हैं कि आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है :–

परमार्थ में नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रत को धरें।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे ॥१५२॥

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति –

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ-बाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति[1]॥१५३॥

व्रतनियमान् धारयंत: शीलानि तथा तपश्च कुर्वंत:।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति॥१५३॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतु: तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतप:प्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बंधहेतु: तदभावेस्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतप:प्रभृतिशुभ-कर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्॥१५३॥

गाथार्थ :– [**परमार्थे तु**] परमार्थ में [**अस्थित:**] अस्थित [**य:**] जो जीव [**तप: करोति**] तप करता है, [**च**] और [**व्रतं धारयति**] व्रत धारण करता है, [**तत्सर्वं**] उसके उन सब तप और व्रत को [**सर्वज्ञा:**] सर्वज्ञ देव [**बालतप:**] बालतप और [**बालव्रतं**] बालव्रत [**ब्रुवन्ति**] कहते हैं।

टीका :– आगम में भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है (ऐसा सिद्ध होता है); क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञान से रहित है उसके, अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म बन्ध के कारण हैं; इसलिए उन कर्मों को 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जाने से ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

भावार्थ :– ज्ञान के बिना किये गये तप, व्रतादि को सर्वज्ञदेव ने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप तथा अज्ञानव्रत) कहा है, इसलिए मोक्ष का कारण ज्ञान है॥१५२॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उस ही परमात्मा में स्वसंवेदन ज्ञान से रहित व्रत-तपश्चरणादि पुण्यबन्ध का कारण ही है ऐसा कहते हैं – **परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि** उस ही पूर्व सूत्रोक्त परमार्थ लक्षण रूप परमात्मास्वरूप में स्थित न रहकर जो तपश्चरण आदि करता है और व्रतादि धारण करता है, **तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू** उन सबको बाल तपश्चरण एवं बाल व्रत कहते हैं। वे कौन हैं जो ऐसा कहते हैं ? वे सर्वज्ञ हैं; क्योंकि वे पुण्य-पापोदय जनित समस्त इन्द्रिय सुख-दुख रूप विकार से रहित परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षणरूप विशिष्ट भेदज्ञान से रहित होने से अज्ञान तप एवं अज्ञान व्रत हैं॥१५२॥

....

अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है और अज्ञान ही बन्ध का हेतु है – यह नियम है:–

व्रत-नियम को धारे भले, तप-शील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करे॥१५३॥

गाथार्थ :– [**व्रतनियमान्**] व्रत और नियमों को [**धारयन्त:**] धारण करते हुए भी [**तथा**] तथा

---

१. पाठान्तर = परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी।

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्॥१०५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स्वसंवदेनज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति यथाक्रमेण मोक्षबंधहेतू दर्शयति –

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणाद् भेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभंते। कस्मादिति चेत् ? **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवत्यज्ञानिनः। अज्ञानिनां तु कथं मोक्षः ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरणं बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्षं लभंते। तदपि कस्माद् ? येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थादबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवंति। ज्ञानिनां तु मोक्षो भवत्येवेति। किंच विस्तरः। व्रतनियमशीलबहिरंगतपश्चरणादिकं विनापि यदि मोक्षो भवतीति तर्हि संकल्पविकल्परहितानां विषयव्यापारेऽपि पापं नास्ति, तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो भवतीति सांख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मतं सिद्धमिति ? नैवं, निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति। एवंभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परंपरया मुक्तिकारणभूतास्तेऽपि न संति। ये पुनरशुभविषयकषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न संति। न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरंगविषयव्यापारो दृश्यते। तंदुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरंगतुष इव। तदपि कस्मात् ? इति चेत्, निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषय-कषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति॥।१५३॥

[**शीलानि च तपः**] शील और तप [**कुर्वन्तः**] करते हुए भी [**ये**] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थ में बाह्य हैं (अर्थात् परम पदार्थरूप ज्ञान का – ज्ञानस्वरूप आत्मा का जिसको श्रद्धान नहीं है) [**ते**] वे [**निर्वाणं**] निर्वाण को [**विंदंति**] प्राप्त नहीं होते।

टीका :– ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है; क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं ही अज्ञानरूप होने वाले अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है। अज्ञान ही बन्ध का कारण है; क्योंकि उसके अभाव में स्वयं ही ज्ञानरूप होने वाले ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।

भावार्थ :– ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्ष का कारण है और अज्ञानरूप परिणमन ही बन्ध का कारण है; व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभभावरूप शुभकर्म कहीं मोक्ष के कारण नहीं हैं; ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानी के शुभकर्म न होने पर भी वह मोक्ष को प्राप्त करता है; तथा अज्ञानरूप परिणमित अज्ञानी के वे शुभकर्म होने पर भी, वह बन्ध को प्राप्त करता है॥१५३॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यत् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति –

परमट्ठ-बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमण-हेदुं पि मोक्ख-हेदुं अजाणंता॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति।
संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानंतः॥१५४॥

आत्मा ध्रुवरूप से अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ – परिणमता हुआ भासित होता है, [**अयं शिवस्य हेतुः**] वही मोक्ष का हेतु है, [**यतः**] क्योंकि [**तत् स्वयम् अपि शिवः इति**] वह स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है, [**अतः अन्यत्**] उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है [**बन्धस्य**] वह बन्ध का हेतु है [**यतः**] क्योंकि [**तत् स्वयम् अपि बन्धः इति**] वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। [**ततः**] इसलिए आगम में [**ज्ञानात्मत्वं भवनम्**] ज्ञानस्वरूप होने का (ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का) अर्थात् [**अनुभूतिः हि**] अनुभूति करने का ही [**विहितम्**] विधान है॥१०५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी –अब स्वसंवेदनज्ञान और उसी तरह अज्ञान को क्रमशः मोक्ष एवं बन्ध का हेतु दिखाते हैं – **वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता** त्रिगुप्ति समाधि लक्षणवाले भेदज्ञान से जो बाह्य हैं, वे व्रत-नियमों को धारण करते हुए और शील तपश्चरण करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करते हैं। किस कारण से मोक्ष को प्राप्त नहीं करते हैं ? **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** जिस कारण वे पूर्वोक्त भेदज्ञान के अभाव के कारण परमार्थ से बाह्य हैं, उसी कारण अज्ञानी हैं। अतः अज्ञानी को मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं। परन्तु जो परम समाधि लक्षण रूप भेदज्ञान से सहित हैं लेकिन (बाह्यद्रव्यरूप) व्रत-नियमों को न धारण करते हुए भी, बाह्य द्रव्यरूप शील-तपश्चरण को न करते हुए भी मोक्ष को प्राप्त करते हैं। वह भी किस कारण मोक्ष प्राप्त करते हैं ? क्योंकि पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से परमार्थ से बाहर न होने के कारण वे ज्ञानी हैं और ज्ञानियों को मोक्ष होता ही है। उसका कुछ विस्तार कहते हैं।

शंका – व्रत, नियम, शील, बहिरंग तपश्चरण आदि के बिना भी यदि मोक्ष होता है, तो संकल्प-विकल्प रहित (जीवों) के विषय-व्यापार में भी पाप नहीं है और तपश्चरण के अभाव में भी मोक्ष होता है, ऐसा सांख्य-शैवमतानुसारी कहते हैं, सो उनका मत ही सिद्ध हुआ ? **समाधान** – ऐसा नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प, त्रिगुप्ति, समाधि लक्षणरूप भेदज्ञान सहित पुरुषों का मोक्ष होता है, ऐसा विशेष रूप से अनेक बार कहा गया है। एवंभूतनय से भेदज्ञान के काल में शुभरूप जो मन, वचन तथा काय के व्यापार को परम्परा मुक्ति का कारण कहा जाता है; उन मन वचन काय का व्यापार भी (मुक्ति का कारण) नहीं है। पुनः जो अशुभ विषय-कषाय व्यापाररूप हैं, वे विशेषरूप से वहाँ कुछ भी नहीं होते हैं। वस्तुतः चित्त में स्थित रागभाव के नष्ट होने पर बहिरंग व्यापार नहीं दिखाई देता है। जैसे चावल के अन्तरंग छिलके ललामी के चले जाने पर, बहिरंग छिलका नहीं रहता है। वह भी किसप्रकार से नहीं रहता है ? शीत और उष्ण के परस्पर विरोधीपने की तरह निर्विकल्पसमाधि लक्षणरूप भेदज्ञान और विषय-व्यापार दोनों ही परस्पर विरोधी हैं॥१५३॥

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतुभूतंसम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्म-चक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभावमलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतम-संक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्ट-चेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रत-नियमशीलतपःप्रभृति शुभकर्म बंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छंति ।।१५४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मभावनां विहाय तेन पुण्यमेवैकांतेन मुक्तिकारणं ये वदंति तेषां प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषणं ददाति – इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छंतोऽपि निजपरमात्मभावना-परिणताभेदरत्नत्रयलक्षणं परमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानु-ष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्तं परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः संतः संसारगमनहेतुत्वेन बंधकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छंति। किं कुर्वन्तः ? अभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमजानंतः। अथवा द्वितीयव्याख्यानं, बंधहेतुमपि पुण्यं मोक्षहेतुमिच्छंति। किं कुर्वन्तः ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकं मोक्षकारणमजानन्तः संत इति। किंच, निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति। अथवा निश्चयव्रतं तदेवेत्यभिप्रायः। इति वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां विना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावनासहितं पुनर्बहिरंगसाधकत्वेन परम्परया मुक्तिकारणं चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम्। एवं गाथादशकेन पुण्याधिकारः समाप्तः।।१५४।।

अब फिर भी, पुण्यकर्म के पक्षपाती को समझाने के लिए उसका दोष बतलाते हैं :–

परमार्थ बाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्ष का।
अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का।।१५४।।

गाथार्थ :– [**ये**] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थ से बाह्य हैं [**ते**] वे [**मोक्षहेतुम्**] मोक्ष के हेतु को [**अजानन्तः**] न जानते हुए [**संसारगमनहेतुम् अपि**] संसारगमन का हेतु होने पर भी [**अज्ञानेन**] अज्ञान से [**पुण्यम्**] पुण्य को (मोक्ष का हेतु समझकर) [**इच्छंति**] चाहते हैं।

टीका :– समस्त कर्मों के पक्ष का नाश करने से उत्पन्न होने वाले (निजस्वरूप की प्राप्ति) आत्मलाभ स्वरूप मोक्ष को इस जगत् में कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्ष की कारणभूत सामायिक, जो (सामायिक) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाव वाले परमार्थभूत ज्ञान की भवनमात्र है, एकाग्रता लक्षण युक्त है और समयसारस्वरूप है उसकी प्रतिज्ञा लेकर भी; दुरन्त कर्मचक्र को पार करने की नपुंसकता के कारण परमार्थभूत ज्ञान के भवनमात्र सामायिक स्वरूप आत्मस्वभाव को न प्राप्त होते हुए, जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेश-परिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विशुद्ध परिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं ऐसे वे, कर्म के अनुभव के गुरुत्व-लघुत्व की प्राप्तिमात्र से ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए, स्वयं स्थूल लक्ष्यवाले होकर (संक्लेशपरिणाम को छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते। इसप्रकार वे स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभ कर्म को ही बन्ध का कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों को बन्ध का कारण होने पर भी उन्हें बन्ध का कारण न जानते हुए मोक्ष के कारणरूप में अंगीकार करते है – मोक्ष के कारणरूप में उनका आश्रय करते हैं।

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति –

जीवादी-सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादी-परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादिपरिहरणं चरणं एषस्तु मोक्षपथः ॥१५५॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ॥१५५॥

भावार्थ :– कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिक की प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकने से, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेशपरिणामों को छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणाम में (शुभ परिणामों में) राचते हैं। (संक्लेशपरिणाम तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं; आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है।) इसप्रकार यद्यपि वास्तविक तथा सर्वकर्मरहित आत्मस्वभाव का अनुभवन ही मोक्ष का कारण है तथापि वे कर्मानुभव के अल्पबहुत्व को ही बन्ध-मोक्ष का कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मों का मोक्ष के हेतु के रूप में आश्रय करते हैं॥१५४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वीतराग सम्यक्त्व रूप शुद्धात्मभावना को छोड़कर उस पुण्य को ही जो एकान्त से मोक्ष का कारण कहते हैं, उनको सम्बोधन करने के लिए फिर से दोष बतलाते हैं –

इस जगत में वास्तव में कुछ जीव समस्त कर्मों के क्षयरूप मोक्ष की इच्छा करते हुए भी, निज परमात्मभावना परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षणरूप परमसामायिक की पूर्व में दीक्षा काल में प्रतिज्ञा करते हुए भी चिदानन्द एक स्वभावी शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप सामर्थ्य के अभाव के कारण पूर्वोक्त परम-सामायिक को प्राप्त न करते हुए, परमार्थ से बाहर होते हुए संसारगमन के हेतु रूप से बन्ध के कारण होने पर भी अज्ञानभाव से उसे करके पुण्य की इच्छा करते हैं। क्या करते हुए पुण्य की इच्छा करते हैं ? अभेद रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को न जानते हुए पुण्य की इच्छा करते हैं अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि बन्ध के ही हेतु रूप पुण्य को मोक्ष के हेतुरूप से चाहते हैं, इच्छा करते हैं। क्या करते हुए इच्छा करते हैं ? पूर्वोक्त अभेद-रत्नत्रय रूप परमसामायिक को मोक्ष का कारण नहीं जानते हुए पुण्य की इच्छा करते हैं। और विशेष कहते हैं कि **निर्विकल्पसमाधि के काल में व्रत तथा अव्रत के विकल्प स्वयं ही नहीं हैं अथवा निश्चयव्रत वही है – ऐसा आशय है।** इसप्रकार वीतराग सम्यक्त्वरूप शुद्धात्मा के उपादेयपने की भावना के बिना व्रत-तपश्चरणादि पुण्यबन्ध के ही कारण होते हैं। उस शुद्धात्मा के उपादेयपने की भावना सहित बाह्य में साधक रूप से वे व्रत-तपश्चरणादि परम्परा से मुक्ति के कारण हैं, इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं। इसप्रकार दश गाथाओं द्वारा पुण्य अधिकार समाप्त हुआ॥१५४॥

समुदायपातनिका – अथ सविकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादिसूत्रद्वयम्। तदनंतरं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादि-जीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन **'वत्थस्स सेदभावो'** इत्यादि गाथात्रयम्। ततः परं पापं पुण्यं च बंधकारणमेवेति मुख्यतया **'सो सव्वणाण'** इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया **'सम्मत्त'** इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यन्तं तृतीयस्थले व्याख्यानं करोति। तद्यथा–

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तेषामज्ञानिनां निश्चयमोक्षहेतुं दर्शयति – **जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं** जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। **तेसिमधिगमो णाणं** तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। **रागादीपरिहरणं चरणं** तेषामेव संबंधित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्रम्। **एसो दु मोक्खपहो** इत्येव व्यवहारमोक्षमार्गः। अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वम्। तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानम्। तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रमिति निश्चयमोक्षमार्गः॥१५५॥

अब जीवों को परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण बतलाते हैं :–

जीवादि का श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादि-वर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ति पंथ है॥१५५॥

गाथार्थ :– [**जीवादिश्रद्धानं**] जीवादि पदार्थों का श्रद्धान [**सम्यक्त्वं**] सम्यक्त्व है, [**तेषां अधिगमः**] उन जीवादि पदार्थों का अधिगम [**ज्ञानम्**] ज्ञान है और [**रागादिपरिहरणं**] रागादि का त्याग [**चरणं**] चारित्र है; [**एषः तु**] यही [**मोक्षपथः**] मोक्ष का मार्ग है।

टीका :– मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उसमें सम्यग्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञान का होना – परिणमन करना है; जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना – परिणमन करना ज्ञान है; रागादि के त्यागस्वभावरूप ज्ञान का होना – परिणमन करना सो चारित्र है। अतः इसप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञान का ही भवन (परिणमन) है। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।

भावार्थ :– आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है। और इस प्रकरण में ज्ञान को ही प्रधान करके विवेचन किया है। इसलिए 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान है वह अभेद विवक्षा में आत्मा ही है ऐसा कहने में कुछ भी विरोध नहीं है, इसीलिए टीका में कई स्थानों पर आचार्यदेव ने ज्ञानस्वरूप आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से कहा है॥१५५॥

समुदायपातनिका – अब सविकल्प और पराश्रितपने के कारण अथवा निश्चय से पाप के व्याख्यान की मुख्यता से अथवा निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से **'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादि दो गाथा सूत्र हैं। उसके बाद मोक्षहेतु रूप जो ये सम्यक्त्व आदि जीव के गुण हैं, उनके प्रच्छादन की मुख्यता से **'वत्थस्स**

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति –

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति[1]।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ विहिदो॥१५६॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तंते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः॥१५६॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्, परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात्॥१५६॥

सेदभावो' इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद 'पाप और पुण्य बन्ध ही के कारण हैं' इसकी मुख्यता से **'सो सव्वणाण'** इत्यादि एक गाथा सूत्र है। उसके बाद मोक्ष के कारणभूत जो ये जीव के गुण हैं उनके प्रच्छादन की मुख्यता से **'सम्मत्त'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं, इसप्रकार समूहरूप से नौ गाथा सूत्र पर्यन्त तृतीय स्थल में व्याख्यान करते हैं। उसका विस्तार –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, उन अज्ञानियों को निश्चय मोक्षहेतु दिखलाते हैं – **जीवादि सद्दहणं सम्मत्तं** जीवादि नौ पदार्थों का विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, **तेसिमधिगमे णाणं** उनका ही संशय-विमोह-विभ्रम रहित ज्ञान, निश्चय-परिज्ञान या सम्यग्ज्ञान है, **रागादि परिहरणं चरणं** उनसे ही सम्बन्धित रागादि का त्याग सम्यक्चारित्र है। **ऐसो दु मोक्खपहो** इसप्रकार ही व्यवहार मोक्षमार्ग है अथवा भूतार्थनय से जाने हुए उन ही नौ पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्न सम्यक् अवलोकन निश्चय सम्यग्दर्शन है। उन ही पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्नपने सम्यक् जाननेरूप निश्चय सम्यग्ज्ञान है। उन ही पदार्थों का शुद्धात्मा से भिन्नपने का निश्चय करके रागादि विकल्प रहित रूप अपनी शुद्धात्मा में स्थिर होना निश्चय चारित्र है – ऐसा निश्चय मोक्षमार्ग है॥१५५॥

....

अब, परमार्थ मोक्षकारण से अन्य जो कर्म उनका निषेध करते हैं :–

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करे।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ-आश्रित संत के॥१५६॥

गाथार्थ :– [**निश्चयार्थं**] निश्चयनय के विषय को [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**विद्वांसः**] विद्वान [**व्यवहारेण**] व्यवहार के द्वारा [**प्रवर्तंते**] प्रवर्तते हैं; [**तु**] परन्तु [**परमार्थम् आश्रितानां**] परमार्थ के (आत्मस्वरूप के) आश्रित [**यतीनां**] यतीश्वरों के ही [**कर्मक्षयः**] कर्मों का नाश [**विहितः**] आगम में कहा गया है। (केवल व्यवहार में प्रवर्तन करने वाले पण्डितों के कर्मक्षय नहीं होता।)

टीका :– कुछ लोग परमार्थ मोक्षहेतु से अन्य, जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्मस्वरूप मोक्ष हेतु मानते हैं, उस समस्त ही का निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्ष हेतु) अन्य द्रव्य के स्वभाव वाला

---

१. पाठान्तर = ववहारे ण विदुसा पवट्टंति

(अनुष्टुभ्)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति – **मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे**[१] निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये **ण विदुसा पवट्टंति** विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तन्ते। कस्मात् ? **परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति। एवं मोक्षमार्गकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥१५६॥

(पुद्गलस्वभाव वाला) है इसलिए उसके स्वभाव से ज्ञान का भवन (होना) नहीं बनता, मात्र परमार्थ मोक्ष हेतु ही एक द्रव्य के स्वभाव वाला (जीवस्वभाव वाला) है इसलिए उसके स्वभाव के द्वारा ज्ञान का भवन (होना) बनता है।

भावार्थ :– क्योंकि आत्मा का मोक्ष होता है इसलिए उसका कारण भी आत्मस्वभाव ही होना चाहिए। जो अन्य द्रव्य के स्वभाव वाला है उससे आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है ? शुभ कर्म पुद्गल स्वभाववाले हैं इसलिए उनके भवन से परमार्थ आत्मा का भवन नहीं बन सकता; इसलिए वे आत्मा के मोक्ष के कारण नहीं होते। ज्ञान आत्मस्वभावी है इसलिए उसके भवन से आत्मा का भवन बनता है; अतः वह आत्मा के मोक्ष का कारण होता है। इसप्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है ॥१५६॥

अब इसी अर्थ के कलशरूप दो श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [एकद्रव्यस्वभावत्वात्] ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (जीव स्वभावी) होने से **[ज्ञानस्वभावेन]** ज्ञान के स्वभाव से **[सदा]** सदा **[ज्ञानस्य भवनं वृत्तं]** ज्ञान का भवन बनता है; **[तत्]** इसलिए **[तद् एव मोक्षहेतुः]** ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ॥१०६॥

श्लोकार्थ :– [द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्] कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गल स्वभावी) होने से **[कर्मस्वभावेन]** कर्म के स्वभाव से **[ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं]** ज्ञान का भवन नहीं बनता; **[तत्]** इसलिए **[कर्म मोक्षहेतुः न]** कर्म मोक्ष का कारण नहीं है ॥१०७॥

---

१. यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ आत्मख्याति में 'ववहारेण' तृतीया विभक्ति का प्रयोग है, इसकी जगह तात्पर्यवृत्ति में 'ववहारे' सप्तमी विभक्ति का प्रयोग करके 'ण' शब्द को अलग रखकर निषेध अर्थ में लिया गया है।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति –

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो[1]।
मिच्छत्त-मलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो[1]।
अण्णाण-मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो[1]।
कसाय-मलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं[2] ॥१५९॥

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**मोक्षहेतुतिरोधानात्**] कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने वाला है, और [**स्वयम् एव बन्धत्वात्**] वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है [**च**] तथा [**मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्**] मोक्ष के कारणों का तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधान कर्ता) है इसलिए [**तत् निषिध्यते**] उसका निषेध किया गया है ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, निश्चय मोक्षमार्ग का कारण शुद्धात्मा का स्वरूपानुभव है उससे अन्य जो शुभाशुभ मन-वचन-काय व्यापार रूप कर्म है, वह मोक्षमार्ग नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं –

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे निश्चयार्थ को छोड़कर व्यवहार विषय में **ण विदुसा पवट्टंति** विद्वान – ज्ञानी प्रवर्तन नहीं करते हैं। किस कारण प्रवर्तन नहीं करते हैं ? **परमट्ठमस्सिदाणं दु जदी ण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप एकाग्र परिणति लक्षणवाले निजशुद्धात्म भावना रूप परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों का तो कर्म क्षय होता है, इस कारण से ज्ञानी व्यवहार में प्रवर्तन नहीं करते हैं। इसप्रकार मोक्षमार्ग के कथन रूप से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥१५६॥

....

अब पहले, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्ष के कारणों का तिरोधान करने वाला है :–

मलमिलन-लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
मिथ्यात्वमल के लेप से, सम्यक्त त्यों ही जानना ॥१५७॥
मलमिलन-लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
अज्ञानमल के लेप से, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥१५८॥
मलमिलन-लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
चारित्र पावे नाश लिप्त कषायमल से जानना ॥१५९॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्र का [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैल

---

१. पाठान्तर = मलविमेलणोच्छणो २. पाठान्तर = तहदु कसायच्छण्णं चारित्तं पि णादव्वं

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम्॥१५७॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम्॥१५८॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम्॥१५९॥

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेनाज्ञान-नाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्न-श्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम्॥१५७-१५९॥

के मिलने से लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नष्ट हो जाता है – तिरोभूत हो जाता है [**तथा**] उसीप्रकार [**मिथ्यात्वमलावच्छन्नं**] मिथ्यात्वरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ – लिप्त होता हुआ [**सम्यक्त्वं खलु**] सम्यक्त्व वास्तव में तिरोभूत होता है [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिए। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्र का [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नाश को प्राप्त होता है – तिरोभूत हो जाता है, [**तथा**] उसीप्रकार [**अज्ञानमलावच्छन्नं**] अज्ञानरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ – लिप्त होता हुआ [**ज्ञानं भवति**] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है। [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिए। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्र का [**श्वेतभावः**] श्वेतभाव [**मलमेलनासक्तः**] मैल के मिलने से लिप्त होता हुआ [**नश्यति**] नाश को प्राप्त होता है – तिरोभूत हो जाता है [**तथा**] उसीप्रकार [**कषायमलावच्छन्नं**] कषायरूपी मैल से व्याप्त होता हुआ – लिप्त होता हुआ [**चारित्रम् अपि**] चारित्र भी तिरोभूत होता है [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिए।

टीका :– ज्ञान का सम्यक्त्व जो कि मोक्ष का कारण रूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैल के द्वारा व्याप्त होने से, तिरोभूत हो जाता है – जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञान का ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है – जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञान का चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से तिरोभूत हो जाता है – जैसे परभावस्वरूप मैल से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत श्वेत स्वभाव तिरोभूत हो जाता है। इसलिए मोक्ष के कारण का (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का) तिरोधान करने वाला होने से कर्म का निषेध किया गया है।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ मोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादनं दर्शयति –

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्न:। **मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तो खु णादव्वं** तथैव मिथ्यात्वमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम्।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनाच्छन्न:। **अण्णाण मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं** तथैवाज्ञानमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम्।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनाच्छन्न:। **कस्साय मलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं** तथा कषायकर्ममलेनावच्छन्न: मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम्।

इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणानां मिथ्यात्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षै: प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रयं गतम्॥१५७-१५९॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वकर्म से तिरोभूत होता है, ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्म से तिरोभूत होता है और ज्ञान का चारित्ररूप परिणमन कषायकर्म से तिरोभूत होता है। इसप्रकार मोक्ष के कारण भावों को कर्म तिरोभूत करता है, इसलिए उसका निषेध किया गया है॥१५७-१५९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप जीव गुणों का 'वस्त्र के मैल की तरह' प्रतिपक्ष रूप मिथ्यात्वादि कर्मों से आच्छादन होता है यह दिखलाते हैं–

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो जिसप्रकार वस्त्र की सफेदी का मैल के विशेषरूप से मिलने पर नाश होता है। **मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तो खु णादव्वं** उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल के मिलने से मोक्ष के कारणरूप जीव के सम्यक्त्वगुण का नाश होता है – ऐसा जानना चाहिए।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो जिसप्रकार वस्त्र का श्वेतभाव मैल के विशेष रूप से मिलने से नाश होता है, **अण्णाण मलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्वं** उसीप्रकार अज्ञानरूपी मैल के मिलने से मोक्ष के कारण रूप जीव के ज्ञानगुण का नाश होता है – ऐसा जानना चाहिए।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो जिसप्रकार वस्त्र का श्वेतभाव मैल के विशेष रूप से मिलने से नाश होता है। **कस्साय मलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं** उसीप्रकार कषाय कर्मरूप मैल के मिलने से मोक्ष के कारणरूप जीव के चारित्रगुण का नाश होता है – ऐसा जानना चाहिए।

इसप्रकार मोक्ष के हेतुरूप सम्यक्त्वादि गुणों का मिथ्यात्व, अज्ञान तथा कषाय रूप प्रतिपक्ष द्वारा होने वाले आच्छादन के कथन रूप से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥१५७-१५९॥

अथ कर्मण: स्वयं बन्धत्वं साधयति –

सो सव्व-णाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो।
संसार-समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं॥१६०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्न:।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वत: सर्वम्॥१६०॥

यत: स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमान-कर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वत: सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते, ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्ध:। अत: स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्॥१६०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कर्म स्वयमेव बंधरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति कथयति – **सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो** स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्त- परिपूर्णज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोवच्छन्नो झंपित: सन्। **संसारसमावण्णो ण वि जाणदि सव्वदो सव्वं** संसारसमापन्न: संसारे पतित: सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु सर्वत: सर्वप्रकारेण। ततो ज्ञायते कर्मकर्तृजीवस्य स्वयमेव बंधरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति। एवं पापवत्पुण्यं बंधकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता॥१६०॥

अब, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है :–

यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
संसार-प्राप्त, न जानता वो सर्व को सब रीत से॥१६०॥

गाथार्थ :– [**स:**] वह आत्मा [**सर्वज्ञानदर्शी**] (स्वभाव से) सर्व को जानने देखने वाला है तथापि [**निजेन कर्मरजसा**] अपने कर्ममल से [**अवच्छन्न:**] लिप्त होता हुआ – व्याप्त होता हुआ [**संसार समापन्न:**] संसार को प्राप्त हुआ वह [**सर्वत:**] सब प्रकार से [**सर्वं**] सर्व को [**विजानाति**] नहीं जानता।

टीका :– जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को (सर्व पदार्थों को) सामान्य-विशेषतया जानने के स्वभाव वाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादिकाल से **अपने पुरुषार्थ के अपराध से** प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त या व्याप्त होने से ही, बन्ध-अवस्था में सर्व प्रकार से सम्पूर्ण अपने को अर्थात् सर्व प्रकार से सर्व ज्ञेयों को जानने वाले अपने को न जानता हुआ, इसप्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभाव से (अज्ञानदशा में) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं। इसलिए, स्वयं बन्धस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ :– यहाँ भी 'ज्ञान' शब्द से आत्मा समझना चाहिए। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभाव से तो सबको जानने-देखनेवाला है, परन्तु अनादि से स्वयं अपराधी होने के कारण कर्मों से आच्छादित है, इसलिए वह अपने सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं जानता – यों अज्ञानदशा में रह रहा है। इसप्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मों से लिप्त होने से अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है, इसलिए यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप हैं। अत: कर्मों का निषेध किया गया हैं॥१६०॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति –

सम्मत्त-पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं[1]।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णादव्वो[2] ॥१६१॥
णाणस्स-पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं[1]।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो[2] ॥१६२॥
चारित्त-पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं[1]।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो[2] ॥१६३॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब कर्म स्वयं ही बन्ध रूप है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है, यह कहते हैं – **सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणावच्छण्णो** वह शुद्धात्मा, निश्चय से समस्त या परिपूर्ण ज्ञान-दर्शनस्वभावी होने पर भी निज कर्मरज से आच्छादित होकर **संसारसमावण्णो ण वि जाणदि सव्वदो सव्वं** संसार को प्राप्त होकर, संसार में पतित होता हुआ सभी वस्तुओं को सभी प्रकार से नहीं जानता है। इससे जाना जाता है कि कर्ता-जीव का कर्म स्वयं ही बन्धरूप है, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं। इसप्रकार पाप के समान पुण्य, बन्ध का कारण ही सिद्ध होता है – ऐसे कथन रूप गाथा पूर्ण हुई ॥१६०॥

....

अब, यह बतलाते हैं कि कर्म मोक्ष के कारण के तिरोधायिभावस्वरूप (अर्थात् मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं :–

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ॥१६१॥
त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा।
उसके उदय से जीव अज्ञानी बने यह जानना ॥१६२॥
चारित्रप्रतिबन्धक करम, जिनने कषायों को कहा।
उसके उदय से जीव चारितहीन हो यह जानना ॥१६३॥

---

१. पाठान्तर = परिकहिदं २. पाठान्तर = णायव्वो

चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः॥१६३॥

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानित्वम्। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्। अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्॥१६१-१६३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति॥१०९॥

गाथार्थ :– [**सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं**] सम्यक्त्व को रोकने वाला [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरों ने [**परिकथितम्**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदय से [**जीवः**] जीव [**मिथ्यादृष्टि**] मिथ्यादृष्टि होता है [**इति ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिए। [**ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं**] ज्ञान को रोकने वाला [**अज्ञानं**] अज्ञान है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरों ने [**परिकथितम्**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदय से [**जीवः**] जीव [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**भवति**] होता है [**चारित्रप्रतिनिबद्धं**] चारित्र को रोकने वाली [**कषायः**] कषाय है ऐसा [**जिनवरैः**] जिनवरों ने [**परिकथितः**] कहा है; [**तस्य उदयेन**] उसके उदय से [**जीवः**] जीव [**अचारित्रः**] अचारित्रवान [**भवति**] होता है [**इति ज्ञातव्यः**] ऐसा जानना चाहिए।

टीका :– सम्यक्त्व जो कि मोक्ष के कारणरूप स्वभाव है उसे रोकने वाला मिथ्यात्व है; वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के मिथ्यादृष्टिपना होता है। ज्ञान जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाला अज्ञान है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाली कषाय है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्रपना होता है। इसलिए स्वयं मोक्ष के कारण का तिरोधायिभावस्वरूप होने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के कारणरूप भाव हैं, उनसे विपरीत मिथ्यात्वादि भाव हैं; कर्म मिथ्यात्वादि भाव-स्वरूप हैं। इसप्रकार कर्म मोक्ष के कारणभूत भावों से विपरीत भावस्वरूप हैं। पहले तीन गाथाओं में कहा था कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों का – सम्यक्त्वादि का घातक है। बाद की एक गाथा में यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। और इन अन्तिम तीन गाथाओं में यह कहा है कि कर्म मोक्ष के कारणरूप भावों से विरोधी भावस्वरूप है – मिथ्यात्वादिस्वरूप है। इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्ष के कारण का घातक है, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारणस्वरूप है, इसलिए निषिद्ध है। अशुभ कर्म तो मोक्ष का कारण है ही नहीं प्रत्युत बाधक ही है इसलिए निषिद्ध ही है; परन्तु

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

शुभ भी कर्म सामान्य में आ जाता है इसलिए वह भी बाधक ही है, इसलिए निषिद्ध ही है – ऐसा समझना चाहिए॥१६१-१६३॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [मोक्षार्थिना इदं समस्तम् अपि तत् कर्म एव संन्यस्तव्यम्] मोक्षार्थी को यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। **[संन्यस्ते सति तत्र पुण्यस्य पापस्य वा किल का कथा]** जहाँ समस्त कर्मों का त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पाप की क्या बात है ? (कर्ममात्र त्याज्य है तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ है ? कर्म सामान्य में दोनों आ गये हैं।) **[सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात् मोक्षस्य हेतुः भवन्]** समस्त कर्म का त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होने से – परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ, **[नैष्कर्म्य प्रतिबद्धम् उद्धतरसं]** निष्कर्म अवस्था के साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रस प्रतिबद्ध है ऐसा **[ज्ञानं]** ज्ञान **[स्वयं]** अपने आप **[धावति]** दौड़ा चला आता है।

भावार्थ :– कर्म को दूर करके, अपने सम्यक्त्वादि स्वभावरूप परिणमन करने से मोक्ष का कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है ?॥१०९॥

अब आशंका उत्पन्न होती है कि जबतक अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के कर्म का उदय रहता है तबतक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? और कर्म तथा ज्ञान दोनों (कर्म के निमित्त से होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं ? इसके समाधानार्थ काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यावत्] जबतक **[सा ज्ञानस्य कर्मविरतिः]** उस ज्ञान की कर्मविरति **[सम्यक्पाकम् न उपैति]** भली-भाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती। **[तावत्]** तबतक **[कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः न काचित् क्षतिः]** कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है; उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। **[किन्तु]** किन्तु **[अत्र अपि]** यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि आत्मा में **[अवशतः यत् कर्म समुल्लसति]** अवशपने जो कर्म प्रगट होता है **[तत् बन्धाय]** वह तो बन्ध का कारण है, और **[एकम् एव परमं ज्ञानं स्थितम्]** जो एक परम ज्ञान है वह एक ही **[मोक्षाय]** मोक्ष का कारण है **[स्वतः विमुक्तं]** जो कि स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनों काल परद्रव्य-भावों से भिन्न है।)

भावार्थ :– जबतक यथाख्यातचारित्र नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं, शुभाशुभ

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च॥१११॥

कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध है वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प या व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है॥११०॥

अब कर्म और ज्ञान का नयविभाग बतलाते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः]** कर्मनय के आलम्बन में तत्पर (कर्मनय के पक्षपाती) पुरुष डूबे हुए हैं **[यत्]** क्योंकि **[ज्ञानं न जानन्ति]** वे ज्ञान को नहीं जानते। **[ज्ञाननय-एषिणः अपि मग्नाः]** ज्ञाननय के इच्छुक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए हैं **[यत्]** क्योंकि **[अति स्वच्छन्दमन्दउद्यमाः]** वे स्वच्छन्दता से अत्यन्त मन्द-उद्यमी हैं (वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषय-कषाय में वर्तते हैं)। **[ते विश्वस्य उपरि तरन्ति]** वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं **[ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति]** जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए – परिणमते हुए भी कर्म नहीं करते **[च]** और **[जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति]** कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (स्वरूप में उद्यमी रहते हैं)।

भावार्थ :– यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया है, क्योंकि सर्वथा एकान्त अभिप्राय ही मिथ्यात्व है। कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप क्रिया-काण्ड के आडम्बर को मोक्ष का कारण जानकर उसमें तत्पर रहते हैं उसका पक्षपात करते हैं। ऐसे कर्मनय के पक्षपाती लोग – जो कि ज्ञान को तो नहीं जानते और कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं वे संसार में डूबते हैं। और कितने ही लोग आत्मस्वरूप को यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा एकान्तवादी मिथ्यादृष्टियों के उपदेश से अथवा अपने आप ही अन्तरंग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्या प्रकार से कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणति में किंचित्मात्र भी परिवर्तन हुए बिना अपने को सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जानकर छोड़ देते हैं। ऐसे ज्ञाननय के पक्षपाती लोग जो कि स्वरूप का कोई पुरुषार्थ नहीं करते और शुभ परिणामों को छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायों में वर्तते हैं वे भी संसार समुद्र में डूबते हैं।

(मन्दाक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ।।११२।।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मों को (अर्थात् शुभाशुभभावों को) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणति को ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं किन्तु शुभ कर्मों को भी छोड़कर, स्वरूप में स्थिर होने के लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं, वे संपूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जबतक, पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता तबतक यद्यपि स्वरूप स्थिरता का आन्तरिक आलम्बन (अन्तःसाधन) तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है तथापि आन्तरिक आलम्बन लेने वाले को जो बाह्य आलम्बनरूप होते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूप के विचार आदि) शुभ परिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभकर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभकर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके, संसार से निवृत्त होते हैं।।१११।।

अब पुण्य-पाप अधिकार को पूर्ण करते हुए आचार्य देव ज्ञान की महिमा करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पीतमोहं**] मोहरूपी मदिरा के पीने से, [**भ्रम-रस-भरात् भेदोन्मादं नाटयत्**] भ्रमरस के भार से (अतिशयपने से) शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को जो नचाता है [**तत् सकलम् अपि कर्म**] ऐसे समस्त कर्म को [**बलेन**] अपने बल द्वारा [**मूलोन्मूलं कृत्वा**] समूल उखाड़कर [**ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जजृम्भे**] अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई। वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने [**कवलिततमः**] अज्ञानरूपी अन्धकार का ग्रास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है, [**हेला-उन्मीलत्**] जो लीलामात्र से (सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है और [**परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि**] जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है ऐसी वह ज्ञानज्योति है। (जबतक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तबतक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होने पर साक्षात् होती है।)

भावार्थ :– अपनी ज्ञानज्योति का प्रतिबन्धक कर्म (भावकर्म) जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था और ज्ञान को भुला देता था उसे अपनी शक्ति से उखाड़कर ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्य सहित प्रकाशित हुई। वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला केवलज्ञानरूपी परमकला का अंश है तथा वह केवलज्ञान के सम्पूर्ण स्वरूप को जानती है और उस ओर प्रगति करती है, इसलिए यह कहा है कि 'ज्ञानज्योति ने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।' ज्ञानकला सहजरूप से विकास को प्राप्त होती जाती है और अन्त में वह परमकला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है।।११२।।

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम्।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽङ्कः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ पूर्वं मोक्षहेतूभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितम् इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यते इति प्रकटीकरोति –

सम्मत्तपडिणिबद्धं सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिकूलं मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरैः परिकथितं **तस्सोदयेण** तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्यः। **णाणस्स** ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं प्रतिकूलमज्ञानं भवतीति जिनवरैः परिकथितं **तस्सोदयेण** तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी भवतीति ज्ञातव्यः। **चारित्तपडिणिबद्धं** चारित्रस्य प्रतिनिबद्धः प्रतिकूलः क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरैः परिकथितः। **तस्सोदयेण** तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवतीति ज्ञातव्यः। एवं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥१६१-१६३॥

इति सम्यक्त्वादिजीवगुणाः मुक्तिकारणं तद्गुणपरिणतो जीवो वा मुक्तिकारणं भवति। तस्माच्छुद्धजीवाद्भिन्नं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं तद्व्यापारेणोपार्जितं वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारणं न भवतीति मत्वा हेयं त्याज्यमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतम्।

टीका :– पुण्य-पापरूप से दो पात्रों के रूप में नाचने वाला कर्म एक पात्ररूप होकर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ :– यद्यपि कर्म सामान्यतया एक ही है तथापि उसने पुण्य-पापरूपी दो पात्रों का स्वांग धारण करके रंगभूमि में प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञान ने यथार्थतया एक जान लिया तब वह एक पात्ररूप होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया और नृत्य करना बन्द कर दिया।

आश्रय, कारण, रूप, सवादसुं भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्ध भये सुखदुःखकरा रे।
ज्ञान भये दोउ एक लखै आश्रय आदि समान विचारे,
बन्ध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे॥

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में पुण्य-पाप का तीसरा अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, पूर्वोक्त मोक्ष के हेतु रूप जीव के सम्यक्त्व आदि गुणों का मिथ्यात्व आदि कर्मों द्वारा आच्छादन होता है, यह कहा गया है, अब उन गुणों का आधारभूत गुणी-जीव मिथ्यात्वादि कर्मों के द्वारा आच्छादित किया जाता है, ऐसा प्रगट करते हैं –

सम्मत्तपडिणिबद्धं सम्यक्त्व को रोकने वाला प्रतिकूल मिथ्यात्व है – ऐसा जिनवरों के द्वारा कहा गया है। **तस्सोदयेण** उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा जानना चाहिए। **णाणस्स** ज्ञान को रोकनेवाला प्रतिकूल अज्ञान है, ऐसा जिनवरों ने कहा है। **तस्सोदयेण** उस अज्ञान के उदय से जीव अज्ञानी होता है, ऐसा जानना चाहिए। **चारित्तपडिणिबद्धं** चारित्र को रोकनेवाली प्रतिकूल क्रोधादि-कषाय

द्वितीयपातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गतम्। अत्राह शिष्यः – **'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं, तिष्ठति कथं पापाधिकार इति ? तत्र परिहारः – यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परंपरया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणम्। निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पावलंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणम्। **इति निश्चयनयापेक्षया पापम्।** अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति **वा पापाधिकारः।**

तत्रैवं सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन शृंङ्गाररहितपात्रवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय निष्क्रांतम्।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थः पुण्यपापाधिकारः समाप्तः।

है, ऐसा जिनवरों द्वारा कहा गया है। **तस्सोदयेण** उसके उदय से जीव अचारित्री होता है, ऐसा जानना चाहिए। इसप्रकार मोक्षहेतुभूत जो गुणी – जीवद्रव्य है, उसके आच्छादन के कथन की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१६१-१६३॥

जीव के इसप्रकार सम्यक्त्व आदि गुण मुक्ति के कारण हैं अथवा उस गुणरूप से परिणत जीव मुक्ति का कारण है, इसलिए शुद्ध जीव से भिन्न शुभ-अशुभ रूप मन-वचन-काय की क्रिया तथा उस क्रिया से उत्पन्न हुए शुभ-अशुभ कर्म मोक्ष के कारण नहीं हैं, ऐसा मानकर शुभ-अशुभ कर्म हेय या त्याज्य ही हैं – इस कथन की मुख्यता से नौ गाथाएँ पूर्ण हुईं।

द्वितीय पातानिका के अभिप्राय से पापाधिकार के व्याख्यान की मुख्यता से यह कथन समाप्त हुआ। यहाँ शिष्य पूछता है – **'जीवादीसद्दहणं'** इत्यादि वह व्यवहार-रत्नत्रय का कथन किया है तो यह पापाधिकार कैसे है ? उसका निराकरण है कि यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग उपादेयरूप निश्चय रत्नत्रय का कारण रूप होने से उपादेय है, परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है, तथापि व्यवहार मोक्षमार्ग में बाह्यद्रव्य का आलम्बन होने से, पराधीनता होने से (स्वतंत्रता) नष्ट होती है, यह एक कारण है। निर्विकल्प समाधिरत जीव व्यवहार विकल्प के अवलम्बन से आत्मस्वरूप से पतित होता है, यह दूसरा कारण है। इसप्रकार निश्चयनय की अपेक्षा पाप है अथवा सम्यक्त्व आदि के विपक्ष रूप मिथ्यात्व आदि का व्याख्यान किया है, अतः यह पापाधिकार है। वहाँ इसप्रकार से होने पर व्यवहार नय से पुण्य-पाप रूप से कर्म दो प्रकार है, तो भी निश्चय से शृंगार रहित पात्र की तरह पुद्गल रूप से एक रूप होकर रंगभूमि से बाहर निकल गया।

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्यजी कृत शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली समयसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में तीन स्थलों के समुदाय से उन्नीस गाथाओं द्वारा चौथा पुण्य-पापाधिकार समाप्त हुआ।

सुद्धातम अनुभव जहाँ सुभाचार तहाँ नांहिं।
करम करम-मारग विषैं सिवमारग सिव मांहिं॥

– समयसार नाटक, पृष्ठ २३३ छन्द ३५

४

आस्रव-अधिकार

अथ प्रविशत्यास्रव:।

(द्रुतविलंबित)

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धर: ॥११३॥

(दोहा)

द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास।
भये सिद्ध परमात्मा, नमूँ तिनहिं, सुख आस॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब आस्रव प्रवेश करता है'। जैसे नृत्यमंच पर नृत्यकार स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ आस्रव का स्वाँग है। उस स्वाँग को यथार्थतया जानने वाला सम्यग्ज्ञान है उसकी महिमारूप मंगल करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अथ**] अब [**समररंगपरागतम्**] समरांगण में आये हुये, [**महामदनिर्भरमन्थरं**] महामद से भरे हुए मदोन्मत्त [**आस्रवम्**] आस्रव को [**अयम् दुर्जयबोधधनुर्धर:**] यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर [**जयति**] जीत लेता है, [**उदारगभीरमहोदय:**] जिसका (ज्ञानरूपी बाणावली का) महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रव को जीतने के लिए जितना पुरुषार्थ चाहिए उतना वह पूरा करता है) और गम्भीर है, (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते)।

भावार्थ :– यहाँ आस्रव ने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है इसलिए यहाँ रसवत् अलंकार के द्वारा शांत रस में वीर रस को प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रव को जीतता है।' समस्त विश्व को जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमि में आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान योद्धा है इसलिए वह आस्रव को जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है ॥११३॥

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति –

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविह-भेदा जीवे तस्सेव अणण्ण-परिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादि-भावगरो ॥१६५॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामा: ॥१६४॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मण: कारणं भवंति।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकर: ॥१६५॥

रागद्वेषमोहा आस्रवा: इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ता:, अजडत्वे सति चिदाभासा:। मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा: पुद्गलपरिणामा: ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवा:। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहा:। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवा:। ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवापद्यते ॥१६४-१६५॥

अब आस्रव का स्वरूप कहते हैं :–

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीव में, जीव के अनन्य हि भाव हैं ॥१६४॥

अरु वे हि ज्ञानावरन आदिक, कर्म के कारण बनें।
उनका भि कारण जीव बने, जो राग-द्वेषादिक करें ॥१६५॥

गाथार्थ :– [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व, [**अविरमणं**] अविरमण, [**कषाययोगौ च**] कषाय और योग – यह आस्रव [**संज्ञासंज्ञा: तु**] संज्ञ (चेतन के विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गल के विकार) भी हैं। [**बहुविधभेदा:**] विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव [**जीवे**] जो कि जीव में उत्पन्न होते हैं वे [**तस्य एव**] जीव के ही [**अनन्यपरिणामा:**] अनन्य परिणाम हैं। [**ते तु**] और असंज्ञ आस्रव [**ज्ञानावरणाद्यस्यकर्मण:**] ज्ञानावरणादि कर्म के [**कारणं**] कारण (निमित्त) [**भवंति**] होते हैं [**च**] और [**तेषाम् अपि**] उनका भी (असंज्ञ आस्रवों के भी कर्मबन्ध का निमित्त होने में) [**रागद्वेषादिभावकर: जीव:**] राग-द्वेषादि भाव करने वाला जीव [**भवति**] कारण (निमित्त) होता है।

टीका :– उस जीव में राग, द्वेष और मोह – यह आस्रव अपने परिणाम के कारण से होते हैं इसलिए वे जड़ न होने से चिदाभास हैं (अर्थात् जिसमें चैतन्य का आभास है ऐसे हैं, चिद्विकार हैं)। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – यह पुद्गलपरिणाम, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म के आस्रवण के निमित्त होने से वास्तव में आस्रव हैं; और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों के) कर्म आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्त राग-द्वेष-मोह हैं – जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं। इसलिए (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामों

समुदायपातनिका – अथ प्रविशत्यास्रव:। यत्र सम्यग्भेदभावनापरिणत: कारणसमयसाररूप: संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति संवरविपक्षद्वारेण सप्तदशगाथापर्यंतमास्रवव्याख्यानं करोति। तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न संतीति संक्षेपेण संवरव्याख्यानरूपेण **'मिच्छत्तं अविरमणं'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं रागद्वेषमोहास्रवाणां पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन **'भावो रागादिजुदो'** इत्यादि स्वतंत्रगाथात्रयम्। तत: परं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य संज्ञानिजीवस्य रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन **'चहुविह'** इत्यादि गाथात्रयम्। अत: परं तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्र-भावनाबलेन रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यतया **'सव्वे पुव्वणिबद्धा'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। तदनंतरं नवतरद्रव्यकर्मास्रव-स्योदयागतद्रव्यप्रत्यया: कारणं भवंति, तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवगतरागादिभावप्रत्यया: कारणमिति कारणव्याख्यान-मुख्यत्वेन **'रागो दोसो'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं कथयति, इति समुदायेन सप्तदशगाथाभि: पंचस्थलै: आस्रवाधिकार-समुदायपातनिका।

के) आस्रवण के निमित्तत्व के निमित्तभूत होने से राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं। और वे तो (राग-द्वेष-मोह) अज्ञानी के ही होते हैं यह अर्थ में से ही स्पष्ट ज्ञात होता है। (यद्यपि गाथा में यह स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है तथापि गाथा के ही अर्थ में से यह आशय निकलता है।)

भावार्थ :– ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का (आगमन का) निमित्तकारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदयरूप पुद्गल-परिणाम हैं, इसलिए वे वास्तव में आस्रव हैं। और उनके कर्मास्रवण के निमित्तभूत होने का निमित्त जीव के राग-द्वेष-मोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं इसलिए राग-द्वेष-मोह ही आस्रव हैं। उन राग-द्वेष-मोह को चिद्विकार भी कहा जाता है। वे राग-द्वेष-मोह जीव की अज्ञान-अवस्था में ही होते हैं। **मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है।** इसलिए मिथ्यादृष्टि के अर्थात् अज्ञानी के ही राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव होते हैं॥१६४-१६५॥

समूहपीठिका – अब आस्रव प्रवेश करता है। जहाँ सम्यक्, भेदज्ञान की भावनारूप परिणत कारणसमयसार रूप संवर नहीं है, वहाँ आस्रव होता है, इसप्रकार संवर के विपक्षी रूप से सत्रह गाथाओं पर्यन्त आस्रव का व्याख्यान करते हैं। वहाँ प्रथम तो वीतरागसम्यग्दृष्टि जीव के राग-द्वेष-मोह रूप आस्रव नहीं होते हैं – ऐसा संक्षेप में संवर के व्याख्यानरूप **'मिच्छत्तं अविरमणं'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों का विशेष विवरण की मुख्यता से पुन: **भावो रागादि जुदो** इत्यादि तीन स्वतंत्र गाथाएँ हैं। उसके बाद केवलज्ञानादि व्यक्ति रूप कार्यसमयसार का कारणरूप निश्चयरत्नत्रयपरिणत सम्यग्ज्ञानी जीव के रागादिभाव प्रत्यय के निषेध की मुख्यता से **चउविह** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। इसके बाद उस ही ज्ञानी जीव के मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों की सत्ता होने पर भी वीतराग चारित्र भावना के बल से रागादिभाव प्रत्यय के निषेध की मुख्यता से **सव्वे पुव्वणिबद्धा** इत्यादि चार गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् नवीन द्रव्यकर्म के आस्रव का कारण उदयागत द्रव्य प्रत्यय होते हैं, और उन द्रव्य प्रत्ययों के कारण जीवगत रागादि भावरूप भाव प्रत्यय हैं – इसप्रकार कारण व्याख्यान की मुख्यता से **रागो दोसो** इत्यादि चार गाथासूत्र कहते हैं। इसतरह समूह रूप से सत्रह गाथाओं से पांच स्थलों द्वारा आस्रव अधिकार की समुदाय पातनिका है।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ द्रव्यभावास्रवस्वरूपं कथयति – **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ''सण्णसण्णा''** इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्य:। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा: कथंभूता: ? भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतना:। अथवा संज्ञा: आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपा:, असंज्ञा: ईषत्संज्ञा: इहलोकाकांक्षा- परलोकाकांक्षाकुधर्माकांक्षारूपास्तिस्र:। कथंभूता: ? एते **बहुविहभेदा जीवे** उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधा:, क्व? जीवे, अधिकरणभूते। पुनरपि कथंभूता: ? **तस्सेव अणण्णपरिणामा** अनन्यपरिणामा: अभिन्नपरिणामा: तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति। **णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति** ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्यया: उदयागता: संत: निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्रवस्य कारणभूता भवंति। **तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो** तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीव: कारणं भवति। कथंभूत:? रागद्वेषादिभावकर: रागद्वेषादिभावपरिणत:। अयमत्र भावार्थ: – **द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावनां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बंधो भवति नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बंधो भवति, तदा सर्वदा संसार एव। कस्मात् ? इति चेत्, संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बंधकारणं न भवति ? इति चेत्, तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति।** निश्चयेन पुन: अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति॥१६४-१६५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब द्रव्यास्रव तथा भावास्रव का स्वरूप कहते हैं – **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ''सण्णसण्णा''** इस पद में प्राकृत व्याकरण के अनुसार अकार का लोप हो गया है। जिससे सण्ण-असण्ण का सण्ण सण्णा रूप हुआ है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। वे कैसे हैं ? वे भावप्रत्यय तथा द्रव्य प्रत्यय रूप से संज्ञा अर्थात् चेतन तथा असंज्ञा अर्थात् अचेतन रूप हैं। अथवा संज्ञा अर्थात् आहार, भय, मैथुन और परिग्रह भावरूप हैं तथा असंज्ञा या ईषत् संज्ञा अर्थात् इस लोक की आकांक्षा, परलोक की आकांक्षा, कुधर्म की आकांक्षा, इस तरह तीन प्रकार है। कैसे हैं ? **बहुविहभेदा जीवे** ये प्रत्यय उत्तर भेद से बहुत प्रकार के हैं। किसमें हैं ? अधिकरण स्वरूप जीव में हैं। और भी कैसे हैं ? **तस्सेव अणण्णपरिणामा** और वे अशुद्धनिश्चय नय से उस जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, अभिन्न परिणाम हैं। **णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति** और वे पूर्वोक्त द्रव्यप्रत्यय उदय में आते हुए निश्चय चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व का अभाव होने पर, शुद्धात्मस्वरूप से गिरने वाले जीवों के ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के द्रव्यकर्मास्रव के कारणभूत होते हैं। **तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो** और उन द्रव्यप्रत्ययों का कारण रागद्वेषादि भाव प्रत्ययरूप परिणत जीव होता है। कैसा जीव कारण होता है ? रागद्वेषादि भावरूप परिणत जीव कारण होता है।

यहाँ यह भावार्थ है कि द्रव्यप्रत्यय के उदय होने पर शुद्धात्म भावना को छोड़कर जब जीव रागादिभाव से परिणमन करता है, तब बन्ध होता है, केवल द्रव्यकर्मों के उदयमात्र से बन्ध नहीं होता है। यदि द्रव्यकर्म के उदय मात्र से बन्ध होता हो, तब तो हमेशा संसार ही बना रहता। किस कारण से संसार बना रहता ? क्योंकि संसारी जीवों के हमेशा ही कर्मोदय विद्यमान होता है। तो फिर द्रव्यकर्मोदय बन्ध का कारण नहीं है ? ''कर्मोदय बन्ध का कारण नहीं है'' – ऐसा नहीं है। निर्विकल्पसमाधि से भ्रष्ट जीवों के मोहसहित कर्मोदय व्यवहार से निमित्त है; परन्तु निश्चय से अशुद्ध उपादान कारण रूप अपना रागादि अज्ञान भाव ही बन्ध का कारण है॥१६४-१६५॥

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति –

णत्थि दु आसव-बंधो सम्मादिट्ठिस्स आसव-णिरोहो।
संते पुव्व-णिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन्॥१६६॥

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यंते, ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः। अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्, तानि नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति॥१६६॥

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के उन आस्रवों का (भावास्रवों का) अभाव है :–

सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है।
नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं॥१६६॥

गाथार्थ :– **[सम्यग्दृष्टेः तु]** सम्यग्दृष्टि के **[आस्रवबन्धः]** आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बन्ध **[नास्ति]** नहीं है, **[आस्रवनिरोधः]** (क्योंकि) आस्रव का (भावास्रव का) निरोध है; **[तानि]** नवीन कर्मों को **[ध्नन्]** नहीं बाँधता हुआ **[सः]** वह, **[संति]** सत्ता में रहे हुए **[पूर्वनिबद्धानि]** पूर्वबद्ध कर्मों को **[जानाति]** जानता ही है।

टीका :– वास्तव में ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से ही अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरुद्ध – अभावरूप होते हैं, क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एक साथ नहीं रह सकते; इसलिए अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष-मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं उनका निरोध होने से, ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही है। इसलिए ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मों को नहीं बाँधता – सदा अकर्तृत्व होने से नवीन कर्मों को न बाँधता हुआ सत्ता में रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मों को, स्वयं ज्ञानस्वभाववान होने से, मात्र जानता ही है। (ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्म को बाँधे, ज्ञातृत्व होने से कर्म बन्ध नहीं करता।)

भावार्थ :– ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं होते; और अज्ञानमय भाव न होने से (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होने से नवीन बन्ध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होने से नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्वबद्ध कर्म सत्ता में विद्यमान हैं उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है। अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होता। जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है वही अज्ञान के पक्ष में माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञान के पक्ष में नहीं है। सम्यग्दृष्टि के सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है। उसको चारित्रमोह के उदय की बलवत्ता से जो रागादि होता है, उसका स्वामित्व उसके नहीं है; वह रागादि को रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्ति के अनुसार

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावास्रवाणामभावं दर्शयति –

णत्थि इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** न भवत:, न विद्येते। कौ ? तौ आस्रवबंधौ। गाथायां पुन: समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृतम्। कस्यास्रवबंधौ न स्त: ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य। तर्हि किमस्ति ? आस्रवनिरोधलक्षणसंवरोऽस्ति। **सो** स सम्यग्दृष्टि:। **संते** संति विद्यमानानि। **ते** तानि। **पुव्वणिबद्धे** पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादिकर्माणि। अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान्। **जाणदि** जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति। किं कुर्वन् सन् ? **अबंधंतो** विशिष्टभेदज्ञान-बलान्नवतराण्यभिनवान्यबध्नननुपार्जयन् इति। अयमत्र भावार्थ:– **सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति।** तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टि: – ''**सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक्क बंधवोच्छिण्णा।**
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को''।।(गो.क.गा.९४)

इत्यादि बंधत्रिभंगकथितबंधविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबंधक:। सप्ताधिकसप्तति प्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति। तेन कारणेनाबंधक इति। तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यंतम्, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबंधक:। उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्बन्धक:। ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबंधको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टय: सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यम्। इति आस्रवविपक्षद्वारेण संवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्।।१६६।।

उन्हें काटता जाता है। इसलिए ज्ञानी के जो रागादि होता है वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है। वह आगामी सामान्य संसार का बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध करता है। ऐसे अल्पबन्ध को यहाँ नहीं गिना है। इसप्रकार ज्ञानी के आस्रव न होने से बन्ध नहीं होता।।१६६।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के राग-द्वेष-मोह रूप भावास्रवों का अभाव दिखलाते हैं– **णत्थि** आदि का पदखण्डना रूप से व्याख्यान करते हैं। **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** नहीं होते हैं ? कौन नहीं होते हैं ? वे आस्रव और बन्ध नहीं होते हैं। इस गाथा में पुन: समाहार द्वन्द्व समास की अपेक्षा से द्विवचन होने पर भी एक वचन का प्रयोग किया गया है। (अर्थात् आस्रवों और बन्ध दो पदों को मिलाकर द्वन्द्व समास किया तथा एकवचन में रखा गया।) किस के आस्रव और बन्ध नहीं होते हैं ? सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव और बन्ध नहीं होते हैं। तो फिर क्या होता है ? आस्रव के निरोध रूप लक्षणवाला संवर होता है। **सो** वह सम्यग्दृष्टि **संते** विद्यमान **ते** उन **पुव्वणिबद्धे** पूर्व में बांधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों को अथवा प्रत्यय की अपेक्षा पूर्वबद्ध मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों को **जाणदि** वस्तुस्वरूप से जानता है। क्या करता हुआ जानता है ? **अबंधंतो** विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नये कर्मों को न बाँधता हुआ अथवा उपार्जन न करता हुआ जानता है। इसप्रकार यहाँ यह भावार्थ है कि सराग तथा वीतराग के भेद से सम्यग्दृष्टि के दो प्रकार हैं। वहाँ जो सराग सम्यग्दृष्टि है, उसके विषय में गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ९४ में कहा है – ''**जो इसप्रकार प्रथम गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति होती है, सासादन गुणस्थान में पच्चीस प्रकृतियों की, मिश्रगुणस्थान में शून्य, अविरत-सम्यक्त्व गुणस्थान में दस प्रकृतियों की, देशसंयत गुणस्थान में चार प्रकृतियों की, प्रमत्तसंयत गुणस्थान में छह प्रकृतियों की, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में एक, अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथमभाग में दो, छट्ठे भाग में तीस,**

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति –

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादि-विप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि॥१६७॥

भावो रागादियुतो जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायकः केवलम्॥१६७॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं, कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति। तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायससूचीं, अकर्मकरणोत्सुकमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति। ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद् बंधकः। तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः॥१६७॥

सप्तम भाग में चार, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में पांच, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में सोलह एवं सयोगकेवली गुणस्थान में एक प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति होती है।'' इसप्रकार बन्ध त्रिभंग कथित बन्ध विच्छेद क्रम से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा (सम्यग्दृष्टि) तैतालिस कर्म प्रकृतियों का अबंधक है। वह सराग सम्यग्दृष्टि सतत्तर प्रकृतियों का अल्पस्थिति तथा अल्प अनुभाग का बंधक होता हुआ भी संसार स्थिति का छेदक है, इसलिए चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव अबंधक है। उसीप्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि के गुणस्थान से लेकर ऊपर के यथासंभव सराग सम्यक्त्व पर्यन्त नीचे के गुणस्थान की अपेक्षा तारतम्य से अबंधक है और ऊपर के गुणस्थानों की अपेक्षा बंधक है। उसके बाद वीतराग सम्यक्त्व होने पर साक्षात् अबंधक होता है। ऐसा मानकर 'हम सम्यग्दृष्टियों के सर्वथा बन्ध नहीं है'– ऐसा नहीं कहना चाहिए। इसतरह आस्रव विपक्षी संवर की संक्षेप सूचना रूप व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१६६॥

....

अब राग-द्वेष-मोह ही आस्रव है ऐसा नियम करते हैं :–

रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहि को बन्धक कहा।
रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र बंधक नहिं रहा॥१६७॥

गाथार्थ :– [**जीवेन कृतः**] जीवकृत [**रागादियुतः**] रागादि युक्त [**भावः तु**] भाव [**बंधकः भणितः**] बन्धक (नवीन कर्मों का बन्ध करनेवाला) कहा गया है। [**रागादिविप्रमुक्तः**] रागादि से रहित भाव [**अबंधकः**] बंधक नहीं है, [**केवलम् ज्ञायकः**] वह मात्र ज्ञायक ही है।

टीका :– जैसे लोहचुम्बक पाषाण के साथ संसर्ग से (लोहे की सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति करने के लिए) प्रेरित करता है उसीप्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित होने से (आत्मा में) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है, और जैसे लोहचुम्बक पाषाण के असंसर्ग से (सुई में) उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को (गति न करने रूप) स्वभाव में ही स्थापित करता है उसीप्रकार राग-द्वेष-मोह के साथ मिश्रित नहीं होने से (आत्मा में) उत्पन्न ज्ञानमय भाव जिसे कर्म करने की उत्सुकता नहीं है (अर्थात् कर्म करने का जिसका स्वभाव नहीं है) ऐसे आत्मा को

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति –

पक्के फलम्हि पडिदे जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेदि।।१६८।।

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्तैः।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति।।१६८।।

यथा खलु पक्वं फलं वृन्तात्सकृद्विश्लिष्टं सत् न पुनर्वृन्तसंबंधमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ रागद्वेषमोहरूपभावानामास्रवत्वं निश्चिनोति – **भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि** यथा अयस्कांतोपलसंपर्कजो भावः परिणतिविशेषः, कालायससूचिं प्रेरयति तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भावः परिणतिविशेषः कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानंदमव्ययमनादिमनंतशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि जीवं शुद्धस्वभावात्प्रच्युतं कृत्वा कर्मबंधं कर्तुं प्रेरयति। **रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** यथा चायस्कांतोपलसंपर्करहितो भावः परिणतिविशेषः कालायससूचिं न प्रेरयति तथा रागाद्यज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्वबंधकः सन् नवरि किंतु जीवं कर्मबंध कर्तुं न प्रेरयति। तर्हि किं करोति? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति। ततो ज्ञायते निरुपरागचैतन्यचिच्चमत्कारमात्रपरमात्मपदार्थाद्भिन्ना रागद्वेषमोहा एव बंधकारणमिति।।१६७।।

स्वभाव में ही स्थापित करता है; इसलिए रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्व में प्रेरित करता है अतः वह बन्धक है और रागादि के साथ अमिश्रित भाव स्वभाव का प्रकाशक होने से मात्र ज्ञायक ही है, किंचित्मात्र भी बन्धक नहीं है।

भावार्थ :– रागादि के साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही बन्ध का कर्ता है, और रागादि के साथ अमिश्रित ज्ञानमय भाव बन्ध का कर्ता नहीं है – यह नियम है।।१६७।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब राग-द्वेष-मोह भावों का ही आस्रवपना निश्चित करते हैं – **भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि** जिसप्रकार चुम्बकपाषाण के सम्पर्क से उत्पन्न भाव या परिणति विशेष लोहे की सुई को प्रेरित करता है, उसीप्रकार जीवकृत रागादि अज्ञानजनित भाव परिणति विशेष कर्ता, शुद्धस्वभाव से सानन्द-अव्यय अनादि अनन्त शक्ति से प्रकाशित निरुपलेप गुणस्वरूप जीव को शुद्धस्वभाव से च्युत करके, कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित करता है। **रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** चुम्बकपाषाण के संपर्क से रहितभाव या परिणति विशेष लोहे की सुई को प्रेरित नहीं करता है, उसीतरह अज्ञान रूप रागादि से रहित भाव अबंधक होने से जीव को कर्मबन्ध करने के लिए प्रेरित नहीं करता है। तो क्या करता है? पूर्वोक्त शुद्धस्वभाव से ही स्थापित करता है। इससे जाना जाता है कि अरागी चैतन्य चित्चमत्कार मात्र परमात्म पदार्थ से भिन्न, राग-द्वेष मोह ही बन्ध के कारण हैं।।१६७।।

....

अब, रागादि के साथ अमिश्रित भाव की उत्पत्ति बतलाते हैं :–

फल पक्व खिरता, वृन्त सह संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीव में उदय पाता नहीं।।१६८।।

जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन् न पुनर्जीवभावमुपैति। एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति॥१६८॥

(शालिनी)

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम्॥११४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य संभवं दर्शयति – **पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे** यथा पक्वे फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृंते न बध्यते। **जीवस्स कम्मभावे पडिदे**

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**पक्वे फले**] पके हुए फल के [**पतिते**] गिरने पर [**पुनः**] फिर से [**फलं**] वह फल [**वृन्तैः**] उस डंठल के साथ [**न बध्यते**] नहीं जुड़ता उसीप्रकार [**जीवस्य**] जीव के [**कर्मभावे**] कर्मभाव [**पतिते**] खिर जाने पर वह [**पुनः**] फिर से [**उदयम् न उपैति**] उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् वह कर्मभाव जीव के साथ पुनः नहीं जुड़ता)।

टीका :– जैसे पका हुआ फल एकबार डंठल से गिर जाने पर फिर वह उसके साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता, इसीप्रकार कर्मोदय से उत्पन्न होने वाला भाव जीवभाव से एकबार अलग होने पर फिर जीवभाव को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव उत्पन्न होता है।

भावार्थ :– यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भाव से) रागादिक से भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादि के साथ मिश्रित नहीं होता। इसप्रकार उत्पन्न हुआ, रागादि के साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है। फिर जीव अस्थिरतारूप से रागादि में युक्त होता है वह निश्चयदृष्टि से युक्तता है ही नहीं और उसके जो अल्पबन्ध होता है वह भी निश्चयदृष्टि से बन्ध है ही नहीं; क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूप से परिणमन निरंतर वर्तता ही रहता है। तथा उसे मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसार का कारण नहीं है; मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्तों के समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखने योग्य हैं॥१६८॥

अब 'ज्ञानमय भाव ही भावास्रव का अभाव है' इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**जीवस्य**] जीव का [**यः**] जो [**रागद्वेषमोहैः बिना**] राग-द्वेष-मोह रहित, [**ज्ञाननिर्वृत्तः एव भावः**] ज्ञान से ही रचित भाव [**स्यात्**] है और [**सर्वान् द्रव्यकर्मास्रव-ओघान् रुन्धन्**] जो सर्व द्रव्यकर्म के आस्रव समूह को (अर्थात् थोकबन्ध द्रव्यकर्म के प्रवाह को) रोकनेवाला है, [**एषः सर्व-भावास्रवाणाम् अभावः**] वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रव के अभावस्वरूप है।

भावार्थ :– मिथ्यात्व रहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमय भाव राग-द्वेष-मोह रहित है और द्रव्यकर्म के प्रवाह को रोकनेवाला है; इसलिए वह भाव ही भावास्रव के अभावस्वरूप है। संसार का कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिए मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादि का अभाव होने पर, सर्व भावास्रवों का अभाव हो जाता है – यह यहाँ कहा गया है॥११४॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति –

पुढवीपिंड-समाणा पुव्व-णिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्म-सरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स॥१६९॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः॥१६९॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्‌गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः। ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणशरीरेणैव संबद्धा, न तु जीवेन। अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः॥१६९॥

ण पुणोदयमुवेहि तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनित-सुखदुःखरूपकर्मभावे कर्मपर्याये पतिते गलिते निर्जीर्णे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बंधं नायाति, नैवोदयं च। ततो रागाद्यभावात् शुद्धभावः संभवति। तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन संवरपूर्विका निर्जरा भवतीत्यर्थः॥१६८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब रागादिरहित शुद्धस्वभाव की संभावना प्रगट होना दिखलाते हैं – **पक्के फलम्मि पडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे** जिसप्रकार पके हुए फल के गिरने पर पुनः वही फल डण्ठल से नहीं बंधता है। **जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि** उसीप्रकार तत्त्वज्ञानी जीव के साता-असाता के उदय से उत्पन्न सुख-दुख कर्मभाव या पर्याय के पतन होने या गल जाने या निर्जीर्ण होने पर राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से पुनः वह कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता है, और उदय को भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिए रागादि का अभाव होने से शुद्धभाव प्रगट होता है। और इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव के निर्विकार स्वसंवेदन के बल से संवरपूर्वक निर्जरा होती है॥१६८॥

....

अब, यह बतलाते हैं कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है –

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानि के।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं॥१६९॥

गाथार्थ :– [**तस्य ज्ञानिनः**] उस ज्ञानी के [**पूर्वनिबद्धाः तु**] पूर्वबद्ध [**सर्वे अपि**] समस्त [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय [**पृथ्वीपिण्डसमानाः**] मिट्टी के ढेले के समान हैं [**तु**] और [**ते**] वे [**कर्मशरीरेण**] (मात्र) कार्मण शरीर के साथ [**बद्धाः**] बंधे हुए हैं।

टीका :– जो पहले अज्ञान से बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्‌गलपरिणाम वाले हैं इसलिए ज्ञानी के लिए मिट्टी के ढेले के समान हैं (जैसे मिट्टी आदि पुद्‌गलस्कन्ध हैं वैसे ही यह प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभाव से ही मात्र कार्माण शरीर के साथ बँधे हुए हैं – सम्बन्धयुक्त हैं, जीव के साथ नहीं; इसलिए ज्ञानी के स्वभाव से ही द्रव्यास्रव का अभाव सिद्ध है।

भावार्थ :– ज्ञानी के जो पहले अज्ञानदशा में बँधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे तो

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत एव भिन्न:।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ।।११५।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्रवाभावं दर्शयति – **पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स** पृथ्वीपिंडसमाना: अकिंचित्करा भवंति। के ते ? पूर्वनिबद्धा: मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्यया:। कस्य ? तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य। यतो रागाद्यजनकत्वादकिंचित्करास्तत: कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबंधो न भवति। तर्हि पृथ्वीपिंडसमाना: संत: केन रूपेण तिष्ठंति ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स** कार्मणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठंति, न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण। कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति। किंच, यद्यपि द्रव्यप्रत्यया: कार्मणशरीररूपेण मुष्टिबद्धविषवत्तिष्ठंति तथापि उदयाभावे सुखदु:खविकृतिरूपां बाधां न कुर्वंति। तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मास्रवाभाव इति भावार्थ:। एवं रागद्वेषमोहरूपास्रवाणां विशेषविवरणरूपेण स्वतंत्रगाथात्रयं गतम् ।।१६९।।

मिट्टी के ढेले की भाँति पुद्‌गलमय हैं, इसलिए वे स्वभाव से ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीव से भिन्न हैं। उनका बन्ध अथवा सम्बन्ध पुद्‌गलमय कार्मणशरीर के साथ ही है, चिन्मय जीव के साथ नहीं। इसलिए ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव तो स्वभाव से ही है। (और ज्ञानी के भावास्रव का अभाव होने से, द्रव्यास्रव नवीन कर्मों के आस्रवण के कारण नहीं होते इसलिए इस दृष्टि से भी ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव है।) ।।१६९।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**भावास्रव-अभावम् प्रपन्न:**] भावास्रवों के अभाव को प्राप्त और [**द्रव्यास्रवेभ्य: स्वत: एव भिन्न:**] द्रव्यास्रवों से तो स्वभाव से ही भिन्न [**अयं ज्ञानी**] यह ज्ञानी [**सदा ज्ञानमय-एक-भाव:**] जो कि सदा एक ज्ञानमय भाव वाला है [**निरास्रव:**] निरास्रव ही है, [**एक: ज्ञायक: एव**] मात्र एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ :– ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह स्वरूप भावास्रव का अभाव हुआ है और वह द्रव्यास्रव से तो सदा ही स्वयमेव भिन्न ही है, क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्‌गलपरिणाम स्वरूप है और ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है। इसप्रकार ज्ञानी के भावास्रव तथा द्रव्यास्रव का अभाव होने से वह निरास्रव ही है।।११५।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञानी के नये द्रव्यास्रव का अभाव दिखाते हैं – **पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स** पृथ्वी पिण्डसमान अकिंचित्कर होते हैं। वे कौन हैं ? वे पूर्वनिबद्ध मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय हैं। किसके अकिंचित्कर होते हैं ? उस वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के अकिंचित्कर होते हैं; क्योंकि वे रागादि के जनक नहीं होते हैं, इसकारण नवीन द्रव्यकर्मों का बन्ध नहीं होता है। तो पृथ्वी पिण्डसमान होते हुए किस रूप से रहते हैं ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेवि णाणिस्स** वे सभी कार्माणशरीर रूप से ही बद्ध रहते हैं और रागादिभाव परिणत जीव रूप नहीं रहते हैं। किसके नहीं रहते हैं ? निर्मल आत्मानुभूति लक्षणवाले भेद-विज्ञानी जीव के नहीं रहते हैं। कुछ विशेष कहते हैं – मुट्ठी में रखे हुए विष की तरह यद्यपि द्रव्यप्रत्यय कार्माण शरीर रूप रहते हैं, तथापि वे उदय के अभाव में सुख-दुख विकृति रूप बाधा नहीं करते

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् –

चउविह अणेगभेयं बंधंते णाण-दंसण-गुणेहिं।
समए समए जम्हा तेण अबंधो ति णाणी दु॥१७०॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु॥१७०॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म बध्नंति, तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः॥१७०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति पृच्छति – **चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसण-गुणेहिं** चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वम्। चतुर्विधा मूलप्रत्ययाः कर्तारः ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविधं कर्म कुर्वन्ति। काभ्यां कृत्वा ? ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्। दर्शनज्ञानगुणौ कथं बंधकारणभूतौ भवतः ? इति चेत् – अयमत्र भावः, द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः संतः जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयंति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बंधकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयम् अज्ञानमेव भण्यते। तत् एव '**अणाणदंसणगुणेहिं**' इति पाठान्तरं केचन पठंति। **समए समए जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु** समये समये यस्मात् प्रत्ययाः कर्तारः। ज्ञानदर्शनगुणं रागाद्यज्ञानभावपरिणतं कृत्वा नवतरं कर्म कुर्वंति। तेन कारणेन भेदज्ञानी बंधको न भवति। किंतु ज्ञानदर्शनरंजकत्वेन प्रत्यया एव बंधकाः इति ज्ञानिनो निरास्रवत्वं सिद्धम्॥१७०॥

हैं। उस कारण ज्ञानी जीव के नवीन कर्मों के आस्रव का अभाव है – ऐसा भावार्थ है। इसतरह राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों के विशेष विवरण रूप से स्वतन्त्र तीन गाथाएँ पूर्ण हुई॥१६९॥

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :–

चउविधास्रव समय-समय जु, ज्ञान-दर्शन गुणहि से।
बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है॥१७०॥

गाथार्थ :– [**यस्मात्**] क्योंकि [**चतुर्विधाः**] चार प्रकार के द्रव्यास्रव [**ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्**] ज्ञान-दर्शन गुणों के द्वारा [**समये-समये**] समय-समय पर [**अनेकभेदं**] अनेक प्रकार का कर्म [**बध्नंति**] बाँधते हैं [**तेन**] इसलिए [**ज्ञानी तु**] ज्ञानी तो [**अबंधः इति**] अबन्ध है।

टीका :– पहले, ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव के कारण निरास्रव ही है, परन्तु उसे भी जो द्रव्यप्रत्यय प्रति समय अनेक प्रकार का पुद्गलकर्म बाँधते हैं, वहाँ, ज्ञान गुण का परिणमन ही कारण है॥१७०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञानी जीव निरास्रव कैसे हैं ? ऐसा पूछते हैं – **चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं** चहुविह इस बहुवचन शब्द में प्राकृत लक्षण के बल से ह्रस्वपना है। चार प्रकार के मूल प्रत्यय कर्ता होकर ज्ञानावरणादि भेदरूप अनेक कर्मों को करते हैं। किसके द्वारा कर्मों को करते हैं ? ज्ञान-दर्शन गुणों के द्वारा कर्मों को करते हैं। ज्ञान एवं दर्शन किसप्रकार बंध के कारण रूप हैं – ऐसा पूछने पर

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत् –

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः।।१७१।।

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।।१७१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति पुनरपि पृच्छति – **जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो** यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति। तस्मात् जघन्यत्वादेव ज्ञानगुणात् सकाशात्, अन्तर्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्नोति जीवः। ततः कारणात् अन्यत्वं सविकल्पकपर्यायांतरं परिणमति। स कः ? कर्ता। ज्ञानगुणः। **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बंधको भणितः। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्। **जघन्यात् कोऽर्थः ?** जघन्यात् मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुणः कर्ता मिथ्यापर्यायं त्यक्त्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्वं परिणमति। **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अबंधको भणित इत्यभिप्रायः।।१७१।।

कहते हैं। यहाँ यह भाव है कि द्रव्य प्रत्ययों के उदय में आने पर जीव के ज्ञानगुण एवं दर्शनगुण दोनों रागादि अज्ञानभाव से परिणमन करते हैं। तब रागादि अज्ञान भावरूप परिणत ज्ञान एवं दर्शन दोनों गुण बंध के कारण होते हैं; किन्तु वस्तुतः रागादि अज्ञान भाव से परिणत ज्ञान एवं दर्शन दोनों गुणों को अज्ञान ही कहा जाता है। इसे ही कोई जन **'अणाणदंसणगुणेहिं'** इसप्रकार पाठान्तर भी पढ़ते हैं। **समए समए जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु** क्योंकि प्रतिसमय प्रत्यय कर्ता हैं। ज्ञान-दर्शन गुण को रागादि अज्ञानभावरूप परिणत करके नवीन कर्मों को करते हैं। इसकारण से भेदज्ञानी बंधक नहीं है; किन्तु ज्ञान-दर्शन के रंजकपने से प्रत्यय ही बंधक हैं, इसतरह ज्ञानी के निरास्रवपना सिद्ध हुआ।।१७०।।

....

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे है ? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं :–

जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञान का।
फिर फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहि से बंधक कहा।।१७१।।

गाथार्थ :– [**यस्मात् तु**] क्योंकि [**ज्ञानगुणः**] ज्ञानगुण, [**जघन्यात् ज्ञानगुणात्**] जघन्य ज्ञानगुण के कारण [**पुनरपि**] फिर से भी [**अन्यत्वं**] अन्यरूप से [**परिणमते**] परिणमन करता है, [**तेन तु**] इसलिए [**सः**] वह (ज्ञानगुण) [**बंधकः**] कर्मों का बन्धक [**भणितः**] कहा गया है।

टीका :– जबतक ज्ञानगुण का जघन्यभाव है (क्षायोपशमिक भाव है) तबतक वह (ज्ञानगुण) अन्तर्मुहूर्त में विपरिणाम को प्राप्त होता है इसलिए पुनः पुनः उसका अन्यरूप परिणमन होता है। वह (ज्ञानगुण

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत् –

दंसण-णाण-चरित्तं जं परिणमदे जहण्ण-भावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गल-कम्मेण विविहेण ।।१७२।।

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ।।१७२।।

यो हि ज्ञानी स [1]बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात्। अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति। ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ।।१७२।।

का जघन्यभाव से परिणमन), यथाख्यातचारित्र अवस्था के नीचे अवश्यम्भावी राग का सद्भाव होने से, बन्ध का कारण ही है।

भावार्थ :– क्षायोपशमिक ज्ञान एक ज्ञेय पर अंतर्मुहूर्त ही ठहरता है, फिर वह अवश्य ही अन्य ज्ञेय को अवलम्बता है; स्वरूप में भी वह अंतर्मुहूर्त ही टिक सकता है, फिर वह विपरिणाम को प्राप्त होता है। इसलिए ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा सविकल्प दशा में हो या निर्विकल्प अनुभवदशा में हो उसे यथाख्यातचारित्र अवस्था होने से पूर्व अवश्य ही रागभाव का सद्भाव होता है; और राग होने से बन्ध भी होता है। इसलिए ज्ञानगुण के जघन्य भाव को बन्ध का हेतु कहा गया है ।।१७१।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञानगुण का परिणाम किसप्रकार से बन्ध का हेतु है ऐसा फिर से पूछते हैं – **जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो** क्योंकि यथाख्यातचारित्र से पहले जघन्य या हीनदशारूप या सकषायरूप ज्ञानगुण है। उसीकारण ज्ञानगुण की जघन्यता होने से जीव, निर्विकल्पसमाधि में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक ठहर नहीं सकता है, इसकारण शीघ्र ही अन्य सविकल्प पर्यायरूप परिणमन करता है। वह परिणमन कौन करता है ? ज्ञानगुण करता है। **तेण दु सो बंधगो भणिदो** उस सविकल्प कषायभाव से ज्ञानगुण को बंधक कहा गया है। अथवा द्वितीय व्याख्यान यह है कि जघन्य से क्या अर्थ है ? जघन्य से अर्थात् मिथ्यादृष्टि ज्ञानगुण से काललब्धि वश सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ज्ञानगुण कर्ता मिथ्यापर्याय को छोड़कर उससे अन्य सम्यग्ज्ञानरूप परिणमन करता है। **तेण दु सो बंधगो भणिदो** इस कारण उस ज्ञानगुण को अथवा सम्यग्ज्ञान परिणत जीव को अबंधक कहा है – ऐसा आशय है ।।१७१।।

अब पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुण का जघन्यभाव बन्ध का कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं :–

---

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तते, प्रर्वतमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवन्ति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमन्तरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिंदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्यभाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्म से बंधात है ॥१७२॥

गाथार्थ :– [**यत्**] क्योंकि [**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [**जघन्य भावेन**] जघन्य भाव से [**परिणमते**] परिणमन करते हैं [**तेन तु**] इसलिए [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**विविधेन**] अनेक प्रकार के [**पुद्गलकर्मणा**] पुद्गलकर्म से [**बध्यते**] बँधता है।

टीका :– जो वास्तव में ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) राग-द्वेष-मोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है, इसलिए वह निरास्रव ही है; परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि वह ज्ञानी जबतक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने, जानने और आचरण करने में अशक्त वर्तता हुआ जघन्यभाव से ही ज्ञान को देखता, जानता और आचरण करता है तबतक उसे भी, जघन्यभाव की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा (जघन्यभाव अन्य प्रकार से नहीं बनता इसलिए) जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के विपाक का सद्भाव होने से, पुद्गल कर्म का बन्ध होता है। इसलिए तबतक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना चाहिए जबतक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है उतना देखने, जानने और आचरण में भली-भाँति आ जाये तब से लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है।

भावार्थ :– ज्ञानी के बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से वह निरास्रव ही है। परन्तु जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है तबतक वह ज्ञानी ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है; किन्तु जघन्यभाव से देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है; इससे यह ज्ञात होता है कि उस ज्ञानी के अभी अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक का विपाक (चारित्रमोह सम्बन्धी राग-द्वेष) विद्यमान है और इससे उसके बन्ध भी होता है। इसलिए उसे यह उपदेश है कि जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक निरन्तर ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिए, ज्ञान को ही देखना चाहिए, ज्ञान को ही जानना चाहिए और ज्ञान का ही आचरण करना चाहिए। इसी मार्ग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन बढ़ता जाता है और ऐसा करते-करते केवलज्ञान प्रगट होता है। जब केवलज्ञान प्रगटता है तब से आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकार से निरास्रव है। जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है तबतक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी, बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवक्षा की विचित्रता है। अपेक्षा से समझने पर यह सर्व कथन यथार्थ है ॥१७२॥

(अनुष्टुभ्)

सर्वस्यामेव जीवंत्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ।।११७।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा**] आत्मा जब ज्ञानी होता है तब [**स्वयं**] स्वयं [**निजबुद्धिपूर्वम् समग्रं रागं**] अपने समस्त बुद्धिपूर्वक राग को [**अनिशं**] निरन्तर [**संन्यस्यन्**] छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ [**अबुद्धिपूर्वम्**] और जो अबुद्धिपूर्वक राग है [**तं अपि**] उसे भी [**जेतुं**] जीतने के लिए [**बारम्बारम्**] बारम्बार [**स्वशक्तिं स्पृशन्**] (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्ति को स्पर्श करता हुआ और (इसप्रकार) [**सकलां परवृत्तिम् एव उच्छिन्दन्**] समस्त परवृत्ति को – परपरिणति को उखाड़ता हुआ [**ज्ञानस्य पूर्णः भवन्**] ज्ञान के पूर्णभावरूप होता हुआ, [**हि**] वास्तव में [**नित्यनिरास्रवः भवति**] सदा निरास्रव है।

भावार्थ :– ज्ञानी ने समस्त राग को हेय जाना है। वह राग को मिटाने के लिए उद्यम किया करता है; उसके आस्रवभाव की भावना का अभिप्राय नहीं है; इसलिए वह सदा निरास्रव ही कहलाता है। परवृत्ति (परपरिणति) दो प्रकार की है – अश्रद्धारूप और अस्थिरतारूप; ज्ञानी ने अश्रद्धारूप परवृत्ति को छोड़ दिया है और वह अस्थिरतारूप परवृत्ति को जीतने के लिए निजशक्ति को बारम्बार स्पर्श करता है अर्थात् परिणति को स्वरूप के प्रति बारम्बार उन्मुख किया करता है। इसप्रकार सकल परवृत्ति को उखाड़ करके केवलज्ञान प्रगट करता है। 'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इसप्रकार है – जो रागादिपरिणाम इच्छा सहित होते हैं सो बुद्धिपूर्वक हैं और जो इच्छा रहित – परनिमित्त की बलवत्ता से होते हैं सो अबुद्धिपूर्वक हैं। ज्ञानी के जो रागादि परिणाम होते हैं वे सभी अबुद्धिपूर्वक ही हैं; सविकल्प दशा में होनेवाले रागादि परिणाम ज्ञानी को ज्ञात तो हैं तथापि वे अबुद्धिपूर्वक हैं, क्योंकि वे बिना ही इच्छा के होते हैं।

(पण्डित राजमल्लजी ने इस कलश की टीका करते हुए 'बुद्धिपूर्वक' और 'अबुद्धिपूर्वक' का अर्थ इसप्रकार किया है – जो रागादि परिणाम मन के द्वारा, बाह्य विषयों का आलम्बन लेकर प्रवर्तते हैं और जो प्रवर्तते हुए जीव को निज को ज्ञात होते हैं तथा दूसरों को भी अनुमान से ज्ञात होते हैं वे परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं; और जो रागादि परिणाम इन्द्रिय-मन के व्यापार के अतिरिक्त मात्र मोहोदय (चारित्रमोह के उदय से) के निमित्त से होते हैं तथा जीव को ज्ञात नहीं होते वे अबुद्धिपूर्वक हैं। इन अबुद्धिपूर्वक परिणामों को प्रत्यक्ष ज्ञानी जानता है और उनके अविनाभावी चिन्हों से वे अनुमान से भी ज्ञात होते हैं।)।।११६।।

अब शिष्य की आशंका का श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**सर्वस्याम् एव द्रव्यप्रत्ययसंततौ जीवन्त्यां**] ज्ञानी के समस्त द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान होने पर भी [**कुतः**] यह क्यों कहा कि [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**नित्यम् एव**] सदा ही [**निरास्रवः**] निरास्रव है ? [**इति चेत् मतिः**] यदि तेरी यह मति (आशंका) है तो अब उसका उत्तर कहा जाता है।।११७।।

सव्वे पुव्व-णिबद्धा दु पच्चया अत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्म-भावेण ॥१७३॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादि-भावेहिं ॥१७४॥
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७५॥
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यथाख्यातचारित्रादधस्तादंतर्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्यत इति भणितं पूर्वम्। एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति चेत् – **दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण** ज्ञानी तावदीहापूर्वकरागादिविकल्पकरणाभावान्निरास्रव एव। किंतु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वासमर्थः तावत्कालं तस्यापि संबंधि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं च तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन अनीहितवृत्त्या परिणमति। **णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण** तेन कारणेन स तु भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परंपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादि पुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते। इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा तावत्पर्यंतं शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च। यावत् तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्णः केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः। एवं ज्ञानिनो भावास्रवस्वरूपनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१७२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यथाख्यात चारित्र से नीचे के गुणस्थानों में अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक निर्विकल्प समाधि में स्थिर नहीं रह सकता है, ऐसा पहले कहा गया है। ऐसा होने पर सम्यग्ज्ञानी जीव निरास्रव कैसे है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं – **दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण** प्रथम तो इच्छापूर्वक रागादि विकल्प करने का अभाव होने से ज्ञानी निरास्रव ही है। परन्तु वह भी जितने समय तक परमसमाधिरूप अनुष्ठान के अभाव में शुद्धात्मस्वरूप को देखने के लिए, जानने के लिए, रमण करने के लिए असमर्थ है, उतने समय तक उसके भी जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उनका जघन्यभावरूप से अर्थात् कषायभावरूप से अनिच्छावृत्ति रूप से परिणमन करता है। **णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण** उस कारण से वह भेदज्ञानी अपने गुणस्थान अनुसार परम्परा मुक्ति के कारण स्वरूप तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति आदि पुद्गल रूप विविध पुण्यकर्मों से बांधा जाता है। ऐसा जानकर, ख्याति, पूजा, लाभ, भोग, आकांक्षा रूप निदान बन्ध आदि विभाव परिणाम के त्याग से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तब तक शुद्धात्म स्वरूप को देखना चाहिए, जानना चाहिए और अनुचरण करना चाहिए, जबतक कि उसके शुद्धात्मस्वरूप के परिपूर्ण केवलज्ञानरूप भाव दिखाई दें, जानने में आवें और अनुचरण करने में आवें – ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार ज्ञानी के भावास्रव नहीं होते हैं, ऐसे कथन की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥१७२॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ॥१७३॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥१७४॥
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१७५॥
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥१७६॥

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभाव-

---

अब, पूर्वोक्त आशंका के समाधानार्थ चार गाथाएँ कहते हैं :–

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टि के।
उपयोग के प्रायोग्य बंधन, कर्मभावों से करे ॥१७३॥

अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बांधते।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकार के ॥१७४॥

सत्ता विषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुष को।
उपभोग्य बनते वे हि बाँधें, यौवना ज्यों पुरुष को ॥१७५॥

इस हेतु से सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे।
आसरवभाव अभाव में प्रत्यय नहीं बंधक कहे ॥१७६॥

गाथार्थ :– [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टि के [**सर्वे**] समस्त [**पूर्वनिबद्धाः तु**] पूर्वबद्ध [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय (द्रव्यास्रव) [**संति**] सत्तारूप में विद्यमान हैं वे [**उपयोगप्रायोग्यं**] उपयोग के प्रयोगानुसार, [**कर्मभावेन**] कर्मभाव के द्वारा (रागादि के द्वारा) [**बध्नंति**] नवीन बन्ध करते हैं। वे प्रत्यय, [**निरुभोग्यानि**] निरुपभोग्य [**भूत्वा**] होकर फिर [**यथा**] जैसे [**उपभोग्यानि**] उपभोग्य [**भवंति**] होते हैं [**तथा**] उसीप्रकार, [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादि भाव से [**सप्ताष्टविधानि भूतानि**] सात-आठ प्रकार से होनेवाले कर्मों को [**बध्नाति**] बाँधते हैं [**संति तु**] सत्ता-अवस्था में वे [**निरुपभोग्यानि**] निरुपभोग्य हैं अर्थात् भोगनेयोग्य नहीं है [**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगत में [**बाला स्त्री**] बाल स्त्री [**पुरुषस्य**] पुरुष के लिये निरुपभोग्य है। [**यथा**] जैसे [**तरुणी स्त्री**] तरुण स्त्री – युवती [**नरस्य**] पुरुष को [**बध्नाति**] बाँध लेती है, उसीप्रकार [**तानि**] वे [**उपभोग्यानि**] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होने पर बन्धन करते हैं। [**एतेन तु कारणेन**] इसकारण से [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि को [**अबंधकः**] अबन्धक [**भणितः**] कहा है, क्योंकि [**आस्रवभावाभावे**] आस्रवभाव के अभाव में [**प्रत्ययाः**] प्रत्ययों को [**बन्धकाः**] (कर्मों का) बन्धक [**न भणिताः**] नहीं कहा है।

सद्भावादेव बध्नंति, ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्यया: पूर्वबद्धा: संति, संतु, तथापि स तु निरास्रव एव, कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबंधहेतुत्वात् ।।१७३-१७६।।

टीका :– जैसे पहले तो तत्काल की परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है किन्तु यौवन को प्राप्त वह पहले की परिणीत स्त्री यौवनावस्था में उपभोग्य होती है और जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार वह पुरुष के रागभाव के कारण ही पुरुष को बन्धन करती है – वश में करती है, इसीप्रकार जो पहले तो सत्तावस्था में अनुपभोग्य हैं किन्तु विपाक-अवस्था में उपभोग योग्य होते हैं ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होने पर भी वे जिसप्रकार उपभोग्य हों तदनुसार (अर्थात् उपयोग के प्रयोगानुसार), कर्मोदय के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव के कारण ही बन्धन करते हैं। इसलिए ज्ञानी के यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्मोदय का कार्य जो राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव है उसके अभाव में द्रव्यप्रत्यय बन्ध के कारण नहीं है।(जैसे यदि पुरुष को रागभाव हो तो ही यौवनावस्था को प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है, इसीप्रकार जीव के आस्रवभाव हो तब ही उदयप्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बन्ध कर सकते हैं।)

भावार्थ :– द्रव्यास्रवों के उदय और जीव के राग-द्वेष-मोहभाव का निमित्त-नैमित्तिकभाव है। द्रव्यास्रवों के उदय में युक्त हुये बिना जीव के भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिए बन्ध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवों का उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिसप्रकार उसे भावास्रव हो उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्ध के कारण होते हैं। यदि जीव भावास्रव न करे तो उसके नवीन बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से उसे उसप्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता। (क्षायिक सम्यग्दृष्टि के सत्ता में से मिथ्यात्व का क्षय होते समय ही अनन्तानुबन्धी कषाय का तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योगभाव का भी क्षय हो गया होता है, इसलिए उसे उसप्रकार का बन्ध नहीं होता; औपशमिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय मात्र उपशम-में सत्ता में ही होने से सत्ता में रहा हुआ द्रव्य उदय में आये बिना उसप्रकार के बन्ध का कारण नहीं होता; और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को भी सम्यक्त्वमोहनीय के अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाक में (उदय में) नहीं आतीं इसलिए उसप्रकार का बन्ध नहीं होता।) अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि के जो चारित्रमोह का उदय विद्यमान है उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है उसीप्रकार उसे नवीन बन्ध होता है; इसलिए गुणस्थानों के वर्णन में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में अमुक-अमुक प्रकृतियों का बंध कहा है; किन्तु यह बंध अल्प है इसलिए उसे सामान्य संसार की अपेक्षा से बंध में नहीं गिना जाता। सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय में स्वामित्वभाव से युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूप से युक्त होता है और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टि में युक्तता ही नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा गया है। जबतक जीव कर्म का स्वामित्व रखकर कर्मोदय में परिणमित होता है तबतक ही वह कर्म का कर्ता कहलाता है; उदय का ज्ञाता-दृष्टा होकर पर के निमित्त से मात्र अस्थिरतारूप

(मालिनी)

विजहति न हि सत्तां प्रत्यया: पूर्वबद्धा:
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपा:।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिन: कर्मबन्ध:॥११८॥

(अनुष्टुभ्)

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभव:।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम्॥११९॥

परिणमित होता है तब कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है। इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि होने के बाद चारित्रमोह के उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है। जबतक मिथ्यात्व का उदय है और उसमें युक्त होकर जीव राग-द्वेष-मोहभाव से परिणमित होता है तबतक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है। इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बन्ध-अबन्ध का यह भेद जानना। और शुद्ध स्वरूप में लीन रहने के अभ्यास द्वारा केवलज्ञान प्रगट होने से जब जीव साक्षात् सम्पूर्णज्ञानी होता है तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है यह पहले कहा जा चुका है॥१७३-१७६॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[यद्यपि]** यद्यपि **[समयम् अनुसरन्त:]** अपने-अपने समय का अनुसरण करनेवाले (अपने-अपने समय में उदय में आनेवाले) **[पूर्वबद्धा:]** पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान-अवस्था में बँधे हुए) **[द्रव्यरूपा: प्रत्यया:]** द्रव्यरूप प्रत्यय **[सत्तां]** अपनी सत्ता को **[न हि विजहति]** नहीं छोड़ते (वे सत्ता में रहते हैं), **[तदपि]** तथापि **[सकलरागद्वेषमोहव्युदासात्]** सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से **[ज्ञानिन:]** ज्ञानी के **[कर्मबन्ध:]** कर्मबन्ध **[जातु]** कदापि **[अवतरति न]** अवतार नहीं धरता – उत्पन्न ही नहीं होते।

भावार्थ :– ज्ञानी के भी पहले अज्ञान-अवस्था में बाँधे हुए द्रव्यास्रव सत्ता-अवस्था में विद्यमान हैं और वे अपने उदयकाल में उदय में आते रहते हैं; किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानी के समस्त राग-द्वेष-मोह भावों का अभाव है। यहाँ समस्त राग-द्वेष-मोह का अभाव बुद्धिपूर्वक राग-द्वेष-मोह की अपेक्षा से समझना चाहिए॥११८॥

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी दो गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[यत्]** क्योंकि **[ज्ञानिन: रागद्वेषविमोहानां असंभव:]** ज्ञानियों के राग-द्वेष-मोह का असम्भव है **[तत: एव]** इसलिए **[अस्य बन्ध: न]** उनके बन्ध नहीं है; **[हि]** कारण कि **[ते बन्धस्य कारणम्]** वे (राग-द्वेष-मोह) ही बन्ध के कारण हैं॥११९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरास्रव: ? इति चेत् – **सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स** सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्यया: संति तावत्सम्यग्दृष्टे:। **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** यद्यपि विद्यंते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्यं तत्कालोदयप्रायोग्यकर्मतापन्नं कर्म बध्नंति। केन कृत्वा ? भावेन रागादिपरिणामेन, न चास्तित्वमात्रेण बंधकारणं भवंतीति। **संतावि णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स** संत्यपि विद्यमानान्यपि कर्माणि। क्वचित्प्राकृते लिंगव्यभिचारोऽपि, इति वचनान्नपुंसकलिंगे पुल्लिङ्गनिर्देश:। पुल्लिङ्गेऽपि नपुंसकलिंगनिर्देश:। कारके कारकांतरनिर्देशो भवति, इति। तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवंति। केन दृष्टांतेन? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य। **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवंति। रागादिभावेन नवतराणि च बध्नंति। कथं ? यथा तरुणी स्त्री नरस्येति। अथ तमेवार्थं दृढयति। उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकालं प्राप्य यथा यथा भोग्यानि भवंति, तथा तथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबंधकाले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नंति, न चास्तित्वमात्रेणेति। रागादिभावास्रवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बंधकारणं न भवंति। एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबंधको भणित इति।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब द्रव्यप्रत्ययों के विद्यमान होने पर ज्ञानी कैसे निरास्रव है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं– **सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स** सम्यग्दृष्टि के सभी पूर्वनिबद्ध प्रत्यय हैं। **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** यद्यपि वे प्रत्यय सत्ता में विद्यमान रहते हैं तथापि वे उपयोग में आने पर तत्काल उदय को प्राप्त होने पर (आत्मा में राग-द्वेष आदि परिणामों के होने से) कर्मबन्ध को करते हैं। क्या करके ? रागादिभाव रूप से परिणमन करके कर्मबन्ध करते हैं और सत्ता में विद्यमान होने मात्र से बन्ध के कारण नहीं होते हैं। **संतावि णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स** कर्मों के विद्यमान होने पर भी (कभी-कभी प्राकृत में लिङ्ग व्यभिचार भी होता है, ऐसा वचन होने से नपुंसकलिङ्ग के स्थान में पुल्लिंग और पुल्लिंग के स्थान में नपुंसक लिङ्ग का और कारक में कारकान्तर का निर्देश होता है) वे कर्म उदय से पूर्व निरुपभोग्य होते हैं। किस दृष्टान्त की तरह निरुपभोग्य होते हैं। जैसे बालस्त्री पुरुष के भोगने योग्य नहीं होती है। **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स** वे कर्म उदयकाल में उपभोग्य होते हैं और रागादिभाव से नवीन कर्म बंधते हैं। कैसे बंधते हैं ? जैसे तरूण स्त्री पुरुष को रागभाव से बांध लेती है।

अब उस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं – उदय से पूर्व कर्म निरुपभोग्य होकर अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार उदयकाल को प्राप्त होने पर जैसे-जैसे कर्म भोगने योग्य होते हैं, वैसे-वैसे जीव रागादि भावरूप परिणाम के द्वारा आयुबन्ध के काल में आठ प्रकार के कर्मों को और शेषकाल में सात प्रकार के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रूप पर्याय से नवीन कर्मों को बांधते हैं, अस्तित्व में रहने मात्र से कर्मबंध नहीं करते हैं। जीव के रागादिभावरूप आस्रव के अभाव में द्रव्यप्रत्यय अस्तित्व मात्र से बन्ध के कारण नहीं होते हैं। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव अबन्धक कहा गया है।

इसका कुछ विस्तार यह है कि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थान में सरागसम्यग्दृष्टि, तैतालीस कर्म प्रकृतियों का अबन्धक है। शेष बन्ध योग्य में सतत्तर कर्म प्रकृतियों का अल्प स्थिति एवं अल्प अनुभाग रूप बन्ध करनेवाला होने पर भी संसार की स्थिति को घटाता है। जैसा कि सिद्धान्त में कहा है –

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति॥१७८॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टे:।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति॥१७७॥
हेतुश्चतुर्विकल्प: अष्टविकल्पस्य कारणं भणितम्।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते॥१७८॥

किंच विस्तर:, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टि: त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबंधक:। सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति। तथा चोक्तं सिद्धांते –''**द्वादशांगावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणाम: केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकरणानि भवंति**'' तद्यथा – तत्र द्वादशांगश्रुतविषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषय:। निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदनलक्षणं चेति। भक्ति: पुन: सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा। निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति। न निवृत्तिरनिवृत्ति: शुद्धात्मस्वरूपादचलनम् एकाग्रपरिणतिरिति। तत्रैवं सति द्वादशांगावगमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जातम्। भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वं जातम्। अनिवृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानंतरं वीतरागचारित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छित्तिकारणानि भवंति। केषां ? छद्मस्थानामिति; केवलिनां तु भगवतां दंडकपाटप्रतरलोकपूरणरूप: केवलिसमुद्घात: संसारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थ:। एवं द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्रवाभावे सति बंधकारणं न भवंतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम्॥१७३-१७६॥

''द्वादशांग का ज्ञान, उसमें तीव्रभक्ति, अनिवृत्ति-अविचल परिणाम और केवली समुद्घात – ये चार कारण संसार स्थिति के छेद करने वाले होते हैं।''

वह इसप्रकार है कि वहाँ व्यवहार से द्वादशांगश्रुत सम्बन्धी बाह्य विषयों का अवगम (जीवादि छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ आदि का) ज्ञान है तथा निश्चय से वीतराग स्वसंवेदन लक्षण वाला अनुभवज्ञान है। भक्ति को सम्यक्त्व कहा जाता है, वहाँ व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के पंचपरमेष्ठी की आराधनारूप भक्ति – सम्यक्त्व है और निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्धात्म तत्त्व की भावना रूप भक्ति – सम्यक्त्व है। शुद्धात्म स्वरूप से अचल एकाग्र परिणति, उससे न निवृत्ति अर्थात् च्युत न होना अनिवृत्ति है। वहाँ ऐसा होने पर निश्चय-व्यवहाररूप द्वादशांग का ज्ञान होता है। भक्ति अर्थात् निश्चय-व्यवहाररूप सम्यक्त्व हुआ। अनिवृत्ति परिणाम से सराग चारित्र के अनन्तर होनेवाला वीतराग चारित्र हुआ। इस तरह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, भेद-अभेद रत्नत्रय रूप से संसार के क्षय के कारण होते हैं। किन जीवों के क्षय होता है ? छद्मस्थों के क्षय होता है। तथा केवली भगवन्तों के दण्ड, कपाट, प्रतर एवं लोकपूरण रूप केवली समुद्घात संसारक्षय का कारण होता है। इसप्रकार द्रव्यप्रत्यय के विद्यमान होने पर भी रागादि भावास्रव के अभाव होने पर वे प्रत्यय बन्ध के कारण नहीं हैं। इसप्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१७३-१७६॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः। तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्‌गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति, द्रव्यप्रत्ययानां पुद्‌गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात्। ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः॥१७७-१७८॥

अब इस अर्थ की समर्थक दो गाथाएँ कहते हैं :–

नहिं राग-द्वेष, न मोह वे आस्रव नहीं सद्‌दृष्टि के।
इससे हि आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बने॥१७७॥

हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकार का कारण कहा।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बंध ना॥१७८॥

गाथार्थ :– [**रागः**] राग, [**द्वेषः**] द्वेष [**च मोहः**] और मोह [**आस्रवाः**] यह आस्रव [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टि के [**न संति**] नहीं होते [**तस्मात्**] इसलिए [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभाव के बिना [**प्रत्ययाः**] द्रव्यप्रत्यय [**हेतवः**] कर्मबन्ध के कारण [**न भवंति**] नहीं होते। [**चतुर्विकल्पः हेतुः**] (मिथ्यात्वादि) चार प्रकार के हेतु [**अष्टविकल्पस्य**] आठ प्रकार के कर्मों के [**कारण**] कारण [**भणितम्**] कहे गये हैं, [**च**] और [**तेषाम् अपि**] उनके भी [**रागादयः**] (जीव के) रागादिभाव कारण हैं, [**तेषाम् अभावे**] इसलिए उनके अभाव में [**न बध्यंते**] कर्म नहीं बँधते। (इसलिए सम्यग्दृष्टि के बन्ध नहीं है।)

टीका :– सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष-मोह नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टित्व की अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता); राग-द्वेष-मोह के अभाव में उसे (सम्यग्दृष्टि को) द्रव्यप्रत्यय पुद्‌गलकर्म का (अर्थात् पुद्‌गलकर्म के बन्धन का) हेतुत्व धारण नहीं करते; क्योंकि द्रव्यप्रत्ययों के पुद्‌गलकर्म के हेतुत्व के हेतु रागादिक हैं; इसलिए हेतु के, हेतु के अभाव में हेतुमान का (अर्थात् कारण का जो कारण है उसके अभाव में कार्य का) अभाव प्रसिद्ध है इसलिए ज्ञानी के बन्ध नहीं है।

भावार्थ :– यहाँ, राग-द्वेष-मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो सकता ऐसा अविनाभावी नियम बताया है सो यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादि का अभाव समझना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादि को ही रागादि माना गया है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी राग रह जाता है, उसे यहाँ नहीं लिया है; वह गौण है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के, भावास्रव का अर्थात् राग-द्वेष-मोह का अभाव है। द्रव्यास्रवों को बन्ध का हेतु होने में हेतुभूत जो राग-द्वेष-मोह हैं, उनका सम्यग्दृष्टि के अभाव होने से द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते, और द्रव्यास्रव बन्ध के हेतु नहीं होते इसलिए सम्यग्दृष्टि के – ज्ञानी के बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा जाता है वह योग्य ही है। 'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओं को लेकर प्रयुक्त होता है –

(१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है; इसप्रकार सामान्य ज्ञान की अपेक्षा से सभी

(वसन्ततिलका)

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्रमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः
पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारम्॥१२०॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥१२१॥

जीव ज्ञानी हैं। (२) यदि सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टि को सम्यग्ज्ञान होता है इसलिए उस अपेक्षा से वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञान की अपेक्षा से विचार किया जाये तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं, क्योंकि सिद्धान्त में पाँच भावों का कथन करने पर बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसप्रकार अनेकान्त से अपेक्षा के द्वारा विधि-निषेध निर्बाधरूप से सिद्ध होता है; सर्वथा एकान्त से कुछ भी सिद्ध नहीं होता॥१७७-१७८॥

अब, ज्ञानी को बन्ध नहीं होता – यह शुद्धनय का माहात्म्य है, इसलिए शुद्धनय की महिमा दर्शक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[उद्धतबोधचिह्नम् शुद्धनयम् अध्यास्य]** उद्धत ज्ञान (जो कि किसी के दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनय में रहकर अर्थात् शुद्धनय का आश्रय लेकर **[ये]** जो **[सदा एव]** सदा ही **[एकाग्र्यम् एव]** एकाग्रता का **[कलयन्ति]** अभ्यास करते हैं **[ते]** वे, **[सततं]** निरन्तर **[रागादिमुक्तमनसः भवन्तः]** रागादि से रहित चित्तवाले वर्तते हुए, **[बन्धविधुरं समयस्य सारम्]** बन्धरहित समय के सार को (अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को) **[पश्यन्ति]** देखते हैं – अनुभव करते हैं।

भावार्थ :– यहाँ शुद्धनय के द्वारा एकाग्रता का अभ्यास करने को कहा है। 'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ' – ऐसा जो आत्मद्रव्य का परिणमन वह शुद्धनय। ऐसे परिणमन के कारण वृत्ति ज्ञान की ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये सो एकाग्रता का अभ्यास है।

शुद्धनय श्रुतज्ञान का अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है इसलिए इस अपेक्षा से शुद्धनय के द्वारा होनेवाला शुद्धस्वरूप का अनुभव भी परोक्ष है और वह अनुभव एकदेश शुद्ध है इस अपेक्षा से उसे व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होने पर होता है॥१२०॥

अब यह कहते हैं कि जो शुद्धनय से च्युत होते हैं, वे कर्म बाँधते हैं :–

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यत एव कर्मबंधहेतुभूता रागद्वेषमोहा: ज्ञानिनो न सन्ति, तत एव तस्य कर्मबंधो नास्तीति कथयति– **रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स** रागद्वेषमोहा: सम्यग्दृष्टेर्न भवंति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति **हेतु:**। तथाहि, अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहा: सम्यग्दृष्टेर्न संतीति **पक्ष:**। कस्मात् ? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्य-पंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य –

श्लोकार्थ :– **[इह]** जगत में **[ये]** जो **[शुद्धनयत: प्रच्युत्य]** शुद्धनय से च्युत होकर **[पुन: एव तु]** पुन: **[रागादियोगम्]** रागादि के सम्बन्ध को **[उपयान्ति]** प्राप्त होते हैं **[ते]** ऐसे जीव, **[विमुक्तबोधा:]** जिन्होंने ज्ञान को छोड़ा है ऐसे होते हुए, **[पूर्वबद्धद्रव्यास्रवै:]** पूर्वबद्ध द्रव्यास्रव के द्वारा **[कर्मबन्धम्]** कर्मबन्ध को **[विभ्रति]** धारण करते हैं (कर्मों को बाँधते हैं) **[कृत-विचित्र-विकल्प-जालम्]** जो कि कर्मबन्ध अनेक प्रकार के विकल्पजाल को करता है (अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकार का है)।

भावार्थ :– शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमन से छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना। ऐसा होने पर, जीव के मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिक उत्पन्न होते हैं, जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्ध के कारण होते हैं और उससे अनेक प्रकार के कर्म बँधते हैं। इसप्रकार यहाँ शुद्धनय से च्युत होने का अर्थ शुद्धता की प्रतीति से (सम्यक्त्व से) च्युत होना समझना चाहिए। यहाँ उपयोग की अपेक्षा गौण है, शुद्धनय से च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोग से च्युत होना ऐसा अर्थ मुख्य नहीं है; क्योंकि शुद्धोपयोग रूप रहने का समय अल्प रहता है इसलिए मात्र अल्पकाल शुद्धोपयोगरूप रहकर और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयों में उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्व के बिना जो राग का अंश है वह अभिप्राय पूर्वक नहीं है इसलिए, ज्ञानी के मात्र अल्पबन्ध होता है और अल्पबन्ध संसार का कारण नहीं है। इसलिए यहाँ उपयोग की अपेक्षा मुख्य नहीं है।

अब यदि उपयोग की अपेक्षा ली जाये तो इसप्रकार अर्थ घटित होता है :–

यदि जीव शुद्धस्वरूप के निर्विकल्प अनुभव से छूटे, परन्तु सम्यक्त्व से न छूटे तो उसे चारित्रमोह के राग से कुछ बन्ध होता है। यद्यपि वह बन्ध अज्ञान के पक्ष में नहीं है तथापि वह बन्ध तो है ही। इसलिए उसे मिटाने के लिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को शुद्धनय से न छूटने का अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन रहने का उपदेश है। केवलज्ञान होने पर साक्षात् शुद्धनय होता है॥१२१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञानी के कर्मबन्ध के कारणरूप राग-द्वेष-मोह ही नहीं है, इसलिए ही उसके कर्मबन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं – **रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स** सम्यग्दृष्टि जीव के राग-द्वेष-मोह नहीं होते हैं, क्योंकि सम्यग्दृष्टिपने की इनसे अन्यथा-अनुपपत्ति है। (राग-द्वेष-मोह का अभाव किये बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता) – यह हेतु है।

उसका विस्तार ऐसा है – अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा मिथ्यात्व उदयजनित राग-द्वेष-मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं यह **पक्ष** है। किस कारण से नहीं होते ? केवलज्ञानादि अनन्तगुण सहित

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठसम्मत्तजुत्तस्स॥

इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति **हेतुः।** अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति **पक्षः।** कस्मात्? इति चेत्, निर्विकारपरमानन्दैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य; पंचमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति **हेतुः।** अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति **पक्षः।** कस्मादिति चेत् ? चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकंपादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य; षष्ठगुणस्थानरूपसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति **हेतुः** अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति **पक्षः।** कस्मात् ? इति चेत्, शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसंजातसहजानन्दैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति **हेतुः।** तथा चोक्तं– **आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतं। तृतीया संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः॥**

परमात्मा का उपादेयपना होने पर वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व एवं नौ पदार्थ की रुचि सहित तीन मूढ़ता आदि, पच्चीस दोष रहित तथा '**संवेओ णिव्वेओ...**' इस गाथा में कथित संवेग (धर्मानुराग), निर्वेद (भोगों से अरुचि), निन्दा (स्वयं अपनी भूल स्वीकार कर आत्मनिंदा करना), गर्हा (गुरुओं के समक्ष अपनी भूल स्वीकार करना), उपशम (हर्ष-विषाद में उद्विग्न नहीं होना), भक्ति (पंचपरमेष्ठी के गुणों में अनुराग रखना), वात्सल्य (साधर्मीप्रेम) तथा अनुकम्पा (दुखीजनों पर दया करना) इन आठ गुणोंवाला चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टिपने की अन्य प्रकार से असिद्धि है – यह **हेतु** है।

अथवा अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण नामक क्रोध-मान-माया-लोभ के उदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं है – यह **पक्ष** है। किस कारण से नहीं होते ? निर्विकार परमानन्द एक सुख लक्षणवाले परमात्मा का परम उपादेयपना होने पर छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ की रुचि सहित, तीन मूढ़ता आदि, पच्चीस दोषों से रहित तथा तदनुसार प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, देव, धर्म आदि के सम्बन्ध में आस्तिक्य की अभिव्यक्ति लक्षणवाले, पंचम गुणस्थान के योग्य देशचारित्र के अविनाभावी सराग सम्यक्त्व की अन्य प्रकार से असिद्धि है – यह **हेतु** है।

अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण नामक क्रोध-मान-माया-लोभ के उदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं। यह **पक्ष** है। किस कारण से नहीं होते ? चिदानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मा का उपादेयपना होने पर छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ की रुचि सहित, तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित, तदनुसार प्रशम, संवेग, अनुकम्पा देव-धर्म आदि के सम्बन्ध में आस्तिक्य की अभिव्यक्ति लक्षणवाले षष्ठम् गुणस्थानरूप सरागचारित्र के अविनाभावी सराग सम्यक्त्व की अन्य प्रकार से असिद्धि है – यह **हेतु** है।

अथवा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानावरण, सञ्ज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ के तीव्र

इति गाथापूर्वार्द्धे व्याख्यानं गतम्। **तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति** – यस्माद् गाथाया: पूर्वार्द्धकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न संति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावास्रवेण विना अस्तित्वमात्रेण उदयमात्रेण वा द्रव्यप्रत्यया: सम्यग्दृष्टेर्बन्धहेतवो न भवंतीति। **हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं** मिथ्यात्वाविरति-कषाययोगरूपचतुर्विधो हेतु: ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मण: कारणं भवति। **तेसिं पि य रागादी** तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययानाम् उदयागतानां जीवगतरागादिभावप्रत्यया: कारणं भवंति। कस्मात् ? इति चेत्, **तेसिमभावे ण बज्झंति** तेषां जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेषूदयागतेष्वपि वीतरागपरम-सामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यंते यत: कारणादिति। तत: स्थितं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्यया: कारणं, तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्यया: कारणमिति कारणकारण-व्याख्यानं ज्ञातव्यम्॥१७७-१७८॥

उदय से उत्पन्न प्रमाद के उत्पादक राग-द्वेष-मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं – यह **पक्ष** है। किस कारण से नहीं होते ? शुद्धबुद्ध एक स्वभाव परमात्मा का उपादेयपना होने से उसके योग्य स्वकीय शुद्धात्मा की समाधि से उत्पन्न सहजानन्द एक निज लक्षणरूप सुखानुभूतिमात्र स्वरूप अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व की अन्यप्रकार से असिद्धि है – यह **हेतु** है। जैसा कि कहा गया है –

आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतं।
तृतीया संयमं तुर्य्या यथाख्यातं क्रुधादय:॥

पहले मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी वाले क्रोध-मान-माया-लोभ, सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनों का, दूसरे अप्रत्याख्यानावरण कषाय अणुव्रत का, तीसरे प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल संयम का तथा चौथे संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती हैं। इसप्रकार गाथा के पूर्वार्द्ध में व्याख्यान पूर्ण हुआ।

तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति जिस कारण से गाथा के पूर्वार्द्ध में कथित क्रम से राग-द्वेष-मोह नहीं हैं, उसी कारण से रागादिरूप भावास्रव के बिना अस्तित्व मात्र अथवा उदयमात्र से द्रव्यप्रत्यय सम्यग्दृष्टि के बन्ध के हेतु नहीं होते हैं। **हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं** मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप चार प्रकार के हेतु ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकार के नवीन द्रव्यकर्मों के बन्ध के कारण हैं। **तेसिं पि य रागादी** उन उदयागत मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्ययों (के बंध) का कारण जीवगत रागादि भावप्रत्यय हैं। किस कारण से ? – ऐसा पूछने पर **तेसिमभावे ण बज्झंति** उन जीवगत रागादि भावप्रत्ययों का अभाव होने पर, द्रव्यप्रत्ययों के उदय में आने पर भी वीतराग परमसामायिक भावनारूप से परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षण रूप भेदज्ञान का सद्भाव होने पर कर्मों द्वारा जीव नहीं बंधता है। यही कारण है।

अत: सिद्ध है कि नवीन द्रव्य कर्मों के आस्रव का कारण उदयागत द्रव्यप्रत्यय हैं और उन द्रव्य प्रत्ययों का कारण जीवगत रागादिरूप भाव प्रत्यय हैं, इस तरह कारण के कारण का व्याख्यान जानना चाहिए॥१७७-१७८॥

....

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं :–

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेगविहं।
मंस-वसा-रुहिरादी भावे उदरग्गि-संजुत्तो ।।१७९।।
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते[१] जीवा ।।१८०।।

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम्।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ।।१७९।।
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम्।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ।।१८०।।

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य[२] हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्म बंधं परिणमयंति। न चैतद‍प्रसिद्धं, पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात् ।।१७९-१८०।।

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से।
बहुभेद मांस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमे ।।१७९।।
त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकाल निबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बांधे, कर्म, जो जीव शुद्धनय परिच्युत बने ।।१८०।।

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**पुरुषेण**] पुरुष के द्वारा [**गृहीतः**] ग्रहण किया हुआ [**आहारः**] जो आहार है [**सः**] वह [**उदराग्निसंयुक्तः**] उदराग्नि से संयुक्त होता हुआ [**अनेकविधम्**] अनेक प्रकार [**मांसवसारुधिरादीन्**] मांस, चर्बी, रुधिर आदि [**भावान्**] भावरूप [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**तथा तु**] इसीप्रकार [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियों के [**पूर्वं बद्धाः**] पूर्वबद्ध [**ये प्रत्ययाः**] जो द्रव्यास्रव हैं [**ते**] वे [**बहुविकल्पम्**] अनेक प्रकार के [**कर्म**] कर्म [**बध्नंति**] बाँधते हैं; [**ते जीवाः**] ऐसे जीव [**नयपरिहीनाः तु**] शुद्धनय से च्युत हैं, (ज्ञानी शुद्धनय से च्युत होवे तो उसके कर्म बँधते हैं।)

टीका :– जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है, इसलिए पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय, अपने (द्रव्यप्रत्ययों के) कर्मबन्ध के हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने पर हेतुमानभाव का (कार्यभाव का) अनिवार्यत्व होने से, ज्ञानावरणादि भाव से पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित करते हैं और यह अप्रसिद्ध भी नहीं है। (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत में प्रसिद्ध है – सर्व ज्ञात है); क्योंकि मनुष्य के द्वारा ग्रहण किये गये आहार को जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूप में परिणमित करती है – यह देखा जाता है।

भावार्थ :– जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत हो तब उसके रागादिभावों का सद्भाव होता है, रागादिभावों के निमित्त से द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं और इसलिए कार्मणवर्गणा बन्धरूप परिणमित होती है। टीका में जो यह कहा है कि ''द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमित कराते हैं'' सो निमित्त की

---

१. जे २. रागादि सद्भावे

(अनुष्टुभ्)

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बंध एव हि ॥१२२॥

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम्।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ॥१२३॥

अपेक्षा से कहा है। वहाँ समझना चाहिए कि ''द्रव्यप्रत्ययों के निमित्तभूत होने पर कार्मण-वर्गणा स्वयं बन्धरूप परिणमित होती है।''

अब इस सर्व कथन का तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं :—

श्लोकार्थ :— [**अत्र**] यहाँ [**इदम् एव तात्पर्य**] यही तात्पर्य है कि [**शुद्धनयः न हि हेयः**] शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है; [**हि**] क्योंकि [**तत् अत्यागत् बन्धः नास्ति**] उसके अत्याग से (कर्म का) बन्ध नहीं होता और [**तत् त्यागात् बन्धः एव**] उसके त्याग से बन्ध ही होता है॥१२२॥

'शुद्धनय त्याग करने योग्य नहीं है' इस अर्थ को दृढ़ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं :—

श्लोकार्थ :— [**धीर उदार महिम्नि अनादिनिधने बोधे धृतिं निबध्नन् शुद्धनयः**] धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थों में विस्तार युक्त) जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता को बाँधता हुआ (अर्थात् ज्ञान में परिणति को स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय [**कर्मणाम् सर्वंकषः**] जो कि कर्मों का समूल नाश करने वाला है [**कृतिभिः**] पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषों के द्वारा [**जातु**] कभी भी [**न त्याज्यः**] छोड़ने योग्य नहीं है। [**तत्रस्थाः**] शुद्धनय में स्थित वे पुरुष, [**बहिः निर्यत् स्वमरीचि-चक्रम् अचिरात् संहृत्य**] बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञान किरणों के समूह को (अर्थात् कर्म के निमित्त से परोन्मुख जानेवाली ज्ञान की विशेष व्यक्तियों को) अल्पकाल में ही समेटकर, [**पूर्ण ज्ञान-घन-ओघम् एकम् अचलं शान्तं महः**] पूर्ण, ज्ञानघन के पुञ्जरूप, एक अचल, शान्त तेज को — तेजःपुञ्ज को [**पश्यन्ति**] देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।

भावार्थ :— शुद्धनय, ज्ञान के समस्त विशेषों को गौण करके तथा परनिमित्त से होने वाले समस्त भावों को गौण करके, आत्मा को शुद्ध, नित्य अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण करता है और इसलिए परिणति शुद्धनय के विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मा में एकाग्र — स्थिर होती जाती है। इसप्रकार शुद्धनय का आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञान की विशेष व्यक्तताओं को अल्पकाल में ही समेटकर, शुद्धनय में (आत्मा की शुद्धता के अनुभव में) निर्विकल्पतया स्थिर होने पर अपने आत्मा को सर्व कर्मों से भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यान में प्रवृत्ति

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्त:।
स्फारस्फारै: स्वरसविसरै: प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ।।१२४।।

इति आस्रवो निष्क्रांत:।

करके अन्तर्मूहूर्त में केवलज्ञान प्रगट करते हैं। शुद्धनय का ऐसा माहात्म्य है। इसलिए श्रीगुरुओं का यह उपदेश है कि जबतक शुद्धनय के अवलम्बन से केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्धनय का त्याग नहीं करना चाहिए।।१२३।।

अब आस्रवों का सर्वथा नाश करने से जो ज्ञान प्रगट हुआ उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**नित्य-उद्योतं**] जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है ऐसी [**किम् अपि परमं वस्तु**] किसी परम वस्तु को [**अन्त: सम्पयत:**] अन्तरंग में देखनेवाले पुरुष को, [**रागादीनां आस्रवाणां**] रागादि आस्रवों का [**झगिति**] शीघ्र ही [**सर्वत: अपि**] सर्व प्रकार [**विगमात्**] नाश होने से, [**एतत् ज्ञानम्**] यह ज्ञान [**उन्मग्नम्**] प्रगट हुआ [**स्फारस्फारै:**] कि जो ज्ञान अत्यन्तात्यन्त (अनन्तानन्त) विस्तार को प्राप्त [**स्वरसविसरै:**] निजरस के प्रसार से [**आ-लोक-अन्तात्**] लोक के अन्ततक के [**सर्वभावान्**] सर्व भावों को [**प्लावयत्**] व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्व पदार्थों को जानता है, [**अचलम्**] वह ज्ञान प्रगट हुआ तभी से सदाकाल अचल है अर्थात् प्रगट होने के पश्चात् सदा ज्यों का त्यों ही बना रहता है – चलायमान नहीं होता और [**अतुलं**] वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं है।

भावार्थ :– जो पुरुष अंतरंग में चैतन्यमात्र परम वस्तु को देखता है और शुद्धनय के आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है उस पुरुष को तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावों का सर्वथा अभाव होकर, सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जाननेवाला निश्चल, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है।।१२४।।

टीका :– इसप्रकार आस्रव (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ :– रंगभूमि में आस्रव का स्वाँग आया था उसे ज्ञान ने उसके यथार्थ स्वरूप में जान लिया, इसलिए वह बाहर निकल गया।

(सवैया)

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम पाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूँ चित्त लाय कहूँ जय पाय लहूँ मन भाये।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यदुक्तं पूर्वम् रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमचैतन्यचमत्कारलक्षणनिजपरमात्म-पदार्थभावनारहितानां बहिर्मुखजीवानां पूर्वबद्धप्रत्ययाः नवतरकर्म बध्नंति तमेवार्थं दृष्टांताभ्यां दृढयति – **जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं** यथा पुरुषेण गृहीताहारः स परिणमति अनेकविधं बहुप्रकारम्। किं? **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मांसवसारुधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति। कथंभूतः सन्? उदराग्निसंयुक्तः इति दृष्टांतो गतः। **तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते** – तथैव च पूर्वोक्तोदराग्निसंयुक्ताहारदृष्टांतेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य, न च विवेकिनः। पूर्वं ये बद्धाः मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः जीवगतरागादिपरिणाममुदराग्निस्थानीयं लब्ध्वा ते बहुविकल्पं कर्म बध्नंति। **णयपरिहीणा दु जे जीवा** येषां जीवानां संबंधिनः प्रत्ययाः कर्म बध्नंति ते जीवाः। कथंभूताः ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयात् भ्रष्टाः च्युताः। अथवा द्वितीयव्याख्यानं, ते प्रत्ययाः अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवंति। इदमत्र तात्पर्यम्, निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्म-निर्मूलसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति। एवं कार्यकारणव्याख्यानमुख्यत्वेनगाथाचतुष्टयं गतम्॥१७९-१८०॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ सप्तदशगाथाभिः पंचस्थलैः संवरविपक्षद्वारेण पंचम आस्रवाधिकारः समाप्तः।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्ख्याति नामक टीका में आस्रव का प्ररूपक चौथा अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जो पहले कहा है कि रागादि विकल्प की उपाधि से रहित जो परमचैतन्य चमत्कार लक्षणरूप निज परमात्मपदार्थ उसकी भावना से रहित बहिरात्मा जीवों के पूर्वबद्ध प्रत्यय नवीन कर्म बांधते हैं, इसी अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं – **जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं** जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार अनेक प्रकार से परिणमन करता है। किस रूप परिणमन करता है ? **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मांस, वसा, रुधिर आदि पर्यायों को प्राप्त होकर परिणमन करता है। कैसा होता हुआ परिणमन करता है ? उदराग्नि से संयुक्त होता हुआ परिणमन करता है – यह दृष्टान्त हुआ। **तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते** उसीप्रकार पूर्वोक्त उदराग्नि संयुक्त आहार के दृष्टान्त द्वारा अज्ञानी चैतन्य लक्षणवाला जीव, कर्म बांधता है, परन्तु विवेकी जीव कर्म नहीं बांधता है। पूर्व में जो मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय बद्ध थे, वे पूर्वबद्ध प्रत्यय जीवगत रागादि परिणाम उदराग्नि की तरह प्राप्त कर बहुत प्रकार के कर्मों को बांधते हैं। **णयपरिहीणा दु ते जीवा** उन जीवों के सम्बन्ध रूप प्रत्यय कर्म को बांधते हैं। वे कर्म को बांधने वाले जीव कैसे हैं ? परमसमाधि लक्षणरूप भेदज्ञान से शुद्धनय से भ्रष्ट – च्युत हैं। अथवा द्वितीय व्याख्यान है कि अशुद्ध निश्चयनय से वे प्रत्यय जीव से भिन्न नहीं है। यहाँ यह तात्पर्य है कि **ध्येय रूप निजशुद्धात्मा समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ है। ऐसा शुद्धनय विवेकी-सम्यग्ज्ञानीजनों के द्वारा त्यागने योग्य नहीं है।** इसप्रकार कार्य-कारण व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुई॥१७९-१८०॥

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत समयसार व्याख्यान में शुद्धात्मानुभूति लक्षणरूप तात्पर्यवृत्ति में सत्रह गाथाओं द्वारा, पाँच स्थलों द्वारा संवर के विरुद्ध पक्ष वाला पाँचवा आस्रव अधिकार समाप्त हुआ।

५

संवर-अधिकार

अथ प्रविशति संवरः।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसार-विरोधि-संवर-जयैकांतावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम्।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते॥१२५॥

(दोहा)

मोह-राग-रुष दूरि करि, समिति-गुप्ति-व्रत पारि।
संवरमय आतम कियो, नमूँ ताहि, मन धारि॥

प्रथम टीकाकार आचार्य देव कहते हैं कि 'अब संवर प्रवेश करता है'। आस्रव के रंगभूमि में से बाहर निकल जाने के बाद अब संवर रंगभूमि में प्रवेश करता है।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वाँग को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान की महिमादर्शक मंगलाचरण करते हैं :—

श्लोकार्थ :— [**आसंसार-विरोधि-संवर-जय-एकान्त-अवलिप्त-आस्रव-न्यक्कारात्**] अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी संवर को जीतने से जो एकान्त गर्वित (अत्यन्त अहंकार युक्त) हुआ है ऐसे आस्रव का तिरस्कार करने से [**प्रतिलब्ध-नित्य-विजयं-संवरम्**] जिसने सदा विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को [**संपादयत्**] उत्पन्न करती हुई, [**पररूपतः व्यावृत्तं**] पररूप से भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले भावों से भिन्न), [**सम्यक्-स्वरूपे नियमितं स्फुरत्**] अपने सम्यक् स्वरूप में निश्चलता से प्रकाश करती हुई, [**चिन्मयं**] चिन्मय, [**उज्ज्वलं**] उज्ज्वल (निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और [**निज-रस-प्राग्भारम्**] निजरस के (अपने चैतन्यरस के) भार से युक्त – अतिशयता से युक्त [**ज्योतिः**] ज्योति [**उज्जृम्भते**] प्रगट होती है, प्रसारित होती है।

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनंदति –

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि॥१८२॥
एदं दु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग-सुद्धप्पा॥१८३॥

उपयोगे उपयोग: क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोग:।
क्रोध: क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोध:॥१८१॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोग:।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति॥१८२॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा॥१८३॥

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्ते:, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेय-संबंधोऽपि नास्त्येव। तत: स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे

भावार्थ :– अनादिकाल से जो आस्रव का विरोधी है ऐसे संवर को जीतकर आस्रव मद से गर्वित हुआ है। उस आस्रव का तिरस्कार करके उसपर जिसने सदा के लिए विजय प्राप्त की है ऐसे संवर को उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूप से भिन्न और अपने स्वरूप में निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरस की अतिशयता पूर्वक निर्मलता से उदय को प्राप्त हुआ है॥१२५॥

संवर अधिकार के प्रारम्भ में ही श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्म का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं :–

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादि में।
है क्रोध क्रोधविषैं हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोग में॥१८१॥
उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोग में॥१८२॥
ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीव के।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोग शुद्धात्मा करे॥१८३॥

गाथार्थ :– [**उपयोग:**] उपयोग [**उपयोगे**] उपयोग में है, [**क्रोधादिषु**] क्रोधादि में [**कोऽपि**

प्रतिष्ठितं, जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः। न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति, परस्परमत्यंतं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात्। न च यथा ज्ञानस्य जानत्ता स्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादि स्वरूपं तथा जानत्तापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम्। किंच यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो

उपयोगः] कोई भी उपयोग [**नास्ति**] नहीं है; [**च**] और [**क्रोधः**] क्रोध [**क्रोधे एव हि**] क्रोध में ही है, [**उपयोगे**] उपयोग में [**खलु**] निश्चय से [**क्रोधः**] क्रोध [**नास्ति**] नहीं है। [**अष्टविकल्पे कर्मणि**] आठ प्रकार के कर्मों में [**च**] और [**नोकर्मणि अपि**] नोकर्म में भी [**उपयोगः**] उपयोग [**नास्ति**] नहीं है [**च**] और [**उपयोगे**] उपयोग में [**कर्म**] कर्म [**च**] तथा [**नोकर्म अपि**] नोकर्म भी [**नो अस्ति**] नहीं है, [**एतत् तु**] ऐसा [**अविपरीतं**] अविपरीत [**ज्ञानं**] ज्ञान [**यदा तु**] जब [**जीवस्य**] जीव के [**भवति**] होता है, [**तदा**] तब [**उपयोग-शुद्धात्मा**] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [**किंचित् भावम्**] उपयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को [**न करोति**] नहीं करता।

टीका :– वास्तव में एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं इसलिए उनमें एक सत्ता की अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनों की सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं) और इसप्रकार जब कि एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिए (प्रत्येक वस्तु का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेय सम्बन्ध है। इसलिए ज्ञान जो कि जाननक्रिया रूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रिया का ज्ञान से अभिन्नत्व होने से, ज्ञान में ही है; क्रोधाधिक जो कि क्रोधादिक्रिया रूप अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है वह, क्रोधादिक्रिया का क्रोधादि से अभिन्नत्व होने के कारण, क्रोधादिक में ही है। (ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है इसलिए ज्ञान आधेय है और जानन क्रिया आधार है। जानन क्रिया आधार होने से यह सिद्ध हुआ है कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जानन क्रिया और ज्ञान भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान ज्ञान में ही है। इसीप्रकार क्रोध क्रोध में ही है) और क्रोधादिक में, कर्म में या नोकर्म में ज्ञान नहीं है तथा ज्ञान में क्रोधादिक, कर्म या नोकर्म नहीं है क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होने से (अर्थात् ज्ञान का स्वरूप और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होने से) उनके परमार्थभूत आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है। और जैसे ज्ञान का स्वरूप जाननक्रिया है उसीप्रकार (ज्ञान का स्वरूप) क्रोधादिक्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादि का स्वरूप क्रोधादि क्रिया है उसीप्रकार (क्रोधादिक का स्वरूप) जाननक्रिया भी हो ऐसा किसी भी प्रकार से स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जाननक्रिया और क्रोधादिक्रिया भिन्न-भिन्न स्वभाव से प्रकाशित होती हैं और इस भाँति स्वभावों के भिन्न होने से वस्तुएँ भिन्न ही हैं।

विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकमाकाश-मेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धि-मधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति। तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति। ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम्।

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतो: कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिता:
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युता: ॥१२६॥

इसप्रकार ज्ञान तथा अज्ञान में (क्रोधादिक में) आधाराधेयत्व नहीं है।

इसी को विशेष समझाते हैं – जब एक ही आकाश को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (आकाश के) आधाराधेयभाव का विचार किया जाता है तब आकाश को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से (अर्थात् अन्य द्रव्यों में स्थापित करना अशक्य ही होने से) बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा [१]प्रभवित (उद्भूत) नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक आकाश ही एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है' यह भली-भाँति समझ लिया जाता है और इसलिए ऐसा समझ लेने वाले के पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता। इसप्रकार जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित करके (ज्ञान का) आधाराधेयभाव का विचार किया जाये तब ज्ञान को शेष अन्य द्रव्यों में आरोपित करने का निरोध ही होने से बुद्धि में भिन्न आधार की अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होने से, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है' यह भली-भाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेने वाले को पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता, इसलिए ज्ञान ही ज्ञान में ही है और क्रोधादिक ही क्रोधादिक में ही हैं।

इसप्रकार (ज्ञान का और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्म का) भेदविज्ञान भली-भाँति सिद्ध हुआ।

भावार्थ :– उपयोग तो चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं, उनमें और ज्ञान में प्रदेशभेद होने से अत्यन्त भेद है। इसलिए उपयोग में क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिक में, कर्म में तथा नोकर्म में उपयोग नहीं है। इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तु का अपना अपना आधाराधेयत्व अपने-अपने में ही है। इसलिए उपयोग उपयोग में ही है और क्रोध क्रोध में ही है। इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया। (भावकर्म इत्यादि का और उपयोग का भेद जानना सो भेदविज्ञान है।)

---

१. प्रभवित नहीं होती – लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; शमन हो जाती है; उद्भूत नहीं होती।

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति। शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति॥१८१-१८३॥

समुदायपातनिका – अथ प्रविशति संवरः। संवराधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरागादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आस्रवो नास्ति तत्र संवरो भवतीत्यास्रवविपक्षद्वारेण, चतुर्दशगाथापर्यंतं वीतरागसम्यक्त्वरूपसंवरव्याख्यानं करोति। तत्रादौ भेदज्ञानात् शुद्धात्मोपलम्भो भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन **'उवओगे'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण **'जह कणयमग्गि'** इत्यादि गाथाद्वयम्। ततः परं शुद्धभावनया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन **'सुद्धं तु वियाणंतो'** इत्यादि गाथैकम्। ततः परं केन प्रकारेण संवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया **'अप्पाणमप्पणा'** इत्यादि गाथात्रयम्। अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः ज्ञानस्य रागस्य च] चिद्रूपता को धारण करने वाला ज्ञान और जड़रूपता को धारण करनेवाला राग **[द्वयोः]** दोनों का **[अंतः]** अन्तरंग में **[दारुणदारणेन]** दारुण विदारण के द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यास के द्वारा), **[परितः विभागं कृत्वा]** सभी ओर से विभाग करके (सम्पूर्णतया दोनों को अलग करके), **[इदं निर्मलम् भेदज्ञानम् उदेति]** यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है; **[अधुना]** इसलिए अब **[एकम् शुद्ध-ज्ञानघन-ओघम् अध्यासिताः]** एक शुद्धविज्ञानघन के पुञ्ज में स्थित और **[द्वितीय-च्युताः]** अन्य से अर्थात् राग से रहित; **[सन्तः]** हे सत्पुरुषो! **[मोदध्वम्]** मुदित होओ।

भावार्थ :– ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होने से जड़ हैं; किन्तु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञान से ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप–जड़रूप भासित होते हैं। जब अन्तरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है, ज्ञान में जो रागादि की कलुषता – आकुलतारूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं वे सब पुद्गलविकार हैं; जड़ हैं। इसप्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है। जब ऐसा भेदज्ञान होता है तब आत्मा आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि ''स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ'' इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि 'हे सत्पुरुषो ! अब मुदित होओ'॥१२६॥

टीका :– इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञान को अणुमात्र भी (रागादि-विकाररूप) विपरीतता को न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूप से रहता है, तब शुद्ध उपयोगमयात्मकता के द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी राग-द्वेष-मोहरूप भाव को नहीं करता; इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का (आस्रवभाव का) अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है॥१८१-१८३॥

क्रियतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टांतेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण **'उवदेसेण'** इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनंतरं उदयप्राप्त-प्रत्ययागतानां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतानां रागादिभावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि संवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन **'तेसिं हेदू'** इत्यादि गाथात्रयम्। एवम् आस्रवविपक्षद्वारेण संवरव्याख्याने समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – प्रथमतस्तावच्छुभाशुभकर्मसंवरस्य परमोपायभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति– **उवओगे उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मैवोपयोगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मा तिष्ठति। **कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो** शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोप्युपयोग आत्मा। **कोहे कोहो चेव हि** क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुटं तिष्ठति। **उवओगे णत्थि खलु कोहो** उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुटं क्रोध:। **अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो** तथैव चाष्टविध-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि, औदारिकशरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोग: उपयोगशब्दवाच्य: शुद्धबुद्धैकस्वभाव: परमात्मा। **उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि** उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति। **एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स** इदं तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसंवित्तिरूपं विपरीताभिनिवेशरहितं भेदज्ञानं यदा भवति जीवस्य। **तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा** तस्माद् भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलम्भो भवति शुद्धात्मोपलम्भे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिभावं न करोति न परिणमति। कथंभूत: सन् ? निर्विकारचिदानन्दैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धस्वभाव: सन्निति। यत्रैवंभूतो संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यम्। एवं पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलंभो भवति। शुद्धात्मोपलंभे सति मिथ्यात्वं रागादिभावं न करोति ततो नवतरकर्मसंवरो भवतीति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥१८१-१८३॥

समूहपीठिका – अब संवर प्रवेश होता है। संवर अधिकार में भी जहाँ मिथ्यात्व रागादि परिणत बहिरात्म-भावनारूप आस्रव नहीं है, वहाँ संवर होता है इसतरह आस्रव के विपक्ष द्वारा, चौदह गाथा तक वीतराग सम्यक्त्व रूप संवर का व्याख्यान करते हैं। वहाँ प्रथम तो भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है इसप्रकार संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से **'उवओगे'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् भेदज्ञान से किस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है ऐसे प्रश्न के समाधान रूप से **'जह कणयमग्गि'** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। उसके बाद शुद्धभावना द्वारा शुद्ध होता है – ऐसे कथन की मुख्यता से **'सुद्धं तु वियाणंतो'** इत्यादि एक गाथा है। उसके बाद किस प्रकार संवर होता है, ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये जाने पर उसके निराकरण की मुख्यता से **'अप्पाणमप्पणा'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। फिर **आत्मा परोक्ष है, उसका ध्यान कैसे किया जाये –** ऐसा पूछे जाने पर देवता रूप दृष्टान्त के द्वारा परोक्ष में भी जाना जाता है ऐसे निराकरण रूप में **'उवदेसेण'** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। उसके बाद उदय को प्राप्त प्रत्ययागत रागादि अध्यवसानों का अभाव होने पर जीवगत रागादि भावास्रवों का अभाव होता है इसप्रकार संवर क्रम के कथन की मुख्यता से **'तेसिं हेदू'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। इसप्रकार आस्रव के विपक्ष द्वारा संवर के व्याख्यान में समुदाय पातनिका (भूमिका) पूर्ण हुई।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – यहाँ प्रथम तो शुभाशुभ कर्म के संवर के परम उपायरूप निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान-लक्षणवाले भेदज्ञान का निरूपण करते हैं – **उवओगे उवओगो** ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षणवाला होने से अभेदनय से आत्मा ही उपयोग है, उस उपयोग नाम वाले शुद्धात्मा में उपयोगमय आत्मा रहता है। **कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो** शुद्धनिश्चयनय से क्रोधादि परिणामों में कोई भी उपयोगमय आत्मा नहीं है। **कोहे कोहो चेव हि** स्पष्टत: क्रोध, क्रोध में रहता है। **उवओगे णत्थि खलु कोहो** वास्तव में उपयोग रूप शुद्धात्मा

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ इति चेत् –

जह कणयमग्गि-तवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदय-तविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१८४॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रागमेवादं।
अण्णाण-तमोच्छण्णो आद-सहावं अयाणंतो ॥१८५॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम् ॥१८४॥
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम्।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥१८५॥

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति। यथा प्रचंड-पावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति,

---

में स्पष्टत: क्रोध नहीं है। **अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो** उसीप्रकार आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा औदारिक शरीर आदि नोकर्म में भी उपयोग नहीं है। उपयोग शब्द से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव परमात्मा वाच्य है।

उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि उपयोगमय शुद्धात्मा में शुद्ध निश्चय नय से कर्म और नोकर्म नहीं हैं। **एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स** इसप्रकार का चिदानन्द एक स्वभाव शुद्धात्मा के अनुभव वाला विपरीत अभिनिवेश से रहित भेदज्ञान जब जीव को होता है। **तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओग सुद्धप्पा** तब उस भेदविज्ञान से स्वात्मा की उपलब्धि होती है, शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर जीव कुछ भी मिथ्यात्व रागादि भाव नहीं करता है उन रूप नहीं परिणमता है। कैसा होकर रागादि भाव नहीं करता है ? निर्विकार चिदानन्द एक लक्षण रूप शुद्धोपयोग से शुद्धात्मा शुद्धस्वभाव रूप होता हुआ रागादि भाव नहीं करता है जहाँ इसप्रकार का संवर नहीं है, वहाँ आस्रव होता है ऐसा इस अधिकार में सर्वत्र जानना चाहिए ऐसा तात्पर्य है। इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर जीव मिथ्यात्व रागादि भाव नहीं करता है, उससे नवीन कर्मों का संवर होता है, इसप्रकार संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१८१-१८३॥

....

अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) कैसे होती है? उसके उत्तर में गाथा कहते हैं :–

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्म उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे॥१८४॥

जीव ज्ञानि जाने ये हि, अरु अज्ञानि राग ही जीव गिनें।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतम आच्छाद से॥१८५॥

कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्; तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात्। न चास्ति वस्तूच्छेदः, सतो नाशासंभवात्। एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते, न द्वेष्टि, न मुह्यति किंतु शुद्धमात्मानमेवोपलभते। यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्म-स्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च, न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते। ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः ॥१८४-१८५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पुनरपि पृच्छति – **जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि** यथा कनकं सुवर्णमग्नितप्तमपि तं कनकस्वभावं न परित्यजति। **तह कम्मोदयतविदो**

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**कनकम्**] सुवर्ण [**अग्नितप्तम् अपि**] अग्नि से तप्त होता हुआ भी [**तं**] अपने [**कनकभावं**] सुवर्णत्व को [**न परित्यजति**] नहीं छोड़ता [**तथा**] इसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कर्मोदयतप्तः तु**] कर्मों के उदय से तप्त होता हुआ भी [**ज्ञानित्वम्**] ज्ञानित्व को [**न जहाति**] नहीं छोड़ता [**एवं**] ऐसा [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**जानाति**] जानता है, [**अज्ञानी**] और अज्ञानी [**अज्ञानतमोऽवच्छन्नः**] अज्ञानांधकार से आच्छादित होने से [**आत्मस्वभावम्**] आत्मा के स्वभाव को [**अजानन्**] न जानता हुआ [**रागम् एव**] राग को ही [**आत्मानम्**] आत्मा [**मनुते**] मानता है।

टीका :– जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है वही उसके (भेदविज्ञान के) सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है – जैसे प्रचंड अग्नि के द्वारा तप्त होता हुआ भी सुवर्ण सुवर्णत्व को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार प्रचंड कर्मोदय के द्वारा घिरा हुआ होने पर भी (विघ्न किया जाये तो भी) ज्ञान ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणों के एकत्रित होने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है; उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तु का ही उच्छेद हो जायेगा और वस्तु का उच्छेद तो होता नहीं है, क्योंकि सत् का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से आक्रांत (घिरा हुआ) होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता; किन्तु वह शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभाव से अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानांधकार द्वारा आच्छादित होने से चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को न जानता हुआ, राग को ही आत्मा मानता हुआ, रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है किन्तु शुद्ध आत्मा का किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता। इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (अनुभव) होती है।

भावार्थ :– जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञानस्वभाव से छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह कर्मोदय के द्वारा तप्त होता हुआ भी रागी-द्वेषी-मोही नहीं होता, परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्मा के ज्ञानस्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है, इसलिए वह रागी-द्वेषी-मोही होता है, किन्तु कभी भी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है॥१८४-१८५॥

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत् –

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥१८६॥

ण चयदि णाणी दु णाणित्तं तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन संतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणाम-परिहारपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति। किं तत् ? शुद्धात्मसंवित्ति-लक्षणं ज्ञानित्वं पांडवादिवदिति। **एवं जाणदि णाणी** एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति। कोऽसौ ? वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानी। **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** अज्ञानी पुन: पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मानं मनुते जानाति। कथंभूत: सन् ? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञानतमसोवच्छन्न: प्रच्छादितो झंपित:। पुनरपि कथंभूत: सन्? **आदसहावं अयाणंतो** निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारस्वभावं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन् इति। एवं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्॥१८४-१८५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब कैसे भेदज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है ऐसा पुन: पूछते हैं– **जह कणयमग्गितवियं कणयसहावं ण तं परिच्चयदि** जिसप्रकार सोना अग्नि में तपाये जाने पर भी स्वर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ता है। **तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं** उसीप्रकार से तीव्र परिषह, उपसर्ग एवं कर्मोदय से सन्तप्त होने पर भी राग-द्वेष-मोह परिणाम के त्यागरूप से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षण वाला भेदज्ञानी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। किसको नहीं छोड़ता है ? शुद्धात्म संवेदन लक्षण रूप ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है जैसा कि पाण्डव आदि ने नहीं छोड़ा था। **एवं जाणदि णाणी** ऐसा उक्त प्रकार से शुद्धात्मा को जानता है। कौन है वह जो शुद्धात्मा को जानता है ? वीतराग स्वसंवेदन लक्षणवाला भेदज्ञानी शुद्धात्मा को जानता है। **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** और अज्ञानी पूर्वोक्त भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्यात्व रागादि रूप ही आत्मा को मानता है, जानता है। कैसा होता हुआ जानता है ? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञान अन्धकार से आच्छादित होता हुआ मानता जानता है। और कैसा होता हुआ जानता है ? **आद सहावं अयाणंतो** निर्विकल्प समाधि के अभाव के कारण निर्विकार परम चैतन्य-चमत्कार स्वभाव रूप शुद्धात्मा को न जानता तथा न अनुभव करता हुआ आत्मा को मिथ्यात्व रागादि रूप मानता जानता है। इस तरह भेदज्ञान से कैसे शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है ऐसा पूछने पर प्रत्युत्तर कथन रूप से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥१८४-१८५॥

....

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से ही संवर कैसे होता है ? इसका उत्तर कहते हैं :–

जो शुद्ध जाने आत्मा को, वो शुद्ध आत्म हि प्राप्त हो।
अनशुद्ध जाने आत्मा को, अनशुद्ध आत्म हि प्राप्त हो ॥१८६॥

गाथार्थ :– [**शुद्धं तु**] शुद्ध आत्मा को [**विजानन्**] जानता हुआ – अनुभव करता हुआ [**जीव:**] जीव [**शुद्धं च एव आत्मानं**] शुद्ध आत्मा को ही [**लभते**] प्राप्त करता है, [**तु**] और [**अशुद्धम्**] अशुद्ध

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ।।१८६।।

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयात् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति; यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति। अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः ।।१८६।।

(मालिनी)

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ।।१२७।।

[**आत्मानं**] आत्मा को [**जानन्**] जानता हुआ – अनुभव करता हुआ जीव [**अशुद्धम् एव**] अशुद्ध आत्मा को ही [**लभते**] प्राप्त करता है।

टीका :– जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो राग-द्वेष-मोह की संतति (परम्परा) उसका निरोध होने से शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है; और जो सदा ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भाव में से अज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय के अनुसार आगामी कर्मों के आस्रवण का निमित्त जो राग-द्वेष-मोह की संतति, उसका निरोध न होने से अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अतः शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।

भावार्थ :– जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञान से आत्मा को निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है उसके राग-द्वेष-मोहरूपी भावास्रव रुकते हैं, इसलिए वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है; और जो जीव अज्ञान से आत्मा का अशुद्ध अनुभव करता है उसके राग-द्वेष-मोह रूपी भावास्रव नहीं रुकते, इसलिए वह अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से (अनुभव से) ही संवर होता है।।१८६।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यदि**] यदि [**कथम् अपि**] किसी भी प्रकार से (तीव्र पुरुषार्थ करके) [**धारावाहिना बोधनेन**] धारावाही ज्ञान से [**शुद्धम् आत्मानम्**] शुद्ध आत्मा को [**ध्रुवम् उपलभमानः आस्ते**] निश्चलतया

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथं कथं शुद्धात्मोपलंभात्संवर इति पुनरपि पृच्छति –

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनंतज्ञानादिगुणस्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीव:। एवं गुणविशिष्टं यादृशं शुद्धात्मानं ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते। कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृशं कार्यमिति हेतो:। **जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** अशुद्धं मिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानं जानन्ननुभवन् सन् अशुद्धं नरनारकादिरूपमेवात्मानं लभते। स क: ? अज्ञानी जीव इति। एवं शुद्धात्मोपलम्भादेव कथं संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गता॥१८६॥

अनुभव किया करे **[तत्]** तो **[अयम् आत्मा]** यह आत्मा, **[उदयत्-आत्म-आरामम् आत्मानम्]** जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्मा को **[पर-परिणतिरोधात्]** परपरिणति के निरोध से **[शुद्धम् एव अभ्युपैति]** शुद्ध ही प्राप्त करता है॥१२७॥

भावार्थ :– धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से राग-द्वेष-मोहरूप परपरिणति का (भावास्रवों का) निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

धारावाही ज्ञान का अर्थ प्रवाहरूपज्ञान – अखण्ड रहने वाला ज्ञान। वह दो प्रकार से कहा जाता है – एक तो, जिसमें बीच में मिथ्याज्ञान न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। दूसरा, एक ही ज्ञेय में उपयोग के उपयुक्त रहने की अपेक्षा से ज्ञान की धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँ तक उपयोग एक ज्ञेय में उपयुक्त रहता वहाँ तक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थ के) अन्तर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खण्डित होती है। इन दो अर्थों में से जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिए। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि नीचे के गुणस्थान वाले जीवों के मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी और श्रेणी चढ़ने वाले जीव के मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी; क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मा में ही उपयुक्त है॥१२७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब कैसे शुद्धात्मा की उपलब्धि के कारण संवर होता है, ऐसा पुन: पूछते हैं – **सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो** भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म रहित, अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप शुद्धात्मा को निर्विकार सुखानुभूति लक्षण रूप भेदज्ञान से विशेष जानता हुआ अनुभवन करता हुआ जीव ज्ञानी है। ऐसा गुण-विशिष्ट जीव जिस प्रकार के शुद्धात्मा को ध्याता या भावना करता है, उसप्रकार के ही शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। किस कारण से आत्मा को प्राप्त करता है ऐसा प्रश्न होने पर, क्योंकि उपादान कारण के समान ही कार्य होता है – यह हेतु है। **जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** और आत्मा को अशुद्ध मिथ्यात्वादि रूप परिणत जानता अनुभवन करता हुआ अशुद्ध अर्थात् नर नारकादि रूप ही आत्मा को प्राप्त करता है। वह कौन है ? वह अज्ञानी जीव है। इस तरह शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर कैसे होता है इस प्रश्न के उत्तर रूप में गाथा पूर्ण हुई॥१८६॥

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत् –

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो-पुण्णपाव-जोगेसु।
दंसण-णाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥१८७॥
जो सव्वसंग-मुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसण-णाणमओ अणण्णमओ।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्म-पविमुक्कं[1] ॥१८९॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥१८७॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वम् ॥१८८॥
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम् ॥१८९॥

अब प्रश्न होता है कि संवर किसप्रकार से होता है ? इसका उत्तर कहते हैं :–

शुभ-अशुभ से जो रोककर निज आत्म को आत्मा हि से।
दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्य इच्छा परिहरे ॥१८७॥

जो सर्वसंगविमुक्त, ध्यावे आत्म से आत्मा हि को।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को ॥१८८॥

वह आत्मध्याता, ज्ञान-दर्शन-मय, अनन्यमयी हुआ।
बस अल्पकाल जु कर्म से परिमोक्ष पावे आत्म का ॥१८९॥

गाथार्थ :– [**आत्मानम्**] आत्मा को [**आत्मना**] आत्मा के द्वारा [**द्विपुण्यपापयोगयोः**] दो पुण्य-पापरूपी शुभाशुभयोगों से [**रुन्ध्वा**] रोककर [**दर्शनज्ञाने**] दर्शन-ज्ञान में [**स्थितः**] स्थित होता हुआ [**च**] और [**अन्यस्मिन्**] अन्य (वस्तु) की [**इच्छाविरतः**] इच्छा से विरत होता हुआ, [**यः आत्मा**] जो आत्मा, [**सर्वसंगमुक्तः**] (इच्छारहित होने से) सर्व संग से रहित होता हुआ, [**आत्मानम्**] आत्मा को [**आत्मना**] आत्मा के द्वारा [**ध्यायति**] ध्याता है, और [**कर्म नोकर्म**] कर्म तथा नोकर्म को [**न अपि**] नहीं ध्याता, एवं [**चेतयिता**] (स्वयं) [2]चेतयिता (होने से) [**एकत्वम्**] एकत्व को ही [**चिन्तयति**] चिन्तवन करता है – अनुभव करता है, [**सः**] वह (आत्मा) [**आत्मानं ध्यायन्**] आत्मा को ध्याता हुआ, [**दर्शनज्ञानमयः**]

---

१. पाठान्तर = कम्मणिमुक्कं   २. चेतयिता – ज्ञाता द्रष्टा।

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढ़तरभेदविज्ञानावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुन्ध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन् मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेकत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन्, शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः, शुद्धात्मोपलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन्, अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति। एष संवरप्रकारः ॥१८७-१८९॥

(मालिनी)

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

दर्शन-ज्ञानमय [**अनन्यमयः**] और अनन्यमय होता हुआ [**अचिरेण एव**] अल्पकाल में ही [**कर्मप्रविमुक्तम्**] कर्मों से रहित [**आत्मानम्**] आत्मा को [**लभते**] प्राप्त करता है।

टीका :– राग-द्वेष-मोह जिसका मूल है ऐसे शुभाशुभ योग में प्रवर्तमान जो जीव दृढ़तर भेदविज्ञान के आलम्बन से आत्मा को आत्मा के द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शनज्ञानरूप आत्मद्रव्य में भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्यों की इच्छा के त्याग से सर्व संग से रहित होकर, निरन्तर अति निष्कम्प वर्तता हुआ, कर्म-नोकर्म का किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा ध्याता हुआ, स्वयं को सहज चेतयितापन होने से एकत्व को ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञानचेतनारूप रहता है), वह जीव वास्तव में, एकत्व-चेतन द्वारा अर्थात् एकत्व के अनुभवन द्वारा (परद्रव्य से) अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्धदर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि (प्राप्ति) होने पर समस्त परद्रव्यमयता से अतिक्रांत होता हुआ, अल्प काल में ही सर्व कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। यह संवर का प्रकार (विधि) है।

भावार्थ :– जो जीव पहले तो राग-द्वेष-मोह के साथ मिले हुए मन-वचन-काय के शुभाशुभ योगों से अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलायमान नहीं होने दे, और फिर उसी को शुद्धदर्शन-ज्ञानमय आत्मस्वरूप में निश्चल करे तथा समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित होकर कर्म-नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होकर उसी का ही अनुभव किया करे अर्थात् उसी के ध्यान में रहे, वह जीव आत्मा का ध्यान करने से दर्शन-ज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयता का उल्लंघन करता हुआ अल्पकाल में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। यह संवर होने की रीति है॥१८७-१८९॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**भेदविज्ञानशक्त्या निजमहिमरतानां एषां**] जो भेदविज्ञान की शक्ति द्वारा अपनी

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ केन प्रकारेण संवरो भवतीति पृष्टे सति पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति – **अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो (सु) पुण्णपावजोगेसु** आत्मानं कर्मत्वापन्नं आत्मना करणभूतेन द्वयोः पुण्यपाप-योगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभयोगाभ्यां सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य। **दंसणणाणम्हि ठिदो** दर्शनज्ञाने स्थितः सन्। **इच्छाविरदो य अण्णम्हि** अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये सर्वत्रेच्छारहितश्चेति प्रथमगाथा गता। **जो** यः कर्ता। **सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणा अप्पा** आत्मा, पुनरपि कथंभूतः ? **सव्वसंगमुक्को** निस्संगात्म-तत्त्वविलक्षणबाह्याभ्यन्तरसर्वसंगमुक्तः सन्। **झायदि** ध्यायति। कं ? **अप्पाणं** निजशुद्धात्मानं। केन करणभूतेन ? **अप्पणा** स्वशुद्धात्मना। **णवि कम्मं णोकम्मं** नैव कर्म नोकर्म ध्यायति। आत्मानं ध्यायन् किं करोति? **चेदा चिंतेदि** एवं गुणविशिष्टश्चेतयितात्मा चिंतयति। किं? **एयत्तं ''एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः। बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥''**(इष्टोपदेश, श्लोक२७) इत्याद्येकत्वं इति द्वितीयगाथा गता। **सो** इत्यादि। **सो** स पूर्वसूत्रद्वयोक्तः पुरुषः। **अप्पाणं झायंतो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं कर्मतापन्नं चिंतयन् निर्विकल्परूपेण ध्यायन् सन्। **दंसणणाणमओ** दर्शनज्ञानमयो भूत्वा। **अणण्णमओ** अनन्यमनाश्च। **लहदि** लभते। कमेव ? **अप्पाणमेव** आत्मानमेव। कथंभूतं ? **कम्मणिम्मुक्कं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविमुक्तं। केन ? **अचिरेण** स्तोककालेन। एवं केन प्रकारेण संवरो भवति ? इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥१८७-१८९॥

(स्वरूप की) महिमा में लीन रहते हैं उन्हें **[नियतम्]** नियम से **[शुद्धतत्त्वोपलम्भः]** शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि **[भवति]** होती है; **[तस्मिन् सति च]** शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि होने पर, **[अचलितम् अखिल-अन्यद्रव्य-दूरे-स्थितानां]** अचलितरूप से समस्त अन्यद्रव्यों से दूर वर्तते हुए ऐसे उनके, **[अक्षयः कर्ममोक्षः भवति]** अक्षय कर्ममोक्ष होता है (अर्थात् उनका कर्मों से ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता)॥१२८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब किसप्रकार से संवर होता है, ऐसा पूछने पर फिर से विशेष रूप से उत्तर देते हैं – **अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो (सु) पुण्णपावजोगेसु** कर्मत्व को प्राप्त आत्मा को, करणसाधनभूत आत्मा के द्वारा दोनों पुण्य और पाप रूप योग के आधारभूत दोनों प्रकार के शुभाशुभ (क्रियाओं रूप) योगों से (अपने करणसाधनभूत) वर्तमान स्वसंवेदन ज्ञान के बल से रोककर, दूर हटाकर **दंसणणाणम्हि ठिदो** दर्शन ज्ञान स्वभाव में स्थिर होता हुआ **इच्छाविरदो य अण्णम्हि** अन्य देह रागादि परद्रव्य में सर्वत्र इच्छा रहित होता है। यह प्रथम गाथा हुई। **जो** जो कर्ता। **सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा** पुनः कैसा होता हुआ आत्मा ? **सव्वसंगमुक्को** निस्संग आत्मतत्त्व से भिन्न बाह्य तथा अभ्यन्तर सभी प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता हुआ **झायदि** ध्याता है। किसको ध्याता है ? **अप्पाणं** अपने शुद्धात्मा को ध्याता है? किस साधन से ध्याता है **अप्पणा** अपने शुद्धात्मा से (शुद्धोपयोग से) ध्याता है। **णवि कम्मं णोकम्मं** कर्म-नोकर्म का ध्यान नहीं करता है। आत्मा का ध्यान करता हुआ क्या करता है? **चेदा चिंतेदि** उपर्युक्त गुणविशिष्ट आत्मा का चिंतन करता है। **किं** क्या चिंतन करता है ? **एयत्तं** अर्थात् **''मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगीन्द्रगोचर हूँ, इसके सिवाय सभी संयोगरूप भाव मेरे से सर्वथा बाह्य भिन्न हैं।''** (इष्टोपदेश गाथा २७) इत्यादि प्रकार से एकत्व का ध्यान करता है। ऐसी यह दूसरी गाथा हुई। **सो** पूर्व की दोनों गाथाओं में कथित वह पुरुष **अप्पाणं झांयतो** पूर्वोक्त प्रकार से (कर्ममुक्त) आत्मा का चिंतवन

अथ परोक्षस्य आत्मन: कथं ध्यानं भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति –

ता.अतिरिक्त गाथा ११ – उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि।
भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य।।

टीका – उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि यथा लोके परोक्षमपि देवतारूपं परोपदेशाल्लिखितं दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति। **भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य** तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते। कोऽसौ ? जीव:, केन रूपेण ? मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा संप्रधारयति। तथा चोक्तं इष्टोपदेशे-३३

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्ते: स्वपरांतरम्।
जानाति य: स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम्।।

अथ –

ता.अतिरिक्त गाथा १२ – को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।।

टीका – अथ मतं **भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं** योऽसौ प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति, तस्य पार्श्वे पृच्छामो वयं, नैवं? **को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज** को विदितार्थ: साधु: सम्प्रति-

---

करता हुआ, निर्विकल्प रूप से ध्यान करता हुआ **दंसणणाणमओ** दर्शन-ज्ञानमय होकर **अणण्णमओ** और अनन्य मन से अर्थात् स्वात्मा में – एकाग्रमना होकर **लहदि** प्राप्त करता है। किसको प्राप्त करता है ? **अप्पाणमेव** आत्मा को ही प्राप्त करता है। कैसे आत्मा को प्राप्त करता है? **कम्मणिम्मुक्कं** भावकर्म द्रव्यकर्म तथा नोकर्म से मुक्त आत्मा को प्राप्त करता है। किसके द्वारा प्राप्त करता है ? **अचिरेण** थोड़े काल के द्वारा प्राप्त करता है। इस तरह किस प्रकार से संवर होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर विशेष निराकरण रूप कथन की मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।।१८७-१८९।।

अतिरिक्त गाथा ११ का हिन्दी – अब परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे होता है ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते हैं– **जह** जैसे **उवदेसेण** उपदेश से **परोक्खं रूवं** परोक्ष रूप को **पस्सिदूण** देखकर **णादेदि** जानता है। **तहेव भण्णदि घिप्पदि जीवो** वैसे ही जीव वचनों द्वारा कहा जाता है तथा मन द्वारा ग्रहण किया जाता है। **य** और **णादो य दिट्ठो** इसप्रकार आत्मा जाना और देखा जाता है।

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि जैसे लोक में देवता का रूप परोक्ष होता हुआ भी परोपदेश से लिखित देखकर कोई देवदत्त नामक पुरुष उस देवता को जानता है। **भण्णदि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य** उसी प्रकार वचन से (श्रुतज्ञान से) आत्मा कहा जाता है, उस ही आत्मा को मन में ग्रहण किया जाता है। वह कौन ग्रहण करता है ? जीव ग्रहण करता है। किस रूप में ग्रहण करता है। मेरे द्वारा देखा और जाना गया है ऐसा चित्त से ग्रहण होता है, अनुभव होता है। कहा भी है – ''गुरु के उपदेश से, अभ्यास से, अपनी बुद्धि के विवेक द्वारा अपने आपके तथा अन्य के अन्तर (भेद) को जो जानता है, वह निरन्तर रहनेवाले मोक्षसुख को जानता है। (इष्टोपदेश, श्लोक-३३)

अतिरिक्त गाथा १२ का हिन्दी – अब **(को विदिदच्छो साहू)** कोई ज्ञानी साधु ही **(संपडिकाले)**

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत् –

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरिसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य।।१९०।।

हेदु अभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो।।१९१।।

काले ब्रूयात्? न कोऽपि। किं ब्रूयात्? न कोऽपि। किंतु **रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं** इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टम् चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत्। अपि तु नैवम्। कथंभूतमिदमात्मस्वरूपम् ? **परोक्खणाणे पवट्टंतं** केवल-ज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमानम्, इति। किं च विस्तर:। यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इंद्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम्। तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुन: परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति। किं तु चतुर्थकालेऽपि केवलिन: किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति ? तेऽपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छंति। तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात्**परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति।** तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थ:। एवं परोक्षस्यात्मन: कथं ध्यानं क्रियते ? इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतम्।।११-१२।।

साम्प्रतकाल में इस पंचमकाल में **(इणं पवट्टतं रूवं)** यह प्रवर्तमान आत्मस्वरूप **(पच्चक्खमेव)** प्रत्यक्ष ही **(परोक्खणाणे)** परोक्षज्ञान में (क्षयोपशमज्ञान में) **(दिट्ठं)** दिख गया – ऐसा **(भणिज्ज)** कहेगा (अर्थात् ''साम्प्रतकाल में शुद्धात्मा प्रत्यक्ष दिखता है,'' – ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव कहेगा।)

इसका मतलब यह है कि **भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं** यह जो प्रत्यक्ष आत्मा को देखता है, उसके समीप जाकर हम पूछते हैं कि इस प्रकार से नहीं है। **को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज** ऐसा कौन ज्ञानी साधु वर्तमान काल में कहता है ? अर्थात् ऐसा कोई भी (साधु) नहीं कहता है। तो क्या कहता है ? यह कहता है कि **रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं** यह आत्मस्वरूप मैंने प्रत्यक्ष देखा है। जैसा चतुर्थकाल में केवलज्ञानी देखते हैं उसी प्रकार देखा है ऐसा तो नहीं कहता है। तो फिर कैसा आत्मस्वरूप देखा है? **परोक्खणाणे पवट्टंतं** केवलज्ञान (सकल प्रत्यक्ष) की अपेक्षा से परोक्ष श्रुतज्ञान में प्रवर्तमान (स्वानुभव प्रत्यक्ष से) देखा है। इसका थोड़ा विस्तार करते हैं – यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चय नय से परोक्ष कहा जाता है, तथापि इन्द्रिय तथा मनजनित सविकल्पज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है। उस कारण से आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता है; परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष भी होता है। 'वह सर्वथा परोक्ष ही है' ऐसा कहने में नहीं आता है। क्या चौथेकाल में केवली भगवान आत्मा को हाथ पर ग्रहणकर दिखाते हैं ? वे भी दिव्यध्वनि से कहकर चले जाते हैं। तो भी सुनने के समय श्रोताओं को परोक्ष ही है, पश्चात् परमसमाधि (स्वसंवेदन) के काल में प्रत्यक्ष होता है। उसीप्रकार इस (पंचम) काल में होता है ऐसा भावार्थ है। इस तरह परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे किया जाता है? इस प्रश्न के निराकरण रूप में दो गाथाएँ हुईं ।।११-१२।।

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायदि णिरोहो।
णोकम्म-णिरोहेण य संसार-णिरोहणं होदि॥१९२॥

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च॥१९०॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः॥१९१॥
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति॥१९२॥

संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि। तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः। आस्रवभावः कर्महेतुः। कर्म नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः इति। ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति।

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रम से होता है ? उसका उत्तर कहते हैं :–

रागादि के हेतू कहें, सर्वज्ञ अध्यवसान को।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योग को॥१९०॥

कारण अभाव जरूर आस्रवरोध ज्ञानी को बने।
आस्रवभाव अभाव में, नहिं कर्म का आना बने॥१९१॥

है कर्म के जु अभाव से, नोकर्म का रोधन बने।
नोकर्म का रोधन हुए, संसार संरोधन बने॥१९२॥

गाथार्थ :– [**तेषां**] उनके (पूर्वकथित राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों के) [**हेतवः**] हेतु [**सर्वदर्शिभिः**] सर्वदर्शियों ने [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व, [**अज्ञानम्**] अज्ञान, [**अविरतिभावः च**] और अविरतिभाव [**योगः च**] तथा योग [**अध्यवसानानि**] यह (चार) अध्यवसान [**भणिताः**] कहे हैं। [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियों के [**हेत्वभावे**] हेतुओं के अभाव में [**नियमात्**] नियम से [**आस्रवनिरोधः**] आस्रवों का निरोध [**जायते**] होता है, [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभाव के बिना [**कर्मणः अपि**] कर्म का भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है, [**च**] और [**कर्मणः अभावेन**] कर्म के अभाव से [**नोकर्मणाम् अपि**] नोकर्मों का भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है, [**च**] और [**नोकर्मनिरोधेन**] नोकर्म के निरोध से [**संसारनिरोधनं**] संसार का निरोध [**भवति**] होता है।

टीका :– पहले तो जीव के, आत्मा और कर्म के एकत्व का अध्यास (अभिप्राय) जिनका मूल है ऐसे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभाव के कारण हैं; आस्रवभाव कर्म का कारण है; कर्म नोकर्म का कारण है; और नोकर्म संसार का कारण

ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति। ततो नोकर्म भवति। ततः संसारः प्रभवति। यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोग-लक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः। तदभावे भवति कर्माभावः। तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः। तदभावेऽपि भवति संसाराभावः। इत्येष संवरक्रमः ॥१९०-१९२॥

(उपजाति)

संपद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

है। इसलिए सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्म के एकत्व के अध्यास से मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगमय आत्मा को मानता है (अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है); इसलिए राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव को भाता है, उससे कर्मास्रव होता है, उससे नोकर्म होता है और उससे संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को उपलब्ध करता है – अनुभव करता है तब मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रवभाव के कारण हैं उनका अभाव होता है; अध्यवसानों का अभाव होने पर राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव का अभाव होता है; आस्रवभाव का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है कर्म का अभाव होने पर नोकर्म अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। इसप्रकार यह संवर का क्रम है।

भावार्थ :– जीव के जबतक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है – भेदविज्ञान नहीं है तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं; अध्यवसान से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभाव से कर्म बँधता है, कर्म से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्म संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान होता है तब शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसानों का अभाव होता है और उससे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बँधता, कर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है। इसप्रकार संवर का क्रम जानना चाहिए ॥१९०-१९२॥

संवर होने के क्रम में संवर का पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है, अब इसकी भावना के उपदेश का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [एषः साक्षात् संवरः] यह साक्षात् संवर **[किल]** वास्तव में **[शुद्ध-आत्म-तत्त्वस्य उपलम्भात्]** शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से **[सम्पद्यते]** होता है; और **[सः]** वह शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि **[भेदविज्ञानातः एव]** भेदविज्ञान से ही होती है। **[तस्मात्]** इसलिए **[तत् भेदविज्ञानम्]** वह भेदविज्ञान **[अतीव]** अत्यन्त **[भाव्यम्]** भाने योग्य है।

(अनुष्टुभ्)

भावयेद्भेद-विज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

भावार्थ :– जब जीव को भेदविज्ञान होता है अर्थात् जब जीव आत्मा और कर्म को यथार्थतया भिन्न जानता है तब वह शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, शुद्ध आत्मा के अनुभव से आस्रवभाव रुकता है और अनुक्रम से सर्व प्रकार से संवर होता है, इसलिए भेदविज्ञान को अत्यन्त भाने का उपदेश किया है ॥१२९॥

अब, काव्य द्वारा यह बतलाते हैं कि भेदविज्ञान कहाँ तक भाना चाहिए।

श्लोकार्थ :– **[इदम् भेदविज्ञानम्]** यह भेदविज्ञान **[अच्छिन्न-धारया]** अच्छिन्नधारा से (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से) **[तावत्]** तबतक **[भावयेत्]** भाना चाहिए **[यावत्]** जबतक (ज्ञान) **[परात् च्युत्वा]** परभावों से छूटकर **[ज्ञानं]** ज्ञान **[ज्ञाने]** ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) **[प्रतिष्ठते]** स्थिर हो जाये।

भावार्थ :– यहाँ ज्ञान का ज्ञान में स्थिर होना दो प्रकार से जानना चाहिए। एक तो, मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूप में स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो तब ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ कहलाता है। जबतक ज्ञान दोनों प्रकार से ज्ञान में स्थिर न हो जाये तबतक भेदविज्ञान को भाते रहना चाहिए ॥१३०॥

अब पुनः भेदविज्ञान की महिमा बतलाते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[ये केचन सिद्धा:]** जो कोई सिद्ध हुए हैं वे **[किल]** वास्तव में **[भेदविज्ञानत: सिद्धा:]** भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; और **[ये केचन बद्धा:]** जो कोई बंधे हैं वे **[किल]** वास्तव में **[अस्य एव अभावत: बद्धा:]** इस ही के (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।

भावार्थ :– अनादिकाल से लेकर जबतक जीव को भेदविज्ञान नहीं है, तबतक वह कर्म से बँधता ही रहता है, संसार में परिभ्रमण ही करता रहता है; जिस जीव को भेदविज्ञान होता है वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है – मोक्ष को प्राप्त कर ही लेता है। इसलिए कर्मबन्ध का – संसार का मूल, भेदविज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञान के बिना कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ ऐसा भी समझना चाहिए कि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तु को अद्वैत कहते हैं और अद्वैत के अनुभव से ही सिद्धि कहते हैं उनका, भेद-विज्ञान से ही सिद्धि कहने से, निषेध

(मन्दाक्रान्ता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

इति संवरो निष्क्रांतः।

हो गया; क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं उनके किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते वहाँ भेदविज्ञान कैसा ? यदि जीव और अजीव दो वस्तुएँ मानी जायें और उनका संयोग माना जाये तभी भेदविज्ञान हो सकता है और सिद्धि हो सकती है। इसलिए स्याद्वादियों को ही सबकुछ निर्बाधतया सिद्ध होता है॥१३१॥

अब संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होने से जो ज्ञान हुआ उस ज्ञान की महिमा का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[भेदज्ञान-उच्छलन-कलनात्]** भेदज्ञान प्रगट करने के अभ्यास से **[शुद्धतत्त्व उपलम्भात्]** शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से **[रागग्रामप्रलयकरणात्]** राग समूह का विलय हुआ, राग समूह विलय करने से **[कर्मणां संवरेण]** कर्मों का संवर हुआ और कर्मों का संवर होने से, **[ज्ञाने नियतम् एतत् ज्ञानं उदितं]** ज्ञान में ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदय को प्राप्त हुआ **[बिभ्रत् परमम् तोषं]** कि जो ज्ञान परम संतोष को (परम अतीन्द्रिय आनन्द को) धारण करता है, **[अमल-आलोकम्]** जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादि के कारण मलिनता थी वह अब नहीं है), **[अम्लानम्]** जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञान की भाँति कुम्हलाया हुआ – निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोक को जाननेवाला है), **[एकं]** जो एक है (अर्थात् क्षयोपशम से जो भेद था वह अब नहीं है) और **[शाश्वत-उद्योतम्]** जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है)॥१३२॥

टीका :– इसप्रकार संवर (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ :– रंगभूमि में संवर का स्वांग आया था उसे ज्ञान ने जान लिया, इसलिए वह नृत्य करके बाहर निकल गया।

भेदविज्ञान कला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष-विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही।
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातम माहीं,
यो मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं॥

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद्

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ संवरप्ररूपकः पःामोऽङ्कः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणामध्यवसानानामभावो भवतीत्यादिरूपेण संवरस्य क्रमाख्यानं कथयति – **तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं** तेषां प्रसिद्धानां जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणां भावास्रवाणां हेतवः कारणानि भणितानि। कानि ? उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययगतानि रागाद्यध्यवसानानि। कैः ? सर्वदर्शिभिः। ननु अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि, तानि जीवगतान्येव भवंति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययगतानि भावप्रत्ययानि कथं भवंतीति ? नैवं, यतः कारणात् भावकर्म द्विधा भवति। जीवगतं पुद्गलकर्मगतम् च। तथाहि– भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते। पुद्गलपिंडशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतम्। तथा चोक्तं – **पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्वं तु –** इति जीवभावगतं भण्यते। **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु –** इति पुद्गलद्रव्यगतम्। अत्र दृष्टांतो यथा मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं, तद्व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतम्। एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्गलगतं च द्विधेति भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्। कानि ? तानि

अमृचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्ख्याति नामक टीका में संवर का प्ररूपक पाँचवा अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उदय को प्राप्त द्रव्यप्रत्यय स्वरूप रागादि अध्यवसानों का अभाव होने पर जीवगत रागादि भावकर्म रूप अध्यवसानों का अभाव होता है, इत्यादि रूप से संवर का क्रम से व्याख्यान करते हैं– **तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं** उन प्रसिद्ध जीवगत रागादि भावकर्म रूप भावास्रवों का कारण कहा है। किसको कारण कहा है ? उदय को प्राप्त द्रव्यप्रत्ययगत रागादि अध्यवसानों को कारण कहा है। किसके द्वारा उन्हें कारण कहा गया है ? सर्वदर्शी-भगवन्तों द्वारा उन्हें कारण कहा गया है। भावकर्मरूप अध्यवसान जीवगत ही होते हैं तो उदय को प्राप्त द्रव्यप्रत्ययगत रागादि अध्यवसान भावप्रत्यय रूप कैसे होते हैं ? ऐसा नहीं है अर्थात् अध्यवसान तो भावकर्म रूप जीवगत ही हैं, उदय को प्राप्त द्रव्यप्रत्ययगत रागादि अध्यवसान भावप्रत्यय नहीं हैं, ऐसा नहीं है; क्योंकि भावकर्म दो प्रकार के हैं (१) जीवगत तथा (२) पुद्गलकर्मगत।

उसका विशेष कहते हैं – भावक्रोधादि व्यक्ति रूप को जीवगत कहा जाता है तथा पुद्गल पिण्ड शक्तिरूप पुद्गल द्रव्यगत (कहा जाता है)। जैसा कि कहा है – **पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्वं तु –** इसप्रकार जीवभावगत कहा गया है **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** (गो.क.गा. ६) – इसप्रकार पुद्गल द्रव्यगत कहा गया है। यहाँ उदाहरण है – जिसप्रकार मधुर, कटुक आदि द्रव्य खाने के समय जीव की मधुर-कटुक स्वाद की व्यक्ति के विकल्प रूप जीवभावगत है। तथा उस व्यक्ति का कारणभूत मधुर-कटुक द्रव्यगत शक्तिरूप पुद्गल द्रव्यगत है। इसप्रकार भावकर्म का स्वरूप जीवगत और पुद्गल द्रव्यगत दो प्रकार है ऐसा भावकर्म के व्याख्यान के समय सभी जगह जानना चाहिए। किसको जानना चाहिए ? उन अध्यवसानों को जानना चाहिए। **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** वे अध्यवसान मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति तथा योग हैं। इसप्रकार प्रथम गाथा पूर्ण हुई।

हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो पूर्वोक्त उदयागत द्रव्यप्रत्यय जीवगत भावास्रव के हेतु वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के उदयागत द्रव्यकर्मों का अभाव होने पर नियम से (निश्चय से)

अध्यवसानानि। **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिर्योगश्चेति प्रथमगाथा गता। **हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो** पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययानां जीवगतभावास्रवहेतुभूतानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्स उदयागतद्रव्यकर्मरूपाणाम् अभावे सति नियमान्निश्चयात् रागादिरूपभावास्रव निरोधलक्षण: संवरो जायते। **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरास्रवपरमात्मतत्त्वरूपविलक्षणस्य जीवगतभावास्रवस्य भावेन स्वरूपेण विना जायते कर्मणो निरोधरूप: संवर:। कस्य? परमात्मतत्त्वप्रच्छादकनवतर-द्रव्यकर्मण: इति द्वितीयगाथा गता। **कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो** ततश्च नवतरकर्माभावेन संवरेण शरीरादिनोकर्मणां च जायते निरोध: संवर:। **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि** नोकर्मनिरोधेन संवरेण संसारातीतशुद्धात्मतत्त्व प्रतिपक्षभूतद्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारनिरोधनं भवतीति तृतीयगाथा गता। एवं संवरक्रमाख्यानेन गाथात्रयं गतम्॥१९०-१९२॥

एवं पात्रवदास्रवविपक्षभूत: संवरो निष्क्रांत:।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ चतुर्दशगाथाभि: षट्स्थलै: आस्रवविपक्षद्वारेण संवरनामा षष्ठोऽधिकार: समाप्त:।

रागादि रूप भावास्रव के निरोध लक्षण वाला संवर प्रकट होता है। **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरास्रव परमात्मतत्त्व से विलक्षण (भिन्न) जीवगत भावास्रव के भावस्वरूप के बिना कर्म के निरोध रूप संवर प्रगट होता है। किसका संवर होता है ? परमात्मतत्त्व को आच्छादन करने वाले नवीन द्रव्यकर्मों का संवर होता है – इस तरह दूसरी गाथा पूर्ण हुई।

कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो तत्पश्चात् नवीन कर्म के अभाव रूप संवर से शरीरादि नोकर्मों के निरोध रूप संवर प्रगट होता है और **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि** नोकर्म के निरोध रूप संवर से संसारातीत शुद्धात्मतत्त्व के प्रतिपक्षभूत द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव इन पांच प्रकार के संसार पंच-परावर्तन का निरोध होता है, इसप्रकार तीसरी गाथा पूर्ण हुई। इस तरह संवर क्रम के कथन द्वारा तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥१९०-१९२॥

इसप्रकार पात्र की तरह आस्रव का विपक्षभूत संवर चला जाता है।

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्य द्वारा रचित शुद्धात्मानुभूति लक्षण रूप तात्पर्यवृत्तिनामक समयसार व्याख्यान में चौदह गाथाओं द्वारा तथा छह स्थलों द्वारा आस्रव का विरोधी संवर नामक छठवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

जहाँ न रागादिक दसा, सो सम्यक् परिनाम।
यातैं सम्यक्वंत कौ, कह्यौ निरास्रव नाम॥

समयसार नाटक, छन्द १०, पृष्ठ ११४

यह निचोर या ग्रंथ कौ, यहै परम रस पौख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोक्ष॥

समयसार नाटक, छन्द १३, पृष्ठ ११७

६

निर्जरा-अधिकार

अथ प्रविशति निर्जरा।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति॥१३३॥

(दोहा)

रागादि कूँ मेटि करि, नवे बंध हति संत।
पूर्व उदय में सम रहे, नमूँ निर्जरावंत॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब निर्जरा प्रवेश करती है'। यहाँ तत्त्वों का नृत्य है; अतः जैसे नृत्यमंच पर नृत्य करनेवाला स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ रंगभूमि में निर्जरा का स्वाँग प्रवेश करता है।

अब, सर्व स्वाँग को यथार्थ जाननेवाले सम्यग्ज्ञान को मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगल के लिए प्रथम उसी निर्मल ज्ञानज्योति को ही प्रगट करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**परः संवरः**] परम संवर, [**रागादि-आस्रव-रोधतः**] रागादि आस्रवों को रोकने से [**निज-धुरां धृत्वा**] अपनी कार्य-धुरा को धारण करके (अपने कार्य को यथार्थतया सँभालकर) [**समस्तम् आगामि कर्म**] समस्त आगामी कर्म को [**भरतः दूरात् एव**] अत्यन्ततया दूर से ही [**निरुन्धन् स्थितः**] रोकता हुआ खड़ा है; [**तु**] और [**प्राग्बद्धं**] पूर्वबद्ध (संवर होने के पहले बँधे हुए) [**तत् एव दग्धुम्**] कर्म को जलाने के लिये [**अधुना**] अब [**निर्जरा व्याजृम्भते**] निर्जरा (निर्जरारूपी अग्नि) फैल रही है [**यतः**] जिससे [**ज्ञानज्योतिः**] ज्ञानज्योति [**अपावृतं**] निरावरण होती हुई (पुनः) [**रागादिभिः न हि मूर्छति**] रागादिभावों के द्वारा मूर्च्छित नहीं होती – सदा अमूर्च्छित रहती है।

भावार्थ :– संवर होने के बाद नवीन कर्म तो नहीं बंधते और जो कर्म पहले बँधे हुये थे उनकी

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।१९३।।

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम्।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम्।।१९३।।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव। रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात्। स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात्। एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम्।।१९३।।

जब निर्जरा होती है तब ज्ञान का आवरण दूर होने से वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप परिणमित नहीं होता – सदा प्रकाशरूप ही रहता है।।१३३।।

अब द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं :–

चेतन अचेतन द्रव्य का, उपभोग इन्द्रिसमूह से।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जराकारण बने।।१९३।।

गाथार्थ :– [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**यत्**] जो [**इन्द्रियैः**] इन्द्रियों के द्वारा [**अचेतनानाम्**] अचेतन तथा [**इतरेषाम्**] चेतन [**द्रव्याणाम्**] द्रव्यों का [**उपभोगम्**] उपभोग [**करोति**] करता है [**तत् सर्वं**] वह सर्व [**निर्जरानिमित्तम्**] निर्जरा का निमित्त है।

टीका :– विरागी का उपभोग निर्जरा के लिये ही है (वह निर्जरा का कारण होता है)। रागादिभावों के सद्भाव से मिथ्यादृष्टि के अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग बंध का निमित्त होता है; वही (उपभोग), रागादिभावों के अभाव से सम्यग्दृष्टि के लिए निर्जरा का निमित्त होता है। इसप्रकार द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा है और ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का अभाव कहा है; इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसके इन्द्रियों के द्वारा भोग दिखाई देता हो तथापि उसे भोग की सामग्री के प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि ''यह (भोगों की सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नही है; कर्मोदय के निमित्त से इसका और मेरा संयोग-वियोग है।'' जबतक उसे चारित्रमोह का उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होने से पीड़ा को सहन नहीं कर सकता, तबतक जैसे रोगी रोग की पीड़ा को सहन नहीं कर सकता तब उसका औषधि इत्यादि के द्वारा उपचार करता है। इसीप्रकार भोगोपभोग सामग्री के द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोग को या औषधि को अच्छा नहीं मानता उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोह के उदय को या भोगोपभोग सामग्री को अच्छा नहीं मानता और निश्चय से तो, ज्ञातृत्व के कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मों को मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे राग-द्वेष-मोह नहीं है। इसप्रकार राग-द्वेष-मोह के बिना ही उनके फल को

समुदायपातनिका – तत्रैवं सति रंगभूमे: सकाशात् शृंगाररहितपात्रवत् शुद्धजीवस्वरूपेण संवरो निष्क्रांत:। अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका **निर्जरा प्रविशति। 'उवभोजमिंदियेहिं'** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा दंडकान् विहाय पाठक्रमेण पंचाशद्गाथापर्यन्तं षट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यानं करोति। तत्र द्रव्यनिर्जराभाव-निर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तीनां क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनंतरं ज्ञान-वैराग्यशक्ते: सामान्यव्याख्यानार्थं **'सेवंतोवि ण सेवदि'** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापंचकम्। तत: परं तयोरेव ज्ञान-वैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणार्थं **'परमाणुमित्तियंपि'** इत्यादि तृतीयस्थले सूत्रदशकम्। ततश्च मतिश्रुतावधिमन:पर्यय-केवलज्ञानानामभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मुक्तिकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं येन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्य-व्याख्यानार्थं **'णाणगुणेण विहीणा'** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टकम्। तत: परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणार्थं **'णाणी रागप्पजहो'** इत्यादि पंचमस्थले गाथा: चतुर्दश। तदनंतरं शुद्धनयमाश्रित्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रितानां निश्चयनिश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानार्थं **'सम्मादिट्ठी जीवो'** इत्यादि षष्ठस्थले सूत्रनवकं कथयति। इति षड्भिरंतराधिकारै: निर्जराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति – **उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी** सम्यग्दृष्टि: कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणां संबंधि यद्वस्तूपभोग्यं करोति। कै: कृत्वा ? पंचेन्द्रियविषयै:। **तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं** तद्वस्तु मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानां सद्भावेन बंधकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवतीति। अत्राह शिष्य: – रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादय: संति, तत: कथं निर्जराकारणं भवतीति ? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहार:। अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतराग-सम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं, तत्र तु परिहार: पूर्वमेव भणित:। कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टे: सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टे: अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता:, श्रावकस्य चाऽप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनिता: रागादयो न संतीत्यादि। किंच सम्यग्दृष्टे: संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बंधपूर्विका भवति, तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबंधक इति। एवं द्रव्यनिर्जरा-व्याख्यानरूपेण गाथा गता॥१९३॥

भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्म का आस्रव नहीं होता, कर्मास्रव के बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं; क्योंकि उदय में आने के बाद कर्म की सत्ता रह ही नहीं सकती। इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्म की निर्जरा हो जाने से उसके केवल निर्जरा ही हुई। इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी के भोगोपभोग को निर्जरा का ही निमित्त कहा गया है। पूर्वकर्म उदय में आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्यनिर्जरा है॥१९३॥

....

समूहपीठिका – वहाँ इसप्रकार होने पर शृंगार रहित पात्र के समान शुद्धजीव स्वरूप से संवर रंगभूमि से निकल गया। अब वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग लक्षण वाली संवरपूर्वक निर्जरा प्रवेश करती है। **'उवभोजमिंदिएहिं'** इत्यादि गाथा से प्रारंभ करके दण्डकों को छोड़कर पाठक्रम से ५० गाथा पर्यन्त छह स्थलों के द्वारा निर्जरा का व्याख्यान करते हैं। वहाँ द्रव्यनिर्जरा-भावनिर्जरा एवं ज्ञान शक्ति व वैराग्य शक्ति का क्रम से व्याख्यान करते हैं। इस तरह पीठिका के रूप में प्रथम स्थल में चार गाथाएँ हैं। उसके बाद ज्ञान वैराग्य शक्ति का सामान्य व्याख्यान करने के लिए **'सेवंतोवि ण सेवदि'** इत्यादि द्वितीय स्थल में पांच गाथाएँ है। उसके बाद उन्हीं ज्ञान वैराग्य शक्तियों के विशेष विवरण के लिए **'परमाणुमित्तियंपि'**

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति –

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं व दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अध णिज्जरं जादि॥१९४॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दु:खं वा।
तत्सुखदु:खमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति॥१९४॥

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्त: सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनाया: सुखरूपो वा दु:खरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति। स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे: रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्ण: सन् बंध एव स्यात्; सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्ण: सन्निर्जरैव स्यात्॥१९४॥

इत्यादि तीसरे स्थल में दस गाथा सूत्र हैं। फिर मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय तथा केवलज्ञान इन ज्ञानों का अभेदरूप से परमार्थ संज्ञक मुक्ति का कारणभूत जो परमात्मपद है, उस पद को, जिसे अपने स्वसंवेदन ज्ञानगुण के द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसका सामान्य व्याख्यान करने के लिए **'णाणगुणेणविहीणा'** इत्यादि चौथे स्थल में आठ गाथा सूत्र हैं। उसके बाद उस ही ज्ञानगुण का विशेष विवरण देने के लिए **'णाणीरागप्पजहो'** इत्यादि पांचवे स्थल में चौदह गाथाएँ हैं। उसके बाद शुद्धनय का आश्रय लेकर चिदानन्द एकस्वभाव शुद्धात्मभावना का आश्रय करनेवाले के निश्चय नि:शंकादि आठ गुणों का कथन करने के लिए **'सम्मादिट्ठी जीवो'** इत्यादि छठवें स्थल में नौ गाथा सूत्र कहते हैं। इसप्रकार छह अन्तराधिकारों द्वारा निर्जरा अधिकार में समूह रूप पातनिका भूमिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – उसका विशेष अब द्रव्यनिर्जरा का कथन करते हैं – **उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी** सम्यग्दृष्टि जीव चेतन अचेतन सम्बन्धी जिसवस्तु का उपभोग करता है। किसके द्वारा उपभोग करता है ? पंचेन्द्रिय विषयों के द्वारा उपभोग करता है। **तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं** उस वस्तु का भोग मिथ्यादृष्टि जीव के राग-द्वेष-मोह के सद्भाव से बन्ध का कारण होने पर भी, सम्यग्दृष्टि जीव के राग-द्वेष-मोह के अभाव से समस्त ही (भोग) निर्जरा के निमित्त होते हैं।

यहाँ शिष्य पूछता है – राग-द्वेष-मोह के अभाव होने पर भोग निर्जरा के कारण हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के रागादि होते हैं, अत: भोग कैसे निर्जरा का कारण होता है ? इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं – यहाँ इस ग्रन्थ में, इस स्थल पर (द्रव्यनिर्जरा के प्रकरण में) मुख्यपने से वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है, किन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का गौणपने से ग्रहण किया है। वहाँ इसका निराकरण पहले ही कहा है। कैसे कहा है ? मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से अव्रती सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व उदयजनित मोह राग द्वेष नहीं है और देशसंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक को अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ उदयजनित रागादि नहीं होते हैं। अत: सम्यग्दृष्टि के संवरपूर्वक निर्जरा होती है, जबकि मिथ्यादृष्टि के तो गजस्नान समान बन्धपूर्वक निर्जरा होती है। इसकारण से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अबन्धक है। इसप्रकार द्रव्यनिर्जरा के व्याख्यान रूप गाथा पूर्ण हुई॥१९३॥

(अनुष्टुभ्)

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ।।१३४।।

अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं :–

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।
इन उदित सुख-दुख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है।।१९४।।

गाथार्थ :– [**द्रव्ये उपभुज्यमाने**] वस्तु भोगने में आने पर, [**सुखं वा दुःखं वा**] सुख अथवा दुख [**नियमात्**] नियम से [**जायते**] उत्पन्न होता है; [**उदीर्णं**] उदय को प्राप्त (उत्पन्न हुए) [**तत् सुखदुःखम्**] उस सुखदुःख का [**वेदयते**] अनुभव करता है, [**अथ**] पश्चात् [**निर्जरां याति**] वह (सुखदुःखरूप भाव) निर्जरा को प्राप्त होता है।

टीका :– परद्रव्य भोगने में आने पर, उसके निमित्त से जीव का सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से ही उदय होता है अर्थात् उत्पन्न होता है, क्योंकि वेदन साता और असाता –इन दो प्रकारों का अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकार का ही है – सातारूप और असातारूप)। जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भाव का वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टि को, रागादिभावों के सद्भाव से बंध का निमित्त होकर (वह भाव) निर्जरा को प्राप्त होता हुआ भी (वास्तव में) निर्जरित न होता हुआ, बन्ध ही होता है; किन्तु सम्यग्दृष्टि के, रागादिभावों के अभाव से बन्ध का निमित्त हुए बिना, केवलमात्र निर्जरित होने से (वास्तव में) निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है।

भावार्थ :– परद्रव्य भोगने में आने पर, कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि के रागादि के कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है इसलिए उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अतः मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य के भोगते हुए बन्ध ही होता है। सम्यग्दृष्टि के रागादिक न होने से आगामी बन्ध किये बिना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है, इसलिए उसे निर्जरित कहा है; अतः सम्यग्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर निर्जरा ही होती है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के भावनिर्जरा होती है।।१९४।।

अब आगामी गाथाओं की सूचना के रूप में श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**किल**] वास्तव में [**तत् सामर्थ्यं**] वह (आश्चर्य कारक) सामर्थ्य [**ज्ञानस्य एव**] ज्ञान की ही है [**वा**] अथवा [**विरागस्य एव**] विराग की ही है [**यत्**] कि [**कः अपि**] कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) [**कर्म भुञ्जानः अपि**] कर्मों को भोगता हुआ भी [**कर्मभिः न बध्यते**] कर्मों से नहीं बँधता ! (वह अज्ञानी को आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।)।।१३४।।

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति –

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी ॥१९५॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥१९५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्यायति – **दव्वे उवभुजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च** उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवशेन सुखं दुःखं वा वस्तुस्वभावत एव जायते तावत्। **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि** निरुपरागस्वसंवित्तिभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्नं तत्सुखं दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति। **अथ णिज्जरं जादि** अथ अहो ततः कारणान्निर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्तं भवति। मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्ध्या सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बंधकारणं भवति। किंच, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति। तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति विषयसुखं च हेयं जानाति, तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्। इति भावनिर्जराव्याख्यानं गतम् ॥१९४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं – **दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च** उदयागत द्रव्यकर्मों को जीव के द्वारा भोगे जाने पर नियम से निश्चय से साता-असाता के उदय के वश से वस्तु स्वभाव से सुख अथवा दुःख उत्पन्न होता है। **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि** सम्यग्दृष्टि जीव निरुपराग निर्विकल्पस्वानुभव से उत्पन्न होने वाले पारमार्थिक सुख से भिन्न उन सुखों अथवा दुखों की, सम्यक् उदीरणा करता हुआ, राग-द्वेष न करता हुआ, हेयबुद्धि से वेदन करता है और तन्मय होकर मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ – इस रूप प्रत्यय से (ऐसी बुद्धि से) अनुभव नहीं करता है। **अथ णिज्जरं जादि** इसकारण से वह निर्जरा को प्राप्त होता है, अपने स्वस्थ भाव से निर्जरा का निमित्त होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि के उपादेय बुद्धि से मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इस रूप प्रत्यय से (ऐसी बुद्धि से) बन्ध का कारण होता है।

विशेष यह है कि जैसे कोई भी चोर यद्यपि मरण को नहीं चाहता है तथापि कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर, मरण का अनुभव करता है। उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मीक सुख को उपादेय जानता है और विषय सुख को हेय जानता है, तथापि चारित्र मोह के उदयरूप कोतवाल द्वारा पकड़े जाने पर उन (भोगों) का अनुभव करता है, इस कारण वे भोग निर्जरा के निमित्त होते हैं। इसप्रकार भाव निर्जरा का कथन हुआ ॥१९४॥

....

अब ज्ञान का सामर्थ्य बतलाते हैं :–

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्य जन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं ॥१९५॥

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी॥१९५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति – **जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि** यथा विषमुपभुंजानाः संतो गारुडविद्यापुरुषाः अमोघमंत्रसामर्थ्यात् नैव मरणमुपयांति। **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झदे णाणी** तथा परमतत्त्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफलं भुंक्ते तथापि निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेद-ज्ञानामोघमंत्रबलान्नैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्तिव्याख्यानं गतम्॥१९५॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जिसप्रकार [**वैद्यः पुरुषः**] वैद्य पुरुष [**विषम् उपभुंजानः**] विष को भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [**मरणम् न उपयाति**] मरण को प्राप्त नहीं होता, [**तथा**] उसी प्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी पुरुष [**पुद्गलकर्मणः**] पुद्गलकर्म के [**उदयं**] उदय को [**भुंक्ते**] भोगता है तथापि [**न एव बध्यते**] बँधता नहीं है।

टीका :– जिसप्रकार कोई विषवैद्य, दूसरों के मरण के कारणभूत विषको भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से – विष की शक्ति रुक गई होने से नहीं मरता; उसीप्रकार अज्ञानियों को रागादिभावों का सद्भाव होने से बन्ध का कारण जो पुद्गल कर्म का उदय उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से – कर्मोदय शक्ति रुक गई होने से बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र औषधि इत्यादि अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की घातक शक्ति का अभाव कर देता है जिससे विष के खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी के ज्ञान का ऐसा सामर्थ्य है कि वह कर्मोदय को बन्ध करने की शक्ति का अभाव करता है और ऐसा होने से कर्मोदय को भोगते हुए भी ज्ञानी के आगामी कर्मबन्ध नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य कही गई है॥१९५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान की सामर्थ्य दिखलाते हैं –

जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि जैसे विष को भोगते हुये गारूड़ी विद्या जानने वाले पुरुष अमोघमंत्र की सामर्थ्य से मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झदे णाणी** उसी प्रकार श्रेष्ठ तत्त्वज्ञानी (सम्यग्दृष्टि जीव) शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है तथापि निर्विकल्प समाधि लक्षणरूप भेदज्ञान के अमोघ मंत्र के बल से कर्मों से नहीं बंधता है। – इसप्रकार ज्ञानशक्ति का व्याख्यान हुआ॥१९५॥

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति –

जह मज्जं पिबमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव॥१९६॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव॥१९६॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति, तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी॥१९६॥

(रथोद्धता)

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः॥१३५॥

अब वैराग्य का सामर्थ्य बतलाते हैं :–

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं।
द्रव्योपभोग विषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं॥१९६॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**पुरुषः**] कोई पुरुष [**मद्यं**] मदिरा को [**अरतिभावेन**] अरतिभाव से (अप्रीति से) [**पिबन्**] पीता हुआ [**न माद्यति**] मतवाला नहीं होता, [**तथा एव**] इसीप्रकार [**ज्ञानी अपि**] ज्ञानी भी [**द्रव्योपभोगे**] द्रव्य के उपभोग के प्रति [**अरतः**] अरत (वैराग्य भाव में) वर्तता हुआ [**न बध्यते**] बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

टीका :– जैसे कोई पुरुष, मदिरा के प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी, तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला नहीं होता; उसीप्रकार ज्ञानी भी, रागादिभावों के अभाव से सर्व द्रव्यों के उपभोग के प्रति जिसको तीव्र वैराग्य भाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, विषयों को भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभाव की सामर्थ्य के कारण (कर्मों से) बन्ध को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– यह वैराग्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयों का सेवन करता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता॥१९६॥

अब इस अर्थ का और आगामी गाथा के अर्थ का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यत्**] क्योंकि [**ना**] यह (ज्ञानी) पुरुष [**विषयसेवने अपि**] विषय सेवन करता हुआ भी [**ज्ञानवैभव-विरागता-बलात्**] ज्ञानवैभव और विरागता के बल से [**विषयसेवनस्य स्वं फलं**] विषयसेवन के निजफल को (रंजित परिणाम को) [**न अश्नुते**] नहीं भोगता – प्राप्त नहीं होता, [**तत्**] इसलिए [**असौ**] यह (पुरुष) [**सेवकः अपि असेवकः**] सेवक होने पर भी असेवक है (अर्थात् विषयों का सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता)।

अथैतदेव दर्शयति –

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोई।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि ।।१९७।।

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित्।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ।।१९७।।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रिय-

---

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ संसारशरीरभोगविषये वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति – **जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो** यथा कश्चित् पुरुषो व्याधिप्रतीकारनिमित्तं मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौषधं निक्षिप्य मद्यं पिबन्नपि रतेरभावान्न माद्यति। **दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव** तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पंचेंद्रियविषयभूताशन-पानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता यावतांशेन निर्विकारस्वसंवित्तिशून्यबहिरात्मजीवापेक्षया रागभावं न करोति, तावता तावतांशेन कर्मणा न बध्यते। यदा तु हर्षविषादादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानबलेन सर्वथा वीतरागो भवति तदा सर्वथा न बध्यत इति वैराग्यशक्तिव्याख्यानं गतम्। एवं यथाक्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञान-शक्तिवैराग्यशक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ।।१९६।।

भावार्थ :– ज्ञान और विरागता की ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विषय-सेवन का फल जो रंजित परिणाम है उसे ज्ञानी नहीं भोगता – प्राप्त नहीं करता ।।१३५।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब संसार, शरीर तथा भोग के विषय में वैराग्य की सामर्थ्य को दिखलाते हैं – **जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो** जैसे कोई पुरुष रोग के इलाज के निमित्त मद्य में मद्य विरोधी औषधि डालकर मद्य को पीते हुए भी रतिभाव के अभाव के कारण मतवाला नहीं होता है। **दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव** उसीप्रकार परमात्म तत्त्वज्ञानी (सम्यग्दृष्टि जीव) पंचेन्द्रिय के विषयभूत खान-पान आदि द्रव्यों का उपभोग करते हुए भी जितने-जितने अंश से, निर्विकार स्वसंवेदन से रहित बहिरात्मा जीव की अपेक्षा, रागभाव को नहीं करता है, उतने-उतने अंश से कर्मों से नहीं बंधता है। किन्तु हर्ष-विषाद रूप समस्त विकल्पजाल रहित परमयोग लक्षण रूप भेदज्ञान के बल से सर्वथा वीतराग होता है, तब सर्वथा नहीं बंधता है। ऐसा वैराग्य शक्ति का व्याख्यान हुआ। इसप्रकार यथाक्रम से द्रव्यनिर्जरा-भावनिर्जरा-ज्ञानशक्ति-वैराग्यशक्ति के प्रतिपादन रूप से निर्जरा अधिकार में तात्पर्य व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं ।।१९६।।

....

अब इसी बात को प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं :–

सेता हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहिं हुए ।।१९७।।

गाथार्थ :– [**कश्चित्**] कोई तो [**सेवमानः अपि**] विषयों को सेवन करता हुआ भी [**न सेवते**]

माणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः, तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसंचितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव, मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ॥१९७॥

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

सेवन नहीं करता और [**असेवमानः अपि**] कोई सेवन न करता हुआ भी [**सेवकः**] सेवन करनेवाला है [**कस्य अपि**] जैसे किसी पुरुष के [**प्रकरणचेष्टा**] [1]प्रकरण की चेष्टा (कोई कार्य सम्बन्धी क्रिया) वर्तती है [**न च सः प्राकरणः इति भवति**] तथापि वह [2]प्राकरणिक नहीं होता।

टीका :– जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरण क्रिया में प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरण का स्वामित्व न होने से प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरण की क्रिया में प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरण का स्वामित्व होने से प्राकरणिक है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदय से प्राप्त हुए विषयों का सेवन करता हुआ भी रागादिक भावों के अभाव के कारण विषयसेवन के फल का स्वामित्व न होने से असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयों का सेवन न करता हुआ भी रागादिक भावों के सद्भाव के कारण विषय सेवन के फल का स्वामित्व होने से सेवन करनेवाला ही है।

भावार्थ :– जैसे किसी सेठ ने अपनी दुकान पर किसी को नौकर रखा और वह नौकर ही दुकान का सारा व्यापार खरीदना-बेचना इत्यादि सारा काम-काज करता है तथापि वह सेठ नहीं है, क्योंकि वह उस व्यापार का और उस व्यापार के हानि-लाभ का स्वामी नहीं है; वह तो मात्र नौकर है, सेठ के द्वारा कराये गये सब काम-काज को करता है। और जो सेठ है वह व्यापार सम्बन्धी कोई काम-काज नहीं करता, घर ही बैठा रहता है तथापि उस व्यापार तथा उसके हानि-लाभ का स्वामी होने से वही व्यापारी (सेठ) है। यह दृष्टान्त सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिए। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि विषयों का सेवन करनेवाला नहीं है, और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है ॥१९७॥

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञान-वैराग्य-शक्तिः भवति**] सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है; [**यस्मात्**] क्योंकि [**अयं**] वह (सम्यग्दृष्टि जीव) [**स्व-अन्य-रूप-आप्ति-मुक्त्या**] स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि के द्वारा [**स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्**]

---

१. प्रकरण – कार्य, २. प्राकरणिक – कार्य करने वाला।

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति –

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को॥१९८॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः॥१९८॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैतदेव वैराग्यशक्तिस्वरूपं विवृणोति – **सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोवि** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वकीयगुणस्थानयोग्याशनपानादिपंचेंद्रियभोगं सेवमानोऽपि सेवको न भवति। अन्यः पुनरज्ञानी कश्चिद् रागादिसद्भावादसेवमानोऽपि सेवको भवति। अमुमेवार्थं दृष्टांतेन दृढयति। **पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि** यथा कस्यापि परगृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति, तथापि विवाहादिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्राकरणिको न भवति। अन्य पुनः प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्राकरणिको भवति। तथा **परमतत्त्वज्ञानी** सेवमानोऽप्यसेवको भवति। अज्ञानी जीवो रागादि-सद्भावादसेवकोऽपि सेवक इति॥१९७॥

अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिए, **[इदं स्वं च परं]** 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' **[व्यतिकरम्]** इस भेद को **[तत्त्वतः]** परमार्थ से **[ज्ञात्वा]** जानकर **[स्वस्मिन् आस्ते]** स्व में स्थिर होता है और **[परात् रागयोगात्]** पर से – राग के योग से **[सर्वतः]** सर्वतः **[विरमति]** विरमता (रुकता) है। (यह रीति ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती)॥१३६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उस ही वैराग्य शक्ति के स्वरूप का वर्णन करते हैं –

सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो कोवि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानी जीव अपने गुणस्थान के योग्य भोजन-पान आदि पंचेन्द्रिय भोग को सेवन करता हुआ भी सेवन करने वाला नहीं है और दूसरा अज्ञानी जीव रागादि का सद्भाव होने से सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है। इस ही अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं। **पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि** जिसप्रकार कोई भी दूसरे घर से आये हुए मेहमान की, विवाह आदि प्रकरण में, यद्यपि चेष्टा (नृत्य गीतादिरूप क्रिया होती) है तथापि विवाह आदि के प्रकरण के स्वामित्व का अभाव होने से वह प्राकरणिक नहीं होता है; जबकि अन्य पुरुष जो प्रकरण का स्वामी है, वह नृत्य गीत आदि प्रकरण – व्यापार को न करता हुआ भी प्रकरण के प्रति राग होने से प्राकरणिक है। उसीप्रकार परमार्थ तत्त्वज्ञानी जीव विषय का सेवन करता हुआ भी असवेक होता है। अज्ञानी जीव रागादि के सद्भाव के कारण सेवन न करता हुआ भी विषय सेवन करनेवाला है॥१९७॥

....

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि सामान्यतया स्व और पर को इसप्रकार जानता है :–

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टिः विशेषेण स्वपरावेवं जानाति –

पोग्गलकम्मं रागो[१] तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमेक्को ॥१९९॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः।
न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः॥१९९॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति – **उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं** उदयविपाको विविधो नानाप्रकारः कर्मणां संबंधी वर्णितः कथितः, जिनवरैः। **ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को** ते कर्मोदयप्रकारा कर्मभेदा मम स्वभावा न भवंति इति। कस्मात्? इति चेत् – टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावोऽहं यतः कारणात् सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वरूपावेवं जानाति इति भणितम्। कथं सामान्यं ? इति चेत्, क्रोधोऽहं मानोऽहमित्यादि विवक्षा नास्तीति। तदपि कथमिति चेत् ? ''**विवक्षाया अभावः सामान्यमिति वचनात्**'' एवं भेदभावनारूपेण ज्ञानवैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापःाकं गतम्। इति ऊर्ध्वं गाथादशकपर्यंतं पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणं करोति॥१९८॥

गाथार्थ :– [**कर्मणां**] कर्मों के [**उदयविपाकः**] उदय का विपाक (फल) [**जिनवरैः**] जिनेन्द्र देव ने [**विविधः**] अनेक प्रकार का [**वर्णितः**] कहा है [**ते**] वे [**मम स्वभावाः**] मेरे स्वभाव [**न तु**] नहीं हैं; [**अहम् तु**] मैं तो [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभाव हूँ।

टीका :– जो कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ।

भावार्थ :– इसप्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावों को सम्यग्दृष्टि पर जानता है और अपने को एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सम्यग्दृष्टि सामान्य से स्व तथा पर के स्वभाव को अनेक प्रकार से जानता है – **उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं** जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा कर्म सम्बन्धी उदय के विपाक (फल) को अनेक प्रकार का कहा गया है। **ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमेक्को** वे कर्मोदय के प्रकार एवं कर्म के भेद मेरे स्वभाव नहीं हैं। किस कारण से मेरे स्वभाव नहीं हैं ? क्योंकि मैं तो टंकोत्कीर्ण, परमानन्द, ज्ञायक, एक स्वभावरूप हूँ। सम्यग्दृष्टि सामान्य से स्व-पर के स्वरूप को इसप्रकार जानता है ऐसा कहा गया है। सामान्य से कैसा जानता है ? मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ, इत्यादि विवक्षा नहीं है। वह विवक्षा भी कैसे नहीं है? ''**विवक्षा के अभाव को सामान्य कहते हैं**'' **– ऐसा वचन है।** इस प्रकार भेदभावना रूप से ज्ञान और वैराग्य के सामान्य व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हुईं। यहाँ से आगे दस गाथाओं तक ज्ञान वैराग्य शक्तियों का विशेष विवरण करते हैं॥१९८॥

---

१. पाठान्तर = कोहो

एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्। एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म-मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राण-रसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि॥१९९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वरूपमेव विशेषेण जानाति – **पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो** पुद्‌गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाकः फलरूप उदयो भवति। स कः ? शांतात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एषः अक्षमारूपो भावः क्रोधः। **ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमेक्को** न वैष मम भावः। कस्मात्? इति चेत्, टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकभावोऽहं यतः। किंच, पुद्‌गलकर्मरूपः क्रोधः क्वास्ते ? भावरूप एव दृश्यते इति? नैवम्। पुद्‌गलपिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूपः स भाव-क्रोधः। इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं तिष्ठति। कथं ? इति चेत्, **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि षोडशसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभाव-परिणामस्थानानि वर्जनीयानीति॥१९९॥

अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और पर को इसप्रकार जानता है :–

पुद्‌गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९९॥

गाथार्थ :– [**रागः**] राग [**पुद्‌गलकर्म**] पुद्‌गलकर्म है, [**तस्य**] उसका [**विपाकोदयः**] विपाकरूप उदय [**एषः भवति**] यह है, [**एषः**] यह [**मम भावाः**] मेरा भाव [**न तु**] नहीं है; [**अहम् तु**] मैं तो [**खलु**] निश्चय से [**एकः**] एक [**ज्ञायकभावः**] ज्ञायकभाव हूँ।

टीका :– वास्तव में राग नामक पुद्‌गलकर्म है उसके उदय के विपाक से उत्पन्न हुआ यह राग रूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ। (इसप्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व को और पर को जानता है।) और इसीप्रकार 'राग' पद को बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन – ये शब्द रखकर सोलह सूत्ररूप व्याख्यान करना और इसी उपदेश से दूसरे भी विचारना॥१९९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सम्यग्दृष्टि स्व-पर स्वरूप को ही विशेष रूप से जानता है ऐसा कहते हैं – **पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो** पूर्वबद्ध पुद्‌गल कर्मरूप जो यह द्रव्यक्रोध जीव में रहता है। उसका विशिष्ट पाक या उदय होता है। वह क्या है ? वह शान्त आत्मतत्त्व से पृथक् रूप यह अक्षमा रूप भावक्रोध है। **ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमेक्को** यह भावक्रोध मेरा भाव नहीं है। किस कारण से (मेरा भाव नहीं है) ? क्योंकि टंकोत्कीर्ण परमानन्द रूप ज्ञायक एक भाव मैं हूँ। उसका कुछ विस्तार कहते हैं – पुद्‌गल कर्म रूप क्रोध कहाँ है ? क्रोध तो भाव रूप ही दिखाई देता है? ऐसा नहीं है। पुद्‌गल पिण्ड रूप द्रव्यक्रोध है, उसके उदय जनित जो अक्षमा रूप है वह भावक्रोध है। ऐसा व्याख्यान तो पूर्व में ही किया जा चुका है। कहाँ ? **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि (कथन पहले किया गया है)। इसीप्रकार क्रोध पद को बदलकर मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन नाम से सोलह सूत्र रूप कथन करना चाहिए। उसीप्रकार से अन्य भी असंख्यात लोकमात्र प्रमाण विभावपरिणामों का त्याग करना चाहिए॥१९९॥

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति –

एवं सम्माद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं।
उदयं कम्मविवागं च मुयदि तच्चं वियाणंतो॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम्।
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन्॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णैक-

---

अथ कथं तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति –

ता.अतिरिक्त गाथा १३ – कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी॥

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो कथमेष विविधकर्मोदयफलविपाकस्तवस्वरूपं न भवतीति केनापि पृष्टः तत्रोत्तरं ददाति। **परदव्वाणुवओगो** निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्वशुद्धात्मद्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठन्ति तेषामुपयोग उदयोऽयं, औपाधिकस्फटिकस्य परोपाधिवत्। न केवलं भावक्रोधादि मम स्वरूपं न भवति, इति **ण दु देहो हवदि अण्णाणी** देहोऽपि मम स्वरूपं न भवति हु स्फुटम्। कस्मादिति चेत् ? अज्ञानी जडस्वरूपो यतः कारणात्, अहं पुनः अनंतज्ञानादिगुणस्वरूप इति॥१३॥

अतिरिक्त गाथा १३ का हिन्दी – अब वे क्रोधादि तुम्हारे स्वरूप कैसे नहीं हैं ? ऐसा पूछे जाने पर भेदभावनारूप से उत्तर देते हैं – **(एस)** यह **(विविहो)** विविध **(कम्मोदयफलविवागो)** कर्मोदय के फल का विपाकरूप विभाव परिणाम **(तुज्झ)** तेरा स्वभाव **(कह ण हवदि)** कैसे नहीं है ? **(परदव्वाणुवओगो)** परद्रव्य के उदय में उत्पन्न होने वाले **(अण्णाणी)** अज्ञानमय क्रोधादिभाव और **(देहो दु)** देह भी **(ण हवदि)** तेरा स्वभाव नहीं है।

टीका – कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो यह विविध कर्मोदय के फल विपाक तुम्हारे स्वरूप कैसे नहीं हैं ? ऐसा किसी के द्वारा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं। **परदव्वाणुवओगो** निर्विकार परम आह्लाद एक लक्षण रूप स्वशुद्धात्म द्रव्य से पृथक्, परद्रव्यरूप कर्म जीव में एकक्षेत्रावगाह रूप संलग्न होकर रहते हैं। उनके उपयोग रूप ही यह उदय है जो औपाधिक स्फटिक की पर उपाधि वाले भाव के समान है। केवल भावक्रोधादि ही मेरा स्वरूप नहीं है, अपितु **ण दु देहो हवदि अण्णाणी** स्पष्टत: देह भी मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसा किस कारण से है कि क्रोधादि भाव एवं देह मेरी नहीं है ? क्योंकि वे ज्ञान रहित जड़स्वरूप हैं और मैं अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप हूँ॥१३॥

....

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है – यह इस गाथा द्वारा कहते हैं :–

सद्‌दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता॥२००॥

ज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति। तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुःाति। ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति ।।२००।।

(मन्दाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टि: स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ता: ।।१३७।।

गाथार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**सम्यग्दृष्टि:**] सम्यग्दृष्टि [**आत्मानं**] आत्मा को (अपने को) [**ज्ञायकस्वभावम्**] ज्ञायकस्वभाव [**जानाति**] जानता है [**च**] और [**तत्त्वं**] तत्त्व को अर्थात् यथार्थ स्वरूप को [**विजानन्**] जानता हुआ [**कर्मविपाकं**] कर्म के विपाक रूप [**उदयं**] उदय को [**मुञ्चति**] छोड़ता है।

टीका :– इसप्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावों से विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो आत्मा का तत्त्व उसको (भली-भाँति) जानता है; और इसप्रकार तत्त्व को जानता हुआ, स्वभाव के ग्रहण और परभाव के त्याग से उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्व को विस्तरित (प्रसिद्ध) करता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए समस्त भावों को छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है (यह सिद्ध हुआ)।

भावार्थ :– जब अपने को तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदय से उत्पन्न हुए भावों को आकुलतारूप दुःखमय जाने, तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता – यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही (ज्ञान-वैराग्य) ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।।२००।।

''जो जीव परद्रव्य में आसक्त – रागी हैं और सम्यग्दृष्टित्व का अभिमान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते हैं'' इस अर्थ का कलशरूप काव्य अब कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टि: मे जातु बन्ध: न स्यात्**] ''यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं कहा है)'' [**इति**] ऐसा मानकर [**उत्तान्-उत्पुलक-वदना:**] जिनका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे [**रागिण:**] रागी जीव (परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष-मोहभाववाले जीव) [**अपि**] भले ही [**आचरन्तु**] महाव्रतादि का आचरण करें तथा [**समितिपरतां आलम्बन्तां**] समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करें [**अद्य अपि**] तथापि [**ते पापा:**] वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, [**यत:**] क्योंकि वे [**आत्म-अनात्म-अवगम-विरहात्**] आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से [**सम्यक्त्वरिक्ता: सन्ति**] सम्यक्त्व से रहित हैं।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सम्यग्दृष्टि: स्वस्वभावं जानन् रागादींश्च मुञ्चन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति इति कथयति – **एवं सम्मादिट्ठि अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीव: आत्मानं जानाति। कथंभूतं? टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावम्। **उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्चं वियाणंतो** उदयं पुनर्मम स्वरूपं न भवति कर्मविपाकोऽयमिति मत्वा मुंचति। किं कुर्वन् सन् ? नित्यानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वं त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा जानन्निति ॥२००॥

भावार्थ :– परद्रव्य के प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा ? वह व्रत-समिति का पालन भले ही करे तथापि स्व-पर का ज्ञान न होने से वह पापी ही है। जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा ? क्योंकि जबतक यथाख्यातचारित्र न हो तबतक चारित्रमोह के राग से बन्ध तो होता ही है और जबतक राग रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निंदा-गर्हा करता ही रहता है। ज्ञान के होने मात्र से बन्ध से नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीनतारूप – शुद्धोपयोगरूपचारित्र से बन्ध कट जाते हैं। इसलिए राग होने पर भी, 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

यहाँ कोई पूछता है कि 'व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीव को पापी क्यों कहा गया है ?' उसका समाधान यह है – सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनय की प्रधानता में, व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने की शुभ क्रिया को कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि 'परद्रव्य में जबतक राग रहे तबतक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझ में नहीं आई। अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है ?' उसका समाधान यह है – यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानता से कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होने वाले भावों में आत्मबुद्धि पूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्वपर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है – भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत-समिति का पालन करे तथापि जबतक परजीवों की रक्षा, तथा शरीर सम्बन्धी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभ भावों से अपनी मुक्ति मानता है और परजीवों का घात होना तथा अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभ भावों से ही अपना बन्ध होना मानता है तबतक यह जानना चाहिए कि उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्ध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इसप्रकार जबतक जीव परद्रव्य से ही भला-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है तबतक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत् –

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवौ अयाणंतो ॥२०२॥

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥२०१॥

जबतक अपने में चारित्रमोह सम्बन्धी रागादिक रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि जीव रागादि में तथा रागादि की प्रेरणा से जो परद्रव्य सम्बन्धी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है, उन प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह मानता है कि यह कर्म का जोर है; उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती इसलिए रोग का इलाज करने में प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञान परिणामरूप परिणमन से मानता है। अतः सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है। इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व सहित राग को ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोह सम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा; इसलिए सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-वैराग्य शक्ति अवश्य होती है। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के भावों के) अन्तर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। पहले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है – व्यवहार को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अथवा निश्चय को भली-भाँति जाने बिना व्यवहार से ही मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है। यदि कोई विरल जीव यथार्थ स्याद्वाद न्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है – वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है ॥१३७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव को जानता हुआ, रागादि को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान वैराग्य से संपन्न होता है ऐसा कहते हैं – **एवं सम्मादिट्ठि अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं** इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को जानता है। कैसे (आत्मा को जानता है ?) टंकोत्कीर्ण, परमानन्द, ज्ञायक एक स्वभाव रूप आत्मा को जानता है। **उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्चं वियाणंतो** और क्योंकि उदय मेरा स्वरूप नहीं है, यह तो ''कर्म विपाक है'' ऐसा मानकर (उदय को) छोड़ देता है। क्या करता हुआ (छोड़ देता है)? नित्य आनन्द स्वभाव रूप परमात्म तत्त्व को त्रिगुप्तिरूप समाधि में स्थित होकर, जानता हुआ (छोड़ देता है) ॥२००॥

आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन्॥२०२॥

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति, स्वरूपपररूप-सत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्। ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः॥२०१-२०२॥

अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता ? उसका उत्तर कहते हैं :–

अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव को।
वो सर्व-आगमधर भले हो, जानता नहिं आत्म को॥२०१॥

नहिं जानता जहँ आत्म को, अन-आत्म भी नहिं जानता।
वो क्यों हि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीव को नहिं जानता॥२०२॥

गाथार्थ :– [**खलु**] वास्तव में [**यस्य**] जिस जीव के [**रागादीनां तु परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणुमात्र-लेशमात्र भी रागादिक [**विद्यते**] वर्तता है [**सः**] वह जीव [**सर्वागमधरः अपि**] भले ही सर्वागम का धारी (समस्त आगमों को पढ़ा हुआ) हो तथापि [**आत्मानं तु**] आत्मा को [**न अपि जानाति**] नहीं जानता; [**च**] और [**आत्मानम्**] आत्मा को [**अजानन्**] न जानता हुआ [**सः**] वह [**अनात्मानं अपि**] अनात्मा को (पर को) भी [**अजानन्**] नहीं जानता, [**जीवाजीवौ**] इसप्रकार जो जीव और अजीव को [**अजानन्**] नहीं जानता, वह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**कथं**] कैसे हो सकता है ?

टीका :– जिसके रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्र का भी सद्भाव है, वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता; और जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता, क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता – इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है। (जिसे अनात्मा का – राग का निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा – दोनों का निश्चय होना चाहिए।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता वह जीव और अजीव को नहीं जानता तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिए रागी (जीव) ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।

भावार्थ :– यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह कहे गये हैं। और 'अज्ञानमय' कहने से मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी से हुए रागादिक समझना चाहिए, मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिए; क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादि को चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस राग के प्रति राग नहीं है। और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा

(मन्दाक्रान्ता)

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

है सो इसका कारण इसप्रकार है – सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभराग होता है सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता – उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता, और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है। इसलिए उसके लेशमात्र राग नहीं है।

यदि कोई जीव राग को भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो – वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्र का पालन करता हो तथापि – यह समझना चाहिए कि उसने अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदयजनित राग को ही अच्छा मान रखा है, तथा उसी से अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने और पर के परमार्थस्वरूप को न जानने से जीव-अजीव के परमार्थ स्वरूप को नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा ? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नही हो सकता॥२०१-२०२॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं, जिस काव्य के द्वारा आचार्यदेव अनादिकाल से रागादि को अपना पद जानकर सोये हुये प्राणियों को उपदेश देते हैं :–

श्लोकार्थ :– (श्रीगुरु संसारी भव्यजीवों को सम्बोधन करते हैं कि –) **[अन्धाः]** हे अन्धे प्राणियो! **[आसंसारात्]** अनादि संसार से लेकर **[प्रतिपदम्]** पर्याय-पर्याय में **[अमी रागिणः]** यह रागी जीव **[नित्यमत्ताः]** सदा मत्त वर्तते हुए **[यस्मिन् सुप्ताः]** जिस पद में सो रहे हैं **[तत्]** वह पद अर्थात् स्थान **[अपदम् अपदं]** अपद है-अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है) **[विबुध्यध्वम्]** ऐसा तुम समझो। (अपद शब्द को दो बार कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है।) **[इतः एत एत]** इस ओर आओ – इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) **[पदम् इदम् इदं]** तुम्हारा पद यह है – यह है, **[यत्र]** जहाँ **[शुद्धः शुद्धः चैतन्यधातुः]** शुद्ध–शुद्ध चैतन्यधातु **[स्व-रस-भरतः]** निजरस की अतिशयता के कारण **[स्थायिभावत्वम् एति]** स्थायीभावत्व को प्राप्त है अर्थात् स्थिर है – अविनाशी है। (यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है जो कि द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता को सूचित करता है। समस्त अन्यद्रव्यों से भिन्न होने के कारण आत्मा द्रव्य से शुद्ध है और पर के निमित्त से होनेवाले अपने भावों से रहित होने से भाव से शुद्ध है।)

भावार्थ :– जैसे कोई महान पुरुष मद्य-पान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो उसे कोई आकर जगाये और सम्बोधित करे कि ''यह तेरे सोने का स्थान नहीं है, तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातु से

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति – **परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स** परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटम्। **ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि** स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात् शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मानं न जानाति, नानुभवति। कथंभूतोऽपि? सर्वागमधरोऽपि सिद्धांतसिंधुपारगोऽपि। **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो** स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नं रागादिरूपमनात्मानं चाजानन्। **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवौ अयाणंतो** स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टि: ? न कथमपीति। किंच – रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भि:। तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिन: तीर्थंकरकुमारभरतसगररामपांडवादय: सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति? इति। तन्न, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। कथं इति चेत् ? चतुर्थगुणस्थान-वर्तिनां जीवानां अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्। पंचमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् इति पूर्वमेव भणितमास्ते। अत्र तु ग्रंथे ''पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्'' ॥२०१-२०२॥

निर्मित है, अन्य कुधातुओं के मिश्रण से रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है; इसलिए मैं तुझे जो बतलाता हूँ वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनन्दित हो;'' इसीप्रकार ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादि को भला जानकर, उन्हीं को अपना स्वभाव मानकर, उसी में निश्चिंत होकर सो रहे हैं – स्थित हैं, उन्हें श्रीगुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं – जगाते हैं – सावधान करते हैं कि ''हे अन्ध प्राणियो ! तुम जिस पद में सो रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाह्य अन्य द्रव्यों की मिलावट से रहित तथा अन्तरंग में विकार रहित शुद्ध और स्थायी है उस पद को प्राप्त होओ – शुद्ध चैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो'' ॥१३८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, रागी जीव (राग में एकत्व-स्वामित्व बुद्धि वाला जीव) सम्यग्दृष्टि नहीं है, ऐसा कहते हैं **– परमाणुमित्तयं पि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स** स्पष्टत: जिसके हृदय में परमाणु मात्र भी रागादि विद्यमान है। **ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि** वह परमात्मतत्त्व ज्ञान के अभाव से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी परमात्मा को नहीं जानता है, अनुभव नहीं करता है। कैसा होने पर भी (नहीं जानता है, अनुभव नहीं करता है) ? सर्व आगमधर भी हो अर्थात् समस्त सिद्धान्त का पारगामी-पाठक होता हुआ भी (परमात्मा) को नहीं जानता है, अनुभव नहीं करता है। **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो** स्वसंवेदन ज्ञान के बल से सहज आनंद रूप एक स्वभावी शुद्धात्मा को न जानता हुआ, उसी प्रकार अनुभव नहीं करता हुआ शुद्धात्मा से भिन्न रागादिरूप अनात्मा को नहीं जानता हुआ, **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवौ अयाणंतो** वह पुरुष जीव अजीव के स्वरूप को न जानता हुआ सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है अर्थात् स्वपर के भेदज्ञान से रहित पुरुष किसी भी प्रकार से सम्यग्दृष्टि नहीं होता है।

विशेष यह है कि रागीजीव सम्यग्दृष्टि नहीं है ऐसा आपके द्वारा कहा गया है। तब फिर चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर कुमार, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं हैं ? ऐसा नहीं है। मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा तेतालीस प्रकृतियों के बन्ध का अभाव होने से सराग सम्यग्दृष्टि हैं। कैसे (सरागसम्यग्दृष्टि हैं) ?

किं नाम तत्पदमित्याह –

आदम्हि दव्वभावे अपदे[१] मोत्तूण गिण्ह तह[२] णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम्।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२०३॥

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः; ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम् ॥२०३॥

क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मिथ्यात्व के उदय जनित पत्थर की रेखा के समान रागादि भाव का अभाव होता है। पुनः पंचमगुणस्थानवर्ती जीवों के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय जनित भूमि रेखादि के समान रागादि का अभाव होता है। ऐसा पहले ही कहा गया है। यहाँ इस ग्रन्थ में (इस निर्जरा के प्रकरण में) पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टि का मुख्य रूप से ग्रहण है, सराग सम्यग्दृष्टि का गौण रूप से ग्रहण है। ऐसा व्याख्यान सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र तात्पर्य रूप से जानना चाहिए॥२०१-२०२॥

....

अब यहाँ पूछते हैं कि (हे गुरुदेव !) वह पद क्या है ? उसका उत्तर देते हैं :–

जीव में अपद्भूत द्रव्यभाव को ,छोड़े ग्रहे तू यथार्थ से।
थिर,नियत,एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से ॥२०३॥

गाथार्थ :– [**आत्मनि**] आत्मा में [**अपदानि**] अपदभूत [**द्रव्यभावान्**] द्रव्य-भावों को [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**नियतम्**] निश्चित, [**स्थिरम्**] स्थिर, [**एकम्**] एक [**इमं**] इस (प्रत्यक्ष अनुभव गोचर आत्मा के) [**भावं**] भाव को [**स्वभावेन**] स्वभाव से [**उपलभ्यमानं**] ग्रहण/अनुभव करने योग्य है (उसे हे भव्य !) [**तथा**] जैसा है वैसा [**गृहाण**] ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।)

टीका :– वास्तव में इस भगवान आत्मा में बहुत से द्रव्य-भावों के मध्य में से (द्रव्यभावरूप बहुत से भावों के मध्य में से), जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुए (आत्मा के स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभव में आते हुए), अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सब स्वयं अस्थाई होने के कारण स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं हो सकने योग्य होने से अपदभूत हैं; और जो तत्स्वभाव से (आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थाई होने से स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकने योग्य होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थायी भावों को छोड़कर, जो स्थाईभावरूप है ऐसा

१. पाठान्तर = अथिरे, २. पाठान्तर = तव

(अनुष्टुभ्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

परमार्थरसरूप से स्वाद में आने वाला यह ज्ञान एक ही आस्वादन के योग्य है।

भावार्थ :– पहले वर्णादिक से गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे वे सब आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं। आत्मा स्थायी (सदा विद्यमान है) और वे सब भाव अस्थायी हैं इसलिए वे आत्मा का स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्मा का पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी भाव है इसलिए वह आत्मा का पद है। वह एक ही ज्ञानियों के द्वारा आस्वाद लेने योग्य है ॥२०३॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[तत् एकम् एव हि पदम् स्वाद्यं]** वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है **[विपदाम् अपदं]** जो कि विपत्तियों का अपद है (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और **[यत्पुरः]** जिसके आगे **[अन्यानि पदानि]** अन्य (सब) पद **[अपदानि एव भासन्ते]**अपद ही भासित होते हैं।

भावार्थ :– एक ज्ञान ही आत्मा का पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सब पद अपदस्वरूप भासित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं – आपत्तिरूप हैं) ॥१३९॥

अब यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञान का अनुभव करता है तब इसप्रकार करता है :–

श्लोकार्थ :– **[एक-ज्ञायकभाव-निर्भर-महास्वादं समासादयन्]** एक ज्ञायकभाव से भरे हुए महास्वाद को लेता हुआ, (इसप्रकार ज्ञान में ही एकाग्र होने पर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिए) **[द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः]** द्वन्द्वमय स्वाद के लेने में असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञान के भेदों का स्वाद लेने में असमर्थ), **[आत्म-अनुभव-अनुभाव-विवशः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्]** आत्मानुभव के – स्वाद के प्रभाव के आधीन होने से निज वस्तुवृत्ति को (आत्मा की शुद्ध परिणति को) जानता – आस्वाद लेता हुआ (आत्मा के अद्वितीय स्वाद के अनुभव में से बाहर न आता हुआ) **[एषः आत्मा]** यह आत्मा **[विशेष-उदयं भ्रश्यत्]** ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ, **[सामान्यं कलयन् किल]** सामान्यमात्र ज्ञान का अभ्यास करता हुआ, **[सकलं ज्ञानं]** सकल ज्ञान को **[एकताम् नयति]** एकत्व में लाता है – एकरूप में प्राप्त करता है।

तथाहि –

आभिणिसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि।।२०४।।

आभिनिबोधिक श्रुतावधिमन:पर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम्।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति।।२०४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ किं तत् परमात्मपदमिति पृच्छति – **आदम्हि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण** आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्ठंति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा। **गिण्ह** हे भव्य ! गृहाण स्वीकुरु। कम् ? कर्मतापन्नम्। **तव णियदं थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण** भावम् आत्मपदार्थम्। कथंभूतम् ? तव संबंधिस्वरूपम्। नियतं निश्चितम्। पुनरपि कथंभूतम् ? **थिरं** स्थिरं, अविनश्वरम्। **एगं** असहायम्। **इमं** प्रत्यक्षीभूतम्। पुनरपि किं विशिष्टम् ? उपलभ्यमानमनुभूयमानम्। केन कृत्वा ? परमात्मसुखसंवित्तिरूपस्वसंवेदनज्ञान-स्वभावेनेति।।२०३।।

भावार्थ :– इस एक स्वरूपज्ञान के रसीले स्वाद के आगे अन्य रस फीके हैं और स्वरूप ज्ञान का अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। जब ज्ञानसामान्य का स्वाद लिया जाता है तब ज्ञान के समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है। यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थ को पूर्णरूप केवलज्ञान का स्वाद कैसे आवे ? इसका उत्तर पहले शुद्धनय का कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्मा का शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है इसलिए शुद्धनय के द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञान का परोक्ष स्वाद आता है।।१४०।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यह परमात्म पद क्या है ? ऐसा पूछते हैं– **आदम्हि दव्वभावे अथिरे**[1] **मोत्तूण** आधार रूप आत्मद्रव्य में जो द्रव्यकर्म तथा भावकर्म (विद्यमान) रहते हैं, वे सभी विनश्वर हैं, ऐसा जानकर, छोड़कर **गिण्ह** हे भव्य! ग्रहण करो – स्वीकार करो। किसको ? कर्मपने को प्राप्त **तव णियदं थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण** भाव को, आत्मपदार्थ को (ग्रहण करो – स्वीकार करो)। कैसे (आत्मस्वभाव को स्वीकार करें)? तुमसे सम्बन्धित नियत – निश्चित (आत्मस्वभाव) को (स्वीकार करो)। पुन: कैसे आत्मस्वभाव को (स्वीकार करें) ? जो **थिरं** स्थिर है, अविनाशी है, **एगं** असहाय है, **इमं** यह प्रत्यक्ष (अनुभव-गोचर) है। और किस विशेषता वाला है ? उपलब्ध है, अनुभव-गोचर है। किसके द्वारा (अनुभव-गोचर है)? परमात्मा सुखानुभव स्वरूप स्वसंवेदन ज्ञान स्वभाव के द्वारा (अनुभव-गोचर है)।।२०३।।

....

अब, 'कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद होने पर भी उसके (ज्ञान के) स्वरूप का विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है और वह ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है' इस अर्थ की गाथा कहते हैं :–

मति,श्रुत,अवधि,मन:,केवल सबहि एक हि पद जु है।
वो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ति लहे।।२०४।।

---

१. पाठान्तर = अपदे

आत्मा किल परमार्थः, तत्तु ज्ञानम्; आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं; यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिंदन्ति, किन्तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनंदन्ति। तथाहि – यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदन्ति, तथा आत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिंद्युः, किंतु प्रत्युत तमभिनंदेयुः। ततो निरस्तसमस्त-भेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्। तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्म परिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।।२०४।।

गाथार्थ :– **[आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च]** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान **[तत्]** यह **[एकम् एव]** एक ही **[पदम् भवति]** पद है (क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं); **[सः एषः परमार्थः]** वह यह परमार्थ है (शुद्धनय का विषयभूत ज्ञान सामान्य ही यह परमार्थ है) **[यं लब्ध्वा]** जिसे प्राप्त करके **[निर्वृतिं याति]** आत्मा निर्वाण को प्राप्त होता है।

टीका :– आत्मा वास्तव में परमार्थ (परम-पदार्थ) है और वह (आत्मा) ज्ञान है; और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञान के) भेद इस एक पद को नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पद का अभिनन्दन करते हैं (समर्थन करते हैं)। इसी बात को दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं – जैसे इस जगत में बादलों के पटल से ढका हुआ सूर्य जो कि बादलों के विघटन (बिखरने) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है, उसके (सूर्य के) प्रकाशन को (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभाव को नहीं भेदते, इसीप्रकार कर्मपटल के उदय से ढका हुआ आत्मा जो कि कर्म के विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटता को प्राप्त होता है, उसके – ज्ञान के हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं। इसलिए जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिए। उसके आलम्बन से ही (निज) पद की प्राप्ति होती है, भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है, और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है, (ऐसा होने से) कर्म बलवान नहीं होते, राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, (राग-द्वेष-मोह के बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रव के बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञान के आलम्बन का ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थ :– कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान में जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञान सामान्य को अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञान को प्रगट करते हैं; इसलिए भेदों को गौण करके, एक ज्ञान सामान्य का आलम्बन लेकर आत्मा को ध्यावना; इसी से सर्वसिद्धि होती है।।२०४।।

(शार्दूलविक्रीडित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

किंच –

(शार्दूलविक्रीडित)

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि॥१४२॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**निष्पीत-अखिल-भाव-मण्डल-रस-प्राग्भार-मत्ताः इव**] समस्त पदार्थों के समूहरूपी रस को पी लेने की अतिशयता से मानों मत्त हो गई हो ऐसी [**यस्य इमाः अच्छ-अच्छाः संवेदनव्यक्तयः**] जिनकी यह निर्मल से भी निर्मल संवेदन व्यक्ति (ज्ञानपर्याय, अनुभव में आनेवाले ज्ञान के भेद) [**यद् स्वयम् उच्छलन्ति**] अपने आप उछलती है, [**सः एषः भगवान् अद्भुतनिधिः चैतन्यरत्नाकरः**] वह यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर, [**अभिन्नरसः**] ज्ञानपर्याय रूपी तरंगों के साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, [**एकः अपि अनेकीभवन्**] एक होने पर भी अनेक होता हुआ, [**उत्कलिकाभिः**] ज्ञानपर्याय रूपी तरंगों के द्वारा [**वल्गति**] दोलायमान होता है – उछलता है।

भावार्थ :– जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जल से ही भरा हुआ है और उसमें छोटी -बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं जो कि एक जलरूप ही हैं, इसीप्रकार अनेक गुणों का भण्डार यह ज्ञान समुद्र आत्मा एक ज्ञानजल से ही भरा हुआ है और कर्मों के निमित्त से ज्ञान के अनेक भेद (व्यक्तियाँ) अपने आप प्रगट होते हैं उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिए, खण्ड-खण्डरूप से अनुभव नहीं करना चाहिए॥१४१॥

अब इसी बात को विशेष कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**दुष्करतरैः**] कोई जीव तो दुष्करतर और [**मोक्ष-उन्मुखैः**] मोक्ष से पराङ्मुख [**कर्मभिः**] कर्मों के द्वारा [**स्वयमेव**] स्वयमेव (जिनाज्ञा के बिना) [**क्लिश्यन्तां**] क्लेश पाते हैं तो पाओ [**च**] और [**परे**] अन्य कोई जीव [**महाव्रत-तपः भारेण**] (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञा में कथित) महाव्रत और तप के भार से [**चिरम्**] बहुत समय तक [**भग्नाः**] भग्न होते हुए [**क्लिश्यन्तां**] क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) [**साक्षात् मोक्षः**] जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, [**निरामयपदं**] निरामय (भवरोगादि समस्त क्लेशों से रहित) पद है और [**स्वयं संवेद्यमानं**] स्वयं संवेद्यमान है [**इदं ज्ञानं**] ऐसे इस ज्ञान को [**ज्ञानगुणं बिना**] ज्ञानगुण के बिना [**कथम् अपि**] किसी भी प्रकार से [**प्राप्तुं न हि क्षमन्ते**] वे प्राप्त नहीं कर सकते।

णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहु वि ण लहंते।
तं गिण्ह णियदमेदं[1] जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञानगुणेण विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते।
तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ॥२०५॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा, कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात्, ज्ञानस्यानुपलंभः। केवलेन ज्ञानेनैव, ज्ञानमेव ज्ञानस्य प्रकाशनात्, ज्ञानस्योपलंभः। ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभंते, इदमनुपलभमानाश्च कर्मभिर्न मुच्यंते। ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलंभनीयम् ॥२०५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं तत्समस्तहर्ष-विषादादिविकल्पजालरहितं परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयति – **आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं** मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं यत्तन्निश्चयेन, एकमेव पदं। परं किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवंति। तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादिभेदभिन्नं जातम्। **सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि** स एष लोकप्रसिद्धः पंचज्ञानाभेदरूपः परमार्थः, यं परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थः। एवं ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिविशेषविवरणरूपेण सूत्रदशकं गतम् ॥२०४॥

भावार्थ :– ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकाण्ड से उसकी प्राप्ति नहीं होती ॥१४२॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान अभेदरूप, परमार्थरूप, मोक्ष का कारणभूत जो परमात्मपद है वह समस्त हर्ष विषाद के विकल्प जाल से रहित है, उसका परमयोगाभ्यास से ही आत्मा अनुभव करता है ऐसा कहते हैं –

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान ये नामभेद से भेदरूप हैं, तथापि अभेदरूप निश्चयनय से एक ही पद है। परन्तु जिसप्रकार मेघों के आवरण के तारतम्य के वश से सूर्य के प्रकाश में भेद हो जाते हैं। उसीप्रकार मतिज्ञानावरण आदि भेदरूप कर्म के वश से मतिश्रुतज्ञानादि भेद होते हैं। **सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि** वह इस लोक में प्रसिद्ध यह पांच ज्ञान का अभेदरूप परमार्थ ज्ञानस्वभाव है, जिस परमार्थ ज्ञानस्वभाव को प्राप्त कर जीव निर्वृत्ति (मोक्ष) को पाता है। यह भावार्थ है। इस प्रकार ज्ञानशक्ति तथा वैराग्य शक्ति के विशेष विवरण रूप में दस गाथा सूत्र पूर्ण हुए ॥२०४॥

....

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैं :–

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्म-मोक्षेच्छा तुझे ॥२०५॥

---

१. पाठान्तर = सुपदमेदं

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत्।।१४३।।

समुदायपातनिका – अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यंतं तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योऽसौ ज्ञानगुणः, तस्य सामान्यविवरणं करोति। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं शुद्धात्मानुभूतिशून्यं व्रततपश्चरणादि कायक्लेशं कुर्वाणा अपि स्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना न लभंत इति कथयति – **णाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंते** निर्विकारपरमात्मतत्त्वोपलब्धिलक्षणज्ञानगुणेन विहीनाः रहिताः पुरुषाः बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसंवित्तिरहितं दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरणं कुर्वाणा अपि मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणं स्वसंवेद्यं

गाथार्थ :– **[ज्ञानगुणेन विहीनः]** ज्ञानगुण से रहित **[बहवः अपि]** बहुत से लोग (अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी) **[एतत् पदं तु]** इस ज्ञानस्वरूप पद को **[न लभंते]** प्राप्त नहीं करते; **[तद्]** इसलिए हे भव्य ! **[यदि]** यदि तू **[कर्मपरिमोक्षम्]** कर्मों से सर्वथा मुक्ति **[इच्छसि]** चाहता हो तो **[नियतम् एतत्]** नियत इस ज्ञान को **[गृहाण]** ग्रहण कर।

टीका :– कर्म में (कर्मकाण्ड में) ज्ञान का प्रकाशित होना नहीं होता इसलिए समस्त ही कर्म से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती; ज्ञान में ही ज्ञान का प्रकाश होता है इसलिए केवल (एक) ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए बहुत से ज्ञानशून्य जीव, बहुत से कर्म करने पर भी इस ज्ञानपद को प्राप्त नहीं कर पाते और इस पद को प्राप्त न करते हुए वे कर्मों से मुक्त नहीं होते; इसलिए कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक को मात्र (एक) ज्ञान के आलम्बन से, यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ :– ज्ञान से ही मोक्ष होता है; कर्म से नहीं; इसलिए मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना – ऐसा उपदेश है।।२०५।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इदं पदम्]** यह (ज्ञानस्वरूप) पद **[ननु कर्मदुरासदं]** कर्मों से वास्तव में [१]दुरासद है और **[सहज-बोध-कला-सुलभं किल]** सहज ज्ञान की कला के द्वारा वास्तव में सुलभ है; **[ततः]** इसलिए **[निज-बोध-कला-बलात्]** निज ज्ञान की कला के बल से **[इदं कलयितुं]** इस पद को अभ्यास करने के लिए (अनुभव करने के लिए) **[जगत् सततं यततां]** जगत सतत प्रयत्न करो।

भावार्थ :– समस्त कर्मों को छुड़ाकर ज्ञानकला के बल द्वारा ही ज्ञान का अभ्यास करने का आचार्यदेव ने उपदेश दिया है। ज्ञान की 'कला' कहने से यह सूचित होता है कि जबतक सम्पूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप – मतिज्ञानादिरूप है; ज्ञान को उस कला के आलम्बन से – ज्ञान का अभ्यास करने से केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है।।१४३।।

---

१. दुरासद – दुष्प्राप्य; न जीता जा सके ऐसा

किंच –

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२०६॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम्॥२०६॥

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशीः यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि, मा अन्यान् प्राक्षीः[1]॥२०६॥

शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणमिदं पदं न लभंते। **तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं** हे भव्य ! तत्पदं गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति॥२०५॥

समूहपीठिका – यहाँ से आगे आठ गाथा पर्यन्त उस ही परमार्थ पद का प्रकाशक जो यह ज्ञान गुण है, उसका सामान्य कथन करते हैं। वह इस प्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब मति आदि पाँचों ज्ञान के अभेदरूप साक्षात् मोक्ष का कारणभूत जो परमात्मपद है, उस पद को शुद्धात्मानुभूति रहित, व्रत-तपश्चरण आदि कायक्लेश करनेवाले भी स्वसंवेदन ज्ञान गुण बिना प्राप्त नहीं करते हैं। ऐसा कहते हैं – **णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति** निर्विकार परमात्मतत्त्व की उपलब्धि लक्षणरूप ज्ञानगुण से रहित बहुत प्रकार के पुरुष भी शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी अनुभूति से रहित, दुर्धर कायक्लेश आदि तपश्चरण करनेवाला भी मत्यादि पांचों ज्ञान के अभेदरूप, साक्षात् मोक्ष के कारणरूप, स्वसंवेद्य, शुद्धात्मानुभूति लक्षण रूप इस पद को नहीं पाते हैं। **तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं** हे भव्य ! उस पद को ग्रहण करो, यदि कर्म से मुक्त होने की इच्छा है॥२०५॥

....

अब इस गाथा में इसी उपदेश को विशेष कहते हैं :–

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥२०६॥

गाथार्थ :– (हे भव्य प्राणी !) तू **[एतस्मिन्]** इसमें (ज्ञान में) **[नित्यं]** नित्य **[रतः]** रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, **[एतस्मिन्]** इसमें **[नित्यं]** नित्य **[सन्तुष्टः भव]** सन्तुष्ट हो और **[एतेन]** इससे **[तृप्तः भव]** तृप्त हो; (ऐसा करने से) **[तव]** तुझे **[उत्तमं सौख्यम्]** उत्तम सुख **[भविष्यति]** होगा।

टीका :– (हे भव्य !) इतना ही सत्य (परमार्थस्वरूप) आत्मा है जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय

---

१. मा अन्यान् प्राक्षीः (दूसरों को मत पूछ) का पाठान्तर – माऽति प्राक्षीः। (अति प्रश्न न कर)

(उपजाति)

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ।।१४४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथात्मसुखे संतोषं दर्शयति – **एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि एदेण होहि तित्तो** हे भव्य ! पंचेंद्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव, संतुष्टो भव, तृप्तो भव नित्यं सर्वकालम्। **तुह होहदि उत्तमं सोक्खं** ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति ।।२०६।।

करके ज्ञानमात्र में ही सदा ही रति (प्रीति, रुचि) प्राप्त कर; इतना ही सत्य कल्याण है जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा सन्तोष को प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र से ही सदा तृप्ति प्राप्त कर। इसप्रकार सदा ही आत्मा में रत, आत्मा में सन्तुष्ट और आत्मा से तृप्त ऐसे तुझको वचन अगोचर सुख प्राप्त होगा; और उस सुख को उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा, दूसरों से मत पूछ। (वह अपने को ही अनुभवगोचर है, दूसरों से क्यों पूछना पड़ेगा ?)

भावार्थ :– ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, उसी से सन्तुष्ट होना और उसी से तृप्त होना परम ध्यान है। उससे वर्तमान आनन्द का अनुभव होता है और थोड़े ही समय में ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुख को जानता है, दूसरे का इसमें प्रवेश नहीं है।।२०६।।

अब, ज्ञानानुभव की महिमा का और आगामी गाथा की सूचना का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यस्मात्] क्योंकि **[एषः]** यह (ज्ञानी) **[स्वयम् एव]** स्वयं ही **[अचिंत्य-शक्तिः देवः]** अचिंत्य शक्तिवाला देव है और **[चिन्मात्र-चिन्तामणिः]** चिन्मात्र-चिन्तामणि है इसलिए **[सर्व-अर्थ-सिद्ध आत्मतया]** जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं ऐसा स्वरूप होने से **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अन्यस्य परिग्रहेण]** दूसरे के परिग्रह से **[किम् विधत्ते]** क्या करेगा ? (कुछ भी करने का नहीं है।)

भावार्थ :– यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं ही अनन्तशक्ति का धारक देव है और स्वयं ही चैतन्यरूपी चिंतामणी होने से वांछित कार्य की सिद्धि करनेवाला है; इसलिए ज्ञानी के सर्व प्रयोजन सिद्ध होने से उसे अन्य परिग्रह का सेवन करने से क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं। ऐसा निश्चयनय का उपदेश है ।।१४४।।

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मसुख में संतोष दिखलाते हैं –

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि एदेण होहि तित्तो हे भव्य ! पंचेन्द्रिय सुख से निवृत्ति लेकर निर्विकल्प योग के बल से स्वाभाविक परमात्मसुख में सदा के लिए लीन हो, सन्तुष्ट हो, तृप्त हो। **तुह होहदि उत्तमं सोक्खं** तब तुझे आत्मसुख की अनुभूति से उत्तम, अक्षय मोक्ष सुख होगा।।२०६।।

कुतो ज्ञानी परं न परिगृह्णातीति चेत् –

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो॥२०७॥

को नाम भणेद्‌बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन्॥२०७॥

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामी इति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टंभात्, आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं, नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिग्रह्णाति॥२०७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानी परद्रव्यं न गृह्णातीति भेदभावनां प्रतिपादयति – **को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं** परद्रव्यं मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात् ? बुधो ज्ञानी, न कोऽपि। किं कुर्वन् ? **अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो** चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानमेव, आत्मनः परिग्रहं विजानन् नियतं निश्चितमिति॥२०७॥

अब प्रश्न करता है कि ज्ञानी पर को क्यों ग्रहण नहीं करता ? इसका उत्तर कहते हैं :–

'परद्रव्य यह मुझ द्रव्य' यों तो कौन ज्ञानीजन कहे।
निज आत्म को निज का परिग्रह, जानता जो नियम से॥२०७॥

गाथार्थ :– [**आत्मानम् तु**] अपने आत्मा को ही [**नियतं**] नियम से [**आत्मनः परिग्रहं**] अपना परिग्रह [**विजानन्**] जानता हुआ [**कः नाम बुधः**] कौन-सा ज्ञानी [**भणेत्**] यह कहेगा कि [**इदं परद्रव्यं**] यह परद्रव्य [**मम द्रव्यम्**] मेरा द्रव्य [**भवति**] है ?

टीका :– जो जिसका 'स्व' भाव है वह उसका [१]'स्व' है और वह उसका (स्वभाव का) स्वामी है। – इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के आलम्बन से ज्ञानी (अपने) आत्मा को ही नियम से आत्मा का परिग्रह जानता है, इसलिए "यह मेरा 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ" ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रह नहीं करता (अर्थात् परद्रव्य को अपना परिग्रह नहीं मानता)।

भावार्थ :– यह लोकरीति है कि समझदार सयाना पुरुष दूसरे की वस्तु को अपनी नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता। इसीप्रकार परमार्थज्ञानी अपने स्वभाव को ही अपना धन जानता है, पर के भाव को अपना नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता। इसप्रकार ज्ञानी पर का ग्रहण सेवन नहीं करता॥२०७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, ज्ञानी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता है ऐसी भेदभावना को कहते हैं – **को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं** परद्रव्य मेरा है ऐसा कौन ज्ञानी कहेगा ? अर्थात् कोई भी (ज्ञानी ऐसा) नहीं कहेगा। क्या करता हुआ (नहीं कहेगा) ? **अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं**

---

१. स्व – धन; मिल्कियत; अपने स्वामित्व की चीज।

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि –

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ॥२०८॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम॥२०८॥

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्, अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्याम्। अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत। मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी; ततो मा भून्ममाजीवत्वं, ज्ञातैवाहं भविष्यामि, न परद्रव्यं परिगृह्णामि॥२०८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यानं मम परिग्रहो न भवति, इति पुनरपि भेदज्ञानशक्तिं वैराग्यशक्तिं च प्रकटयति– **मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज** सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य

वियाणंतो चिदानन्द एक स्वभाव शुद्धात्मा को ही, निश्चितरूप से अपना – आत्मा का परिग्रह जानता हुआ (‘परद्रव्य को मेरा है’ – ऐसा नहीं कहेगा।)॥२०७॥

....

‘‘इसलिए मैं भी परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूँगा’’ इसप्रकार अब (मोक्षाभिलाषी जीव) कहता है–

परिग्रह यदि मेरा बने, तो मैं अजीव बनूँ अरे।
मैं नियम से ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने॥२०८॥

गाथार्थ :– [**यदि**] यदि [**परिग्रहः**] परद्रव्य – परिग्रह [**मम**] मेरा हो [**ततः**] तो [**अहम्**] मैं [**अजीवतां तु**] अजीवत्व को [**गच्छेयम्**] प्राप्त हो जाऊँ । [**यस्मात्**] क्योंकि [**अहं**] मैं तो [**ज्ञाता एव**] ज्ञाता ही हूँ [**तस्मात्**] इसलिए [**परिग्रहः**] (परद्रव्यरूप) परिग्रह [**मम न**] मेरा नहीं है।

टीका :– यदि मैं अजीव परद्रव्य का परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा ‘स्व’ हो, और मैं भी अवश्य ही उस अजीव का स्वामी होऊँ; और जो अजीव का स्वामी होगा वह वास्तव में अजीव ही होगा। इसप्रकार अवशतः (लाचारी से) मुझमें अजीवत्व आ पड़े। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही जो ‘स्व’ है, उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिए मुझको अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्य का परिग्रह नहीं करूँगा।

भावार्थ :– निश्चयनय से यह सिद्धान्त है कि जीव का भाव जीव ही है, उसके साथ जीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है और अजीव का भाव अजीव ही है, उसके साथ अजीव का स्व-स्वामी सम्बन्ध है। यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जाये तो जीव अजीवत्व को प्राप्त हो जाय; इसलिए परमार्थतः जीव के अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानी के ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी तो यह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ॥२०८॥

अयं च मे निश्चयः –

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम्।
यस्मात्तस्मात् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥२०९॥

छिद्यतां वा, भिद्यतां वा, नीयतां वा, विप्रलयं यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि; यतो न परद्रव्यं मम स्वं, नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम स्वं, अहमेव मम स्वामी इति जानामि ॥२०९॥

(वसन्ततिलका)

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

मम यदि मिथ्यात्वरागादिकं परद्रव्यं परिग्रहो भवति ततोऽहमजीवत्वं जडत्वं गच्छामि। न चाहं अजीवो भवामि। **णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झं** परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्ततः परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थः ॥२०८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब मिथ्यात्व रागादिरूप अपध्यान मेरा परिग्रह नहीं है, इसप्रकार फिर से भेदज्ञान शक्ति और वैराग्य शक्ति को प्रगट करते हैं – **मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज** सहजशुद्ध केवलज्ञान-दर्शन स्वभावी मुझ आत्मा का यदि मिथ्यात्व रागादि परद्रव्य परिग्रह हो तो मैं अजीवपने जड़पने को प्राप्त होता हूँ। परन्तु मैं अजीव नहीं होता हूँ। **णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झं** क्योंकि मैं परमात्मज्ञान पद स्वरूप ही हूँ, अतः परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है – ऐसा भावार्थ है ॥२०८॥

....

'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' यह अब कहते हैं :–

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे ॥२०९॥

गाथार्थ :– [**छिद्यतां वा**] छिद जाये, [**भिद्यतां वा**] अथवा भिद जाये; [**नीयतां वा**] अथवा कोई ले जाये, [**अथवा विप्रलयम् यातु**] अथवा नष्ट हो जाये, [**यस्मात् तस्मात् गच्छतु**] अथवा चाहे जिसप्रकार से चला जाये, [**तथापि**] फिर भी [**खलु**] वास्तव में [**परिग्रहः**] परिग्रह [**मम न**] मेरा नहीं है।

टीका :– परद्रव्य छिदे अथवा भिदे अथवा कोई उसे ले जाये अथवा वह नष्ट हो जाये या चाहे जिसप्रकार से जाये, तथापि मैं परद्रव्य को परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है, मैं परद्रव्य का स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्व है, परद्रव्य ही परद्रव्य का स्वामी है; मैं ही अपना स्व हूँ, – मैं ही अपना स्वामी हूँ – ऐसा जानता हूँ।'

भावार्थ :– ज्ञानी को परद्रव्य के बिगड़ने-सुधरने का हर्ष-विषाद नहीं होता ॥२०९॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि॥२१०॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम्।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥२१०॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद्धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्॥२१०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथायं च मे निश्चयः, देहरागादिपरद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञानं निरूपयति– **छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं** छिद्यतां वा द्विधा भवतु, भिद्यतां वा छिद्रीभवतु, नीयतां वा केनचित्। अथवा विप्रलयं विनाशं गच्छतु, एवमेव **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं** अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीरं मम परिग्रहो न भवति। कस्मात् ? इति चेत्, टंकोत्कीर्ण-परमानंदज्ञायकैकस्वभावोऽहं, यतः कारणात् अयं च मे निश्चयः॥२०९॥

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचनारूप काव्य कहते हैं :–

[१]**श्लोकार्थ :–** [**इत्थं**] इसप्रकार [**समस्तम् एव परिग्रहम्**] समस्त परिग्रह को [**सामान्यतः**] सामान्यतः [**अपास्य**] छोड़कर [**अधुना**] अब [**स्वपरयोः अविवेकहेतुम् अज्ञानम् उज्झितुमना अयं**] स्व-पर के अविवेक के कारणरूप अज्ञान को छोड़ने का जिनका मन है ऐसा यह [**भूयः**] पुनः [**तम् एव**] उसी को (परिग्रह को ही) [**विशेषात्**] विशेषतः [**परिहर्तुम्**] छोड़ने को [**प्रवृत्तः**] प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थ :– स्व-पर को एकरूप जानने का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान को सम्पूर्णतया छोड़ने के इच्छुक जीव ने पहले तो परिग्रह का सामान्यतः त्याग किया और अब (आगामी गाथाओं में) उस परिग्रह को विशेषतः (भिन्न-भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है॥१४५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब और मेरा यह निश्चय है कि देह, रागादि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है ऐसे भेदज्ञान का निरूपण करते हैं – **छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं** (बाह्यशरीरादि) छिद जावे, दो टुकड़े हो जावे, अथवा भिद जावे, नाना छेद वाला हो जावे या कोई ले जावे, या विनाश को प्राप्त हो जावे। इसीप्रकार **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झं** दूसरे जिस किसी कारण से (किसी भी प्रकार से) जावे तो भी शरीर मेरा परिग्रह नहीं है। किस कारण से (शरीर मेरा परिग्रह नहीं है)? कारण कि टंकोत्कीर्ण परमानन्द ज्ञायक एक स्वभाव रूप ही मैं हूँ इस कारण से यह मेरा निश्चय है॥२०९॥

---

१. इस कलश का अर्थ इसप्रकार भी होता है :– [**इत्थं**] इसप्रकार [**स्वपरयोः अविवेकहेतुम् समस्तम् एव परिग्रहम्**] स्व-पर के अविवेक के कारणरूप समस्त परिग्रह को [**सामान्यतः**] सामान्यतः [**अपास्य**] छोड़कर [**अधुना**] अब, [**अज्ञानम् उज्झितुमनाः अयं**] अज्ञान को छोड़ने का जिसका मन है ऐसा यह, [**भूयः**] फिर भी [**तम् एव**] उसे ही [**विशेषात्**] विशेषतः [**परिहर्तुम्**] छोड़ने के लिए [**प्रवृत्तः**] प्रवृत्त हुआ है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि॥२११॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥२११॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ विशेषपरिग्रहत्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुणं विवृणोति – **अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं** अपरिग्रहो भणितः। कोऽसौ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्विच्छा वांछा मोहो नास्ति। तेन कारणेन **स्वसंवेदनज्ञानी** शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्मं विहाय शुभोपयोगरूपं धर्मं पुण्यं नेच्छति। **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् अतन्मयो भवन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति॥२१०॥

पहले यह कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का (पुण्य का) परिग्रह नहीं है :–

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पुण्य का वो, पुण्य का ज्ञायक रहे॥२१०॥

गाथार्थ :– [**अनिच्छः**] अनिच्छक को [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**धर्मम्**] धर्म को (पुण्य को) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**धर्मस्य**] धर्म का [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] (धर्म का) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका :– इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिए अज्ञानमय भाव जो इच्छा उसका अभाव होने से ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) धर्म का केवल ज्ञायक ही है॥२१०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब विशेष परिग्रह त्यागरूप से उस ही ज्ञानगुण का वर्णन करते हैं – **अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे धम्मं** अपरिग्रही कहा गया है। ऐसा कौन है (जिसे अपरिग्रही कहा गया है) ? (ऐसा) अनिच्छुक है। अनिच्छा अर्थात् जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा, वांछा या मोह नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है। वह अपरिग्रही है। इस कारण से स्वसंवेदन ज्ञानी शुद्धोपयोग रूप निश्चय धर्म को छोड़कर शुभोपयोगरूप धर्म अर्थात् पुण्य की इच्छा नहीं करता है। **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** इस कारण से पुण्यरूप धर्म का अपरिग्रही होता हुआ यह पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर उस रूप परिणमन न करता हुआ तन्मय न होता हुआ दर्पण में बिम्ब की तरह (पुण्य का) ज्ञायक ही रहता है॥२१०॥

नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्। एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येनानि। अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि॥२११॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदि अधम्मं अपरिग्रहो भणितः। स कः? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा कांक्षा नास्ति। तेन कारणेन **तत्त्वज्ञानी** विषयकषायरूपमधर्मं पापं नेच्छति। **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् विषयकषायरूपस्याधर्मस्याऽपरिग्रहः सन् पापमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति। एवमेव च अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितानंतज्ञानादिगुण-स्वरूपशुद्धात्मनः प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि॥२११॥

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के अधर्म का (पाप का) परिग्रह नहीं है :–

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पाप इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पाप का वो, पाप का ज्ञायक रहे॥२११॥

गाथार्थ :– [**अनिच्छः**] अनिच्छक को [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अधर्मम्**] अधर्म को (पाप को) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**अधर्मस्य**] अधर्म का [**अपरिग्रहः**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका :– इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है इसलिए अज्ञानमय भाव जो इच्छा, उसके अभाव होने से ज्ञानी अधर्म को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) अधर्म का केवल ज्ञायक ही है।

इसीप्रकार गाथा में 'अधर्म' शब्द बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन – यह सोलह शब्द रखकर, सोलह गाथासूत्र व्याख्यानरूप करना और इस उपदेश से दूसरे भी विचार करना चाहिए॥२११॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं अपरिग्रही कहा गया है। वह कौन है ? वह अनिच्छुक है। जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा, कांछा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है अर्थात् वह अपरिग्रही है। इस कारण से तत्त्वज्ञानी विषय कषायरूप अधर्म अर्थात् पाप की इच्छा नहीं करता है। **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** उस ही कारण से विषय कषायरूप अधर्म का/पाप का परिग्रह न करता हुआ 'यह पाप मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानकर उस रूप परिणमन न करता हुआ दर्पण में बिम्ब की तरह (पाप का) ज्ञायक ही रहता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णेच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि॥२१२॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम्।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥२१२॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्॥२१२॥

ता.अतिरिक्त गाथा १४ – धम्मच्छि अधम्मच्छि आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरियणेरइयं॥

अपरिग्रहो भणितः। कोऽसौ ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा आकांक्षा नास्ति। तेन कारणेन **परमतत्त्वज्ञानी** चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं विहाय धर्माधर्माकाशाद्यंगपूर्वगतश्रुतबाह्याभ्यंतरपरिग्रहदेवमनुष्य-तिर्यङ्नारकादिविभावपर्यायान्नेच्छति इति ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। ततः कारणात्तद्विषये निष्परिग्रहो भूत्वा तद्रूपेणापरिणमन् सन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति॥१४॥

इसीप्रकार से अधर्म पद बदलकर कर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन नामक सत्रह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए। उसीप्रकार से शुभ-अशुभ संकल्प विकल्प रहित अनन्तज्ञानादि गुणस्वरूप शुद्धात्मा के विपक्षरूप शेष भी असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणाम स्थानों का त्याग करना चाहिए॥२११॥

अतिरिक्त गाथा १४ का हिन्दी – **(धम्मच्छि)** धर्मास्तिकाय **(अधम्मच्छि)** अधर्मास्तिकाय **(आयासं)** आकाश **(सुत्तमंगपुव्वेसु)** ग्यारह अंग, नौ पूर्व रूप सूत्र **(च)** और **(देवमणुअत्तिरियेणरइयं)** देव-मनुष्य-तिर्यंच-नारकादि पर्याय **(तहा)** तथा **(संगं)** सब परिग्रह **(णेयं)** ज्ञानी के ज्ञेय हैं।

टीका – अपरिग्रही कहा गया है। ऐसा कौन है ? वह अनिच्छुक है। जिसके बाह्य द्रव्यों की इच्छा आकांक्षा नहीं है वह अपरिग्रही है। इस कारण से परमतत्त्वज्ञानी चिदानन्द एक स्वभावी शुद्धात्मा को छोड़कर धर्म, अधर्म, आकाश आदि, अंगपूर्वगत श्रुतज्ञान, बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक आदि विभाव पर्यायों को नहीं चाहता है। इसप्रकार उन्हें ज्ञेय जानना चाहिए। इस कारण से (ज्ञानी) उस विषय में निष्परिग्रही होकर, उसरूप परिणमन न करता हुआ दर्पण में बिम्ब की तरह ज्ञायक ही है॥१४॥

....

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी के आहार का भी परिग्रह नहीं है :–

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि अशन का वो, अशन का ज्ञायक रहे॥२१२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः। स कः? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा मूर्च्छा ममत्वं नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति। **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति। न च रागरूपेण ग्राहक इति॥२१२॥

गाथार्थ :– [**अनिच्छः**] अनिच्छक को [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अशनम्**] भोजन को [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**अशनस्य**] भोजन का [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] (भोजन का) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका :– इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है इसलिए अज्ञानमय भाव जो इच्छा, उसके अभाव के कारण ज्ञानी भोजन को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के भोजन का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) भोजन का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थ :– ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं होती इसलिए ज्ञानी का आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि आहार तो मुनि भी करते हैं, उनके इच्छा है या नहीं, इच्छा के बिना आहार कैसे किया जा सकता है ?

समाधान – असातावेदनीय कर्म के उदय से जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। ज्ञानी के इच्छा के प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे। इसलिए उसके अज्ञानमय इच्छा का अभाव है। परजन्य इच्छा का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता इसलिए ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है।

इसप्रकार शुद्धनय की प्रधानता से कथन जानना चाहिए॥२१२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अपरिग्गहो अणिच्छदो भणिदो असणं य णिच्छदे णाणी ज्ञानी अपरिग्रही कहा गया है। वह कौन है ? वह अनिच्छुक है, जिसके बाह्य द्रव्यों में इच्छा नहीं है, मूर्छा या ममत्व नहीं है, वह परिग्रही नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है। वह (अज्ञानमय भाव) ज्ञानी के सम्भव नहीं है। **अपरिग्गहो दुअसणस्स जाणगो तेण सो होदि** इस कारण से स्वाभाविक परमानन्द सुख में संतुष्ट होकर अशन का अपरिग्रही होता हुआ दर्पण में बिम्ब की तरह अशनादि आहार वस्तु का वस्तुरूप से ज्ञायक ही रहता है, परन्तु रागरूप से ग्राहक नहीं है॥२१२॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो [1]णाणी य णेच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि॥२१३॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति॥२१३॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात्॥२१३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं अपरिग्रहो भणितः। कोऽसौ? अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्वाकांक्षा तृष्णा मोह इच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति। **अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात् स्वाभाविकपरमानंदसुखे तृप्तो भूत्वा विविधपानकविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति। तथा चोक्तं –

ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्य य चयट्ठतेजट्ठं।
णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति॥१॥

अक्खामक्खणिमित्तं इसिणो भुंजंति पाणधारणणिमित्तं।
पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं॥२॥ ॥२१३॥

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के पानी इत्यादि के पीने का भी परिग्रह नहीं है :–

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानि के।
इससे न परिग्रहि पान का वो, पान का ज्ञायक रहे॥२१३॥

गाथार्थ :– [**अनिच्छः**] अनिच्छक को [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पानम्**] पान को (पेय को) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**पानस्य**] पान का [**अपरिग्रहः तु**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] (पान का) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका :– इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमयभाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही होता है इसलिए अज्ञानमयभाव जो इच्छा, उसके अभाव से ज्ञानी पान (पानी आदि पेय) को नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानी के पान का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) पान का केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थ :– आहार की गाथा के भावार्थ भाँति यहाँ भी समझना चाहिए॥२१३॥

---

१. पाठान्तर = पाणं च णिच्छदे णाणी

एमादि[1] एदु विविहे सव्वे भावे य णेच्छदे णाणी।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी।
ज्ञायकभावो नियतो निरालंबस्तु सर्वत्र ॥२१४॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी, तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति। इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वम्। अथैवमयमशेषभावांतर-परिग्रहशून्यत्वादुद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ॥२१४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं य णिच्छदे णाणी अपरिग्रही कहा गया है। वह कौन ? (अपरिग्रही कहा गया है) अनिच्छुक को अपरिग्रही कहा गया है। जिसके बाह्य द्रव्यों में आकांक्षा तृष्णा मोह या इच्छा नहीं है, उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है वह (इच्छा) ज्ञानी के सम्भव नहीं है। **अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि** इसकारण से स्वाभाविक परमानन्द सुख में संतुष्ट होकर विविध पानक (जलादि पेय पदार्थों) के विषय में अपरिग्रही होते हुए दर्पण में बिम्ब के समान वस्तु का वस्तुरूप से ज्ञायक ही रहता है; परन्तु राग रूप से ग्राहक नहीं है।

तथा कहा भी है – न बल बढ़ाने के लिए, न आयु बढ़ाने के लिए, न शरीर को मोटा या तेज बनाने के लिए, सम्यग्ज्ञानी अन्नादि लेते हैं। वे तो ज्ञान के लिए, संयम के लिए, ध्यान के लिए ही आहारादि लेते हैं। जैसे गाड़ी चलने के लिए गाड़ी के धुरे (axle) को ओंगन (lubricant) देते हैं, वैसे ही प्राण धारण करने के लिए शरीर को अन्नादि देते हैं। धर्मधारण में निमित्त प्राण हैं और मोक्ष के लिए धर्म का आचरण करते हैं॥२१३॥

....

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकार के परजन्य भावों को ज्ञानी नहीं चाहता, यह कहते हैं :–

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
सर्वत्र आलम्बन रहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो॥२१४॥

गाथार्थ :– [**एवमादिकान् तु**] इत्यादिक [**विविधान्**] अनेक प्रकार के [**सर्वान् भावान् च**] सर्व भावों को [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**सर्वत्र निरालम्बः तु**] सर्वत्र (सभी में) निरालम्ब वह [**नियतः ज्ञायकभावः**] निश्चित ज्ञायकभाव ही है।

टीका :– इत्यादिक अन्य भी अनेक प्रकार के जो परद्रव्य के स्वभाव हैं उन सभी को ज्ञानी नहीं चाहता, इसलिए ज्ञानी के समस्त परद्रव्य के भावों का परिग्रह नहीं है। इसप्रकार ज्ञानी के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व

---

१. पाठान्तर = इच्चादु, इव्वादु

(स्वागता)

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥१४६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसंहरति – **इच्चादि एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी** इत्यादिकान् पुण्यपापाशनपानादिबहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः **परमात्मतत्त्वज्ञानी** नेच्छति। अनिच्छन् स कथंभूतो भवति ? **जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ** टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चितः। पुनश्च कथंभूतो भवति? जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च बाह्याभ्यंतरपरिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालंबोऽपि, अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालंबन एव तिष्ठतीति भावार्थः ॥२१४॥

सिद्ध हुआ। अब इसप्रकार, समस्त अन्य भावों के परिग्रह से शून्यत्व के कारण जिसने समस्त अज्ञान का वमन कर डाला है ऐसा यह (ज्ञानी), सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, प्रतिनियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता हुआ, साक्षात् विज्ञानघन आत्मा का अनुभव करता है।

भावार्थ :– पुण्य, पाप, अशन, पान इत्यादि समस्त अन्य भावों का ज्ञानी को परिग्रह नहीं है; क्योंकि समस्त परभावों को हेय जाने तब उसकी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती ॥२१४॥[१]

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [पूर्वबद्ध-निज-कर्म-विपाकात्] पूर्वबद्ध अपने कर्म के विपाक के कारण **[ज्ञानिनः यदि उपभोगः भवति तत् भवतु]** ज्ञानी के यदि उपभोग होता हो तो हो **[अथ च]** परन्तु **[रागवियोगात्]** राग के वियोग (अभाव) के कारण **[नूनम्]** वास्तव में **[परिग्रहभावम् न एति]** वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– पूर्वबद्ध कर्म का उदय आने पर उपभोगसामग्री प्राप्त होती है, यदि उसे अज्ञानमय रागभाव से भोगा जाये तो वह उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त हो; परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय रागभाव नहीं होता। वह जानता है कि जो पहले बाँधा था वह उदय में आ गया और छूट गया है; अब मैं उसे भविष्य में नहीं चाहता। इसप्रकार ज्ञानी के रागरूप इच्छा नहीं है इसलिए उसका उपभोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता ॥१४६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इच्चादि एदु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी परमात्मतत्त्वज्ञानी जीव पुण्य-पाप, अशन-पान आदि बाह्य सर्व भावों को सर्व ओर से (बिल्कुल) नहीं चाहता है। इच्छा न करता हुआ वह ज्ञानी कैसा होता है ? **जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ** टंकोत्कीर्ण परमानंद ज्ञायक एक स्वभाव रूप ही नियत – निश्चितरूप रहता है। पुनः (ज्ञानी) कैसा होता है ? तीनों लोक में, तीनों

---

१. पहले, मोक्षाभिलाषी सर्व परिग्रह को छोड़ने के लिए प्रवृत्त हुआ था; उसने इस गाथा तक समस्त परिग्रहभाव को छोड़ दिया और इसप्रकार समस्त अज्ञान को दूर कर दिया तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव किया।

उप्पण्णोदय भोगो वियोगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥२१५॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्।
कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी॥२१५॥

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात्। तत्रातीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात्। प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात्। न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टः, ज्ञानिनोऽज्ञान-मयभावस्य रागबुद्धेरभावात्। वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात्। ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्। अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो नाकांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञान-मयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्॥२१५॥

काल में मन-वचन-काय-कृत-कारित-अनुमोदना के द्वारा बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहरूप चेतन-अचेतन परद्रव्य में सर्वत्र निरालम्बी होने पर भी अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप-स्वस्वभाव में पूर्ण कलश की तरह अवलंबन सहित ही रहता है– ऐसा भावार्थ है॥२१४॥

....

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है :–

सांप्रत उदय के भोग में जु वियोगबुद्धी ज्ञानि के।
अरु भावि कर्मविपाक की, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे॥२१५॥

गाथार्थ :– [**उत्पन्नोदयभोगः**] जो उत्पन्न (वर्तमान काल के) उदय का भोग है [**सः**] वह [**तस्य**] ज्ञानी के [**नित्यम्**] सदा [**वियोगबुद्ध्या**] वियोग बुद्धि से होता है [**च**] और [**अनागतस्य उदयस्य**] आगामी उदय की [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कांक्षाम्**] वांछा [**न करोति**] नहीं करता।

टीका :– कर्म के उदय का उपभोग तीन प्रकार का होता है – अतीत, वर्तमान और भविष्य काल का। इनमें से पहला, जो अतीत उपभोग है वह अतीतता (व्यतीत हो चुका होने) के कारण ही परिग्रहभाव को धारण नहीं करता। भविष्य का उपभोग यदि वांछा में आता हो तो ही वह परिग्रहभाव को धारण करता है और जो वर्तमान उपभोग है वह यदि रागबुद्धि से हो रहा है तो ही परिग्रहभाव को धारण करता है।

वर्तमान कर्मोदय उपभोग ज्ञानी के रागबुद्धि से प्रवर्तमान दिखाई नहीं देता, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव, जो रागबुद्धि उसका अभाव है; और केवल वियोगबुद्धि (हेयबुद्धि) से ही प्रवर्तमान वह वास्तव में परिग्रह नहीं है। इसलिए वर्तमान कर्मोदय उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है (परिग्रहरूप नहीं है)। अनागत उपभोग तो वास्तव में वांछित ही नहीं है (अर्थात् ज्ञानी को उसकी इच्छा ही नहीं होती) क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव जो वाँछा उसका अभाव है। इसलिए अनागत कर्मोदय उपभोग ज्ञानी के परिग्रह नहीं है (परिग्रहरूप नहीं है)।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानी वर्तमानभाविभोगेषु वांछां न करोतीति कथयति – **उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं** उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति तस्य तस्मिन् भोगविषये **'षष्ठी-सप्तम्योरभेद इति वचनात्'** कोऽसौ निरीहवृत्तिर्भवति? स्वसंवेदनज्ञानी नित्यं सर्वकालं। **कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी** स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबंधरूपभाविभोगोदयस्याकांक्षां न करोति।

किंच विशेषः। य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्तपरद्रव्यनिरालंबनो भावः परिणामः स एव स्वसंवेदनज्ञानगुणो भण्यते। तेन ज्ञानगुणावलंबनेन य एव पुरुषः ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावरहितः सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च विषयसुखानंदवासनावासितं चित्तं मुक्त्वा शुद्धात्मभावनोत्थवीतराग-परमानंदसुखेन वासितं रंजितं मूर्च्छितं परिणतं तन्मयं तृप्तं रतं संतुष्टं चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवल-ज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्ल-ध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः। यादृशं परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्म-पदस्वरूपं मोक्षं लभते। कस्मात् ? इति चेत्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति यतः कारणात् इति। एवं स्वसंवेदनज्ञानगुणं विना मत्यादिपंचज्ञानविकल्परहितमखंडपरमात्मपदं न लभ्यत इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं गतम्॥२१५॥

भावार्थ :– अतीत कर्मोदय उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है। अनागत उपभोग की वाँछा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्म को अहितरूप जानता है उसके आगामी उदय के भोग की वाँछा क्यों करेगा? वर्तमान उपभोग के प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है उसके प्रति राग कैसे हो सकता है ? इसप्रकार ज्ञानी के जो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मोदय का उपभोग है वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी वर्तमान में जो उपभोग साधन एकत्रित करता है वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती उसका उपचार करता है। जैसे रोगी रोग का उपचार करता है; यह अशक्ति का दोष है॥२१५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – ज्ञानी वर्तमान, भविष्यकालीन भोगों में वांछा नहीं करते, अब यह कहते हैं– **उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं** उत्पन्न हुए उन उदयगत भोग विषयों में उस (ज्ञानी) की वियोगबुद्धि हेयबुद्धि होती है। ''षष्ठी और सप्तमी में कहीं अभेद भी होता है ऐसा वचन है'' – ऐसा कौन है जिसकी भोग-विषयों में निरीह वृत्ति होती है ? स्वसंवेदन ज्ञानी की हमेशा निरीहवृत्ति होती है। **कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी** वह ही ज्ञानी है जो अनागत निदानबन्ध रूप भावी भोगों के उदय की आकांक्षा नहीं करता है।

इसका कुछ विशेष कहते हैं – जो भोगोपभोग आदि चेतन-अचेतन समस्त परद्रव्यों में निरावलम्बी भाव परिणाम है उसे ही स्वसंवेदन ज्ञान गुण कहा जाता है। उस ज्ञानगुण के अवलम्बन से जो पुरुष ख्याति, पूजा, लाभ, भोग, आकांक्षा रूप निदान बंधादि विभावभाव से रहित होकर तीन लोक में तीनकाल में भी मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदना से, विषय सुखानन्द वासना-वासित चित्त को छोड़कर शुद्धात्म भावना से उत्पन्न वीतराग परमानन्द सुख से वासित-रंजित-मूर्छित-परिणत-तन्मय-तृप्त-रत-संतुष्ट चित्त होकर जो वर्तता है, वह (सम्यग्ज्ञानी) ही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान के अभेद रूप परमार्थ शब्द से कथित साक्षात् मोक्ष का कारणरूप शुद्धात्मानुभूति लक्षण रूप, परमागम भाषा में वीतराग धर्मध्यान शुक्लध्यान स्वरूप स्वसंवेदन योग्य शुद्धात्मपद को परम समरसी भाव से अनुभव करता है, अन्य अनुभव

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत् –

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि॥२१६॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम्।
तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि॥२१६॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदक-भावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो भावः कांक्षमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति; तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; कस्तं वेदयते ? यदि वेदक-भावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; किं स वेदयते ? इति कांक्षमाणभाव-वेदनानवस्था। तां च विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव कांक्षति॥२१६॥

नहीं करता है। जिसप्रकार परमात्मपद का अनुभव करता है, उसीप्रकार के परमात्मपद स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। किस कारण से मोक्ष प्राप्त करता है ? उपादान कारण के समान कार्य होता है; इसलिए मोक्ष को प्राप्त करता है। इसप्रकार स्वसंवेदन ज्ञानगुण के बिना मति आदि पाँच ज्ञान के भेदों से रहित, अखण्ड-परमात्मपद को प्राप्त नहीं करते हैं। इस प्रकार संक्षेप व्याख्यान की मुख्यता से आठ गाथा सूत्र पूर्ण हुये॥२१५॥

....

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय के उपभोग की वाँछा क्यों नहीं करता ? उसका उत्तर यह है :–

रे ! वेद्य वेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट हैं।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे॥२१६॥

गाथार्थ :– [**यः वेदयते**] जो भाव वेदन करता है (अर्थात् वेदकभाव) और [**वेद्यते**] जो भाव वेदन किया जाता है (अर्थात् वेद्यभाव) [**उभयम्**] वे दोनों भाव [**समये समये**] समय-समय पर [**विनश्यति**] नष्ट हो जाते हैं [**तद्ज्ञायकः तु**] ऐसा जानने वाला [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**उभयम् अपि**] उन दोनों भावों की [**कदापि**] कभी भी [**न कांक्षति**] वांछा नहीं करता।

टीका :– ज्ञानी तो, स्वभावभाव का ध्रुवत्व होने से, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप नित्य है; और जो [१]वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं वे, विभावभावों का उत्पन्न-विनाशत्व होने से, क्षणिक हैं। वहाँ जो भाव, कांक्षमाण (वांछित) ऐसे वेद्यभाव का वेदन करता है अर्थात् वेद्यभाव का अनुभव करनेवाला है वह (वेदकभाव) जबतक उत्पन्न होता है तबतक कांक्षमाण (वांछित) वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; उसके विनष्ट हो जाने पर, वेदकभाव किसका वेदन करेगा ? यदि यह कहा जाये कि कांक्षमाण वेद्यभाव के बाद उत्पन्न होने वाले अन्य वेद्यभाव का वेदन करता है, तो (वहाँ ऐसा है कि) उस अन्य वेद्यभाव के उत्पन्न

---

१. वेद्य = वेदन में आने योग्य, वेदक = वेदनेवाला; अनुभव करनेवाला।

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न कि:ान विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१४७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ भाविनं भोगं ज्ञानी न कांक्षतीति कथयति – **जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं** योऽसौ रागादिविकल्प: कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदय: कर्मतापन्नं वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन, अनुभूयते। तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समयं समयं प्रति विनश्वरं। **तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि** तदुभयमपि वेद्यवेदकरूपं वर्तमानं भाविनं च विनश्वरं जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकांक्षति न वांछति कदाचिदपि।।२१६।।

होने से पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है; तब फिर उस दूसरे वेद्यभाव का कौन वेदन करेगा ? यदि यह कहा जाये कि वेदकभाव के बाद उत्पन्न होनेवाला दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो (वहाँ ऐसा है कि) उस दूसरे वेदकभाव के उत्पन्न होने से पूर्व ही वह वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा ? इसप्रकार कांक्षमाण भाव के वेदन की अनवस्था है, उस अनवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।

भावार्थ :– वेदकभाव और वेद्यभाव में काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा ? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव के बिना वेद्य का कौन वेदन करेगा ? ऐसी अव्यवस्था को जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है, वांछा नहीं करता। यहाँ प्रश्न होता है कि – आत्मा तो नित्य है इसलिए वह दोनों भावों का वेदन कर सकता है; तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे ? समाधान – वेद्य-वेदकभाव विभावभाव हैं, स्वभावभाव नहीं, इसलिए वे विनाशीक हैं; अतः वांछित वेद्यभाव जबतक आता है तबतक वेदकभाव (भोगनेवाला भाव) नष्ट हो जाता है, और दूसरा वेदकभाव आये तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इसप्रकार वांछित भोग तो नहीं होता। इसलिए ज्ञानी निष्फल वाँछा क्यों करे ? जहाँ मनोवांछित का वेदन नहीं होता वहाँ वांछा करना अज्ञान है।।२१६।।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [वेद्य-वेदक-विभाव-चलत्वात्] वेद्य-वेदकरूप विभावभावों की चलता (अस्थिरता) होने से **[खलु]** वास्तव में **[कांक्षितम् एव वेद्यते न]** वांछित का वेदन नहीं होता; **[तेन]** इसलिए **[विद्वान् किञ्चन कांक्षति न]** ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, **[सर्वत: अपि अतिविरक्तिम् उपैति]** सबके प्रति अत्यन्त विरक्तता को (वैराग्यभाव को) प्राप्त होता है।

भावार्थ :– अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावों में काल भेद है, उनका मिलाप नहीं होता; (क्योंकि वे कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिए अस्थिर हैं) इसलिए ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे ? ।।१४७।।

तथाहि –

बंधुवभोगणिमित्ते[1] अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१७॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमित्ताः, यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः। यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः, यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः। अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ॥२१७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सम्यग्ज्ञानी जीव भविष्य काल के भोगों की वांछा नहीं करता है ऐसा कहते हैं – **जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं** जो यह रागादि विकल्प है, उसका जो वेदन करता है – अनुभव करता है, वह कर्ता है और जो साता का उदय कर्मपने को प्राप्त होकर रागादि विकल्प रूप से वेदन किया जाता है – अनुभव किया जाता है। वे दोनों भी अर्थ पर्याय की अपेक्षा से प्रति समय विनश्वर हैं। **तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखदि कयावि** उन दोनों वेद्य-वेदक रूप वर्तमान और भावी भावों को विनश्वर जानता हुआ तत्त्वज्ञानी (उन भोगों की) न आकांक्षा करता है और न कदापि वांछा करता है ॥२१६॥

....

इसप्रकार ज्ञानी को सर्व उपभोगों के प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं–

संसार तन-सम्बन्धि, अरु बन्धोपभोग निमित्त जो।
उन सर्व अध्यवसान उदय जु, राग होय न ज्ञानि को ॥२१७॥

गाथार्थ :– [**बन्धोपभोगनिमित्तेषु**] बन्ध और उपभोग के निमित्तभूत [**संसारदेहविषयेषु**] संसार सम्बन्धी और देह सम्बन्धी [**अध्यवसानोदयेषु**] अध्यवसान के उदयों में [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी के [**रागः**] राग [**न एव उत्पद्यते**] उत्पन्न नहीं होता।

टीका :– इस लोक में जो अध्यवसान के उदय हैं वे कितने ही तो संसार सम्बन्धी हैं कितने ही शरीर सम्बन्धी हैं। उनमें से जितने संसार सम्बन्धी हैं, उतने बन्ध के निमित्त हैं और जितने शरीर सम्बन्धी हैं उतने उपभोग के निमित्त हैं। जितने बन्ध के निमित्त हैं उतने तो राग-द्वेष-मोहादिक हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं उतने सुख-दुःखादिक हैं। इन सभी में ज्ञानी के राग नहीं है; क्योंकि वे सभी नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाव वाले ज्ञानी के उनका निषेध है।

भावार्थ :– जो अध्यवसान के उदय संसार सम्बन्धी हैं और बन्ध के निमित्त हैं वे तो राग-द्वेष-मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसान के उदय देह सम्बन्धी हैं और उपभोग के निमित्त हैं वे सुख-दुख इत्यादि हैं। वे सभी (अध्यवसान के उदय), नाना द्रव्यों के (अर्थात् पुद्‌गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि

---

१. पाठान्तर = बंधुवभोगणिमित्तं

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१४८।।

(स्वागता)

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत: स्यात् सर्वरागरसवर्जनशील:।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष: कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न।।१४९।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ, तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनबंधनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्त्ववेदी न वांछति, इति प्रतिपादयति – **बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स णेव उप्पज्जदे रागो** स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागाद्युदयरूपेषु अध्यवसानेषु बंधनिमित्तं भोगनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते राग:। कथंभूतेष्वध्यवसानेषु ? **संसारदेहविसएसु** निष्प्रयोजनबंधनिमित्तेषु संसारविषयेषु भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा। इदमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्तं स्तोकमेव पापं करोत्ययं जीव:। निष्प्रयोजनापध्यानेन बहुतरं करोति शालिमत्स्यवत्। तथा चोक्तमपध्यानलक्षणं –

''**बधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे:। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदा:।।**'' (रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ७८) इति अपध्यानेन कर्म बध्नाति तदप्युक्तमास्ते –

संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव हैं; ज्ञानी तो एक ज्ञायकस्वभाव है। इसलिए ज्ञानी के उनका निषेध है; अतः ज्ञानी को उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है। परद्रव्य, परभाव संसार में भ्रमण के कारण है; यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा ? ।।२१७।।

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इह अकषायितवस्त्रे**] जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि से जो कसायला नहीं किया किया गया हो ऐसे वस्त्र में [**रंगयुक्ति:**] रंग का संयोग, [**अस्वीकृता**] वस्त्र के द्वारा अंगीकार न किया जाने से, [**बहि: एव हि लुठति**] ऊपर ही लौटता है (रह जाता है) वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं करता, [**ज्ञानिन: रागरसरिक्ततया कर्म परिग्रहभावं न हि एति**] इसीप्रकार ज्ञानी रागरूपी रस से रहित है इसलिए उसे कर्म परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– जैसे लोध और फिटकरी इत्यादि के लगाये बिना वस्त्र में रंग नहीं चढ़ता, उसीप्रकार रागभाव के बिना ज्ञानी के कर्मोदय का भोग परिग्रहत्व को प्राप्त नहीं होता।।१४८।।

अब पुनः कहते हैं कि :–

श्लोकार्थ :– [**यत:**] क्योंकि [**ज्ञानवान्**] ज्ञानी [**स्वरसत: अपि**] निजरस से ही [**सर्वरागरसवर्जनशील:**] सर्व रागरस के त्यागरूप स्वभाव वाला [**स्यात्**] है [**तत:**] इसलिए [**एष:**] वह [**कर्ममध्यपतित: अपि**] कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी [**सकलकर्मभि:**] सर्व कर्मों से [**न लिप्यते**] लिप्त नहीं होता।।१४९।।

''**संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन्।**
तत्रार्थतस्त व चकास्ति न किंचनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य।। मूलाचार अ.२/८६
दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरूपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरंगम्।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतुस्तुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः।। मूलाचार अ.२/८७''

आचारशास्त्रे भणितं –

''**कंखदि कलुसिदभूदो दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो।**
णय भुंजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि।।''

इति ज्ञात्वा, अपध्यानं त्यक्त्वा च शुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थः।।२१७।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी –अब उसी प्रकार अपध्यान रूप, निष्प्रयोजन बन्ध के निमित्तरूप, शरीर के विषय में भोग के कारण होनेवाले रागादि अध्यवसानों को परमात्मतत्त्व का अनुभवी चाहता नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं – **बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स णेव उप्पज्जदे रागो** स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के रागादि उदय रूप अध्यवसानों में जो बन्ध के निमित्त हैं अथवा भोग के निमित्त हैं, उनमें राग उत्पन्न नहीं होता है। कैसे अध्यवसानों में राग उत्पन्न नहीं होता है ? **संसारदेहविसएसु** निष्प्रयोजन बंध के निमित्त रूप, संसार के विषय रूप, भोग के निमित्त रूप अथवा देह के विषयों में राग उत्पन्न नहीं होता है। यहाँ यह तात्पर्य है कि यह जीव भोग निमित्त रूप अल्प पाप को ही करता है। जबकि (अज्ञानी) जीव निष्प्रयोजन अपध्यान के द्वारा शालिमच्छ के समान प्रचुर पाप करता है। (ज्ञानी नहीं करता है)।

अपध्यान का लक्षण इसप्रकार कहा गया है – ''किसी भी प्रकार के द्वेष और राग से दूसरे की स्त्री आदि का वध, बन्धन, छेदन आदि का चिंतन करने को जिनशासन में ज्ञानी लोगों ने अपध्यान कहा है।'' (र.क.श्रा. पद्य ७८)

इस तरह अपध्यान से जीव कर्म बांधता है। वही आगम में) कहा है–

विविध प्रकार के संकल्प-विकल्पों के कल्पतरू का आश्रय करने से तुम्हारा चित्त इस मनोरथ (इच्छारूपी) सागर में डूबता है। वहाँ तुम्हारा किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, किन्तु आश्रय लेने वाले के पापों का ही संचय या बन्ध होता है। – मूलाचार अ.२/८६

दुर्भाग्य से भोगों के विषय में तेरा चित्त लालायित होकर जिसप्रकार दौड़-धूप करता है उसी प्रकार यदि वह अपने परमात्म स्वभाव में लग जावे तो तेरे इस विकल्पमय संसार की विफलता प्रगट होगी – अर्थात् तेरा संसार नाश को प्राप्त होगा। – मूलाचार अ.२/८७

इसीप्रकार आचार शास्त्र में कहा है –

''**इन कलुषित रूप काम भोगों में मूर्च्छित होता हुआ जीव इच्छाएं करता है, उससे भोगों को न भोगता हुआ भी अपने दुर्भाव से कर्मबन्ध करता है।**'' ऐसा जानकर अपध्यान का त्याग कर शुद्धात्मस्वरूप में स्थिर होना चाहिए, यह भावार्थ है।।२१७।।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण[१] दु कद्दममज्झे जहा लोहं॥२१९॥

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम्॥२१८॥
अज्ञानी पुनः रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहम्॥२१९॥

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते, तदलेपस्वभावत्वात्; तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात्। यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते, तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्यते, सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात्॥२१८-२१९॥

अब इसी अर्थ का विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

हो द्रव्य सब में रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दम मध्य में॥२१८॥

परद्रव्य सब में रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्य में।
पर कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दम मध्य में॥२१९॥

गाथार्थ :– [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] जो कि सर्व द्रव्यों के प्रति [**रागप्रहायकः**] राग को छोड़नेवाला है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्मों के मध्य में रहा हुआ हो [**तु**] तो भी [**रजसा**] कर्मरूपी रज से [**नो लिप्यते**] लिप्त नहीं होता [**यथा**] जैसे [**कनकम्**] सोना [**कर्दमध्ये**] कीचड़ के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता। [**पुनः**] और [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] जो कि सर्वद्रव्यों के प्रति [**रक्तः**] रागी है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्मों के मध्य रहा हुआ [**कर्मरजसा**] कर्मरज से [**लिप्यते तु**] लिप्त होता है [**यथा**] जैसे [**लोहम्**] लोहा [**कर्दममध्ये**] कीचड़ के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है)।

टीका :– जैसे वास्तव में सोना कीचड़ के बीच पड़ा हो तो भी वह कीचड़ से लिप्त नहीं होता (अर्थात् उसे जंग नहीं लगती) क्योंकि, उसका स्वभाव अलिप्त रहना है; इसीप्रकार वास्तव में ज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ हो तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जाने वाला राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होने से ज्ञानी अलिप्त स्वभावी है। जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा

---

१. पाठान्तर = रजएण

(शार्दूलविक्रीडित)

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि य:
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृश: शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥१५०॥

कीचड़ से लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसमें जंग लग जाती है), क्योंकि उसका स्वभाव कीचड़ से लिप्त होना है; इसीप्रकार वास्तव में अज्ञानी कर्मों के मध्य रहा हुआ कर्मों से लिप्त हो जाता है, क्योंकि सर्व परद्रव्यों के प्रति किये जानेवाला राग उसका ग्रहणरूप स्वभावपना होने से अज्ञानी कर्म से लिप्त होने के स्वभाव वाला है।

भावार्थ :– जैसे कीचड़ में पड़े हुए सोने को जंग नहीं लगती और लोहे को लग जाती है, इसी प्रकार कर्मों के मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मों से नहीं बंधता तथा अज्ञानी बँध जाता है। यह ज्ञान-अज्ञान की महिमा है ॥२१८-२१९॥

अब इस अर्थ का और आगामी कथन का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इह]** इस लोक में **[यस्य यादृक् य: हि स्वभाव: तादृक् तस्य वशत: अस्ति]** जिस वस्तु का जैसा स्वभाव होता है उसका वैसा स्वभाव उस वस्तु के अपने वश से ही (अपने आधीन ही) होता है। **[एष:]** ऐसा वस्तु का स्वभाव वह **[परै:]** परवस्तुओं के द्वारा **[कथंचन अपि हि]** किसी भी प्रकार से **[अन्यादृश:]** अन्य जैसा **[कर्तुं न शक्यते]** नहीं किया जा सकता। **[हि]** इसलिए **[सन्ततं ज्ञानं भवत्]** जो निरन्तर ज्ञानरूप परिणमित होता है वह **[कदाचन अपि अज्ञानं न भवेत्]** कभी भी अज्ञानरूप नहीं होता; **[ज्ञानिन्]** इसलिए हे ज्ञानी ! **[भुंक्ष्व]** तू (कर्मोदय जनित) उपभोग को भोग, **[इह]** इस जगत में **[पर-अपराध-जनित: बन्ध: तव नास्ति]** पर के अपराध से उत्पन्न होने वाला बन्ध तुझे नहीं है (अर्थात् पर के अपराध से तुझे बन्ध नहीं होता)।

भावार्थ :– वस्तु का स्वभाव वस्तु के अपने आधीन ही है। इसलिए जो आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता। ऐसा होने से यहाँ ज्ञानी से कहा है कि तुझे पर के अपराध से बन्ध नहीं होता इसलिए तू उपभोग को भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोग के भोगने से मुझे बन्ध होगा। यदि ऐसी शंका करेगा तो 'परद्रव्य से आत्मा का बुरा होता है' ऐसी मान्यता का प्रसंग आ जायेगा। इसप्रकार यहाँ परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की जीव की शंका मिटाई है; यह नहीं समझना चाहिए कि भोग भोगने की प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वेच्छाचारी होना तो अज्ञानभाव है यह आगे कहेंगे ॥१५०॥

अथानंतरं तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यंतं पुनरपि विशेषव्याख्यानं करोति। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते इति।

हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहित: स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशीलो यत: कारणात् तत: कर्दममध्यगतं कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति। अज्ञानी पुन: स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपंचेन्द्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्त: कांक्षितो मूर्च्छितो मोहितो भवति यत: कारणात्, तत: कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते इति॥२१७-२१८॥

अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह –

ता.अतिरिक्त गाथा १५ – णागफणीए मूलं णागणितोएण गब्भणागेण।
णागं होइ सुवण्णं धम्मंत्तं भच्छथवाएण॥

नागफणी नामौषधी तस्या मूलं। नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोयं मूत्रं। गर्भनागं सिंदूरद्रव्यं। नागं सीसकं। अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे। कथंभूत: सन् ? भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टांतगाथा गता॥१५॥

अथ दार्ष्टांतमाह –

ता.अतिरिक्त गाथा १६-१७ – कम्मं हवेइ किट्टं रागादि कालिया अह विभाओ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि॥
झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो।
जीवो हवेइ लोहं धमिदव्वो परमजोगीहिं॥

द्रव्यकर्म किट्टसंज्ञं भवति रागादिविभावपरिणामा: कालिकासंज्ञा ज्ञातव्या: सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भेदाभेदरूपं

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसके बाद उस ही ज्ञानगुण का चौदह गाथा पर्यन्त पुन: विशेष व्याख्यान करते हैं। वह इस प्रकार है – ज्ञानी सभी द्रव्यों में वीतराग भाव के कारण कर्मों से लिप्त नहीं होता है, परन्तु सरागीपने के कारण अज्ञानी कर्मों से लिप्त होता है। ऐसा प्रतिपादन करते हैं –

हर्ष विषाद आदि विकल्पों की उपाधि से रहित, स्वसंवेदनज्ञानी सर्व द्रव्यों में राग का परित्याग करने वाला होने के कारण कीचड़ के मध्य पड़े हुए सोने के समान कर्मरज से लिप्त नहीं होता है। परन्तु अज्ञानी स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव से समस्त पंचेन्द्रिय विषय आदि परद्रव्यों के प्रति रागी, कांछा करने वाला, मूर्च्छित-मोहित होता है, इस कारण से वह कीचड़ के मध्य लोहे की तरह कर्मरज से बंधता है॥२१८-२१९॥

अतिरिक्त गाथा १५ का हिन्दी – यदि समस्त कर्मों की निर्जरा नहीं है, तो मोक्ष कैसे होगा, ऐसा प्रश्न होने पर निराकरण करते हैं – **(णागफणीए मूलं)** नागफनी की जड़, **(णागणितोएण)** हथिनी का मूत्र **(गब्भणागेण)** गर्भनाग – सिन्दूर द्रव्य और **(णागं)** सीसा धातु **(भच्छथवाएण धम्मंत्तं)** इनको भस्त्रा– धौंकनी से अग्नि पर तपाने पर **(सुवण्णं होदि)** सुवर्ण होता है।

नागफनी नामक औषधि की जड़, नागिनी (हस्तिनी) का तोय – मूत्र, गर्भनाग – सिन्दूर द्रव्य और नाग – सीसा को धौंकनी से अग्नि पर तपाने से, **पुण्योदय होने पर सुवर्ण होता है और यदि पुण्योदय न हो तो स्वर्ण नहीं होता है।** यह दृष्टान्त गाथा पूर्ण हुई, अब सिद्धान्त कहते हैं॥१५॥

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो कादुं।।२२०।।
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं।।२२१।।
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे।।२२२।।
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे।।२२३।।

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम्।।२२०।।
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुंजानस्याऽपि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम्।।२२१।।
यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात्।।२२२।।

परमौषधं जानीहि इति। वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं ध्यानमग्निर्भवति। द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्या। आसन्न-भव्यजीवो लोहं भवति। स च भव्यजीवः पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्यौषधध्यानाग्निभ्यां संयोगं कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिभिः धमितव्यो ध्यातव्यः। इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति संदेहो न कर्तव्यो भट्ट-चार्वाकमतानुसारिभिरिति।।१६-१७।।

अतिरिक्त गाथा १६-१७ का हिन्दी – (**अह**) अब (**कम्मं**) कर्म (**किट्टं**) कीट (**हवेइ**) है, (**रागादि कालिया विभावो**) रागादि विभाव परिणाम कालिमा हैं, (**सम्मत्तणाणचरणं**) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (**परमोसहमिदि**) परम औषधि है ऐसा (**वियाणाहि**) जानो। (**झाणं**) ध्यान (**अग्गी**) अग्नि (**हवेइ**) है (**तवयरणं भत्तली**) तपश्चरण भस्त्रा – धौंकनी है, (**जीवो लोहं हवेइ**) जीव लौह है। यह (**परमजोगीहिं**) परमयोगियों के द्वारा (**धमिदव्वो**) धमना चाहिए अर्थात् धौंका जाना चाहिए। (**समक्खादो**) ऐसा सम्यक् कथन है।

द्रव्यकर्म की कीट संज्ञा है, रागादि विभाव परिणामों की कालिमा संज्ञा जानना चाहिए, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र तीनों को भेद-अभेद रूप परम औषधि जानो। वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यानाग्नि है और बारह प्रकार के तपश्चरण की धौंकनी है – ऐसा जानना चाहिए। आसन्नभव्य जीव लौह है। वह भव्यजीव पूर्वोक्त सम्यक्त्वादि औषधि तथा ध्यानरूपी अग्नि का संयोग करके बारह प्रकार के तपश्चरण की धौंकनी से परमयोगियों द्वारा धमना (धौंकना) या ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार से जैसे सोना (प्रगट) होता है वैसे ही मोक्ष होता है इसमें भट्ट, चार्वाक मतानुयायियों द्वारा संदेह नहीं करना चाहिए।।१६-१७।।

तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत्॥२२३॥

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णः कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्व-निमित्तत्वानुपपत्तेः, तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत, परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः। यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयं-कृतः कृष्णभावः स्यात्, तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमते तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्।

ततो ज्ञानिनो यदि (बन्धः) स्वापराधनिमित्तो बंधः॥२२०-२२३॥

अब इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं :–

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तु भोगते।
पर शंख के शुक्लत्व को नहिं, कृष्ण कोई कर सके॥२२०॥

त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तु भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके॥२२१॥

जब ही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेत स्वभाव को।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को॥२२२॥

त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभाव को।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानता को प्राप्त हो॥२२३॥

गाथार्थ :– [**शंखस्य**] जैसे शंख [**विविधानि**] अनेक प्रकार के [**सचित्ताचित्तमिश्रितानि**] सचित्त, अचित्त और मिश्र [**द्रव्याणि**] द्रव्यों को [**भुञ्जानस्य अपि**] भोगता है – खाता है तथापि [**श्वेतभावः**] उसका श्वेतभाव [**कृष्णकः कर्तुं न अपि शक्यते**] (किसी के द्वारा) काला नहीं किया जा सकता, [**तथा**] इसीप्रकार [**ज्ञानिनः अपि**] ज्ञानी भी [**विविधानि**] अनेक प्रकार के [**सचित्ताचित्तमिश्रितानि**] सचित्त, अचित्त और मिश्र [**द्रव्याणि**] द्रव्यों को [**भुञ्जानस्य अपि**] भोगते तथापि उसके [**ज्ञानं**] ज्ञान को [**अज्ञानतां नेतुम् न शक्यम्**] (किसी के द्वारा) अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता।

[**यदा**] जब [**सः एव शंखः**] वही शंख (स्वयं) [**तकं श्वेतस्वभावं**] उस श्वेत स्वभाव को [**प्रहाय**] छोड़कर [**कृष्णभावं गच्छेत्**] कृष्णभाव को प्राप्त होता है (कृष्णरूप परिणमित होता है) [**तदा**] तब [**शुक्लत्वं प्रजह्यात्**] शुक्लत्व को छोड़ देता है (अर्थात् काला हो जाता है), [**तथा**] इसीप्रकार [**खलु**] वास्तव में [**ज्ञानी अपि**] ज्ञानी भी (स्वयं) [**यदा**] जब [**तकं ज्ञानस्वभावं**] उस ज्ञानस्वभाव को [**प्रहाय**] छोड़कर [**अज्ञानेन**] अज्ञानरूप [**परिणतः**] परिणमित होता है [**तदा**] तब [**अज्ञानतां**] अज्ञानता को [**गच्छेत्**] प्राप्त होता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्॥१५१॥

टीका :– जैसे यदि शंख परद्रव्य को भोगे – खाये, तथापि उसका श्वेतपन अन्य के द्वारा काला नहीं किया जा सकता; क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता। इसीप्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्य को भोगे तो भी उसका ज्ञान अन्य के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता; क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानी को दूसरे के अपराध के निमित्त से बन्ध नहीं होता।

और जब वही शंख परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, श्वेतभाव को छोड़कर स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव होता है (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है)। इसीप्रकार जब वही ज्ञानी परद्रव्य को भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है। इसलिए ज्ञानी के यदि बन्ध हो तो वह अपने ही अपराध के निमित्त से (स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) होता है।

भावार्थ :– जैसे श्वेत शंख पर के भक्षण से काला नहीं होता किन्तु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है तब काला हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञानी पर के उपभोग से अज्ञानी नहीं होता किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है तब अज्ञानी होता है और तब बन्ध करता है॥२२०-२२३॥

अब इसका कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[ज्ञानिन्]** हे ज्ञानी ! **[जातु किंचित् कर्म कर्तुम् उचितं न]** तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है **[तथापि]** तथापि **[यदि उच्यते]** यदि तू यह कहे कि **[परं मे जातु न भुंक्षे]** ''परद्रव्य मेरा कभी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ'' **[भोः दुर्भुक्तः एव असि]** तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई ! तू खराब प्रकार से भोगनेवाला है, **[हन्त]** जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है यह महा खेद की बात है ! **[यदि उपभोगतः बन्धः न स्यात्]** यदि तू कहे कि ''सिद्धान्त में यह कहा है कि परद्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ'', **[तत् किं ते कामचारः अस्ति]** तो क्या तुझे भोगने की इच्छा है ? **[ज्ञानं सन् वस]** तू ज्ञानरूप होकर (शुद्धस्वरूप में) निवास कर, **[अपरथा]** अन्यथा (यदि भोगने की इच्छा करेगा – अज्ञानरूप परिणमित होगा तो) **[ध्रुवम् स्वस्य अपराधात् बन्धम् एषि]** तू निश्चयतः अपने अपराध से बन्ध को प्राप्त होगा।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः॥१५२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानिनः शंखदृष्टांतेन बंधाभावं दर्शयति – यथा सजीवस्य शंखस्य श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं न शक्यते। किं कुर्वाणस्यापि ? भुंजानस्यापि। कानि ? कर्मतापन्नानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता। तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानं रागत्वमज्ञानत्वं नेतुं न शक्यते। कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात्। किं कुर्वाणस्यापि ? भुंजानस्यापि। कानि ? स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणि। ततः कारणात् चिरंतनबद्धकर्मनिर्जरा एव भवति। नवतरस्य च संवर इति व्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता। **अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति।** यथा यदा स एव पूर्वोक्तः सजीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अंतरंगस्वकीयोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय

भावार्थ :– ज्ञानी को कर्म करना ही उचित नहीं है। यदि परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है। परद्रव्य के भोक्ता को तो जगत में चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा जाता है। और जो उपभोग से बन्ध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी इच्छा के बिना ही पर की जबरदस्ती से उदय में आये हुए को भोगता है वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा। यदि वह स्वयं इच्छा से भोगे तब तो स्वयं अपराधी हुआ और तब उसे बन्ध क्यों न हो ?॥१५१॥

अब आगे की गाथा का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यत् किल कर्म एव कर्तारं स्वफलेन बलात् नो योजयेत्] कर्म ही उसके कर्ता को अपने फल के साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फल को भोग), **[फललिप्सुः एव हि कुर्वाणः कर्मणः यत् फलं प्राप्नोति]** फल की इच्छावाला ही कर्म को करता हुआ कर्म के फल[1] को पाता है; **[ज्ञानं सन्]** इसलिए ज्ञानरूप रहता हुआ और **[तद्-अपास्त-रागरचनः]** जिसने कर्म के प्रति राग की रचना दूर की है ऐसा **[मुनिः]** मुनि **[तत्-फल-परित्याग-एक-शीलः]** कर्मफल के परित्यागरूप ही एक स्वभाव वाला होने से, **[कर्म कुर्वाणः अपि हि]** कर्म करता हुआ भी **[कर्मणा नो बध्यते]** कर्म से नहीं बँधता।

भावार्थ :– कर्म तो बलात् कर्ता को अपने फल के साथ नहीं जोड़ता, किन्तु जो कर्म को करता हुआ उसके फल की इच्छा करता है वही उसका फल पाता है। इसलिए जो ज्ञानरूप वर्तता है और बिना ही राग के कर्म करता है वह मुनि कर्म से नहीं बँधता, क्योंकि उसे कर्मफल की इच्छा नहीं है॥१५२॥

---

१. कर्म का फल अर्थात् रंजित परिणाम अथवा सुख (रंजित परिणाम) को उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग।

कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति। इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता। तथैव च यथा निर्जीवशंख: कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अंतरंगोपादानपरिणामाधीन: सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति। इति निर्जीवशंखनिमित्तं द्वितीयान्वयदृष्टांतगाथा गता। तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुटं स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्वं विहाय मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्वभावच्युत: सन्नज्ञानत्वं गच्छेत्। तस्य संवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थ:, इत्यन्वयदार्ष्टांतगाथा गता॥२२०-२२३॥

ता.अतिरिक्त गाथा १८ – जह संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे॥[१]

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शंख दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी के बन्ध का अभाव दिखाते हैं –

जिसप्रकार सजीव शंख के श्वेतभाव को काला करने में (कोई) समर्थ नहीं है। क्या करता हुआ होने पर भी (काला करने में समर्थ नहीं है) ? भक्षण करता हुआ होने पर भी। किसका (भक्षण करता हुआ होने पर भी काला करने में समर्थ नहीं है) ? कर्मत्व को प्राप्त सचित्त-अचित्त तथा मिश्र विविध द्रव्यों का (भक्षण करते हुए होने पर भी काला करने में समर्थ नहीं है)। यह व्यतिरेक दृष्टान्त रूप गाथा हुई। उसीप्रकार से ज्ञानी जीव के वीतरागस्वसंवेदन लक्षण रूप भेदज्ञान को रागपने या अज्ञानपने रूप करने में (कोई) समर्थ नहीं है। किस कारण से समर्थ नहीं है ? क्योंकि स्वभाव को अन्यथा करने में कोई भी समर्थ नहीं है। क्या करते हुए होने पर भी (स्वभाव को अन्यथा करने में कोई भी समर्थ नही है) ? भोगते हुए होने पर भी। किसको (भोगते हुए होने पर भी) ? स्वकीय गुणस्थान की अवस्था के योग्य सचित्त-अचित्त मिश्ररूप विविध द्रव्यों को (भोगते हुए होने पर भी स्वभाव को अन्यथा करने में कोई समर्थ नहीं है)। इस कारण से चिरकाल से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा ही होती है और नये कर्मों का संवर होता है। इसप्रकार व्यतिरेक सिद्धान्त गाथा हुई। **अन्वयव्यतिरेक शब्द से सर्वत्र विधि निषेध जानना चाहिए।**

जिसप्रकार जब वह पूर्वोक्त सजीव शंख काले परद्रव्य के लेपवश अन्तरंग स्वकीय उपादान परिणामों के आधीन होता हुआ श्वेतभावपने को छोड़कर कृष्णभावपने को प्राप्त होता है, तब शुक्लत्व को छोड़ता है। इसप्रकार अन्वय दृष्टान्त गाथा हुई। उसीप्रकार जैसे निर्जीव शंख कृष्णरूप परद्रव्य के लेपवश, अन्तरंग उपादान परिणामों के आधीन होता हुआ श्वेतस्वभावपने को छोड़कर कृष्णभावपने को प्राप्त होता है, तब शुक्लपने को छोड़ता है। इसप्रकार निर्जीव शंख के निमित्त दूसरी अन्वय दृष्टान्त गाथा हुई। उसीप्रकार से ज्ञानी जीव भी वास्तव में स्वकीयप्रज्ञा के अपराध से वीतराग-ज्ञान स्वभावपने को छोड़कर मिथ्यात्व रागादि अज्ञानभाव से परिणमित होता है, तब स्वस्वभाव से च्युत होता हुआ अज्ञानपने को प्राप्त होता है। उसके संवरपूर्वक निर्जरा नहीं होती है – ऐसा भावार्थ है, इसप्रकार अन्वय सिद्धान्त गाथा हुई॥२२०-२२३

अतिरिक्त गाथा १८ का हिन्दी – (जह) जैसे **(पोग्गलदो संखो)** पुद्गलमय शंख **(जइया)** जिस समय **(सुक्कत्तणं पजहिदूण)** सफेदपने को छोड़कर **(किण्हभावं)** कृष्ण भाव को **(गच्छेज्ज)** प्राप्त होता है **(तइया)** तब **(सुक्कत्तणं)** सफेदपने को **(पजहे)** छोड़ देता है॥१८॥[१]

---

१. यह गाथा ता.वृत्ति टीका में गा.२२०-२२३ के ही बीच पाई जाती है, इसकी टीका इन्हीं गाथाओं की टीका में शामिल है।

पुरिसो जह को वि इहं वित्तिणिमित्तं तु सेवदे रायं।
तो सो वि देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं।
तो सो वि देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए[१]॥२२५॥
जह पुण सो च्चिय पुरिसो[२] वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं।
तो सो ण देदि राया विविहे भोगे सुहुप्पाए॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मो विविहे भोगे सुहुप्पाए॥२२७॥

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२४॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम्।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२५॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम्।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२६॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान्॥२२७॥

अब इस अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं :–

ज्यों जगत में को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूप को।
तो भूप भी सुखजनक विध-विध भोग देवे पुरुष को॥२२४॥

त्यों जीव पुरुष भी कर्मरज का सुख-अरथ सेवन करे।
तो कर्म भी सुखजनक विध-विध भोग देवे जीव को॥२२५॥

अरु वो हि नर जब वृत्ति हेतु भूप को सेवे नहीं।
तो भूप भी सुखजनक विध-विध भोग को देवे नहीं॥२२६॥

सद्दृष्टि को त्यों विषय हेतु कर्मरजसेवन नहीं।
तो कर्म भी सुखजनक विध-विध भोग को देता नहीं॥२२७॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगत में [**कः अपि पुरुषः**] कोई भी पुरुष [**वृत्ति निमित्तं तु**] आजीविका के लिए [**राजानम्**] राजा की [**सेवते**] सेवा करता है [**तद्**] तो [**सः राजा अपि**] वह

---

१. पाठान्तर = तो सो वि कम्मरायो देदि सुहुप्पादगे भोगे २. पाठान्तर = जह पुण सो चेव नरो

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति, तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति। यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति, तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम्॥२२४-२२७॥

राजा भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकार के [**भोगान्**] भोग [**ददाति**] देता है, [**एवम् एव**] इसीप्रकार [**जीवपुरुषः**] जीवपुरुष [**सुखनिमित्तम्**] सुख के लिए [**कर्मरजः**] कर्मरज की [**सेवते**] सेवा करता है [**तद्**] तो [**तत् कर्म अपि**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकार के [**भोगान्**] भोग [**ददाति**] देता है,

[**पुनः यथा**] और जैसे [**सः एव पुरुषः**] वही पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं**] आजीविका के लिए [**राजानम्**] राजा की [**न सेवते**] सेवा नहीं करता [**तद्**] तो [**सः राजा अपि**] वह राजा भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकार के [**भोगान्**] भोग [**न ददाति**] नहीं देता, [**एवम् एव**] इसीप्रकार [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**विषयार्थं**] विषय के लिए [**कर्मरजः**] कर्मरज की [**न सेवते**] सेवा नहीं करता [**तद्**] इसलिए [**तत् कर्म**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकार के [**भोगान्**] भोग [**न ददाति**] नहीं देता।

टीका :– जैसे कोई पुरुष फल के लिए राजा की सेवा करता है तो वह राजा उसे फल देता है, इसीप्रकार जीव फल के लिए कर्म की सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता है और जैसे वही पुरुष फल के लिए राजा की सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे फल नहीं देता, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फल के लिए कर्म की सेवा नहीं करता इसलिए वह कर्म उसे फल नहीं देता। यह तात्पर्य है।

भावार्थ :– यहाँ एक आशय तो इसप्रकार है – अज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा करता है, इसलिए वह कर्म उसे (वर्तमान में) रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुख के लिए अर्थात् रंजित परिणाम के लिए उदयागत कर्म की सेवा नहीं करता, इसलिए वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

दूसरा आशय इसप्रकार है – अज्ञानी सुख (रागादिपरिणाम) उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों की अभिलाषा से व्रत, तप इत्यादि शुभकर्म करता है, इसलिए वह कर्म उसे रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों को देता है। ज्ञानी के सम्बन्ध इससे विपरीत समझना चाहिए। इसप्रकार अज्ञानी फल की वाँछा से कर्म करता है इसलिए वह फल को पाता है और ज्ञानी फल की वाँछा बिना ही कर्म करता है इसलिए वह फल को प्राप्त नहीं करता॥२२४-२२७॥

अब ''जिसे फल की इच्छा नहीं है वह कर्म क्यों करे ? '' इस आशंका को दूर करने के लिए काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क: ॥१५३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंत: स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ॥१५४॥

श्लोकार्थ :– [**येन फलं त्यक्तं स: कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीम:**] जिसने कर्म का फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। [**किन्तु**] वहाँ इतना विशेष है कि [**अस्य अपि कुत: अपि किंचित् अपि तत् कर्म अवशेन आपतेत्**] उसे (ज्ञानी को) भी किसी कारण से कोई ऐसा कर्म अवशता से (उसके वश बिना) आ पड़ता है। [**तस्मिन् आपतिते तु**] उसके आ पड़ने पर भी, [**अकम्प-परम-ज्ञानस्वभावे स्थित: ज्ञानी**] जो अकम्प परमज्ञानस्वभाव में स्थित है ऐसा ज्ञानी [**कर्म**] कर्म [**किं कुरुते अथ किं न कुरुते**] करता है या नहीं [**इति क: जानाति**] यह कौन जानता है ?

भावार्थ :– ज्ञानी के परवशता से कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञान से चलायमान नहीं होता। इसलिए ज्ञान से अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं – यह कौन जानता है ? ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानी के परिणामों को जानने की सामर्थ्य अज्ञानी की नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए। उनमें से, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहार-विहार करते हुए मुनियों के बाह्यक्रिया कर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभाव से अचलित होने के कारण निश्चय से वे, बाह्यक्रिया कर्म के कर्ता नहीं हैं, ज्ञान के ही कर्ता हैं। अन्तरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासम्भव कषाय के अभाव से उनके परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलता को ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहर से ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जाने ?॥१५३॥

अब इसी अर्थ का समर्थक और आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यत् भय-चलत्-त्रैलोक्य-मुक्त-अध्वनि वज्रे पतति अपि**] जिसके भय से चलायमान होते हुए (खलबलाते हुए) तीनों लोक अपने मार्ग को छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी, [**अमी**] ये सम्यग्दृष्टि जीव, [**निसर्गनिर्भयतया**] स्वभावतः निर्भय होने से, [**सर्वाम् एव शंकां विहाय**] समस्त शंका को छोड़कर, [**स्वयं स्वम् अवध्य-बोध-वपुषं जानन्त:**] स्वयं अपने को (आत्मा को) जिसका

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सरागपरिणामेन बंध:, तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति – यथा कश्चित्पुरुष:, वृत्तिनिमित्तं राजानं सेवते तत: सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, कान् ? विविध-सुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिजीवविषयेऽन्वयदृष्टांतगाथा गता। एवमेवाज्ञानी जीवपुरुष: शुद्धात्मोत्थसुखात्प्रच्युत: सन्नुदयागतं कर्मरज: सेवते विषयसुखनिमित्तं तत: सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्म राजा ददाति, कान् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान् शुद्धात्मभावानां विनाशकान् रागादिपरिणामान् इति। अथवा द्वितीयव्याख्यानं कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्य-कर्मनिमित्तं भोगाकांक्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति सोऽपि पापानुबंधिपुण्यराजा कालांतरे भोगान् ददाति। तेऽपि निदानबंधेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादि दु:खपरंपरां प्रापयन्तीति भावार्थ:। एवमज्ञानिजीवं प्रत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता। यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम्। तत: सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान् ? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता। एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीव: पूर्वोपार्जितमुदयागतं कर्मरज: शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानंदात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्ध्या न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधविषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान् शुद्धात्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति।

ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है ऐसा जानते हुए, **[बोधात् च्यवन्ते न हि]** ज्ञान से च्युत नहीं होते। **[इदं परं साहसम् सम्यग्दृष्टय: एव कर्तुं क्षमन्ते]** ऐसा परम साहस करने के लिए मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव नि:शंकितगुणयुक्त होते हैं इसलिए चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदय के समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। जिसके भय से तीनों लोक के जीव काँप उठते हैं – चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं – ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपात से मेरा नाश हो जायेगा; यदि पर्याय का विनाश हो तो ठीक ही है, क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है॥१५४॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सराग परिणाम से बन्ध तथा उसी प्रकार वीतराग परिणाम से मोक्ष होता है, इस प्रकार दृष्टान्त एवं सिद्धान्त दोनों द्वारा समर्थन करते हैं –

जैसे कोई पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा करता है, तब वही राजा उस सेवक के लिए देता है। क्या (देता है) ? विविध प्रकार के सुख उत्पन्न करने वाले भोग (देता है)। इस प्रकार अज्ञानी जीव के विषय में अन्वय दृष्टान्त गाथा हुई। इस प्रकार अज्ञानी जीव शुद्धात्मा से उत्पन्न सुख से च्युत होता हुआ उदयागत कर्मरज का विषय सुख के लिए सेवन करता है। तब वह पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मरूप राजा भी देता है। क्या (देता है) ? विषय सुखोत्पादक भोग आकांक्षा रूप शुद्धात्मभावना के विनाशक रागादि परिणामों को (देता है)। अथवा दूसरा व्याख्यान ऐसा है कि कोई जीव नवीन पुण्यकर्म के लिए, भोगों की आकांक्षा के निदानरूप से शुभकर्म का अनुष्ठान करता है। उसे पापानुबंधी पुण्यरूप राजा भी कालांतर में भोगों को देता है और वे निदानबंध से प्राप्त हुए भोग भी रावण आदि के समान नरकादि की दु:खपरम्परा (संसार परिभ्रमण) को प्राप्त कराते हैं। ऐसा भावार्थ है। इस प्रकार अज्ञानी जीव के प्रति अन्वय दृष्टान्त गाथा पूर्ण हुई। जैसे वही पूर्वोक्त पुरुष आजीविका के लिए राजा की सेवा नहीं करता है। अत: वह राजा भी उसके लिए नहीं देता है। क्या (नहीं देता है) ? विविध सुख के उत्पादक भोग (नहीं देता) है। इसप्रकार ज्ञानी जीव के विषय में व्यतिरेक दृष्टान्त गाथा पूर्ण

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥२२८॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंका:॥२२८॥

अथवा द्वितीयव्याख्यानं कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषाय-वंचनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकांक्षारूपनिदानबंधेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते। तदपि पुण्यानुबंधिपुण्यकर्म भवांतरे तीर्थंकरचक्रवर्तिबलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन शुद्धात्म-भावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति भरतेश्वरादीनामिव। इति संज्ञानिजीवं प्रति व्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता। एवं मतिश्रुतावधिमन:पर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्ष कारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारणं पूर्वं यद्व्याख्यातं परमात्मपदं, तत्पदं येन निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते। तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि॥२२४-२२७॥

हुई। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोपार्जित उदयागत कर्मरज को शुद्धात्मानुभव से उत्पन्न होने वाले वीतराग सुखानन्द से च्युत होकर विषय सुख के लिए उपादेय बुद्धि से सेवन नहीं करता है, इसलिए वह कर्म भी (उस सम्यग्दृष्टि को) नहीं देता है। क्या (नहीं देता है) ? विविध विषय सुखों के उत्पादक भोग-आकांक्षा रूप, शुद्धात्म भावना के विनाश करनेवाले रागादि परिणामों को (नहीं देता है)।

अथवा द्वितीय व्याख्यान ऐसा है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्पसमाधि के अभाव से, अशक्य अनुष्ठान होने से, विषय-कषायों से बचने के लिए यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजादि शुभकार्यरूप अनुष्ठान करता है। फिर भी भोगाकांक्षा रूप निदानबंध से उस पुण्यकर्म रूप अनुष्ठान का सेवन नहीं करता है, तो भी पुण्यानुबन्धी पुण्यकर्म भवान्तर में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि अभ्युदय रूप से उदय में आने पर भी पूर्वभव में भायी गई भेदविज्ञान की वासना के बल से शुद्धात्मभावना का नाश करने वाले, विषय सुख को उत्पन्न करनेवाले भोग आकांक्षा निदानरूप रागादि परिणामों को नहीं देता है। भरतेश्वर आदि की तरह (वैरागी रहते हैं)। इस प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव के प्रति व्यतिरेक दार्ष्टान्त का कथन करनेवाली गाथा पूर्ण हुई। इस प्रकार मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान का अभेदरूप (जो) परमार्थ शब्द से वाच्य है (जो) साक्षात् मोक्ष का कारणभूत, शुद्धात्मानुभव के लक्षण वाला स्वसंवेद्य और संवरपूर्वक निर्जरा का उपादानकारणरूप पूर्व कथित परमात्मपद है, उस पद को निर्विकार स्वसंवेदन लक्षणरूप भेदविज्ञान गुण के बिना प्राप्त नहीं किया जाता है। उस ही भेदविज्ञान गुण की फिर से विशेष व्याख्या करने वाली चौदह गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥२२४-२२७॥

....

अब इस अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं :–

सम्यक्त्वी जीव होते नि:शंकित इसहि से निर्भय रहें।
हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इस ही से वे नि:शंक हैं॥२२८॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टय: सकलकर्मफलनिरभिलाषा: संतोऽत्यंतकर्मनिरपेक्षतया वर्तंते, तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसाया: संतोऽत्यंतनिर्भया: संभाव्यंते ।।२२८।।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोक: शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येकक: ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भी: कुतो
निश्शंक: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ।।१५५।।

गाथार्थ :– **[सम्यग्दृष्टय: जीवा:]** सम्यग्दृष्टि जीव **[निश्शंका: भवंति]** नि:शंक होते हैं, **[तेन]** इसलिए **[निर्भया:]** निर्भय होते हैं; **[तु]** और **[यस्मात्]** क्योंकि वे **[सप्तभयविप्रमुक्ता:]** सप्त भयों से रहित होते हैं **[तस्मात्]** इसलिए **[नि:शंका:]** निःशंक होते हैं (अडोल होते हैं)।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मों के फल के प्रति निरभिलाष होते हैं, इसलिए वे कर्म के प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिए वास्तव में वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चयवाले होने से अत्यन्त निर्भय हैं ऐसी सम्भावना की जाती है। (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है) ।।२२८।।

अब सात भयों के कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उसमें से पहले इहलोक और परलोक के भयों का एक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[एष:]** यह चित्स्वरूप लोक ही **[विविक्तात्मन:]** भिन्न आत्मा का (पर से भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्मा का) **[शाश्वत: एक: सकल-व्यक्त: लोक:]** शाश्वत, एक और सकलव्यक्त (सर्वकाल में प्रगट) लोक है; **[यत्]** क्योंकि **[केवलम् चित्-लोकं]** मात्र चित्स्वरूप लोक को **[अयं स्वयमेव एकक: लोकयति]** यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है – अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, **[तद्-अपर:]** उससे भिन्न दूसरा कोई लोक **[अयं लोक: अपर:]** यह लोक या परलोक **[तव न]** तेरा नहीं है ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, **[तस्य तद्-भी: कुत: अस्ति]** इसलिए ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो ? **[स: स्वयं सततं निश्शंक: सहजं ज्ञानं सदा विन्दति]** वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का (अपने ज्ञानस्वभाव का) सदा अनुभव करता है।

भावार्थ :– 'इस भव में जीवनपर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं' ? ऐसी चिन्ता रहना इहलोक का भय है। 'परभव में मेरा क्या होगा' ? ऐसी चिन्ता का रहना परलोक का भय है। ज्ञानी जानता है कि – यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है जो कि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसी के बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी के इसलोक का अथवा परलोक का भय कहाँ से हो ? कभी नहीं हो सकता, वह तो अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है।।१५५।।

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५६।।

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५७।।

अब वेदनाभय का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[निर्भेद-उदित-वेद्य-वेदक-बलात्]** अभेदस्वरूप वर्तते हुए वेद्य-वेदक के बल से (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं ऐसी वस्तुस्थिति के बल से) **[यद् एकं अचलं ज्ञानं स्वयं अनाकुलैः सदा वेद्यते]** एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषों के द्वारा (ज्ञानियों के द्वारा) सदा वेदन में आता है। **[एषा एका एव हि वेदना]** यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियों के है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है।) **[ज्ञानिनः अन्या आगत-वेदना एव हि न एव भवेत्]** ज्ञानी के दूसरी कोई आगत (पुद्‌गल से उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं, **[तद्-भीः कुतः]** इसलिए उसे वेदना का भय कहाँ से हो सकता है? **[सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति]** वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ :– सुखदुःख को भोगना वेदना है। ज्ञानी के अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूप का ही उपभोग है। वह पुद्‌गल से होनेवाली वेदना को वेदना ही नहीं समझता, इसलिए ज्ञानी के वेदनाभय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञान का अनुभव करता है।।१५६।।

अब अरक्षाभय का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[यत् सत् तत् नाशं न उपैति इति वस्तुस्थितिः नियतं व्यक्ता]** जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूप से प्रगट है। **[तत् ज्ञानं किल स्वयमेव सत्]** यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्‌स्वरूप वस्तु) है (इसलिए नाश को प्राप्त नहीं होता), **[ततः अपरैः अस्य त्रातं किं]** इसलिए पर के द्वारा उसका रक्षण कैसा ? **[अतः अस्य किंचन अत्राणं न भवेत्]** इसप्रकार (ज्ञान निज से ही रक्षित है इसलिए) उसका किंचित्‌मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता **[ज्ञानिनः तद्-भीः कुतः]** इसलिए (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को अरक्षा का भय कहाँ से हो सकता ? **[सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति]** वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५८।।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१५९।।

भावार्थ :– सत्तास्वरूप वस्तु का कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है; इसलिए वह ऐसा नहीं है कि जिसकी दूसरों के द्वारा रक्षा की जाये तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाये। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिए उसे अरक्षा का भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है।।१५७।।

अब अगुप्तिभय का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[किल स्वं रूपं वस्तुनः परमा गुप्तिः अस्ति]** वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही (निजरूप ही) वस्तु की परम 'गुप्ति' है **[यत् स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टम् न शक्तः]** क्योंकि स्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; **[च]** और **[अकृतं ज्ञानं नुः स्वरूपं]** अकृतज्ञान (जो किसी के द्वारा नहीं किया गया है ऐसा स्वाभाविक ज्ञान) पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप है; (इसलिए ज्ञान आत्मा की परम गुप्ति है।) **[अतः अस्य न काचन अगुप्तिः भवेत्]** इसलिए आत्मा की किंचित्मात्र भी अगुप्तता न होने से **[ज्ञानिनः तद्-भी कुतः]** ज्ञानी को अगुप्ति का भय कहाँ से हो सकता है ? **[सः स्वयं सततं निश्शंकः सहजं ज्ञानं सदा विन्दति]** वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ :– 'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला, भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयता से निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणी को अगुप्तता के कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि वस्तु के निजस्वरूप में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिए वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूप में रहा हुआ आत्मा गुप्त है क्योंकि ज्ञानस्वरूप में दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अगुप्तता का भय कहाँ से हो सकता है? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।।१५८।।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय:।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति।।१६०।।

अब मरणभय का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**प्राणोच्छेदम् मरणं उदाहरन्ति**] प्राणों के नाश को (लोग) मरण कहते हैं। [**अस्य आत्मन: प्राणा: किल ज्ञानं**] निश्चय से आत्मा के प्राण तो ज्ञान हैं। [**तत् स्वयमेव शाश्वततया जातुचित् न उच्छिद्यते**] वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत होने से उसका कदापि नाश नहीं होता; [**अत: तस्य मरणं किञ्चन न भवेत्**] इसलिए आत्मा का मरण किंचित्मात्र भी नहीं होता। [**ज्ञानिन: तद्-भी: कुत:**] अत: (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से हो सकता है ? [**स: स्वयं सततं निश्शंक: सहजं ज्ञानं सदा विन्दति**] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ :– इन्द्रियादि प्राणों के नाश होने को लोग मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं, उसके तो ज्ञान प्राण हैं। ज्ञान अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता; अत: आत्मा को मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिए उसे मरण का भय नहीं है। वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का निरन्तर अनुभव करता है।।१५९।।

अब आकस्मिकभय का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**एतत् स्वत: सिद्धं ज्ञानम् किल एकं**] यह स्वतःसिद्ध ज्ञान एक है, [**अनादि**] अनादि है [**अनन्तम्**] अनन्त है [**अचलं**] अचल है [**इदं यावत् तावत् सदा एव हि भवेत्**] वह जबतक है तबतक सदा ही वही है, [**अत्र द्वितीयोदय: न**] उसमें दूसरे का उदय नहीं है। [**तत्**] इसलिए [**अत्र आकस्मिकम् किंचन न भवेत्**] इस ज्ञान में आकस्मिक कुछ भी नहीं होता। [**ज्ञानिन: तद्-भी: कुत:**] ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से हो सकता है ? [**स: स्वयं सततं निश्शंक: सहजं ज्ञानं सदा विन्दति**] वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहजज्ञान का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ :– 'यदि कुछ अनिर्धारित अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो ?' ऐसा भय रहना आकस्मिक भय है। ज्ञानी जानता है कि – आत्मा का ज्ञान स्वतःसिद्ध, अनादि, अनन्त, अचल, एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिए उसमें कुछ भी अनिर्धारित कहाँ से होगा अर्थात् अकस्मात् कहाँ से होगा ? ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को आकस्मिक भय नहीं होता, वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभाव का निरन्तर अनुभव करता है।

इसप्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते।

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचितज्ञान-सर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव॥१६१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – इत ऊर्ध्वं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनं गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र तावत् प्रथमगाथायां निजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ताः संतः सम्यग्दृष्टयो घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभवस्वरूपं स्वस्वभावं न त्यजन्तीति कथयति – **सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति** सम्यग्दृष्टयो जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोषपरमात्माराधनं कुर्वाणाः संतो निश्शंकाः भवंति यस्मात् कारणात्। **णिब्भया तेण** तेन कारणेन निर्भया भवंति। **सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा** यस्मादेव कारणाद् इहलोक-परलोक-अत्राण-अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितसप्तभयविप्रमुक्ता भवंति। **तम्हा दु णिस्संका** तस्मादेव कारणात् घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेऽपि निश्शंकाः शुद्धात्मस्वरूपे निष्कंपाः संतः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानंदतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न प्रच्यवंते पांडवादिवत्॥२२८॥

प्रश्न :– अविरतसम्यग्दृष्टि आदि को भी ज्ञानी कहा है और उनके भय-प्रकृति का उदय होता है तथा उसके निमित्त से उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी निर्भय कैसे है ?

समाधान :– भयप्रकृति के उदय के निमित्त से ज्ञानी को भय उत्पन्न होता है और अन्तराय के प्रबल उदय से निर्बल होने के कारण उस भय की वेदना को सहन न कर सकने से ज्ञानी उस भय का इलाज भी करता है, परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान से च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्म की भय नामक प्रकृति का दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। इसलिए ज्ञानी के भय नहीं॥१६०॥

अब आगे की (सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि चिन्हों सम्बन्धी) गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [टंकोत्कीर्ण-स्वरस-निचित-ज्ञान-सर्वस्व-भाजः सम्यग्दृष्टेः] टंकोत्कीर्ण निजरस से परिपूर्ण ज्ञान के सर्वस्व को भोगनेवाले सम्यग्दृष्टि के **[यद् इह लक्ष्माणि]** जो निःशंकित आदि चिन्ह हैं वे **[सकलं कर्म]** समस्त कर्मों को **[घ्नन्ति]** नष्ट करते हैं; **[तत्]** इसलिए, **[अस्मिन्]** कर्म का उदय वर्तता होने पर भी, **[तस्य]** सम्यग्दृष्टि को **[पुनः]** पुनः **[कर्मणः बन्धः]** कर्म का बन्ध **[मनाक् अपि]** किंचित्मात्र भी **[नास्ति]** नहीं होता, **[पूर्वोपात्तं]** परन्तु जो कर्म पहले बँधा था **[तद् अनुभवतः]** उसके उदय को भोगने पर उसको **[निश्चितं]** नियम से **[निर्जरा एव]** उस कर्म की निर्जरा ही होती है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि पहले बँधी हुई भय आदि प्रकृतियों के उदय को भोगता है, तथापि निःशंकित[१] आदि गुणों के विद्यमान होने से उसे शंकादिकृत[२] (शंकादि के निमित्त से होनेवाला) बन्ध नहीं होता, किन्तु पूर्वकर्म की निर्जरा ही होती है॥१६१॥

---

१. निःशंकित – सदेह अथवा भय रहित। २. शंका – सदेह; कल्पित भय।

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे[1]।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२२९॥

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान्।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२२९॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावाभावा-न्निश्शंकः, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव ॥२२९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इससे आगे निश्शंकादि आठ गुणों का कथन नौ गाथाओं तक करते हैं। वहाँ पहले प्रथम गाथा में निजपरमात्म पदार्थ की भावना से उत्पन्न सुखामृत के रसास्वादन से सन्तुष्ट होते हुए सम्यग्दृष्टि घोर उपसर्ग होने पर भी सात भयों से रहितपने के कारण निर्विकार स्वानुभव स्वरूप स्वस्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ऐसा कहते हैं– **सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति** सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धबुद्ध एक स्वभाव निर्दोष परमात्मा का आराधन करते हुए होने से निःशंक होते हैं। इसलिए **णिब्भया तेण** वे निर्भय होते हैं। **सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा** इस कारण से इहलोक, परलोक, अनरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना तथा आकस्मिक नामक सात भयों से रहित होते हैं। **तम्हा दु णिस्संका** इसलिए घोर परिषह उपसर्ग प्राप्त होने पर भी पाण्डव आदि के समान निःशंक होते हुए अपने शुद्धात्म स्वरूप में निष्कम्प रहते हुए शुद्धात्म भावना से उत्पन्न वीतराग सुखानन्द से सन्तुष्ट होकर परमात्म स्वभाव से च्युत नहीं होते हैं ॥२२८॥

....

अब इस कथन को गाथाओं द्वारा कहते हैं, उसमें से पहले निःशंकित अंग की (अथवा निःशंकित गुण की चिन्ह की) गाथा इसप्रकार है :–

जो कर्मबन्धन मोहकर्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शंका रहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२२९॥

गाथार्थ :– [**यः चेतयिता**] जो [2]चेतयिता, [**कर्मबंधमोहकरान्**] कर्मबन्ध सम्बन्धी मोह करने वाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मों के द्वारा बँधा हुआ है ऐसा भ्रम करने वाले) [**तान् चतुरः अपि पादान्**] मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को [**छिनत्ति**] छेदता है, [**सः**] उसको [**निश्शंकः**] निःशंक [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण कर्मबन्ध सम्बन्धी शंका करनेवाले मिथ्यात्वादि भावों का अभाव होने से निःशंक है, इसलिए उसे शंकाकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि को जिस कर्म का उदय आता है उसका वह, स्वामित्व के अभाव के कारण, कर्ता नहीं होता। इसलिए भयप्रकृति का उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूप से च्युत नहीं होता। ऐसा होने से उसे शंकाकृत बन्ध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं ॥२२९॥

---

१. पाठान्तर = कम्ममोहबाधकरे, २. चेतयिता – चेतनेवाला; जानने-देखनेवाला; आत्मा

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३०॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य: ॥२३०॥

यतो हि सम्यग्दृष्टि: टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्ष:, ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंध:, किंतु निर्जरैव ॥२३०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथानंतरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निशंकाद्यष्टगुणा: नवतरबंधं निवारयन्ति तत: कारणाद्बंधो नास्ति किंतु संवरपूर्विका निर्जरा एव भवतीति प्रतिपादयति – **जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे** य: कर्ता मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणान् संसारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्य-पृथक्त्वेन मोहकरान् अव्याबाधसुखादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा बाधाकरांस्तान् आगमप्रसिद्धांश्चतुर: पादान् शुद्धात्मभावनाविषये निश्शंको भूत्वा स्वसंवेदनज्ञानखड्गेन छिनत्ति। **सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिर्निशंको मंतव्य:। तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शंकाकृतो नास्ति बंध:, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरा एव भवति ॥२२९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसके बाद वीतराग सम्यग्दृष्टि के नि:शंकादि आठ गुण नवीन बंध का निवारण करते हैं इसकारण बंध नहीं होता है; किन्तु संवरपूर्वक निर्जरा ही होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं। **जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्ममोहबाधकरे** जो कर्ता मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग लक्षण वाले, संसार वृक्ष की जड़ वाले, निष्कर्म आत्मतत्त्व से भिन्न लक्षण वाले कर्मों को करनेवाले, निर्मोह आत्मद्रव्य से भिन्नरूप से रहनेवाले, मोहभावों को करनेवाले अथवा अव्याबाध सुखादि गुण लक्षण परमात्म पदार्थ से भिन्न होने से बाधा करने वाले आगम प्रसिद्ध चार पादों को शुद्धात्मानुभव के विषय में नि:शंक होकर स्वसंवेदनरूप ज्ञान खड्ग से छेदता है। **सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह चेतयिता आत्मा निशंक सम्यग्दृष्टि मानना चाहिए। उसको शुद्धात्मभावना के विषय में शंकाकृत बंध नहीं है, किंतु पूर्वबद्ध कर्मों की नियमरूप से निर्जरा ही होती है ॥२२९॥

....

अब नि:काँक्षित गुण की गाथा कहते हैं :–

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टि जानना ॥२३०॥

गाथार्थ :– [**य: चेतयिता**] जो चेतयिता, [**कर्मफलेषु**] कर्मों के फलों के प्रति [**तथा**] तथा [**सर्वधर्मेषु**] सर्व धर्मों के प्रति [**कांक्षां**] कांक्षा [**न तु करोति**] नहीं करता [**स:**] उसको [**निष्कांक्ष: सम्यग्दृष्टि:**] निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्य:**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी कर्मफलों के प्रति तथा समस्त वस्तुधर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से, निष्कांक्ष (निर्वांछक) है, इसलिए उसे कांक्षाकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३१॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम्।
सो खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३१॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साभावान्निर्विचिकित्सः, ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव ॥२३१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तह य सव्वधम्मेसु यः कर्ता शुद्धात्मभावनासंजातपरमानंदसुखे तृप्तो भूत्वा कांक्षां वाञ्छां न करोति। केषु ? पंचेंद्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु, अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु, अथवा इहलोकपरलोकाकांक्षारूपसमस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेषु च। **सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिः संसारसुखे निष्कांक्षितो मंतव्यः। तस्य विषयसुखकांक्षाकृतो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरा एव भवति ॥२३०॥

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि को समस्त कर्मफलों की वाँछा नहीं होती; तथा सर्व धर्मों की वाँछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदि के वचन इत्यादि वस्तुधर्मों की अर्थात् पुद्गलस्वभावों की उसे वाँछा नहीं है – उनके प्रति समभाव है, अथवा अन्यमतावलम्बियों के द्वारा माने गये अनेक प्रकार के सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहार धर्मों की उसे वाँछा नहीं है – उन धर्मों का आदर नहीं है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि वाँछारहित होता है, इसलिए उसे वाँछा से होनेवाला बन्ध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती इसलिए उसे मिटाने की – उपचार की वाँछा सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोह के उदय के कारण होती है किन्तु वह उस वाँछा का कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है; इसलिए उसे वाँछाकृत बन्ध नहीं होता ॥२३०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – जो ण करेदि दु कंखं कम्मफलेसु तह य सव्वधम्मेसु जो कर्ता शुद्धात्मभावना से उत्पन्न परमानंदसुख में तृप्त होकर वाञ्छा नहीं करता है। किसमें ? पंचेन्द्रिय विषयसुख रूप कर्मफलों में और उसीप्रकार समस्त वस्तुधर्मों – स्वभावों में अथवा विषयसुख के कारणभूत नाना प्रकार के पुण्यरूप धर्मों में, अथवा इहलोक-परलोक की आकांक्षारूप समस्त परसमयप्रणीत कुधर्मों में (वाञ्छा नहीं करता है।) **सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टि है। संसार सुख में कांक्षारहित है ऐसा मानना चाहिए। उसके विषयसुखकांक्षा कृत बंध नहीं है, किंतु पूर्वसंचितकर्मों की निर्जरा ही होती है ॥२३०॥

....

अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं :–

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३१॥

गाथार्थ :– [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता, [**सर्वेषाम् एव**] सभी [**धर्माणाम्**] धर्मों (वस्तु के स्वभावों) के प्रति [**जुगुप्सां**] जुगुप्सा (ग्लानि) [**न करोति**] नहीं करता [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चय

जो हवदि असम्मूढो [1]चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३२॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३२॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढदृष्टिः, ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव॥२३२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – जो ण करेदि दुगुच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्व-भावनाबलेन जुगुप्सां निन्दां दोषं द्वेषं विचिकित्सान्न करोति, केषां संबंधित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां, स्वभावानां, दुर्गंधादिविषये वा। **सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः खलु स्फुटं मंतव्यो ज्ञातव्यः। तस्य च परद्रव्यद्वेषनिमित्तो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरा एव भवति॥२३१॥

से [**निर्विचिकित्सः**] निर्विचिकित्सा (विचिकित्सादोष से रहित) [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण वस्तुधर्मों के प्रति जुगुप्सा का अभाव होने से, निर्विचिकित्स (जुगुप्सा रहित – ग्लानि रहित) है, इसलिए उसे विचिकित्सा कृत बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि वस्तु के धर्मों के प्रति (अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भावों के प्रति तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्यों के प्रति) जुगुप्सा नहीं करता। यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्मप्रकृति का उदय आता है तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता इसलिए उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिए निर्जरा ही होती है॥२३१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – जो ण करेदि दुगुच्छं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं जो चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्व की भावना के बल से जुगुप्सा, निन्दा, दोष, द्वेष, विचिकित्सा (घृणा) नहीं करता है। किनके सम्बन्ध में (विचिकित्सा नहीं करता है) ? सभी वस्तुओं के धर्मों की – स्वभावों की अथवा दुर्गन्धादि विषय में (विचिकित्सा – ग्लानि नहीं करता है)। **सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह आत्मा निश्चय से निर्विचिकित्सारूप सम्यग्दृष्टि है ऐसा मानना जानना चाहिए। उसके परद्रव्य द्वेष निमित्तक बन्ध नहीं होता है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है॥२३१॥

....

अब अमूढ़दृष्टि अंग की गाथा कहते हैं :–

संमूढ़ नहिं सब भाव में जो सत्यदृष्टि धारता।
वो मूढ़दृष्टि विहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना ॥२३२॥

---

१. पाठान्तर = चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३३॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३३॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः, ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरैव ॥२३३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनाबलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे बहिर्विषये सर्वथाऽसंमूढो भवति। **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स खलु स्फुटं सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मन्तव्यो ज्ञातव्यः। तस्य च बहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बंधः परसमयमूढताकृतो वा, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरा एव भवति ॥२३२॥

गाथार्थ :– [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता, [**सर्वभावेषु**] समस्त भावों में [**असंमूढ़ः**] अमूढ़ है [**सद्दृष्टि**] यथार्थ दृष्टिवाला [**भवति**] है, [**सः**] उसको [**खलु**] निश्चय से [**अमूढ़दृष्टिः**] अमूढ़दृष्टि [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी भावों में मोह का अभाव होने से अमूढ़दृष्टि है, इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ जानता है; उसे राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती। चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों तथापि उसे उदय की बलवत्ता जानकर वह उन भावों का स्वयं कर्ता नहीं होता, इसलिए उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है, इसलिए निर्जरा ही होती है ॥२३२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – जो हवदि असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु जो चेतयिता आत्मा अपने शुद्धात्मस्वभाव में श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरण रूप से निश्चय रत्नत्रय लक्षण भावना के बल से शुभाशुभ कर्म जनित परिणाम रूप बाह्य विषयों में सर्वथा मूढ़ नहीं होता (अमूढ़ रहता) है। **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि है ऐसा मानना एवं जानना चाहिए। उसके बाह्य विषयों में मूढ़ता कृत बन्ध नहीं होता है, अथवा परसमय (परमत/मिथ्यामत) मूढ़ता कृत बन्ध नहीं होता है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की निश्चितरूप से निर्जरा ही होती है ॥२३२॥

....

अब उपगूहन गुण की गाथा कहते हैं :–

जो सिद्धभक्तिसहित है, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वो उपगूहनकर सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२३३॥

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा[1]।
सो ठिदिकरणाजुत्तो[2] सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३४॥

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिक-सिद्धभक्तियुक्तः मिथ्यात्वरागादिविभावधर्माणामुपगूहकः प्रच्छादको विनाशकः। **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः उपगूहनकारी मंतव्यो ज्ञातव्यः। तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरा एव भवति॥२३३॥

गाथार्थ :– [**ये:**] जो (चेतयिता) [**सिद्धभक्तियुक्तः**] सिद्धों की (शुद्धात्मा की) भक्ति से युक्त है [**तु**] और [**सर्वधर्माणाम् उपगूहनकः**] पर वस्तुओं के सर्व धर्मों को गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावों में युक्त नहीं होता) [**सः**] उसको [**उपगूहनकारी**] उपगूहन करनेवाला [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करता है, इसलिए उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिए उस जीव की शक्ति की दुर्बलता से (मन्दता से) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है। उपगूहन का अर्थ छिपाना है। यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया हुआ है, और जहाँ उपयोग सिद्धभक्ति में लगाया वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही, इसलिए वह समस्त अन्य धर्मों का गोपनेवाला और आत्मशक्ति का बढ़ानेवाला है। इस गुण का दूसरा नाम 'उपबृंहण' भी है। उपबृंहण का अर्थ है बढ़ाना। सम्यग्दृष्टि ने अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया है, इसलिए उसके आत्मा की समस्त शक्तियाँ बढ़ती हैं – आत्मा पुष्ट होता है, इसलिए वह उपबृंहणगुण वाला है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्ति की वृद्धि होती है, इसलिए उसे दुर्बलता से जो बन्ध होता था वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है। यद्यपि जबतक अन्तराय का उदय है तबतक निर्बलता है तथापि उसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है, किन्तु अपनी शक्ति के अनुसार कर्मोदय को जीतने का महान उद्यम वर्तता है॥२३३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं शुद्धात्मभावना रूप पारमार्थिक सिद्ध भक्तियुक्त आत्मा मिथ्यात्व रागादि विभाव रूप धर्मों का उपगूहक, आच्छादक या विनाशक होता है। **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह उपगूहन गुणधारी सम्यग्दृष्टि मानना-जानना चाहिए। उसके अनुपगूहन कृत बन्ध नहीं है; किन्तु पूर्व सचिंत कर्मों की निश्चितरूप से निर्जरा ही होती है॥२३३॥

---

१. पाठान्तर = उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं २. सो ठिदिकरणेण जुदो

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी, ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः, किन्तु निर्जरैव॥२३४॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥२३५॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे।
स वत्सलभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥२३५॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंधः, किन्तु निर्जरा एव॥२३५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं यः कर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गं गच्छंतं संतमात्मानं परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति। **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः स्थितिकरणयुक्तो मन्तव्यो ज्ञातव्यः। तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरा एव भवति॥२३४॥

अब स्थितिकरण गुण की गाथा कहते हैं :–

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३४॥

गाथार्थ :– [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**उन्मार्ग गच्छंतं**] उन्मार्ग में जाते हुए [**स्वकम् अपि**] अपने आत्मा को भी [**मार्गे**] मार्ग में [**स्थापयति**] स्थापित करता है, [**सः**] वह [**स्थितिकरणयुक्तः**] स्थितिकरण युक्त [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण, यदि अपना आत्मा मार्ग से (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग से) च्युत हो तो उसे मार्ग में ही स्थित कर देता है, इसलिए स्थितिकारी (स्थिति करनेवाला) है, अतः उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– जो अपने स्वरूपरूपी मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए अपने आत्मा को मार्ग में (मोक्षमार्ग में) स्थित करता है, वह स्थितिकरणगुण युक्त है। उसे मार्ग से च्युत होने के कारण होने वाला बन्ध नहीं होता किन्तु उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं, इसलिए निर्जरा ही होती है॥२३४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं जो कर्ता मिथ्यात्व रागादि रूप उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को परमयोगाभ्यास के बल से (स्वसंवेदनरूप ज्ञानबल से) मोक्षमार्ग में स्वशुद्धात्मभावनारूप निश्चय मोक्षमार्ग में निश्चल स्थापन करता है। **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि मानना जानना चाहिए। उसके अस्थितिकरण कृत बन्ध नहीं होता है, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों की निश्चित रूप से निर्जरा ही होती है॥२३४॥

विज्जारहमारूढो [1]मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३६॥

विद्यारथमारूढ़: मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य: ॥२३६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि य: कर्ता मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्वं भक्तिं करोति, केषां ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां, कथंभूतानां ? साधूनां मोक्षमार्गे साधकानां अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूनाम्। **सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि: वात्सल्यभावयुक्तो मंतव्यो ज्ञातव्य:। तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बंध:, किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरा एव भवति॥२३५॥

अब वात्सल्य गुण की गाथा कहते हैं :–

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना ॥२३५॥

गाथार्थ :– [**य:**] जो (चेतयिता) [**मोक्षमार्गे**] मोक्षमार्ग में स्थित [**त्रयाणां साधूनां**] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों – साधनों के प्रति (अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय और मुनि – इन तीन साधुओं के प्रति) [**वत्सलत्वं करोति**] वात्सल्य करता है, [**स:**] वह [**वत्सलभावयुत:**] वात्सल्यभाव से युक्त [**सम्यग्दृष्टि:**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्य:**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्तया देखता (अनुभव करता) है, इसलिए मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अतिप्रीतिवाला है, इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि[2] से होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– वत्सलत्व का अर्थ है प्रीतिभाव। जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूप के प्रति प्रीतिवाला–अनुरागवाला हो उसे मार्ग की अप्राप्ति से होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु कर्म रस देकर खिर जाते हैं, इसलिए निर्जरा ही होती है॥२३५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साहूण मोक्खमग्गम्मि जो कर्ता मोक्षमार्ग में स्थित रहकर वत्सलत्व रूप भक्ति करता है। किसकी (भक्ति करता है) ? अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों की (भक्ति करता है)। वे तीनों कैसे हैं ? मोक्षमार्ग के साधक साधुओं की अथवा व्यवहार से उसके आधारभूत साधुओं की भक्ति करता है, **सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्‌ठी मुणेदव्वो** वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्यभाव युक्त है – ऐसा मानना-जानना चाहिए। उसके अवात्सल्यभावकृत बन्ध नहीं होता है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है॥२३५॥

---

१. पाठान्तर = मणोरहरहेसु हणदि जो चेदा, २. अनुपलब्धि – प्रत्यक्ष नहीं होना वह; अज्ञान; अप्राप्ति।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः, ततोऽस्य ज्ञानप्रभावनाऽप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः, किंतु निर्जरा एव॥२३६॥

अब प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं :–

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराज ज्ञानप्रभाव कर सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३६॥

गाथार्थ :– [**यः चेतयिता**] जो चेतयिता [**विद्यारथम् आरूढः**] विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ (चढ़ा हुआ) [**मनोरथपथेषु**] मनरूपी रथ के पथ में (ज्ञानरूपी रथ के चलने के मार्ग में) [**भ्रमति**] भ्रमण करता है, [**सः**] वह [**जिनज्ञानप्रभावी**] जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को प्रगट करने – विकसित करने – फैलाने के द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है, इसलिए प्रभावना करनेवाला है, अतः उसे ज्ञान की प्रभावना के अप्रकर्ष से (ज्ञान की प्रभावना न बढ़ाने से) होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थ :– प्रभावना का अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना इत्यादि; इसलिए जो अपने ज्ञान को निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्रगट करता है – बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है। उसे अप्रभावनाकृत कर्मबंध नहीं होता, किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है इसलिए उसके निर्जरा ही है।

इस गाथा में निश्चय प्रभावना का स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्ब को रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादि में फिराकर व्यवहार प्रभावना की जाती है, इसीप्रकार जो विद्यारूपी (ज्ञानरूपी) रथ में आत्मा को विराजमान करके मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्ग में भ्रमण करता है वह ज्ञान की प्रभावना युक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चय प्रभावना करनेवाला है। इसप्रकार ऊपर की गाथाओं में यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को निःशंकित आदि आठ गुण निर्जरा के कारण हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व के अन्य गुण भी निर्जरा के कारण जानना चाहिए।

इस ग्रन्थ में निश्चयनय प्रधान कथन होने से यहाँ निःशंकितादि गुणों का निश्चय स्वरूप (स्वाश्रित स्वरूप) बताया गया है। उसका सारांश इसप्रकार है –

(१) जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान में निःशंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके निःशंकितगुण होता है।

(२) जो कर्मफल की वाँछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की वाँछा न करे, उसके निःकांक्षित गुण होता है।

(३) जो वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है।

(४) जो स्वरूप में मूढ़ न हो, स्वरूप को यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होता है।

(५) जो आत्मा को शुद्धस्वरूप में युक्त करे, आत्मा की शक्ति बढ़ाये और अन्य धर्मों को गौण करे, उसके उपगूहनगुण होता है।

(६) जो स्वरूप से च्युत होते हुए आत्मा को स्वरूप में स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है।

(७) जो अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्यगुण होता है।

(८) जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित कर प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है।

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषों के द्वारा जो कर्मबन्ध होता था उसे नहीं होने देते और इन गुणों के सद्भाव में, चारित्रमोह के उदयरूप शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (शंकादि की) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बन्ध नहीं होता; क्योंकि बन्ध तो प्रधानता से मिथ्यात्व के अस्तित्व में ही कहा है।

सिद्धान्त में गुणस्थानों को परिपाटी में चारित्रमोह के उदयनिमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध कहा है वह भी निर्जरारूप ही (निर्जरा के समान ही) समझना चाहिए, क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे पूर्व में मिथ्यात्व के उदय के समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है, उसीप्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्म के स्वामित्व का अभाव होने से वह आगामी बन्धरूप नहीं किन्तु निर्जरारूप ही है। जैसे– कोई पुरुष दूसरे का द्रव्य उधार लाया हो तो उनमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिक को दे देता है; नियत समय के आने तक वह द्रव्य उसके घर में पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होने से उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन नहीं है, वह उसके स्वामी को दे देने के बराबर ही है; इसीप्रकार ज्ञानी कर्मद्रव्य को पराया मानता है इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता, अतः उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुए के समान ही है – ऐसा जानना चाहिए।

यह निःशंकितादि आठ गुण व्यवहारनय से व्यवहार मोक्षमार्ग में इसप्रकार लगाने चाहिए –

(१) जिनवचनों में सन्देह नहीं करना, भय के आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं डिगना, सो निःशंकितत्त्व है।

(२) संसार-देह-भोग की वाँछा से तथा परमत की वांछा से व्यवहार मोक्षमार्ग से चलायमान न होना सो निःकांक्षितत्त्व है।

(३) अपवित्र, दुर्गन्धित आदि वस्तुओं के निमित्त से व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के प्रति ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा है।

(४) देव, गुरू, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप इत्यादि में मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना सो अमूढ़दृष्टि है।

(५) धर्मात्मा में कर्मोदय से दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति बढ़ाना सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है।

(मन्दाक्रान्ता)

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य॥१६२॥

---

(६) व्यवहार मोक्षमार्ग से च्युत होते हुए आत्मा को स्थिर करना सो स्थितिकरण है।
(७) व्यवहार मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना सो वात्सल्य है।
(८) व्यवहार मोक्षमार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना सो प्रभावना है।

इसप्रकार आठ गुणों का स्वरूप व्यवहारनय को प्रधान करके कहा है। यहाँ निश्चयप्रधान कथन में उस व्यवहार स्वरूप की गौणता है। सम्यग्ज्ञान प्रमाणदृष्टि में दोनों प्रधान हैं। स्याद्वाद मत में कोई विरोध नहीं है॥२३६॥

अब, निर्जरा के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले और कर्मों के नवीन बन्ध को रोककर निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टि की महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इति नवम् बन्धं रुन्धन्]** इसप्रकार नवीन बन्ध को रोकता हुआ और **[निजैः अष्टाभिः अंगैः संगतः निर्जरा-उज्जृम्भणेन प्राग्बद्धं तु क्षयम् उपनयन्]** (स्वयं) अपने आठ अंगों से युक्त होने के कारण निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि जीव **[स्वयम्]** स्वयं **[अतिरसात्]** अतिरस से (निजरस में मस्त हुआ) **[आदि-मध्य-अन्तमुक्तं ज्ञानं भूत्वा]** आदि-मध्य-अन्त रहित (सर्वव्यापक, एकप्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर **[गगन-आभोग-रङ्गं विगाह्य]** आकाश के विस्ताररूपी रंगभूमि में अवगाहन करके (ज्ञान के द्वारा समस्त गगनमण्डल में व्याप्त होकर) **[नटति]** नृत्य करता है।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि को शंकादिकृत नवीन बन्ध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त होने से निर्जरा का उदय होने के कारण, उसके पूर्व में बन्ध का नाश होता है। इसलिए वह धारावाही ज्ञानरूपी रस का पान करके, निर्मल आकाशरूपी रंगभूमि में ऐसे नृत्य करता है, जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमि में नाचता है।

प्रश्न :– आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होती है, बन्ध नहीं होता; किन्तु सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के बन्ध कहा गया है और घातिकर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है इसलिए दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य – इन गुणों का घात भी विद्यमान है। चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है, यदि मोह के उदय में भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यों न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता ?

इति निर्जरा निष्क्रांता।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जराप्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपं विद्यारथमारूढः सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकार-संसारदुःखकारणान् शत्रून् मनोरथयान् वेगांश्चित्तकल्लोलान् स्वस्वभावसारथिबलेन दृढतरध्यानखड्गेन हंति। **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मंतव्यो ज्ञातव्यः। तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरा एव भवति॥२३६॥

एवं संवरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारणभूतानां शुद्धात्मभावनारूपाणां शुद्धनयमाश्रित्य निश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतम्। इदं तु निश्शंकाद्यष्टगुणव्याख्यानं निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यातम्। निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि स्थितस्य सरागसम्यग्दृष्टेरप्यंजनचौरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन यथासंभव योजनीयम्। निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानम् ? इति चेन्नैवम्। अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चय-व्यवहारनययोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति। तथा चोक्तं –

उत्तर :– बन्ध के होने में मुख्यकारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी का उदय ही है; और सम्यग्दृष्टि के तो उनके उदय का अभाव है। चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख-गुण का घात होता है तथा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी के अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष घातिकर्मों की प्रकृतियों का अल्प स्थिति-अनुभाग वाला बन्ध तथा शेष अघातिकर्मों की प्रकृतियों का बन्ध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी सहित होता है वैसा नहीं होता। अनन्तसंसार का कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ अन्य बन्ध की गणना कौन करता है?

वृक्ष की जड़ कट जाने पर हरे पत्ते रहने की अवधि कितनी होती है ? इसलिए इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होने के सम्बन्ध में ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होने के बाद जो कुछ कर्म रहे हों वे सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टांत के अनुसार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। जैसे कोई पुरुष दरिद्रता के कारण एक झोंपड़े में रहता था। भाग्योदय से उसे धन-धान्य से परिपूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हो गई, इसलिए वह उसमें रहने को गया। यद्यपि उस महल में बहुत दिनों का कूड़ा-कचरा भरा हुआ था तथापि जिस दिन उसने आकर महल में प्रवेश किया, उस दिन से ही वह उस महल का स्वामी हो गया, सम्पत्तिवान हो गया। अब वह कूड़ा कचरा साफ करना है सो वह क्रमशः अपनी शक्ति के अनुसार साफ करता है। जब सारा साफ हो जायेगा और महल उज्ज्वल हो जायेगा, तब यह परमानन्द को भोगेगा। इसीप्रकार ज्ञानी के सम्बन्ध में समझना चाहिए॥१६२॥

टीका :– इसप्रकार निर्जरा (रंगभूमि में से) बाहर निकल गई।

भावार्थ :– इसप्रकार जिसने रंगभूमि में प्रवेश किया था, वह निर्जरा अपना स्वरूप प्रगट बताकर रंगभूमि से बाहर निकल गई।

जइ जिणसमइं पउंजह ता मा ववहारणिच्छए मुचह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।। इति

किंच – संवरपूर्विका निर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति, स च निश्चयरत्नत्रयलाभो, वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालंबेन निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिरतीवदुर्लभः। कस्मात् ? इति चेत्, एकेंद्रियविकलेंद्रिय पंचेंद्रियसंज्ञिपर्याप्त-मनुष्यदेशकुलरूपेंद्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तन क्रोधादिकषाय-निवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परम्परादुर्लभानि यतः। तदपि कस्मात्? तत्प्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायख्याति-पूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वात् इति दुर्लभपरंपरां ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो न कर्तव्यः। तदप्युक्तं –

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बंधै न तबै अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये;
पूरण अङ्ग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढ़ै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनंदरूप निजातम थाये।।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में निर्जरा का प्ररूपक छठवाँ अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा जो चेतयिता आत्मा स्व-शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि स्वरूप विद्यारथ पर आरूढ़ होकर ख्याति पूजा-लाभ-भोगाकांक्षा रूप निदानबन्धादि विभाव परिणामरूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव रूप पाँच प्रकार के संसार दुःख के कारण रूप शत्रुओं को, मनोरथ-यान को, वेग से उत्पन्न हो रही चित्त की कल्लोलों को स्वस्वभाव सारथी के बल से दृढ़तर ध्यान खड्ग से नष्ट करता है, **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** वह सम्यग्दृष्टि जिनज्ञान की प्रभावना करनेवाला मानना जानना चाहिए। उसके अप्रभावना कृत बन्ध नहीं होता है किन्तु पूर्वसंचित कर्मों की निश्चितरूप से निर्जरा ही होती है।।२३६।।

इसप्रकार संवरपूर्वक भावनिर्जरा को उपादान कारणभूत शुद्धात्मानुभव रूप शुद्धनय का आश्रय करके निःशंकित आदि आठ गुणों का व्याख्यान करने की मुख्यता से नौ गाथाएँ पूर्ण हुईं। यहाँ निश्चय नय की मुख्यता से निःशंकित आदि आठ गुणों का कथन हुआ। निश्चयरत्नत्रय के साधक रूप व्यवहार रत्नत्रय में रहने वाले सराग सम्यग्दृष्टि के अंजनचोर आदि की कथारूप से व्यवहारनय यथासम्भव जान लेना चाहिए। निश्चय नय की व्याख्या करके फिर व्यवहार नय का व्याख्यान किसलिए किया है ? ऐसा नहीं कहना चाहिए। अग्नि तथा सुवर्णपाषाण की तरह निश्चय व्यवहारनय में परस्पर साध्य-साधक भाव दिखलाने के लिए पुनः व्यवहार का कथन किया है। कहा भी है – ''**गाथार्थ –** यदि जिनागम में प्रवेश करना चाहते हो तो व्यवहार नय और निश्चय नय दोनों को मत छोड़ो। एक (व्यवहार के) बिना तीर्थ का नाश होगा तथा दूसरे (निश्चय के बिना) तत्त्व का नाश होगा।''

इत्यतिदुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात्।
संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं॥ इति

तत्रैवं सति शृंगाररहितपात्रवत् शांतरसरूपेण निर्जरा निष्क्रांता।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ गाथाचतुष्टयं पीठिकारूपेण, गाथापंचकं ज्ञानवैराग्यशक्त्योः सामान्यविवरणरूपेण, गाथादशकं तयोरेव विशेषविवरणरूपेण, गाथाष्टकं ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथाचतुर्दश तस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गाथानवकं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनरूपेण चेति समुदायेन पंचाशद्गाथाभिः षड्भिरंतराधिकारैः सप्तमो निर्जराधिकारः समाप्तः।

इसका कुछ विस्तार कहते हैं - जो संवरपूर्वक निर्जरा का कथन किया है, वह सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धात्मा का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान एवं अनुष्ठान रूप में मुख्य वृत्ति से निश्चय रत्नत्रय के होने पर होती है। वह निश्चयरत्नत्रय का लाभ, वीतराग धर्मध्यान, शुक्लध्यानरूप में, शुभाशुभ बाह्यद्रव्य के अवलम्बन से रहित निर्विकल्प समाधि में स्थिर होने पर होता है। वह समाधि अतिदुर्लभ है। किस कारण से (दुर्लभ है)? एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संज्ञी-पर्याप्तक, मनुष्य, देश, कुल, रूप, इन्द्रिय पटुता, निर्व्याधि, आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सद्धर्म का श्रवण, ग्रहण, धारणा, श्रद्धान, संयम, विषय सुखों से निवृत्ति, क्रोधादि कषाय से निवर्तन, तप भावना और समाधिमरण उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। वह भी किस कारण से (दुर्लभ हैं) ? उनके प्रतिपक्ष रूप मिथ्यात्व, विषय, कषाय, ख्याति, पूजा लाभ, भोग, आकांक्षा रूप निदान बन्ध आदि विभाव परिणामों की प्रबलता होने के कारण (दुर्लभ हैं)। – ऐसी दुर्लभता की परम्परा को जानकर समस्त तात्पर्य से समाधि में प्रमाद नहीं करना चाहिए। कहा भी है –

उपर्युक्त प्रकार से अतिदुर्लभ रूप समाधि को (स्वानुभव को) प्राप्त करके भी यदि मनुष्य प्रमादी रहता है तो वह बेचारा इस भयंकर संसार रूपी वन में बहुत काल तक भ्रमण करता है।

इसप्रकार शृंगार रहित पात्र के समान शान्तरसरूप से निर्जरा चली गयी।

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत समयसार की शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्या में चार गाथाएँ पीठिका रूप, पाँच गाथाएँ ज्ञान वैराग्य शक्ति के सामान्य कथन रूप, दस गाथाएँ उनके विशेष विवरण रूप से, आठ गाथाएँ ज्ञानगुण के सामान्य कथन रूप से, चौदह गाथाएँ ज्ञान गुण के विशेष कथन रूप से और नौ गाथाएँ निःशंकित आदि आठ अंगों (गुणों) के कथन रूप से इसप्रकार समूहरूप में पचास गाथाओं द्वारा छह अंतराधिकारों में सातवाँ निर्जरा अधिकार पूर्ण हुआ।

जो बिनु ज्ञान क्रिया अवगाहै,
जो बिनु क्रिया मोख पद चाहै।
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया,
सो अजान मूढ़न में मुखिया॥

समयसार नाटक, पृष्ठ १३६, छन्द ११

७

बंध-अधिकार

अथ प्रविशति बंध:।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत्।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्-
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति।।१६३।।

(दोहा)

रागादिकतैं कर्म कौ, बन्ध जानि मुनिराय।
तजैं तिनहिं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाँय।।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब बन्ध प्रवेश करता है'। जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ रंगभूमि में बन्धतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ प्रगट होता है, इस अर्थ का मंगलरूप काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ :— [**राग-उद्गार-महारसेन सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा**] जो (बन्ध) राग के उदयरूपी महारस (मदिरा) के द्वारा समस्त जगत को प्रमत्त (मतवाला) करके, [**रस-भाव-निर्भर-महानाट्येन क्रीडन्तं बन्धं**] रस के भाव से (रागरूपी मतवालेपन से) भरे हुए महा नृत्य के द्वारा खेल (नाच) रहा है ऐसे बन्ध को [**धुनत्**] उड़ाता – दूर करता हुआ, [**ज्ञानं**] ज्ञान [**समुन्मज्जति**] उदय को प्राप्त होता है। वह ज्ञान [**आनन्द-अमृत-नित्य-भोजि**] आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है, [**सहज-अवस्थां स्फुटं नाटयत्**] अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्था को प्रगट नचा रहा है, [**धीर-उदारम्**] धीर है, उदार है, (अर्थात् महान विस्तारवाला, निश्चल है) [**अनाकुलं**] अनाकुल है, (अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलता का कारण नहीं है) [**निरुपधि**] उपाधि रहित है (अर्थात् परिग्रह रहित या जिसमें किसी परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा है।)

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंददि भिंददि य तहा ताली-तल-कयलि-वंस-पिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं ॥२३८॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणा-विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो।
णिच्छयदो विण्णेयं ण काय-चेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चिट्ठासु।
रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण ॥२४१॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२३७॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिण्डीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥२३८॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिकस्तु रजोबंधः ॥२३९॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४०॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२४१॥

भावार्थ :– बंधतत्त्व ने 'रंगभूमि में' प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा, उस ज्ञान की महिमा इस काव्य में प्रगट की गई है। ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो ॥१६९॥

अब बन्धतत्त्व के स्वरूप का विचार करते हैं; उसमें पहले, बन्ध के कारणों को स्पष्टतया बतलाते हैं–

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेल का।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक खड़ा ॥२३७॥
अरु ताड़, कदली, बांस आदिक छिन्न-भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे ॥२३८॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः, स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः, शस्त्र-व्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते। तस्य कतमो बंध हेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न शस्त्रव्यायामकर्म,

---

बहु भाँति के करणादि से उपघात करते उसहि को।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों ?॥२३९॥

यों जानना निश्चयपनें-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है॥२४०॥

चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोग में रागादि करता, रजहि से लेपाय वो॥२४१॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**कः अपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**स्नेहाभ्यक्तः तु**] (अपने शरीर में) तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर [**च**] और [**रेणुबहुले**] बहुत-सी धूलिवाले [**स्थाने**] स्थान में [**स्थित्वा**] रहकर [**शस्त्रैः**] शस्त्रों के द्वारा [**व्यायामम् करोति**] व्यायाम करता है, [**तथा**] तथा [**तालीतलकदलीवंशपिंडीः**] ताड़, तमाल, केल, बांस, अशोक इत्यादि वृक्षों को [**छिनत्ति**] छेदता है [**भिनत्ति च**] भेदता है, [**सचित्ताचित्तानां**] सचित्त तथा अचित्त [**द्रव्याणाम्**] द्रव्यों का [**उपघातम्**] उपघात (नाश) [**करोति**] करता है; [**नानाविधैः करणैः**] इसप्रकार नानाप्रकार के करणों के द्वारा [**उपघातं कुर्वतः**] उपघात करते हुए [**तस्य**] उस पुरुष के [**रजोबंधः तु**] धूलि का बन्ध (चिपकना) [**खलु**] वास्तव में [**किंप्रत्ययिकः**] किस कारण से होता है [**निश्चयतः**] यह निश्चय से [**चिंत्यतां**] विचार करो। [**तस्मिन नरे**] उस पुरुष में [**यः सः स्नेहभावः तु**] जो वह तेल आदि की चिकनाहट है [**तेन**] उससे [**तस्य**] उसे [**रजोबंधः**] धूलि का बन्ध होता है (चिपकती है) [**निश्चयतः विज्ञेयं**] ऐसा निश्चय से जानना चाहिए, [**शेषाभिः कायचेष्टाभिः**] शेष शारीरिक चेष्टाओं से [**न**] नहीं होता। [**एवं**] इसीप्रकार [**बहुविधासु चेष्टासु**] बहुत प्रकार की चेष्टाओं में [**वर्तमानः**] वर्तता हुआ [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**उपयोगे**] (अपने) उपयोग में [**रागादीन् कुर्वाणः**] रागादि भावों को करता हुआ [**रजसा**] कर्मरूपी रज से [**लिप्यते**] लिप्त होता है – बँधता है।

टीका :– जैसे इस जगत में वास्तव में कोई पुरुष स्नेह (तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावतः ही बहुत-सी धूलिमय भूमि में रहा हुआ, शस्त्रों के व्यायामरूपी कर्म (क्रिया) को करता हुआ-अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ (उस भूमि की) धूलि से बद्ध होता है – लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) उसमें से उस पुरुष के बंध का कारण कौन है ? पहले, जो स्वभाव से ही बहुत-सी धूलि से भरी हुई भूमि है वह धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है ऐसे उस भूमि में रहे हुए पुरुषों को भी धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा। शस्त्रों का व्यायामरूपी कर्म भी धूलिबंध का कारण नहीं है; क्योंकि

स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः। एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः, स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, कर्मरजसा बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं, यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ॥२३७-२४१॥

यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है उनके भी शस्त्र-व्यायामरूपी क्रिया के करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के करण भी धूलिबन्ध के कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादि का मर्दन नहीं किया है उनके भी अनेक प्रकार के करणों से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी धूलिबन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होने तैलादि का मर्दन नहीं किया उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करने से धूलिबन्ध का प्रसंग आ जाएगा।

इसलिए न्याय के बल से ही यह फलित (सिद्ध) हुआ कि, उस पुरुष में तैल का मर्दन करना बन्ध का कारण है। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि अपने में रागादिक करता हुआ, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है ऐसे लोक में मन-वचन-काय का कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक प्रकार के करणों के द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से बँधता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमें से उस पुरुष के बन्ध का कारण कौन है ? प्रथम, स्वभाव से ही जो बहुत से कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ है ऐसा लोक बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धों को भी – जो कि लोक में रह रहे हैं उनके बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। मन-वचन-काय का कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियास्वरूप योग) भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यातसंयमियों के भी (काय-वचन-मन की क्रिया होने से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। अनेक प्रकार के [१]करण भी बन्ध के कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियों के भी (उन करणों से) बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं का घात भी बन्ध का कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समिति में तत्पर हैं उनके (अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसे साधुओं के) भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओं के घात से) बंध का प्रसंग आ जाएगा। इसलिए न्यायबल से ही यह फलित हुआ कि उपयोग में रागादिकरण (अर्थात् उपयोग में रागादिक का करना) बन्ध का कारण है।

भावार्थ :– यहाँ निश्चयनय को प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतु से सिद्धि होती है वही निश्चय है। बन्ध का कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन राग-द्वेष-मोहभावों

---

१. करणों – इन्द्रियों

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम्॥१६४॥

अथ प्रविशति बंधः।

समुदायपातनिका – तत्र **'जह णाम कोवि पुरिसो'** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षट्पंचाशद्गाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति। तासु षट्पंचाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतस्तावद् बंधस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथादशकम्। तदनंतरं निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य लक्षणकथनरूपेण **'जो मण्णदि हिंसामि'** इत्यादि गाथासप्तकम्। ततः परं बहिरंग-द्रव्यहिंसा भवतु मा भवतु, निश्चयेन **हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति** प्रतिपादनरूपेण **'जो मरदि'** इत्यादि गाथाषट्कम्। अथानंतरं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं यद् भेदविज्ञानं तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यानमुख्यत्वेन **'एवमलिए'** इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वयम्। तदनंतरं तस्यैव भावपुण्यपापरूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभबंधकारणभूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन **'वत्थुं पडुच्च'** इत्यादि गाथात्रयोदश। एवं समुदायेन पंचदश।

को अपने उपयोग में करता है, वे रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य बहु-कर्मयोग्य पुद्गलों से परिपूर्ण लोक, मन-वचन-काय के योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतन का घात बन्ध के कारण नहीं है; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धों के, यथाख्यातचारित्रवानों के, केवलज्ञानियों के और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों के बन्ध का प्रसंग आ जाएगा। परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिए इन हेतुओं में (कारणों में) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिए यह निश्चय है कि बन्ध के कारण रागादिक ही हैं। यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों का नाम लिया गया है और अविरत, देशविरत का नाम नहीं लिया इसका कारण यह है कि अविरत तथा देशविरत के बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए चारित्रमोह संबन्धी राग से किंचित् बंध होता है; इसलिए सर्वथा बन्ध के अभाव की अपेक्षा से उनका नाम नहीं लिया। वैसे अंतरङ्ग की अपेक्षा से तो उन्हें भी निर्बंध ही जानना चाहिए॥२३७-२४१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[बन्धकृत्]** कर्मबन्ध को करनेवाला कारण **[न कर्मबहुलं जगत्]** न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है **[न चलनात्मकं कर्म वा]** न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है, **[न नैककरणानि]** न अनेक प्रकार के करण हैं **[वा न चिदचिद्वधः]** और न चेतन-अचेतन का घात है, किन्तु **[उपयोगभूः रागादिभिः यद्-ऐक्यम् समुपयाति]** 'उपयोग भू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है **[सः एव केवलं]** वही एकमात्र (मात्र रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना वही) **[किल]** वास्तव में **[नृणाम् बंधहेतुः भवति]** पुरुषों के बन्ध का कारण है।

भावार्थ :– यहाँ निश्चयनय से एकमात्र रागादि को ही बन्ध का कारण कहा है॥१६४॥

तदनंतरं **निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत** इति कथनरूपेण **'एवं ववहारणओ'** इत्यादि सूत्रषट्कम्। अत: परं रागद्वेषरहितज्ञानिनां प्रासुकान्नपानाद्याहारो बंधकारणं न भवति इति पिंडशुद्धिव्याख्यानरूपेण **'आधाकम्मादीया'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। तदनंतरं क्रोधादिकषाया: कर्मबंधनिमित्तं भवंति, तेषां च चेतनाचेतनबहिर्द्रव्यं निमित्तं भवतीति प्रतिपादनरूपेण **'जह फलिहमणि विसुद्धो'** इत्यादि सूत्रपंचकम्। तदनंतरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं भवति न पुन: शुद्धात्मेति व्याख्यानमुख्यत्वेन **'अप्पडिकमणं'** इत्यादि गाथात्रयं चेति समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टांतराधिकारै: बंधाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – बहिरात्मजीवसंबंधिनो बंधकारणभूतस्य शृंगारसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशत: सत: शांतरसपरिणतं वीतरागसम्यक्त्वाविनाभूतं भेदज्ञानं प्रतिषेधं करोतीति उपदिशति – **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि व्याख्यानं क्रियते। यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुष: स्नेहाभ्यक्त: सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोति इति प्रथमगाथा गता।

अब बन्ध प्रवेश करता है।

समूहपीठिका – वहाँ **'जह णाम कोवि पुरिसो'** इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके पाठक्रम से छप्पन गाथा पर्यन्त कथन करते हैं। उन छप्पन गाथाओं में पहले बन्ध के स्वरूप की सूचना करने की मुख्यता से दस गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् निश्चय नय से हिंसा-अहिंसा, व्रत- अव्रत दोनों के लक्षण कथन रूप से **'जो मण्णदि हिंसामि'** इत्यादि सात गाथाएँ हैं। उसके बाद द्रव्यहिंसा होवे या न होवे निश्चय से हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है– ऐसे प्रतिपादन रूप से **'जो मरदि'** इत्यादि छह गाथाएँ हैं। उसके बाद निश्चय रत्नत्रय लक्षण जो भेदविज्ञान उससे विलक्षण – भिन्न जो व्रत-अव्रत हैं उनके व्याख्यान की मुख्यता से **'एवमलिए'** इत्यादि सूत्रभूत दो गाथाएँ हैं। तत्पश्चात् उस ही भावपुण्य-पापरूप व्रत-अव्रत के परिणाम जो कि शुभ-अशुभ बन्ध के कारणभूत हैं, उनके व्याख्यान की मुख्यता से **'वत्थुं पडुच्च'** इत्यादि तेरह गाथाएँ हैं। इस तरह समूह रूप से पन्द्रह गाथाएँ हैं।

उसके बाद निश्चय में रहकर व्यवहार का निषेध किया जाता है इस कथनरूप से **'एवं ववहारणओ'** इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं। इसके बाद राग-द्वेष रहित ज्ञानियों के प्रासुक अन्न, पान आदि आहार बन्ध का कारण नहीं होता है इसप्रकार पिण्ड शुद्धि के कथन रूप से **'आधाकम्मादीया'** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं। तत्पश्चात् क्रोधादि कषायें कर्मबन्ध की निमित्त होती हैं और उनके चेतन-अचेतन बाह्य द्रव्य निमित्त होता है ऐसे प्रतिपादन रूप से ''**जह फलिहमणि विशुद्धो**''इत्यादि पाँच गाथा सूत्र हैं। उसके बाद अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बंध के कारण हैं; परन्तु शुद्धात्मा बन्ध का निमित्त नहीं होता है। इसप्रकार कथन की मुख्यता से **'अप्पडिकमणं'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं और इस प्रकार समुदाय रूप से छप्पन गाथाओं द्वारा, आठ अन्तराधिकारों द्वारा बन्धाधिकार में समूह रूप भूमिका पूर्ण हुई। उसका विस्तार इसप्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – बहिरात्मा जीव से सम्बन्धित बन्ध के कारणभूत श्रृंगार सहित पात्र के समान, मिथ्याज्ञान का नाटक रूप से प्रवेश होने पर शांतरस रूप परिणत वीतराग सम्यक्त्व का अविनाभूत रहनेवाला भेदज्ञान उसका (मिथ्याज्ञान का) प्रतिषेध करता है ऐसा उपदेश देते हैं – **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि का व्याख्यान किया जाता है। जैसे कोई पुरुष शरीर में तेल मालिश करके धूल भरे स्थान में रहकर शस्त्रों

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिदे संते।
रेणु-बहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं॥२४२॥
छिंददि भिंददि य तहा ताली-तल-कयलि-वंसपिंडीओ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेदि दव्वाणमुवघादं॥२४३॥
उवघादं कुव्वंतस्स तस्स णाणा-विहेहिं करणेहिं।
णिच्छयदो चिंतेज्ज हु किं पच्चयगो ण रयबंधो॥२४४॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा। कान् ? तालतमालकदलीवंशाशोकसंज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्संबंधिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चिंत्यतां विचार्यतां किं प्रत्ययक: किं निमित्तक: तस्य रजोबंध:? इति पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतम्। अत्रोत्तरं – य: स्नेहभाव-स्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगरूप: तेन तस्य रजोबंध इति निश्चयतो विज्ञेयं न कायादिव्यापारचेष्टाभि: शेषाभिरित्युत्तरगाथा। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टांतो गत:। अथ दार्ष्टान्तमाह – **एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु** एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन मिथ्यादृष्टिर्जीव: विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्तमान:। **रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण** शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाण: सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थ:। एवं यथा तैलम्रक्षितस्य रजोबंधो भवति तथा मिथ्यात्वरागादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबंधो भवति इति बंधकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपंचकं गतम्॥२३७-२४१॥

द्वारा व्यायाम अभ्यास श्रम करता है इस प्रकार प्रथम गाथा हुई। और उसीप्रकार छेदता भेदता है। किसको छेदता भेदता है ? ताल, तमाल, कदली, बांस, अशोक नामक वृक्षविशेषों को, और तत्सम्बन्धी सचित्त अचित्त द्रव्यों का उपघात भी करता है इस तरह दूसरी गाथा हुई। अनेक प्रकार के उपकरणों द्वारा उपघात करते हुए उस पुरुष के निश्चय से चिन्तन या विचार करो कि किस कारण से उसके धूलि बन्ध है ? इस प्रकार पूर्वपक्ष रूप से तीन गाथाएँ हुईं।

यहाँ उत्तर है कि जो तेल से उस पुरुष ने शरीर पर मालिश की है वह तेल की मालिश चिकनाहट (स्नेहभाव) ही उसके धूलि के बन्ध का कारण है ऐसा निश्चय से जानना चाहिए किन्तु शेष काय व्यापार चेष्टादि से बन्ध नहीं होता है। यह उत्तर गाथा है। इसप्रकार चार गाथा सूत्रों द्वारा प्रश्नोत्तर रूप से दृष्टान्त पूर्ण हुआ। अब दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) कहते हैं – **एवं मिच्छादिट्ठी वट्टंतो बहुविहासु चेट्ठासु** इसप्रकार पूर्वोक्त दृष्टान्त के समान मिथ्यादृष्टि जीव विविध काया आदि व्यापार चेष्टाओं में प्रवर्तमान होता है। (उससे उसको कर्मबंध नहीं होता है, लेकिन) **रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रएण** शुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरण रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का अभाव होने से मिथ्यात्व रागादि उपयोग रूप परिणामों को करता हुआ वह कर्मरज से लिप्त होता है बंधता है, ऐसा अर्थ है। और जैसे तैलमर्दन किए हुए पुरुष के रजोबन्ध होता है, उसीप्रकार मिथ्यात्व रागादि परिणत जीव के कर्मबन्ध होता है। इसप्रकार बन्ध कारणपने के तात्पर्य कथनरूप से पांच गाथा सूत्र पूर्ण हुए॥२३७-२४१॥

जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो[1]।
णिच्छयदो विण्णेयं ण काय-चेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु।
अकरंतो उवओगे रागादी ण लिप्पदि रयेण ॥२४६॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२४२॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥२४३॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ॥२४४॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४५॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२४६॥

सम्यग्दृष्टि उपयोग में रागादि नहीं करता, उपयोग का और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नहीं होता, इसलिए उसे पूर्वोक्त चेष्टा से बन्ध नहीं होता – यह कहते हैं :–

जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर।
व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक ठहर ॥२४२॥

अरु ताड़, कदली, बांस, आदिक छिन्न-भिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्यों का करे ॥२४३॥

बहुभाँति के करणादि से उपघात करते उसहि को।
निश्चपने-चिंतन करो, रजबंध नहिं किन कारणों ? ॥२४४॥

यों जानना निश्चयपने-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबन्धकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥२४५॥

योगों विविध में वर्तता, इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो।
उपयोग में रागादि न करे, रजहि नहिं लेपाय वो ॥२४६॥

गाथार्थ :– [**यथा पुनः**] और जैसे [**स : च एव नरः**] वही पुरुष, [**सर्वस्मिन् स्नेहे**] समस्त

---

१. पाठान्तर = जो सो दु अणेहभावो तम्हि णरे तेण तस्सऽरयबंधो।

यथा स एव पुरुषः, स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति, तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्, रजसा न बध्यते, स्नेहाभ्यंगस्य बन्धहेतोरभावात्; तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादीन कुर्वाणः सन्, तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्त-वस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते, रागयोगस्य बंधहेतोरभावात्।।२४२-२४६।।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।।१६५।।

तेल आदि स्निग्ध पदार्थ को [**अपनीते सति**] दूर किये जाने पर, [**रेणुबहुले**] बहुत धूलिवाले [**स्थाने**] स्थान में [**शस्त्रैः**] शस्त्रों के द्वारा [**व्यायामम् करोति**] व्यायाम करता है, [**तथा**] तथा [**तालीतलकदलीवंशपिंडीः**] ताड़, तमाल, केल, बांस, अशोक इत्यादि वृक्षों को [**छिनत्ति**] छेदता है [**भिनत्ति च**] और भेदता है, [**सचित्ताचित्तानां**] सचित्त तथा अचित्त [**द्रव्याणाम्**] द्रव्यों का [**उपघातम्**] उपघात [**करोति**] करता है; [**नानाविधैः करणैः**] ऐसे नानाप्रकार के करणों के द्वारा [**उपघातं कुर्वतः**] उपघात करते हुए [**तस्य**] उस पुरुष के [**रजोबंधः**] धूलि का बन्ध [**खलु**] वास्तव में [**किंप्रत्ययिकः**] किस कारण से [**न**] नहीं होता [**निश्चयतः**] यह निश्चय से [**चिंत्यतां**] विचार करो। [**तस्मिन नरे**] उस पुरुष में [**यः सः स्नेहभावः तु**] जो वह तेल आदि की चिकनाई है [**तेन**] उससे [**तस्य**] उसके [**रजोबंधः**] धूलि का बन्ध होना [**निश्चयतः विज्ञेयं**] निश्चय से जानना चाहिए, [**शेषाभिः कायचेष्टाभिः**] शेष काय की चेष्टाओं से [**न**] नहीं होता। (इसलिए उस पुरुष में तेल आदि की चिकनाहट का अभाव होने से ही धूलि इत्यादि नहीं चिपकती।) [**एवं**] इसप्रकार [**बहुविधेसु योगेषु**] बहुत प्रकार के योगों में [**वर्तमानः**] वर्तता हुआ [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**उपयोगे**] उपयोग में [**रागादीन् अकुर्वन्**] रागादि को न करता हुआ [**रजसा**] कर्मरूपी रज से [**न लिप्यते**] लिप्त नहीं होता।

टीका :– जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहट को दूर कर देने पर, उसी स्वभाव से ही अत्यधिक धूलि से भरी हुई उसी भूमि में वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्म को (क्रिया को) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा, उन्हीं सचित्ताचित वस्तुओं का घात करता हुआ, धूलि से लिप्त नहीं होता; क्योंकि उसके धूलि के लिप्त होने का कारण जो तैलादि का मर्दन है उसका अभाव है; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि अपने में रागादि को न करता हुआ, उसी स्वभाव से बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे हुए लोक में वही मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकार के करणों के द्वारा, उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ, कर्मरूपी रज से नहीं बँधता; क्योंकि उसके बन्ध के कारणभूत राग के योग का (राग में जुड़ने का) अभाव है।

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च॥१६६॥

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी राग के सम्बन्ध का अभाव होने से कर्मबन्ध नहीं होता। इसके समर्थन में पहले कहा जा चुका है॥२४२-२४६॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [कर्मततः लोकः सः अस्तु] इसलिए वह (पूर्वोक्त) बहु कर्मों से (कर्मयोग्य पुद्‌गलों से) भरा हुआ लोक है सो भले रहो, **[परिस्पन्दात्मकं कर्म तत् च अस्तु]** वह मन-वचन-काय का चलन स्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, **[तानि करणानि अस्मिन् सन्तु]** वे (पूर्वोक्त, करण भी उसके भले रहें) **[च]** और **[तत् चिद्-अचिद्-व्यापादनं अस्तु]** वह चेतन-अचेतन का घात भी भले हो, परन्तु **[अहो]** अहो ! **[अयम् सम्यग्दृग्-आत्मा]** यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, **[रागादीन् उपयोगभूमिम् अनयन्]** रागादि को उपयोग भूमि में न लाता हुआ, **[केवलं ज्ञानं भवन्]** केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, **[कुतः अपि बन्धम् ध्रुवम् न एव उपैति]** किसी भी कारण से निश्चयतः बन्ध को प्राप्त नहीं होता। (अहो ! देखो ! यह सम्यग्दर्शन की अद्‌भुत महिमा है।)

भावार्थ :– यहाँ सम्यग्दृष्टि की अद्‌भुत महिमा बताई है और यह कहा है कि लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्य का घात, वे बन्ध के कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीव की हिंसा से बन्ध का होना नहीं कहा इसलिए स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किंतु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीव का घात भी हो जाए तो उससे बन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवों को मारने के भाव होंगे वहाँ अपने उपयोग में रागादि का अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीव को जिलाने का अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्राय को भी निश्चयनय से मिथ्यात्व कहा है, तब फिर जीव को मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा ? अवश्य होगा। इसलिए कथन को नयविभाग से यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिए। सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है॥१६५॥

अब उपर्युक्त भावार्थ में कथित आशय को प्रगट करने के लिए – व्यवहारनय की प्रवृत्ति कराने के लिए काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [तथापि] तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादि से ही बन्ध कहा है तथापि) **[ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुम् न इष्यते]** ज्ञानियों को निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तना योग्य नहीं है, **[सा निरर्गला व्यापृतिः किल तद्-आयतनम् एव]** क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन

(वसन्ततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ।।१६७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ गाथापंचकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बंधाभावं दर्शयति – यथा स एव पूर्वोक्तो नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोतीति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंशपिंडीसंज्ञान् वृक्षविशेषान्। तत्संबंधिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैः, निश्चयतश्चिंत्यताम् विचार्यताम् किं प्रत्ययकः किं निमित्तकः तस्य रजोबन्धो न भवति ? एवं प्रश्नरूपेण गाथात्रयं गतम्।

अत्रोत्तरं – यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्ततस्तैलाभ्यंगरूपः तेन स तस्य रजोबन्धः इति निश्चयतो विज्ञेयं। न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिः, तदभावात् तस्य बंधो नास्तीत्यभिप्रायः इत्युत्तरगाथा गता। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टांतो गतः। अथ दार्ष्टांतमाह – **एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु** एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन

वास्तव में बन्ध का ही स्थान है। **[ज्ञानिनां अकाम-कृत-कर्म तत् अकारणम् मतम्]** ज्ञानियों के वांछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बन्ध का कारण नहीं कहा है, क्योंकि **[जानाति च करोति]** जानता भी है और (कर्म को) करता भी है **[द्वयं किमु न हि विरुध्यते]** यह दोनों क्रियाऐं क्या विरोधरूप नहीं हैं ? (करना और जानना निश्चय से विरोधरूप ही है।)

भावार्थ :– पहले काव्य में लोक आदि को बन्ध का कारण नहीं कहा इसलिए वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति का बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध किया है; बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणाम की – बन्ध के कारण की – निमित्तभूत है, उस निमित्तता का यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिए। ज्ञानियों के अबुद्धिपूर्वक – वाँछा रहित – प्रवृत्ति होती है इसलिए बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तने को नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादा रहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्ध का ही कारण है। जानने में और करने में तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा।।१६६।।

''जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं, करना तो कर्म का राग है और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्ध का कारण है।'' – इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[यः जानाति सः न करोति]** जो जानता है सो करता नहीं **[तु]** और **[यः करोति अयं खलु जानाति न]** जो करता है सो जानता नहीं। **[तत् किल कर्मरागः]** करना तो वास्तव में कर्म का राग है **[तु]** और **[रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः]** राग को (मुनियों ने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; **[सः नियतं मिथ्यादृशः]** जो कि वह (अज्ञानमय अध्यवसाय) नियम से मिथ्यादृष्टि के होता है **[च]** और **[सः बन्धहेतुः]** वह बन्ध का कारण है।।१६७।।

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।।२४७।।

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ।।२४७।।

सम्यग्दृष्टिर्जीवः विविधयोगेषु नानाप्रकारमनोवचनकायव्यापारेषु वर्तमानः। **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मलात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाणः सन्। **णेव बज्झदि रएण** कर्मरजसा न बध्यते। एवं तैलम्रक्षणाभावे यथा रजोबंधो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागाद्य-भावात् बंधो न भवति, इति बंधाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापंचकं गतम्। किं च, यथात्र पातनिकायां भणितं, संज्ञानिजीवस्य शांतरसे स्वामित्वमज्ञानिनस्तु शृङ्गाराद्यष्टरसानां स्वामित्वं, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसानां स्वामित्वं ज्ञातव्यम्। इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थलं गतम्।।२४२-२४६।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पांच गाथाओं द्वारा वीतराग सम्यग्दृष्टि के बन्ध का अभाव दिखलाते हैं– जिसप्रकार वही पूर्वोक्त व्यक्ति शरीर की समस्त चिकनाहट को दूर करके धूलि बहुल स्थान में ठहरकर शस्त्रों से व्यायाम-श्रम करता है। इस प्रकार प्रथम गाथा हुई। वह पुरुष छेदता तथा भेदता है। किसको छेदता तथा भेदता है ? ताल, तमाल, कदली, बाँस, के पिण्ड-समूह आदि को छेदता-भेदता है तत्सम्बन्धी सचित्त, अचित्त द्रव्यों का उपघात करता है। इसप्रकार दूसरी गाथा हुई। विभिन्न प्रकार के शस्त्रों से उपघात करते हुए उस पुरुष के निश्चय से चिन्तन करो, विचार करो कि किस कारण से रजबन्ध नहीं होता है ? इस प्रकार प्रश्न रूप से तीन गाथाएँ हुईं।

इसका उत्तर है – उस पुरुष के शरीर पर जो पूर्वोक्त तेल की मालिश रूप चिकनाहट है उससे ही उसको धूलिबन्ध है ऐसा निश्चय से जानना चाहिए, अन्य शरीर की क्रिया – व्यापार चेष्टा आदि से धूलिबन्ध नहीं है। उस चिकनाहट का अभाव होने से उसके धूलिबन्ध नहीं है, ऐसा आशय है। इस प्रकार प्रश्नोत्तर रूप दृष्टान्त चार गाथाओं द्वारा पूर्ण हुआ। अब दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) कहते हैं – **एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु** इस तरह पूर्वोक्त दृष्टान्त से सम्यग्दृष्टि जीव विविध योगों में, नानाप्रकार की मन-वचन-काय की क्रिया करता हुआ होने पर भी **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मल आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा अनुचरण रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सद्भाव होने के कारण रागादि उपयोग रूप परिणाम न करता हुआ **णेव बज्झदि रएण** कर्मरज से नहीं बंधता है। और जिस प्रकार तेलमर्दन के अभाव में धूलिबन्ध नहीं होता है उसीप्रकार वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि के अभाव के कारण बन्ध नहीं होता है। इसप्रकार बन्धाभाव के कारण के तात्पर्य कथन रूप से पाँच गाथाएँ पूर्ण हुईं।

कुछ विशेष कहते हैं – जैसा कि यहाँ पातनिका में कहा है कि सम्यग्ज्ञानी जीव के शान्तरस का स्वामित्व है परन्तु अज्ञानी जीव के शृंगार आदि आठ रसों का स्वामित्व है। वैसे ही अध्यात्म के विषय में नाटक के अवतरण रूप प्रसंग में नवरसों का स्वामित्व जानना चाहिए। इसप्रकार दस सूत्र समूह द्वारा प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।।२४२-२४६।।

परजीवानहं हिनस्मि, परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः॥२४७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ वीतरागस्वभावं मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीवलक्षणम्। तद्विपरीतं संज्ञानिलक्षणमिति प्रज्ञापयति – **जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी** यो मन्यते जीवानहं हिनस्मि परैः सत्वैरहं हिंस्ये इति च योऽसौ परिणामः स निश्चितमज्ञानः स एव बंधहेतुः, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी। **णाणी एत्तो दु विवरीदो** एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिंदा-प्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखास्वादरूपे वा **भेदज्ञाने रतः स ज्ञानीत्यर्थः** ॥२४७॥

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में स्पष्ट करते हैं :–

जो मानता मैं मारूँ पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानी है॥२४७॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो [**मन्यते**] यह मानता है कि [**हिनस्मि च**] 'मैं परजीवों को मारता हूँ [**परैः सत्वैः हिंस्ये च**] और परजीव मुझे मारते हैं' [**सः**] वह [**मूढः**] मूढ (मोही) है, [**अज्ञानी**] अज्ञानी है, [**तु**] और [**अतः विपरीतः**] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [**ज्ञानी**] ज्ञानी है।

टीका :– 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' – ऐसा अध्यवसाय[१] ध्रुवरूप से (नियम से, निश्चयतः) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ :– 'परजीवों को मैं मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अभिप्राय अज्ञान है इसलिए जिसका ऐसा आशय है वह अज्ञानी है – मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है वह ज्ञानी है– सम्यग्दृष्टि है। निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप यह है – स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो उस भाव का स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिए परमार्थतः कोई किसी का मरण नहीं करता। जो पर से पर का मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भाव से कर्ता कहना सो व्यवहारनय का कथन है; उसे यथार्थतया (अपेक्षा को समझकर) मानना सो सम्यग्ज्ञान है॥२४७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब वीतराग स्वभाव को छोड़कर हिंस्य-हिंसक भाव से परिणमन करना अज्ञानी जीव का लक्षण है। उसके विपरीत सम्यग्ज्ञानी जीव का लक्षण है, ऐसा कहते हैं – **जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी** जो यह मानता है कि मैं जीवों को मारता हूँ, दूसरे जीवों के द्वारा मैं मारा जाता हूँ, ऐसा जो परिणाम है वह निश्चित अज्ञान है, वही बन्ध का कारण है। वह परिणाम जिसके है, वह अज्ञानी है। **णाणी एत्तो दु विवरीदो** इससे विपरीत जो जीवन-मरण,लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा आदि विकल्पों के विषय में राग-द्वेष रहित होकर शुद्धात्म भावना से उत्पन्न परमानन्द सुख के स्वाद रूप में अथवा भेदविज्ञान में जो लीन है, वह ज्ञानी है ऐसा अर्थ है॥२४७॥

---

१. अध्यवसाय = (मिथ्या) अभिप्राय, आशय

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् –

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह दे मरणं कदं तेसिं॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह दे मरणं कदं तेहिं॥२४९॥

आयु:क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरै: प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम्॥२४८॥
आयु:क्षयेण मरणं जीवानां जिनवरै: प्रज्ञप्तम्।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तै:॥२४९॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायु:कर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायु:कर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं, तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि, हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्॥२४८-२४९॥

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसके उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं–

है आयुक्षय से मरण जीव का, ये हि जिनवर ने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तैंने मरण कैसे किया ?॥२४८॥
है आयुक्षय से मरण जीव का, ये हि जिनवर ने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया ?॥२४९॥

गाथार्थ :– (हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ' सो यह तेरा अज्ञान है।) [**जीवानां**] जीवों का [**मरणं**] मरण [**आयु:क्षयेण**] आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा [**जिनवरै:**] जिनेन्द्रदेव ने [**प्रज्ञप्तम्**] कहा है; [**त्वं**] तू [**आयु:**] परजीवों के आयुकर्म को तो [**न हरसि**] हरता नहीं है, [**त्वया**] तो तूने [**तेषाम् मरणं**] उनका मरण [**कथं**] कैसे [**कृतं**] किया ? (हे भाई ! तू जो मानता है कि 'परजीव मुझे मारते हैं' सो यह तेरा अज्ञान है।) [**जीवानां**] जीवों का [**मरणं**] मरण [**आयु:क्षयेण**] आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा [**जिनवरै:**] जिनेन्द्रदेव ने [**प्रज्ञप्तम्**] कहा है; परजीव [**तव आयु:**] तेरे आयुकर्म को तो [**न हरंति**] हरते नहीं हैं, [**तै:**] तो उन्होंने [**ते मरणं**] तेरा मरण [**कथं**] कैसे [**कृतं**] किया?

टीका :– प्रथम तो, जीवों का मरण वास्तव में अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है; क्योंकि अपने आयुकर्म के क्षय के अभाव में मरण होना अशक्य है और दूसरे से दूसरे का स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरा किसी दूसरे का मरण नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं परजीवों को मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूप से (नियम से) अज्ञान है।

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत् –

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५०॥

परजीवानहं जीवयामि, परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥२५०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथमयमध्यवसायः पुनरज्ञानम् ? इति चेत् – **आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं** आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितम्। **आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं** तेषामायुःकर्म च न हरसि त्वं तस्यायुषः स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथं ते त्वया तेषां मरणं कृतमिति ॥२४८-२४९॥

भावार्थ :– जीव की जो मान्यता हो तदनुसार जगत में नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरे का तथा दूसरे से अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनय की प्रधानता से है। व्यवहार इसप्रकार है – परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से पर्याय का जो उत्पाद – व्यय हो, उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्त से मरण (पर्याय का व्यय) हो उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ''इसने इसे मारा'' यह व्यवहार है। यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार का सर्वथा निषेध है। जो निश्चय को नहीं जानते, उनका अज्ञान मिटाने के लिए यहाँ कथन किया है। उसे जानने के बाद दोनों नयों को अविरोधरूप से जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिए ॥२४८-२४९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है इस प्रश्न का उत्तर देते हैं – **आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं** आयु के क्षय से जीवों का मरण होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहा है। **आयु ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं** उनका आयुकर्म तुम हरण नहीं करते हो क्योंकि उनकी आयु का क्षय तो उनके स्वयं के भोगने से ही होता है। तो फिर किस प्रकार उनका मरण तुम्हारे द्वारा किया गया ? और उनके द्वारा तुम्हारा मरण कैसे किया गया ?॥२४८-२४९॥

....

अब पुनः प्रश्न होता है कि ''(मरण का अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरण के अध्यवसाय का प्रतिपक्षी जो जीवन का अध्यवसाय है उसका क्या हाल है ?'' उसका उत्तर कहते हैं :–

जो मानता मैं पर जिलावूं, मुझ जीवन पर से रहे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥२५०॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो जीव [**मन्यते**] यह मानता है कि [**जीवयामि**] मैं परजीवों को जिलाता

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् –

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीविदं कदं तेहिं॥२५२॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम्॥२५१॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः॥२५२॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि, जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्॥२५१-२५२॥

हूँ [च] और [परैः सत्वैः] परजीव [जीव्ये च] मुझे जिलाते हैं, [सः] वह [मूढः] मूढ (मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उल्टा मानता है) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका :– 'परजीवों को मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (अत्यन्त निश्चितरूप से) अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ :– यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं पर को जिलाता हूँ' जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है॥२५०॥

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवन का) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं–

जीतव्य जीव का आयुदय से, ये हि जिनवर ने कहा।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जीवन कैसे किया ? ॥२५१॥
जीतव्य जीव का आयुदय से, ये हि जिनवर ने कहा।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे किया॥२५२॥

गाथार्थ :– [जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्म के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; [त्वं] तू [आयुः च] परजीवों को आयुकर्म तो [न ददासि] नहीं देता [त्वया] तो (हे भाई !) तूने [तेषाम् जीवितं] उनका जीवन (जीवित रहना) [कथं कृतं] कैसे किया ? [जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्म के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः]

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः –

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥२५३॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि, परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेऽहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः॥२५३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तदेव पुनरपि दृढ़यति – **आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू** आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः। **आऊं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं** आयुःकर्म च न ददासि त्वं तेषां जीवानां तस्यायुषः स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतम्? न कथमपि। किंच, ज्ञानिना पुरुषेण स्वसंवित्तिलक्षणत्रिगुप्तिसमाधौ स्थातव्यं तावत्। तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन अस्य मरणं करोमि, अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जातः इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः॥२५१-२५२॥

सर्वज्ञदेव [**भणंति**] कहते हैं; परजीव [**तव**] तुझे [**आयुः च**] आयुकर्म तो [**न ददति**] देते नहीं [**तैः**] तो (हे भाई !) उन्होंने [**ते जीवितं**] तेरा जीवन (जीवित रहना) [**कथं नु कृतं**] कैसे किया ?

टीका :– प्रथम तो, जीवों का जीवन वास्तव में अपने आयुकर्म के उदय से ही है, क्योंकि अपने आयुकर्म के उदय के अभाव में जीवित रहना अशक्य है; और अपना आयुकर्म दूसरे से दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना आयुकर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से कोई दूसरे का जीवन नहीं कर सकता। इसलिए 'मैं पर को जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' – इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से (नियतरूप से) अज्ञान है।

भावार्थ :– पहले मरण के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा था, इसीप्रकार यहाँ भी जानना॥२५१-२५२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – **आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू** आयुकर्म के उदय से जीव जीवित रहता है ऐसा सर्वज्ञों ने कहा है। **आऊं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं** तू उनको आयु कर्म नहीं देता है, क्योंकि उन जीवों का आयुष्क उनके अपने शुभ-अशुभ परिणामों द्वारा उपार्जित है। फिर तूने उनको जीवित कैसे किया ? अर्थात् किसी भी प्रकार से तूने उनको जीवित नहीं किया है। और फिर ज्ञानी पुरुष के द्वारा स्वसंवित्ति लक्षणस्वरूप त्रिगुण अर्थात् रत्नत्रयस्वरूप त्रिगुप्ति समाधि में स्थिर रहना चाहिए। उस समाधि के अभाव में और अशक्यानुष्ठान रूप प्रमाद से इसका मरण करता हूँ, इसको जीवित करता हूँ – ऐसा जब विकल्प होता है, तब मन में चिंतवन करता है कि इस जीव के शुभ अशुभ कर्म का उदय होने से वह जीव मरता है, जीता है मैं तो उसमें निमित्त मात्र होता हूँ ऐसा मानकर राग-द्वेषरूप अहंकार नहीं करना चाहिए – ऐसा भावार्थ है॥२५१-२५२॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् –

कम्मोदएण जीवा[१] दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।[२]
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिद-सुहिदा कह कदा ते॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा[१] दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे[२]।
कम्मं च ण दिंति तुहं[३] कदोसि कह दुक्खिदो तेहिं[४]॥२५५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सुखदुःखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति – **जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति** यः कर्ता आत्मनः संबंधित्वेन मन्यते। किम् ? दुखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहम्। **सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो** यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानः स एव बंधकारणं स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा एतस्माद्विपरीतः परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति॥२५३॥

अब यह कहते हैं कि दुःख-सुख करने के अध्यवसाय की भी यही गति है :–

जो आपसे माने दुःखी-सुखी, मैं करूँ परजीव को।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है॥२५३॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो [**इति मन्यते**] यह मानता है कि [**आत्मना तु**] अपने द्वारा [**सत्त्वान्**] मैं (पर) जीवों को [**दुःखतसुखितान्**] दुःखी-सुखी [**करोमि**] करता हूँ, [**सः**] वह [**मूढः**] मूढ (मोही) है, [**अज्ञानी**] अज्ञानी है, [**तु**] और [**अतः विपरीतः**] जो इससे विपरीत है वह [**ज्ञानी**] ज्ञानी है।

टीका :– 'परजीवों को मैं दुःखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी तथा सुखी करते हैं' – इसप्रकार का अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपने के कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपने के कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ :– यह मानना अज्ञान है कि 'मैं परजीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं'। जिसे यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानी है – सम्यग्दृष्टि है॥२५३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सुख-दुःख भी निश्चय से अपने कर्मोदय के आधीन होते हैं, ऐसा उपदेश देते हैं – **जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेत्ति** जो कर्ता (जीव) अपने आत्मा के सम्बन्धपने से मानता है। क्या मानता है ? कि जीवों को मैं सुखी दुखी करता हूँ। **सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो** यह जो 'अहं' अर्थात् अहं करोमि का परिणाम है, वह निश्चित अज्ञान है, वही बंध का कारण है। वह परिणाम जिसके है, वह अज्ञानी है, बहिरात्मा है। इसके विपरीत जो परम उपेक्षा संयम भावनारूप परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षण रूप भेदज्ञान में स्थित रहता है वह ज्ञानी है॥२५३॥

पाठान्तर = १. कम्मणिमित्तं सव्वे २. सत्ता ३. कम्मं च ण देसि तुमं ४. कदोसि किह दुक्खिदो तेहिं

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिद-सुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं[1] कह तं सुहिदो कदो तेहिं[2]॥२५६॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते॥२५४॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः॥२५५॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः॥२५६॥

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्; स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात्। अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखितदुःखितः क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्॥२५४-२५६॥

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं :–

जहँ उदयकर्म जु जीव सबही, दुःखित अवरु सुखी बनें।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तू दुखित सुखी करे ?॥२५४॥

जहँ उदयकर्म जु जीव सबही, दुःखित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें ?॥२५५॥

जहँ उदयकर्म जु जीव सबही, दुःखित अवरु सुखी बनें।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें ?॥२५६॥

गाथार्थ :– [**यदि**] यदि [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**कर्मोदयेन**] कर्म के उदय से [**दुःखितसुखिताः**] दुःखी-सुखी [**भवंति**] होते हैं, [**च**] और [**त्वं**] तू [**कर्म**] उन्हें कर्म तो [**न ददासि**] देता नहीं है, तो (हे भाई !) तूने [**ते**] उन्हें [**दुःखितसुखिताः**] दुःखी-सुखी [**कथं कृताः**] कैसे किया ?

[**यदि**] यदि [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**कर्मोदयेन**] कर्म के उदय से [**दुःखितसुखिताः**] दुःखी-सुखी [**भवंति**] होते हैं, [**च**] और वे [**तव**] तुझे [**कर्म**] कर्म तो [**न ददति**] नहीं देते तो (हे भाई!) [**तैः**] उन्होंने [**दुःखितः**] तुझको दुःखी [**कथं कृतः असि**] कैसे किया ?

[**यदि**] यदि [**सर्वे जीवाः**] सभी जीव [**कर्मोदयेन**] कर्म के उदय से [**दुःखितसुखिताः**] दुःखी-सुखी [**भवंति**] होते हैं, [**च**] और वे [**तव**] तुझे [**कर्म**] कर्म तो [**न ददति**] नहीं देते तो (हे भाई!) [**तैः**] उन्होंने [**त्वं**] तुझको [**सुखितः**] सुखी [**कथं कृतः**] कैसे किया ?

टीका :– प्रथम तो, जीवों को सुख-दुःख वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है, क्योंकि अपने

पाठान्तर = १. कम्मं च ण देसि तुमं २. कदोसि किह दुक्खिदो तेहिं

(वसन्ततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।।१६८।।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति।।१६९।।

कर्मोदय के अभाव में सुख-दुःख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे के द्वारा दूसरे को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणाम से ही उपार्जित होता है; इसलिए किसी भी प्रकार से एक दूसरे को सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय ध्रुवरूप से अज्ञान है कि 'मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं।

भावार्थ :– जीव का जैसा आशय हो तदनुसार जगत में कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिए, सभी जीव अपने-अपने कर्मोदय से सुखी-दुःखी होते हैं वहाँ यह मानना कि 'मैं पर को सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है' सो अज्ञान है। निमित्त-नैमित्तिक भाव के आश्रय से (किसी को किसी के) सुख-दुःख का करनेवाला कहना सो व्यवहार है; जो कि निश्चयकी दृष्टि में गौण है।।२५४-२५६।।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इह**] इस जगत में [**मरण-जीवित-दु:ख-सौख्यम्**] जीवों के मरण-जीवन दुःख-सुख [**सर्वं सदैव नियतं स्वकीय-कर्मोदयात् भवति**] सब सदैव नियम से (निश्चितरूप से) अपने कर्मोदय से होता है; [**पर: पुमान् परस्य मरण-जीवित-दु:ख-सौख्यम् कुर्यात्**] 'दूसरा पुरुष दूसरे के मरण-जीवन, दुःख-सुख को करता है' [**यत् तु**] ऐसा जो मानना [**एतत् अज्ञानम्**] वह तो अज्ञान है।।१६८।।

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाला और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**एतत् अज्ञानम् अधिगम्य**] इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञान को प्राप्त करके [**ये परात् परस्य मरण-जीवित-दु:ख-सौख्यम् पश्यन्ति**] जो पुरुष पर से पर के मरण-जीवन, दुःख-सुख को देखते हैं अर्थात् मानते हैं, [**ते**] वे पुरुष [**अहंकृतिरसेन कर्माणि चिकीर्षव:**] जो इसप्रकार अहंकार रस से कर्मों को करने के इच्छुक हैं (अर्थात् 'मैं इन कर्मों को करता हूँ ऐसे अहंकाररूपी रस से जो कर्म करने की मारने-जिलाने की, सुखी-दुःखी करने की – वाँछा करनेवाले हैं) वे [**नियतम्**] नियम से [**मिथ्यादृश: आत्महन: भवन्ति**] मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्मा का घात करनेवाले हैं।

भावार्थ :– जो पर को मारने-जिलाने का तथा सुख-दुःख करने का अभिप्राय रखते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे अपने स्वरूप से च्युत होते हुए रागी-द्वेषी-मोही होकर स्वतः ही अपना घात करते हैं, इसलिए वे हिंसक हैं।।१६९।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ परस्य सुखदु:खं करोमीत्यध्यवसायक: कथमज्ञानी जात: ? इति चेत् – **कम्म-णिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** यदि चेत् कर्मोदयनिमित्तं सर्वे सत्त्वा जीवा: सुखितदु:खिता भवंति। **कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं कथं ते जीवास्त्वया सुखितदु:खिता: कृता: ? न कथमपि। **कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** यदि चेत्कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवा: सुखितदु:खिता भवंति। **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्य: कथं त्वं सुखीकृतस्तै: ? न कथमपि। **कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे** यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दु:खितसुखिता भवंति। **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्य: कथं त्वं दु:खी कृतस्तै: ? न कथमपि।

किंच, तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् 'अन्यस्मै परजीवाय सुखदु:खे ददामि' इति विकल्पं न करोति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदु:खं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति – अस्य जीवस्यांतरंग-पुण्यपापोदयो जात: अहं पुनर्निमित्तमात्रमेव इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविषादपरिणामेन गर्वं न करोति इति। एवं परजीवानां जीवितमरणं सुखदु:खं करोमीति व्याख्यानमुख्यतया गाथासप्तकेन द्वितीयस्थलं गतम्॥२५४-२५६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पर के सुख दुख मैं करता हूँ अर्थात् अन्य जीव को मैं सुखी-दु:खी करता हूँ ऐसा परिणाम करने वाला अध्यवसानी अज्ञानी कैसे होता है ? **कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** यदि कर्मोदय के निमित्त से सभी जीव सुखी दुखी होते हैं। **कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते** और तुम तो शुभ अशुभ कर्म नहीं देते हो। तो फिर जीवों को तुमने सुखी दुखी कैसे किया? किसी प्रकार भी सुखी-दुखी नहीं किया।

कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि कर्मोदय के निमित्त से सभी जीव सुखी-दुखी होते हैं, **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं** और वे तो तुमको शुभाशुभ कर्म नहीं देते हैं। तो फिर तुम किस प्रकार उनके द्वारा सुखी किये गये ? किसी भी प्रकार से वे तुम्हें सुखी नहीं कर सकते हैं।

कम्मोदयेण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे यदि कर्मोदय से सभी जीव दुखी-सुखी होते हैं। **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं** और वे तो तुमको शुभाशुभ कर्म नहीं देते हैं, तो फिर तुम किस प्रकार उनके द्वारा दुखी किए गये ? अर्थात् किसी भी प्रकार से वे जीव तुम्हें दुखी नहीं कर सकते।

कुछ विशेष कहते हैं – प्रथम तो तत्त्वज्ञानी जीव ''मैं दूसरे जीवों के लिए सुख-दुख देता हूँ'' ऐसा विकल्प नहीं करता है। जब निर्विकल्प समाधि का अभाव होने पर प्रमाद से मैं सुख-दुख करता हूँ ऐसे विकल्प होते हैं, तब वह तत्त्वज्ञानी जीव मन में विचार करता है कि इस जीव का अन्तरंग पुण्य-पाप का उदय हुआ है जिससे वह सुखी दुखी हुआ है मैं तो उसका निमित्त मात्र हूँ ऐसा जानकर मन में हर्ष विषाद परिणाम से गर्व नहीं करता है।

इसप्रकार मैं पर जीवों का जीवन मरण सुख दुख करता हूँ, ऐसे व्याख्यान की मुख्यता से सात गाथाओं द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥२५४-२५६॥

जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु[१]।
तम्हा ण मारिदो णो[२] दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा॥२५८॥

यो म्रियते यश्च दु:खितो जायते कर्मोदयेन स सर्व:।
तस्मात्तु मारितस्ते दु:खितश्चेति न खलु मिथ्या॥२५७॥
यो न म्रियते न च दु:खित: सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु।
तस्मान्न मारितो नो दु:खितश्चेति न खलु मिथ्या॥२५८॥

यो हि म्रियते जीवति वा, दु:खितो भवति सुखितो भवति वा, स खलु स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्। तत: मयायं मारित:, अयं जीवित:, अयं दु:खित: कृत:, अयं सुखित: कृत: इति पश्यन् मिथ्यादृष्टि:॥२५७-२५८॥

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

मरता दुखी होता जु जीव सब कर्म उदयों से बने।
मुझसे मरा अरु दुखि हुआ क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!॥२५७॥
अरु नहिं मरे, नहिं दुखि बने, वे कर्म उदयों से बने।
'मैंने न मारा दुखि करा' क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!॥२५८॥

गाथार्थ :– [**य: म्रियते**] जो मरता है [**च**] और [**य: दु:खित: जायते**] जो दु:खी होता है [**स: सर्व:**] वह सब [**कर्मोदयेन**] कर्मोदय से होता है; [**तस्मात् तु**] इसलिए [**मारित: च दु:खित:**] 'मैंने मारा, मैंने दु:खी किया' [**इति**] ऐसा [**ते**] तेरा अभिप्राय [**न खलु मिथ्या**] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

[**य: न म्रियते**] जो न मरता है [**च**] और [**दु:खित:**] न दु:खी होता है [**स: अपि**] वह भी [**खलु**] वास्तव में [**कर्मोदयेन च एव**] कर्मोदय से ही होता है; [**तस्मात्**] इसलिए [**न मारित: च दु:खित:**] 'मैंने नहीं मारा, मैंने दु:खी नहीं किया' [**इति**] ऐसा तेरा अभिप्राय [**न खलु मिथ्या**] क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

टीका :– जो मरता है या जीता है, दु:खी होता है या सुखी होता है, यह वास्तव में अपने कर्मोदय से ही होता है; क्योंकि अपने कर्मोदय के अभाव में उसका वैसा होना (मरना, जीना, दु:खी या सुखी होना) अशक्य है। इसलिए ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला मिथ्यादृष्टि है कि 'मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दु:खी किया, इसे सुखी किया।'

पाठान्तर = १. खलु जीवो २. दे

(अनुष्टुभ्)

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥१७०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ परो जनः परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदुःखं करोतीति योऽसौ मन्यते स बहिरात्मेति प्रतिपादयति– **जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो** यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति य सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते। **तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** तस्मात् कारणात् मया मारितो दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोऽयं न खलु मिथ्या ? किंतु मिथ्यैव। **जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण खलु जीवो** यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति। कोऽसौ ? जीवः खलु स्फुटं स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव। **तम्हा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** तस्मात् कारणात् न मारितो मया न च दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोऽयं न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव। अनेनापध्यानेन स्वस्वभावाच्च्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थः ॥२५७-२५८॥

भावार्थ :– कोई किसी के मारे नहीं मरता और जिलाए नहीं जीता तथा किसी के सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता; इसलिए जो मारने, जिलाने आदि का अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है – यह निश्चयनय का वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है ॥२५५-२५८॥

आगे के कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[अस्य मिथ्यादृष्टेः]** इस मिथ्यादृष्टि के **[यः एव अयम् अज्ञानात्मा अध्यवसायः दृश्यते]** जो यह अज्ञानस्वरूप [1]अध्यवसाय दिखाई देता है **[सः एव]** वह अध्यवसाय ही **[विपर्ययात्]** विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होने से, **[अस्य बन्धहेतुः]** इस मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण है।

भावार्थ :– मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बंध का कारण है – ऐसा जानना चाहिए ॥१७०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब दूसरे लोग पर का (एक जीव दूसरे जीव का) निश्चय से जीवन मरण, सुख दुख करता है ऐसा जो मानता है, वह बहिरात्मा है ऐसा प्रतिपादन करते हैं – **जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो** जो जीव मरता है, दुखी होता है, वह सभी कर्मोदय से होता है। **तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** इस कारण से मेरे द्वारा मारा गया और दुखी किया गया – यह तुम्हारा अभिप्राय क्या मिथ्या नहीं है? अर्थात् मिथ्या ही है। **जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण खलु जीवो** जो जीव मारा नहीं जाता है, दुखी नहीं किया जाता है। ऐसा कौन है ? निश्चय से जीव है। वास्तव में वह सब कर्मोदय से ही होता है। **तम्हा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** इस कारण से ''मैंने उसे नहीं मरने दिया' और 'मैंने उसे दुखी नहीं होने दिया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव में मिथ्या नहीं है? अर्थात् ऐसा अभिप्राय मिथ्या ही है। इस अपध्यान के द्वारा अपने स्वभाव से च्युत होकर (यह जीव) कर्म को ही बांधता है, यह भावार्थ है ॥२५७-२५८॥

१. जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हो (स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणाम के लिए अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा अभिप्राय के अर्थ में भी अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त होता है।

एसा दु जा मदी दे दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं ॥२५९॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म॥२५९॥

परजीवानहं हिनस्मि, न हिनस्मि, दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः, स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः ॥२५९॥

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति –

दुक्खिद-सुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं दे।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्बंधकारणं भवतीति कथयति– **एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेति** एषा या मतिस्ते तव दुःखितसुखितान् करोम्यहं सत्त्वान्। **एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं** सैषा भवदीया मतिः हे मूढमते ! स्वस्वभावच्युतस्य शुभाशुभं कर्म बध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति॥२५९॥

अब यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंध का कारण है :–

ये बुद्धि तेरी 'दुखित अवरु सुखी करूँ हूँ जीव को'।
वो मूढमति तेरी अरे ! शुभ-अशुभ बांधे कर्म को॥२५९॥

गाथार्थ :– [**ते**] तेरी [**एषा या मतिः तु**] यह जो बुद्धि है कि मैं [**सत्त्वान्**] जीवों को [**दुःखितसुखितान्**] दुःखी-सुखी [**करोमि इति**] करता हूँ, [**एषा ते मूढमतिः**] यही तेरी मूढबुद्धि ही (मोहस्वरूप बुद्धि ही) [**शुभाशुभं कर्म**] शुभाशुभ कर्म को [**बध्नाति**] बाँधती है।

टीका :– 'मैं परजीवों को मारता हूँ, नहीं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के है, वही (अर्थात् वह अध्यवसाय ही) स्वयं रागादिरूप होने से उसे (मिथ्यादृष्टि को) शुभाशुभ बन्ध का कारण है।

भावार्थ :– मिथ्या-अध्यवसाय बन्ध का कारण है॥२५९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पूर्व की दो गाथाओं में कथित वही मिथ्याज्ञानरूप भाव मिथ्यादृष्टि को बंध का कारण होता है ऐसा कहते हैं – **एसा दु जा मदी दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्तेत्ति** ऐसी जो तुम्हारी बुद्धि है कि 'मैं जीवों को दुखी सुखी करता हूँ' **एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं** हे मूढ़मति! वह ऐसी ही तुम्हारी बुद्धि अपने स्वरूप से च्युत जीव के शुभाशुभ कर्म को बांधती है इसका और कोई दूसरा कार्य नहीं है॥२५९॥

मारीमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि॥२६१॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति॥२६०॥
मारयामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति॥२६१॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बंधहेतुः इत्यवधारणीयम्। न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं; एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि मारयामि इति, सुखयामि जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात्॥२६०-२६१॥

अब अध्यवसाय को बन्ध के कारण के रूप में भलीभाँति निश्चित करते हैं (अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है – ऐसा नियम कहते हैं) :–

करता तू अध्यवसान-'दुःखित सुखी करूँ हूँ जीव को'।
वो बाँधता है पाप को वा बाँधता है पुण्य को॥२६०॥
करता तू अध्यवसान-'मैं मारूँ जिवाऊँ जीव को'।
वो बाँधता है पाप को वा बाँधता है पुण्य को॥२६१॥

गाथार्थ :– [**सत्त्वान्**] जीवों को मैं [**दुःखितसुखितान्**] दुःखी-सुखी [**करोमि**] करता हूँ, [**एवम्**] ऐसा [**यत् ते अध्यवसितं**] जो तेरा [1]अध्यवसान है [**तत्**] वही [**पापबन्धकं**] पाप का बन्धक [**पुण्यस्य बंधकं वा**] अथवा पुण्य का बन्धक [**भवति**] होता है। '[**सत्त्वान्**] जीवों को मैं [**मारयामि व जीवयामि**] मारता हूँ और जिलाता हूँ' [**एवम्**] ऐसा [**यत् ते अध्यवसितं**] जो तेरा अध्यवसान है, [**तत्**] वही [**पापबन्धकं**] पाप का बन्धक [**पुण्यस्य बंधकं वा**] अथवा पुण्य का बन्धक [**भवति**] होता है।

टीका :– मिथ्यादृष्टि के इस अज्ञान से उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिए। और पुण्य-पापरूप से बन्ध का द्वित्व (दोपना) होने से बन्ध के कारण का भेद नहीं ढूंढना चाहिए (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिए कि पुण्यबन्ध का कारण दूसरा है और पापबन्ध का कारण कोई दूसरा है) क्योंकि यह एक ही अध्यवसाय 'दुःखी करता हूँ, मारता हूँ' इसप्रकार और 'सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ' यों दो प्रकार से शुभ-अशुभ अहंकार-रस से परिपूर्णता के द्वारा पुण्य और पाप दोनों के बन्ध के कारण होने में अविरोध है (अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्य और पाप दोनों का बन्ध होने में कोई विरोध नहीं है।)

---

१. जो परिणमन मिथ्या अभिप्राय सहित है (स्व-पर के एकत्व के अभिप्राय से युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमन के लिए 'अध्यवसान' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा अभिप्राय करने के अर्थ में भी अध्यवसान प्रयुक्त होता है।

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायाताम् –

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेदु मा व मारेदु[१]।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छये-णयस्स ॥२६२॥

अध्यवसितेन बंध: सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२६२॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोप: कदाचिद्भवतु, कदाचिन्मा भवतु, य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसाय: स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतु:, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ॥२६२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव बंधहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं दृढयति– दु:खितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं कर्ता यदेवमध्यवसितं रागाद्यध्यवसानं ते तव शुद्धात्म- भावनाच्युतस्य सत: पापस्य वा पुण्यस्य वा तदेव बंधकारणं भवति न चान्यत् किमपि दु:खादिकं कर्तुमायाति। कस्मात्? इति चेत्, तस्य सुखदु:खपरिणामस्य जीवस्य स्वोपार्जितशुभाशुभकर्माधीनत्वात् इति। मारयामि जीवयामि सत्त्वान् यदेव- मध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सत: पापस्य वा पुण्यस्य वा तदेव बंधकं भवति न चान्यत् किमपि कर्तुमायाति। कस्मात् ? इति चेत्, तस्य परजीवस्य जीवितमरणादे: स्वोपार्जितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ॥२६०-२६१॥

भावार्थ :– यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है। उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकार से भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और 'मैं मारता हूँ, दु:खी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकार से भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में है; इसलिए अज्ञानमयता से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं। अत: यह न मानना चाहिए कि पुण्य का कारण दूसरा है और पाप का कारण कोई अन्य। अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनों का कारण है ॥२६०-२६१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय से रागादि अध्यवसान ही बन्ध के कारण हैं, इसप्रकार प्रतिपादन द्वारा उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं –'मैं जीवों को दुखी-सुखी करता हूँ' ऐसा जो तेरा अध्यवसित भाव या रागादि अध्यवसान है, वह शुद्धात्म-भावना से च्युत होने वाले तुम्हारे पाप या पुण्यबन्ध का कारण है, अन्य दूसरा कोई भी कुछ भी दु:ख आदि (उत्पन्न) करने में समर्थ नहीं है। किस कारण से समर्थ नहीं है ? क्योंकि पर जीवों का सुख दुख रूप परिणमन उनके स्वयं के द्वारा उपार्जित शुभ अशुभ कर्मों के आधीन है।

''मैं जीवों को मारता हूँ, मैं जीवों को जिलाता हूँ' इसप्रकार का जो तेरा अध्यवसित भाव है, वह शुद्धात्म-श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुष्ठान रहित होने से अध्यवसान ही पाप या पुण्य बन्ध का कारण होता है, अन्य कोई कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। किस कारण से समर्थ नहीं है ? क्योंकि उन परजीवों के जीवन मरण आदि उनके स्वयं के द्वारा उपार्जित कर्मोदय के आधीन होता है ॥२६०-२६१॥

१.पाठान्तर = मारेहि मा व मारेहि

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैव निश्चयनयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं विचार्यमाणं – **अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ** अध्यवसितेन परिणामेन बंधो भवति, सत्त्वान् मारय मा वा मारय। **एसो बंधसमासो** एष प्रत्यक्षीभूतो बंधसमास: बंधसंक्षेप:। तद्विपरीतेन निरुपाधिचिदानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमास:। केषां ? **जीवाणं णिच्छयणयस्स** जीवानां निश्चयनयस्येति। एवं जीवितमरणसुखदु:खानि परेषां करोमीत्यध्यवसाय एव बंधकारणं, प्राणव्यपरोपणादि व्यापारो भवतु मा भवतु वा। एवं सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यानं त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थलं गतम्॥२६२॥

'इसप्रकार वास्तव में हिंसा का अध्यवसाय ही हिंसा है यह फलित हुआ' अब यह कहते हैं :–

मारो न मारो जीव को, है बंध अध्यवसान से।
यह आतमा के बंध का, संक्षेप निश्चयनय विषैं॥२६२॥

गाथार्थ :– [**सत्त्वान्**] जीवों को [**मारयतु**] मारो [**वा मा मारयतु**] अथवा न मारो [**बंध:**] कर्मबन्ध [**अध्यवसितेन**] अध्यवसान से ही होता है। [**एष:**] यह [**निश्चयनयस्य**] निश्चयनय से [**जीवानां**] जीवों के [**बन्धसमास:**] बन्ध का संक्षेप है।

टीका :– परजीवों को अपने कर्मोदय की विचित्रतावश प्राणों का व्यपरोप (उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो; किन्तु 'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकाररस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय ही निश्चय से उसके (हिंसा का अध्यवसाय करनेवाले जीव को) बन्ध का कारण है; क्योंकि निश्चय से पर का भाव जो प्राणों का व्यपरोप वह दूसरे से किया जाना अशक्य है (अर्थात् वह पर से नहीं किया जा सकता)।

भावार्थ :– निश्यचनय से दूसरे के प्राणों का वियोग दूसरे से नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मों के उदय की विचित्रता के कारण कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं होता। इसलिए जो यह मानता है – अहंकार करता है कि 'मैं परजीव को मारता हूँ' उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है अपने विशुद्ध चैतन्यप्राण का घात है और वही बन्ध का कारण है। यह निश्चयनय का मत है। यहाँ व्यवहारनय को गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिए। इसलिए वह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिए; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है॥२६२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इसप्रकार निश्चय से हिंसा का अध्यवसान ही हिंसा है, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा विचार करते हैं – **अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि** अध्यवसान परिणाम से बन्ध होता है, भले जीव को मारो या मत मारो **एसो बंधसमासो** यह प्रत्यक्ष रूप से बन्ध का सार संक्षेप है। उसके विरुद्ध निरुपाधि चिदानन्द एक लक्षण निर्विकल्प समाधि से मोक्ष होता है। यह मोक्ष का सार संक्षेप है। किनके बन्ध-मोक्ष होता है? **जीवाणं णिच्छयणयस्स** निश्चय नय से अध्यवसान युक्त जीव के बन्ध तथा शुद्धात्मानुभव युक्त जीव के मोक्ष होता है। ''पर जीवों का जीवन मरण, सुख-दुख आदि मैं करता हूँ'' ऐसा अध्यवसान ही बन्ध का कारण है। जीवों के प्राण घात रूप द्रव्य हिंसा क्रिया हो अथवा न हो। इसप्रकार सब जानकर रागादि अपध्यान का त्याग करना चाहिए, इस कथन की मुख्यता से छह गाथा सूत्रों द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ॥२६२॥

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति –

एवमलिगे अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पावं॥२६३॥
तह वि य सच्चे दत्ते[1] बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरदि अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झदे पुण्णं॥२६४॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम्॥२६३॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम्॥२६४॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः। यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंधहेतुः॥२६३-२६४॥

अब, (हिंसा-अहिंसा की भाँति सर्व कार्यों में) अध्यवसाय को ही पाप-पुण्य के बन्ध के कारणरूप से दिखाते हैं :–

यों झूठ माहिं, अदत्त में, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
जो होंय अध्यवसान उससे पापबंधन होय है॥२६३॥
इस रीत सत्य रु दत्त में, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं।
जो होंय अध्यवसान उससे पुण्यबन्धन होय है॥२६४॥

गाथार्थ :– [**एवम्**] इसीप्रकार (जैसा कि पहले हिंसा के अध्यवसाय के सम्बन्ध में कहा गया है उसीप्रकार) [**अलीके**] असत्य में, [**अदत्ते**] चोरी में [**अब्रह्मचर्ये**] अब्रह्मचर्य में [**च एव**] और [**परिग्रहे**] परिग्रह में [**यत्**] जो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान [**क्रियते**] किया जाता है [**तेन तु**] उससे [**पापं बध्यते**] पाप का बन्ध होता है; [**तथापि च**] और इसीप्रकार [**सत्ये**] सत्य में [**दत्ते**] अचौर्य में, [**ब्रह्मणि**] ब्रह्मचर्य में [**च एव**] और [**अपरिग्रहत्वे**] अपरिग्रह में [**यत्**] जो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान [**क्रियते**] किया जाता है [**तेन तु**] उससे [**पुण्यं बध्यते**] पुण्य का बन्ध होता है।

टीका :– इसप्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) अज्ञान से यह जो हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्ध का एकमात्र कारण है; और जो अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबन्ध का एकमात्र कारण है।

---

१. पाठान्तर = तह य अचोज्जे सच्चे

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम् –

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण य[1] वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥२६५॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम्।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति॥२६५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ हिंसाध्यवसानं पूर्वमुक्तं तावत् इदानीं पुन: असत्याद्यव्रताध्यवसानै: पापं सत्याद्यध्यवसानैश्च पुण्यबंधो भवतीत्याख्याति – एवमसत्ये चौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता। यश्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति व्रताव्रतविषये पुण्यपापबंधरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वयं गतम्॥२६३-२६४॥

भावार्थ :– जैसे हिंसा में अध्यवसाय पापबन्ध का कारण कहा है, उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का अध्यवसाय भी पापबन्ध का कारण है। और जैसे अहिंसा में अध्यवसाय पुण्यबन्ध का कारण है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, (दिया हुआ लेना वह), ब्रह्मचर्य और परिग्रह में अध्यवसाय भी पुण्यबन्ध का कारण है। इसप्रकार, पाँच पापों में (अव्रतों में) अध्यवसाय किया जाये सो पापबन्ध का कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतों में अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबन्ध का कारण है। पाप और पुण्य दोनों के बन्धन में अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है॥२६३-२६४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब अध्यवसान भाव हिंसा है यह पहले कहा गया है। अब यहाँ असत्य आदि अव्रत रूप अध्यवसानों से पापबन्ध और सत्य आदि अध्यवसानों से पुण्य बन्ध होता है ऐसा कहते हैं – इसप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में जो अध्यवसान भाव किया जाता है उससे पापबन्ध होता है। इसप्रकार प्रथम गाथा हुई। और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह में जो अध्यवसान भाव किया जाता है, उससे पुण्यबन्ध होता है – इस व्रत-अव्रत के विषय में पुण्य-पाप बन्ध रूप से दो गाथा सूत्र हुए॥२६३-२६४॥

....

और भी ऐसी शंका न करनी कि 'बाह्यवस्तु वह दूसरा भी बन्ध का कारण होगा'। ('अध्यवसाय बन्ध का एक कारण होगा और बाह्यवस्तु बन्ध का दूसरा कारण होगा' ऐसी भी शंका करने योग्य नहीं है; अध्यवसाय ही एकमात्र बन्ध का कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) इसी अर्थ की गाथा अब कहते हैं :–

जो होय अध्यवसान जीव के, वस्तु-आश्रित वो बने।
पर वस्तु से नहिं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है॥२६५॥

गाथार्थ :– [**पुन:**] और, [**जीवानाम्**] जीवों के [**यत्**] जो [**अध्यवसानं तु**] अध्यवसान [**भवति**]

---

१. पाठान्तर = ण हि

अध्यवसानमेव बन्धहेतुः न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत, तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसू सुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते तथा वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। न च जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः। तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्। न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धहेतुः स्यात्, ईर्यासमितिपरिणतयतींद्र पदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवत्, बाह्यवस्तुनो बन्धहेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात्। अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः, अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः ॥२६५॥

होता है वह [**वस्तु**] वस्तु को [**प्रतीत्य**] अवलम्बकर होता है [**च तु**] तथापि [**वस्तुतः**] वस्तु से [**न बंधः**] बन्ध नहीं होता, [**अध्यवसानेन**] अध्यवसान से ही [**बंधः अस्ति**] बन्ध होता है।

टीका :– अध्यवसान ही बन्ध का कारण है; बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान है उसके कारणत्व से ही बाह्य वस्तु की चरितार्थता है (अर्थात् बन्ध के कारणभूत अध्यवसान का कारण होने में ही बाह्य वस्तु का कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं होती)। यहाँ प्रश्न होता है कि – यदि बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं है तो ('बाह्य वस्तु का प्रसंग मत करो, किंतु त्याग करो' इसप्रकार) बाह्यवस्तु का निषेध किसलिए किया जाता है ? इसका समाधान इसप्रकार है :–

अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्यवस्तु का निषेध किया जाता है। अध्यवसान को बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु के आश्रय के बिना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीरजननी के पुत्र के सद्भाव में (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि 'मैं वीरजननी के पुत्र को मारता हूँ' इसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्र के असद्भाव में भी (किसी को) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिए कि 'मैं बंध्यापुत्र को मारता हूँ'। परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो (किसी को) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ बंध्या का पुत्र ही नहीं होता वहाँ मारने का अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ?) इसलिए यह नियम है कि (बाह्य वस्तुरूप) आश्रय के बिना अध्यवसान नहीं होता। और इसीलिए अध्यवसान को आश्रयभूत बाह्य वस्तु का अत्यन्त निषेध किया है, क्योंकि कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का प्रतिषेध होता है। (बाह्यवस्तु अध्यवसान का कारण है इसलिए उसके प्रतिषेध से अध्यवसान का प्रतिषेध होता है)। परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बन्ध के कारण का (अर्थात् अध्यवसान का) कारण है तथापि वह (बाह्यवस्तु) बंध का कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमिति में परिणमित मुनीन्द्र के चरण से मर जानेवाले ऐसे किसी वेग से आपतित कालप्रेरित उड़ते हुए जीव की भांति, बाह्यवस्तु जो कि बन्ध के कारण का कारण है, वह बंध का कारण न होने से, बाह्यवस्तु को बन्ध का कारणत्व मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है – व्यभिचार आता है। (इसप्रकार निश्चय से बाह्यवस्तु को बंध का कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।) इसलिए बाह्य वस्तु जो कि जीव को

समुदायपातनिका – अतः परमिदमेव सूत्रद्वयं परिणाममुख्यत्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति। तद्यथा –

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ बाह्यं वस्तु रागादिपरिणामकारणं परिणामस्तु बंधकारणमित्यावेदयति – **वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं** बाह्यवस्तु चेतनाचेतनं पंचेंद्रियविषयभूतं प्रतीत्य आश्रित्य जीवानां तत्प्रसिद्धं रागाद्यध्यवसानं भवति। **ण हि वत्थुदो दु बंधो** न हि वस्तुनः सकाशाद्बंधो भवति। तर्हि केन बंधः ? **अज्झवसाणेण बंधोत्ति** वीतरागपरमात्मतत्त्वभिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन बंधो भवति। वस्तुनः सकाशाद्बंधो कथं न भवतीति चेत् ? अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्। तथाहि – बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बंधो भवतीति अन्वयो नास्ति, तदभावे बंधो न भवतीति, व्यतिरेकोऽपि नास्ति। तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुत्यागः ? इति चेत्, रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थम्। अयमत्र भावार्थः। बाह्ये पंचेंद्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति, तस्मादध्यवसानाद्बंधो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बंधकारणं भवति न च साक्षात्। अध्यवसानं पुनर्निश्चयेन बंधकारणमिति ॥२६५॥

अतद्भावरूप है वह बन्ध का कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीव को तद्भावरूप है वही बन्ध का कारण है।

भावार्थ :– बंध का कारण निश्चय से अध्यवसान ही है; और जो बाह्य वस्तुयें हैं वे अध्यवसान का आलम्बन हैं – उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिए उन्हें अध्यवसान का कारण कहा जाता है। बाह्यवस्तु के बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते, इसलिए बाह्य वस्तुओं का त्याग कराया जाता है। यदि बाह्य वस्तुओं को बन्ध का कारण कहा जाये तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारण को व्यभिचारी – अनैकान्तिक-कारणाभास कहते हैं।) कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्न से गमन करते हों और उनके पैर के नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जाये तो मुनि को उसकी हिंसा नहीं लगती। यहाँ यदि बाह्यदृष्टि से देखा जाये तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनि के हिंसा का अध्यवसाय नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैर के नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनि के बंध का कारण नहीं है, उसीप्रकार अन्य बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसप्रकार बाह्य वस्तु को बंध का कारण मानने में व्यभिचार आता है, इसलिए बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ। और बाह्य वस्तु बिना, निराश्रय से अध्यवसान नहीं होता, इसलिए बाह्य वस्तु का निषेध भी है ही ॥२६५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इसके बाद इन्हीं दो गाथा सूत्रों का परिणामों की मुख्यता से तेरह गाथाओं द्वारा विशेष वर्णन करते हैं। वह इस प्रकार है – यहाँ कहते हैं कि बाह्य वस्तु रागादि परिणामों का कारण है और रागादि परिणाम बन्ध के कारण हैं – **वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं** पंचेन्द्रिय के विषयभूत चेतन अचेतन बाह्य वस्तु का आश्रय करके जीवों का जो प्रसिद्ध रागादि अध्यवसान होता है। **ण हि वत्थुदो दु बंधो** वह वास्तव में वस्तु के सान्निध्य से बन्ध नहीं होता है। तो फिर किससे बन्ध होता है? **अज्झवसाणेण बंधोत्ति** वीतराग परमात्म तत्त्व से भिन्न रागादि अध्यवसान से बन्ध होता है। वस्तु के सान्निध्य निमित्त से बन्ध कैसे नहीं होता है ? क्योंकि वस्तु और बन्ध के अन्वय और व्यतिरेक दोनों रूप से संबंध घटित नहीं होता है, दोनों में सदोष व्यभिचार सिद्ध होता है।

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति –

दुक्खिद-सुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमदी[१] णिरत्थया सा हु दे मिच्छा॥२६६॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या॥२६६॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि, बंधयामि मोचयामीत्यादि वा, यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि, परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात्, खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं, केवलमात्मनोऽनर्थायैव॥२६६॥

उसका विशेष – बाह्यवस्तु के सद्भाव में नियम से बन्ध होता है ऐसा अन्वय सिद्ध नहीं होता है तथा बाह्य वस्तु के अभाव में बन्ध नहीं होता हो ऐसा व्यतिरेक भी सिद्ध नहीं होता है। तो फिर बाह्यवस्तु का त्याग क्यों किया जाता है? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं कि रागादि अध्यवसानों के परिहार के लिए बाह्य वस्तु का त्याग किया जाता है। यह इसका भावार्थ है। बाह्य में पंचेन्द्रिय के विषयभूत वस्तु के होने पर अज्ञानभाव से रागादि अध्यवसान होता है और उस अध्यवसान से बन्ध होता है, इसप्रकार परम्परा से वस्तु बन्ध का कारण है, परन्तु साक्षात् बन्ध का कारण नहीं है और अध्यवसान निश्चय से बन्ध का कारण है।॥२६५॥

....

इसप्रकार बन्ध के कारणरूप से निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करने वाला न होने से मिथ्या है, अब यह बतलाते हैं :–

करता दुखी सुखि जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे!।
ये मूढ मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है॥२६६॥

गाथार्थ :– हे भाई ! '[**जीवान्**] मैं जीवों को [**दुःखितसुखितान्**] दुःखी-सुखी [**करोमि**] करता हूँ, [**बंधयामि**] बाँधता हूँ [**तथा विमोचयामि**] तथा छुड़ाता हूँ' [**या एषा ते मूढमतिः**] ऐसी जो यह तेरी मूढ़ मति (मोहितबुद्धि) है [**सा**] वह [**निरर्थिका**] निरर्थक होने से [**खलु**] वास्तव में [**मिथ्या**] मिथ्या है।

टीका :– मैं परजीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, इत्यादि तथा बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सब, परभाव का, पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिए 'मैं आकाश पुष्प को तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसान की भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थ के लिए ही है (अर्थात् मात्र अपने लिए ही हानि का कारण होता है, पर का कुछ कर नहीं सकता)।

---

१. जा एसा तुज्झमदी

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत् –

अज्झवसाण-णिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं॥२६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम्॥२६७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं दर्शयति – **दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि** दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बध्नामि (बंधयामि), तथा विमोचयामि। **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा** या एषा तव मतिः सा निरर्थिका निष्प्रयोजना हु स्फुटं। दे अहो ततः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति। कस्मात्? इति चेत्, भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वकीयशुद्धाशुद्धाध्यवसानाभावात् बंध-मोक्षाभावश्चेति॥२६६॥

भावार्थ :– जो अपनी अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परजीवों को दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी-सुखी नहीं होते; इसलिए वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होने से मिथ्या है, झूठी है॥२६६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसप्रकार बन्ध के हेतु रूप से निर्धारित अध्यवसान का अपने अर्थक्रियाकारीपने का अभाव होने से मिथ्यापना असत्यपना दिखाते हैं – **दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि** मैं ''जीवों को सुखी-दुखी करता हूँ, बांधता हूँ और छोड़ता हूँ,'' **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा** जो यह तुम्हारी मान्यता है, वह मान्यता निरर्थक है, निष्प्रयोजन है। **हु** स्पष्टरूप से **दे** अहो उस कारण से मिथ्या, विपरीत, असत्य है। किस कारण से मिथ्या है ? क्योंकि आपके अध्यवसान होने पर भी परजीवों के साता-असाता के उदय के अभाव के कारण उनको सुख-दुख का अभाव होता है अर्थात् सुख-दुःख नहीं होता है। स्वकीय अशुद्ध-शुद्ध अध्यवसान के अभाव से बन्ध-मोक्ष का अभाव होता है॥२६६॥

....

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है ? इसका उत्तर कहते हैं :–

सब जीव अध्यवसान कारण, कर्म से बँधते जहाँ।
अरू मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला॥२६७॥

गाथार्थ :– हे भाई ! [**यदि हि**] यदि वास्तव में [**अध्यवसाननिमित्तं**] अध्यवसान के निमित्त से [**जीवाः**] जीव [**कर्मणा बंध्यते**] कर्म से बँधते हैं [**च**] और [**मोक्षमार्गे स्थिताः**] मोक्षमार्ग में स्थित [**मुच्यंते**] छूटते हैं [**तद्**] तो [**त्वम् किं करोषि**] तू क्या करता है ? (तेरा तो बांधने-छोड़ने का अभिप्राय व्यर्थ गया।)

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्‌बन्धनं मोचनं जीवानाम्। जीवस्त्व-स्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयो: स्वपरिणामयो: अभावान्न बध्यते, न मुच्यते; सरागवीतरागयो: स्वपरिणामयो: सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते, मुच्यते च। तत: परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि, ततश्च मिथ्यैवेति भाव:।।२६७।।

(अनुष्टुभ्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित:।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत्।।१७१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवतीति चेत् – **अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि** मिथ्यात्वरागादिस्वकीयाध्यवसान-निमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणा बध्यन्ते इति चेत् ? **मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते** शुद्धात्मसम्यक्-श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणे मोक्षमार्गे स्थिता: पुनर्मुच्यंते यदि चेत्ते जीवा:। **किं करोसि तुमं** तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् ! न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति।।२६७।।

टीका :– 'मैं बाँधता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवों को बाँधना, छोड़ना है। किन्तु जीव तो, इस अध्यवसान का सद्‌भाव होने पर भी, अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से नहीं बँधता और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग-वीतराग परिणाम के सद्‌भाव से, उस अध्यवसाय का अभाव होने पर भी बँधता है, छूटता है। इसलिए पर में अकिंचित्कर होने से (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होने से) यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिए मिथ्या ही है। ऐसा भाव (आशय) है।

भावार्थ :– जो हेतु कुछ भी नहीं करता वह अकिंचित्कर कहलाता है। यह बाँधने-छोड़ने का अध्यवसान भी पर में कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणाम से बंध-मोक्ष को प्राप्त होता है और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग-वीतराग परिणाम के अभाव से बंध-मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार अध्यवसान पर में अकिंचित्कर होने से स्व-अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिए मिथ्या है।।२६७।।

अब इस अर्थ का कलशरूप और आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अनेन निष्फलेन अध्यवसायेन मोहित:**] यह निष्फल (निरर्थक) अध्यवसाय से मोहित होता हुआ [**आत्मा**] आत्मा [**तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति यत् आत्मानं न करोति**] अपने को सर्वरूप करता है, – ऐसा कुछ भी नहीं है जिसरूप अपने को न करता हो।

भावार्थ :– यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति-संसार में जितनी अवस्थाऐं हैं, जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपने को हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं पहचानता ।।१७१।।

अथ दु:खिता जीवा: स्वकीयपापोदयेन भवंति न च भवदीय परिणामेनेति –

ता.अतिरिक्त गाथा १९ – कायेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥

ता.अतिरिक्त गाथा २० – वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥

ता.अतिरिक्त गाथा २१ – मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥

ता.अतिरिक्त गाथा २२ – सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥

टीका – कायेण इत्यादि स्वकीयपापोदयेन जीवा दु:खिता भवंति यदि चेत् ? तेषां जीवानां स्वकीयपापकर्मोदया-भावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतो:। मनोवचनकायै: शस्त्रैश्च जीवान् दु:खितान् करोमि इति। रे दुरात्मन्! त्वदीया मतिर्मिथ्या ! परं किंतु स्वस्वभावाच्युतो भूत्वा त्वं पापमेव बध्नासि इति॥१९-२२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी क्यों नहीं है ? **अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि** यदि अपने मिथ्यात्व रागादि अध्यवसान को निमित्त करके वे जीव निश्चयनय से (अशुद्ध निश्चयनय से) कर्मों से बंधते हैं, **मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते** और यदि शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप निश्चयरत्नत्रय वाले मोक्षमार्ग में जो जीव स्थित हैं वे कर्मों से मुक्त होते हैं। **किं करोसि तुमं** तो फिर हे दुरात्मन् ! तुम उनका क्या कर सकते हो? अर्थात् तुम उनका कुछ भी नहीं कर सकते हो। अत: तुम्हारा अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी नहीं है॥२६७॥

अतिरिक्त गाथा १९-२२ का हिन्दी – अब कहते हैं कि जीव अपने पापोदय से दु:खी होते हैं, तुम्हारे परिणामों से दुखी नहीं होते हैं– **(जदि)** यदि **(सत्ता)** जीव **(कम्मेण दुहिदा)** अपने कर्मों से दुखी होते हैं **(तु)** तो मैं **(सत्ते)** जीवों को **(कायेण)** काया से **(दुक्खवेमिय)** दु:खी करता हूँ **(एवं)** इस प्रकार से तू **(जं मदिं)** जो यह सब बुद्धि विकल्प **(कुणसि)** करता है **(सव्वावि एस मिच्छा)** वह सब बुद्धि भी मिथ्या है। **(जदि)** यदि **(सत्ता)** जीव **(कम्मेण दुहिदा)** अपने कर्मों से दुखी होते हैं **(तु)** तो मैं **(सत्ते)** जीवों को **(वाचाए)** वचन से **(दुक्खवेमिय)** दु:खी करता हूँ **(एवं)** इसप्रकार से तू **(जं मदिं)** जो बुद्धि–विकल्प **(कुणसि)** करता है, **(सव्वावि एस मिच्छा)** वह सब विकल्पमय बुद्धि भी मिथ्या है। **(जदि)** यदि **(सत्ता)** जीव **(कम्मेण दुहिदा)** अपने कर्मों से दुखी होते हैं **(तु)** तो मैं **(सत्ते)** जीवों को **(मणसाए)** मन से **(दुक्खवेमिय)** दु:खी करता हूँ **(एवं)** इसप्रकार से तू **(जं मदिं)** जो बुद्धि – विकल्प **(कुणसि)** करता है, **(सव्वावि एस मिच्छा)** वह सब विकल्पमय बुद्धि भी मिथ्या है। **(जदि)** यदि **(सत्ता)** जीव **(कम्मेण दुहिदा)** अपने कर्मों से दुखी होते हैं **(तु)** तो मैं **(सत्ते)** जीवों को **(सच्छेण)** शस्त्रों से **(दुक्खवेमिय)** दु:खी करता हूँ **(एवं)** इसप्रकार से तू **(जं मदिं)** जो बुद्धि – विकल्प **(कुणसि)** करता है, **(सव्वावि एस मिच्छा)** वह सब विकल्पमय बुद्धि भी मिथ्या है।

सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण तिरिय-णेरइगे।
देव-मणुजे य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोगलोगं च।
सव्वे करेदि जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं॥२६९॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान्।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम्॥२६८॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम्॥२६९॥

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन तिर्यंचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन

अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवंतीति कथयति –

ता.अतिरिक्त गाथा २३ – कायेण च वाचा वा मणेण सुहिदे करेमि सत्ते ति।
एवं पि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता॥

टीका – स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवंति, न च त्वदीयपरिणामेन तर्हि मनोवचनकायैर्जीवान् सुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या। एवं तवाध्यवसानं सार्थकं न भवति। परं किंतु निरुपरागपरमचिज्ज्योतिःस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वमश्रद्धानः तथैवाजानन् अभावयंश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव बध्नाति इत्यर्थः॥२३॥

टीका – यदि जीव **कायेण** काया आदि स्वकीय पापोदय से दुःखी होते हैं तो उन जीवों के स्वकीय पाप कर्मोदय के अभाव होने में तुम कुछ कर भी नहीं सकते हो, यह हेतु है। तो फिर मैं इन जीवों को मन से, वचन से, काया से तथा शस्त्रों से दुःखी करता हूँ– हे दुरात्मन् ! तेरी ऐसी बुद्धि मिथ्या है। लेकिन तू स्वस्वभाव से च्युत होकर पाप ही बांधता है॥१९-२२॥

अतिरिक्त गाथा २३ का हिन्दी – अब अशुद्धनिश्चयनय से जीव अपने ही शुभकर्मोदय होने पर सुखी होते हैं, ऐसा कहते हैं – **गाथार्थ** – **(जदि)** यदि **(सत्ता)** जीव **(कम्मेण)** कर्मों से **(सुहिदा)** सुखी होते हैं **(ति)** तो फिर मैं **(कायेण च वाचा वा मणेण)** काया, वचन अथवा मन से **(सत्ते)** जीवों को **(सुहिदे)** सुखी **(करेमि)** करता हूँ **(एवं पि मिच्छा)** ऐसी बुद्धि भी मिथ्या **(हवदि)** है।

टीका – यदि जीव अपने कर्मोदय से सुखी होते हैं और तुम्हारे परिणाम (अध्यवसान) से सुखी नहीं होते हैं, तो फिर मन-वचन-काया द्वारा जीवों को मैं सुखी करता हूँ ऐसी तुम्हारी बुद्धि मिथ्या है। इसप्रकार तुम्हारा अध्यवसान सार्थक नहीं है। किन्तु निरुपराग परमचिज्ज्योति स्वभाव में स्वशुद्धात्मतत्त्व का श्रद्धान न होने से, उसीतरह ज्ञान न होने से तथा वैसा ही अनुभव न होने से उस शुभपरिणाम से पुण्य ही बांधता है ऐसा अर्थ है॥२३॥

पापमात्मानं कुर्यात्। तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं, ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात्॥२६८-२६९॥

अब इसी अर्थ को स्पष्टतया गाथा में कहते हैं :–

तिर्यंच, नारक, देव, मानव, पुण्य पाप अनेक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को, जीव अध्यवसान से॥२६८॥
अरू त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे।
उन सर्वरूप करै जु निज को, जीव अध्यवसान से॥२६९॥

गाथार्थ :– [**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसान से [**तिर्यङ्नैरयिकान्**] तिर्यंच, नारक [**देवमनुजांश्च**] देव और मनुष्य [**सर्वान्**] इन सर्व पर्यायों, [**च**] तथा [**नैकविधम्**] अनेक प्रकार से [**पुण्यं पापं**] पुण्य और पाप [**सर्वान्**] इन सबरूप [**करोति**] अपने को करता है। [**तथा च**] और उसीप्रकार [**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसान से [**धर्माधर्म**] धर्म-अधर्म, [**जीवाजीवौ**] जीव-अजीव [**च**] और [**अलोकलोकं**] लोक-अलोक [**सर्वान्**] इन सबरूप [**आत्मानम् करोति**] अपने को करता है।

टीका :– जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त प्रकार [१]क्रिया जिसका गर्भ है ऐसे हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है, (अहिंसा के अध्यवसान से अपने को अहिंसक करता है) और अन्य अध्यवसानों से अपने को अन्य करता है, इसीप्रकार विपच्यमान – उदय में आते हुए नारक के अध्यवसान से अपने को नारकी करता है, उदय में आते हुए तिर्यंच के अध्यवसान से अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आते हुए मनुष्य के अध्यवसान से अपने को मनुष्य करता है, उदय में आते हुए देव के अध्यवसान से अपने को देव करता है, उदय में आते हुए सुख आदि पुण्य के अध्यवसान से अपने को पुण्यरूप करता है और उदय में आते हुए दुःख आदि पाप के अध्यवसान से अपने को पापरूप करता है; और इसीप्रकार ज्ञायमान – जानने में आता हुआ जो धर्म (धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जानने में आते हुए अधर्म के (अधर्मास्तिकाय के) अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जानने में आते हुए अन्य जीव के अध्यवसानों से अपने को अन्यजीव रूप करता है, जानने में आते हुए पुद्गल के अध्यवसानों से अपने को पुद्गलरूप करता है, जानने में आते हुए लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है और जानने में आते हुए अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है। (इसप्रकार आत्मा अध्यवसान से अपने को सर्वरूप करता है।) ॥२६८-२६९॥

भावार्थ :– यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिए उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिए। उस अध्यवसान से ही आत्मा अपने को अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है।

---

१. हिंसा आदि के अध्यवसान राग-द्वेष के उदयमय हनन आदि की क्रियाओं से परिपूर्ण हैं, अर्थात् उन क्रियाओं के साथ आत्मा की तन्मयता होने की मान्यतारूप हैं।

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव।।१७२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहितः सन्नयं जीवः समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति – उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मानं करोति आत्मनः संबंधात्करोति। निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्टः सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनितविभावपरिणामान् आत्मनि योजयतीत्यर्थः। धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परिच्छित्तिविकल्पेनात्मानं करोति, आत्मनः संबंधात् करोतीत्यभिप्रायः। किं च, यथा घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये धर्मोऽयमित्यादि योऽसौ परिच्छत्तिरूपो विकल्पः सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्भण्यते। कथं ? इति चेत्, धर्मास्तिकायादिविषयत्वात्। स्वस्वभावच्युतो भूत्वा यदा धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्पं करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति।।२६८-२६९।।

अब इस अर्थ का कलशरूप तथा आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [विश्वात् विभक्तः अपि हि] विश्व से (समस्त द्रव्यों से) भिन्न होने पर भी **[आत्मा]** आत्मा **[यत्-प्रभावात् आत्मानम् विश्वम् विदधाति]** जिसके प्रभाव से अपने को विश्वरूप करता है **[एषः अध्यवसायः]** ऐसा अध्यवसाय **[मोह-एक-कन्दः]** कि जिसका मोह ही एक मूल है वह **[येषां इह नास्ति]** जिनके नहीं है **[ते एव यतयः]** वे ही मुनि हैं।।१७२।।

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब स्वस्वभाव से प्रतिपक्षभूत रागादि अध्यवसान से मोहित होकर यह जीव समस्त ही परद्रव्यों को अपने आत्मा में मानता है ऐसा कहते हैं –

उदयागत नरकगति आदि कर्म के वश से नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पाप और पुण्य रूप कर्म जनित भावों को अपने आत्मरूप (एकत्वरूप) करता है और आत्मा के सम्बन्ध रूप (ममत्वरूप) करता है। निर्विकार परमात्मतत्त्व के ज्ञान से भ्रष्ट होकर ''मैं नारकी हूँ'' इत्यादि रूप से उदयागत कर्मजनित विभाव परिणामों को अपने आत्मा में नियोजित करता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि ज्ञेय पदार्थों को अध्यवसान से और उनकी जानकारी रूप विकल्पों से अपने आत्मस्वभावमय मानता है अथवा आत्मा से सम्बन्ध रूप मानता है। ऐसा आशय है।

जैसे घटाकार परिणत ज्ञान 'घट' है ऐसा उपचार से कहा जाता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थों के विषय में ''यह धर्म द्रव्य है'' इत्यादि जो यह जानने रूप विकल्प है वह उपचार से धर्मास्तिकाय कहा जाता है। कैसे कहा जाता है ? ऐसा पूछने पर कहते हैं कि वह विकल्प धर्मास्तिकाय आदि को विषय करनेवाला है। अपने स्वभाव से च्युत होकर जब यह धर्मास्तिकाय है इत्यादि विकल्प करता है, तब उस विकल्प के करने पर धर्मास्तिकाय आदि उपचार से कहा जाता है।।२६८-२६९।।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति॥२७०॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते॥२७०॥

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्मबंधनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात्। तथा हि – यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत्, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विवक्तात्माज्ञानात्, अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। (यत्पुनः नारकोऽहमित्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैकभावस्य कर्मोदयजनितानां नारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्।) यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि, ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य

यह अध्यवसाय जिनके नहीं हैं वे मुनि कर्म से लिप्त नहीं होते – यह अब गाथा द्वारा कहते हैं–

इन आदि अध्यवसान विध-विध वर्तते नहिं जिनहि को।
शुभ-अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों॥२७०॥

गाथार्थ :– [**एतानि**] यह (पूर्व कथित) [**एवमादीनि**] तथा ऐसे और भी [**अध्यवसानानि**] अध्यवसान [**येषाम्**] जिनके [**न संति**] नहीं हैं, [**ते मनुयः**] वे मुनि [**अशुभेन**] अशुभ [**वा शुभेन**] या शुभ [**कर्मणा**] कर्म से [**न लिप्यंते**] लिप्त नहीं होते।

टीका :– यह जो तीनों प्रकार के अध्यवसान हैं वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होने से शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं। इसे विशेष समझाते हैंः – 'मैं (परजीवों को) मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसान वाले जीव को ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप[१], अहेतुक[२], ज्ञप्ति[३], ही जिसकी एक क्रिया है ऐसे आत्मा का और राग-द्वेष के उदयमय ऐसी हनन[४] आदि क्रियाओं का विशेष[५] नहीं जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन (अश्रद्धान) होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। [और 'मैं नारक हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है वह अध्यवसानवाले जीव को भी, ज्ञानमयपने के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है ऐसा आत्मा का और कर्मोदयजनित नारक आदि भावों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान)

---

१ **सत्रूप** – सत्तास्वरूप; अस्तिस्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है।) २ **अहेतुक** – जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतः सिद्ध; सहज। ३ **ज्ञप्ति** – जानना; जाननेरूप क्रिया। (ज्ञप्तिक्रिया सत्रूप है, और सत्रूप होने से अहेतुक है।) ४. **हनन** – घात करना; घात करनेरूप क्रिया (घात करना आदि क्रियाएँ राग-द्वेष के उदयमय हैं) ५. **विशेष** – अन्तर; भिन्न लक्षण।

ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानात् अस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम्। ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि। येषामेवैतानि न विद्यंते त एव मुनिकुंजराः केचन, सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं, सदहेतुकज्ञायकैकभावं, सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तमात्मानं जानंतः, सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च, स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात्, शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरन्॥२७०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परद्रव्ये योजयति स मोहो येषां नास्ति त एव तपोधना इति प्रकाशयति – **एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि** एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभाध्यवसानानि कर्मबंधनिमित्तभूतानि न संति येषां **ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** त एव मुनीश्वराः शुभाशुभकर्मणा न लिप्यन्ते। किं च विस्तरः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं

मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है।] और यह 'धर्मद्रव्य ज्ञात होता है' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसानवाले जीव को भी ज्ञानमयपने[१] के सद्भाव से सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एकरूप है ऐसे आत्मा का और ज्ञेयमय धर्मादिकरूपों का विशेष न जानने के कारण भिन्न आत्मा का अज्ञान होने से, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्मा का अदर्शन होने से (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्मा का अनाचरण होने से (वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिए यह समस्त अध्यवसान बन्ध के ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही कोई (विरले) मुनिकुंजर (मुनिवरों) सत्रूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सत्रूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है और सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एकरूप है ऐसे भिन्न आत्मा को (सर्व अन्यद्रव्य-भावों से भिन्न आत्मा को) जानते हुए, सम्यक्प्रकार से देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (स्वाधीनतया प्रकाशमान) ऐसी अमंद अन्तर्ज्योति को अज्ञानादिरूपता का अत्यंत अभाव होने से (अर्थात् अन्तरंग में प्रकाशित होती हुई ज्ञानज्योति किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिए), शुभ या अशुभ कर्म से वास्तव में लिप्त नहीं होते।

भावार्थ :– यह जो अध्यवसान हैं वे 'मैं पर का हनन करता हूँ' इसप्रकार के हैं, 'मैं नारक हूँ,' इसप्रकार के हैं; तथा 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ' इसप्रकार के हैं। वे, जबतक आत्मा का और रागादि का, आत्मा का और नारकादि कर्मोदयजनित भावों का तथा आत्मा का और ज्ञेयरूप अन्यद्रव्यों का भेद न जाना हो, तबतक रहते हैं। वे भेदज्ञान के अभाव के कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यों तीन प्रकार के होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्मा को सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं; इसलिए अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होते हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते॥२७०॥

१. आत्मा ज्ञानमय है इसलिए सत्रूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।

निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानं यदा न भवति तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं, नारकोऽहमित्यादि कर्मोदयाध्यवसानं, धर्मास्तिकायोऽयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मनः सकाशाद्भिन्नं न जानातीति। तदजानन् हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहात्मानमभेदेन श्रद्दधाति जानाति अनुचरति च, ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री च भवति। ततः कर्मबन्धः स्यात्। यदा पुनः पूर्वोक्तभेदविज्ञानं भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री च भवति ततः कर्मबन्धो न भवतीति भावार्थः॥२७०॥

कियंतं कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्,

ता.अतिरिक्त गाथा २४ – जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ॥

यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेतिरूपं संकल्पं करोति अभ्यंतरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनंतज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति। यावत्कालमित्थम्भूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः॥२४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय से परद्रव्य से भिन्न होने पर भी जिस मोह के प्रभाव से आत्मा को परद्रव्य में जोड़ता है वह मोह भाव जिसके नहीं है वह ही तपोधन (मुनि) है ऐसा प्रकट करते हैं – **एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि** ये पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार से और भी कर्मबन्ध के निमित्तरूप शुभ तथा अशुभ अध्यवसान हैं, वे जिनके नहीं हैं **ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** वे ही मुनीश्वर शुभाशुभकर्म से लिप्त नहीं होते हैं। इसका कुछ विस्तार यह है – जिस समय इस जीव को शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रय वाला भेदविज्ञान नहीं होता है उस समय ''मैं जीवों को मारता हूँ'' इत्यादि हिंसा के अध्यवसान, ''मैं नारकी हूँ'' इत्यादि कर्मोदय रूप अध्यवसान, यह धर्मास्तिकाय है इत्यादि ज्ञेय पदार्थों के अध्यवसान को निर्विकल्प शुद्धात्मा से भिन्न नहीं जानता है। उसे न जानते हुए हिंसा के अध्यवसान रूप विकल्प के साथ अपने आत्मा का अभेद श्रद्धान करता है, जानता है तथा आचरण करता है, तब वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है, मिथ्याज्ञानी होता है तथा मिथ्याचारित्री होता है इसलिए उसके कर्मबन्ध होता है। जब फिर उसके पूर्वोक्त भेदविज्ञान होता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है तथा सम्यक्चारित्री होता है, इसलिए उसके कर्मबन्ध नहीं होता है॥२७०॥

अतिरिक्त गाथा २४ का हिन्दी – कितने काल तक जीव परभावों को अपनी आत्मा में जोड़ता है ऐसा पूछने पर कहते हैं– **गाथार्थ – (जा)** जब तक **(संकप्पवियप्पो)** संकल्प विकल्प हैं, **(जाव अप्प सरूवारिद्धी)** जबतक आत्मस्वभावमय ऋद्धि – स्वात्मानुभूति **(हियए)** हृदय में **(ण परिप्फुरइ)** प्रकट नहीं होती है **(ता)** तबतक जीव **(असुहसुहजणयं)** अशुभ-शुभ जनक **(कम्मं)** कर्म **(कुणदि)** करता है।

टीका – जितने समय तक जीव बाह्यविषय देह, पुत्र, स्त्री आदि में 'ये मेरे हैं' – इसरूप संकल्प करता है और अन्तरंग में हर्षविषादरूप विकल्प भी करता है तबतक वह अनन्त ज्ञानादि से समृद्धिरूप आत्मा को हृदय में अर्थात् श्रद्धान-ज्ञान-अनुभव में नहीं जानता है। जितने काल तक इसप्रकार का आत्मा हृदय में प्रकट नहीं होता है, उतने काल तक शुभ अशुभ जनक कर्म करता है, ऐसा आशय है॥२४॥

किमेतदध्यवसानं नामेति चेत् –

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम्।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२७१॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं; तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद्व्यवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चितो भवनमात्रत्वाद्भावः, चितः परिणमनमात्रत्वात्परिणामः ॥२७१॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ॥१७३॥

''यहाँ बारम्बार अध्यवसान शब्द कहा गया है, वह अध्यवसान क्या है ? उसका स्वरूप भलीभाँति समझ में नहीं आया'' ऐसा प्रश्न होने पर अध्यवसान का स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं।

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान, अरु विज्ञान है।
परिणाम, चित्त रु भाव-शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं ॥२७१॥

गाथार्थ :– [**बुद्धिः**] बुद्धि, [**व्यवसायः अपि च**] व्यवसाय, [**अध्यवसानं**] अध्यवसान, [**मतिः च**] मति, [**विज्ञानम्**] विज्ञान, [**चित्तं**] चित्त, [**भावः**] भाव [**च**] और [**परिणामः**] परिणाम [**सर्वं**] ये सब [**एकार्थम् एव**] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग-अलग हैं किन्तु अर्थ भिन्न नहीं हैं)।

टीका :– स्व-पर का अविवेक होने पर (स्व-पर का भेदज्ञान न होने पर) जीव की अध्यवसितिमात्र[1] अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है, वही) बोधनमात्रत्व से बुद्धि है, व्यवसानमात्रत्व[2] से व्यवसाय है, मननमात्रत्व[3] से मति है, विज्ञप्तिमात्रत्व से विज्ञान है, चेतनामात्रत्व से चित्त है, चेतन के भवनमात्रत्व से भाव है, चेतन के परिणमनमात्रत्व से परिणाम है। (इसप्रकार यह सब शब्द एकार्थवाची हैं।)

भावार्थ :– यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं वे सब चेतन आत्मा के परिणाम हैं। जबतक स्व-पर का भेदज्ञान न हो तबतक जीव के जो अपने और पर के एकत्व की निश्चयरूप परिणति पाई जाती है उसे बुद्धि आदि आठ नामों से कहा जाता है ॥२७१॥

---

१. **अध्यवसिति –** (एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना। अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) २. **व्यवसान –** काम में लगे रहना, उद्यमी होना; निश्चय होना। ३. **मनन –** मानना; जानना।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथाध्यवसानस्य नाममालामाह – बोधनं बुद्धिः, व्यवसनं व्यवसायः, अध्यवसनमध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च। विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चिंतनं चित्तं, भवनं भावः, परिणमनं परिणामः, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः, किंतु सर्वोऽपि समभिरूढ़नयापेक्षयाऽध्यवसानार्थम् एव। कथं ? इति चेत्, यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति। एवं व्रतैः पुण्यं, अव्रतैः पापमिति कथनेन सूत्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातं तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्यं वस्तु रागाद्यध्यवसानकारणं रागाद्यध्यवसानं तु बंधकारणमिति कथनमुख्यत्वेन त्रयोदशगाथा गताः, इति समुदायेन पंचदशसूत्रैश्च चतुर्थस्थलं समाप्तम्॥२७१॥

'अध्यवसान त्यागने योग्य कहे हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहार का त्याग और निश्चय का ग्रहण कराया है' – इस अर्थ का एवं आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– आचार्यदेव कहते हैं कि [**सर्वत्र यद् अध्यवसानम्**] सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं [**अखिलं**] वे सब (अध्यवसान) [**जिनैः**] जिनेन्द्र भगवान ने [**एवम्**] पूर्वोक्त रीति से [**त्याज्यम् उक्तम्**] त्यागने योग्य कहे हैं [**तत्**] इसलिए [**मन्ये**] हम यह मानते हैं कि [**अन्य-आश्रयः व्यवहारः एव निखिलः अपि त्याजितः**] 'पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।' [**तत्**] तब फिर [**अमी सन्तः**] यह सत्पुरुष [**एकम् सम्यक् निश्चयम् एव निष्कम्पम् आक्रम्य**] एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके [**शुद्धज्ञानघने निजे महिम्नि**] शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमा में (आत्मस्वरूप में) [**धृतिम् किं न बध्नन्ति**] स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?

भावार्थ :– जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं इससे यह समझना चाहिए कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिए आचार्यदेव ने शुद्धनिश्चय के ग्रहण का ऐसा उपदेश दिया है कि 'शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो'। और ''जब कि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं तब फिर सत्पुरुष निश्चय को निश्चलता पूर्वक अंगीकार करके स्वरूप में स्थिर क्यों नहीं होते ? यह हमें आश्चर्य होता है,'' यह कहकर आचार्यदेव ने आश्चर्य प्रगट किया है॥१७३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब अध्यवसान के पर्यायवाची नाम कहते हैं – बोधन अर्थात् जाननमात्र सो बुद्धि है, व्यवसन अर्थात् जाननेमात्र की क्रिया सो व्यवसाय है, अध्यवसान अर्थात् समझ लेना या मान लेना सो अध्यवसाय है, मनन अर्थात् विचार करना सो मति है, जिसके द्वारा ज्ञेय को विशेषता पूर्वक जाना जाता है अर्थात् विशेष जानने रूप है सो विज्ञान है, चिंतवन करना सो चित्त है, भवन अर्थात् चेतना का होना सो भाव है, परिणमन अर्थात् चेतना का परिणमन सो परिणाम है। इसप्रकार शब्दभेद होने पर भी अर्थ भेद नहीं है। किन्तु समभिरूढ़ नय की अपेक्षा से सभी शब्दों का अर्थ अध्यवसान ही है। कैसे अध्यवसान है ? जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर एकार्थवाची हैं। इस प्रकार व्रतों से पुण्य, अव्रतों से पाप होता है ऐसा जो पूर्व में ही दो गाथाओं द्वारा कहा गया था, उन दो गाथाओं के ही विशेष विवरण के लिए बाह्य वस्तु रागादि अध्यवसान का निमित्त कारण है तथा रागादि अध्यवसान बन्ध का कारण है, इसप्रकार के कथन की मुख्यता से तेरह गाथाएँ पूर्ण हुईं, इसप्रकार समुदाय रूप से पन्द्रह गाथासूत्रों द्वारा चार स्थल पूर्ण हुए॥२७१॥

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छय-णएण।
णिच्छय-णयासिदा[1] पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं॥२७२॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम्॥२७२॥

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एव चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च॥२७२॥

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं :–

व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चय नयहि से।
मुनिराज जो निश्चय नयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें॥२७२॥

गाथार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**व्यवहारनयः**] व्यवहारनय [**निश्चयनयेन**] निश्चयनय के द्वारा [**प्रतिषिद्धः जानीहि**] निषिद्ध जान; [**पुनः निश्चयनयाश्रिताः**] निश्चयनय के आश्रित [**मुनयः**] मुनि [**निर्वाणम्**] निर्वाण को [**प्राप्नुवंति**] प्राप्त होते हैं।

टीका :– आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (अर्थात् पर के आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ, पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और पर के एकत्व की मान्यतापूर्वक परिणमन) बंध का कारण होने से मुमुक्षुओं को उसका (अध्यवसान का) निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनय के द्वारा वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारनय के भी पराश्रितता समान ही है (जैसे अध्यवसान पराश्रित है उसीप्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है)। और इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय करनेवाले ही (कर्मों से) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्ततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।

भावार्थ :– आत्मा के पर के निमित्त से जो अनेक भाव होते हैं, वे सब व्यवहारनय के विषय हैं इसलिए व्यवहारनय पराश्रित है और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है, वही निश्चयनय का विषय है इसलिए निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है इसलिए अध्यवसान का त्याग व्यवहारनय का ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओं में अध्यवसान के त्याग का उपदेश है वह व्यवहारनय के ही त्याग का उपदेश है। इसप्रकार निश्चयनय को प्रधान करके व्यवहारनय के त्याग का उपदेश किया है, उसका कारण यह है कि जो निश्चयनय के आश्रय से प्रवर्तते हैं, वे ही कर्मों से मुक्त होते हैं और जो एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय से प्रवर्तते हैं वे कर्मों से कभी मुक्त नहीं होते॥२७२॥

१. पाठान्तर = णिच्छयणयसल्लीणा

कथमभव्येनाप्याश्रीयते व्यवहारनय: इति चेत् –

वद-समिदी-गुत्तीओ सील-तव जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छादिट्ठी दु।।२७३।।

व्रतसमितिगुप्तय: शीलतपो जिनवरै: प्रज्ञप्तम्।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु।।२७३।।

शीलतप:परिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रं अभव्योऽपि कुर्यात्; तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धान शून्यत्वात्।।२७३।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अत: परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति – **एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनय: प्रतिषिद्ध इति जानीहि। केन कर्तृभूतेन ? शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन। कस्मात् ? **णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनयमालीना आश्रिता: स्थिता: संतो मुनयो निर्वाणं लभंते यत: कारणादिति। किं च, यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनय: सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजनं इति भावार्थ:। कथं निष्प्रयोजन:? इति चेत्, कर्मभिरमुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रियमाणत्वात्।।२७२।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसके बाद अभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि रूप निश्चयनय से विकल्पात्मक व्यवहार नय का निषेध किया जाता है, इस कथन की मुख्यता से छह गाथापर्यन्त व्याख्यान करते हैं – **एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण** इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से परद्रव्याश्रित होने के कारण व्यवहारनय निषेध्य है ऐसा जानो। किसके द्वारा निषेध्य है ? शुद्धात्मद्रव्याश्रित निश्चयनय के द्वारा निषेध्य है। किस कारण से निषेध्य है ? **णिच्छयणय सल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनय के (विषयभूत निज शुद्धात्मा में पूर्ण लीन – मग्न अर्थात् उसके) आश्रय से मुनिजन निर्वाण को प्राप्त करते हैं इस कारण से व्यवहार निश्चय द्वारा निषेध्य है। कुछ विशेष यह है कि यद्यपि प्राथमिक अपेक्षा से प्रारम्भ की सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधन होने से व्यवहारनय प्रयोजनवान है तथापि विशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वरूप शुद्धात्मा में स्थितजनों को निष्प्रयोजन है– ऐसा भावार्थ है। निष्प्रयोजन कैसे है ? कर्मों से बद्ध रहने वाले अभव्य जीव के द्वारा भी व्यवहारनय का आश्रय किया जाता है। (परन्तु उसके निश्चय शुद्धात्मा का आश्रय न होने से उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिए व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है) ।।२७२।।

....

अब प्रश्न होता है कि अभव्य जीव भी व्यवहारनय का आश्रय कैसे करते हैं ? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं :–

जिनवर प्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शील को।
करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानि मिथ्यादृष्टि है।।२७३।।

गाथार्थ :– [जिनवरै:] जिनेन्द्रदेव के द्वारा **[प्रज्ञप्तम्]** कथित **[व्रतसमितिगुप्तय:]** व्रत, समिति,

तस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति इति चेत् –

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु॥२७४॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु॥२७४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं व्रतसमितिगुप्तिशीलतपश्चरणादिकं जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं। **कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ** मंदमिथ्यात्वमंदकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति। कस्मात् ? इति चेत्, मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात् इति॥२७३॥

गुप्ति [**शीलतपः**] शील और तप [**कुर्वन् अपि**] करता हुआ भी [**अभव्यः**] अभव्य जीव [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**मिथ्यादृष्टिः तु**] और मिथ्यादृष्टि है।

टीका :– शील और तप से परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियों के प्रति सावधानी से युक्त, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है; तथापि वह (अभव्य) निश्चारित्र (चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है।

भावार्थ :– अभव्य जीव महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहार चारित्र का पालन करे तथापि निश्चय सम्यग्ज्ञान-श्रद्धान के बिना वह चारित्र 'सम्यग्चारित्र' नाम को प्राप्त नहीं होता; इसलिए वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है॥२७३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं व्रत, समिति, गुप्ति, शील तथा तपश्चरण आदि जो जिनेन्द्र भगवन्तों ने कहे हैं **कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ** मन्द मिथ्यात्व तथा मन्द कषाय के उदय में उनको करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी होता है, मिथ्यादृष्टि होता है। किस कारण से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है ? मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय के अभाव के कारण तथा शुद्धात्मा उपादेय है ऐसे श्रद्धान का अभाव होने के कारण अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि रहता है॥२७३॥

....

अब शिष्य पूछता है कि उसे (अभव्य को) ग्यारह अंग का ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है ? इसका उत्तर कहते हैं :–

मोक्ष की श्रद्धाविहीन, अभव्य जीव शास्त्रो पढ़ै।
पर ज्ञान की श्रद्धारहित को, पठन ये नहिं गुण करै॥२७४॥

गाथार्थ :– [**मोक्षम् अश्रद्दधानः**] मोक्ष की श्रद्धा न करता हुआ [**यः अभव्यसत्त्व**] जो अभव्यजीव

मोक्षं हि न तावदभव्य: श्रद्धत्ते, शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात्। ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धते। ज्ञानम-श्रद्धधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात्। स किल गुण: श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं, तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत। ततस्तस्य तद्गुणाभाव:। ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियत:॥२७४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तस्यैकादशांगश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी ? इति चेत् – **मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज** मोक्षमश्रद्दधान: सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशांगश्रुताध्ययनं कुर्यात्। **पाठो ण करेदि गुणं** तथापि तस्य शास्त्रपाठ: शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति। किं कुर्वन्तस्तस्य ? **असद्दहंतस्स णाणं तु** अश्रद्दधतोऽरोचमानस्य। किम् ? ज्ञानम्। कोऽर्थ:? शुद्धात्म- सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्यं गम्यं शुद्धात्मस्वरूपमिति। कस्मान्न श्रद्धत्ते ? दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयाभावात्। तदपि कस्मात्? अभव्यत्वादिति भावार्थ: ॥२७४॥

है वह **[तु अधीयीत]** शास्त्र तो पढ़ता है, **[तु]** परन्तु **[ज्ञानं अश्रद्दधानस्य]** ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले उसको **[पाठ:]** शास्त्र पठन **[गुणम् न करोति]** गुण नहीं करता।

टीका :– प्रथम तो अभव्यजीव (स्वयं) शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण मोक्ष की ही श्रद्धा नहीं करता। इसलिए वह ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं करता। और ज्ञान की श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुत को (शास्त्रों को) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठन के जो गुण, उसके अभाव के कारण ज्ञानी नहीं है। जो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान वह शास्त्रपठन का गुण है; और वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञान की श्रद्धा न करनेवाले अभव्य के शास्त्रपठन के द्वारा नहीं किया जा सकता (अर्थात् शास्त्रपठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं करा सकता); इसलिए उसके शास्त्रपठन के गुण का अभाव है; और इसलिए ज्ञान-श्रद्धान के अभाव के कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ।

भावार्थ :– अभव्यजीव ग्यारह अंगों को पढ़े तथापि उसे शुद्ध आत्मा का ज्ञानश्रद्धान नहीं होता; इसलिए उसे शास्त्रपठन ने गुण नहीं किया और इसलिए वह अज्ञानी ही है॥२७४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, अभव्य जीव के ग्यारह अंग का श्रुतज्ञान होता है, तो वह अज्ञानी कैसे है ऐसा पूछने पर कहते हैं – **मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीयेज्ज** मोक्ष का श्रद्धान न करता हुआ अभव्य जीव यद्यपि ख्याति, पूजा तथा लाभ के लिए ग्यारह अंगों का अध्ययन करे, **पाठो ण करेदि गुणं** तथापि उसका शास्त्राध्ययन शुद्धात्म परिज्ञान स्वरूप गुण को (स्वानुभूति को) नहीं करता है। क्या करता हुआ गुण को प्राप्त नहीं करता है ? **असद्दहंतस्स णाणं तु** श्रद्धान न करने से अथवा आत्मरुचि न करता हुआ गुण को प्राप्त नहीं करता है। किसकी श्रद्धा अथवा आत्मरुचि नहीं करता हुआ ? ज्ञान की श्रद्धा व आत्मरुचि न करता हुआ। ज्ञान का क्या अर्थ है ? शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निर्विकल्पसमाधि द्वारा प्राप्त होने योग्य जो शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञान की श्रद्धा नहीं करता है। किस कारण से श्रद्धा नहीं करता है ? दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय का अभाव होने से ज्ञान की श्रद्धा नहीं करता है। वह अभाव भी किस कारण से होता है ? अभव्यपने के कारण दर्शन-चारित्र मोहनीय का उपशम, क्षयोपशम या क्षय आदि नहीं होता है॥२७४॥

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत् –

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोग-णिमित्तं ण दु सो कम्मक्खय-णिमित्तं ।।२७५।।

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति स तथा पुनश्च स्पृशति।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ।।२७५।।

अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धत्ते, नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात्। ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते, भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रम-भूतार्थमेव श्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेत्, न पुनः कदाचनापि विमुच्येत। ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चय-नयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ।।२७५।।

शिष्य पुनः पूछता है कि अभव्य को धर्म का श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है' ? इसका उत्तर कहते हैं :–

वो धर्म को श्रद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे।
वो भोग हेतू धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को ।।२७५।।

गाथार्थ :– [**सः**] वह (अभव्यजीव) [**भोगनिमित्तं धर्मं**] भोग के निमित्तरूप धर्म की ही [**श्रद्दधाति च**] श्रद्धा करता है, [**प्रत्येति च**] उसी की प्रतीति करता है, [**रोचयति च**] उसी की रुचि करता है [**तथा पुनः स्पृशति च**] और उसी का स्पर्श करता है, [**न तु कर्मक्षयनिमित्तम्**] परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म को नहीं। (अर्थात् कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसका स्पर्श करता है।)

टीका :– अभव्यजीव नित्य कर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है, किन्तु नित्यज्ञानचेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता; क्योंकि वह सदा (स्व-पर के) भेदविज्ञान के अयोग्य है। इसलिए वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्म की श्रद्धा नहीं करता (किन्तु) भोग के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसीलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है, किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता; इसलिए उसे भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है। **– ऐसा होने से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का निषेध योग्य ही है।**

भावार्थ :– अभव्यजीव के भेदज्ञान होने की योग्यता न होने से वह कर्मफलचेतना को जानता है, किन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता; इसलिए उसे शुद्ध आत्मिक धर्म की श्रद्धा नहीं है। वह शुभ कर्म को ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है, इसलिए उसके फलस्वरूप ग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त होता है, किन्तु कर्मों का क्षय नहीं होता। इसप्रकार सत्यार्थ धर्म का श्रद्धान न होने से उसके श्रद्धान ही नहीं

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत् –

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीव-णिकं च तहा[1] भणदि चरित्तं तु ववहारो॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो॥२७७॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम्।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहार:॥२७६॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योग:॥२७७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत् – **सद्दहदि य** श्रद्धत्ते च **पत्तेदि य** ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीतिं परिच्छित्तिं करोति **रोचेदि य** विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च। **तह पुणोवि फासेदि य** तथा पुन: स्पृशति च अनुष्ठानरूपेण। कम् ? **धम्मं भोगणिमित्तं** अहमिंद्रादिपदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकांक्षा-रूपेण पुण्यरूपं धर्मम्। **ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं** न च कर्मक्षयनिमित्तं, शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं निश्चयधर्ममिति॥२७५॥

कहा जा सकता। इसप्रकार व्यवहारनय के आश्रित अभव्यजीव को ज्ञान-श्रद्धान न होने से निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का निषेध योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रन्थ है इसलिए इसमें अनुभव की अपेक्षा से भव्य-अभव्य का निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगम के साथ मिलायें तो अभव्य को व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थ को अनुभवगोचर नहीं होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल-व्यवहार का पक्ष रहने से उसके सर्वथा एकांतरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनय के पक्ष का आशय अभव्य के सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है॥२७५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – उस अभव्य को पुण्य रूप धर्म का श्रद्धान तो होता है ? फिर उसको श्रद्धान नहीं होता यह कैसे कहा है ? **सद्दहदि य** वह जीव धर्म का श्रद्धान करता है, **पत्तेदि य** और ज्ञानरूप से प्रतीति करता है जानता है **रोचेदि य** और विशेषरूप से श्रद्धानरूप रूचि भी करता है **तह पुणोवि फासेदि य** तथा अनुष्ठान रूप से स्पर्श भी करता है। किस धर्म का श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान करता है? **धम्मं भोगणिमित्तं** अहमिन्द्रादि पद की प्राप्ति के कारणरूप मानकर भोग तथा आकांक्षा रूप से पुण्य रूप धर्म का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करता है। **ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं** परन्तु वह कर्म क्षय के निमित्त रूप, शुद्धात्मानुभव लक्षण रूप निश्चय धर्म का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं करता है॥२७५॥

---

१. पाठान्तर = छज्जीवाणं रक्खा

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः। शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः। तथाहि – नाचारादिशब्दश्रुतमेकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्; न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्; न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः, षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्॥२७६-२७७॥

अब यह प्रश्न होता है कि ''निश्चयनय के द्वारा निषेध्य व्यवहारनय और व्यवहारनय का निषेधक निश्चयनय वे दोनों नय कैसे हैं ?'' अतः व्यवहार और निश्चयनय का स्वरूप कहते हैं :–

''आचार'' आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना।
षट् जीवकाय चरित्र है – ये कथन नय व्यवहार का॥२७६॥

मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है॥२७७॥

गाथार्थ :– [**आचारादि**] आचारांगादि शास्त्र [**ज्ञानं**] ज्ञान है, [**जीवादि**] जीवादि तत्त्व [**दर्शनं विज्ञेयम् च**] दर्शन जानना चाहिए [**च**] तथा [**षड्जीवनिकाय**] छह जीव-निकाय [**चरित्रं**] चारित्र है [**तथा तु**] ऐसा तो [**व्यवहार भणति**] व्यवहारनय कहता है।

[**खलु**] निश्चय से [**मम आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**ज्ञानम्**] ज्ञान है, [**मे आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**दर्शनं चारित्रं च**] दर्शन और चारित्र है, [**आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**प्रत्याख्यानम्**] प्रत्याख्यान है, [**मे आत्मा**] मेरा आत्मा ही [**संवरः योगः**] संवर और योग (समाधि, ध्यान) है।

टीका :– आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान है, क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञान का आश्रय है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन हैं, क्योंकि वे (नव पदार्थ) दर्शन के आश्रय हैं और छह जीव-निकाय चारित्र है, क्योंकि वह (छह जीवनिकाय) चारित्र का आश्रय है – इसप्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है, क्योंकि वह (शुद्धात्मा) ज्ञान का आश्रय है; शुद्ध आत्मा दर्शन है, क्योंकि वह दर्शन का आश्रय है और शुद्ध आत्मा चारित्र है, क्योंकि वह चारित्र का आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है। इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादि को ज्ञानादि का आश्रयत्व अनैकान्तिक है – व्यभिचारयुक्त है; (शब्दश्रुतादि को ज्ञानादि का आश्रयस्वरूप मानने में व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दश्रुतादि के होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिए व्यवहारनय प्रतिषेध्य है;) और निश्चयनय व्यवहारनय का प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञानादि

(उपजाति)

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता:।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना: पुनरेवमाहु: ।।१७४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कीदृशौ तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत् – **आयारादी णाणं** आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशांगशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति। **जीवादी दंसणं च विण्णेयं** जीवादिनवपदार्थ: श्रद्धानविषय: सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति। **छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो** षट्जीवनिकायरक्षाचारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति। एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्ग: प्रोक्त इति। **आदा खु मज्झ णाणे** स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वान्निमित्तत्वान्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति। **आदा मे दंसणे** शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणत्वात् निश्चयेन मम सम्यग्दर्शनं भवति।

का आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्मा को ज्ञानादिक का आश्रय मानने में व्यभिचार नहीं है, क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है :–

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुत के) सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण ज्ञान का अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शन के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण दर्शन का अभाव है; छह जीव-निकाय-चारित्र के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भाव में भी अभव्यों को शुद्ध आत्मा के अभाव के कारण चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थों के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकाय के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव होता है।

भावार्थ :– आचारांगादि शब्दश्रुत का ज्ञान, जीवादि नवपदार्थों का श्रद्धान तथा छह काय के जीवों की रक्षा – इन सबके होते हुए भी अभव्य के ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं होते, इसलिए व्यवहारनय तो निषेध्य है और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र होता ही है, इसलिए निश्चयनय व्यवहार का निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।।२७६-२७७।।

अब आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– ''**[रागादय: बन्धनिदानम् उक्ता:]** रागादि को बन्ध का कारण कहा और **[ते शुद्ध-चिन्मात्र-मह:-अतिरिक्ता:]** उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योति से (अर्थात् आत्मा से) भिन्न कहा, **[तद्-निमित्तम्]** तब फिर उस रागादि का निमित्त **[किमु आत्मा वा पर:]** आत्मा है या कोई अन्य ? '' **[इति प्रणुन्ना: पुन: एवम् आहु:]** इसप्रकार (शिष्य के) प्रश्न से प्रेरित होते हुए आचार्यभगवान पुनः इसप्रकार (निम्नप्रकार से) कहते हैं।।१७४।।

चरित्ते च शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति। **आदा पच्चक्खाणं** शुद्धात्मारागादि-परित्यागलक्षणस्य प्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणात्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति। **आदा मे संवरो** शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिबलेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसंवरस्याश्रयत्वान्निश्चयेन संवरो भवति। **जोगो** शुद्धात्मा शुभाशुभचिंता-निरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगो भवतीति। **शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चय मोक्षमार्गो ज्ञातव्य:।** एवं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितम्। तत्र निश्चय: प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति। कस्मादिति चेत् ? **निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति,** व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च। कथं भवति न भवति ? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्सकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति। यदि पुन: सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते, तदा मोक्षो न भवति। तदपि कस्मात्? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यत: कारणात्। यस्तु तादृशमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति। यस्य पुन: पूर्वोक्त शुद्धात्मास्वरूपमुपादेयं नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं मिथ्यादृष्टिरसौ। तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमादिकं कदाचिदपि न संभवति इति भावार्थ:। किं च, निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य:, किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहार: स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थ:। एवं निश्चयनयेन व्यवहार: प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट्सूत्रै: पंचमं स्थलं गतम्॥२७६-२७७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब पूछते हैं कि वह व्यवहार और निश्चय दोनों प्रतिषेध्य तथा प्रतिषेधक कैसे हैं ? **आयारादी णाणं** आचारांग, सूत्रकृतांग आदि ग्यारह अंग तक का शब्दशास्त्र ज्ञान का आश्रयपना होने से व्यवहार से ज्ञान है। **जीवादी दंसणं च विण्णेयं** जीवादि नवपदार्थ श्रद्धान का विषय हैं, उनका सम्यक्त्व के लिए आश्रयपना या निमित्तपना होने से व्यवहार से सम्यक्त्व है। **छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो** छह प्रकार के जीव-निकायों की रक्षा करना चारित्र है, उसका आश्रयपना या हेतुपना होने से व्यवहार से चारित्र है। इस तरह पराश्रितपनेरूप व्यवहार मोक्षमार्ग कहा गया है। **आदा खु मज्झ णाणे** स्वशुद्धात्मा ही ज्ञान का आश्रय या निमित्त कारण होने से निश्चय नय से मेरा सम्यग्ज्ञान है। **आदा मे दंसणे** शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन का आश्रय या निमित्त होने से निश्चय सम्यग्दर्शन है। **चरित्ते च** शुद्धात्मा ही चारित्र का आश्रय या हेतु होने से निश्चय से सम्यक्चारित्र है। **आदा पच्चक्खाणं** शुद्धात्मा ही रागादि के परित्याग लक्षणरूप प्रत्याख्यान का आश्रय या कारण होने से निश्चय से प्रत्याख्यान है। **आदा मे संवरो** शुद्धात्मा ही स्वरूप की उपलब्धि के बल से हर्ष विषाद आदि के निरोध लक्षण रूप संवर का आश्रय या कारण होने से निश्चय से संवर है। **जोगो** शुद्धात्मा ही शुभ-अशुभ चिन्ता निरोध लक्षण परमध्यान शब्द से वाच्य योग का आश्रय या हेतु होने से निश्चय से परमयोग है। इस प्रकार शुद्धात्मा के आश्रय से ही निश्चय मोक्षमार्ग जानना चाहिए। इसतरह व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा।

वहाँ निश्चय प्रतिषेधक है और व्यवहार प्रतिषेध्य है। किस कारण से है ? **निश्चय मोक्षमार्ग में स्थित जीव के नियम से मोक्ष होता है परन्तु व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित जीव के मोक्ष हो या न हो।** ऐसा क्यों है ? (कि व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थित जीव को मोक्ष हो या न भी हो।) यदि मिथ्यात्वादि सप्त प्रकृति के उपशम, क्षयोपशम व क्षय के निमित्त से शुद्धात्मा को ही उपादेय करके वर्तता है तब तो मोक्ष होता है और यदि सप्त प्रकृतियों के उपशमादि का अभाव होने पर शुद्ध आत्मा को उपादेय करके नहीं वर्तता है, तब

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।
राग्ज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं॥२७९॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः॥२७८॥
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः॥२७९॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादि-निमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभिः परिणम्यते।

मोक्ष नहीं होता है। वह भी किस कारण से मोक्ष नहीं होता है? क्योंकि सात प्रकृतियों के उपशमादि का अभाव होने पर अनन्त ज्ञानादि गुण स्वरूप आत्मा को उपादेय करके वर्तता नहीं है, श्रद्धान नहीं करता है, इस कारण से (मोक्ष नहीं होता है।) किन्तु जो उसप्रकार के आत्मा को उपादेय करके श्रद्धान करता है, उसके सात प्रकृतियों का उपशमादि विद्यमान होता है, वह भव्य है और जिसके पूर्वोक्त शुद्धात्मा का स्वरूप उपादेय नहीं होता है, उसके सात प्रकृतियों का उपशमादि भी विद्यमान नहीं होता है, इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। इस कारण से अभव्य जीव के मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशमादि कभी भी सम्भव नहीं होते हैं ऐसा भावार्थ है। इसलिए निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होकर व्यवहार त्यागने योग्य है, क्योंकि त्रिगुप्ति अवस्था में व्यवहार स्वयमेव नहीं रहता है, ऐसा तात्पर्यार्थ है। इसप्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय निषिद्ध है ऐसा कथन करनेवाले छह गाथासूत्रों द्वारा पाँचवा स्थल पूर्ण हुआ॥२७६-२७७॥

....

उपरोक्त प्रश्न के उत्तररूप में आचार्यदेव कहते हैं :–

ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे।
पर अन्य रक्त पदार्थ से, रक्तादिरूप जु परिणमे॥२७८॥
त्यों 'ज्ञानी' भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने॥२७९॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**स्फटिकमणिः**] स्फटिकमणि [**शुद्धः**] शुद्ध होने से [**रागाद्यैः**] रागादिरूप से (ललाई-आदिरूप से) [**स्वयं**] अपने आप [**न परिणमते**] परिणमता नहीं है [**तु**] परन्तु [**अन्यैः रागादिभिः द्रव्यैः**] अन्य रक्तादि द्रव्यों से [**सः**] वह [**रज्यते**] रक्त (लाल) आदि किया जाता है, [**एवं**] इसीप्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [**शुद्धः**] शुद्ध होने से [**रागाद्यैः**] रागादिरूप से [**स्वयं**]

तथा केवल: किलात्मा, परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभि: स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादि-निमित्तभूतेन, शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव, रागादिभि: परिणम्यते। इति तावद्वस्तुस्वभाव:।।२७८-२७९।।

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांत:।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।।१७५।।

अपने आप [**न परिणमते**] परिणमता नहीं है [**तु**] परन्तु [**अन्यै: रागादिभि: दोषै:**] अन्य रागादि दोषों से [**स:**] वह [**रज्यते**] रागी आदि किया जाता है।

टीका :– जैसे वास्तव में केवल (अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अपने को शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने में ललाई आदि रूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिकभाव को प्राप्त होने से स्फटिकमणि के रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसीप्रकार वास्तव में केवल (अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्व के कारण रागादि का निमित्तत्व न होने से (स्वयं अपने को रागादिरूप परिणमन का निमित्त न होने से) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा को रागादि का निमित्त होता है ऐसे परद्रव्य के द्वारा ही, शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है। – ऐसा वस्तुस्वभाव है।

भावार्थ :– स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई आदि रूप नहीं परिणमता, किन्तु लाल आदि परद्रव्य के निमित्त से (स्वयं ललाई आदि रूप परिणमते ऐसे परद्रव्य के निमित्त से) ललाई आदि रूप परिणमता है। इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमन स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु रागादिरूप परद्रव्य के निमित्त से (अर्थात् स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्य के निमित्त से) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तु का ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्क को अवकाश नहीं है।।२७८-२७९।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यथा अर्ककान्त:**] सूर्यकांतमणि की भांति (जैसे सूर्यकांतमणि स्वतः से ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) [**आत्मा आत्मन: रागादिनिमित्तभावम् जातु न याति**] आत्मा अपने को रागादि का निमित्त कभी भी नहीं होता, [**तस्मिन् निमित्तं परसङ्ग: एव**] उसमें निमित्त परसंग ही (परद्रव्य का संग ही) है। [**अयम् वस्तुस्वभाव: उदेतितावत्**] ऐसा वस्तुस्वभाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसी ने बनाया नहीं है।)।।१७५।।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः॥१७६॥

ण य राग-दोस-मोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं॥२८०॥

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम्॥२८०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ रागादयः किल कर्मबन्धकारणं भणिताः, तेषां पुनः किं कारणम् ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह – यथा स्फटिकमणिर्विशुद्धो बहिरुपाधिं विना स्वयं रागादिभावेन न परिणमति पश्चात् स एव रज्यते, कैः ? जपापुष्पादिबहिर्भूतान्यद्रव्यैरिति दृष्टांतो गतः। एवमनेन दृष्टांतेन ज्ञानी शुद्धो भवन् स्वयं निरुपाधिचिच्चमत्कार-स्वभावेन कृत्वा जपापुष्पस्थानीयकर्मोदयरूपपरोपाधिं विना रागादिविभावैर्न परिणमति पश्चात्सहजस्वच्छभावच्युतः सन् स एव रज्यते। कैः ? अन्यैः कर्मोदयनिमित्तै रागादिदोषैः परिणामैरिति, तेन ज्ञायते कर्मोदयजनिता रागादयो न तु ज्ञानिजीवजनिता इति दार्ष्टान्तो गतः॥२७८-२७९॥

''ऐसे वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि को निजरूप नहीं करता'' इस अर्थ का, तथा आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इति स्वं वस्तुस्वभावं ज्ञानी जानाति**] ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभाव को जानता है [**तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात्**] इसलिए वह रागादि को निजरूप नहीं करता, [**अतः कारकः न भवति**] अतः वह (रागादि का) कर्ता नहीं है॥१७६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब रागादि वास्तव में कर्मबन्ध के कारण कहे हैं, उन रागादि भावों का क्या कारण है ? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर देते हैं – जिस प्रकार निर्मल स्फटिक मणि बाह्य उपाधि संयोग बिना स्वयं रागादि (रंगादि) भावरूप से परिणमित नहीं होती है, बाद में वही रंगरूप परिणमन करती है। किसके द्वारा रंगरूप परिणमती है? जपापुष्पादि बाह्यरूप अन्य द्रव्यों के द्वारा रंग रूप परिणमती है। इस प्रकार इस दृष्टान्त से ज्ञानी शुद्ध होता हुआ स्वयं निरूपाधि चिच्चमत्कार स्वभाव रूप परिणमन करता है, जपापुष्प की जगह कर्मोदय रूप उपाधि के बिना रागादि विभाव रूप से परिणमन नहीं करता है। पश्चात् सहज स्वच्छ भाव से च्युत होता हुआ वही ज्ञानी रागी होता है। किसके द्वारा रागी होता है? अन्य कर्मोदय निमित्त से रागादि दोष परिणाम द्वारा रागी होता है। उससे ज्ञात होता है कि रागादि भाव कर्मोदयजन्य हैं परन्तु ज्ञानीजीव जन्य नहीं हैं। इसप्रकार दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) हुआ॥२७८-२७९॥

....

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं :–

कभी रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने॥२८०॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते, न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति प्रतिनियमः ॥२८०॥

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१७७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – एवं चिदानन्दैकलक्षणं स्वस्वभावं जानन् ज्ञानी रागादीन्न करोति ततो नवतर-रागाद्युत्पत्तिकारणभूतकर्मणां कर्ता न भवतीति कथयति – **ण वि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा** ज्ञानी न करोति। कान् ? रागादिदोषरहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभावं वा। कथं न करोति ? **सयं** स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारणं विना। कस्य संबंधित्वेन ? **अप्पणो** आत्मनः। **ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं** तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादिभावानां कर्ता न भवतीति॥२८०॥

गाथार्थ :– **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[रागद्वेषमोहं]** राग-द्वेष-मोह को **[वा कषायभावं]** अथवा कषायभाव को **[स्वयं]** अपने आप **[आत्मनः]** अपने में **[न च करोति]** नहीं करता **[तेन]** इसलिए **[सः]** वह, **[तेषां भावानाम्]** उन भावों का **[कारकः न]** कारक अर्थात् कर्ता नहीं है।

टीका :– यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तुस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभाव से ही च्युत नहीं होता, इसलिए वह राग-द्वेष-मोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरे के द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है – ऐसा नियम है।

भावार्थ :– आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है – द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादिरूप परिणमित होता है;' इसलिए अब ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता, जो उदय में आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है॥२८०॥

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता इसलिए वह रागादि भावों का कर्ता होता है' इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इति स्वं वस्तुस्वभावं अज्ञानी न वेत्ति]** अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभाव को नहीं जानता **[तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात्]** इसलिए वह रागादि (रागादिभावों को) अपना करता है, **[अतः कारकः भवति]** अतः वह (रागादि का) कर्ता होता है॥१७७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इस प्रकार चिदानन्द एक लक्षण रूप स्वस्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादि नहीं करता है उससे नवीन रागादि की उत्पत्ति के कारणभूत कर्मों का कर्ता नहीं होता है ऐसा कहते हैं –

रागम्हि य दोसम्हि य कसाय-कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो[1] रागादि बंधदि पुणो वि ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥२८१॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव, ततः कर्मविपाकप्रभवैः रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥२८१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अज्ञानी जीवः शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति ततः स भाविरागादि-जनकनवतरकर्मणां कर्ता भवतीत्युपदिशति – **रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा** रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्वभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावाः परिणामा भवंति। **तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणो वि** तैः कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति ॥२८१॥

ण वि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ज्ञानी नहीं करता है। किसको नहीं करता है ? रागादि दोषों से रहित शुद्ध स्वभाव से पृथक्भूत राग-द्वेष-मोह को अथवा क्रोधादि कषाय भाव को ज्ञानी नहीं करता है। किस प्रकार नहीं करता है ? **सयं** स्वयं शुद्धात्मभाव से कर्मोदय सहकारी कारण बिना नहीं करता है। किस सम्बन्धी ? **अप्पणो** आत्मा के सम्बन्ध में। **ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं** उस कारण से वह सम्यग्ज्ञानी उन रागादि भावों का कर्त्ता नहीं होता है ॥२८०॥

....

अब इसी अर्थ की गाथा कहते हैं :–

पर राग द्वेष कषाय कर्म निमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप जो जीव परिणमे फिर बांधता रागादि को ॥२८१॥

गाथार्थ :– [**रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव**] राग-द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [**ये भावाः**] जो भाव होते हैं [**तैः तु**] उन रूप [**परिणममानः**] परिणमित होता हुआ (अज्ञानी) [**रागादीन्**] रागादि को [**पुनः अपि**] पुनः पुनः [**बध्नाति**] बाँधता है।

टीका :– यथोक्त वस्तुस्वभाव को न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसार से लेकर (अपने) शुद्धस्वभाव से च्युत ही है, इसलिए कर्मोदय से उत्पन्न राग-द्वेष-मोहादि भावरूप परिणमता हुआ अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादि भावों का कर्ता होता हुआ (कर्मों से) बद्ध होता ही है – ऐसा नियम है।

भावार्थ :– अज्ञानी वस्तुस्वभाव को तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदय से जो भाव होते हैं उन्हें अपना समझकर परिणमता है, इसलिए वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः पुनः आगामी कर्मों को बांधता है – ऐसा नियम है ॥२८१॥

---

१. पाठान्तर = परिणममाणो

ततः स्थितमेतत् –

रागम्हि य दोसम्हि य कसाय-कम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु[1] परिणमंतो रागादी बंधदे चेदा॥२८२॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावा:।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता॥२८२॥

य इमे किलाज्ञानिन: पुद्‌गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादि-परिणामनिमित्तस्य पुद्‌गलकर्मणो बंधहेतुरिति॥२८२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – तमेवार्थम् दृढयति – पूर्व गाथायामहं रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तं। अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो राग: इति संबंधेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेष:। किंच विस्तर: – यत्र मोहरागद्वेषा व्याख्यायंते तत्र **मोह शब्देन दर्शनमोह:, मिथ्यात्वादिजनक इति ज्ञातव्यं, रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्य:।** अत्राह

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अज्ञानी जीव शुद्धस्वभावी आत्मा को न जानकर रागादि करता है। इसलिए वह भावी रागादि भाव जनक नवीन कर्मों का कर्त्ता होता है ऐसा कहते हैं – **रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा** राग-द्वेष-कषाय रूप द्रव्य-कर्मों का उदय होने पर अपने स्वभाव से च्युत होकर उस उदय के निमित्त से जीव में रागादि भाव या परिणाम होते हैं। **तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणो वि** उन प्रत्ययों के द्वारा किये गये ''रागादि मैं हूँ''– इसप्रकार अभेदरूप से 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति करके परिणमन करता हुआ जीव फिर से भावी रागादि रूप परिणामों के उत्पादक द्रव्यकर्मों को बाँधता है, इसलिए उन रागादि परिणामों का अज्ञानी जीव कर्ता होता है॥२८१॥

....

''अतः यह सिद्ध हुआ (अर्थात् पूर्वोक्त कारण से निम्नप्रकार निश्चित हुआ)'' ऐसा अब कहते हैं –

यों राग-द्वेष-कषाय कर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन रूप आत्मा परिणमें, फिर बाँधता रागादि को॥२८२॥

गाथार्थ :– [**रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव**] राग, द्वेष और कषाय कर्मों के होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [**ये भावा:**] जो भाव होते हैं [**तै: तु**] उन रूप [**परिणममान:**] परिणमित हुआ [**चेतयिता**] आत्मा [**रागादीन्**] रागादि को [**बध्नाति**] बाँधता है।

टीका :– निश्चय से अज्ञानी को, पुद्‌गल कर्म जिनका निमित्त है ऐसे जो यह राग-द्वेष-मोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः राग-द्वेष-मोहादि परिणाम के निमित्त जो पुद्‌गलकर्म उसके बन्ध के कारण हैं।

भावार्थ :– अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो राग-द्वेष-मोहादि परिणाम होते हैं, वे ही पुनः आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं॥२८२॥

---

१. पाठान्तर = ते मम दु

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेत् –

अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ।।२८३।।
अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणं पि।
एदेणुवदेसेण य अकारगो वण्णिदो चेदा ।।२८४।।
जावं अप्पडिकमणं अपच्चक्खाणं[1] च दव्वभावाणं।
कुव्वदि आदा तावं कत्ता सो होदि णादव्वो ।।२८५।।

शिष्यः – मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोषो नास्ति, रागद्वेषशब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते? इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति – कषायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषांगौ द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागांगौ रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसंज्ञचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्रयहास्यरतयः पंचनोकषायाः रागांगा रागोत्पादकत्वात्, अरतिशोकभयजुगुप्सासंज्ञाः चत्वारो द्वेषांगा द्वेषोत्पादकत्वात्, इत्यनेनाभिप्रायेण **मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते,** रागद्वेषशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवं **कर्मबंधकारणं रागादयः, रागादीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो, न च ज्ञानी जीव** इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापंचकं गतम्।।२८२।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – उस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं – पूर्व गाथा में ''मैं रागादि हूँ'' ऐसा अभेद रूप से परिणमन करता हुआ जीव उन रागादि भावों को उत्पन्न करनेवाले नूतन द्रव्यकर्मों को बाँधता है, ऐसा कहा गया है; किन्तु यहाँ शुद्धात्म भावना के रहितपने से 'राग मेरा है' इसप्रकार सम्बन्ध रूप से परिणमन करता हुआ जीव उन नूतन कर्मों को बाँधता है, यह विशेष है। इसका कुछ विस्तार ऐसा है – जहाँ मोह-राग-द्वेष की व्याख्या की जाती है, वहाँ 'मोह' शब्द से दर्शन मोह अर्थात् मिथ्यात्व आदि का जनक जानना चाहिए किन्तु राग-द्वेष शब्द से क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करनेवाला चारित्रमोह जानना चाहिए।

यहाँ शिष्य कहता है – मोह शब्द से मिथ्यात्वादि का जनक दर्शनमोह है इसमें दोष नहीं है परन्तु राग-द्वेष शब्द से चारित्र मोह है यह कैसे कहा जाता है ? इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं। कषाय वेदनीय नामक चारित्रमोहनीय में क्रोध तथा मान तो द्वेषांगरूप हैं, द्वेष के उत्पादक होने से । तथा माया व लोभ रागांगरूप हैं राग के उत्पादक होने से।

नोकषाय वेदनीय नामक चारित्रमोहनीय में स्त्रीवेद, पुरुष वेद तथा नपुंसक वेद ये तीन तथा हास्य और रति ये पाँच नो कषायें रागांगरूप हैं क्योंकि वे राग की उत्पादक हैं। अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नामक चार नो कषायें द्वेषांगरूप हैं क्योंकि वे द्वेष की उत्पादक हैं। इस अभिप्राय से 'मोह' शब्द से दर्शनमोह मिथ्यात्व कहा जाता है तथा 'राग-द्वेष' शब्द से चारित्रमोह कहा जाता है ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए। इसतरह कर्मबन्ध के कारण रागादि हैं और रागादिक का कारण निश्चय से कर्म का उदय है, किन्तु ज्ञानी जीव नहीं है। इसप्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से सप्तम स्थल में पांच गाथाएँ पूर्ण हुईं।।२८२।।

---

१. जावं ण पच्चखाणं अप्पडिकमणं

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ।।२८३।।
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ।।२८४।।
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयो:।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्य: ।।२८५।।

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्ते:। य: खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेश: स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्,

---

अब प्रश्न होता है कि आत्मा रागादि का अकारक ही कैसे है ? इसका समाधान (आगम प्रमाण देकर) करते हैं :–

अनप्रतिक्रमण दो भाँति, अनपचखाण भी दो भाँति हैं।
जीव को अकारक है कहा इस रीत के उपदेश से ।।२८३।।

अनप्रतिक्रमण दो द्रव्यभाव जु, योंहि अनपचखाण हैं।
जीव को अकारक है कहा इस रीत के उपदेश से ।।२८४।।

अनप्रतिक्रमण अरु त्योंहि अनपचखाण द्रव्यरु भाव का।
जबतक करै है आतमा, कर्ता बनै है जानना ।।२८५।।

गाथार्थ :– [**अप्रतिक्रमणं**] अप्रतिक्रमण [**द्विविधम्**] दो प्रकार का [**तथा एव**] उसी तरह [**अप्रत्याख्यानं**] अप्रत्याख्यान दो प्रकार का [**विज्ञेयम्**] जानना चाहिए; [**एतेन उपदेशेन च**] उस उपदेश से [**चेतयिता**] आत्मा [**अकारक: वर्णित:**] अकारक कहा गया है।

[**अप्रतिक्रमणं**] अप्रतिक्रमण [**द्विविधम्**] दो प्रकार का [**द्रव्ये भावे**] द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [**तथा अप्रत्याख्यानं**] इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है – द्रव्यसम्बन्धी और भाव सम्बन्धी; [**एतेन उपदेशेन च**] इस उपदेश से [**चेतयिता**] आत्मा [**अकारक: वर्णित:**] अकारक कहा गया है।

[**यावत्**] जबतक [**आत्मा**] आत्मा [**द्रव्यभावयो:**] द्रव्य का और भाव का [**अप्रतिक्रमणं च अप्रत्याख्यानं**] अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान [**करोति**] करता है [**तावत्**] तबतक [**स:**] वह [**कर्ता भवति**] कर्ता होता है [**ज्ञातव्य:**] ऐसा जानना चाहिए।

टीका :– आत्मा स्वत: रागादि का अकारक ही है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वत: ही रागादिभावों का कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता का उपदेश नहीं हो सकता। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का जो वास्तव में द्रव्य और भाव के भेद से द्विविध (दो प्रकार का) उपदेश है वह, द्रव्य और भाव के निमित्त-नैमित्तिकत्व को प्रगट करता हुआ, आत्मा

अकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितंपरद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावा:। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयो: कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वेत्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभाव: प्रसजेच्च। तत: परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभाव-निमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादीनामकारक एवात्मा। तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावत्कर्तैव स्यात्। यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात्।।२८३-२८५।।

के अकर्तृत्व को ही बतलाता है। इसलिए यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्मा के रागादिभाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान का कर्तृत्व के निमित्तरूप का उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्मा को रागादिभावों का निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्व का प्रसंग आ जायेगा, जिससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिए परद्रव्य ही आत्मा के रागादिभावों का निमित्त हो। और ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादि का अकारक ही है (इसप्रकार यद्यपि आत्मा रागादि का अकारक ही है) तथापि जबतक वह निमित्तभूत द्रव्य का (परद्रव्य का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, तबतक नैमित्तिकभूत भावों का (रागादिभावों का) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, और जबतक इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता है तबतक वह उनका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत द्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, और जब इन भावों का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ :– अतीत काल में जिन परद्रव्यों का ग्रहण किया था उन्हें वर्तमान में अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है और परद्रव्यों के निमित्त से जो रागादिभाव हुए थे उन्हें वर्तमान में अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, भाव अप्रतिक्रमण है। इसीप्रकार आगामी काल सम्बन्धी परद्रव्यों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्यों के निमित्त से आगामी काल में होनेवाले रागादिभावों की इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है। इसप्रकार द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान – ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान का दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्य-भाव के निमित्त-नैमित्तिक-भाव को बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि – परद्रव्य तो निमित्त हैं और रागादिभाव नैमित्तिक हैं। इसप्रकार आत्मा रागादिभावों को स्वयमेव न करने से रागादिभावों का अकर्ता ही है ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावों का अकर्ता ही है तथापि जब तक उसके निमित्तभूत परद्रव्य के अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान हैं तबतक उसके रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है और जबतक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, तबतक वह रागादिभावों का कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमित्तिक

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह – **अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं** पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं, भाविरागादि-विषयाकांक्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं। **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते। किं ज्ञायते ? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेन च रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति। **अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणं पि** द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति। **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** तदेव बंधकारणमित्युपदेश आगमः तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणतः शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीवः स कर्मणां कारकः। तद्विपरीतो ज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति। तमेवार्थं दृढयति। **जाव ण पच्चक्खाणं** यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति **अप्पडिकमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि** यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति **आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वो** तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको

रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान हो जाता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है॥२८३-२८५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सम्यग्ज्ञानी जीव रागादि का अकारक कैसे है, ऐसा पूछे जाने पर उत्तर देते हैं – **अप्पडिकमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं** पूर्वकाल में अनुभव किये हुए विषयों के अनुभव करनेरूप रागादि का स्मरण करना अप्रतिक्रमण है वह दो प्रकार है। भविष्यकाल में होने वाले रागादि के विषयों की आकांक्षा रूप अप्रत्याख्यान भी उसी तरह दो प्रकार का जानना चाहिए। **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** इसप्रकार परमागम के उपदेश से जाना जाता है। क्या जाना जाता है ? कि वास्तव में चेतयिता आत्मा दोनों प्रकार के अप्रतिक्रमण तथा दोनों प्रकार के अप्रत्याख्यान से रहितपने के कारण कर्म का अकर्ता होता है। **अप्पडिकमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणं पि** द्रव्य और भावरूप से अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान दो प्रकार होता है। **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** वही बंध का कारण है ऐसा आगम का उपदेश है, उस उपदेश से जाना जाता है। क्या जाना जाता है ? कि द्रव्य और भावरूप अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य और भावरूप अप्रत्याख्यान से परिणमित और शुद्धात्मा की भावना से च्युत जो ऐसा अज्ञानी जीव है वह कर्म का कारक (कर्ता) है। उससे विपरीत चेतयिता अर्थात् ज्ञानी उन कर्मों का अकारक (अकर्ता) है। उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं। **जाव ण पच्चक्खाणं** जितनेकाल द्रव्य तथा भावरूप निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण रूप प्रत्याख्यान नहीं है, **अप्पडिकमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि** और जितने काल द्रव्य तथा भावरूप प्रतिक्रमण नहीं करता है, **आदा ताव दु कत्ता सो होदि णादव्वो** उतने काल परमसमाधि (शुद्धात्मानुभव) के अभाव के कारण वह अज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता होता है ऐसा जानना चाहिए।

कुछ और भी कहते हैं – अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान वाला कर्मों का कर्ता है, परन्तु ज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं है। यदि जीव ही (कर्मों का) कर्ता है तो जीव के सदा ही कर्तृत्व का प्रसंग आता है। किस कारण से ? क्योंकि जीव सदा ही विद्यमान रहता है।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान अनित्य है, रागादि विकल्परूप हैं। और वे स्वस्थभाव (आत्मस्थिरता)

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत् –

आधाकम्मादीया पोग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वदि णाणी परदव्व-गुणा दु जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होदि कयं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं ॥२८७॥

भवतीति ज्ञातव्य:। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तृ, न च ज्ञानी जीव:। यदि (स एव) जीव: कर्ता भवति तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव। कस्मात् ? इति चेत्, जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न सर्वदैव। तेन किं सिद्धं ? यदा स्वस्थभावच्युत: सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानाभ्यां परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति। स्वस्थभावे पुनरकारक: इति भावार्थ:। एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं, न च ज्ञानी जीव: इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतम्। अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बंधो भणित: स च हेयस्याशेषस्य नरकादिदु:खस्य कारणत्वात् हेय:। तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह – **सहजशुद्धज्ञानानन्दैक-स्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं,** निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक-निर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूप सुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्य: प्राप्यो **भरितोवस्थोऽहं,** रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपंचेन्द्रियविषयव्यापार मनोवचनकायव्यापार भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म-ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानु-भूतभोगाकांक्षारूप निदानमायामिथ्याशल्यत्रयादि सर्वविभावपरिणामरहित: **शून्योऽहं,** जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायै: कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवा: इति निरन्तरं भावना कर्तव्या॥२८३-२८५॥

से च्युत होने वाले जीवों के होते हैं परन्तु सदैव नहीं होते हैं। उससे क्या सिद्ध हुआ? यह कि जब जीव स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान रूप परिणमन करता है, तब कर्मों का कर्ता है। स्व-स्वभाव में स्थित होने पर अकर्ता है, ऐसा भावार्थ है। इस प्रकार अज्ञानी जीव की परिणतिरूप अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान बन्ध के कारण हैं, परन्तु ज्ञानी जीव (की प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानमय परिणति) बंध का कारण (कर्ता) नहीं है। इस प्रकार व्याख्यान की मुख्यता से आठवें स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

अब निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान रहित जीवों के जो बन्ध कहा गया है, वह त्यागने योग्य सम्पूर्ण नरकादि दुख का कारण होने से हेय है। उस बन्ध के विनाश के लिए विशेष भावना कहते हैं। मैं सहजशुद्ध ज्ञानानन्द एक स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ। मैं निरंजन निज शुद्धात्म सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण से स्वसंवेदन ज्ञान से संवेद्य, गम्य, प्राप्त करने योग्य, भरित (परिपूर्ण) अवस्था वाला हूँ। मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रिय विषय व्यापार, मन वचन काय व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म, ख्याति, पूजा, लाभ, दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगाकांक्षा रूप निदान, माया-मिथ्या-शल्यत्रय आदि सर्व विभाव परिणामों से मैं रहित हूँ, अर्थात् मैं सर्व विभाव परिणामों से शून्य हूँ। तीन लोक तीन काल में भी मन वचन काया से और कृत कारित अनुमोदना से शुद्ध निश्चयनय से मैं और सभी जीव इसी तरह शुद्ध हैं – ऐसी भावना करना चाहिए॥२८३-२८५॥

अध:कर्माद्या: पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषा:।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम्।।२८६।।
अध:कर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम्।।२८७।।

यथाध:कर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तिकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाध:कर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽध:कर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे।एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभाव:।।२८६-२८७।।

अब द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता का उदाहरण देते हैं :–

हैं अध:कर्मादिक जु पुदगलद्रव्य के ही दोष ये।
कैसे करे 'ज्ञानी' सदा परद्रव्य के जो गुणहि हैं ?।।२८६।।

उद्देशि त्यों ही अध:कर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
कैसे हि मुझ कृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसहि को।।२८७।।

गाथार्थ :– [**अध:कर्माद्या ये इमे**] अध:कर्म आदि जो यह [**पुद्गलद्रव्यस्य दोषा:**] पुद्गलद्रव्य के दोष हैं (उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा करता नहीं है;) [**तान्**] उनको [**ज्ञानी**] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [**कथं करोति**] कैसे करे ? [**ये तु**] कि जो [**नित्यम्**] सदा [**परद्रव्यगुणा:**] परद्रव्य के गुण हैं।

इसलिए [**अध:कर्म उद्देशिकं च**] अध:कर्म और उद्देशिक [**इदं**] ऐसा यह [**पुद्गलमयम् द्रव्यं**] पुद्गलमय द्रव्य है (जो मेरा किया नहीं होता;) [**तत्**] वह [**मम कृतं**] मेरा किया [**कथं भवति**] कैसे हो [**यत्**] कि जो [**नित्यम्**] सदा [**अचेतनम् उक्तम्**] अचेतन कहा गया है ?

टीका :– जैसे अध:कर्म से उत्पन्न और उद्देश से उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (मुनि) नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव को नहीं त्यागता। और ''अध:कर्म आदि पुद्गलद्रव्य के दोषों को आत्मा वास्तव में नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्य के परिणाम हैं इसलिये उन्हें आत्मा के कार्यत्व का अभाव है; इसलिए अध:कर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिए उसको मेरे कार्यत्व का अभाव है;'' – इसप्रकार तत्त्वज्ञान पूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (मुनि) जैसे नैमित्तिकभूत बन्धसाधक भाव का प्रत्याख्यान करता है, उसीप्रकार समस्त परद्रव्य का प्रत्याख्यान करता

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकाम: समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ।।१७८।।

हुआ (त्याग करता हुआ) आत्मा उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान करता है। इसप्रकार द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकता है।

भावार्थ :– यहाँ अधःकर्म और उद्देशिक आहार के दृष्टान्त से द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता दृढ़ की है। जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न हो उसे अधःकर्म कहते हैं, तथा उस आहार को भी अधःकर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवाले के निमित्त से ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अधःकर्म और उद्देशिक) आहार का जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्वज्ञान पूर्वक उस आहार का प्रत्याख्यान किया है उसने उसके निमित्त से होनेवाले भाव का प्रत्याख्यान किया है। इसप्रकार समस्त द्रव्य और भाव को निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिए। जो परद्रव्य को ग्रहण करता है उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिए कर्म का बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है तब उसे कुछ ग्रहण करने का राग नहीं होता, इसलिए रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और इसलिए आगामी बन्ध भी नहीं होता। (इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्य का कर्ता नहीं है) ।।२८६-२८७।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें परद्रव्य के त्यागने का उपदेश है :–

श्लोकार्थ :– [**इति**] इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता को) [**आलोच्य**] विचार करके, [**तद्-मूलां-इमाम् बहुभावसन्ततिम् समम् उद्धर्तुकाम:**] परद्रव्यमूलक बहुभावों की सन्तति को एक ही साथ उखाड़ फैंकने का इच्छुक पुरुष, [**तत् किल समग्रं परद्रव्यं बलात् विवेच्य**] उस समस्त परद्रव्य को बलपूर्वक (उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (त्याग करके), [**निर्भरवहत्-पूर्ण-एक-संविद्-युतं आत्मानं**] अतिशयता से बहते हुए (धारावाही) पूर्ण एक संवेदन से युक्त अपने आत्मा को [**समुपैति**] प्राप्त करता है, [**येन**] कि जिससे [**उन्मूलितबन्ध: एष: भगवान् आत्मा**] जिसने कर्मबन्धन को मूल से ही उखाड़ फेंका है ऐसा यह भगवान आत्मा [**आत्मनि**] अपने में ही (आत्मा में ही) [**स्फूर्जति**] स्फुरायमान होता है।

भावार्थ :– जब परद्रव्य की और अपने भाव की निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त पर द्रव्यों को भिन्न करने में – त्यागने में आते हैं तब समस्त रागादिभावों की सन्तति कट जाती है और तब आत्मा

(मन्दाक्रान्ता)

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति।।१७९।।

इति बंधो निष्क्रांतः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंधप्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः।

अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बन्धन को काटकर अपने में ही प्रकाशित होता है। इसलिए जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें।।१७८।।

अब बन्ध अधिकार को पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगल के रूप में ज्ञान की महिमा के अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[कारणानां रागादीनाम् उदयं]** बन्ध के कारणरूप रागादि के उदय को **[अदयम्]** निर्दयता पूर्वक (उग्र पुरुषार्थ से) **[दारयत्]** विदारण करती हुई, **[कार्यं विविधम् बन्धं]** उस रागादि के कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेकप्रकार के बन्ध को **[अधुना]** अब **[सद्यः एव]** तत्काल ही **[प्रणुद्य]** दूर करके **[एतत् ज्ञानज्योतिः]** यह ज्ञानज्योति **[क्षपिततिमिरं]** कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है वह **[साधु]** भलीभाँति **[सन्नद्धम्]** सज्ज हुई, **[तद्-वत् यद्-वत्]** ऐसी सज्ज हुई कि **[अस्य प्रसरम् अपरः कः अपि न आवृणोति]** उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।

भावार्थ :– जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य जो बन्ध वह भी नहीं रहता, तब फिर उस ज्ञान को आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है।।१७९।।

टीका :– इसप्रकार बन्ध (रंगभूमि से) बाहर निकल गया।

भावार्थ :– रंगभूमि में बन्ध के स्वांग ने प्रवेश किया था। जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बंध स्वांग को अलग करके बाहर निकल गया।

(सवैया)

जो नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बन्धन बाढै;
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहिं बँधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काटै।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित आत्मख्याति नामक टीका में बन्ध का प्ररूपक सातवाँ अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथाहारविषये सरसविरसमानापमानादिचिंतारूपरागद्वेषकारणाभावादाहारग्रहणकृतो ज्ञानिनां बंधो नास्ति, इति कथयति – स्वयं पाकेनोत्पन्न आहार अध:कर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृति व्याख्यानं करोति– अध:कर्माद्या ये इमे दोषा:, कथंभूता: ? शुद्धात्मन: सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणा:। पुनरपि कथं-भूता:? तस्यैवाहारपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपा:। तान्निश्चयेन कथं करोति ज्ञानीति प्रथमगाथार्थ:।

ता.अतिरिक्त गाथा २५ – आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा॥

अनुमोदयति वा कथमिति द्वितीयगाथार्थ:। परेण गृहस्थेन क्रियमाणान्, न कथमपि। कस्मात् ? निर्विकल्पसमाधौ सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात्। इत्यध:कर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥२५॥

ता.अतिरिक्त गाथा २६ – आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते तेनौपदेशिकेन सह तदेवाध:कर्म पुनरपि गाथाद्वयेन कथ्यते – यदिदमाहारकपुद्गलद्रव्यमध:कर्मरूपमौपदेशिकं च चेतनशुद्धात्मद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवाचेतनं भणितं तत्कथं मया कृतं भवति कारितं वा कथं भवति ? न कथमपि।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आहार ग्रहण के विषय में सरस-विरस, मान-अपमान आदि चिन्तारूप राग-द्वेष के कारण का अभाव होने से आहार ग्रहण कृत बन्ध ज्ञानियों के नहीं होता है – ऐसा कहते हैं। स्वयं बनाने से उत्पन्न हुआ आहार 'अध:कर्म' शब्द से कहा जाता है, उस सम्बन्धी व्याख्यान करते हैं– अध:कर्म आदि जो ये दोष हैं। कैसे हैं वे दोष ? शुद्धात्मा से भिन्न तथा पर से अभिन्न आहार रूप पुद्गल द्रव्य के गुण हैं और फिर कैसे हैं वे दोष ? उस ही आहार रूप पुद्गल की पचन-पाचन आदि क्रिया रूप होते हैं, इसलिए निश्चय से ज्ञानी उन्हें कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है। यह प्रथम गाथा का अर्थ हुआ ॥२८६॥

अतिरिक्त गाथा २५ का हिन्दी – अब, आहार ग्रहण के विषय में सरस-नीरस, मान-अपमान आदि चिन्ता रूप राग-द्वेष के कारण का अभाव होने से आहार ग्रहण कृत बन्ध ज्ञानी के नहीं होता है – ऐसा कहते हैं।

गाथार्थ – (**आधाकम्मादीया**) अध:कर्म आदि (**पुग्गलदव्वस्स**) पुद्गल द्रव्य के (**जे इमे दोसा**) जो ये दोष हैं, वे (**अण्णेण कीरमाणा**) दूसरे के द्वारा किए हुए (**परस्स गुणा**) दूसरे के गुण हैं, तो ज्ञानी उनकी (**कहमणुमण्णदि**) अनुमोदना कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है।

टीका – (वह ज्ञानी अध:कर्मादि दोषों की) अनुमोदना भी कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता, इसप्रकार द्वितीय गाथा का अर्थ है । दूसरे गृहस्थ द्वारा किए गए अध:कर्मादि दोषों की अनुमोदना ज्ञानी किसी भी तरह से नहीं कर सकता है। किसकारण से नहीं कर सकता है ? क्योंकि निर्विकल्प समाधि होने पर अर्थात् शुद्धोपयोग के काल में उसके आहार सम्बन्धी मन, वचन और काया तथा कृत, कारित

कस्मात् हेतोः ? निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात्। इत्यौपदेशिक-व्याख्यानमुख्यत्वेन च गाथाद्वयं गतम्। अयमत्राभिप्रायः पश्चात्पूर्वसंप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकायकृत-कारितानुमतरूपैर्नवभिर्विकल्पैः शुद्धास्तेषां परकृताहारादिविषये बंधो नास्ति। **यदि पुनः परकीयपरिणामेन बंधो भवति तर्हि क्वापिकाले निर्वाणं नास्ति।** तथा चोक्तं –

णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छा पुरदो य संपदियकाले।
परसुहदुक्खणिमित्तं बज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं॥

एवं ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बंधो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थलं गतम्॥२६॥

और अनुमोदना का अभाव होता है। इसप्रकार अधःकर्म का व्याख्यान करनेवाली दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥२३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – आहार ग्रहण से पहले उस पात्र के निमित्त जो कुछ भी भोजन-पान आदि सम्पन्न किया जाता है, उसे औद्देशिक (औपदेशिक) कहा जाता है, उस (औपदेशिक) औद्देशिक दोष के साथ वही अधःकर्म दोष दो गाथाओं[१] द्वारा पुनः कहा जाता है।

अतिरिक्त गाथा २६ का हिन्दी – (**इमं**) यह (**आधाकम्मं च उद्देसियं**) अधःकर्म तथा औद्देशिक (**पोग्गलमयं दव्वं**) पुद्गलमय द्रव्य है। (**जं**) जो (**णिच्चं**) सदा ही (**अचेतनं वुत्तं**) अचेतन कहा गया है। (**तं**) वह (**मम**) मेरे द्वारा (**कारविदं**) कराया गया (**कह**) कैसे हो सकता है ?

तात्पर्यवृत्ति टीका – जो अधःकर्मरूप और औद्देशिकरूप आहार वह पुद्गलद्रव्य है और चेतन – शुद्धात्म द्रव्य से पृथक्त्व होने से नित्य ही अचेतन कहा गया है, वह मेरे द्वारा किया अथवा कराया गया कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। किस कारण से ? निश्चय रत्नत्रय लक्षणरूप भेदज्ञान होने पर आहार के विषय में मन, वचन, काया तथा कृत, कारित व अनुमोदना का अभाव होने से । इसप्रकार औपदेशिक (औद्देशिक) व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं। यहाँ यह अभिप्राय है कि भविष्य में, भूतकाल में अथवा वर्तमान काल में योग्य आहार के विषय में मन-वचन-काया, कृत कारित अनुमोदना रूप नौ विकल्पों से (रहित होने से) शुद्ध है, उन सम्यग्ज्ञानी जीवों को परकृत आहार आदि के विषय में बन्ध नहीं होता है और यदि परकीय परिणाम से बंध होता हो तो किसी भी काल में निर्वाण नहीं हो सकता है। कहा भी है –

अर्थ – पूर्व, वर्तमान और भविष्य काल में मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना रूप नवकोटि से जो शुद्ध है, ऐसा जीव यदि दूसरों के सुख-दुःख को निमित्त करके कर्मों से बँधता है, तो फिर किसी को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है।

इसप्रकार ज्ञानियों को आहार ग्रहण करते हुए भी बन्ध नहीं है। इस कथन की मुख्यता से चार गाथासूत्रों द्वारा छठवाँ स्थल समाप्त हुआ॥२६॥

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत, शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली, तात्पर्यवृत्ति नामक समयसार व्याख्या में

---

१. गाथा २८७ तथा अतिरिक्त गाथा २६ इन दो गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका संयुक्तरूप से पाई जाती है।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** पूर्वोक्तक्रमेण **जह णाम को वि पुरसो** इत्यादि मिथ्यादृष्टिसद्दृष्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकं। निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन **रागादिविकल्प एव हिंसेति** कथनरूपेण सूत्रषट्कं, अव्रतव्रतानि पापपुण्यबंधकारणानीत्यादि कथनेन गाथापंचदश, **निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य** इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिण्डशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं, निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टभिरंतराधिकारैः अष्टमो बंधाधिकारः समाप्तः।

पूर्वोक्त क्रम से **जह णाम को वि पुरिसो** इत्यादि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि का कथन करनेवाली दस गाथाएँ, निश्चय हिंसा का कथन करनेवाली सात गाथाएँ, निश्चय से रागादि विकल्प ही हिंसा है – ऐसा कथन करनेवाली छह गाथाएँ, व्रत-अव्रत, पुण्य-पाप बन्ध के कारण हैं इत्यादि कथन करनेवाली पन्द्रह गाथाएँ, निश्चयनय में स्थित रहकर व्यवहार त्याज्य है, इस कथन की मुख्यता से छह गाथाएँ, पिण्ड शुद्धि की मुख्यता से चार गाथाएँ, निश्चयनय से रागादि कर्मोदय जनित हैं, इस कथन की मुख्यता से पाँच गाथाएँ और निश्चयनय से अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान बन्ध के कारण हैं, यह कथन करनेवाली तीन गाथाएँ हैं।

इस तरह ५६ गाथाओं के समुदाय में आठ अंतराधिकारों के द्वारा आठवाँ बन्ध अधिकार पूर्ण हुआ।

कर्मजाल वर्गना सौं जग में न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय जौग सौं।
चेतन-अचेतन की हिंसा सौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष रोग सौं॥
कर्म सौं अबंध सिद्ध, जोग सौं अबंध जिन,
हिंसा सौं अबंध साधु ज्ञाता विषै-भोग सौं।
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि अशुद्ध उपयोग सौं॥

समयसार नाटक, पृष्ठ १७४, छन्द ४

कुल कौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पण्डित धरम कहै वस्तु के स्वभाव कौं।
खेह कौ खजानौं ताहि अज्ञानी अरथ कहै,
ज्ञानी कहै अरथ दरब-दरसाउ कौं॥
दम्पत्ति कौ भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित्त चाउ कौं।
इन्द्रलोक थान कौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहैं एक बंध के अभाउ कौं॥

समयसार नाटक, पृष्ठ १८१, छन्द १४

८

मोक्ष-अधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥१८०॥

(दोहा)

कर्मबन्ध सब काटि के, पहुँचे मोक्ष सुथान।
नमूँ सिद्ध परमात्मा, करूँ ध्यान अमलान॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि ''अब मोक्ष प्रवेश करता है।''

जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है। वहाँ ज्ञान सर्व स्वाँग ज्ञाता है, इसलिए अधिकार के प्रारम्भ में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमा के रूप में मंगलाचरण कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इदानीम्**] अब (बन्ध पदार्थ के पश्चात्), [**प्रज्ञा-क्रकच-दलनात् बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य**] प्रज्ञारूपी करवत से विदारण द्वारा बन्ध और पुरुष को द्विधा (भिन्न-भिन्न दो) करके, [**पुरुषम् उपलम्भ-एक-नियतम्**] पुरुष को – कि जो पुरुष मात्र [१]अनुभूति के द्वारा ही निश्चित है, उसे [**साक्षात् मोक्षं नयम्**] साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ [**पूर्णं ज्ञानं विजयते**] पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है। वह ज्ञान [**उन्मज्जत्-सहज-परम-आनन्द-सरसं**] प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द के द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, [**परं**] उत्कृष्ट है और [**कृत-सकल-कृत्यं**] जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।

भावार्थ :– ज्ञान बन्ध और पुरुष को पृथक् करके, पुरुष को मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवन्त प्रवर्तता है। इसप्रकार ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का कथन ही मंगलवचन है॥१८०॥

---

१. जितना स्वरूप-अनुभवन है इतना ही आत्मा है।

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकाल-पडिबद्धो।
तिव्वं मंद-सहावं कालं च वियाणदे तस्स ॥२८८॥
जदि णवि कुणदिच्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधण-वसो सं[1]।
कालेण दु बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं ॥२८९॥
इय कम्म-बंधणाणं पदेस-ठिदि-पयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो[2] ॥२९०॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः।
तीव्र मंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥२८८॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन्।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२८९॥
इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम्।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥२९०॥

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके, तदसत्; न कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रवत्। एतेन कर्मबन्धप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते ॥२८८-२९०॥

अब, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि जो जीव बंध का छेद नहीं करता, किन्तु मात्र बन्ध के स्वरूप को जानने से ही सन्तुष्ट है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता—

ज्यों पुरुष कोई बन्धनों, प्रतिबद्ध है चिरकाल का।
वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंध का ॥२८८॥

पर जो करे नहिं छेद तो छूटे न, बन्धनवश रहे।
अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने ॥२८९॥

त्यों कर्म बन्धन के प्रकृति प्रदेश, स्थिति, अनुभाग को।
जाने भले छूटे न जीव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो ॥२९०॥

गाथार्थ :– [**यथा नाम**] जैसे [**बन्धनके**] बन्धन में [**चिरकालप्रतिबद्धः**] बहुत समय से बँधा हुआ [**कश्चित् पुरुषः**] कोई पुरुष [**तस्य**] उस बन्धन के [**तीव्रमंदस्वभावं**] तीव्र-मंद स्वभाव को [**कालं च**] और काल को (अर्थात् यह बन्धन इतने काल से है इसप्रकार) [**विजानाति**] जानता है, [**यदि**] किन्तु यदि [**न अपि छेदं करोति**] उस बन्धन को स्वयं नहीं काटता [**तेन न मुच्यते**] तो वह उससे

---

१. पाठान्तर = जइ णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चये तेण कम्मबंधेण २. मुच्चदि सव्वे जदि विसुद्धो, मुच्चदि सव्वे जदि स बंधे

समुदायपातनिका – तत्रैवं सति पात्रस्थानीयशुद्धात्मनः सकाशात्पृथग्भूत्वा शृंगारस्थानीयबंधो निष्क्रांतः। अथ **प्रविशति मोक्षः। जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्यन्तं मोक्षपदार्थव्याख्यानं करोति। तत्रादौ मोक्षपदार्थस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तकं, तदनंतरं मोक्षकारणभूतभेदविज्ञान-संक्षेपसूचनार्थम् **बंधाणं च सहावं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं, अतः परं तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थम् **'पण्णाए घेत्तव्वो'** इत्यादि सूत्रपंचकं, तदनंतरं वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिकं विषकुंभः सरागचारित्रस्यामृतकुंभ इति युक्तिसूचनमुख्यत्वेन **तेयादी अवराहे** इत्यादि सूत्रषट्कं कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभिः स्थलचतुष्टये मोक्षाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा –

मुक्त नहीं होता **[तु]** और **[बन्धनवशः सन्]** बन्धनवश रहता हुआ **[बहुकेन अपि कालेन]** बहुत काल में भी **[सः नरः]** वह पुरुष **[विमोक्षम् न प्राप्नोति]** बन्धन से छूटने रूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता; **[इति]** इसीप्रकार जीव **[कर्मबन्धनानां]** कर्म-बन्धनों के **[प्रदेशस्थितिप्रकृतिम् एवम् अनुभागम्]** प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभाग को **[जानन् अपि]** जानता हुआ भी **[न मुच्यते]** (कर्मबन्ध से) नहीं छूटता, **[च यदि सः एव शुद्धः]** किन्तु यदि वह स्वयं (रागादि को दूर करके) शुद्ध होता है **[मुच्यते]** तभी छूटता है – मुक्त होता है।

टीका :– आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (अर्थात् आत्मा और बन्ध को अलग-अलग कर देना) सो मोक्ष है। कितने ही लोग कहते हैं कि 'बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण है '(अर्थात् बंध के स्वरूप को जानने मात्र से ही मोक्ष होता है), किन्तु यह असत् है; कर्म से बँधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेडी आदि से बँधे हुए (जीव) को बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए (जीव) को कर्मबन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस कथन से उनका उत्थापन (खण्डन) किया गया है, जो कर्मबन्ध प्रपंच (विस्तार) रचना के परिज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हो रहे हैं।'

भावार्थ :– कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बन्ध के स्वरूप को जान लेने से ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इस कथन से निराकरण कर दिया गया है। जानने मात्र से ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटने से कटता है॥२८८-२९०॥

....

समूहपीठिका – वहाँ ऐसा होने पर पात्रस्थानीय शुद्धात्मा से भिन्न होकर शृङ्गार स्थानीय बन्ध निष्क्रान्त हो (निकल) गया। अब मोक्ष प्रवेश करता है **'जह णाम को वि पुरिसो'** इत्यादि गाथा से प्रारम्भ करके यथाक्रम से २२ गाथाओं पर्यन्त मोक्षपदार्थ का व्याख्यान करते हैं। वहाँ प्रथम मोक्षपदार्थ के संक्षेप व्याख्यान रूप से सात गाथायें हैं, उसके बाद मोक्ष के कारणभूत भेदविज्ञान की संक्षेप सूचना के लिए **'बंधाणं च सहावं'** इत्यादि चार गाथासूत्र हैं। इसके पश्चात् उस ही भेदज्ञान के विशेष विवरण के लिए **'पण्णाए घेतव्वो'** इत्यादि पाँच गाथासूत्र हैं, उसके बाद वीतराग चारित्रवाले के द्रव्यप्रतिक्रमणादि विषकुम्भ तथा सरागचारित्र वाले के अमृतकुम्भ हैं ऐसी युक्ति के कथन की मुख्यता से **'तेयादी अवराहे'** इत्यादि छह गाथासूत्र कहते हैं – इसप्रकार

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं।।२९१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – विशिष्टभेदज्ञानावष्टंभेन बंधात्मनो पृथक्करणं मोक्ष इति प्रतिपादयति – **जह णाम** इत्यादि। यथा कश्चित्पुरुष: बंधने चिरकालबद्धस्तिष्ठति तस्य बंधस्य तीव्रमंदस्वभावं जानाति दिवसमासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता। जानन्नपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबंधविशेषेणामुच्यमान: सन् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टांतो गत:। अथ **इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं जाणंतो वि ण मुंचदि** एवं ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नकर्मबंधनानां प्रदेशं, प्रकृतिं, स्थितिं, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुच्यते। **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** यदा मिथ्यात्वरागादिरहितो भवति तदाऽनंतज्ञानादिगुणात्मक-परमात्मस्वरूपे स्थित: सर्वान्कर्मबंधान् मुंचति। अथवा पाठांतरं **मुंचदि सव्वे जदि स बंधे** मुच्यते कर्मणा यदि किं, छिज्जदि छिनत्ति। कान् ? सर्व बंधान् । अनेन व्याख्यानेन ये प्रकृत्यादिबंधपरिज्ञानमात्रेण संतुष्टास्ते प्रतिबोध्यंते। कथं? इति चेत्, बंधपरिज्ञानमात्रेण **स्वरूपोपलब्धिरूपवीतरागचारित्ररहितानां** स्वर्गादिसुखनिमित्तभूत: पुण्यबंधो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टांतगाथा गता। एतेन व्याख्यानेन कर्मबंधप्रपंचरचनाविषये चिंतामात्रपरिज्ञानेन संतुष्टा निराक्रियंते।।२८८-२९०।।

---

२२ गाथाओं द्वारा चार स्थलों में मोक्षाधिकार में समुदाय पातनिका (पीठिका) है। वह इसप्रकार है –

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – विशिष्ट भेदज्ञान के अवलम्बन से बन्ध और आत्मा का पृथक्करण मोक्ष है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं– जिसप्रकार कोई पुरुष बन्धन में बहुत समय से बद्ध है और उस बन्धन के तीव्रमन्द स्वभाव को जानता है और दिन, महिना आदि काल को जानता है, इसप्रकार प्रथम गाथा हुई। जानता हुआ भी यदि (वह जीव) बन्ध का छेद नहीं करता है तो वह कर्म के बन्ध से विशेष रूप से नहीं छूटता हुआ पुरुष बहुत काल में भी मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है, इसप्रकार दो गाथाओं द्वारा दृष्टान्त समाप्त हुआ।

अब **इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं जाणंतो वि ण मुंचदि** इसप्रकार ज्ञानावरणादि मूल उत्तर प्रकृतियों के भेदवाले कर्म बन्धनों के प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग को जानता हुआ भी (वह) कर्मों से नहीं छूटता है। **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** जब मिथ्यात्व, रागादि से रहित होता है, तब अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप परमात्म स्वभाव में स्थित होता है, और सर्व कर्म बन्धनों से मुक्त होता है। अथवा पाठान्तर इसप्रकार है **मुंचदि सव्वे जदि स बंधे** यदि कर्मों से छूटता है तो क्या करता है ? **छिज्जदि** छेदता है। किसको छेदता है ? सभी कर्मबन्धनों को छेदता है। इस व्याख्यान से जो प्रकृति आदि बन्ध के परिज्ञान मात्र से सन्तुष्ट हैं, उन्हें समझाया जाता है। किसप्रकार ? बन्ध के परिज्ञान मात्र से, स्वरूप की उपलब्धिरूप वीतरागचारित्र रहित जीवों के स्वर्गादि सुख का निमित्त रूप पुण्यबन्ध होता है, परन्तु मोक्ष नहीं होता है। इसप्रकार दार्ष्टान्त गाथा पूर्ण हुई। इस व्याख्यान से कर्मबन्ध के प्रपंच की रचना के विषय में चिन्तन मात्र परिज्ञान से जो सन्तुष्ट हैं, उनका निराकरण किया जाता है।।२८८-२९०।।

....

अब यह कहते हैं कि बन्ध का विचार करते रहने से भी बंध नहीं कटता :–

जो बंधनों से बद्ध वो नहिं बन्ध चिंता से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्ध की चिंता करे से नहिं छुटे।।२९१।।

यथा बन्धांश्चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम्॥२९१॥

बंधचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये,तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतु:, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धवत्। एतेन कर्मबन्धविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते॥२९१॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं यथा कश्चित्पुरुषो बंधनबद्धो बंधं चिंतयमानो मोक्षं न लभते। **तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं** तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधांश्चिंतयमान: स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणं मोक्षं न लभते। किंच, समस्तशुभाशुभबहिर्द्रव्यालंबन-रहितचिदानन्दैकशुद्धात्मावलंबनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यान रहितो जीव: बंधप्रपंचरचनाचिंतारूपसरागधर्मध्यान-शुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारणपुण्यबंधं लभते न च मोक्षमिति भावार्थ:॥२९१॥

गाथार्थ :– [यथा] जैसे **[बन्धनबद्ध:]** बन्धनों से बँधा हुआ पुरुष **[बंधान् चिंतयन]** बन्धों का विचार करने से **[विमोक्षम् न प्राप्नोति]** मुक्ति को प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बन्ध से नही छूटता), **[तथा]** इसीप्रकार **[जीव: अपि]** जीव भी **[बंधान् चिंतयन्]** बन्धनों का विचार करने से **[विमोक्षम् न प्राप्नोति]** मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

टीका :– अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बंध सम्बन्धी विचार-शृङ्खला मोक्ष का कारण है' किन्तु यह भी असत् है; कर्म से बँधे हुए (जीव) को बंध सम्बन्धी विचार की शृङ्खला मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बँधे हुए (पुरुष) को उस बंध सम्बन्धी विचार-शृङ्खला (विचार की परम्परा) बन्ध से छूटने का कारण नहीं है। उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए (पुरुष) की कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार-श्रृङ्खला कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस (कथन) से कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार-श्रृङ्खलात्मक विशुद्ध (शुभ) धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है।

भावार्थ :– कर्मबन्ध की चिन्ता में मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता। यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है। जो केवल (मात्र) शुभपरिणाम से ही मोक्ष मानते हैं उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि शुभपरिणाम से मोक्ष नहीं होता॥२९१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं जिसप्रकार बन्धनबद्ध कोई पुरुष बन्धन का चिन्तन करता हुआ मोक्ष नहीं पाता है। **तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं** उसी प्रकार जीव भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध का चिन्तन करता हुआ निजशुद्धात्मा की प्राप्तिस्वरूप मोक्ष को नहीं पाता है। इसका कुछ विशेष कहते हैं – समस्त शुभ-अशुभ बाह्यद्रव्य के अवलम्बन से रहित, चिदानन्द एक शुद्धात्मा के अवलम्बन स्वरूप वीतराग धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान रहित जीव बन्ध प्रपःा रचना के चिन्तन रूप सराग धर्मध्यानरूप शुभोपयोग से स्वर्गादि सुख के कारणरूप पुण्यबन्ध को प्राप्त करता है, परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है – ऐसा भावार्थ है॥२९१॥

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत् –

जह बंधे छेत्तूण[1] य बंधण-बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं।।२९२।।

यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम्।।२९२।।

कर्मबद्धस्य बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धच्छेदवत्। एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्येते।।२९२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति – **जह बंधे छेत्तूण[1] य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं** यथा बंधनबद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबंधं शृंखलाबंधं काष्ठनिगलबंधं वा कमपि बंधं छित्वा कमपि भित्वा कमपि मुक्त्वा **स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्षं प्राप्नोति।** तथा जीवोऽपि **वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानायुधेन** बंधं छित्वा द्विधा कृत्वा, भित्वा विदार्य, मुक्त्वा छोटयित्वा च **निजशुद्धात्मोपलंभस्वरूपं मोक्षं प्राप्नोतीति।** अत्राह शिष्यः – प्राभृतग्रंथे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तन्न घटते। कस्मात् ? इति चेत्, तदुच्यते – सत्तावलोकनरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पं भण्यते, परंतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति। जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येवं न किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति। तत्र परिहारः – कथंचित्सविकल्पमपि च कथंचिन्निर्विकल्पं च। तद्यथा – यथा विषयानंदरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि

(यदि बंध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी मोक्ष नहीं होता और बन्ध के विचार करने से भी मोक्ष नहीं होता) तब फिर मोक्ष का कारण क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्ष का उपाय बताते हैं :–

जो बन्धनों से बद्ध वो नर बन्धछेदन से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्धनों का छेद कर मुक्ति वरे।।२९२।।

गाथार्थ :– [**यथा च**] जैसे [**बन्धनबद्धः तु**] बंधन-बद्ध पुरुष [**बंधान् छित्वा**] बन्धनों को छेद कर [**विमोक्षम् प्राप्नोति**] मुक्ति को प्राप्त है, [**तथा च**] इसीप्रकार [**जीवः**] जीव [**बंधान् छित्वा**] बन्धों को छेदकर [**विमोक्षम् संप्राप्नोति**] मोक्ष को प्राप्त करता है।

टीका :– कर्म से बँधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बद्ध को बन्ध का छेद बन्ध से छूटने का कारण है; उसीप्रकार कर्म से बँधे हुए को कर्मबन्ध का छेद कर्मबन्ध से छूटने का कारण है। इस (कथन) से पूर्वकथित दोनों को (जो बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हैं तथा जो बन्ध का विचार किया करते हैं उनको) आत्मा और बन्ध के द्विधाकरण में व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है – उद्यम कराया जाता है)।।२९२।।

---

१. पाठान्तर = मुत्तूण, भेत्तूण (गाथा २९२ के समान ही तात्पर्यवृत्ति में दो गाथाएँ और पाई जाती हैं, जिनमें मात्र 'छेत्तूण' की जगह मुत्तूण, भेत्तूण शब्द पाये जाते हैं।)

शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारांतर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पा अपि संति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धं इदं निर्विकल्पसविकल्पस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं **यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृतः।** एवं मोक्षपदार्थसंक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतम्॥२९२॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – तो फिर मोक्ष का कारण कौन है ? ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते हैं – जिसप्रकार बन्धनबद्ध कोई पुरुष रस्सी के बन्धन को, साँकल के बन्धन को अथवा काष्ठ की बेड़ी के बन्धन को अर्थात् किसी भी प्रकार के बन्धन को, किसी को छेदकर, किसी को भेदकर, किसी को छोड़कर अपने विशेष ज्ञान तथा पुरुषार्थ के बल से मोक्ष को प्राप्त करता है अर्थात् उस बंधन से मुक्त हो जाता है। उसी प्रकार जीव भी वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप शस्त्र से बन्ध को छेदकर द्विधाकर अर्थात् पृथक् कर, भेदकर – विदारण कर और मुक्त होकर (उससे) छूटकर निजशुद्धात्मा की उपलब्धि स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि प्राभृतग्रंथ में जो निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कहा गया है, वह घटित नहीं होता ? किस कारण से (घटित नहीं होता) ऐसा पूछने पर उसे कहते हैं – सत्ता अवलोकन रूप चक्षु आदि दर्शन को जिसप्रकार जैनमत में निर्विकल्प कहा गया है, उसी प्रकार बौद्धमत में ज्ञान को निर्विकल्प कहा जाता है; परन्तु वह निर्विकल्प ज्ञान भी विकल्प का जनक होता है। (जबकि) जैनमत में वह ज्ञान विकल्प का उत्पादक नहीं है, किन्तु स्वरूप से ही ज्ञान सविकल्प है, और उसी प्रकार (स्वरूप से ही ज्ञान) स्व-पर प्रकाशक है। उसका निराकरण या समाधान यह है कि (जैनमत में) ज्ञान को कथंचित् विकल्प रूप तथा कथंचित् निर्विकल्प रूप कहा है।

उसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है – जिसप्रकार विषयानन्द रूप सराग स्वसंवेदन ज्ञान सराग संवित्ति विकल्परूप से सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी उनकी मुख्यता नहीं है, इसकारण से (उस विषयानन्दरूप स्वसंवेदन ज्ञान को) निर्विकल्प भी कहा जाता है। उसी प्रकार निज शुद्धात्म संवित्तिरूप – स्वानुभूतिरूप वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान भी स्वसंवित्ति आकाररूप एक विकल्प से (एक दृष्टि से) सविकल्प भी है। वहाँ बाह्य विषयों के अनिच्छित सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव होने पर भी उनकी मुख्यता नहीं है। इस कारण से (स्वशुद्धात्मानुभूति) निर्विकल्प भी कही गई है। और जिसकारण से बुद्धिपूर्वक स्वसंवित्तिरूप आकार का अन्तर्मुख प्रतिभास होने पर भी बाह्य विषयों के अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्मविकल्प भी होते हैं, उसी कारण से ज्ञान स्व-पर प्रकाशक सिद्ध होता है। यह निर्विकल्प तथा सविकल्प ज्ञान का तथा उसीप्रकार ही स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का कथन स्पष्ट सिद्ध है। इसका आगम-अध्यात्म-तर्क-शास्त्र के अनुसार विशेष व्याख्यान किया जावे तो महान विस्तार होता है और वह विस्तार कथन अध्यात्म शास्त्र होने से नहीं किया है। इसप्रकार मोक्षपदार्थ की संक्षेप सूचना के लिए प्रथम स्थल में सात गाथाएँ पूर्ण हुईं॥२९२॥

किमयमेव मोक्षहेतुरिति चेत् –

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि[1] सो कम्म-विमोक्खणं कुणदि॥२९३॥

बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च।
बन्धेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति॥२९३॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय, बन्धेभ्यो विरमति, स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात्। एतेनात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते॥२९३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ किमयमेव मोक्षमार्गः ? इति चेत् – **बंधाणं च सहावं वियाणिदुं** भावबंधानां मिथ्यात्वरागादीनां स्वभावं ज्ञात्वा, कथं ज्ञात्वा? मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीनां च **स्वभावः** पंचेंद्रियविषयेष्विष्टा- निष्टपरिणाम इति। न केवलं बंधस्वभावं ज्ञात्वा। **अप्पणो सहावं च** अनंतज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावं च ज्ञात्वा। **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबंधहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरागादिभावबंधेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते। **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** स कर्मविमोक्षणं करोति॥२९३॥

'मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्ष का कारण क्यों है ?' ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं :–

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करें अहा॥२९३॥

गाथार्थ :– [**बन्धानां स्वभावं च**] बन्धों के स्वभाव को [**आत्मनः स्वभावं च**] और आत्मा के स्वभाव को [**विज्ञाय**] जानकर [**बंधेषु**] बन्धनों के प्रति [**यः**] जो [**विरज्यते**] विरक्त होता है, [**सः**] वह [**कर्मविमोक्षणं करोति**] कर्मों से मुक्त होता है।

टीका :– जो निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मस्वभाव को और उस (आत्मा) के विकार करनेवाले बंध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। इस (कथन) से ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है। (अर्थात् आत्मा और बंध को भिन्न-भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है ऐसा निर्णीत किया जाता है।)॥२९३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब क्या यही मोक्षमार्ग है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं – **बंधाणं च सहावं वियाणिदुं** मिथ्यात्व रागादि रूप भावबन्ध का स्वभाव जानकर, कैसा जानकर? कि हेय तथा उपादेय तत्त्वों के विषय में विपरीताभिनिवेश होना मिथ्यात्व का स्वभाव कहा है और प:ोन्द्रिय के विषयों में इष्ट-अनिष्ट भाव होना रागादि का स्वभाव कहलाता है। न केवल बन्ध के स्वरूप को जानकर, **अप्पणो सहावं च** अपितु अनन्त ज्ञानादिस्वरूप शुद्धात्मा के स्वभाव को जानकर **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबन्ध के कारणभूत, मिथ्यात्व रागादि भावबन्ध में निर्विकल्प समाधि के बल से जो रञ्जायमान नहीं होता है **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** वह कर्म का नाश करता है॥२९३॥

---

१. पाठान्तर = ण रज्जदि

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते इति चेत् –

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियगेहिं।
पण्णा-छेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा ।।२९४।।

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नो ।।२९४।।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तृरात्मनः करणमीमांसायां, निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम्। तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते; ततः प्रज्ञयैवात्मबन्धयो-र्द्विधाकरणम्। ननु कथमात्मबन्धौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्व्य-वह्रियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते ? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तःसंधिसावधान निपातनादिति बुध्येमहि। आत्मनो

'आत्मा और बंध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं ?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं :–

छेदन करो जीव बन्ध का तुम नियत निज-निज चिन्ह से।
प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक हो जाय हैं।।२९४।।

गाथार्थ :– [**जीवः च तथा बंधः**] जीव तथा बंध [**नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां**] नियत स्वलक्षणों से (अपने-अपने निश्चित लक्षणों से) [**छिद्येते**] छेदे जाते हैं; [**प्रज्ञाछेदकेन**] प्रज्ञा रूपी छैनी के द्वारा [**छिन्नौ तु**] छेदे जाने पर [**नानात्वम् आपन्नौ**] वे नानापन को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

टीका :– आत्मा और बंध के द्विधा करनेरूप कार्य में कर्त्ता जो आत्मा उसके करण[१] सम्बन्धी [२]मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चयनय से) अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (छेदने के स्वभाव वाला) करण है। उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्व को प्राप्त होते हैं; इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध का द्विधा किया जाता है (अर्थात् प्रज्ञारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बन्ध जुदे किये जाते हैं।)

(यहाँ प्रश्न होता है कि) आत्मा और बंध जो कि [३]चेत्य-चेतक भाव के द्वारा अत्यन्त निकटता के कारण (एक जैसे) हो रहे हैं और भेदविज्ञान के अभाव के कारण, मानो वे एक चेतक ही हों ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, (अर्थात् जिन्हें एक आत्मा के रूप में व्यवहार में माना जाता है) उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है ?(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं–) आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तःसंधि में (अन्तरंग की संधि में) प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से (डालने से, मारने से) उनको छेदा जा सकता है अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।

१. करण – साधन; करण नाम का कारक, २. मीमांसा – गहरी विचारणा; तपास, समालोचना।
३. आत्मा चेतक है बंध चेत्य है; वे दोनों अज्ञान दशा में एक-से अनुभव में आते हैं।

हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणम्। तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयः, तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्; समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्। बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणरागादयः स्व लक्षणम्। न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां बिभ्राणाः प्रतिभासंते, नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावन्त एव रागादयः प्रतिभान्ति, रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात्। यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव, नैकद्रव्यत्वात्; चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः, प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव, चेतकतामेव प्रथयेत्, न पुना रागादिताम्। एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः, स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव॥२९४॥

आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है (वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है, वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं – इसप्रकार लक्षित करना (लक्षण से पहचानना) चाहिए अर्थात् जिन-जिन गुण पर्यायों में चैतन्य लक्षण व्याप्त होता है वे सब गुण पर्यायें आत्मा हैं; ऐसा जानना चाहिए) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्ष्य है (अर्थात् चैतन्य लक्षण से ही पहिचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से चिन्मात्र ही आत्मा है – ऐसा निश्चय करना चाहिए। इतना आत्मा के स्वलक्षण के सम्बन्ध में है।

(अब बन्ध के स्वलक्षण के सम्बन्ध में कहते हैं :–) बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण ऐसे रागादि हैं। यह रागादिक आत्मद्रव्य के साथ साधारणता धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्य चमत्कार से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं। और जितना चैतन्य आत्मा की समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है उतने ही रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ संभव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों वहाँ भी चैतन्य होता है)। और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है वह चेत्य-चेतक भाव (ज्ञेय-ज्ञायक भाव) की अति-निकटता के कारण ही है, एकद्रव्यत्व के कारण नहीं; जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशकत्व को ही प्रगट करते हैं – घटत्वादि को नहीं, इसप्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादिभाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं – रागादिकत्व को नहीं। ऐसा होने पर भी उन दोनों (आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेद संभावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से (अज्ञानी को) अनादिकाल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है।

भावार्थ :– आत्मा और बन्ध दोनों को लक्षण भेद से पहचान कर बुद्धिरूपी छैनी से छेद कर भिन्न-भिन्न करना चाहिए।

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का स्कंध है, इसलिए छद्मस्थ के ज्ञान में दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते; मात्र एक स्कन्ध ही दिखाई देता है (अर्थात् दोनों एक पिण्डरूप दिखाई देते हैं); इसलिए अनादि अज्ञान है। श्रीगुरुओं का उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न-भिन्न अनुभव करके जानना चाहिए कि चैतन्य तो मात्र आत्मा का लक्षण है और रागादिक बन्ध का लक्षण है, तथापि वे मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव की अति-निकटता से एक जैसे ही दिखाई देते हैं। इसलिए तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी को – जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करने का शस्त्र है उसे – उनकी सूक्ष्मसंधि को ढूंढकर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए। उसके पड़ते ही दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं। और ऐसा होने पर, आत्मा को ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञान-भाव में रखना चाहिए। इसप्रकार दोनों को भिन्न करना चाहिए॥२९४॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इयं शिता प्रज्ञाछैत्री**] यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी [**निपुणैः**] प्रवीण पुरुषों के द्वारा [**कथम् अपि**] किसी भी प्रकार से (यत्नपूर्वक) [**सावधानैः**] सावधानतया (निष्प्रमादतया) [**पातिता**] पटकने पर [**आत्म-कर्म-उभयस्य सूक्ष्मे अन्तःसन्धिबन्धे**] आत्मा और कर्म दोनों के सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि के बन्ध में [**रभसात्**] शीघ्र [**निपतति**] पड़ती है। किसप्रकार पड़ती है ? [**आत्मानम् अन्तःस्थिर-विशद्-लसद्-धाम्नि चैतन्यपूरे मग्नम्**] वह आत्मा को तो जिसका तेज अन्तरंग में स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई [**च**] और [**बन्धम् अज्ञानभावे नियमितम्**] बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल (नियत) करती हुई [**अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती**] इसप्रकार आत्मा और बन्ध को सर्वतः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।

भावार्थ :– यहाँ आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करने रूप कार्य है। उसका कर्ता आत्मा है, वहाँ करण के बिना कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा ? इसलिये करण भी आवश्यक है। निश्चयनय से कर्ता से करण भिन्न नहीं होता; इसलिए आत्मा से अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्य में करण है। आत्मा के अनादि बन्ध ज्ञानावरणादि कर्म है, उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक हैं तथा नोकर्म शरीरादिक हैं। इसलिए बुद्धि के द्वारा आत्मा को शरीर से, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवी ज्ञान में ही लीन रखना, सो यही (आत्मा और बंध को) दूर करना है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है और सिद्धपद की प्राप्ति होती है – ऐसा जानना चाहिए॥१८१॥

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत् –

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियगेहिं।
बंधो छेदे-दव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो॥२९५॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
बन्धश्छेत्तव्य: शुद्ध आत्मा च गृहीतव्य:॥२९५॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ; ततो रागादिलक्षण: समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्य:, उपयोगलक्षण: शुद्ध आत्मैव गृहीतव्य:। एतदेव किलात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानम्॥२९५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ केन कृत्वात्मबंधो द्विधा भवति ? इति चेत् – **जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** यथा जीवस्तथा बंधश्चैतौ द्वौ छिद्येते पृथक् क्रियते, काभ्यां कृत्वा ? स्वलक्षणरूपाभ्यां निजकाभ्यां **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञाछेदैनैकलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नौ संतौ नानात्वमापन्नौ इति। तथाहि – **जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं भण्यते, बंधस्य लक्षणं मिथ्यात्वरागादिकं,** ताभ्यां पृथक् कृतौ। केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदकेन, **शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञैव** छेत्र्येव छुरिका तया एवेत्यर्थ:। छिन्नौ संतौ नानात्वमापन्नौ॥२९४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब आत्मा और बन्ध कैसे भिन्न होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं– **जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** जिसप्रकार जीव उसीप्रकार बन्ध ये दोनों छेदे जाते हैं या पृथक् किये जाते हैं। किसके द्वारा (पृथक् किये जाते हैं ?) अपने-अपने लक्षणों के द्वारा (पृथक् किये जाते हैं।) **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञारूपी छैनी है एक लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान द्वारा छिन्न (अलग) करते हुए (वे आत्मा व बन्ध) नानापने को प्राप्त होते हैं। जीव का लक्षण शुद्धचैतन्य है, बन्ध का लक्षण मिथ्यात्व रागादि हैं, वे पृथक् किए जाते हैं। किसके द्वारा (पृथक् किये जाते हैं) ? प्रज्ञा छैनी रूप साधन के द्वारा (पृथक् किये जाते हैं अर्थात्) शुद्धात्मानुभूतिलक्षण वाले भेदज्ञानरूप छुरी या छैनी से (पृथक् किये जाते हैं)। ऐसा इसका अर्थ है। इसप्रकार पृथक् होते हुए वे नानापने को प्राप्त होते हैं॥२९४॥

....

'आत्मा और बंध का द्विधा करके क्या करना चाहिए'। ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं :–

छेदन होवे जीव बन्ध का जहँ नियत निज-निज चिन्ह से।
वह छोड़ना इस बन्ध को, जीव ग्रहण करना शुद्ध को॥२९५॥

गाथार्थ :– [**तथा**] इसप्रकार [**जीव: बन्ध: च**] जीव और बंध [**नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां**] अपने निश्चित स्वलक्षणों से [**छिद्येते**] छेदे जाते हैं। [**बंध:**] वहाँ, बन्ध को [**छेत्तव्य:**] छेदना चाहिए अर्थात् छोड़ना चाहिए [**च**] और [**शुद्ध: आत्मा**] शुद्ध आत्मा को [**गृहीतव्य:**] ग्रहण करना चाहिए।

टीका :– आत्मा और बंध को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणों के विज्ञान से सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिए; तत्पश्चात् रागादिक जिसका लक्षण है ऐसे समस्त बंध को छोड़ना चाहिए

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो॥२९६॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य:॥२९६॥

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्य: ? प्रज्ञयैव शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्य:, शुद्धस्यात्मन: स्वयमात्मानं गृह्णतो, विभजत इव, प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य:॥२९६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे किं साध्यं ? इति चेत् – **जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** जीवबंधौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां छिद्येते पूर्ववत्। ततश्छेदानंतरं किं साध्यम्? **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक-भेदज्ञानछुरिकया मिथ्यात्वरागादिरूपो बंधश्छेत्तव्य: शुद्धात्मन: सकाशात्पृथक्कर्तव्य:। **सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो** वीतरागसहजपरमानंदलक्षण: सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च ग्रहीतव्य इत्यभिप्राय:॥२९५॥

तथा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में यही आत्मा और बंध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बंध के त्याग से (अर्थात् बंध का त्याग करके) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

भावार्थ :– शिष्य ने प्रश्न किया था कि आत्मा और बंध को द्विधा करके क्या करना चाहिए ? उसका यह उत्तर दिया है कि बंध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना॥२९५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – आत्मा और बन्ध के पृथक् करने में क्या साध्य है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं – **जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** जीव और बन्ध दोनों पहले कहे अनुसार अपने-अपने लक्षणों से पृथक् किये जाते हैं। उस पृथक्-करण के बाद क्या साध्य है ? **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावरूप परमात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप निश्चयरत्नत्रयात्मक भेदज्ञान रूपी छैनी से मिथ्यात्व रागादि रूप बन्ध छेदना चाहिए; बंध को शुद्धात्मा से पृथक् करना चाहिए। **सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो** वीतराग सहज परमानन्द लक्षणवाले सुख समरसीभाव से शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए – ऐसा आशय है॥२९५॥

....

(‘आत्मा और बंध को प्रज्ञा द्वारा भिन्न तो किया, परन्तु आत्मा को किसके द्वारा ग्रहण किया जाये’?) – इस प्रश्न की तथा उसके उत्तर की गाथा कहते हैं :–

यह जीव कैसे ग्रहण हो ? जीव का ग्रहण प्रज्ञाहि से।
ज्यों अलग प्रज्ञा से किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से॥२९६॥

गाथार्थ :– (शिष्य पूछता है कि) [**स: आत्मा**] वह (शुद्ध) आत्मा [**कथं**] कैसे [**गृह्यते**] ग्रहण किया जाय ? (आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि) [**प्रज्ञया तु**] प्रज्ञा के द्वारा [**स: आत्मा**] वह (शुद्ध) आत्मा

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत् –

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – इदमेवात्मबंधयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यद्बंधपरिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति – **कह सो घिप्पदि अप्पा** कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिविषयो न भवत्यमूर्त्तत्वात्' इति प्रश्न:? **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तरं। कथं ? इति चेत् **जह पण्णाए विभत्तो** यथा पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्त:। रागादिभ्य: पृथक्कृत: **तह पण्णाएव घेत्तव्वो** तथा प्रज्ञयैव भेदज्ञानेन ग्रहीतव्य:। ननु केन शुद्धोऽयमात्मा ग्रहीतव्य:? प्रज्ञयैव शुद्धोऽयमात्मा ग्रहीतव्य: शुद्धस्यात्मन: स्वयमात्मानं गृह्णतोऽपि विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव ग्रहीतव्य:। निर्विकल्प समाधौ स्थित्वानुभवनीय इत्यर्थ:। एवं सामान्यभेदज्ञानमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्॥२९६॥

[गृह्यते] ग्रहण किया जाता है। **[यथा]** जैसे **[प्रज्ञया]** प्रज्ञा के द्वारा **[विभक्त:]** भिन्न किया, **[तथा]** उसीप्रकार **[प्रज्ञया एव]** प्रज्ञा के द्वारा ही **[गृहीतव्य:]** ग्रहण करना चाहिए।

टीका :– यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चहिए ? प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध आत्मा को, स्वयं निज को ग्रहण करने में प्रज्ञा ही एक करण है – जैसे भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण था। इसलिए जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया था उसीप्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ :– भिन्न करने और ग्रहण करने में करण अलग-अलग नहीं है; इसलिए प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया और प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए॥२९६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – आत्मा और बन्ध को पृथक् करने में प्रयोजन यह है कि बन्ध का त्याग करके शुद्धात्मा का ग्रहण करना चाहिए ऐसा उपदेश देते हैं **– कह सो घिप्पदि अप्पा** अमूर्त होने के कारण आत्मा दृष्टि (नेत्र) का विषय नहीं है, तो फिर वह कैसे ग्रहण किया जाता है ? ऐसा प्रश्न है। **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** भेदज्ञान रूपी प्रज्ञा के द्वारा (उसे) ग्रहण किया जाता है, यह उत्तर है। कैसे (ग्रहण किया जाता है)? **जह पण्णाए विभत्तो** जिस प्रकार पूर्व गाथासूत्र में (जिस) प्रज्ञा – बुद्धि द्वारा (आत्मा को) रागादि से विभक्त किया गया है अर्थात् रागादि से पृथक् किया गया है **तह पण्णाएव घेत्तव्वो** उसी प्रकार प्रज्ञा (भेदज्ञान) के द्वारा ग्रहण करना चाहिए। यहाँ प्रश्न है शुद्धात्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए ? यह शुद्धात्मा प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जिसप्रकार शुद्धात्मा के भेदज्ञान में प्रज्ञा ही एकमात्र करण (साधन) है, उसीप्रकार स्वयं आत्मा के ग्रहण में भी प्रज्ञा ही एकमात्र करण (साधन) है। इसलिए जिस प्रकार प्रज्ञा से विभक्त किया गया है, उसी प्रकार प्रज्ञा से ही ग्रहण चाहिए। निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अनुभव करना चाहिए– ऐसा आशय है। इसप्रकार सामान्य भेदज्ञान की मुख्यता से द्वितीय स्थल में चार गाथाएँ पूर्ण हुईं॥२९६॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥२९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता, सोऽयमहं; ये त्वमी अविशष्टा अन्यस्व-लक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये; किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि॥२९७॥

अब प्रश्न होता है कि इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए ? इसका उत्तर कहते हैं–

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूं।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९७॥

गाथार्थ :– [**प्रज्ञया**] प्रज्ञा के द्वारा [**गृहीतव्यः**] (आत्मा को) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि [**यः चेतयिता**] जो चेतनवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है [**सः तु**] वह [**निश्चयतः**] निश्चय से [**अहं**] मैं हूँ, [**अवशेषाः**] शेष [**ये भावाः**] जो भाव हैं [**ते**] वे [**मम पराः**] मुझसे पर हैं [**इति ज्ञातव्याः**] ऐसा जानना चाहिए।

टीका :– नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है सो यह मैं हूं; और अन्य स्व लक्षणों से लक्ष्य (अर्थात् चैतन्य लक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से जानने योग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते इसलिए मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की, चेतना ही एक क्रिया है इसलिए 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ'; चेतता हुआ ही चेतता हूं, चेतते हुए के द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए में ही चेतता हूँ, चेतते को ही चेतता हूँ। अथवा न तो चेतता हूँ; न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थ :– प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूं और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिए (अभिन्न छह कारकों से) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ', क्योंकि चेतना ही आत्मा की एक क्रिया है। इसलिए मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवाले के द्वारा ही, चेतनेवाले के लिए ही, चेतनेवाले से ही, चेतनेवाले में ही, चेतनेवाले को ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टि से तो मुझमें छह कारकों के भेद भी नहीं हैं, मैं तो

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।।१८२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – कथमात्मा प्रज्ञया ग्रहीतव्य इति चेत् – **पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो** प्रज्ञया स्वसंवेदनज्ञानेन ग्राह्य: परमसमरसीभावेनानुभवनीय इत्यर्थ:। यश्चेतयिता शुद्धात्मा सोहं तु निश्चयत:। **अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा** अवशेषा ये मिथ्यात्व रागादिभावास्ते मम सम्बन्धित्वेन परा: परस्वरूपा इति ज्ञातव्या:। परस्वरूपा इति कोऽर्थ: ? अहं कर्ता, रागादिभ्यो भिन्नमात्मानं कर्मतापन्नं, आत्मन: करणभूतेन, आत्मने निमित्तं, आत्मन: सकाशात् आत्मनि स्थितम् एवं षट्कारकविकल्परूपेणसंचेतयमानश्चेतये सविकल्पावस्थायामिति। निर्विकल्पावस्थायां पुन:समस्तक्रियाकारकविकल्परहितं चिन्मात्रमनुभवनीयमित्यर्थ:। ''यो हि निश्चयत:....भावे विशुद्धे चिति।।[१]''।।२९७।।

चैतन्यमात्र भाव हूँ। – इसप्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अपने को चेतयिता के रूप में अनुभव करना चाहिए।।२९७।।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यत् भेत्तुं हि शक्यते सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात् भित्वा] जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर, **[चिन्मुद्रा-अंकितनिर्विभागमहिमा शुद्ध: चिद् एव अहम् अस्मि]** जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्य की मुद्रा से अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। **[यदि कारकाणि वा यदि धर्मा: वा यदि गुणा: भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्]** यदि कारक के अथवा धर्मों के या गुणों के भेद हों, तो भले हों; **[विभौ विशुद्धे चिति भाव काचन भिदा न अस्ति]** किन्तु शुद्ध (समस्त विभावों से रहित) [२]विभु ऐसे चैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है। (इसप्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाता है।)

भावार्थ :– जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं, मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकभेद, सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हों तो भले हों, परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में तो कोई भेद नहीं है। इसप्रकार शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।।१८२।।

---

१. यह तात्पर्यवृत्ति में उद्धृत आत्मख्याति टीका है, इस ग्रंथ में आत्मख्याति टीका अखण्डरूप में दी ही गई है, अत: उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

२. विभु – दृढ़ अचल; नित्य, समर्थ; सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक।

पण्णाए घेत्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९८॥
पण्णाए घेत्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयत:।
अवशेषा ये भावा: ते मम परा इति ज्ञातव्या:॥२९८॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयत:।
अवशेषा ये भावा: ते मम परा इति ज्ञातव्या:॥२९९॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मन: स्वलक्षणमेव। ततोऽहं

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – आत्मा प्रज्ञा द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं – **पण्णाए घेत्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो** प्रज्ञा अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा ग्रहण करना चाहिए। परमसमरसीभाव से अनुभव करना चाहिए – ऐसा आशय है। जो चेतयिता शुद्धात्मा है, निश्चय से वही मैं हूँ। **अवसेसा जे भावे ते मज्झ परे त्ति णादव्वा** अवशेष जो मिथ्यात्व रागादिभाव हैं, वे मेरे सम्बन्धपने से पर हैं अर्थात् परस्वरूप हैं, ऐसा जानना चाहिए। परस्वरूप का क्या अर्थ है ? मैं कर्ता और रागादि से भिन्न कर्मपने को प्राप्त आत्मा को आत्मा के करणभूत साधन द्वारा, आत्मा के निमित्त, आत्मा के साथ, आत्मा में स्थित – इसप्रकार षट्कारक विकल्परूप से सविकल्प अवस्था में स:ोतन करता हुआ अनुभव करता हूँ और निर्विकल्प अवस्था में समस्त क्रियाकारकों के विकल्प से रहित चिन्मात्र अनुभव करना चाहिए – ऐसा अर्थ है। (निश्चय से अपने स्वलक्षण....... द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाता है।)[1] ॥२९७॥

....

(आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया; अब सामान्य चेतना दर्शन-ज्ञान सामान्यमयी है, इसलिए दर्शन-ज्ञानस्वरूप आत्मा को इसप्रकार अनुभव करना चाहिए, सो कहते हैं :–)

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९८॥
कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९९॥

गाथार्थ :– [**प्रज्ञया**] प्रज्ञा के द्वारा [**गृहीतव्य:**] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि [**य: दृष्टा**] जो देखनेवाला है [**स: तु**] वह [**निश्चयत:**] निश्चय से [**अहं**] मैं हूँ, [**अवशेषा:**] शेष [**ये भावा:**] जो भाव हैं [**ते**] वे [**मम परा:**] मुझसे पर हैं [**इति ज्ञातव्या:**] ऐसा जानना चाहिए।

---

१. यह तात्पर्यवृत्ति में उद्धृत आत्मख्याति टीका है, इस ग्रंथ में आत्मख्याति टीका अखण्डरूप में दी ही गई है, अत: उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव; पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि। अथवा न पश्यामि; न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि; किन्तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि। अपि च – ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव; जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि। अथवा न जानामि; न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि; किंतु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि। ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते – चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु, सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात्, द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने। ततः सा ते नातिक्रामति। यद्यतिक्रामति, सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या॥२९८-२९९॥

[**प्रज्ञया**] प्रज्ञा के द्वारा [**गृहीतव्यः**] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिए कि [**यः ज्ञाता**] जो जाननेवाला है [**सः तु**] वह [**निश्चयतः**] निश्चय से [**अहं**] मैं हूँ, [**अवशेषाः**] शेष [**ये भावाः**] जो भाव हैं [**ते**] वे [**मम पराः**] मुझसे पर हैं [**इति ज्ञातव्याः**] ऐसा जानना चाहिए।

टीका :– चेतना दर्शन-ज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है, इसलिए चेतकत्व की भांति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्मा का स्वलक्षण ही है। इसलिए मैं देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। जो निश्चय से ग्रहण करता हूँ, उसे देखता ही हूँ; देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिए ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ। अथवा नहीं देखता हूँ; न देखते हुए देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिये देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसीप्रकार मैं जाननेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। जो निश्चय से ग्रहण करता हूँ, उसे जानता ही हूँ; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा नहीं जानता हूँ; न जानते हुए जानता हूँ, नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ। (इसप्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारक भेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिए अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिए।)

यहाँ प्रश्न होता है कि चेतना दर्शन-ज्ञान भेदों का उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला

(शार्दूलविक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥१८३॥

दृष्टा तथा ज्ञाता होता है ? इसका उत्तर कहते हैं :– प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है। यह चेतना द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। (सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेष स्वरूप हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासने वाली चेतना भी द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती।) उसके जो दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं। इसलिए वह उनका (दर्शन-ज्ञान का) उल्लंघन नहीं करती। यदि चेतना दर्शन-ज्ञान का उल्लंघन करे तो सामान्य-विशेष का उल्लंघन करने से चेतना ही न रहे (अर्थात् चेतना का अभाव हो जायेगा)। उसके अभाव में दो दोष आते हैं (१) अपने गुण का नाश होने से चेतन को अचेतनत्व आ जायेगा, अथवा (२) व्यापक (चेतना) के अभाव में व्याप्य ऐसा चेतन (आत्मा) का अभाव हो जायेगा। इसलिए उन दोषों के भय से चेतना को दर्शन-ज्ञान स्वरूप ही अंगीकार करना चाहिए।

भावार्थ :– इन तीन गाथाओं में, प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करने को कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का 'ग्रहण करना है'।

पहली गाथा (२९७) में सामान्य चेतना का अनुभव कराया गया है। वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह – इत्यादि कारक भेदरूप से आत्मा को कहकर, अभेदविवक्षा में कारक भेद का निषेध करके, आत्मा को एक शुद्ध चैतन्य मात्र कहा गया है। अब इन दो (२९८-२९९) गाथाओं में दृष्टा तथा ज्ञाता का अनुभव कराया है, क्योंकि चेतना-सामान्य दर्शन-ज्ञान विशेषों का उल्लंघन नहीं करती। यहाँ भी छह कारकरूप भेद अनुभवन कराके और तत्पश्चात् अभेद-अनुभवन की अपेक्षा से कारक भेद को दूर कराके, दृष्टा-ज्ञाता मात्र अनुभव कराया है॥२९८-२९९॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**जगति हि चेतना अद्वैता**] जगत में निश्चयतः चेतना अद्वैत है [**अपि चेत् सा दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्**] तथापि यदि वह दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे [**तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्**] तो सामान्य-विशेषरूप के अभाव से (वह चेतना) [**अस्तित्वम् एव त्यजेत्**] अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी; और [**तत्-त्यागे**] इसप्रकार चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ने पर, (१) [**चित्तः अपि जड़ता भवति**] चेतन

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावा: परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावा: परे सर्वत एव हेया: ।।१८४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – ''चेतनाया: दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणात्..........परे सर्वत एव हेया:।।[१]'' प्रज्ञया स्वसंवेदनज्ञानेन यश्चेतयितात्मा ग्राह्य प्राप्य:। कथंभूत: ? ज्ञाता-द्रष्टा निर्विकारपरमानन्दैकलक्षण सुखोपलब्धिरूपश्च। सोऽहं निश्चयत: अवशेषा ये रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानन्दैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्या:। अत्राह शिष्य: – चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदौ न स्त:, एकैव चेतना ततो ज्ञाता द्रष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति? अत्र पूर्वपक्ष परिहार: – **सामान्यग्राहकं दर्शनं विशेषग्राहकं ज्ञानं।** सामान्यविशेषात्मकं च वस्तु। सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभाव: स्यात्। **चेतनाया अभावे सति आत्मनो जडत्वं,** चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति। न चात्मनो जडत्वं दृश्यते, न चाभाव: प्रत्यक्ष विरोधात् तत: स्थितं यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्राय:।।२९८-२९९।।

केजड़त्व आ जायेगा अर्थात् आत्मा जड़ हो जायेगा **[च]** और (२) **[व्यापकात् बिना व्याप्य: आत्मा अन्तम् उपैति]** व्यापक (चेतना) के बिना व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जायेगा (इसप्रकार दो दोष आते हैं)। **[तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु]** इसलिए चेतना नियम से दर्शन-ज्ञान रूप ही हो।

भावार्थ :– समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं; इसलिए उन्हें प्रतिभासने वाली चेतना भी सामान्य-प्रतिभासरूप (दर्शनरूप) और विशेष-प्रतिभासरूप (ज्ञानरूप) होनी चाहिए। यदि चेतना अपनी दर्शन-ज्ञानरूपता को छोड़ दे तो चेतना का ही अभाव होने पर या तो चेतन आत्मा को (अपने चेतना गुण का अभाव होने पर) जड़त्व आ जायेगा अथवा तो व्यापक के अभाव से व्याप्य ऐसे आत्मा का अभाव हो जायेगा। (चेतना आत्मा की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होने से व्यापक है और आत्मा चेतन होने से चेतना का व्याप्य है। इसलिए चेतना का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।) इसलिए चेतना को दर्शन-ज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतना को ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि 'वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, इसलिए चेतना को सामान्य-विशेषरूप अंगीकार करना चाहिए'।।१८३।।

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :–

---

१. यह तात्पर्यवृत्ति में उद्धृत आत्मख्याति टीका है, इस ग्रंथ में आत्मख्याति टीका अखण्डरूप में दी ही गई है, अत: उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइगे[1] भावे।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥३००॥

को नाम भणेद्बुध: ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान्।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम्॥३००॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात्, स खल्वेकं चिन्मात्रं भाव-

श्लोकार्थ :– **[चित:]** चैतन्य का (आत्मा का) तो **[एक: चिन्मय: एव भाव:]** एक चिन्मय ही भाव है और **[ये परे भाव:]** जो अन्यभाव हैं **[ते किल परेषाम्]** वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं; **[तत:]** इसलिए **[चिन्मय: भाव एव ग्राह्य:]** (एक) चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है, **[परे भावा: सर्वत: एव हेया:]** अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं॥१८४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – प्रज्ञा – स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा जो चेतन स्वरूप आत्मा ग्रहण करने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है, कैसा आत्मा (ग्रहण करने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है)? जो ज्ञाता-दृष्टा रूप, निर्विकार परमानन्द एक लक्षण रूप सुख की प्राप्ति रूप है, वह आत्मा निश्चय से मैं हूँ। निश्चय से जो अवशेष रागादि विभाव परिणाम हैं, चिदानन्द एक स्वभावमय मेरी अपेक्षा वे पर हैं, ऐसा जानना चाहिए। यहाँ शिष्य कहता है – चेतना के ज्ञान-दर्शन भेद नहीं हैं, चेतना एक ही है, इसलिए ज्ञाता तथा द्रष्टा ऐसा दो प्रकार से आत्मा किसतरह घटित होता है? यहाँ पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं। सामान्य का ग्राहक दर्शन है तथा विशेष का ग्राहक ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक वस्तु है। सामान्य-विशेषात्मक स्वभाव का अभाव होने पर चेतना का ही अभाव होगा। चेतना के अभाव होने पर आत्मा के जड़पना होगा और उससे चेतना लक्षण विशेष गुण का अभाव होने पर आत्मा का अभाव होगा। आत्मा के जड़पना दिखाई नहीं देता और अभाव भी नहीं दिखाई देता, अत: प्रत्यक्ष विरोध प्राप्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि यद्यपि अभेदनय से चेतना एक रूप है, तथापि सामान्य-विशेष के विषयभेद से दर्शन-ज्ञानरूप होती है। यह अभिप्राय है॥२९८-२९९॥

....

अब इस उपदेश की गाथा कहते हैं :–

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्म को।
वह कौन ज्ञानी ''मेरा है यह'' यों वचन बोले अहो॥३००॥

गाथार्थ :– **[सर्वान् भावान्]** सर्व भावों को **[परकीयान्]** दूसरे का **[ज्ञात्वा]** जानकर **[क: नाम बुध:]** कौन ज्ञानी, **[आत्मानं]** अपने को **[शुद्धम्]** शुद्ध **[जानन्]** जानता हुआ **[इदम् मम]** 'यह मेरा है' ('यह भाव मेरे हैं') **[इति च वचनं]** ऐसा वचन **[भणेत्]** बोलेगा ?

१. पाठान्तर = परोदये

मात्मीयं जानाति, शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासंभवात्। अत: सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्य:, शेषा: सर्वे एव भावा: प्रहातव्या इति सिद्धांत:॥३००॥

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभि: सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योति: सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावा: पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

(अनुष्टुभ्)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यति: ॥१८६॥

टीका :– जो (पुरुष) पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है और शेष सर्व ही भावों को दूसरों का जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा ? (नहीं कहेगा;) क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्व-स्वामी सम्बन्ध का होना असम्भव है। इसलिए सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करने योग्य है, शेष समस्त ही भाव छोड़ने योग्य हैं – ऐसा सिद्धान्त है।

भावार्थ :– लोक में भी यह न्याय है कि जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है, वह दूसरे के धनादि को अपना नहीं कहता। इसीप्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्यों को अपना नहीं मानता; किन्तु अपने निजभाव को ही अपना जानकर ग्रहण करता है॥३००॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**उदात्तचित्तचरितै: मोक्षार्थिभि:**] जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी [**अयम् सिद्धान्त:**] इस सिद्धान्त का [**सेव्यताम्**] सेवन करें कि [**अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योति: एव सदा एव अस्मि**] 'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ;' [**तु**] और [**एते ये पृथग्लक्षण: विविधा: भावा: समुल्लसन्ति ते अहं न अस्मि**] जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, [**यत: अत्र ते समग्रा: अपि मम परद्रव्यम्**] क्योंकि वे सर्व ही मेरे लिए परद्रव्य हैं'॥१८५॥

अब आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**परद्रव्यग्रहं कुर्वन्**] जो परद्रव्य को ग्रहण करता है [**अपराधवान्**] वह अपराधी है [**बध्येत एव**] इसलिए बन्धता ही है, [**स्वद्रव्ये संवृत: यति:**] और जो स्वद्रव्य में संवृत है (अर्थात्

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो दु संकिदो भमदि[1]।
मा बज्झेज्जं[2] केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो॥३०१॥
जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे[3] भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कदावि॥३०२॥
एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो[4] णिस्संकोहं ण बज्झामि॥३०३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव भावः, न च रागादय इत्याख्याति– **को णाम भणिज्ज बुहो** को ब्रूयाद् ? बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि। किं ब्रूयात्? **मज्झमिणंति य वयणं** ममेति वचनं, किं कृत्वा ? पूर्वम् **णादुं** निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा। कान्? **सव्वे परोदये भावे** सर्वान् मिथ्यात्वरागादिभावान् विभावपरिणामान्। कथंभूतान्? परोदयान् शुद्धात्मनः सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान्। किं कुर्वन् सन् ? **जाणंतो अप्पयं सुद्धं** जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन्। कं ? आत्मानं। कथंभूतं ? शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम्। केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेनेति। एवं विशेषभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपंचकं गतम्॥३००॥

जो अपने द्रव्य में ही गुप्त – मग्न है – संतुष्ट है, परद्रव्य का ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति [**अनपराधः**] निरपराधी है [**न बध्येत**] इसलिए बँधता नहीं है॥१८६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव वाले परमात्मा का शुद्धचिद्रूप एक ही भाव है और (उस आत्मा के) रागादि भाव नहीं हैं, ऐसा कहते हैं **– को णाम भणिज्ज बुहो** कौन ज्ञानी ऐसा कहेगा? अहो स्पष्टतः कोई भी बुद्धिमान ज्ञानी – विवेकी ऐसा नहीं कहेगा। क्या नहीं कहेगा ? **मज्झमिणंति य वयणं** ये (परभाव) मेरे हैं ऐसा वचन (नहीं कहेगा।) क्या करके (ऐसा नहीं कहेगा) ? पहले **णादुं** निर्मल आत्मानुभूतिलक्षण वाले भेदज्ञान से जानकर (ऐसा नहीं कहेगा)। किनको (जानकर नहीं कहेगा) ? **सव्वे परोदये भावे** सभी मिथ्यात्व रागादि भावों को – विभाव परिणामों को (जानकर नहीं कहेगा)। (मिथ्यात्व रागादिभावों को) कैसे ? (जानकर नहीं कहेगा)। (मिथ्यात्वरागादि भावों को) शुद्धात्म स्वभाव से भिन्न ऐसे पर कर्मोदय जनित जानकर (मेरे हैं ऐसा नहीं कहेगा)। क्या करता हुआ (ऐसा नहीं कहेगा) ? **जाणंतो अप्पयं सुद्धं** जानता हुआ – परमसमरसी भाव से अनुभव करता हुआ (उन्हें मेरे हैं ऐसा नहीं कहता है)। किसको (जानता हुआ) ? आत्मा को। किसप्रकार के (आत्मा को जानता हुआ) ? भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध (आत्मा को जानता हुआ)। क्या करके जानता हुआ ? शुद्धात्म भावना परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षणरूप भेदज्ञान से (आत्मा को जानता हुआ उन मिथ्यात्वादि भावों को मेरे हैं, ऐसा नहीं कहता है)। इसप्रकार विशेष भेद-भावना के व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल में पाँच गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३००॥

---

१. पाठान्तर = १. होदि, २. वज्झेऽहं, ३. जणवए, जणवदि ४. णिरवराहो

स्तेयादीनपराधान् यः करोति स तु शंकितो भ्रमति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन्॥३०१॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिंतोत्पद्यते कदाचित्॥३०२॥
एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये॥३०३॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति; तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवतीति नियमः। अतः सर्वथा सर्वपरकीयभाव-परिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात्॥३०१-३०३॥

अब इस कथन को दृष्टान्तपूर्वक गाथा द्वारा कहते हैं :—

अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वो शंकित फिरै।
को लोक में फिरते हुए को, चोर जान जु बांध ले॥३०१॥

अपराध जो करता नहीं, नि:शंक लोकविषैं फिरै।
''बँध जाऊँगा'' ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है॥३०२॥

त्यों आत्मा अपराधी ''मैं बँधता हूँ'' यों हि सशंक है।
अरु निरपराधी आत्मा, ''नाहीं बँधूं'' नि:शंक है॥३०३॥

गाथार्थ :– [**यः**] जो पुरुष [**स्तेयादीन् अपराधान्**] चोरी आदि अपराधों को [**करोति**] करता है [**सः तु**] वह '[**जने विचरन्**] लोक में घूमता हुआ [**केन अपि**] मुझे कोई [**चौरः इति**] चोर समझकर [**मा बध्ये**] पकड़ न ले' इसप्रकार [**शंकितः भ्रमति**] शंकित होता हुआ घूमता है; [**यः**] जो पुरुष [**अपराधान्**] अपराध [**न करोति**] नहीं करता [**सः तु**] वह [**जनपदे**] लोक में [**निश्शंकः भ्रमति**] नि:शंक घूमता है, [**यद्**] क्योंकि [**तस्य**] उसे [**बद्धुं चिन्ता**] बँधने की चिन्ता [**कदाचित् अपि**] कभी भी [**न उत्पद्यते**] उत्पन्न नहीं होती [**एवम्**] इसीप्रकार [**चेतयिता**] अपराधी आत्मा '[**सापराधः अस्मि**] मैं अपराधी हूँ [**बध्ये तु अहं**] इसलिए मैं बँधूंगा' इसप्रकार [**शंकितः**] शंकित होता है, [**यदि पुनः**] और यदि [**निरपराधः**] अपराध रहित (आत्मा) हो तो [**अहं न बध्ये**] 'मैं नहीं बँधूंगा' इसप्रकार [**निश्शंक**] नि:शंक होता है।

टीका :– जैसे इस जगत में जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसी को बन्ध की शंका होती है और जो अपराध नहीं करता उसे बन्ध की शंका नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसी को बन्ध की शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता उसे बन्ध की शंका नहीं होती – ऐसा

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ मिथ्यात्वरागादि**परभावस्वीकारेण बध्यते** वीतरागपरमचैतन्यलक्षण**स्वस्वभाव-स्वीकारेण मुच्यते** जीव इति प्रकाशयति – **थेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि** य: स्तेयपरदाराद्य-पराधान् करोति स पुरुष: सशङ्कितो भवति। केन रूपेण ? **मा बज्झेऽहं केण वि चोरोत्ति जणम्हि वियरंतो** जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना। किं कृत्वा ? चौर इति मत्वा। इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता। **जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि** य: स्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निश्शङ्को जनपदे लोके भ्रमति। **ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि** तस्य चिंता नोत्पद्यते कदाचिदपि **जे** अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराध: केन रूपेण चिंता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चौर इति मत्वा। एवं व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता। **एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्थभावच्युत: सन् सापराधो भवति। सापराधोऽत्र शंकितो भवति। केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मतापन्नो ज्ञानावरणादिकर्मणा। तत: कर्मबंधभीत: प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणरूपं दंडं ददाति। **जो पुण णिरवराहो णिस्संकोऽहं ण बज्झामि** यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तविभावपरिणामरहितो भूत्वा निश्शंको भवति। केन रूपेण? इति चेत्, रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदंडं विनाप्यनंतज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्ध्यति। इत्यन्वयव्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता ॥३०१-३०३॥

नियम है। इसलिए सर्वथा समस्त परकीय भावों के परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्य के सर्व भावों को छोड़कर) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।

भावार्थ :– यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धन की शंका हो; निरपराध को शंका क्यों होगी ? इसीप्रकार यदि आत्मा परद्रव्य का ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्ध की शंका अवश्य होगी; यदि अपने को शुद्ध अनुभव करे, पर का ग्रहण न करे, तो बन्ध की शंका क्यों होगी ? इसलिए परद्रव्य को छोड़कर शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिए। तभी निरपराध हुआ जाता है ॥३०१-३०३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, मिथ्यात्व रागादि परभावों को अपनेरूप करने से जीव बँधता है और वीतराग परम चैतन्य लक्षण रूप स्वस्वभाव को स्वीकार करने से जीव मुक्त होता है, ऐसा बतलाते हैं – **थेयादी अवराहे कुव्वदि जो सो ससंकिदो होदि** जो पुरुष चोरी, परस्त्रीगमन आदि अपराध करता है, वह पुरुष सशंकित होता है। किस रूप में (शंकित होता है) ? **मा बज्झेऽहं केण वि चोरोत्ति जणम्हि वियरंतो** लोगों में घूमते हुए किसी कोतवाल आदि के द्वारा बाँध न लिया जाऊँ। किस कारण से (बाँध लिया न जाऊँ)? 'चोर है' ऐसा मानकर। इस प्रकार अन्वय दृष्टान्त गाथा पूर्ण हुई। **जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि** जो चोरी, परस्त्रीगमन आदि अपराध नहीं करता है, वह नगर में, लोक में निशंक रूप से भ्रमण करता है। **ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि** उसके कदाचित् भी चिंता उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि वह निरपराध है। किस रूप से चिन्ता उत्पन्न नहीं होती है ? 'चोर' मानकर किसी के भी द्वारा मैं बाँधा नहीं जाऊँगा। इसप्रकार व्यतिरेक दृष्टान्त गाथा पूर्ण हुई। **एवं हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** जो जीव रागादि परद्रव्य का ग्रहण या स्वीकार करता है, वह स्वस्वभाव से च्युत होकर सापराधी होता है। अपराधी यहाँ शङ्कित होता है। किस रूप में (शङ्कित होता है)? मैं ज्ञानावरणादि कर्मों से बाँध लिया जाऊँगा। तब कर्मबन्ध से भयभीत वह प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण रूप दण्ड देता है। **जो**

को हि नामायमपराध:?

संसिद्धि-राध-सिद्धं साधिदमाराधिदं च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ॥३०४॥
जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि।
आराहणादि णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम्।
अपगतराधो य: खलु चेतयिता स भवत्यपराध: ॥३०४॥
य: पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन् ॥३०५॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मन: सिद्धि: साधनं वा राध:। अपगतो राधो यस्य चेतयितु: सोऽपराध:। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराध:, तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराध:। स तु परद्रव्य-

---

पुण णिरवराहो णिस्संकोऽहं ण बज्झामि किन्तु जो निरपराधी होता है, वह दृष्ट, श्रुत, अनुभूत भोगाकांक्षारूप निदानबन्ध आदि समस्त विभाव परिणामों से रहित होकर नि:शंक होता है। किस रूप में (नि:शंक होता है)? ऐसा पूछने पर कहते हैं – रागादि अपराध रहित होने के कारण मैं किसी कर्म के द्वारा भी नहीं बाँधा जाऊँगा। इसलिए वह प्रतिक्रमणादि दण्ड के बिना भी अनन्त ज्ञानादिमय निर्मल परमात्मभावना से ही शुद्ध हो जाता है। इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेक दार्ष्टान्त गाथा पूर्ण हुई॥३०१-३०३॥

....

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है ? उसके उत्तर में अपराध का स्वरूप कहते हैं :–

संसिद्धि-सिद्धि जु राध, अरु साधित-अराधित एक है।
ये राध से जो रहित है, वो आत्मा अपराध है॥३०४॥
अरु आतमा जो निरपराधी, होय है नि:शंक्ङ वो।
वर्ते सदा आराधना से, जानता ''मैं'' आत्म को॥३०५॥

गाथार्थ :– [**संसिद्धिराधसिद्धं**] संसिद्धि, [1]राध, सिद्ध [**साधितम् आराधितं च**] साधित और आराधित [**एकार्थम्**] ये एकार्थवाची शब्द हैं; [**य: खलु चेतयिता**] जो आत्मा [**अपगतराध:**] 'अपगतराध' अर्थात् राध से रहित है [**स:**] वह आत्मा [**अपराध:**] अपराध [**भवति**] है।

[**पुन:**] और [**य: चेतयिता**] जो आत्मा [**निरपराध:**] निरपराध है [**स: तु**] वह [**निश्शंकित: भवति**] नि:शंक होता है; [**अहं इति जानन्**] 'जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ [**आराधनया**] आराधना से [**नित्यं वर्तते**] सदा वर्तता है।

---

१. राध – आराधना, प्रसन्नता, कृपा, सिद्धि, पूर्णता, सिद्ध करना, पूर्ण करना।

ग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बन्धशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात्। यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशंकाया असंभवे सति उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात्॥३०४-३०५॥

(मालिनी)

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी॥१८७॥

टीका :– परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन सो राध है। जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो वह आत्मा अपराध है। अथवा (दूसरा समासविग्रह इसप्रकार है –) जो भाव राधरहित हो वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त भाव के साथ जो आत्मा वर्तता हो वह आत्मा सापराध है। परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण उस आत्मा को बन्ध की शंका होती है, इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से, अनाराधक ही है। और जो आत्मा निरपराध है उसे समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होती, इसलिए 'उपयोग ही जिसका एक लक्षण है ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इसप्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है इसलिए वह आराधक ही है।

भावार्थ :– संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित – इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम 'राध' है। जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निरपराध है। जो सापराध है उसे बन्ध की शंका होती है, इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक है और जो निरपराध है वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है, इसलिए उसे बन्ध की शंका नहीं होती; इसलिए 'जो शुद्ध आत्मा है वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है॥३०४-३०५॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**सापराधः**] सापराध आत्मा [**अनवरतम्**] निरन्तर [**अनन्तैः**] अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मों से [**बध्यते**] बँधता है; [**निरपराधः**] निरपराध आत्मा [**बन्धनम्**] बन्धन को [**जातु**] कदापि [**स्पृशति न एव**] स्पर्श नहीं करता। [**अयम्**] जो सापराध आत्मा है वह तो [**नियतम्**] नियम से [**स्वम् अशुद्धं भजन्**] अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ [**सापराधः**] सापराध है; [**निरपराधः**] निरपराध आत्मा तो [**साधु**] भलीभाँति [**शुद्धात्मसेवी भवति**] शुद्ध आत्मा का सेवन करने वाला होता है॥१८७॥

(यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनय का अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि –) 'शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या क है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरापराध होता है; क्योंकि सापराध के जो अप्रतिक्रमण आदि हैं, वे अपराध को दूर करने वाले न होने

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन ? यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा; सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात्।

उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे –

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो।।१।।

पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं* धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु।।२।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ को हि नामायमपराधः? इति पृच्छति – **संसिद्धिराधसिद्धी साधियमाराधियं च एयट्ठो** कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधनं सेवनं राध इत्युच्यते, संसिद्धिः सिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो** अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवाभेदेन भवत्यपराधः। अथवा अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधः शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः सहापराधेन वर्तते यः स सापराधः चेतयितात्मा तद्विपरीतः त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति।

से, विषकुम्भ हैं, इसलिए जो प्रतिक्रमणादि हैं वे; अपराध को दूर करने वाले होने से अमृतकुम्भ हैं। व्यवहार का कथन करने वाले आचारसूत्र में भी कहा है कि – **अप्पडिकमणम....अमयकुम्भो दु।**

अर्थ :– ''अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – यह (आठ प्रकार का) विषकुम्भ है।।१।। [1]प्रतिक्रमण, [2]प्रतिसरण, [3]परिहार, [4]धारणा, [5]निवृत्ति, [6]निन्दा, [7]गर्हा और [8]शुद्धि यह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ है।।२।।'' ।।३०४-३०५।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, यह अपराध क्या है ? ऐसा पूछते हैं – **संसिद्धिराधसिद्धी साधियमाराधियं च एयट्ठो** तीनों कालवर्ती समस्त मिथ्यात्व, विषय, कषायादि विभाव परिणामों से रहितपने के द्वारा, निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर निजशुद्धात्मा की आराधना या सेवन राध है, ऐसा कहा जाता है। संसिद्धि, सिद्धि, साधित तथा आराधित ये सभी 'राध' शब्द के पर्यायवाची हैं। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो** जिस पुरुष की अपगत अर्थात् विनष्ट हुई है राध अर्थात् शुद्धात्मा की आराधना वह पुरुष ही अभेद से अपराध होता है अथवा जिसकी अपगत या विनष्ट हुई है राध अर्थात् शुद्धात्म आराधना वह रागादि विभाव परिणाम ही अपराध है। उस अपराध सहित जो वर्तन करने वाला पुरुष है, वह सापराध है और इसके विपरीत जो

---

१. **प्रतिक्रमण –** कृत दोषों का निराकरण। २. **प्रतिसरण –** सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा। ३. **परिहार –** मिथ्यात्व-रागादि दोषों का निवारण। ४. **धारणा –** पंचनमस्कारादि मंत्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन द्वारा चित्त को स्थिर करना। ५. **निवृत्ति –** बाह्य विषय-कषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना। ६. **निन्दा –** आत्मसाक्षी पूर्वक दोषों का प्रगट करना। ७. **गर्हा –** गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना। ८. **शुद्धि –** दोष होने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना।

* पाठान्तर **परिहारो**

अथ हे भगवन् ! किमनेन शुद्धात्माराधनाप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात्? इति चेत्, सापराधस्याप्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विषकुंभत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराध-विनाशकत्वेनामृतकुंभत्वात् इति। तथा चोक्तं चिरंतनप्रायश्चित्तग्रंथे –

अप्पडिक्कमणं अप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोही य विसकुंभो ।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ।।२।। ।।३०४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथाज्ञानी जीव सापराधः सशङ्कितः सन् कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानी स कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति – **जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि** यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निःशंको भवति। निःशंको भूत्वा किं करोति ? **आराहणाइ णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो** निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्यं सर्वकालं वर्तते। किं कुर्वन् ? अनंतज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्यग्जानन् परमसमरसीभावेन चानुभवति इति ।।३०५।।

चेतयिता आत्मा त्रिगुप्ति समाधि में स्थित होता है, वह निरपराध है। अब शिष्य कहता है – हे भगवन्! इस शुद्धात्मा की आराधना के प्रयास से क्या प्रयोजन है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान से ही आत्मा निरपराध होता है। किस कारण से (आत्मा निरपराध होता है) ? क्योंकि सापराधी के जो अप्रतिक्रमण आदि हैं, वे दोष शब्द से वाच्य अपराध को नष्ट नहीं करने वाले होने से विषकुम्भ रूप होने से तथा जो प्रतिक्रमण आदि हैं, वे दोष शब्द से वाच्य अपराध के विनाशकपने के कारण अमृतकुम्भ हैं। तथा चिरंतन प्रायश्चित्त ग्रन्थ में कहा है –

'अप्पडिकमणं .... विसकुंभौ'' ।।१।। 'पडिकमणं .... अमयकुंभो दु'' ।।२।। अर्थात् अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि ऐसे आठ प्रकार के दोषों का प्रायश्चित्त न करना वह विषकुम्भ है तथा प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इस प्रकार दोषों का प्रायश्चित्त करना वह अमृतकुंभ है।।३०४।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अज्ञानी जीव अपराध सहित सशंकित होता हुआ कर्मफल को तन्मय होकर भोगता है, किन्तु जो ज्ञानी निरपराध है, वह कर्मोदय होने पर क्या करता है ? इसे कहते हैं **– जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि** जो आत्मा ज्ञानी जीव है, वह निरपराधी होता हुआ परमात्मा की आराधना के विषय में निःशङ्क होता है। वह ज्ञानी निःशङ्क होकर क्या करता है? **आराहणाइ णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो** (वह ज्ञानी) निर्दोष परमात्मा की आराधनारूप निश्चय आराधना द्वारा नित्य सर्वकाल वर्तन करता है। क्या करता हुआ ? 'मैं अनन्तज्ञानादि रूप हूँ' इसप्रकार निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर शुद्धात्मा को सम्यक् रूप से जानता हुआ परमसमरसी भाव से अनुभव करता है।।३०५।।

अत्रोच्यते –

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥३०६॥
अप्पडिकमणप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो ॥३०७॥

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः ॥३०६॥
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव।
अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥३०७॥

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विष-कुम्भ एव; किं तस्य विचारेण ? यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृत-कुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणा-

---

उपर्युक्त तर्क का समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनय की अपेक्षा से) यहाँ कहते हैं –

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुम्भ हैं ॥३०६॥
अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिंद, अशुद्धि अमृतकुम्भ हैं ॥३०७॥

गाथार्थ :– [**प्रतिक्रमणं**] प्रतिक्रमण, [**प्रतिसरणं**] प्रतिसरण, [**परिहारः**] परिहार, [**धारणा**] धारणा, [**निवृत्तिः**] निवृत्ति, [**निन्दा**] निन्दा, [**गर्हा**] गर्हा [**च शुद्धिः**] और शुद्धि [**अष्टविधः**] यह आठ प्रकार का [**विषकुम्भः**] विषकुम्भ [**भवति**] है (क्योंकि इसमें कर्तृत्व की बुद्धि सम्भवित है)।

[**अप्रतिक्रमणम्**] अप्रतिक्रमण, [**अप्रतिसरणम्**] अप्रतिसरण, [**अपरिहारः**] अपरिहार, [**अधारणा**] अधारणा, [**अनिवृत्तिः च**] अनिवृत्ति, [**अनिन्दा**] अनिन्दा, [**अगर्हा**] अगर्हा [**च एव**] और [**अशुद्धिः**] अशुद्धि [**अमृतकुम्भः**] यह अमृतकुम्भ है (क्योंकि इससे कर्तृत्व का निषेध है – कुछ करना ही नहीं है, इसलिए बन्ध नहीं होता)।

टीका :– प्रथम तो जो अज्ञानी जनसाधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले हैं, इसलिए स्वयमेव अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही हैं; उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है ? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं।) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को (क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार आचारसूत्र में कहा है) तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादि

समर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात्। अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धि-रूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुम्भत्वं साधयति। तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीयभूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते। तत्प्राप्त्यर्थं एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः। ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति, किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुंचति, अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रति-क्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति। वक्ष्यते चात्रैव – कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।इत्यादि।।३०६-३०७।।

रूप तीसरी भूमिका को न देखनेवाले पुरुष को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से विपक्ष (अर्थात् बन्ध का) कार्य करते होने से विषकुम्भ ही हैं। जो अप्रतिक्रमणादि रूप तीसरी भूमि है वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही हैं। इसलिए तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं। ऐसा होने से यह नहीं मानना चाहिए कि (निश्चयनय का) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है ? द्रव्यप्रतिक्रमणादि से छुड़ा नहीं देता (अटका नहीं देता, संतोष नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अतिदुष्कर कुछ करवाता है। इस ग्रन्थ में ही आगे **कम्मं जं.........आलोयणं चेदा**[१] इत्यादि कहेंगे कि –

अर्थ :– (अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है।) इत्यादि।

भावार्थ :– व्यवहारनयावलम्बी ने कहा था कि ''लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमणादि करने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहले से ही शुद्धात्मा के आलम्बन का खेद करने का क्या प्रयोजन है ? शुद्ध होने के बाद उसका आलम्बन होगा; पहले से ही आलम्बन का खेद निष्फल है।''

उसे आचार्य समझाते हैं कि जो द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं वे दोषों के मिटानेवाले हैं, तथापि शुद्ध आत्मा का स्वरूप, जो कि प्रतिक्रमणादि से रहित है, उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों के मिटाने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है, बन्ध का ही मार्ग है। इसलिए यह कहा है कि अज्ञानी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं सो तो विषकुम्भ हैं ही; उसका तो कहना ही क्या है ? किन्तु व्यवहार

१. (३८३ से ३८५ गाथा)

(पृथ्वी)

अतो हता: प्रमादिनो गता: सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनम्।
आत्मन्येवालानितं च चित्त
मासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धे: ॥१८८॥

(वसन्ततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुत: स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जन: प्रपतन्नधोऽध:
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमाद: ॥१८९॥

चारित्र में जो प्रतिक्रमणादिक कहे हैं, वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं; क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादि से रहित शुद्ध, अप्रतिक्रमणादिस्वरूप ही है॥३०६-३०७॥

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[अत:]** इस कथन से, **[सुख-आसीनतां गता:]** सुखासीन (सुख से बैठे हुए) **[प्रमादिन:]** प्रमादी जीवों को **[हता:]** हत कहा है (अर्थात् उन्हें मोक्ष का सर्वथा अनधिकारी कहा है), **[चापलम् प्रलीनम्]** चापल्य का (अविचारित कार्य का) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओं को मोक्ष के कारण में नहीं माना), **[आलम्बनम् उन्मूलितम्]** आलम्बन को उखाड़ फैंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्यप्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बन्ध का कारण मानकर हेय कहा है), **[आसम्पूर्ण-विज्ञान-घन-उपलब्धे:]** जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो तबतक **[आत्मनि एव चित्तम् आलानितं च]** (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भ से ही चित्त को बाँध रखा है (अर्थात् व्यवहार के आलम्बन से अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था, उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही लगाने को कहा है क्योंकि वही मोक्ष का कारण है)॥१८८॥

यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा, इसलिए यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझाने के लिए कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[यत्र प्रतिक्रमणम् एव विषं प्रणीतं]** (हे भाई !) जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, **[तत्र अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुत: स्यात्;]** वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता।) **[तत्]** तब फिर **[जन: अध: अध: प्रपतन् किं प्रमाद्यति]** मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? **[निष्प्रमाद:]** निष्प्रमाद होता हुआ **[ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहति]** ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ?

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात्॥१९०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते॥१९१॥

भावार्थ :– अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं उनकी तो बात ही क्या ? किन्तु यहाँ तो शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें (द्रव्यप्रतिक्रमणादि को) निश्चयनय की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है; क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने से अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमि पर चढ़ाने के लिए आचार्यदेव ने यह उपदेश दिया है। प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहने की बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं, उनके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि 'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं ? तृतीय भूमि में ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते?' जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानी का नहीं। इसलिए जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिए, किन्तु तीसरी भूमि के शुद्ध आत्मामय अप्रतिक्रमणादि जानना चाहिए॥१८९॥

अब इस अर्थ को दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**कषाय-भर-गौरवात् अलसता प्रमादः**] कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना सो प्रमाद है; [**यतः प्रमादकलितः अलसः शुद्धभावः कथं भवति**] इसलिए यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? [**अतः स्वरसनिर्भरे स्वभावे नियमितः भवन् मुनिः**] इसलिए निजरस से परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि [**परमशुद्धतां व्रजति**] परमशुद्धता को प्राप्त होता है [**वा**] अथवा [**अचिरात् मुच्यते**] शीघ्र – अल्पकाल में ही (कर्मबन्ध से) छूट जाता है।

भावार्थ :– प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है इसलिए प्रमादी के शुद्ध भाव नहीं होता। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है॥१९०॥

अब, मुक्त होने का अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं :–

(मन्दाक्रान्ता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

इति मोक्षो निष्क्रांत:।

श्लोकार्थ :– [य: किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा] जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्य को छोड़कर **[स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति]** स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है, **[स:]** वह पुरुष **[नियतम्]** नियम से **[सर्व-अपराध-च्युत:]** सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, **[बन्ध-ध्वंसम् उपेत्य नित्यम् उदित:]** बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान होता हुआ,) **[स्व-ज्योति:अच्छ:उच्छलत्-चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा]** अपनी ज्योति से (आत्मस्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा **[शुद्ध: भवन्]** शुद्ध होता हुआ, **[मुच्यते]** कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थ :– जो पुरुष पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके निज द्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह मोक्ष होने का अनुक्रम है॥१९१॥

अब मोक्ष अधिकार को पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगलरूप पूर्ण ज्ञान की महिमा का (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्य की महिमा का) कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [बन्धच्छेदात् अतुलम् अक्षय्यम् मोक्षम् कलयत्] कर्मबन्ध के छेदने से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ, **[नित्य-उद्योत-स्फुटित-सहज-अवस्थम्]** नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, **[एकान्त-शुद्धम्]** एकांत शुद्ध (कर्ममल के न रहने से अत्यन्त शुद्ध), **[एकाकार-स्व-रस-भरत: अत्यन्त-गम्भीर-धीरम्]** और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार में परिणमित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा **[एतत् पूर्णं ज्ञानम्]** यह पूर्ण ज्ञान **[ज्वलितम्]** प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है) और **[स्वस्य अचले महिम्नि लीनम्]** अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है।

भावार्थ :– कर्म का नाश करके मोक्ष का अनुभव करता हुआ, अपनी स्वभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयाकारों को गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलता रहित) ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट दैदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमा में लीन हो गया॥१९२॥

टीका :– इसप्रकार मोक्ष (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायात्माख्यातौ मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अत्र पूर्वपक्षे परिहारः – पडिकमणमित्यादि। **पडिकमणं** प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणम्। **पडिसरणं** प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणम्। **पडिहरणं** प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणम्। **धारणा** पंचनमस्कारप्रभृतिमंत्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलंबनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा। **णियत्तीय** बहिरंगविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः। **णिंदा** आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निंदा। **गरुहा** गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा। **सोही** दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धिः। इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकषायपरिणतिरूपाशुभोपयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुंभो भवति। तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदान-बंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनविभावपरिणामशून्या, चिदानन्दैकस्वभावविशुद्धात्मालंबनभरितावस्था निर्विकल्पशुद्धोपयोग-लक्षणा, **अपडिकमणं** इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानिजनाश्रितनिश्चयाप्रतिक्रमणादिरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणां विषकुंभ एवेत्यर्थः। किंच विशेषः – अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति। ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रितं चेति। अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति। ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं। तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणम् सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षया यद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणम्। कस्मात् ? इति चेत्,

भावार्थ :– रंगभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वाँग आया था। जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ वहाँ उस मोक्ष का स्वाँग रंगभूमि से बाहर निकल गया।

(सवैया)

ज्यों नर कोय पर्‌यो दृढ़बंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तोऊ छिदै नहि नैक टिकारी।
छेदनकूँ गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी॥

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में मोक्ष का प्ररूपक आठवाँ अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – ''अप्रतिक्रमण विषकुंभ है'' यह एक पक्ष है तथा ''अमृतकुंभ है'' यह दूसरा पक्ष है। यहाँ पर पूर्वपक्ष का कथन (प्रश्न) करने पर उसका उत्तर इन दो गाथाओं में दिया जा रहा है। **पडिकमणं** प्रतिक्रमण अर्थात् किए हुए दोषों का निराकरण करना, **पडिसरणं** प्रतिसरण अर्थात् सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा करना, **पडिहरणं** प्रतिहरण अर्थात् मिथ्यात्व रागादि दोषों का निवारण करना, **धारणा** धारणा अर्थात् पःानमस्कार जैसे मन्त्र, प्रतिमा आदि बाह्य द्रव्य के आलम्बन से चित्त को स्थिर करना, **णियत्तीय** निवृत्ति अर्थात् बाह्य विषय-कषाय आदि ईहागत चित्त का निवर्तन करना, निवृत्ति करना, **णिंदा** निन्दा अर्थात् आत्मसाक्षीपूर्वक दोष प्रकट करना, **गरुहा** गर्हा अर्थात् गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना और **सोही** शुद्धि अर्थात् दोष होने पर विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि करना – ये आठ विकल्प रूप शुभोपयोग है। यद्यपि मिथ्यात्वादि विषय-कषाय परिणतिरूप अशुभोपयोग की अपेक्षा से सविकल्प सराग चारित्र की

समस्तशुभाशुभास्रवदोषनिराकरणरूपत्वादिति। ततः स्थितं तदेव निश्चयप्रतिक्रमणम्। व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्यं ज्ञानिजनस्य मोक्षकारणं भवति। व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेनविषयकषायवंर्चनार्थं करोति तदपि परंपरया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसुख-निमित्तपुण्यकारणमेव। यत्पुनरज्ञानिजनसंबंधिमिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव। एवं प्रतिक्रमणाद्यष्टविकल्परूपः शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पावस्थायाममृतकुंभो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षण-परमोपेक्षारूप-संयमापेक्षया विषकुंभ एवेति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम्॥३०६-३०७॥

तत्रैवं सति शृंगाररहितपात्रवद्रागादिरहितशांतरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रांतः।

इति श्री **जयसेनाचार्य** कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ द्वाविंशतिगाथा-भिश्चतुर्भिरंतराधिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्तः।

अवस्था में ये अमृतकुम्भ हैं, तथापि राग-द्वेष-मोह, ख्याति, पूजा, लाभ, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत भोगाकांक्षारूप निदानबन्ध आदि सभी परद्रव्य के आलम्बन वाले विभाव परिणामों से रहित ऐसे चिदानन्द एक स्वभाव रूप विशुद्ध आत्मावलम्बन से परिपूर्ण अवस्थावाले निर्विकल्प शुद्धोपयोग लक्षण वाले **अपडिकमणं** इस गाथा कथित क्रम से ज्ञानीजनाश्रित निश्चय अप्रतिक्रमण रूप जो तृतीय भूमि है, उसकी अपेक्षा से वीतराग चारित्र में स्थित पुरुषों को विषकुम्भ ही है, ऐसा आशय है। इसका कुछ विशेष यह है कि अप्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है – (१) ज्ञानी जनाश्रित, (२) अज्ञानी जनाश्रित। अज्ञानी जनाश्रित जो अप्रतिक्रमण है, वह विषय-कषाय परिणति रूप होता है, किन्तु ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान एवं अनुष्ठान लक्षणवाला त्रिगुप्ति रूप है। वह ज्ञानी जनाश्रित अप्रतिक्रमण सराग चारित्रलक्षण रूप शुभोपयोग की अपेक्षा से यद्यपि अप्रतिक्रमण कहा जाता है, तथापि वीतराग चारित्र अपेक्षा वही निश्चय प्रतिक्रमण है। किस कारण से (निश्चय प्रतिक्रमण) है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि समस्त शुभ-अशुभ आस्रव दोष निराकरण रूप होने के कारण (निश्चय प्रतिक्रमण) है। इससे सिद्ध हुआ कि वही निश्चय प्रतिक्रमण है। व्यवहार प्रतिक्रमण की अपेक्षा अप्रतिक्रमण शब्द से वाच्य ज्ञानिजनों का (अप्रतिक्रमण) मोक्ष का कारण है। व्यवहार प्रतिक्रमण तो यदि शुद्धात्मा को उपादेय मानकर उसी निश्चयप्रतिक्रमण के साधक भाव से विषय-कषायों से बचने के लिए करता है तो वह भी परम्परा मोक्ष का कारण होता है। अन्यथा स्वर्गादि सुख के निमित्त रूप पुण्यबन्ध का कारण होता है और जो अज्ञानी जीव से सम्बन्धित मिथ्यात्व विषय-कषाय परिणति रूप अप्रतिक्रमण है, वह नरकादि के दुःखों का ही कारण है॥३०६-३०७॥

इसप्रकार प्रतिक्रमण आदि आठ प्रकार का शुभोपयोग यद्यपि सविकल्प अवस्था में अमृतकुम्भ होता है, तथापि सुख-दुःख आदि में समतालक्षणरूप परम उपेक्षा संयम की अपेक्षा से व्यवहार प्रतिक्रमण विषकुम्भ ही है – इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से चतुर्थस्थल में आठ गाथाएँ पूर्ण हुईं। वहाँ इसप्रकार शृङ्गार रहित पात्र की तरह रागादि रहित शान्तरस से परिणत शुद्धात्मरूप से मोक्ष (रूप स्वांग) चला गया।

इसप्रकार जयसेनाचार्य कृत शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली समयसार की तात्पर्यवृत्ति व्याख्या में बाईस गाथाओं द्वारा चार अन्तराधिकारों में यह नवमाँ मोक्ष अधिकार पूर्ण हुआ। ●

९

सर्वविशुद्धज्ञान-अधिकार

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्।

(मन्दाक्रान्ता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः॥१९३॥

(अनुष्टुभ्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः॥१९४॥

(दोहा)

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमा राम।
परकूँ करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि – अब ''सर्वविशुद्धज्ञान'' प्रवेश करता है।

मोक्षतत्त्व के स्वाँग के निकल जाने के बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमि में जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – ये आठ स्वाँग आये, उनका नृत्य हुआ और वे अपना-अपना स्वरूप बताकर निकल गये। अब सर्व स्वाँगों के दूर होने पर एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, मंगलरूप से ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अखिलान् कर्तृ-भोक्तृ-आदि-भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा**] समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके [**प्रतिपदम्**] पद-पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाली प्रत्येक पर्याय में) [**बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः दूरीभूतः**] बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, [**शुद्धः शुद्धः**] शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरण से रहित)

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति –

दवियं जं उप्पज्जदि गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जयेहिं कणगं अणण्णमिह॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि॥३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा॥३११॥

[स्वरस-विसर-आपूर्ण-पुण्य-अचल-अर्चि:] जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञानरस के, ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और **[टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा]** जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा यह **[अयं ज्ञानपुञ्ज: स्फूर्जति]** ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।

भावार्थ :– शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से रहित है, बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित है, परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है, निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है॥१९३॥

अब सर्वविशुद्ध ज्ञान को प्रगट करते हैं। उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ताभाव से रहित है' इस अर्थ का, आगामी गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[कर्तृत्वं अस्य चित्त: स्वभाव: न]** कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्मा का स्वभाव नहीं है, **[वेदयितृत्ववत्]** जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है। **[अज्ञानात् एव अयं कर्ता]** वह अज्ञान से ही कर्ता है, **[तद्-अभावात् अकारक:]** अज्ञान का अभाव होने पर अकर्ता है॥१९४॥

अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :–

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों॥३०८॥

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से॥३०९॥

उपजै न आत्मा कोइ से, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइ को, इससे न कारण भी बने॥३१०॥

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत्।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ।।३०८।।
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे।
तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ।।३०९।।
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ।।३१०।।
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ।।३११।।

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः; सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादि परिणामैः का:ानवत्। एवं हि स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति; तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।।३०८-३११।।

**रे ! कर्म आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुए उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धी दिखै ।।३११।।**

गाथार्थ :– [**यत् द्रव्यं**] जो द्रव्य [**गुणैः**] जिन गुणों से [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है [**तैः**] उन गुणों से [**तत्**]उसे [**अनन्यत् जानीहि**] अनन्य जानो; [**यथा**] जैसे [**इह**] जगत में [**कटकादिभिः पर्यायैः तु**] कड़ा इत्यादि पर्यायों से [**कनकम्**] सुवर्ण [**अनन्यत्**] अनन्य है वैसे।

[**जीवस्य अजीवस्य तु**] जीव और अजीव के [**ये परिणामाः तु**] जो परिणाम [**सूत्रे दर्शिताः**] सूत्र में बताये हैं, [**तैः**] उन परिणामों से [**तं जीवमजीवं वा**] उस जीव अथवा अजीव को [**अनन्यं विजानीहि**] अनन्य जानो।

[**यस्मात्**] क्योंकि [**कुतश्चिद् अपि**] किसी से भी [**न उत्पन्नः**] उत्पन्न नहीं हुआ [**तेन**] इसलिये [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**कार्यं न**] (किसी का) कार्य नहीं है, [**किंचिद् अपि**] और किसी को [**न उत्पादयतिः**] उत्पन्न नहीं करता [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**कारणम् अपि**] (किसी का) कारण भी [**न भवति**] नहीं है।

[**नियमात्**] नियम से [**कर्म प्रतीत्य**] कर्म के आश्रय से (कर्म का अवलम्बन लेकर) [**कर्ता**] कर्ता होता है; [**तथा च**] और [**कर्तारं प्रतीत्य**] कर्ता के आश्रय से [**कर्माणि उत्पद्यंते**] कर्म उत्पन्न होते हैं; [**अन्या तु**] अन्य किसी प्रकार से [**सिद्धिः**] कर्ता-कर्म की सिद्धि [**न दृश्यते**] नहीं देखी जाती।

टीका :– प्रथम तो जीव क्रमनियमित (क्रमबद्ध) ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमनियमित (क्रमबद्ध) अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥१९५॥

अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्यद्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्य-कारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया, स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ :– सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ता-कर्म संबंध नहीं है। इसलिए जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और उसके अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, और उसके अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है॥३०८-३११॥

'इसप्रकार जीव अकर्ता है तथापि उसे बन्ध होता है यह अज्ञान की महिमा है' इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[स्वरसतः विशुद्धः]** जो निजरस से विशुद्ध है और **[स्फुरत्चित्-ज्योतिर्भिः छुरित-भुवन-आभोग-भवनः]** जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्यज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है, **[अयं जीवः]** ऐसा यह जीव **[इति]** पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) **[अकर्ता स्थितः]** अकर्ता सिद्ध हुआ, **[तथापि]** तथापि **[अस्य]** उसे **[इह]** इस जगत में **[प्रकृतिभिः]** कर्म प्रकृतियों के साथ **[यद् असौ बन्धः किल स्यात्]** जो यह (प्रगट) बन्ध होता है। **[सः खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरति]** सो वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है।

भावार्थ :– जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयों में व्याप्त होनेवाला है ऐसा यह जीव शुद्धनय से परद्रव्य का कर्ता नहीं है, तथापि उसे कर्म का बन्ध होता है यह अज्ञान की कोई गहन महिमा है – जिसका पार नहीं पाया जाता॥१९५॥

(सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारान्तर्गते मोक्षपदार्थचूलिका)

समुदायपातनिका – अथ **प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्।** संसारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिपरिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिकारणभूतपरिणामशून्य एवेति। **'दवियं जं उप्पज्जदि'** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यन्तं **मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यानं** करोति। तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयम्। तदनंतरं शुद्धस्यापि यद् ज्ञानावरणादिप्रकृतिभि: बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति कथनार्थम् **'चेदा दु पयडिअट्ठं'** इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयं। अत: परं निश्चयेन भोक्तृत्वाभावज्ञापनार्थम् **'अण्णाणी कम्मफलं'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। तदनंतरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण **'ण वि कुव्वदि'** इत्यादि सूत्रद्वयं कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकायां समुदायपातनिका।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयेन कर्मणां कर्ता न भवति इत्याख्याति – यथा कनकमिह कटकादिपर्यायै: सहानन्यदभिन्नं भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति। कै: सह ? स्वकीयस्वकीयगुणै: तद्‌द्रव्यं तैर्गुणै: सहानन्यद-भिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता।

(सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के अन्तर्गत मोक्षपदार्थ चूलिका)

समूह पीठिका – अब, सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है। जीव संसार पर्याय का आश्रय लेकर, अशुद्ध उपादान रूप अशुद्धनिश्चय नय से यद्यपि कर्तृत्व-भोक्तृत्व बन्ध-मोक्षादि परिणाम सहित है, तथापि सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभाव के ग्राहक शुद्ध उपादान रूप, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से कर्तृत्व-भोक्तृत्व, बन्ध-मोक्षादि के कारणभूत परिणामों से रहित ही है। **'दवियं जं उप्पज्जदि'** इत्यादि गाथा से लेकर चौदह गाथा पर्यन्त मोक्ष पदार्थ चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहाँ प्रारम्भ में निश्चय से कर्म-कर्तृत्व के अभाव की मुख्यता से चार गाथा सूत्र हैं। तदनन्तर शुद्धजीव के जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का बन्ध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है – ऐसा कथन करने के लिए **'चेदा दु पयडिअट्ठं'** इत्यादि चार प्राकृत गाथाएँ हैं। इसके बाद निश्चय से भोक्तृत्व के अभाव को बतलाने के लिए **'अण्णाणी कम्मफलं'** इत्यादि चार गाथाएँ हैं। तदनन्तर मोक्ष चूलिका के उपसंहार रूप में **'ण वि कुव्वदि'** इत्यादि दो गाथा सूत्र कहते हैं, इसप्रकार मोक्ष पदार्थ चूलिका में समूहरूप पातनिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय से (जीव) कर्मों का कर्ता नहीं है, यह कहते हैं –

जिसप्रकार इस जगत में स्वर्ण अपनी कटक आदि पर्यायों से अनन्य या अभिन्न है, उसी प्रकार द्रव्य भी जो उत्पन्न होता है या परिणमन करता है। किनके साथ (उत्पन्न होता है या परिणमन करता है) ? अपने-अपने गुणों के साथ (उत्पन्न होता है या परिणमन करता है)। वह द्रव्य उन गुणों के साथ अनन्य या अभिन्न है, ऐसा जानो। इसप्रकार प्रथम गाथा हुई।

जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते जीव के और अजीव के जो परिणाम या पर्यायें परमागम में कही गई हैं, उनके साथ उसी पूर्वोक्त स्वर्ण दृष्टान्त द्वारा उस ही जीव और अजीव द्रव्य को अनन्य या अभिन्न जानो। इसप्रकार दूसरी गाथा हुई।

जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामा: पर्याया देशिता: कथिता: सूत्रे परमागमे तै: सह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टांतेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदभिन्नं विजानीहीति द्वितीयगाथा गता।

यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्न: कर्मणा न जनित: तेन कारणेन कर्मनोकर्मापेक्षयात्मा कार्यं न भवति। न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति। तेन कारणेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति, यत: कर्मणां कर्ता मोचकश्च न भवति तत: करणाद् बंधमोक्षयो: शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता।

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंते णियमा यत: पूर्वं भणितं सुवर्णद्रव्यस्य कुण्डलपरिणामेनैव सह जीवपुद्गलयो: स्वपरिणामै: सहैवानन्यत्वमभिन्नत्वं। पुनश्चोक्तं कर्मनोकर्मभ्यां कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणां नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीव: कर्मकर्ता। तथा कर्माणि चोत्पद्यंते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् संदेहो नास्ति। **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थ: ? परस्परनिमित्तभावं विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये सिद्धिर्निष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां च कर्मत्वं न दृश्यते तत: स्थितं शुद्ध-निश्चयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता। एवं निश्चयेन जीव: कर्मणां कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्॥३०८-३११॥

चूँकि शुद्ध निश्चयनय से नर-नारकादि विभाव पर्यायरूप से जीव कभी भी उत्पन्न नहीं होता है। कर्म से जीव उत्पन्न नहीं हुआ है। इस कारण से कर्म-नोकर्म की अपेक्षा आत्मा उस कर्म का कार्य नहीं है और वह (जीव) कर्म तथा नोकर्म को उपादान रूप से कुछ भी उत्पन्न नहीं करता है। इस कारण (जीव) कर्म-नोकर्म का कारण भी नहीं है। इसलिए जीव कर्म का कर्ता तथा कर्म का मोचक भी नहीं है। इसकारण शुद्धनिश्चयनय से आत्मा बन्ध-मोक्ष का भी कर्ता नहीं है, इसप्रकार तीसरी गाथा पूर्ण हुई।

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंते णियमा क्योंकि पूर्व में कहा गया है कि जिसप्रकार स्वर्ण द्रव्य का कुण्डल पर्याय के साथ अनन्यत्व या अभिन्नत्व है, उसीप्रकार जीव तथा पुद्गल का अपनी-अपनी पर्यायों के साथ अनन्यत्व या अभिन्नत्व है। और भी कहा गया है कि कर्त्ता रूप से कर्म तथा नोकर्म द्वारा जीव उत्पन्न नहीं किया जाता है और जीव भी कर्म-नोकर्म को उत्पन्न नहीं करता है। इससे जाना जाता है कि कर्म की प्रतीति करके उपचार से जीव कर्म का कर्ता है तथा कर्म भी जीवरूप कर्ता को आश्रय करके उपचार से उत्पन्न किए जाते हैं, यह नियम है, इसमें सन्देह नहीं है।

सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा इसप्रकार से, ''इसप्रकार से'' का क्या अर्थ ? परस्पर निमित्तभाव को छोड़कर शुद्ध उपादान रूप से शुद्ध निश्चयनय से जीव का कर्म-कर्तृत्व के विषय में सिद्धि या निष्पत्ति या घटित होना दिखाई नहीं देता है। कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलों का कर्मपना भी दिखाई नहीं देता है, इससे सिद्ध है कि जीव शुद्धनिश्चयनय से अकर्ता है, इसप्रकार चौथी गाथा पूर्ण हुई।

इसप्रकार निश्चय से जीव कर्म का कर्ता नहीं है, इसप्रकार कथन की मुख्यता से प्रथम स्थल में चार गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३०८-३११॥

चेदा दु पयडीयट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि।
पयडी वि चेदयट्ठं उप्पज्जदि विणस्सदि ॥३१२॥
एवं बंधो दु दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥३१३॥

**चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥३१२॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत्।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥३१३॥**

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति; प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेप्यन्योऽन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ॥३१२-३१३॥

अब अज्ञान की इस महिमा को प्रकट करते हैं :–

पर जीव प्रकृति के निमित्त जु, उपजता नशता अरे !
अरु प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥३१२॥

अन्योन्य के जु निमित्त से यों, बंध दोनों का बने।
इस जीव प्रकृति उभय का, संसार इससे होय है ॥३१३॥

गाथार्थ :– [**चेतयिता तु**] चेतक अर्थात् आत्मा [**प्रकृत्यर्थम्**] प्रकृति के निमित्त से [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होता है [**विनश्यति**] और नष्ट होता है, [**प्रकृतिः अपि**] तथा प्रकृति भी [**चेतकार्थम्**] चेतक अर्थात् आत्मा के निमित्त से [**उत्पद्यते**] उत्पन्न होती है [**विनश्यति**] तथा नष्ट होती है। [**एवं**] इसप्रकार [**अन्योन्यप्रत्ययात्**] परस्पर निमित्त से [**द्वयोः अपि**] दोनों का [**आत्मनः प्रकृतेः च**] आत्मा और प्रकृति का [**बन्धः तु भवेत्**] बन्ध होता है, [**तेन**] और इससे [**संसारः**] संसार [**जायते**] उत्पन्न होता है।

टीका :– यह आत्मा (उसे) अनादि संसार से ही (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ, प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है; प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होती है। (अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है)। इसप्रकार – यद्यपि इन आत्मा और प्रकृति के कर्ता-कर्म भाव का अभाव है, तथापि – परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से दोनों के बंध देखा जाता है, इससे संसार है और इसी से उनके (आत्मा और प्रकृति के) कर्ता-कर्म का व्यवहार है।

भावार्थ :– आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के परमार्थ से कर्ता-कर्म भाव का

जा एस पयडीयट्ठं चेदा णेव विमुःादें[1]।
अयाणगो हवे दाव मिच्छादिट्ठी असंजदो ॥३१४॥
जदा विमुःादे चेदा कम्मफलमणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणगो पासगो मुणी ॥३१५॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयत: ॥३१४॥
यदा विमुंचति चेतयिता कर्मफलमनंतकम्।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनि: ॥३१५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद् बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति – **चेदा** आत्मा स्वस्थभावच्युत: सन् प्रकृतिनिमित्तं कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते विनश्यति च विभावपरिणामै: पर्यायै:। प्रकृतिरपि चेतयितृकार्यं जीवसंबंधिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायै: उत्पद्यते विनश्यति च। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बंधो जायते द्वयो: – स्वस्थभावच्युतस्यात्मन: कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिंडरूपाया ज्ञानावरणादिप्रकृतेश्च। कथंभूतयोर्द्वयो: ? अन्योन्यप्रत्यययो:, परस्परनिमित्तकारणभूतयो:। एवं रागाद्यज्ञानभावेन बंधो भवति तेन च बंधेन संसारो जायते, न च स्वस्वरूपत: इत्युक्तं भवति ॥३१२-३१३॥

अभाव है तथापि परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव के कारण बन्ध होता है, इससे संसार है और इसी से कर्ता-कर्मपन का व्यवहार है ॥३१२-३१३॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्ध आत्मा के ज्ञानावरणादि प्रकृतियों के द्वारा जो बन्ध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है, ऐसा कहते हैं – **चेदा** आत्मा स्वस्थभाव से च्युत होता हुआ प्रकृति या कर्मोदय के निमित्त से विभाव परिणामों से उत्पन्न होता है और विनाश को प्राप्त होता है। प्रकृति भी, चैतन्यमय कार्य जीव सम्बन्धी रागादि परिणामों के निमित्त से, ज्ञानावरणादि कर्म पर्यायों से उत्पन्न होती है, विनाश को प्राप्त होती है। इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से दोनों के अर्थात् स्वभाव से च्युत आत्मा के तथा कर्मवर्गणायोग्य पुद्गलपिण्ड रूप ज्ञानावरणादि प्रकृति के बन्ध होता है। किसप्रकार दोनों के (बन्ध होता है) ? अन्योन्य प्रत्ययों का अर्थात् एक-दूसरे में निमित्त कारण वालों का (बन्ध होता है)। इसप्रकार रागादि अज्ञानभाव से बन्ध होता है और उस बन्ध से संसार (परिभ्रमण) होता है और अपने स्वस्वरूप से बन्ध या संसार नहीं होता है, ऐसा कहा गया है॥३१२-३१३॥

....

(अब यह कहते हैं कि 'जबतक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनाशना न छोड़े तबतक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है')

---

१. पाठान्तर = चेदगो ण विमुंचदि

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुंचति, तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति; तावदेव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति। यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षण-निर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुंचति, तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयो-र्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति; तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यास-स्याकरणादकर्ता भवति॥३१४-३१५॥

उत्पाद-व्यय प्रकृती निमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे।
अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जीव रहे॥३१४॥

ये आत्मा जब ही करम का, फल अनंता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है॥३१५॥

गाथार्थ :– [**यावत्**] जबतक [**एषः चेतयिता**] यह आत्मा [**प्रकृत्यर्थं**] प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनशना [**न एव विमुञ्चति**] नही छोड़ता, [**तावत्**] तबतक वह [**अज्ञायकः**] अज्ञायक (अज्ञानी) है, [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि है, [**असंयतः भवेत्**] असंयत है।

[**यदा**] जब [**चेतयिता**] आत्मा [**अनन्तकम् कर्मफलम्**] अनन्त कर्म फल को [**विमुञ्चति**] छोड़ता है, [**तदा**] तब वह [**ज्ञायकः**] ज्ञायक है, [**दर्शकः**] दर्शक है, [**मुनिः**] मुनि है, [**विमुक्तः भवति**] विमुक्त अर्थात् बन्ध से रहित है।

टीका :– जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से, प्रकृति के स्वभाव को – जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको – नहीं छोड़ता, तबतक स्व-पर के एकत्वज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है, स्व-पर के एकत्व दर्शन से (एकत्वरूप श्रद्धान से) मिथ्यादृष्टि है और स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है; और तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अध्यास करने से कर्ता है। और जब यही आत्मा (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान के (भेदज्ञान के) कारण प्रकृति के स्वभाव को – जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको छोड़ता है, तब स्व-पर के विभागज्ञान से (भेदज्ञान से) ज्ञायक है, स्व-पर के विभागदर्शन से (भेददर्शन से) दर्शक है और स्व-पर की विभागपरिणति से (भेदपरिणति से) संयत है; और तभी स्व-पर के एकत्व का अध्यास न करने से अकर्ता है।

भावार्थ :– जबतक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता तबतक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होता है; इसप्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्म का बन्ध करता है। और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिए कर्म का बन्ध नहीं करता, ज्ञाता-दृष्टारूप से परिणमित होता है॥३१४-३१५॥

(अनुष्टुभ्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृत: कर्तृत्ववच्चित:।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदक:॥१९६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युत: सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुंचति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति – यावत्कालमेष चेतयिता जीव: चिदानन्दैकस्वभावपरमात्म-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुंचति, तावत्कालं रागादि-रूपमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असंयतश्च भवति, तथाभूत: सन् मोक्षं न लभते। यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूपं कर्मफलं शक्तिरूपेणानंतं विशेषेण सर्वप्रकारेण मुंचति तदा शुद्ध-बुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् लाभान् मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्न-मात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च। तत: सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति, संयतो मुनिश्च भवति। तथाभूत: सन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति। एवं यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मबंध-वशान्मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम्॥३१४-३१५॥

''इसीप्रकार भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है'' इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [कर्तृत्ववत्] कर्तृत्व की भाँति **[भोक्तृत्वं अस्य चित: स्वभाव: स्मृत: न]** भोक्तृत्व भी इस चैतन्य का (चित्स्वरूप आत्मा का) स्वभाव नहीं कहा है। **[अज्ञानात् एव अयं भोक्ता]** वह अज्ञान से ही भोक्ता है, **[तद्-अभावात् अवेदक:]** अज्ञान का अभाव होने पर वह अभोक्ता है॥१९६॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जितने समय तक शुद्धात्मानुभूति से च्युत होता हुआ (यह जीव) प्रकृति के अर्थ अर्थात् प्रकृति के उदय रूप रागादिक को नहीं छोड़ता है, उतने समय तक अज्ञानी है, और उसके अभाव में ज्ञानी होता है, ऐसा कहते हैं – जबतक यह चेतयिता जीव, चिदानन्द एक स्वभाव परमात्मा का सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् अनुभवन रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के अभाव से प्रकृति के कार्य अर्थात् कर्मोदय रूप रागादि को नहीं छोड़ता, तब तक आत्मा को रागादि रूप मानता है, जानता है तथा अनुभव करता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि होता है, अज्ञानी होता है और असंयमी होता है – ऐसा होता हुआ (वह) मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है। जब पुन: यही चेतयिता आत्मा मिथ्यात्व रागादि रूप कर्मफल को जो कि शक्तिरूप से अनन्त विशेषों (भेदों) वाले हैं उनको सर्व प्रकार से छोड़ता है, तब शुद्ध-बुद्ध-एक स्वभावरूप आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुभव रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सद्भाव से लाभ से मिथ्यात्व रागादि से भिन्न आत्मा का श्रद्धान करता है, जानता है और अनुभव करता है, तब सम्यग्दृष्टि होता है, ज्ञानी होता है और संयमी मुनि होता है। वैसा होता हुआ विशेष रूप से द्रव्यभावगत मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के विनाश से मुक्त होता है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा शुद्धनिश्चय से कर्ता नहीं होता है, तथापि अनादि कर्मबन्ध के वश से मिथ्यात्व रागादि अज्ञान भाव से कर्म बाँधता है, इसप्रकार अज्ञान की सामर्थ्य बताने के लिए द्वितीय स्थल में चार गाथा सूत्र पूर्ण हुए॥३१४-३१५॥

अण्णाणी कम्मफलं पयडि-सहावट्ठिदो दु वेददि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेददि॥३१६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते॥३१६॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते। ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञान-सद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृत-त्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतया अनुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव, न पुनः तस्याहंत-याऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते॥३१६॥

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं :–

अज्ञानी स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफल को वेदता।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता॥३१६॥

गाथार्थ :– [**अज्ञानी**] अज्ञानी [**प्रकृतिस्वभावस्थितः तु**] प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ [**कर्मफलं**] कर्मफल को [**वेदयते**] वेदता (भोगता) है [**पुनः ज्ञानी**] और ज्ञानी तो [**उदितं कर्मफलं**] उदय में आये हुए (उदयागत) कर्मफल को [**जानाति**] जानता है, [**न वेदयते**] भोगता नहीं।

टीका :– अज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण स्व-पर के एकत्वज्ञान से, स्व-पर के एकत्व दर्शन से और स्व-पर की एकत्वपरिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से प्रकृति के स्वभाव को भी 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को भी 'यह मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करता हुआ) कर्मफल को वेदता-भोगता है; और ज्ञानी तो शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण स्व-पर के विभागज्ञान से, स्व-पर के विभाग-दर्शन से और स्व-पर की विभागपरिणति से प्रकृति के स्वभाव से निवृत्त (दूरवर्ती) होने से शुद्ध आत्मा के स्वभाव को एक को ही 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ उदित कर्मफल को, उसके ज्ञेयमात्रता के कारण, जानता ही है, किन्तु उसका 'अहं' रूप से अनुभव में आना अशक्य होने से, (उसे) नहीं भोगता।

भावार्थ :– अज्ञानी को तो शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है इसलिए जो कर्म उदय में आता है उसी को वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है इसलिए वह उस प्रकृति के उदय को अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है; भोक्ता नहीं होता॥३१६॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः नित्यं वेदकः भवेत्**] अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते –

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुड-दुद्धं पि पिबंता ण पण्णगा णिव्विसा होंति ॥३१७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्वभावो न भवति, कस्मात् ? अज्ञान-स्वभावत्वात्, इति कथयति – **अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्व-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावादज्ञानी जीवः उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफलं वेदयत्यनुभवति। **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि** ज्ञानी पुनः[१] पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः सन् कर्मफलमुदितं वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ॥३१६॥

में लीन-रत होने से (उसी को अपना स्वभाव जानता है इसलिए) सदा वेदक है, **[तु]** और **[ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः जातुचित् वेदकः नो]** ज्ञानी तो प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से (उसे पर का स्वभाव जानता है इसलिए) कदापि वेदक नहीं है। **[इति एवं नियमं निरूप्य]** इसप्रकार के नियम को भलीभाँति विचार करके – निश्चय करके **[निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्]** निपुण पुरुषो ! अज्ञानीपन को छोड़ दो और **[शुद्ध-एक-आत्ममये महसि]** शुद्ध-एक-आत्मामय तेज में **[अचलितैः]** निश्चल होकर **[ज्ञानिता आसेव्यताम्]** ज्ञानीपने का सेवन करो ॥१९७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब शुद्धनिश्चयनय से कर्म के फल का भोक्तापना जीव का स्वभाव नहीं है, किस कारण से ? अज्ञान स्वभाव होने से। ऐसा कहते हैं –

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठान (चारित्र) रूप अभेद रत्नत्रयात्मक भेदज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी जीव उदयागत कर्मप्रकृतियों के स्वभाववाले सुख-दुःख स्वरूप में स्थित होकर हर्ष-विषाद से तन्मय होकर कर्मफल का वेदन करता है, अनुभव करता है। **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि** और ज्ञानी जीव पूर्वोक्त भेदविज्ञान के सद्भाव से वीतराग सहज परमानन्द रूप सुखरस के स्वाद रूप परम समरसीभाव से परिणत होता हुआ उदयागत कर्मफल को वस्तुस्वरूप से जानता ही है और हर्ष-विषाद से तन्मय होकर वेदन नहीं करता है ॥३१६॥

---

१. यहाँ वर्तमान प्रकाशनों में जो 'तन्मयो भूत्वा' शब्द अतिरिक्त मिलता है, वह मूल हस्तलिखित प्रति में अप्राप्त होने से यहाँ नहीं दिया गया है। आवश्यक प्रतीत भी नहीं होता है।

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति॥३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुंचति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुंचति; तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुंचति, प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुंचति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्। अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव॥३१७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अज्ञानी कर्मणां नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति – यथा पन्नगाः सर्पाः शर्करासहितं दुग्धं पिबंतोऽपि निर्विषा न भवंति तथाऽज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरागादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभावं न मुंचति। किं कृत्वापि? अधीत्यापि। कानि ? शास्त्राणि। कथं? **सुट्ठुवि** सुष्ट्वपि। कस्मान्न मुंचति ? वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरागादीनां तन्मयो भवति यतः कारणात् इति॥३१७॥

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम है) :–

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने॥३१७॥

गाथार्थ :– [**सुष्ठु**] भली-भाँति [**शास्त्राणि**] शास्त्रों को [**अधीत्य अपि**] पढ़कर भी [**अभव्यः**] अभव्य जीव [**प्रकृतिं**] प्रकृति को (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को) [**न मुञ्चति**] नहीं छोड़ता, [**गुडदुग्धं**] जैसे मीठे दूध को [**पिबंतः अपि**] पीते हुए भी [**पन्नगाः**] सर्प [**निर्विषाः**] निर्विष [**न भवंति**] नहीं होते।

टीका :– जैसे इस जगत में सर्प विषभाव को अपने आप नहीं छोड़ता और विषभाव के मिटाने में समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपान से भी नहीं छोड़ता, इसीप्रकार वास्तव में अभव्य जीव प्रकृतिस्वभाव को अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृतिस्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी नहीं छोड़ता; क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुत ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानीपन है। इसलिए यह नियम किया जाता है (ऐसा नियम सिद्ध होता है) कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में स्थित होने से वेदक (भोक्ता) ही है।

भावार्थ :– इस गाथा में, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता ही है। यहाँ अभव्य का उदाहरण युक्त है। जैसे अभव्य का स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुत का ज्ञान आदि बाह्य कारणों के मिलने पर भी अभव्यजीव, शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण, कर्मोदय को भोगने के स्वभाव को नहीं बदलता; इसलिए इस उदाहरण से स्पष्ट हुआ कि शास्त्रों का ज्ञान इत्यादि होने पर भी जबतक जीव को शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञानीपन है तबतक वह नियम से भोक्ता ही है॥३१७॥

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते –

णिव्वेद-समावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
महुरं कडुयं बहुविहमवेदगो तेण सो होइ[१] ॥३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति॥३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुंचति, ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते। अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव॥३१८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अज्ञानी कर्मों का नियम से वेदक होता है, यह दिखाते हैं –

जिस प्रकार सर्प शक्कर सहित दूध को पीकर भी निर्विष नहीं होता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव मिथ्यात्व रागादि रूप कर्म प्रकृतियों के उदय स्वभाव को नहीं छोड़ता है। क्या करके भी ? अध्ययन करके भी। किनका अध्ययन करके ? शास्त्रों का अध्ययन करके भी। कैसे अध्ययन करके ? **सुठ्ठुवि** अच्छी तरह पढ़कर भी। किस कारण से नहीं छोड़ता है ? वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव होने से कर्मोदय होने पर मिथ्यात्व रागादि से तन्मय होता है, इस कारण से वह कर्म के उदय स्वभाव को नहीं छोड़ता है॥३१७॥

....

अब, यह नियम करते हैं कि ज्ञानी तो कर्मफल का अवेदक ही है :–

वैराग्य प्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे-मधुर बहुभाँति को, इससे अवेदक है अहा॥३१८॥

गाथार्थ :– [**निर्वेदसमापन्नः**] निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**मधुरं कटुकं**] मीठे-कड़वे [**बहुविधम्**] अनेक प्रकार से [**कर्मफलं**] कर्मफल को [**विजानाति**] जानता है [**तेन**] इसलिए [**सः**] वह [**अवेदकः भवति**] अवेदक है।

टीका :– ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण, पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति (कर्मोदय) के स्वभाव को स्वयमेव छोड़ देता है इसलिए उदय में आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञान के होने पर (ज्ञान हो तब) परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता होने से (उस कर्मफल को) नहीं वेदता। इसलिए, ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।

भावार्थ :– जो जिससे विरक्त होता है उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थ से भोक्ता नहीं कहलाता। इस न्याय से ज्ञानी – जो कि प्रकृतिस्वभाव (कर्मोदय) को अपना न जानने से उससे विरक्त है, वह स्वयमेव तो प्रकृतिस्वभाव को नहीं भोगता, और

१. पाठान्तर = तेण पण्णत्तो

(वसंततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानी कर्मणां नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति – **णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि** परमतत्त्वज्ञानी जीवः संसारशरीरभोगरूपत्रिविधवैराग्यसंपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागतं वस्तुस्वरूपेण विशेषेण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन जानाति। कथंभूतं जानाति ? **महुरं कडुयं बहुविहमवेदगो तेण पण्णत्तो** अशुभकर्मफलं निंबकांजीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति। शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखांडशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति। न च शुद्धात्मोत्थसहजपरमानन्दरूपमतींद्रियसुखं विहाय पंचेन्द्रियसुखे परिणमति तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः। एवं ज्ञानी शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मफलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम्॥३१८॥

उदय की बलवत्ता से परवश होता हुआ निर्बलता से भोगता है तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहार से भोक्ता कहलाता है। किन्तु व्यवहार का तो यहाँ शुद्धनय के कथन में अधिकार ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी अभोक्ता ही है॥३१८॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ज्ञानी कर्म न करोति च न वेदयते] ज्ञानी कर्म को न तो करता है और न भोगता है, **[तत्स्वभावम् अयं किल केवलम् जानाति]** वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। **[परं जानन्]** इसप्रकार मात्र जानता हुआ **[करणवेदनयोः अभावात्]** करने और भोगने के अभाव के कारण **[शुद्ध-स्वभाव-नियतः सः हि मुक्तः एव]** शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है।

भावार्थ :– ज्ञानी कर्म का स्वाधीनतया कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिए वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदय में आता भी है, फिर भी वह ज्ञानी का क्या कर सकता है ? जबतक निर्बलता रहती है तबतक कर्म जोर चला ले; किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्त में कर्म का समूल नाश करेगा ही॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – ज्ञानी नियम से – निश्चय से कर्मों का वेदक नहीं होता है, यह दिखलाते हैं–

णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि परमतत्त्वज्ञानी जीव संसार शरीर भोग रूप तीन प्रकार के वैराग्य से सम्पन्न होकर उदयागत शुभ-अशुभ कर्मफल को वस्तुस्वरूप से विशेष रूप से निर्विकर निजशुद्धात्मा से भिन्नपनेरूप जानता है। किसप्रकार से जानता है ? **महुरं कडुयं बहुविहमवेदगो तेण पण्णत्तो** अशुभ कर्मफल को निम्ब, काञ्जीर, विष तथा हलाहल रूप से कटुक जानता है। और अनेक प्रकार के शुभकर्मफल को गुड़, खाण्ड, शक्कर तथा अमृत रूप से मधुर जानता है। परन्तु शुद्धात्मा से उत्पन्न, सहज,

ण वि कुव्वदि ण वि वेयदि णाणी कम्माइं बहुप्पयाराइं।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च।।३१९।।

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च।।३१९।।

ज्ञानि हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च; किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति।।३१९।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निरुपरागशुद्धात्मानुभुतिलक्षणभेदज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयति इति प्रकाशयति– **ण वि कुव्वदि ण वि वेददि णाणी कम्माइ बहुपयाराइं** त्रिगुप्तिगुप्तत्वबलेन ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनशून्येनानंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालंबने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि निश्चयनयेन न करोति न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति। तर्हि किं करोति ? **जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च** परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव। किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबंधादि भेदभिन्नं पुनः कर्मबंधं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति।।३१९।।

परमानन्दरूप अतीन्द्रिय सुख को छोड़कर पंचेन्द्रिय सुख रूप में परिणमित नहीं होता है। इस कारण से ज्ञानी वेदक या भोक्ता नहीं होता है, ऐसा नियम है। इसप्रकार ज्ञानी शुद्ध निश्चयनय से शुभाशुभ कर्मों के फल का भोक्ता नहीं होता है, ऐसे कथन की मुख्यता से तीसरे स्थल में चार गाथासूत्र पूर्ण हुए।।३१८।।

....

अब इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं :–

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँति को।
बस जानता ये बंध त्यों हि कर्मफल शुभ अशुभ को।।३१९।।

गाथार्थ :– [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**बहु-प्रकाराणि**] बहुत प्रकार के [**कर्माणि**] कर्मों को [**न अपि करोति**] न तो करता है, [**न अपि वेदयति**] और न भोगता ही है; [**पुनः**] किन्तु [**पुण्यं च पापं**] पुण्य और पापरूप [**बंधं**] कर्मबन्ध को [**च कर्मफलं**] तथा कर्मफल को [**जानाति**] जानता है।

टीका :– ज्ञानी कर्म चेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है, और कर्मफल चेतना रहित होने से स्वयं अभोक्ता है, इसलिए वह कर्म को न तो करता है और न भोगता है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होने से मात्र ज्ञाता ही है इसलिए वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।।३१९।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब, निरुपराग शुद्धात्मानुभूति लक्षणरूप भेदज्ञानी न तो कर्म करता है और न कर्म को भोक्ता है, ऐसा कहते हैं **– ण वि कुव्वदि ण वि वेददि णाणी कम्माइ बहुपयाराइं** सम्यग्ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति में गुप्त रहने के बल से ख्याति, पूजा, लाभ, दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोग-आकांक्षारूप निदान बन्ध

कुत एतत् ? –

दिट्ठी जहेव णाणं[1] अकारयं[2] तह अवेदयं[2] चेव।
जाणदि य बंध-मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥३२०॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव॥३२०॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्,

---

आदि समस्त परद्रव्य के अवलम्बन रहित होने से और अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य स्वरूप के आलम्बन से भरितावस्थ निर्विकल्प समाधि में स्थित ज्ञानी बहुत प्रकार के ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृति भिन्न-भिन्न भेदों को निश्चयनय से न करता है और न तन्मय होकर वेदन करता है न अनुभव करता है, न भोगता है। तो फिर क्या करता है ? **जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च** (ज्ञानी) परमात्म भावना से उत्पन्न सुख में तृप्त होकर वस्तु स्वरूप से जानता मात्र है। क्या जानता है ? सुख-दुःखस्वरूप कर्मफल को, प्रकृतिबंध आदि के भेद से होनेवाले अनेक प्रकार के कर्म बन्ध को तथा सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभनाम, शुभगोत्र रूप पुण्यकर्म को और इनसे विपरीत असातावेदनीय आदि रूप पापकर्म को जानता है॥३१९॥

....

अब प्रश्न होता है कि (ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है ? इसका उत्तर दृष्टांतपूर्वक कहते हैं :–

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को॥३२०॥

गाथार्थ :– [**यथा एव दृष्टिः**] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों का करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञानम्**] ज्ञान [**अकारकं**] अकारक [**अवेदकं च एव**] तथा अवेदक है, [**च**] और [**बंधमोक्षं**] बन्ध, मोक्ष [**कर्मोदयं**] कर्मोदय [**निर्जरां च एव**] तथा निर्जरा को [**जानाति**] जानता ही है।

टीका :– जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, दृश्य पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है – यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने से, [3]संधुक्षण की भाँति, अपने को (नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना) और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य

---

१. पाठान्तर = दिट्ठी सयंपि णाणं, दिट्ठी खयंपि णाणं २. पाठान्तर = अकारगं, अवेदगं
३. संधुक्षण – संधुकण; अग्नि जलानेवाला पदार्थ; अग्नि को चेतानेवाली वस्तु।

किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंत-विभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वा-त्कर्मबंधं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति॥३१९-३२०॥

होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता भोक्ता नहीं है) – किन्तु केवल दर्शनमात्र स्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला (जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को, और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।

भावार्थ :– ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; इसलिए ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि ''ऐसा तो केवलज्ञान है और शेष (क्षायोपशमिक ज्ञान) तो जबतक मोहकर्म का उदय है तबतक (उसका) सुख-दुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जबतक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय का उदय है तबतक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होने से पूर्व ज्ञाता-दृष्टापन कैसे कहा जा सकता है ?''

उसका समाधान :– पहले से ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतंत्रतया करता – भोगता है, वह परमार्थ से कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है वह परमार्थदृष्टि से उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्य के निमित्त से कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्ध में नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है वही संसार है। मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। समुद्र में एक बूँद की गिनती ही क्या है ? और इतना विशेष जानना चाहिए कि केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्म स्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा को ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष ही भेद है। इसलिए श्रुतज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा से ज्ञाता-दृष्टापन ही है और चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है उतना घात है और उसे नष्ट करने का उद्यम भी है। जब कर्म का अभाव हो जायेगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है। यदि ज्ञान-सामान्य की अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष की अपेक्षा लें तो जबतक किंचित्मात्र भी अज्ञान है तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता – जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों में भावों का वर्णन करते हुए, जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिए यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से ही जानना चाहिए॥३२०॥

(अनुष्टुभ्)

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा तता:।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्।।१९९।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति – **दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव** यथा दृष्टि: कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्ताय: पिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति। तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति। अथवा पाठांतरं **दिट्ठी खयंपि णाणं** तस्य व्याख्यानं न केवलं दृष्टि: क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि। तथाभूत: सन् किं करोति ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानाति च। कौ ? बंधमोक्षौ। न केवलं बंधमोक्षौ **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति। एवं सर्वविशुद्ध-पारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितम् समुदायपातनिकायां। पश्चाद् गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतं। पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतम्। पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतम्। तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबंधमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतम्।।३२०।।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबंधिनी चतुर्दशगाथाभिश्चतुर्भिरंतराधिकारै: चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकार: समाप्त:।

अब, जो जैन साधु भी सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं उनका निषेध करते हुए, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ये तु तमसा तता: आत्मानं कर्तारम् पश्यन्ति] जो अज्ञान-अंधकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, **[मुमुक्षताम् अपि]** वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों तथापि **[सामान्यजनवत्]** सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति **[तेषां मोक्ष: न]** उनकी भी मुक्ति नहीं होती।।१९९।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उस ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अभाव का विशेष प्रकार से समर्थन करते हैं –

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव जिसप्रकार नेत्र अग्निरूप दृश्य को देखता है, परन्तु अग्निरूप वस्तु को प्रज्ज्वलित करने वाले पुरुष के समान उसका कर्त्ता नहीं है, उसीप्रकार तपे हुए लोहपिण्ड के समान (वह नेत्र उस अग्नि को) अनुभवरूप से भोक्ता नहीं है, वेदता नहीं है। इसीप्रकार शुद्धज्ञान भी अथवा अभेदरूप से शुद्धज्ञान परिणत जीव भी स्वयं शुद्ध उपादान रूप से न कर्त्ता है, न भोक्ता है। अथवा पाठान्तर **दिट्ठी खयंपि णाणं** इसका अर्थ है कि न केवल दृष्टि अपितु क्षायिकज्ञान भी निश्चय से कर्मों का अकारक (अकर्ता) तथा उसी प्रकार अवेदक (अभोक्ता) है। ऐसा होता हुआ जीव क्या करता है ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानता है। किनको जानता है ? बन्ध तथा मोक्ष को जानता है। न केवल बन्ध-मोक्ष को जानता है, अपितु **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभ-अशुभ रूप कर्मोदय को सविपाक अविपाक रूप से अथवा सकाम-अकाम रूप से होने वाली दोनों प्रकार की निर्जरा को भी जानता है।

किंच विशेष: – औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिक-क्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्य-पर्यायद्वयमात्मपदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं यत् पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्षपर्यायपरिणति-रहितम्। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं च तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति। कथम-शुद्धमिति चेत् ? संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयम्। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीव: सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागम-भाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुन: **शुद्धात्माभिमुखपरिणाम: शुद्धोपयोग**

इसप्रकार सर्वविशुद्ध पारिणामिक परमभावग्राहक, शुद्ध-उपादानभूत, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से यह जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा बन्ध-मोक्षादि के कारणभूत परिणाम से रहित है। इसप्रकार समुदाय पातनिका में सूचित किया गया है। उसके बाद चार गाथाओं द्वारा जीव के अकर्तृत्व गुण के कथन की मुख्यता से सामान्य विवेचन किया है। और फिर से चार गाथाओं द्वारा शुद्ध आत्मा को भी जो प्रकृतियों का बन्ध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है– इसप्रकार अज्ञान की सामर्थ्य के कथन रूप विशेष विवेचन किया है। फिर चार गाथाओं द्वारा जीव के अभोक्तृत्व गुण के कथन की मुख्यता से विवेचन किया है। उसके बाद शुद्धनिश्चय नय से उस ही जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा बन्ध-मोक्षादि के कारणभूत परिणाम के निषेधरूप बारह गाथाओं में किए गए व्याख्यान के उपसंहाररूप से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३२०॥

इसप्रकार जयसेनाचार्य कृत शुद्धात्मानुभूतिलक्षण रूप तात्पर्यवृत्ति नामक समयसार की व्याख्या में मोक्षाधिकार सम्बन्धी चौदह गाथाओं द्वारा, चार अन्तराधिकारों द्वारा चूलिका पूर्ण हुई। अथवा द्वितीय प्रकार के व्याख्यान द्वारा यहाँ मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

यहाँ कुछ विशेष यह है – औपशमिक आदि पाँच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है, इस पर विचार करते हैं। वहाँ औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ये चार भाव पर्यायरूप होते हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप है और वह परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्याय द्वयरूप आत्मपदार्थ कहलाता है। वहाँ प्रथम तो जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व – इन तीन प्रकार के पारिणामिक भावों में शुद्ध जीवत्व शक्तिलक्षण रूप जो पारिणामिकपना है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आश्रयपने से निरावरण है, उसकी शुद्ध पारिणामिक भाव संज्ञा (नाम) है ऐसा जानना चाहिए और वह शुद्ध पारिणामिक भाव बन्ध-मोक्षपर्याय परिणति से रहित है। तथा जो दशप्राणरूप जीवत्व और भव्यत्व-अभव्यत्व दोनों भाव हैं, वे पर्यायार्थिक नय के आश्रित होने से ''अशुद्ध पारिणामिक भाव'' नाम वाले हैं। वे (जीवत्व तथा भव्यत्व-अभव्यत्व) अशुद्ध किस प्रकार से हैं ? क्योंकि संसारियों के शुद्धनय से तथा सिद्धों के सर्वथा दशप्राण रूप जीवत्व, भव्यत्व-अभव्यत्व दोनों का अभाव होता है। उन तीनों में भव्यत्व लक्षणवाले पारिणामिक भाव का यथासम्भव सम्यक्त्वादि जीव के गुणों का घात करनेवाला देशघाति व सर्वघाति नामक मोहादि कर्म सामान्य पर्यायार्थिक नय से प्रच्छादक होता है – ऐसा जानना चाहिए। और वहाँ कालादि लब्धि के वश से जब भव्यत्व शक्ति

इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते। स च पर्याय: शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद् भिन्न:। कस्मात्? भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकांतेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाश: प्राप्नोति, न च तथा। तत: स्थितं– शुद्ध-पारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिक:। यस्तु शक्तिरूपो मोक्ष: स शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति। अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते। तथा चोक्तं सिद्धांते – **'निष्क्रिय: शुद्धपारिणामिक:'**। निष्क्रिय इति कोऽर्थ: ? बंधकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणति:, तद्रूपो न भवति। मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति। ततो ज्ञायते **शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति।** कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगींद्रदेवैरप्युक्तं (प.प्र.-६८) **ण वि उपज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया जिणवरु एउ भणेइ॥** किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येक-देशव्यक्तिरूपा भवति तथापि **ध्याता पुरुष: यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्ध-पारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति** न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थ:। इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्धयतीति ज्ञातव्यं विवेकिभि:।

की व्यक्ति होती है, तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षणरूप निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुचरण रूप पर्याय से परिणमता है। वह परिणमन आगम भाषा से औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व इन तीन भावरूप कहा जाता है, और अध्यात्म भाषा से शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नाम से जाना जाता है और वह पर्याय शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण रूप शुद्धात्म द्रव्य से कथ‌ंचित् भिन्न है। किस कारण से भिन्न है ? भावनारूप होने से अर्थात् भावनारूप होने के कारण भिन्न है। शुद्धपारिणामिक भाव भावनारूप नहीं है। यदि एकान्त से शुद्ध पारिणामिक भाव से (शुद्धोपयोग को) अभिन्न माना जाय तब इसके (शुद्धोपयोगी के) मोक्ष के प्रसंग में (मोक्ष होने पर) मोक्ष की कारणभूत भावनारूप पर्याय का विनाश हो जाने पर शुद्ध पारिणामिक भाव का भी विनाश प्राप्त होगा, परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे सिद्ध है कि शुद्ध पारिणामिक भाव सम्बन्धी जो भावना है, उस भावना रूप जो औपशमिक आदि तीन भाव हैं, वे समस्त रागादि रहित होने से, शुद्ध उपादान कारण होने से, मोक्ष के कारण हैं, परन्तु शुद्ध पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है।

जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह शुद्धपारिणामिक में पहले से ही विद्यमान है। किन्तु यह तो व्यक्ति रूप (प्रगटरूप) मोक्ष का विचार चल रहा है। तथा सिद्धान्त में भी कहा है – ''**निष्क्रिय: शुद्धपारिणामिक:**'' अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है। **निष्क्रिय का क्या अर्थ है ?** बन्ध की कारणभूत जो रागादि परिणतिरूप क्रिया है, वह (शुद्ध-पारिणामिकभाव) उस रागादि परिणति रूप नहीं होता है। और मोक्ष की कारणभूत जो शुद्ध भावना परिणतिरूप क्रिया है, वह (शुद्ध-पारिणामिकभाव) उस रूप नहीं होता है। इससे जाना जाता है कि **शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप होता है, ध्यान रूप नहीं होता है।** किस कारण से (ध्यान रूप नहीं होता है)? ध्यान के विनाशीक होने से (शुद्ध पारिणामिक भाव ध्यान रूप नहीं होता है)। इसीप्रकार योगीन्द्रदेव ने (प.प्र.-६८) भी कहा है – ''**हे योगी ! परमार्थ से देखो तो जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न बन्ध को करता है और न मोक्ष को करता है – ऐसा श्री जिनवर भगवान कहते हैं।**'' कुछ विशेष कहते हैं– विवक्षित

लोयस्स कुणदि विण्हू सुर-णारय-तिरिय-माणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काये।।३२१।।
लोग-समणाणमेगं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोगस्स कुणदि विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि।।३२२।।
एवं ण को वि मोक्खो दीसदि [1]लोग-समणाणं दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव-मणुयासुरे लोगे।।३२३।।

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्।
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान्।।३२१।।
लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति।।३२२।।
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान्।।३२३।।

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।।३२१-३२३।।

एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण भेदरूप क्षायोपशमिक ज्ञान होने से यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप है तथापि ध्यातापुरुष **"जो सकल निरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिक परमभाव लक्षण रूप निज परमात्मद्रव्य है वह ही मैं हूँ"**– ऐसी भावना करता है और मैं खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ, ऐसा भावार्थ है। यह समस्त व्याख्यान परस्पर सापेक्ष आगम और अध्यात्म दोनों नयों के अभिप्राय के विरोध से रहित ही कहा है – यह सिद्ध होता है, ऐसा विवेकीजनों के द्वारा जानने योग्य है।
....

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं :–

ज्यों लोक माने "देव, नारक आदि जीव विष्णु करे"।
त्यों श्रमण भी माने कभी, "षट्काय को आत्मा करे"।।३२१।।

तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे।।३२२।।

इस भाँति लोक-मुनी उभय का मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव, असुर के त्रयलोक को नित्यहि करे।।३२३।।

गाथार्थ :– [**लोकस्य**] लोक के (लौकिक जनों के) मत में [**सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्**]

---

१. पाठान्तर – दोण्हं पि समणलोयाणं

(अनुष्टुभ्)

नास्ति सर्वोऽपि संबंध: परद्रव्यात्मतत्त्वयो:।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुत:।।२००।।

देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य-प्राणियों को [**विष्णु:**] विष्णु [**करोति**] करता है; [**च**] और [**यदि**] यदि [**श्रमणानाम् अपि**] श्रमणों (मुनियों) के मन्तव्य में भी [**षड्विधान् कायान्**] छह काय के जीवों को [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता हो [**यदि लोकश्रमणानाम्**] तो लोक और श्रमणों का [**एक: सिद्धान्त:**] एक ही सिद्धान्त हो गया, [**विशेष: न दृश्यते**] उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता; (क्योंकि) [**लोकस्य**] लोक के मत में [**विष्णु:**] विष्णु [**करोति**] करता है [**श्रमणानाम् अपि**] और श्रमणों के मत में भी [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता है। (इसलिए कर्तृत्व की मान्यता में दोनों समान हुए)। [**एवं**] इसप्रकार, [**सदेवमनुजासुरान् लोकान्**] देव, मनुष्य, और असुर लोक को [**नित्यं कुर्वताम्**] सदा करते हुए (अर्थात् तीनों लोक के कर्ता भाव से निरन्तर प्रवर्तमान) ऐसे [**लोकश्रमणानां द्वयेषाम् अपि**] वे लोक और श्रमण-दोनों का भी [**कोऽपि मोक्ष:**] कोई मोक्ष [**न दृश्यते**] दिखाई नहीं देता।

टीका :– जो आत्मा को कर्ता ही देखते – मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देव-नारकादि कार्य करता है और उन (लोकोत्तर – मुनियों) के मत में भी अपना आत्मा वही कार्य करता है – इसप्रकार (दोनों में) [१]अपसिद्धान्त की समानता है। इसलिए आत्मा के नित्य कर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण, लौकिक जनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ :– जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों तथापि वे लौकिकजन जैसे ही हैं; क्योंकि, लोक ईश्वर को कर्ता मानता है और उन मुनियों ने आत्मा को कर्ता माना है – इसप्रकार दोनों की मान्यता समान हुई। इसलिए जैसे लौकिकजनों को मोक्ष नहीं होता उसीप्रकार उन मुनियों की भी मुक्ति नहीं है। जो कर्ता होगा वह कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा और जो फल को भोगेगा उसकी मुक्ति कैसी ? ।।३२१-३२२।।

अब आगे के श्लोक में यह कहते हैं कि ''परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ? इसलिए उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है'':–

श्लोकार्थ :– [**परद्रव्य-आत्मतत्त्वयो: सर्व: अपि सम्बन्ध: नास्ति**] परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है; [**कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्ध-अभावे**] इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से [**तत्कर्तृता कुत:**] आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है ?

भावार्थ :– परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ता-कर्मसम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इसप्रकार जहाँ कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है ? ।।२००।।

---

१. अपसिद्धान्त – मिथ्या अर्थात् भूल भरा सिद्धान्त।

(सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारान्तर्गते समयसारचूलिका)

समुदायपातनिका – अत: परं जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चय-व्यवहारनयविभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं **'लोगस्स कुणदि विण्हू'** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंतं चूलिकाव्याख्यानं करोति। चूलिकाशब्दस्यार्थ: कथ्यते, तथाहि – विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्य:। तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन **'लोगस्स कुणदि विण्हू'** इत्यादि गाथासप्तकं च भवति। तदनंतरं अन्य: कर्ता, भुंक्ते चान्य: इत्येकांतनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **'केहिं दु पज्जयेहिं'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। अत: परं सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति एकांतेन जीवस्य भावमिथ्यात्वाकर्तृत्वनिराकरणार्थं **'मिच्छत्ता जदि पयडी'** इत्यादि सूत्रपंचकम्। तत: परं ज्ञानाज्ञानसुखदु:खादिभावान् कर्मैवैकांतेन करोति न चात्मेति। पुनरपि सांख्यमतनिराकरणार्थं **'कम्मेहिं अण्णाणी दु'** इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि।

अथानंतरं कोऽपि प्राथमिकशिष्य: शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां विनाशं कर्तुं वांछति किंतु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घातं करोमीति विशेषविवेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं **'दंसणणाणचरित्तं'** इत्यादि सूत्रसप्तकम्। तदनंतरं यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादि कर्म हस्तकुट्टकाद्युपकरणै: करोति तत्फलं मूल्यादिकं भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण **'जह सिप्पियो दु'** इत्यादि गाथासप्तकम्। तत: परं यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूतं च (द्रव्यभूतं च) द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्दधाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **'जह सेडिया'** इत्यादि सूत्रदशकम्।

(सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के अन्तर्गत समयसारचूलिका)

इसके आगे जीवादि नौ अधिकारों में जीव के कर्तापन-भोक्तापन आदि के स्वरूप का यथास्थान निश्चयनय और व्यवहारनय के विभाग द्वारा सामान्य रूप से जो पूर्व में कहा गया है, उसका ही विशेष वर्णन करने के लिए **'लोगस्स कुणदि विण्हू'** इत्यादि गाथा से शुरू करके पाठक्रम से ९६ गाथाओं तक चूलिका का व्याख्यान करते हैं। चूलिका शब्द का अर्थ कहते हैं – (१) विशेष व्याख्यान, (२) कहे हुए और न कहे हुए का व्याख्यान, (३) कहे हुए और न कहे हुए का मिश्र व्याख्यान – इसप्रकार चूलिका शब्द का अर्थ तीन प्रकार का जानना चाहिए।

वहाँ ९६ गाथाओं में विष्णु के देवादि पर्यायों के कर्तृत्व के निराकरण की मुख्यता से **'लोगस्स कुणदि विण्हू'** इत्यादि सात गाथाएँ हैं। उसके बाद कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है – इस एकान्त के निषेधरूप से बौद्धमतानुसारी शिष्य को सम्बोधन करने के लिए **'केहिं दु पज्जयेहिं'** इत्यादि चार गाथाएँ हैं। इसके बाद सांख्यमतानुसार शिष्य के प्रति एकान्त से जीव के भावमिथ्यात्व के अकर्तृत्व का निराकरण करने के लिए **'मिच्छत्ता जदि पयडी'** इत्यादि पाँच गाथाएँ हैं। उसके बाद ज्ञान-अज्ञान, सुख-दु:ख आदि भावों को कर्म ही एकान्तरूप से करता है और आत्मा नहीं करता है, इसप्रकार की मान्यता वाले सांख्यमत के निराकरण हेतु पुन: **'कम्मेहिं अण्णाणी दु'** इत्यादि तेरह गाथा सूत्र हैं।

इसके बाद कोई प्राथमिक शिष्य शब्दादि पंचेन्द्रिय के विषयों का विनाश करना चाहता है, किन्तु 'मन में स्थित विषयानुराग का घात करूँ' इसप्रकार विशेष ज्ञान को नहीं जानता है, उसे सम्बोधन करने

ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिश्चयप्रतिक्रमण-निश्चयप्रत्याख्यान-निश्चयालोचना-निश्चयचारित्रव्याख्यान-मुख्यत्वेन **'कम्मं जं पुव्वकयं'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। तदनंतरं रागद्वेषोत्पत्तिविषयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं न चाचेतनशब्दादिविषया इति कथनार्थं **'णिंदिद संथुद वयणाणि'** इत्यादि गाथादशकम्। अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिदं मया कृतं च मन्यते स्वस्थभावशून्यः सुखितो दुःखितश्च भवति यः सः पुनरप्यष्टविधं कर्म दुःखबीजं बध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन **'वेदंतो कम्मफलं'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेन्द्रियविषयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकालाः शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवंतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **'सत्थं णाणं ण हवदि'** इत्यादि पंचदशसूत्राणि। ततः परं यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण **'अप्पा जस्स अमुत्तो'** इत्यादि गाथात्रयम्। तदनंतरं देहाश्रितद्रव्यलिंगं निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिंगरहितयतीनां मुक्तिकारणं न भवति भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **'पाखंडी लिंगाणि य'** इत्यादि सूत्रसप्तकम्। पुनश्च समयप्राभृताध्ययनफलकथनरूपेण ग्रंथसमाप्त्यर्थम् **'जो समयपाहुडमिणं'** इत्यादि सूत्रमेकं कथयतीति त्रयोदशभिरंतराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारे समुदायपातनिका।

के लिए **'दंसणणाणचरित्तं'** इत्यादि सात गाथा सूत्र हैं। उसके बाद जिसप्रकार स्वर्णकार आदि शिल्पी कुण्डल आदि कार्य हथौड़े आदि उपकरणों से करता है और उसके फल, मूल्य आदि को भोगता है; तथापि उनसे तन्मय नहीं होता, उसीप्रकार जीव भी द्रव्यकर्म करता है और उसका फल भोगता है, तथापि उनसे तन्मय नहीं होता, इत्यादि प्रतिपादन करनेवाली **'जह सिप्पियो दु'** इत्यादि सात गाथाएँ हैं। उसके बाद यद्यपि सफेद मिट्टी (चूना) व्यवहार से दीवाल को सफेद करती है, तथापि निश्चय से तन्मय नहीं होती है, उसीप्रकार जीव भी व्यवहार से ज्ञेयभूत द्रव्य को जानता है, देखता है, त्याग करता है और श्रद्धा करता है, तथापि निश्चयनय से उससे तन्मय नहीं होता है। इत्यादि ब्रह्माद्वैतमतानुसारी शिष्य के सम्बोधन के लिए **'जह सेडिया'** इत्यादि दस गाथा सूत्र हैं।

उसके बाद शुद्धात्मभावनारूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना और निश्चय चारित्र के कथन की मुख्यता से **'कम्मं जं पुव्वकदं''** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं। उसके बाद राग-द्वेष की उत्पत्ति के विषय में अज्ञान रूप स्वकीय बुद्धिरूप दोष ही कारण है, अचेतन शब्दादि विषय कारण नहीं है। ऐसे कथन के लिए **'णिंददि संथुदि वयणाणि'** इत्यादि दस गाथाएँ हैं। इसके बाद उदयागत कर्म का वेदन करता हुआ ''यह कर्म मेरा है, मेरे द्वारा किया गया है'' ऐसा मानता है, और जो स्वस्वभाव से रहित होकर सुखी तथा दुःखी होता है, वह फिर से दुःख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्म बाँधता है – ऐसा कथन करने की मुख्यता से **'वेदंतो कम्मफलं'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। इसके बाद आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि द्रव्यश्रुत, इन्द्रियों के विषय, द्रव्यकर्म, धर्म-अधर्म, आकाश और काल तथा शुद्ध निश्चयनय से रागादि भी शुद्धजीव स्वरूप नहीं हैं – ऐसे व्याख्यान की मुख्यता से **'सत्थं णाणं ण हवदि'** इत्यादि पन्द्रह गाथा सूत्र हैं। उसके बाद जिस शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा अमूर्त है, उसी शुद्धनय के अभिप्राय से कर्म-नोकर्म के आहार से रहित है, इसप्रकार के कथन रूप **'अप्पा जस्स अमुत्तो'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं। उसके बाद निर्विकल्प समाधिलक्षण भावलिङ्ग से रहित यतियों के देहाश्रित द्रव्यलिङ्ग, मुक्ति का कारण नहीं होता है और भावलिंग सहित यतियों के (द्रव्यलिङ्ग) सहकारी कारण होता है – इसप्रकार के कथन की मुख्यता से **'पाखंडी लिंगाणि य'** इत्यादि सात गाथा सूत्र हैं। पुनः समयप्राभृत के अध्ययन के फल के कथन रूप

तात्पर्यवृत्ति टीका – इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते। तद्यथा – अथ एकांतेनात्मानं कर्तारं ये मन्यंते तेषामज्ञानिजनवन्मोक्षो नास्तीत्युपदिशति – **लोगस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते** लोकस्य मते विष्णुः करोति। कान्? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान्। **समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए** श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति यदि चेत्। कान् ? षट्जीवनिकायानिति। **लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धांतं प्रति, आगमं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेषः। कयोः संबंधी? लोकश्रमणयोः। कस्मात्? इति चेत्, **लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि** लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पितपुरुषविशेषः करोति। श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति, तत्र विष्णुसंज्ञा श्रमणमते चात्मसंज्ञा नास्ति विप्रतिपत्तिर्न चार्थे। **एवं ण कोवि मोक्खो दीसदि दोण्हं पि समणलोयाणं** एवं कर्तृत्वे सति को दोषः ? मोक्षः कोऽपि न दृश्यते। कयोः ? लोकश्रमणयोः। किंविशिष्टयोः ? **णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे** नित्यं सर्वकालं कर्म कुर्वतोः। क्व ? लोके। कथंभूते? देवमनुष्यासुरसहिते। किंच – रागद्वेषमोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते। तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्व सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्न-त्रयात्मकमोक्षमार्गाच्च्यवनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः। एवं पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतम्॥३२१-३२३॥

ग्रन्थ समाप्ति के लिए **'जो समयपाहुडमिणं'** इत्यादि एक गाथा सूत्र कहते हैं। इसप्रकार तेरह अन्तराधिकारों द्वारा समयसार चूलिका अधिकार में समूह रूप पातनिका है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब तेरह अधिकारों का यथाक्रम से विशेष व्याख्यान किया जाता है। वह इसप्रकार है, जो एकान्त से आत्मा को कर्ता मानते हैं, उसको अज्ञानीजनों की तरह मोक्ष नहीं है – ऐसा उपदेश देते हैं – **लोगस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते** लोकमत में विष्णु करता है। किसको (करता है)? देव, नारक, तिर्यंःा और मनुष्य प्राणियों को। **समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए** यदि श्रमणों के मत में भी आत्मा करता है। किसको ? छहकाय के जीवों को। **लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो** इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धान्त के प्रति या आगम के प्रति कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देता है। किस सम्बन्धी (अन्तर दिखाई नहीं देता है) ? लोकमत सम्बन्धी तथा श्रमणमत सम्बन्धी (मान्यता में सिद्धान्त की दृष्टि से कोई अन्तर दिखाई नहीं देता है) ? किस कारण से ? **लोगस्स कुणदि विण्हू समणाणं अप्पओ कुणदि** लोकमत में विष्णु नामक परिकल्पित पुरुष विशेष करता है। श्रमणमत में आत्मा करता है। वहाँ विष्णु नाम है, श्रमणमत में आत्मा नाम है। विष्णु और आत्मा में प्रतीति भेद नहीं है, अर्थ भेद भी नहीं है (मात्र नाम भेद है)। **एवं ण कोवि मोक्खो दीसदि दोण्हं पि समणलोयाणं** इसप्रकार कर्तृत्व मानने में क्या दोष है ? किसी के भी मोक्ष दिखाई नहीं देता है। किसके ? लौकिकजनों के तथा श्रमण के। क्या विशेषता वाले (लौकिकजनों तथा श्रमण के) ? **णिच्चं कुव्वंताणं सदेव मणुआसुरे लोगे** हमेशा कर्म करनेवाले (लौकिकजनों तथा श्रमण के)। कहाँ (मोक्ष दिखाई नहीं देता है) ? लोक में। कैसे (श्रमण को मोक्ष दिखाई नहीं देता है) ? देव, मनुष्य, असुर सहित (श्रमण के मोक्ष दिखाई नहीं देता है)।

कुछ और स्पष्टीकरण – राग-द्वेष-मोहरूप से परिणमन ही कर्तृत्व कहा जाता है। वहाँ राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन होने पर शुद्धस्वभावी आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तथा अनुचरण रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग से च्युत होता है, इसलिए मोक्ष नहीं होता है। ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार पूर्वपक्ष रूप से तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३२१-३२३॥

ववहार-भासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छयेण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥३२४॥
जह को वि णरो जंपदि अम्हं गाम-विसय-णयररट्ठं[१]।
ण य होंति तस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छादिट्ठी णाणी णीसंसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पगं कुणदि ॥३२६॥
तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्हं वि एदाण कत्त-विवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठि-रहिदाणं ॥३२७॥

अब ''जो व्यवहारनय के कथन को ग्रहण करके यह कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है' और इसप्रकार व्यवहार को ही निश्चय मानकर आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं'' – इत्यादि अर्थ की सूचक गाथायें दृष्टान्त सहित करते हैं :–

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्य को मेरा कहे।
''अणुमात्र भी मेरा न'' ज्ञानी जानता निश्चय हि से ॥३२४॥

ज्यों पुरुष कोई कहे ''हमारा ग्राम, पुर अरु देश है''।
पर वो नहीं उसका अरे ! जीव मोह से 'मेरा' कहे ॥३२५॥

इस रीत ही जो ज्ञानि भी 'मुझ' जानता परद्रव्य को।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को ॥३२६॥

इससे ''न मेरा'' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की।
कर्तृत्व-बुद्धि जानता, जाने सुदृष्टी रहित की ॥३२७॥

गाथार्थ :– [**अविदितार्थाः**] जिन्होंने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है ऐसे पुरुष [**व्यवहारभाषितेन तु**] व्यवहार के वचनों को ग्रहण करके [**परद्रव्यं मम**] 'परद्रव्य मेरा है' [**भणंति**] ऐसा कहते हैं, [**तु**] परन्तु ज्ञानी जन [**निश्चयेन जानंति**] निश्चय से जानते हैं कि [**किंचित्**] 'कोई [**परमाणुमात्रम् अपि**] परमाणु मात्र भी [**न च मम**] मेरा नहीं है'।

[**यथा**] जैसे [**कः अपि नरः**] कोई मनुष्य [**अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट-म्**] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट-' [**जल्पति**] इसप्रकार कहता है, [**तु**] किन्तु [**तानि**] वे [**तस्य**] उसके [**न च भवंति**] नहीं है, [**मोहेन च**] मोह से [**सः आत्मा**] वह आत्मा [**भणति**] 'मेरे हैं' इसप्रकार कहता है; [**एवम् एव**] इसीप्रकार [**यः ज्ञानी**] जो ज्ञानी भी [**परद्रव्यं मम**] 'परद्रव्य मेरा है' [**इति जानन्**]

---

१. पाठान्तर = गामविसयपुररट्ठं

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित्॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्-म्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा॥३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति॥३२६॥
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानन् जानीयात् दृष्टिरहितानाम्॥३२७॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति। ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति। ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः, तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात्। अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात्॥३२४-३२७॥

ऐसा जानता हुआ [**आत्मानं करोति**] परद्रव्य को निजरूप करता है, [**एषः**] वह [**निःसंशयं**] निःसंदेह अर्थात् निश्चयतः [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**भवति**] होता है।

[**तस्मात्**] इसलिए तत्त्वज्ञ [**न मे इति ज्ञात्वा**] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [**एतेषां द्वयेषाम् अपि**] इन दोनों का (लोक का और श्रमण का) [**परद्रव्ये**] परद्रव्य में [**कर्तृव्यवसायं जानन्**] कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए, [**जानीयात्**] यह जानते हैं कि [**दृष्टिरहितानाम्**] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शन से रहित पुरुषों का है।

टीका :– अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहार में ही विमूढ़) होने से परद्रव्य को ऐसा देखते – मानते हैं कि 'यह मेरा है' और ज्ञानीजन निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चय के ज्ञाता) होने से परद्रव्य की कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते – मानते। इसलिए, जैसे इस जगत में कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरे के गाँव में रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इसप्रकार देखता-मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला) है, उसीप्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकार से व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने तो उस समय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्य को निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि 'लोक और श्रमण-दोनों के जो यह परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है'।

भावार्थ :– जो व्यवहार से मोही होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं, वे – लौकिकजन हों या मुनिजन हों – मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्य को 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है॥३२१-३२७॥

(वसंततिलका)

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥२०१॥

(वसंततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम–
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥२०२॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**यतः**] क्योंकि [**इह**] इस लोक में [**एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं सकलः अपि सम्बन्धः एव निषिद्धः**] एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, [**तत्**] इसलिए [**वस्तुभेदे**] जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ [**कर्तृकर्मघटना अस्ति न**] कर्ता-कर्मघटना नहीं होती [**मुनयः च जनाः च**] इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजन [**तत्त्वम् अकर्तृपश्यन्तु**] तत्त्व को (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धा में लाओ कि – कोई किसी का कर्ता नहीं है, परद्रव्य पर का अकर्ता ही है)॥२०१॥

''जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभाव का नियम नहीं जानते, वे अज्ञानी होते हुए कर्म को करते हैं; इसप्रकार भावकर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही होता है।'' – इस अर्थ का एवं आगामी गाथाओं का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि :–) [**बत**] अरे ! [**ये तु इमम् स्वभावनियमं न कलयन्ति**] जो इस वस्तुस्वभाव के नियम को नहीं जानते [**ते वराकाः**] वे बेचारे, [**अज्ञानमग्नमहसः**] जिनका (पुरुषार्थरूप – पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है ऐसे, [**कर्म कुर्वन्ति**] कर्म को करते हैं; [**ततः एव हि**] इसलिए [**भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति**] भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, [**अन्यः न**] अन्य कोई नहीं।

भावार्थ :– वस्तु के स्वरूप के नियम को नहीं जानता इसलिए परद्रव्य का कर्ता होता हुआ अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभाव में परिणमित होता है; इसप्रकार अपने भावकर्म का कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं॥२०२॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथोत्तरं निश्चयेनात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसंबंधो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति – **ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा** परद्रव्यं मम भणंति। के ते ? विदितार्थाः ज्ञातार्थाः तत्त्ववेदिनः। केन कृत्वा भणंति ? व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन। **जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्तं मम किंचि** निश्चयेन पुनर्जानंति। किं ? न चेह परद्रव्यं परमाणुमात्रमपि ममेति। **जह कोवि णरो जंपदि अम्हाणं गामविसयपुररट्ठं** यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति। किं जल्पति ? वृत्यावृतो ग्रामः, देशाभिधानो विषयः, नगराभिधानं पुरं, देशैकदेशसंज्ञं राष्ट्र-मस्माकमिति। **ण य होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा** न च तानि तस्य भवंति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीयं ग्रामादिकमिति दृष्टांतः। अथ दार्ष्टांतः – एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं भणति तदा मिथ्यात्वं प्राप्तः सन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निस्संशयं निश्चितम्। संदेहो न कर्तव्यः इति। **तम्हा** इत्यादि। **तम्हा** तस्मात् परकीयग्रामादिदृष्टांतेन स्वानुभूतिभावनाच्युतः सन् योऽसौ परद्रव्यं व्यवहारेणात्मीयं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणितं पूर्वम्। तस्मात्कारणाज्ज्ञायते **दोण्हं वि एदाण कत्तिववसाओ** परद्रव्ये तयोः पूर्वोक्तलौकिकजैनयोः आत्मा परद्रव्यं करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसायः। किं कृत्वा ? पूर्वं **ण मे त्ति णच्चा** निर्विकारस्वपरपरिच्छित्तिज्ञानेन परद्रव्यं मम संबंधि न भवति इति ज्ञात्वा। **जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं** इमं लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्वव्यवसायं अन्यः कोऽपि तृतीयतटस्थः पुरुषो जानन् सन् जानीयात्। स कथं भूतं जानीयात् ? वीतरागसम्यक्त्वसंज्ञा या तु निश्चयदृष्टिस्तद्-रहितानां व्यवसायोऽयमिति। ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत्, व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः। प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब उत्तर कहते हैं – निश्चय से आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ कर्ता कर्म सम्बन्ध नहीं है, तो आत्मा कैसे कर्ता होगा ? यह कहते हैं।

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा परद्रव्य मेरा कहते हैं। वे कौन हैं (जो परद्रव्य को मेरा कहते हैं) ? जिन्होंने पदार्थों को जान लिया है अथवा जो तत्त्ववेदी तत्त्वज्ञाता हैं (वे परद्रव्य को मेरा कहते हैं)। क्या अपेक्षा करके कहते हैं ? व्यवहार कथन से या व्यवहार नय से (ऐसा कहते हैं) **जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्तं मम किंचि** पुनः निश्चय से जानते हैं। क्या जानते हैं ? यह परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है – ऐसा जानते हैं। **जह कोवि णरो जंपदि अम्हाणं गामविसयपुररट्ठं** जैसे कोई पुरुष स्पष्टतः कहता है। क्या कहता है ? बाड़ी से घिरा हुआ ग्राम, देश नाम वाला विषय, नगर नाम वाला पुर तथा देश-एकदेश या प्रदेश नामक राष्ट्र- मेरा है। **ण य होंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा** परन्तु वे राज्य, नगर आदि उसके नहीं हैं, तो भी वह मोह से ग्राम आदि को अपना बोलता है, इसप्रकार दृष्टान्त है। अब पूर्वोक्त दृष्टान्त से दार्ष्टान्त (सिद्धान्त) कहते हैं – ज्ञानी आत्मा व्यवहार मूढ़ होकर यदि परद्रव्य मेरे हैं – ऐसा कहता है, तो वह मिथ्यात्व को प्राप्त होता हुआ मिथ्यादृष्टि होता है, यह निःसंदेह बात है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। **तम्हा** इत्यादि – **तम्हा** इसलिए परकीय ग्रामादि के दृष्टान्त से स्वानुभूति की भावना से च्युत होता हुआ जो आत्मा परद्रव्य को व्यवहार से अपनेरूप करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है, यह पहले ही कहा है। इस कारण से ज्ञात होता है कि **दोण्हं वि एदाण कत्तिववसाओ** परद्रव्य के विषय में वे दोनों पूर्वोक्त लौकिकजन तथा जैनीजन 'आत्मा परद्रव्य को करता है' – इसप्रकार से यह परद्रव्य के विषय में कर्तापन का व्यापार है (ऐसा ज्ञानी जानता है)। क्या करके (जानता है) ?

किं च विशेष: – लोकानां मते विष्णु: करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणितम्। न चानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मा वा महेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति। कथमिति चेत्, सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेंद्रियादि-जीवैर्भृतस्तिष्ठति। तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णु:, आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वर:, आत्मैव जिन:। तदपि कथमिति चेत् ? कोऽपि जीव: पूर्वम् मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकांक्षानिदानबंधेन पापानुबंधिपुण्यं कृत्वा स्वर्गे समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखण्डाधिपतिरर्द्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापर: कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति। तथा चापर: कोऽपि जीवो जिनदीक्षां गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुबंधिपुण्योपार्जनं कृत्वा विद्यानुवादसंज्ञं दशमपूर्वं पठित्वा चारित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकालप्रभावेन विद्याबलेन लोकस्याहं कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनानां विस्मयं कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वावसर्पिणीषु। सा च हुण्डावसर्पिणीसंख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति। तथा चोक्तं – **संखातीदवसप्पिणि गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ। परसमयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ ॥१॥** न चान्य: कोऽपि जगत्कर्ता महेश्वराभिधान: पुरुषविशेषोऽस्ति इति। तथा चापर: कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरणं कृत्वा पश्चात्तप: प्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्तं चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा संज्ञा। न चान्य: कोऽपि जगत: कर्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति। तथैवापर: कोऽपि दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नतेत्यादि षोडशभावनां कृत्वा देवेंद्रादिविनिर्मितपंचमहाकल्याणपूजायोग्यं तीर्थकरपुण्यं समुपार्ज्यं जिनेश्वराभिधानो वीतरागसर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यम्। एवं यद्येकांतेन कर्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टांतेन गाथात्रयेण पूर्वपक्षं कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तकं गतम्॥३२४-३२७॥

ण मे त्ति णच्चा निर्विकार स्व तथा पर परिच्छित्ति रूप ज्ञान से परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं – ऐसा जानता है। **जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं** यह लौकिकजन तथा जैनजन का परद्रव्य के सम्बन्ध में कर्तापने का व्यापार है – ऐसा कोई अन्य तीसरा तटस्थ व्यक्ति जानता हुआ जानें। वह कैसे जानें ? कि वीतराग सम्यक्त्व नामक जो निश्चयदृष्टि है, उससे रहित जीवों का यह अध्यवसाय है – ऐसा जानें।

शंका – ज्ञानी होकर व्यवहार से परद्रव्य को अपना कहता हुआ आत्मा अज्ञानी कैसे है ?

समाधान – प्राथमिक शिष्यों को समझाने के काल में ही म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा द्वारा समझाने के समान व्यवहार का अनुसरण करना चाहिए। प्राथमिक शिष्यों को सम्बोधन का काल छोड़कर कतकफल के समान आत्मशुद्धि करनेवाला होने से शुद्धनय से च्युत होकर यदि परद्रव्य को अपना करता है, तो वह मिथ्यादृष्टि होता है।

इसका विशेष इसप्रकार है – लोकमत में विष्णु करता है – ऐसा जो पहले कहा है, वह लोकव्यवहार अपेक्षा कहा है। वास्तव में अनादि से विद्यमान देव-मनुष्य आदि जीवलोक का विष्णु अथवा ब्रह्मा अथवा महेश्वर अथवा कोई भी कर्ता नहीं है। कैसे कर्ता नहीं है ? समस्त ही जगत में एकेन्द्रिय आदि जीव विद्यमान हैं। उन जीवों के निश्चय से विष्णु पर्याय से, ब्रह्मा पर्याय से, महेश्वर पर्याय से और जिनपर्याय से परिणमन की शक्ति है, इस कारण से आत्मा ही विष्णु, आत्मा ही ब्रह्मा, आत्मा ही महेश्वर तथा आत्मा ही जिन है। वह भी कैसे है ? कोई जीव पूर्व मनुष्य भव में जिनरूप को ग्रहण करके, भोग, आकांक्षा निदानबन्ध के द्वारा पापानुबन्धी पुण्य करके स्वर्ग में उत्पन्न होकर वहाँ से आकर मनुष्य भव में त्रिखण्डाधिपति अर्द्धचक्री होता है, उसको ही विष्णु संज्ञा है और अन्य कोई जगत का कर्ता विष्णु नहीं है।

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पोग्गल-दव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गल-दव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो॥३२९॥
अह जीवो पयडी तह[1] पोग्गल-दव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गल-दव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गल-दव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा॥३३१॥

दूसरा कोई जीव जिनदीक्षा ग्रहण करके रत्नत्रय की आराधना द्वारा पापानुबन्धी पुण्य का अर्जन करके विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व को पढ़कर चारित्रमोह के उदय से तपश्चरण से भ्रष्ट होकर हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से विद्या के बल से लोक का मैं कर्ता हूँ इत्यादि चमत्कार पैदा करके, मूढ़ जीवों के विस्मय पैदा करके महेश्वर होता है, वह भी सभी अवसर्पिणी कालों में नहीं होता (मात्र हुण्डावसर्पिणी काल में होता है)। वह हुण्डावसर्पिणी काल असंख्यात उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी व्यतीत होने पर आता है। जैसा कि कहा गया है। **गाथार्थ –''असंख्यात अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है, जिसमें परमतों की उत्पत्ति होती है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं''** अत: और अन्य कोई जगत का कर्ता महेश्वर नाम का पुरुष विशेष नहीं है। इसी तरह अन्य कोई पुरुष विशेष तपश्चरण करके पश्चात् तप के प्रभाव से स्त्री विषयक निमित्त पाकर चतुर्मुख वाला होता है। उसका ब्रह्मा नाम है। अन्य कोई भी जगत का कर्ता व्यापक एक रूप ब्रह्मा नाम वाला नहीं है। इसी तरह अन्य कोई भी दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता आदि सोलह भावनाएँ भाकर देवेन्द्रादि द्वारा निर्मित्त पाँच महाकल्याणक पूजा के योग्य तीर्थङ्कर प्रकृति रूप पुण्य का उपार्जन करके जिनेश्वर नाम के वीतराग सर्वज्ञ होते हैं, ऐसा वस्तुस्वरूप जानना चाहिए। इसप्रकार जो एकान्त से कर्ता होता है, तो मोक्ष का अभाव ठहरता है। इस तरह विष्णु के दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में पूर्वपक्ष रख करके उसका चार गाथाओं द्वारा निराकरण रूप कथन किया है, इसप्रकार प्रथम स्थल में सात गाथासूत्र पूर्ण हुए॥३२४-३२७॥

....

अब, '(जीव के) जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका कर्ता कौन है ?' – इस बात की भलीभाँति चर्चा करके, 'भावकर्म का कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैंः–

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वि जो जीव को करे।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझ मतविषे !॥३२८॥

---

१. पाठान्तर = विय

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम्।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ।।३२८।।
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ।।३२९।।
अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुतः मिथ्यात्वम्।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तत् द्वावपि भुंजाते तस्य फलम् ।।३३०।।
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ।।३३१।।

अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गलद्रव्य आत्मा नहिं बने ।।३२९।।

जो जीव अरु प्रकृति करे मिथ्यात्व पुद्गल द्रव्य को।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभय को ।।३३०।।

जो प्रकृति नहिं नहिं जीव करे मिथ्यात्व पुद्गल द्रव्य को।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो ? ।।३३१।।

गाथार्थ :– [**यदि**] यदि [**मिथ्यात्वं प्रकृतिः**] मिथ्यात्व नामक (मोहनीय कर्म की) प्रकृति [**आत्मानम्**] आत्मा को [**मिथ्यादृष्टिं**] मिथ्यादृष्टि [**करोति**] करती है ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**ते**] तुम्हारे मत में [**अचेतना प्रकृतिः**] अचेतन प्रकृति [**ननु कारका प्राप्ता**] (मिथ्यात्व भाव की) कर्ता हो गई ! (इसलिए मिथ्यात्वभाव अचेतन सिद्ध हुआ !)

[**अथवा**] अथवा, [**एषः जीवः**] यह जीव [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गल द्रव्य के [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व को [**करोति**] करता है ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः**] पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा ! [**न पुनः जीवः**] जीव नहीं !

[**अथ**] अथवा यदि [**जीवः तथा प्रकृतिः**] जीव और प्रकृति दोनों [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य को [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्वभावरूप [**कुरुते**] करते हैं ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**द्वाभ्यां कृतं तत्**] जो दोनों के द्वारा किया [**तस्य फलम्**] उसका फल [**द्वौ अपि भुञ्जाते**] दोनों भोगेंगे !

[**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य को [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्वभावरूप [**न प्रकृतिः कुरुते**] न तो प्रकृति करती है [**न जीवः**] और न जीव करता है (दोनों में से कोई नहीं करता) ऐसा माना जाय, [**तस्मात्**] तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा [**तत् तु न खलु मिथ्या**] क्या वह वास्तव में मिथ्या नहीं है ?

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का – भावकर्म का – कर्ता जीव ही है।)

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मण: कर्ता, तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात्। स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मण: कर्ता, जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात्। न च जीव: प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ, जीववदचेतनाया: प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात्। न च जीव: प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात्। ततो जीव: कर्ता, स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम्॥३२८-३३१॥

(शार्दूलविक्रीडित)

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञाया: प्रकृते: स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृति:।
नैकस्या: प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गल:॥२०३॥

टीका :– जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भावकर्म) अचेतन प्रकृति का कार्य हो तो उसे (भावकर्म को) अचेतनत्व का प्रसंग आ जायेगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म को करे तो पुद्गलद्रव्य को चेतनत्व का प्रसंग आ जायेगा। और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीव की भाँति अचेतन प्रकृति को भी उस (भावकर्म) का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के अकर्ता हों सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वादि भाव का प्रसंग आ जायेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्म को कर्ता है और भावकर्म अपना कार्य है)।

भावार्थ :– इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि भावकर्म का कर्ता जीव ही है। यहाँ यह जानना चाहिए कि परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता इसलिए जो चेतन के भाव हैं उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। इस जीव के अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इसप्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिए उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है। अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है तब वह उन-उन परिणामों से युक्त होता है और तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है। अभेददृष्टि में तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीव वस्तु है। इसप्रकार यथार्थतया समझना चाहिए कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है॥३२८-३३१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [कर्म कार्यत्वात् अकृतं न] जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिए

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते।।२०४।।

वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता। [**च**] और [**तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न**] ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनों की कृति हो, [**अज्ञायाः प्रकृतेः स्व-कार्य-फल-भुग्**]-**भाव-अनुषंगात्**] क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। [**एकस्याः प्रकृतेः न**] और वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृति (अकेली प्रकृति का कार्य) भी नहीं है, [**अचित्त्वलसनात्**] क्योंकि प्रकृति का तो अचेतनत्व प्रगट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है। [**ततः**] इसलिए [**अस्य कर्त्ता जीवः**] उस भावकर्म का कर्ता जीव ही है [**चिद्-अनुगं**] और चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप (चेतन के परिणामरूप) ऐसा [**तत्**] वह भावकर्म [**जीवस्य एव कर्म**] जीव का ही कर्म है [**यत्**] क्योंकि [**पुद्‌गलः ज्ञाता न**] पुद्‌गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिए वह भावकर्म पुद्‌गल का कर्म नहीं हो सकता।)

भावार्थ :– चेतनकर्म चेतन के ही होता है; पुद्‌गल जड़ है, इसलिए उसके चेतनकर्म कैसे हो सकता है ?।।२०३।।

अब आगे की गाथाओं में, जो भावकर्म का कर्ता भी कर्म को ही मानते हैं उन्हें समझाने के लिए स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे; पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**कैश्चित् हतकैः**] कोई आत्मा के घातक (सर्वथा एकान्तवादी) [**कर्म एव कर्तृ प्रवितर्क्य**] कर्म को ही कर्ता विचार कर [**आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा**] आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर, '[**एषः आत्मा कथञ्चित् कर्ता**] यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' [**इति अचलिता श्रुतिः कोपिता**] ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुति को कोपित करते हैं (निर्बाध जिनवाणी की विराधना करते हैं); [**उद्धत-मोह-मुद्रित-धियां तेषाम् बोधस्य संशुद्धये**] जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गई है ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञान की संशुद्धि के लिए (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) [**वस्तुस्थितिः स्तूयते**] वस्तुस्थिति कही जाती है [**स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्ध-विजया**] जिस वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है।

भावार्थ :– कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः कर्म का कर्त्ता कर्म को ही कहते हैं और आत्मा को अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्मा के घातक हैं। उनपर जिनवाणी का कोप है, क्योंकि स्याद्वाद से वस्तुस्थिति को निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है। आत्मा को अकर्ता

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् कर्मणामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणां स एव कर्ता न च पुद्‌गल इत्याख्यायति। अथ गाथापंचकेन प्रत्येकं गाथापूर्वार्द्धेन सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति पूर्वपक्ष उत्तरार्द्धेन परिहार इति ज्ञातव्य: – **मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्‌ठी करेदि अप्पाणं** द्रव्यमिथ्यात्व-प्रकृति: कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति। **तम्हा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणादचेतना तु या द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति: सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकांतेनाकर्ता प्राप्त:। ततश्च कर्मबंधाभाव:, कर्मबंधाभावे संसाराभाव:। स च प्रत्यक्षविरोध: ॥३२८॥

ता.अतिरिक्त गाथा २७ – सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्‌ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो॥

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्‌ठी करेदि अप्पाणं सम्यक्त्वप्रकृति: कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं सम्यग्दृष्टिं करोति। **तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृति:। तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकांतेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वाभाव: ततश्च मोक्षाभाव:। स च प्रत्यक्षविरोध: आगमविरोधश्च। अत्राह शिष्य: – प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेष: स च सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्य: प्रथमविकल्प: स च कर्मविशेष: कथं सम्यक्त्वं भवति? सम्यक्त्वं तु निर्विकारसदानन्दैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति। परिहारमाह – सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषो भवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्ति: सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपंचकजनितप्रथमौपशमिक-सम्यक्त्वानंतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीवपरिणामं न हंति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्म-विशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते स च तीर्थकरनामकर्मवत् परंपरया मुक्तिकारणं भवतीति नास्ति विरोध: ॥२७॥

ही कहनेवाले एकान्तवादियों की बुद्धि उत्कट मिथ्यात्व से ढक गई है; उनके मिथ्यात्व को दूर करने के लिए आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह, निम्नलिखित गाथाओं में कहते हैं॥२०४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव होने के कारण जीव अकर्ता है, तथापि अशुद्धनय से रागादि भावकर्म का वही कर्ता है, पुद्‌गल उसका कर्ता नहीं है – ऐसा कहते हैं। अब पाँच गाथाओं द्वारा प्रत्येक गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा सांख्यमतानुसारी शिष्य के प्रति पूर्वपक्ष और प्रत्येक गाथा के उत्तरार्द्ध में उसका निराकरण है – ऐसा जानना चाहिए। **मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्‌ठी करेदि अप्पाणं** द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति कर्ता होकर यदि स्वयं परिणमन न करने वाले आत्मा को हठ से मिथ्यादृष्टि करती है। **तम्हा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो** किन्तु उस कारण से जो अचेतन द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति है, वह तुम्हारे मत में (निश्चयाभासी या सांख्यमतानुसारी के मत में) वास्तव में भाव मिथ्यात्व की कर्ता हुई तथा जीव एकान्त से अकर्ता हुआ। तब फिर (अकर्ता आत्मा के) कर्मबन्ध का अभाव हुआ, कर्मबन्ध के अभाव में संसार का अभाव हुआ। वह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है॥३२८॥

अतिरिक्त गाथा २७ का हिन्दी – अब **(जदि)** यदि **(सम्मत्ता पयडी)** मोहनीय कर्म की सम्यक्त्वप्रकृति **(अप्पाणं)** आत्मा को **(सम्मादिट्ठी)** सम्यग्दृष्टि **(करेदि)** करती है **(तम्हा)** तो इस मान्यता से **(दे)** तेरे मत के अनुसार **(अचेदणा पयडी)** अचेतन प्रकृति **(णणु)** निश्चय से **(कारगो पत्तो)** सम्यक्त्व भाव की कर्त्ता हो जाए, किन्तु ऐसा भी नहीं बन सकता।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं अथवा पूर्वदूषणभयादेष प्रत्यक्षीभूतो जीव:, द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेशजनकं भावमिथ्यात्वं करोति, न पुन: स्वयं भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मतम्। **तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो** तर्ह्येकांतेन पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीव:। कर्मबंध: तस्यैव, संसारोऽपि तस्यैव, न च जीवस्य। स च प्रत्यक्षविरोध इति। **अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं** अथ पूर्वदूषणभयाज्जीव: प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं भावमिथ्यात्वं कुरुत इति मतम्। **तम्हा दोवि कदंतं** तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृतं तन्मिथ्यात्वं। **दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं** तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फलं भुंजाते ततश्चाचेतनाया: प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्तं स च प्रत्यक्षविरोध इति। **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं** अथ मतं न प्रकृति: करोति न च जीव एव एकांतेन। किं ? पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं। कथंभूतं न करोति? मिथ्यात्वं भावमिथ्यात्वरूपम्। **तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा** तर्हि यदुक्तं पूर्वसूत्रे **'अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं'** तद्वचनं तु पुन: हु स्फुटं। किं मिथ्या न भवति ? अपितु भवत्येव। किंच, यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धो जीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत्। यदि पुनरेकांतेनापरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते। जपापुष्पोपाधिपरिणमनशक्तौ सत्यां स्फटिके जपापुष्पमुपाधिं जनयति न च काष्ठादौ। कस्मादिति चेत्, तदुपाधिपरिणमनशक्त्यभावात् इति। एवं यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृति: कर्त्री एकांतेन यदि भावमिथ्यात्वं करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्ता न भवति। भावमिथ्यात्वाभावे कर्मणो बंधाभाव: ततश्च संसाराभाव: स च प्रत्यक्षविरोध:। इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापचकं गतम्॥३२९-३३१॥

ता.अतिरिक्त गाथा २७ की टीका – सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं सम्यक्त्व प्रकृति कर्ता होकर यदि स्वयं परिणमन न करते हुए आत्मा को सम्यग्दृष्टि करती है, **तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो** उस कारण से अचेतन प्रकृति तुम्हारे मत में वास्तव में कर्ता हुई तथा जीव एकान्त से सम्यक्त्व परिणाम का अकर्ता हुआ। तब फिर वेदक सम्यक्त्व का अभाव होगा, वेदक सम्यक्त्व के अभाव में क्षायिक सम्यक्त्व का अभाव होगा और उससे मोक्ष का अभाव होगा और वह (मोक्षाभाव) प्रत्यक्ष विरुद्ध है और आगम विरुद्ध है। यहाँ शिष्य पूछता है – सम्यक्त्व प्रकृति कर्म का विशेष भेद है और वह सम्यक्त्व, मिथ्यात्व तथा मिश्र रूप तीन प्रकार का दर्शनमोहनीय का सम्यक्त्व नाम का प्रथम भेद है। वह तो कर्म का भेद है सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? सम्यक्त्व तो निर्विकार सदा आनन्द रूप एक लक्षण वाले परमात्मतत्त्व आदि के श्रद्धान रूप है, मोक्ष का बीज या कारण है तथा भव्यजीव का परिणाम है ?

समाधान – यद्यपि सम्यक्त्व प्रकृति कर्म का भेद है, तथापि निर्विष किया हुआ विष मरण नहीं करता है, उसी प्रकार शुद्धात्माभिमुख परिणाम के द्वारा मन्त्र स्थानीय (मन्त्र के समान) विशुद्धि विशेष मात्र से, मिथ्यात्व शक्ति का नाश होकर क्षायोपशमिक आदि पंचलब्धि जनित प्रथमोपशम सम्यक्त्व के बाद उत्पन्न होने वाला जो वेदक सम्यक्त्व है, उस स्वभाव का तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप जीव परिणाम का सम्यक्त्व प्रकृति घात नहीं करती है, इस कारण उपचार से सम्यक्त्व का हेतु होने से कर्म विशेष होने पर भी सम्यक्त्व कहा जाता है और वह तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति की तरह परम्परा से मुक्ति का कारण है, इसमें विरोध नहीं है॥२७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं अथवा पूर्व दोष के भय से यह प्रत्यक्षीभूत जीव द्रव्यकर्मरूप पुद्गलद्रव्य के शुद्धात्म तत्त्वादि के विषय में विपरीत अभिप्राय

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं॥३३२॥
कम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव॥३३३॥
कम्मेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा॥३३५॥

जनक भाव मिथ्यात्व करता है, परन्तु स्वयं भावमिथ्यात्व रूप से परिणमन नहीं करता है, ऐसा माना जाये **तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो** तो फिर एकान्त से वह पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि होगा, परन्तु जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होगा। कर्मबन्ध भी उसी के होगा, संसार भी उसी के होगा, जीव के नहीं। परन्तु यह तो साक्षात् विरुद्ध है। **अह जीवो पयडि विय पुग्गल दव्वं कुणंति मिच्छत्तं** अब पूर्वदोष के भय से जीव और प्रकृति दोनों भी पुद्गल द्रव्यकर्म को कर्मपने को प्राप्त भाव मिथ्यात्व रूप करते हैं, ऐसा माना जाये, **तम्हा दोवि कदंतं** तो इस कारण से उपादान कारणभूत इन जीव और पुद्गल दोनों के द्वारा वह भाव मिथ्यात्व किया गया (कहलायेगा) **दोण्हिवि भुंजंति तस्स फलं** तो फिर जीव और पुद्गल दोनों ही उसके फल को भोगेंगे। तब फिर अचेतन प्रकृति के भी भोक्तृत्व होगा, किन्तु वह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं** अथवा ऐसा माना जाये कि एकान्त से न तो प्रकृति ही करती है और न ही जीव करता है। किसको ? पुद्गल द्रव्य को । किसप्रकार नहीं करता है ? भाव मिथ्यात्व रूप नहीं करता है। **तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा** तो फिर जो पूर्व सूत्र में कहा है **अहवा एसा जीवो पुग्गलदव्वस कुणदि मिच्छत्तं** वह वचन क्या स्पष्टत: मिथ्या नहीं होगा? अपितु मिथ्या ही होगा।

इसका स्पष्टीकरण यह है – यद्यपि शुद्धनिश्चय से जीव शुद्ध है, तथापि पर्यायार्थिक नय से कथंचित् परिणामीपना होने से अनादि कर्मोदय के वश रागादि उपाधि परिणाम स्फटिक की तरह ग्रहण करता है। और यदि एकान्त से अपरिणामी होता है तो उपाधि परिणाम घटित नहीं होता है। स्फटिक पाषाण में जपापुष्प की उपाधिरूप परिणमन करने की शक्ति होने से स्फटिक में जपापुष्प की उपाधि उत्पन्न होती है, परन्तु काष्ठ आदि में उत्पन्न नहीं होती है। किस कारण से काष्ठादि में उपाधि पैदा नहीं होती है ? क्योंकि उस काष्ठादि में उपाधिरूप परिणमन शक्ति का अभाव होता है। इसप्रकार यदि द्रव्य मिथ्यात्व प्रकृति एकांत रूप से कर्ता होकर यदि भाव मिथ्यात्व करता है, तो जीव भाव मिथ्यात्व का कर्ता नहीं होता है। भाव मिथ्यात्व के अभाव में कर्मबन्ध का अभाव होगा, उससे संसार का अभाव होगा, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसप्रकार व्याख्यान रूप से तीसरे स्थल में पाँच गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३२९-३३१॥

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय-परंपरागदा एरिसी दु सुदी॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे[1]।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं[2]॥३३७॥
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघादणामेत्ति॥३३८॥
तम्हा ण को वि जीवो उवघादगो अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणिदं[2]॥३३९॥

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थ की गाथायें अब कहते हैं:–

कर्महि करें अज्ञानि त्यों ही ज्ञानि भी कर्महि करें।
कर्महि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जाग्रत करें॥३३२॥

अरु कर्म ही करते सुखी, कर्महि दुखी जीव को करें।
कर्महि करे मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करे॥३३३॥

कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अध: अरु तिर्यक् विषैं।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्महि करे॥३३४॥

करता करम, देता करम, हरता करम – सब कुछ करे।
इस हेतु से यह है सुनिश्चित जीव अकारक सर्व है॥३३५॥

'पुंकर्म इच्छे नारि को स्त्रीकर्म इच्छे पुरुष को'।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव परंपरा अवतीर्ण है॥३३६॥

इस रीत 'कर्महि कर्म को इच्छै'– कहा है शास्त्र में।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेश में॥३३७॥

अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वह भी प्रकृति है।
इस अर्थ में परघात नामक कर्म का निर्देश है॥३३८॥

इसी रीत 'कर्महि कर्म को हनता' कहा है शास्त्र में।
इससे न कोइ भी जीव है हिंसक जु हम उपदेश में॥३३९॥

---

१. पाठान्तर = तुम्हमुवदेसे, २. जं भणियं

एवं संखुवदेसं जे दु परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
ऐसो मिच्छसहावो तुम्हं एदं मुणंतस्स॥३४१॥
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिगो य कादुं जे॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिगो य कहं कुणदि दव्वं[१]॥३४३॥
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि॥३४४॥

यों सांख्य का उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे।
उस मत में सब प्रकृति करे जीव तो अकारक सर्व है॥३४०॥

अथवा तु माने 'आत्मा मेरा स्व-आत्मा को करे'।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे॥३४१॥

जीव नित्य है त्यों है असंख्यप्रदेशि दर्शित समय में।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके॥३४२॥

विस्तार से जीवरूप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्य को कैसे करे॥३४३॥

माने तु 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आत्मा को नहिं करे॥३४४॥

गाथार्थ :– ''[**कर्मभिः तु**] कर्म [**अज्ञानी क्रियते**] (जीव को) अज्ञानी करते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः ज्ञानी**] कर्म (जीव को) ज्ञानी करते हैं, [**कर्मभिः स्वाप्यते**] कर्म सुलाते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः जागर्यते**] कर्म जगाते हैं, [**कर्मभिः सुखी क्रियते**] कर्म सुखी करते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः दुःखी क्रियते**] कर्म दुःखी करते हैं, [**कर्मभिः च मिथ्यात्वं नीयते**] कर्म मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं [**च एव**] और [**असंयमं नीयते**] कर्म असंयम को प्राप्त कराते हैं [**कर्मभिः**] कर्म [**ऊर्ध्वं अधः च अपि तिर्यग्लोकं च**] ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में [**भ्राम्यते**] भ्रमण

---

१. पाठान्तर = तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः॥३३२॥
कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव॥३३३॥
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किंचित्॥३३४॥
यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किंचित्।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः॥३३५॥
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः॥३३६॥
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम्॥३३७॥

कराते हैं, [**यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं**] जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ है वह सब [**कर्मभिः च एव क्रियते**] कर्म ही करते हैं। [**यस्मात्**] इसलिए [**कर्म करोति**] कर्म करता है, [**कर्म ददाति**] कर्म देता है, [**हरति**] कर्म हर लेता है [**इति यत्किंचित्**] इसप्रकार जो कुछ भी करता है वह कर्म ही करता है, [**तस्मात् तु**] इसलिए [**सर्वजीवाः**] सभी जीव [**अकारकाः आपन्नाः भवंति**] अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं।

और, [**पुरुषः**] पुरुषवेदकर्म [**स्त्र्यभिलाषी**] स्त्री का अभिलाषी है [**च**] और [**स्त्रीकर्म**] स्त्रीवेदकर्म [**पुरुषम् अभिलषति**] पुरुष की अभिलाषा करता है [**एषा आचार्यपरम्परागता ईदृशीतु श्रुतिः**] ऐसी यह आचार्य की परम्परा से आई हुई श्रुति है; [**तस्मात्**] इसलिए [**अस्माकम् उपदेशे तु**] हमारे उपदेश में तो [**कः अपि जीवः**] कोई भी जीव [**अब्रह्मचारी न**] अब्रह्मचारी नहीं है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म च एव हि**] कर्म ही [**कर्म अभिलषति**] कर्म की अभिलाषा करता है [**इति भणितम्**] ऐसा कहा है।

और, [**यस्मात् परं हंति**] जो पर को मारता है [**च**] और [**परेण हन्यते**] जो पर के द्वारा मारा जाता है [**सा प्रकृतिः**] वह प्रकृति है [**एतेन अर्थेन किल**] इस अर्थ में [**परघातनाम इति भण्यते**] परघातनामकर्म कहा जाता है, [**तस्मात्**] इसलिए [**अस्माकम् उपदेशे**] हमारे उपदेश में [**कः अपि जीवः**] कोई भी जीव [**उपघातकः न अस्ति**] उपघातक (मारनेवाला) नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म च एव हि**] कर्म ही [**कर्म हंति**] कर्म को मारता है [**इति भणितम्**] ऐसा कहा है।''

(आचार्यदेव कहते हैं कि) [**एवं तु**] इसप्रकार [**ईदृशं सांख्योपदेशं**] ऐसा सांख्यमत का उपदेश [**ये श्रमणाः**] जो श्रमण (जैन मुनि) [**प्ररूपयंति**] प्ररूपित करते हैं [**तेषां**] उनके मत में [**प्रकृतिः करोति**] प्रकृति ही करती है [**आत्मानः च सर्वे**] और आत्मा तो सबका [**अकारकाः**] अकारक है ऐसा सिद्ध होता है !

यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति।।३३८।।
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितम्।।३३९।।
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे।।३४०।।
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति।
एष मिथ्यास्वभावः तवैतज्जानतः।।३४१।।
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत्।।३४२।।
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम्।।३४३।।
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम्।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति।।३४४।।

[**अथवा**] अथवा (कर्तृत्व का पक्ष सिद्ध करने के लिए) [**मन्यसे**] यदि तुम यह मानते हो कि '[**मम आत्मा**] मेरा आत्मा [**आत्मानः**] अपने [**आत्मानम्**] (द्रव्यरूप) आत्मा को [**करोति**] करता है,' [**एतत् जानतः तव**] तो ऐसा जाननेवाले का तुम्हारा [**एषः मिथ्या-स्वभावः**] यह मिथ्यात्वभाव है; [**यद्**] क्योंकि [**समये**] सिद्धांत में [**आत्मा**] आत्मा को [**नित्यः**] नित्य, [**असंख्येयप्रदेशः**] असंख्यात-प्रदेशी [**दर्शितः तु**] बताया गया है, [**ततः**] उससे [**सः**] वह [**हीनः अधिकः च**] हीन या अधिक [**कर्तुं न अपि शक्यते**] नहीं किया जा सकता; [**विस्तरतः**] और विस्तार से भी [**जीवस्य जीवरूपं**] जीव का जीवरूप [**खलु**] निश्चय से [**लोकमात्रं जानीहि**] लोकमात्र जानो; [**ततः**] उससे [**किं सः हीनः अधिकः वा**] क्या वह हीन अथवा अधिक होता है ? [**द्रव्यं कथं करोति**] तब फिर (आत्मा) द्रव्य को (अर्थात् द्रव्यरूप आत्मा को) कैसे करता है ?

[**अथ**] अथवा यदि '[**ज्ञायकः भावः तु**] ज्ञायकभाव तो [**ज्ञानस्वभावेन तिष्ठति**] ज्ञानस्वभाव से स्थित रहता है' [**इति मतम्**] ऐसा माना जाये, [**तस्मात् अपि**] तो इससे भी [**आत्मा स्वयं**] आत्मा स्वयं [**आत्मनः आत्मानं तु**] अपने आत्मा को [**न करोति**] नहीं करता यह सिद्ध होगा।

(इसप्रकार कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिए विवक्षा को बदलकर जो पक्ष कहा है वह घटित नहीं होता। क्योंकि, यदि कर्म का कर्ता कर्म ही माना जाये तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसलिए आत्मा को अज्ञान-अवस्था में कथंचित् अपने अज्ञानभावरूप कर्म का कर्ता मानना चाहिए, जिससे स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।)

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव ज्ञानिनं करोति, ज्ञाना-वरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव स्वापयति, निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव जागरयति, निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव सुखयति, सद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव दुःखयति, असद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति, मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवासंयतं करोति, चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति, आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति, प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं समस्तमपि स्वतंत्रं कर्म करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः। किंच – श्रुतिरप्येनमर्थमाह; पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन

टीका :– (यहाँ पूर्वपक्ष इसप्रकार है –) ''कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना उसकी (अज्ञान की) अनुपपत्ति है; कर्म ही (आत्मा को) ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुलाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म जगाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही दुःखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही ऊर्ध्वलोक में अधोलोक में और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है, क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है वह सब कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है। इसप्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है। इसलिए हम यह निश्चय करते हैं कि सभी जीव सदा एकान्त से अकर्ता ही हैं। और श्रुति (भगवान की वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थ को कहती है; क्योंकि, (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म की अभिलाषा के कर्तृत्व के समर्थन द्वारा जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तृत्व का निषेध करती है, तथा 'जो पर को हनता है और जो पर के द्वारा हना जाता है वह परघातकर्म है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व होने के समर्थन द्वारा जीव के घात के कर्तृत्व का निषेध करती है और इसप्रकार (अब्रह्मचर्य के तथा घात के कर्तृत्व के निषेध द्वारा) जीव का सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।''

(आचार्यदेव कहते हैं कि:–) इसप्रकार ऐसे सांख्यमत को, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से सूत्र के अर्थ को न जाननेवाले कुछ [1]श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी, एकान्त से प्रकृति के कर्तृत्व की

१. श्रमणाभास – मुनि के गुण नहीं होने पर भी अपने को मुनि कहलाने वाले।

जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्, तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्। एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञा-पराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्-मणाभासाः प्ररूपयंति; तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः जीव कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्। यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति, आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति, ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च। तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं, कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थितासंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षण-द्वारेणापि तस्य कार्यत्वं, प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्। न चापि सकललोकवास्तुविस्तार-परिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचनविकाशनयोरपि-

---

मान्यता से, समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तृत्व आ जाता है इसलिए 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है (अर्थात् भगवान की वाणी की विराधना होती है)। और 'कर्म आत्मा के अज्ञानादि सर्व भावों को – जो कि पर्यायरूप हैं उन्हें करता है और आत्मा तो आत्मा को ही एक को द्रव्यरूप को करता है इसलिए जीव कर्ता है; इसप्रकार श्रुति का कोप नहीं होता' – ऐसा जो अभिप्राय है वह मिथ्या ही है। (इसी को समझाते हैंः–) जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें प्रथम, नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्व के और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है। (आत्मा नित्य है इसलिए वह कृतक अर्थात् किसी के द्वारा किया गया नहीं हो सकता।) और अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशों का प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्व का व्याघात हो जायेगा। (स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है, इसलिए उसमें से परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्यात-प्रदेशवाला एक ही द्रव्य है इसलिए वह अपने प्रदेशों को निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशों को ले नहीं सकता।) और सकल लोकरूपी घर के विस्तार से परिमित जिसका निश्चित निज विस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित माप है) उसके (आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़े की भाँति, निश्चित निज विस्तार के कारण उसे (आत्मा को) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। (इसप्रकार आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।) और, ''वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है और इसप्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं; इसलिए उनका कर्ता कर्म ही है इसप्रकार प्ररूपित किया जाता है'' – ऐसी जो वासना (अभिप्राय झुकाव) प्रगट की जाती है वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयता पूर्वक घात करती है (क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)।

शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुम-शक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्या-त्वादि भावानां न कर्ता भवति, भवंति च मिथ्यात्वादिभावा:, ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेष: स तु नितरामात्मात्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव। ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावाव-स्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं; तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञान-पूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृ-त्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात्।।३३२-३४४।।

इसलिए, ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना (अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है) वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात् भेद-विज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ (ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसरूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।

भावार्थ :– कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणी को भलीभाँति न समझ कर सर्वथा एकान्त का अभिप्राय करते हैं और विवक्षा को बदलकर यह कहते हैं कि ''आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है, कर्मप्रकृति का उदय ही भावकर्म करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण – इन सबको तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ भाव हैं उन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।'' और वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि ''वेद के उदय से स्त्री-पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है।'' इसप्रकार जैसे सांख्य मतावलम्बी सब कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं उसीप्रकार अपनी बुद्धि के दोष से इन मुनियों की भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है, अतः सर्वथा एकान्त को माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है। जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा बदलकर यह कहें कि ''भावकर्म का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का (अर्थात् अपने को) कर्ता आत्मा है, इसप्रकार हम आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणी का कोप नहीं होता;'' तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है और जो भावकर्म पर्यायें हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को कहते हैं; इसलिए आत्मा तो अकर्ता ही रहा ! तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया ? इसलिए आत्मा

(शार्दूलविक्रीडित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्॥२०५॥

के कर्तृत्व-अकर्तृत्व की विवक्षा को यथार्थ मानना ही स्याद्वाद को यथार्थ मानना है। आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व के सम्बन्ध में सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इसप्रकार है :–

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप में जानता है, इसलिए इसप्रकार विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है॥३३२-३४४॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[अमी आर्हताः अपि]** यह आर्हत् मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी **[पुरुषं]** आत्मा को, **[सांख्याः इव]** सांख्यमतियों की भाँति, **[अकर्तारम् मा स्पृशन्तु]** (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; **[भेद-अवबोधात् अधः]** भेदज्ञान होने से पूर्व **[तं किल]** उसे **[सदा]** निरन्तर **[कर्तारम् कलयन्तु]** कर्ता मानो, **[तु]** और **[ऊर्ध्वम्]** भेदविज्ञान होने के बाद **[उद्धत-बोध-धाम-नियतं स्वयं प्रत्यक्षम् एनम्]** उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानमन्दिर, ज्ञानप्रकाश) में निश्चित इस स्वयंप्रत्यक्ष आत्मा को **[च्युत-कर्तृभावम् अचलं एकं परम् ज्ञातारम्]** कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही **[पश्यन्तु]** देखो।

भावार्थ :– सांख्य मतावलम्बी पुरुष को सर्वथा एकान्त से अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष को संसार के अभाव का प्रसंग आता है और यदि प्रकृति को संसार माना जाये तो वह भी घटित नहीं होता क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, उसे सुख-दुःखादि का संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा ? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यता में आते हैं। सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। इसलिए सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और यदि जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि सांख्यमतियों की भाँति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें; जबतक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो तबतक तो उसे रागादि का –अपने चेतनरूप भावकर्मों का कर्ता मानो और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन समस्त कर्तृत्व के भार से रहित एक ज्ञाता ही मानो। इसप्रकार एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व – ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) मानने से पुरुष को संसार-मोक्ष आदि की सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय-व्यवहार का लोप होता है॥२०५॥

(मालिनी)

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ।।२०६।।

आगे की गाथाओं में, 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा माननेवाले क्षणिकवादी बौद्धमतियों की सर्वथा एकान्त मान्यता में दूषण बतायेंगे और स्याद्वादानुसार जिसप्रकार वस्तुस्वरूप अर्थात् कर्ताभोक्तापन है, उसप्रकार कहेंगे। उन गाथाओं का सूचक काव्य प्रथम कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इह**] इस जगत में [**एकः**] कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) [**इदम् आत्मतत्त्वं क्षणिकम् कल्पयित्वा**] इस आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके [**निज-मनसि**] अपने मन में [**कर्तृ-भोक्त्रोः विभेदं विधत्ते**] कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं (कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); [**तस्य विमोहं**] उनके मोह को (अज्ञान को) [**अयम् चित्-चमत्कारः एव स्वयम्**] यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं [**नित्य-अमृत-ओघैः**] नित्यतारूप अमृत के ओघ (समूह) के द्वारा [**अभिषिञ्चन्**] अभिसिंचन करता हुआ, [**अपहरति**] दूर करता है।

भावार्थ :– क्षणिकवादी कर्ता-भोक्ता में भेद मानते हैं अर्थात् वे यह मानते हैं कि प्रथम क्षण में जो आत्मा था वह दूसरे क्षण में नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि हम उसे क्या समझायें? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा कि ''जो (चैतन्य) अनुभवगोचर नित्य है।'' प्रथम क्षण में जो आत्मा था वही द्वितीय क्षण में कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इसप्रकार का स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि 'जो प्रथम क्षण में था वही मैं दूसरे क्षण में हूँ' ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्या से भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो और समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ''हे बौद्ध! तू यह जो तर्क (दलील) करता है उस सम्पूर्ण तर्क को करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं ? और तेरे सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है ऐसा मान कर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं ऐसा मानकर तर्क करता है ? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्क को तो कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करने का क्या प्रयोजन है[१] ? यों अनेक प्रकार से विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्मा को क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञान को भ्रम कह देना वह यथार्थ नहीं है। इसलिए यह

---

१. यदि यह कहा जाये कि 'आत्मा तो नष्ट हो जाता है किन्तु वह संस्कार छोड़ता जाता है' तो यह भी यथार्थ नहीं है; यदि आत्मा नष्ट हो जाये तो आधार के बिना संस्कार कैसे रह सकता है ? और यदि कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाये, तो भी उस आत्मा के संस्कार दूसरे आत्मा में प्रविष्ट हो जायें ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।

(अनुष्टुभ्)

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात्।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥२०७॥

समुदायपातनिका – अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकांतेन कर्मैव करोति न चात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदंति तान्प्रति पुनरपि नयविभागेनात्मनः कथंचित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति – तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकांतेन कर्तृ भवति इति कथनमुख्यत्वेन **'कम्मेहिं दु अण्णाणी'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। ततः परं सांख्यमतेऽप्येवं भणितमास्ते – इति संवाददर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्यत्वेन **'पुरुसित्थियाहिलासी'** इत्यादि गाथाद्वयम्। अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन **'जम्हा घादेदि परं'** इत्यादि गाथाद्वयम्। प्रकृतेरेव कर्तृत्वं न चात्मन इत्येकांतनिराकरणार्थं तस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसंहाररूपेण **'एवं संखुवदेसं'** इत्यादि गाथैका इति सूत्रपंचकसमुदायेन द्वितीयमंतरस्थलम्। तदनंतरं आत्मा कर्म न करोति कर्मजनितभावांश्च किंत्वात्मानं करोतीत्येकगाथायां पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन **'अहवा मण्णसि मज्झं'** इत्यादि सूत्रचतुष्टयम्। एवं चतुरंतराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका तद्यथा–

समझना चाहिए कि आत्मा को एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना वह दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं वही सत्यार्थ है'' ॥२०६॥

पुनः क्षणिकवाद का युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ और आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–

श्लोकार्थ :– [**वृत्ति-अंश-भेदतः**] वृत्त्यंशों के अर्थात् पर्याय के भेद के कारण [**अत्यन्तं वृत्तिमत्-नाश-कल्पनात्**] 'वृत्तिमान अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पना के द्वारा [**अन्यः करोति**] 'अन्य करता है और [**अन्यः भुंक्ते**] अन्य भोगता है' [**इति एकान्तः मा चकास्तु**] ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो।

भावार्थ :– द्रव्य की पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं इसलिए बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य ही सर्वथा नष्ट होता है'। ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थ का ही नाश हो जाये तो पर्याय किसके आश्रय से होगी ? इसप्रकार दोनों के नाश का प्रसंग आने से शून्य का प्रसंग आता है ॥२०७॥

....

समूह पीठिका – अब ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःखादि कर्म एकान्त से कर्म ही करता है, आत्मा नहीं – ऐसा सांख्यमतानुयायी कहता है, उसके प्रति पुनः नयविभाग से आत्मा का कथंचित् कर्तृत्व सिद्ध करते हैं। वहाँ तेरह गाथाओं में कर्म ही एकान्त से कर्ता होता है, इस कथन की मुख्यता से **'कम्मेहिं दु अण्णाणी'** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं। उसके बाद सांख्यमत में भी ऐसा कहा है इसप्रकार संवाद बताने के लिए ब्रह्मचर्य की स्थापना की मुख्यता से **'पुरुसित्थियाहिलासी'** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। अहिंसा की स्थापना की मुख्यता से **'जम्हा घादेदि परं'** इत्यादि दो गाथाएँ हैं। प्रकृति ही का कर्तृत्व है, आत्मा का नहीं, ऐसे एकान्त के निराकरण के लिए उन्हीं चार गाथाओं में दिखाये गये दोष के उपसंहार रूप से **'एवं संखुवदेसं'** इत्यादि एक गाथा है। इसप्रकार पाँच गाथा सूत्रों के समूह द्वारा दूसरा अन्तर स्थल है। उसके बाद आत्मा कर्म नहीं करता है और

तात्पर्यवृत्ति टीका – कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकांतेन तथैव च ज्ञानी क्रियते, कर्मभिः स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति प्रथमगाथा गता। कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः। कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैवैकांतेन द्वितीयगाथा गता। कर्मभिश्चैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयगाथा गता। यस्मादेवं भणितं कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किंचिच्छुभाशुभं तस्मादेकांतेन सर्वे जीवा अकारकाः प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः – इति कर्मैकांतकर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम्। कर्मैव करोत्येकांतेनेति पूर्वोक्तमर्थं **श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवाः** सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयंति। वयं ब्रूमो द्वेषेणैवं न। भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्माभिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलषत्येकांतेन, न च जीवः। एवमाचार्यपरंपरायाः क्रमागता श्रुतिरीदृशी। **श्रुतिः कोऽर्थः ? आगमो भवतां सांख्यानामिति** प्रथमगाथा गता। तथा सति किं दूषणं चेति ? एवं न कोऽपि जीवोऽस्त्यब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवंति तथैकांतेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति न च जीव इत्युक्तं पूर्वं स च प्रत्यक्षविरोधः।

आत्मा कर्मजनित भावों को नहीं करता है, किन्तु आत्मा, आत्मा को करता है। इसप्रकार एक गाथा में पूर्वपक्ष है तथा तीन गाथाओं में निराकरण है, इसप्रकार समूहरूप से **'अहवा मण्णसि मज्झं'** इत्यादि चार गाथा सूत्र हैं। इस चतुर्थ अन्तराधिकार में तीन स्थलों द्वारा समुदाय पातानिका है। वह इसप्रकार है –

एकान्त से जीव कर्मों के द्वारा अज्ञानी किया जाता है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारा ज्ञानी किया जाता है। (कर्मों के द्वारा) निद्रा को प्राप्त कराया जाता है, उसी तरह जागृत किया जाता है– इसप्रकार प्रथम गाथा हुई। जीव कर्मों के द्वारा सुखी किया जाता है, उसी तरह कर्मों के द्वारा दुःखी किया जाता है। एकान्त रूप से कर्मों के द्वारा मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है, उसी प्रकार असंयम को भी प्राप्त कराया जाता है – इसप्रकार दूसरी गाथा हुई। कर्मों के द्वारा ही उर्ध्वलोक, अधोलोक तथा मध्यलोक में परिभ्रमण कराया जाता है तथा अन्य जो कुछ भी शुभ-अशुभ रूप है वह (सभी कर्मों के द्वारा ही) कराया जाता है – इस तरह तीसरी गाथा हुई। इसलिए ऐसा कहा है कि जो कुछ शुभ-अशुभ है वह सभी कर्म ही कराते हैं, कर्म ही देते हैं, कर्म ही हरण करते हैं, इसलिए सभी जीव एकान्त से अकारकता को प्राप्त होते हैं। और उससे जीव के कर्म का अभाव होता है, कर्म के अभाव होने पर संसार का अभाव होता है जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसप्रकार कर्मों के एकान्तरूप कर्तृत्व के दोष की मुख्यता से चार गाथासूत्र पूर्ण हुए।

'एकान्त से कर्म ही करते हैं' इस पूर्वोक्त अर्थ को श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सांख्यमत के संवाद को दिखाकर पुनः समर्थन करते हैं, हम जो कहते हैं सो द्वेषबुद्धि से नहीं कहते हैं। आपके मत में भी कहा है कि पुरुषवेद नामक कर्म एकान्त से कर्ता होकर स्त्रीवेद कर्म की अभिलाषा करता है। स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुषवेद की अभिलाषा करता है और जीव ऐसी अभिलाषा नहीं करता है। इसप्रकार आचार्य परम्परा से चली आई श्रुति है। श्रुति का क्या अर्थ है ? आप सांख्यजनों का आगम (श्रुति) है। इसप्रकार प्रथम गाथा हुई।

ऐसा होने में क्या दोष है ? इसप्रकार आपके उपदेश में कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं है, किन्तु जिसप्रकार शुद्धनिश्चय से सभी जीव ब्रह्मचारी हैं, उसीप्रकार एकान्त से अशुद्ध निश्चयनय से भी सभी ब्रह्मचारी ही हैं; क्योंकि पुरुषवेद नामक कर्म स्त्रीवेद नामक कर्म की अभिलाषा करता है और जीव कुछ भी अभिलाषा

इत्यब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्। यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूपं प्रकृति: कर्त्री हंति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीव:। एतेनार्थेन किल जैनमते परघातनामकर्मेति भण्यते। परं किंतु जैनमते जीवो हिंसाभावेन परिणमति परघातनामसहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता। तस्मात्किं दूषणं ? शुद्धपारिणामिकपरमभाव-ग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथित:, कथं ? इति चेत् **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** इति वचनात्, व्यवहारेण तु परिणामीति। भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन तथाऽशुद्धनयेनाप्युपघातको हिंसक: कोऽपि नास्ति। कस्मात् ? इति चेत्, यस्मादेकांतेन कर्म चैव हि स्फुटमन्यत् कर्म हंति, न चात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिति। एवं हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्। **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा** एवं पूर्वोक्तं सांख्योपदेशमीदृशमेकांतरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानंत: **समणा** श्रमणाभासा: द्रव्यलिंगिन: प्ररूपयंति कथयंति। **तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे** तेषां मतेनैकांतेन प्रकृति: कर्त्री भवति। आत्मानश्च पुनरकारका: सर्वे। ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभाव:, कर्माभावे संसाराभाव:। ततो मोक्षप्रसंग: स च प्रत्यक्षविरोध इति। जैनमते पुन: परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वं घटत इति नास्ति दोष:। एवं सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकांतेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपंचकं गतम्। **अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि** हे सांख्य! अथवा मन्यसे त्वं पूर्वोक्ताकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यत: कारणादज्ञानिनां कर्मबंधो भवति। किंत्वात्मा कर्त्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति तत: कारणादकर्तृत्वे दूषणं न

नहीं करता है, ऐसा आपका पूर्व कथन है किन्तु वह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसप्रकार अब्रह्म कथन रूप से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

जिस कारण से प्रकृति कर्ता होकर अन्य के कर्म का नाश करती है और दूसरे के कर्म के द्वारा उस प्रकृति का भी नाश किया जाता है, जीव किसी का घात नहीं करता है। इस अर्थ से जैनमत में परघात नामकर्म कहा गया है। परन्तु जैनमत में जीव हिंसाभाव से परणमित होता है तथा परघातनामकर्म सहकारी कारण या निमित्त होता है, इसप्रकार विरोध नहीं है, इसप्रकार प्रथम गाथा हुई। तो इसमें क्या दोष है ? **प्रथम तो शुद्धपारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिक नय से जीव अपरिणामी है,** हिंसा परिणाम से रहित है – ऐसा जैनागम में कहा है। कैसे कहा है ? **'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'** अर्थात् शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं ऐसा आगम का वचन है; परन्तु व्यवहार नय से जीव परिणामी है। आपके (सांख्य) मत में जिसप्रकार शुद्धनय से कोई भी जीव हिंसक-उपघातक नहीं है उसीप्रकार अशुद्धनय से भी कोई जीव हिंसक उपघातक नहीं है। किस कारण से (हिंसक नहीं है)? क्योंकि एकान्त से कर्म ही अन्य कर्म का नाश करता है – यह स्पष्ट है, आत्मा नाश नहीं करता है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा है। इसप्रकार हिंसा के विचार की मुख्यता से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा इसतरह पूर्वोक्त सांख्यमत के उपदेश की तरह परमागम में कहे हुए नयविभाग को न जानते हुए एकान्त रूप से जो **समणा** श्रमणाभास द्रव्यलिंगी प्ररूपण करते हैं। **तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारया सव्वे** उनके मत में एकान्तरूप से प्रकृति कर्ता होती है और सभी आत्माएँ अकर्ता होते हैं। तब फिर कर्तृत्व के अभाव में कर्म का अभाव है और कर्म के अभाव में संसार का अभाव है। तो 'सभी जीव मुक्त हैं' ऐसा प्रसंग आता है जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। पुन: जैनमत में परस्पर सापेक्ष निश्चय-व्यवहार दोनों नय से सभी घटित होता है इसमें दोष नहीं है। इसप्रकार सांख्यमत

भवति? इति चेत्, **एसो मिच्छसहावो तुम्हं एवं मुणंतस्स** अयमपि मिथ्यास्वभाव एवं मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षगाथा गता। अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह – कस्मान्मिथ्यास्वभाव: ? इति चेत्, **जे** यस्मात् कारणात्। **अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि** आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासंख्यातप्रदेशो देशित: समये परमागमे तस्यात्मन: शुद्धचैतन्यान्वयलक्षणद्रव्यत्वं तथैवासंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति। **ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** तद्द्रव्यं प्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिकं हीनं वा कर्तुं नायाति इति हेतोरात्मा आत्मानं करोतीति वचनं मिथ्येति। अथ मतं असंख्यातमानं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन बहुभेदं तिष्ठति। तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्ट-रूपेणासंख्यातप्रदेशत्वं जीव: करोति, तदपि न घटते यस्मात् कारणात्। **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीवस्य जीवरूपं प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यत: सूक्ष्मनिगोदकाले नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसंहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुटं। **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीव: किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्वं भणसि आत्मद्रव्यं कृतं किंतु नैवेति। **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं** अथ हे शिष्य! ज्ञायको भाव: पदार्थ: आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मतं सम्मतमेव। **तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि** यस्मान्निर्मलानन्दैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं स्वयमेवात्मना कृत्वा

का संवाद दिखाकर जीव के एकान्त रूप से अकर्तापने में दोष है – यह कथन पाँच गाथाओं में पूर्ण हुआ।

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि अथवा हे सांख्यजन ! यदि पूर्वोक्त अकर्तृत्व दोष के भय से तू यह माने कि मेरे मत में जीव ज्ञानी है और ज्ञानीपना होने से कर्म का कर्तापना नहीं घटता है इस कारण से अज्ञानी को कर्मबन्ध होता है, किन्तु आत्मा कर्ता (होकर) आत्मा रूप कर्म को आत्मा के द्वारा करण रूप से करता है। उस कारण से अकर्तृत्व में दोष नहीं है। **एसो मिच्छसहावो तुम्हं एवं मुणंतस्स** यह इसप्रकार की तेरी मान्यता भी मिथ्यास्वभाववाली है, इसप्रकार यह पूर्वपक्ष की गाथा हुई।

अब तीन गाथासूत्रों द्वारा निराकरण कहते हैं – किस कारण से मिथ्यास्वभाववाली है ? **जे** क्योंकि **अप्पा णिच्चासंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि** आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य तथा असंख्यात प्रदेशी परमागम में कहा है, उस आत्मा के शुद्धचैतन्य अन्वय लक्षण वाला द्रव्यपना तथा असंख्यातप्रदेशीपना तो पहले से ही है। **ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** उस द्रव्य को तथा प्रदेशत्व को उसके प्रमाण से अधिक अथवा हीन करना सम्भव नहीं है – इस कारण आत्मा, आत्मा को करता है। यह वचन मिथ्या है। यदि माना जाये कि असंख्यात के परिमाण में जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट के भेद से अनेक भेद हैं। इसलिए जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट रूप से असंख्यात प्रदेशों को जीव करता है, किन्तु वह भी घटित नहीं होता है, कारण कि **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीव का जीवरूप प्रदेशों की अपेक्षा से विस्तार को प्राप्त होता हुआ महामत्स्य (की पर्याय) के काल में, अथवा लोकपूरण (समुद्घात) के काल में अथवा जघन्य रूप से सूक्ष्म निगोद अवस्था के काल में नाना प्रकार के मध्यम अवगाहना वाले शरीर ग्रहण के काल में अथवा दीपक (के प्रकाश) की तरह विस्तार एवं संकोच के कारण लोकमात्र प्रदेशवाला ही रहता है ऐसा स्पष्ट जानो। **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** इसलिए लोकाकाश के असंख्यातप्रदेश प्रमाणमात्र वह जीव क्या हीन-अधिक किया जाता है कि जिससे तुम कहते हो कि आत्मद्रव्य को आत्मा ने किया, किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् आत्मा तो हीन-अधिक नहीं

नैवं करोतीत्येकं दूषणं। द्वितीयं च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते। एवं पूर्वपक्ष-परिहाररूपेण तृतीयांतरस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा ? अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातं? तत्रापि हिंसा नास्तीति। तन्न, कायादिप्राणैः सह कथंचिद् भेदाभेदः। कथं ? इति चेत्, तप्तायः पिंडवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुम् नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः। निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छंति तेन कारणेन भेदः। यद्येकांतेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीयकाये छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति। न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात्। ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव। तन्नारकादिदुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत। भीतिरस्ति ? इति चेत्, तर्हि त्यज्यतामिति। ततः स्थितमेतत् एकांतेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति किं तर्हि ? रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्यतयांतरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि॥३३२-३४४॥

होता है। **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि देदि मदं** अब हे शिष्य ! ज्ञायकभाव पदार्थ अर्थात् आत्मा ज्ञानरूप से तो पहले से ही है ऐसी मान्यता स्वीकृत ही है। **तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि** क्योंकि निर्मलानन्द एक ज्ञानस्वभाव शुद्धात्मा पहले से ही है, इसलिए कर्ता-आत्मा, कर्मपने को प्राप्त आत्मा को स्वयं आत्मा के द्वारा नहीं कर्ता है – ऐसा एक दोष है और दूसरा यह है कि निर्विकार परमतत्त्व ज्ञानी तो कर्ता नहीं होता है। ऐसा पहले ही कहा जा चुका है। इसतरह पूर्वपक्ष के निराकरण रूप से तीसरे अन्तरस्थल में चार गाथाएँ समाप्त हुईं।

कोई कहता है कि जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो जिसप्रकार जीव का विनाश नहीं है, उसीप्रकार प्राणों का भी विनाश नहीं है तो फिर हिंसा कैसे है ? और (यदि प्राण जीव से) भिन्न हैं तो जीव के प्राणघात होने पर भी क्या बिगाड़ हुआ ? वहाँ भी हिंसा नहीं है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि कायादि प्राणों के साथ कथंचित् भेद तथा अभेद है। कैसे (भेद-अभेद) है ? वर्तमान काल में तप्त लोहे के पिण्ड के समान (प्राणों को जीव से) पृथक् करना सम्भव नहीं है, इस कारण व्यवहार से अभेद है। निश्चय से मरण के काल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते हैं, इस कारण से भेदरूप हैं। यदि एकान्त से भेद है तो जैसे पराया शरीर छेदे या भेदे जाने पर भी दुःख नहीं होता है, वैसे ही स्वकीय शरीर में भी दुःख प्राप्त नहीं हो; परन्तु ऐसा नहीं है, कारण कि इसमें प्रत्यक्ष विरोध है।

तो फिर व्यवहार से हिंसा हुई, किन्तु निश्चय से हिंसा नहीं हुई। आपने सही कहा है कि व्यवहार से हिंसा हुई तथा पाप भी, नरकादि के दुःख भी व्यवहार से होते हैं, यह बात हमें भी सम्मत ही है। वे नरकादि के दुःख तुम्हें इष्ट हों तो हिंसा करो। यदि (उन दुःखों से) भय हो तो (हिंसा को) छोड़ो। अतः यह सिद्ध हुआ कि एकान्त से सांख्यमतवालों के समान आत्मा अकर्ता नहीं है। तो फिर क्या है ? रागादि विकल्प रहित, समाधिलक्षण रूप भेदज्ञान के काल में आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है, शेष काल में कर्ता है – इसप्रकार व्याख्यान की मुख्यता से तीन अन्तरस्थलों द्वारा चौथे स्थल में तेरह गाथासूत्र पूर्ण हुए॥३३२-३४४॥

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो॥३४६॥
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो[1]।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥३४७॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥३४८॥

अब निम्नलिखित गाथाओं में अनेकान्त को प्रगट करके क्षणिकवाद का स्पष्टतया निषेध करते हैं–

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
इससे करे है वो हि या को अन्य-नहिं एकान्त है॥३४५॥

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
यों जीव वैदे वो हि या को अन्य-नहिं एकान्त है॥३४६॥

जीव जो करे वह भोगता नहिं-जिसका यह सिद्धांत है।
अर्हंत के मत का नहीं वो जीव मिथ्यादृष्टि है॥३४७॥

जीव अन्य करता, अन्य वेदे-जिसका यह सिद्धांत है।
अर्हंत के मत का नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है॥३४८॥

गाथार्थ :– [**यस्मात्**] क्योंकि [**जीवः**] जीव [**कैश्चित् पर्यायैः तु**] कितनी ही पर्यायों से [**विनश्यति**] नष्ट होता है [**तु**] और [**कैश्चित्**] कितनी ही पर्यायों से [**न एव**] नष्ट नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**सः वा करोति**] '(जो भोगता है) वही करता है' [**अन्यः वा**] अथवा 'दूसरा ही करता है' [**न एकान्तः**] ऐसा एकान्त नहीं है (स्याद्वाद है)।

[**यस्मात्**] क्योंकि [**जीवः**] जीव [**कैश्चित् पर्यायैः तु**] कितनी ही पर्यायों से [**विनश्यति**] नष्ट होता है, [**तु**] और [**कैश्चित्**] कितनी ही पर्यायों से [**न एव**] नष्ट नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**सः वा वेदयते**] '(जो करता है) वही भोगता है' [**अन्यः वा**] अथवा 'दूसरा ही भोगता है' [**न एकान्तः**] ऐसा एकान्त नहीं है (स्याद्वाद है)।

'[**यः च एव करोति**] और जो करता है [**सः च एव न वेदयते**] वह ही नहीं भोगता' [**एषः**

---

१. जो चेव कुणदि सो चेव वेदए जस्स एस सिद्धंतो

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः।।३४५।।
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः।।३४६।।
यश्चैव करोति स चैव य वेदयते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः।।३४७।।
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः।।३४८।।

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते, य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांतः। एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते, अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः, क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांतःप्रतिभासमानत्वात्।।३४५-३४८।।

[**यस्य सिद्धान्तः**] ऐसा जिसका सिद्धांत है, [**सः जीवः**] वह जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**अनार्हतः**] अनार्हत (अर्हंत के मत को न माननेवाला) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

'[**अन्यः करोति**] दूसरा करता है [**अन्यः परिभुंक्ते**] और दूसरा भोगता है' [**एष यस्य सिद्धान्तः**] ऐसा जिसका सिद्धांत है, [**सः जीवः**] वह जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**अनार्हतः**] अनार्हत (अजैन) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

टीका :– जीव, प्रतिसमय संभवते (होनेवाले) अगुरूलघुगुण के परिणाम द्वारा क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होने से, कितनी ही पर्यायों से विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है – इसप्रकार दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है; इसलिये 'जो करता है वही भोगता है' अथवा 'दूसरा ही भोगता है'; 'जो भोगता है वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है' – ऐसा एकान्त नहीं है। इसप्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उससमय होती है, उसी को परमार्थ सत्त्व है, इसलिए वही वस्तु है' इसप्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का अध्यास करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकांत में रहकर जो यह देखता-मानता है कि ''जो करता है वही नहीं भोगता, दूसरा करता है और दूसरा भोगता है,'' उस जीव को मिथ्यादृष्टि ही देखना – मानना चाहिये; क्योंकि, वृत्त्यंशों (पर्यायों) का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (पर्यायमान) जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है।

भावार्थ :– वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्य-पर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वाद से ऐसा

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥

अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षा से तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है। जीव भी वस्तु होने से द्रव्य-पर्यायस्वरूप है इसलिए पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो कार्य को करती है एक पर्याय और भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्याय ने भोगा। यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो जो करता है वही भोगता है; जैसे कि मनुष्यपर्याय में जिस जीवद्रव्य ने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्य ने देवादि पर्याय में स्वयं किये गये कर्म के फल को भोगा।

इसप्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्त सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनय को समझे बिना शुद्धनय के लोभ से वस्तु के एक अंश को (वर्तमान काल में वर्तती पर्याय को) ही वस्तु मानकर ऋजूसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता अन्य भोगता है और जो भोगता है वही नहीं करता, अन्य करता है' वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्त के मत का नहीं है; क्योंकि पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञान से ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक अवस्था में था वही मैं तरुण अवस्था में था और वही मैं वृद्ध अवस्था में हूँ।' इसप्रकार जो कथंचित् नित्यरूप से अनुभवगोचर है – स्वसंवेदन में आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिए॥३४५-३४८॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[आत्मानं परिशुद्धम् ईप्सुभिः परैः अन्धकः]** आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धों ने **[पृथुकैः]** बालिशजनों ने (बौद्धों ने) **[काल-उपाधि-बलात् अपि तत्र अधिकाम् अशुद्धिम् मत्वा]** काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर **[अतिव्याप्तिं प्रपद्य]** अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर, **[शुद्ध-ऋजुसूत्रे रतैः]** शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होते हुए **[चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य]** चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके, **[अहो एषः आत्मा व्युज्झितः]** इस आत्मा को छोड़ दिया; **[निःसूत्र-मुक्ता-ईक्षिभिः हारवत्]** जैसे हार के सूत्र (डोरे) को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं।

भावार्थ :– आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध मानने के इच्छुक बौद्धों ने विचार किया कि ''यदि आत्मा को नित्य माना जाये तो नित्य में काल की अपेक्षा होती है इसलिए उपाधि लग जायेगी; इसप्रकार काल की उपाधि लगने से आत्मा को बहुत बड़ी अशुद्धि आ जायेगी और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।''

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥२०९॥

इस दोष के भय से उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (क्षणिक ही) आत्मा को माना और उसे (आत्मा को) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना। इसप्रकार आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने से उन्हें नित्यानित्यस्वरूप – द्रव्य-पर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्याय में आत्मा की कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है।

मोतियों के हार में, डोरे में अनेक मोती पिरोये होते हैं; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तु को मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता – मात्र मोतियों को ही देखता है, वह पृथक्-पृथक् मोतियों को ही ग्रहण करता है, हार को छोड़ देता है; अर्थात् उसे हार की प्राप्ति नहीं होती। इसीप्रकार जो जीव आत्मा के एक चैतन्यभाव को ग्रहण नहीं करते और समय-समय पर वर्तना-परिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान-समय मात्र क्षणिकत्व है उतना मात्र ही आत्मा को मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते – मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्मा को छोड़ देते हैं; अर्थात् उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती॥२०८॥

अब इस काव्य में आत्मानुभव करने को कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**कर्तुः च वेदयितुः युक्तिवशतः भेदः अस्तु वा अभेदः अपि**] कर्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो, [**वा कर्ता च वेदयिता मा भवतु**] अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हों; [**वस्तु एव सञ्चिन्त्यताम्**] वस्तु का ही अनुभव करो। [**निपुणैः सूत्रे इव इह आत्मनि प्रोता चित्-चिन्तामणि-मालिका क्वचित् भेत्तुं न शक्या**] जैसे चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोयी गई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती, उसीप्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती; [**इयम् एका**] ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही, [**नः अभितः अपि चकास्तु एव**] हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो)।

भावार्थ :– आत्मा वस्तु होने से द्रव्य-पर्यायात्मक है। इसलिए उसमें चैतन्य के परिणमनस्वरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता भेद है और चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है; इसप्रकार भेद-अभेद हो अथवा चिन्मात्र अनुभवन में भेद-अभेद क्यों कहना चाहिए ? (आत्मा को) कर्ता-भोक्ता ही न कहना चाहिए, वस्तुमात्र का अनुभव करना चाहिए। जैसे मणियों की माला में मणियों की और

(रथोद्धता)

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥२१०॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुंक्ते। पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्य: करोत्यन्यो भुंक्ते इति च योऽसौ मन्यते स सम्यग्दृष्टिर्भवति इति प्रतिपादयति – **केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित्पर्यायै: पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीव:। न नश्यति कैश्चिद् द्रव्यार्थिकनयविभागै:। **जम्हा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं **तम्हा** तस्मात्कारणात् **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति। स एव क: ? इति चेत्, यो भुंक्ते। **अण्णो वा** पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा। **णेयंतो** न चैकांतोऽस्ति। एवं कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता।

केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो कैश्चित् पर्यायै: पर्यायार्थिकनयविभागै: देवमनुष्यादि-रूपैर्विनश्यति जीव:। न नश्यति कैश्चिद् द्रव्यार्थिकनयविभागै:। **जम्हा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं **तम्हा**

डोरे की विवक्षा से भेद-अभेद है, परन्तु माला मात्र के ग्रहण करने पर भेद-अभेद विकल्प नहीं है। इसीप्रकार आत्मा में पर्यायों की और द्रव्य की विवक्षा से भेद-अभेद है, परन्तु आत्मवस्तु मात्र का अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशमान हो॥२०९॥

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [केवलं व्यावहारिकदृशा एव कर्तृ च कर्म विभिन्नम् इष्यते] केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; **[निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते]** यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाये, **[कर्तृ च कर्म सदा एकम् इष्यते]** तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

भावार्थ :– मात्र व्यवहार-दृष्टि से ही भिन्न द्रव्यों में कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है; निश्चय-दृष्टि से तो एक ही द्रव्य में कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है॥२१०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब द्रव्यार्थिक नय से जो कर्म करता है वही भोक्ता है। तथा पर्यायार्थिक नय से अन्य करता है और अन्य ही भोगता है, इसप्रकार जो मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है ऐसा कहते हैं–

केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो पर्यायार्थिक नय विभाग से देव-मनुष्यादि रूप कितनी ही पर्यायों से जीव नष्ट होता है और द्रव्यार्थिक नय विभाग से कितनी ही पर्यायों से जीव नष्ट नहीं होता है। **जम्हा** क्योंकि जीव का स्वरूप नित्य-अनित्य स्वभाव वाला है, **तम्हा** इस कारण से **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनय से वही कर्म करता है। वही कौन ? वही जो भोगता है **अण्णो वा** पर्यायार्थिक नय से अन्य कर्म करता है, अन्य भोगता है। **णेयंतो** इस सम्बन्ध में एकान्त नहीं है। इस तरह कर्तृत्व की मुख्यता से प्रथम गाथा पूर्ण हुई।

केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो पर्यायार्थिक नय विभाग से देव-मनुष्यादि रूप कितनी ही पर्यायों से जीव नष्ट होता है और द्रव्यार्थिक नय विभाग से कितनी ही पर्यायों से जीव नष्ट नहीं

तस्मात्कारणात् **वेददि सो वा** निजशुद्धात्मभावनोत्थसुखामृतरसास्वादमलभमान: स एव कर्मफलं वेदयत्यनुभवति। स एव क: ? इति चेत्, येन पूर्वकृतं कर्म। **अण्णो वा** पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा। **णेयंतो** न चैकांतोऽस्ति। एवं भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा गता। किं च, येन मनुष्यभवे शुभाशुभं कर्म कृतं स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देवलोके नरके वा भुंक्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनस्तद् भवापेक्षया बालकाले कृतं यौवनादिपर्यायान्तरे भुंक्ते अतिसंक्षेपेण अन्तर्मुहूर्तान्तरे च भुंक्ते। भवान्तरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृतं देवादिपर्यायेण भुंक्ते इति भावार्थ:। एवं गाथा-द्वयेनानेकांतव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धि: कृता॥३४५-३४६॥

अथैकांतेन य एव करोति स एव भुंक्ते, अथवान्य: करोत्यन्यो भुंक्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति– **जो चेव कुणदि सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो** य एव जीव: शुभाशुभं कर्म करोति स एव चैकांतेन भुंक्ते न पुनरन्य: यस्यैष सिद्धांत: आगम:। **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्य:। कथं मिथ्यादृष्टि: ? इति चेत्, यदैकांतेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टंकोत्कीर्ण: सांख्यमतवत् तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतियोग्यं पापकर्मकृतं स्वर्गगतियोग्यं पुण्यकर्मकृतं तस्य जीवस्य नरके स्वर्गे वा गमनं न प्राप्नोति। तथा शुद्धात्मानुष्ठानेन मोक्षश्च कुत: ? नित्यैकांतत्वादिति। **अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो** अन्य करोति कर्म भुंक्ते चान्य:, यद्येकांतेन ब्रूते। **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** तदा येन मनुष्यभवे पुण्यकर्मकृतं पापकर्मकृतं मोक्षार्थं शुद्धात्मभावनानुष्ठानं च, तस्य पुण्यकर्मणो देवलोकेऽन्य: कोऽपि भोक्ता प्राप्नोति न च स जीव:। नरकेऽपि तथैव। केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं चान्य: कोऽपि लभते। ततश्च पुण्यपापमोक्षानुष्ठानं वृथेति बौद्धमतदूषणं, इति गाथाद्वयेन नित्यैकांतक्षणिकैकांतमतं निराकृतम्। एवं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम्॥३४७-३४८॥

होता है। **जम्हा** क्योंकि जीव का स्वरूप नित्य-अनित्य स्वभाव वाला है **तम्हा** इस कारण से **वेददि सो वा** इस निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृतरूप रसास्वाद को प्राप्त न करते हुए वही कर्मफल का वेदन या अनुभव करता है। वही कौन ? जिसके द्वारा पूर्व में कर्म किया गया है। **अण्णो वा** पर्यायार्थिक नय से अन्य कर्म भोगता है, अन्य कर्ता है। **ज्ञेयंतो** इस सम्बन्ध में एकान्त नहीं है। इस तरह भोक्तृत्व की मुख्यता से दूसरी गाथा पूर्ण हुई।

इसका विशेष यह है कि द्रव्यार्थिक नय से जो जीव मनुष्य भव में शुभ-अशुभ कर्म करता है, वही जीव स्वर्ग में अथवा नरकगति में उस कर्म का फल भोगता है। पुन: पर्यायार्थिक नय से उस ही भव की अपेक्षा से बाल्य काल में किए गये कर्मों का फल यौवन आदि अन्य पर्याय में भोगता है। अति संक्षेप में कहें तो अन्तर्मुहूर्त के बाद भोगता है किन्तु भवान्तर की अपेक्षा से मनुष्य पर्याय में किया हुआ कर्म देवादि पर्याय में भोगता है – ऐसा भावार्थ है। इसप्रकार दो गाथाओं द्वारा अनेकान्त की व्यवस्थापना के रूप में अपने पक्ष की सिद्धि की गई॥३४५-३४६॥

अब एकान्त से जो करता है, वही भोगता है अथवा एकान्त से अन्य करता है और अन्य ही भोगता है, इसतरह जो कहता है, वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा कहते हैं –

जो चेव कुणदि सो चेव वेदगो जस्स एस सिद्धंतो जो जीव शुभ-अशुभ कर्म करता है, वही एकान्त से उसके फल को भोगता है और दूसरा नहीं, ऐसा जिसका सिद्धान्त या आगम है। **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अनार्हत अर्थात् अर्हन्त के मत का नहीं है,

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि॥३४९॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि॥३५०॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि॥३५१॥
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि॥३५२॥

ऐसा जानना चाहिए। वह मिथ्यादृष्टि क्यों है ? यदि एकान्त रूप से जीव को सांख्यमत के समान नित्य कूटस्थ टंकोत्कीर्ण अपरिणामी माना जाय तो जिस जीव के द्वारा मनुष्य भव में नरक गति के योग्य पाप कर्म किया गया है तथा स्वर्गगति के योग्य पुण्यकर्म किया गया है, उस जीव का नरक में या स्वर्ग में गमन सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार शुद्धात्मा के अनुष्ठान (अनुभव) से मोक्ष भी कैसे सिद्ध होगा अर्थात् नहीं होगा; क्योंकि उसने जीव को नित्य एकान्त माना है।

अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो अन्य जीव कर्म करता है और अन्य जीव कर्म भोगता है, यदि एकान्त से ऐसा कहता है तो **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** जिस मनुष्य भव में पुण्य कर्म किए, पाप कर्म किए तथा मोक्ष के लिए शुद्धात्मा का अनुष्ठान किया, उसके उस पुण्यकर्म का देवलोक में अन्य कोई भी भोक्ता प्राप्त हुआ, परन्तु वही जीव भोक्ता नहीं हुआ। इसी तरह नरक में भी (पापकर्म का कोई भी भोक्ता हुआ, वही जीव भोक्ता नहीं हुआ)। इसी तरह केवलज्ञान आदि की व्यक्ति – प्रगटरूप मोक्ष भी किसी अन्य को प्राप्त होगा। तो फिर पुण्य, पाप तथा मोक्ष का अनुष्ठान व्यर्थ होगा – ऐसा बौद्धमत में दोष है, इसप्रकार दो गाथाओं द्वारा **नित्य एकान्त मत तथा अनित्य एकान्त मत का निराकरण किया,** इसप्रकार दूसरे स्थल में चार गाथाएँ समाप्त हुईं॥३४७-३४८॥

....

अब इस कथन को दृष्टान्त द्वारा गाथा में कहते हैं :–

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्म को आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने॥३४९॥

ज्यों शिल्पि करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने॥३५०॥

ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने॥३५१॥

एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि॥३५३॥
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो से॥३५४॥
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया[1] अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो॥३५५॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति॥३४९॥
यथा शिल्पिकस्तु करणै: करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीव: करणै: करोति न च तन्मयो भवति॥३५०॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीव: करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति॥३५१॥
यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीव: कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति॥३५२॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति॥३५३॥

शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने॥३५२॥

इस भाँति मत व्यवहार का संक्षेप से वक्तव्य है।
सुन लो वचन परमार्थ का, परिणाम विषयक जो हि है॥३५३॥

शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पी अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है॥३५४॥

चेष्टित हुआ शिल्पी निरंतर दुखित जैसे होय है।
अरु दुख से शिल्पि अनन्य, त्यों जीव चेष्टमान दुखी बने॥३५५॥

गाथार्थ :– [**यथा**] जैसे [**शिल्पिक: तु**] शिल्पी (स्वर्णकार – सोनी आदि कलाकार) [**कर्म**] कुण्डल आदि कर्म (कार्य) [**करोति**] करता है [**स: तु**] परन्तु वह [**तन्मय: न च भवति**] तन्मय (कुण्डलादिमय) नहीं होता, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीव: अपि च**] जीव भी [**कर्म**] पुण्य-पापादि पुद्गल

---

१. पाठान्तर = सेय

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ।।३५४।।
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदु:खितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दु:खी जीवः।।३५५।।

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, ग्रामादि-

---

कर्म [**करोति**] करता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (पुद्गलकर्ममय) नहीं होता। [**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**करणैः**] हथौड़ा आदि करणों (साधनों) के द्वारा [**करोति**] (कर्म) करता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न भवति**] तन्मय (हथौड़ा आदि करणमय) नहीं होता, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीवः**] जीव [**करणैः**] (मन-वचन-कायरूप) करणों के द्वारा [**करोति**] (कर्म) करता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (मन-वचन-कायरूप करणमय) नहीं होता।

[**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**करणानि**] करणों को [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न भवति**] तन्मय नहीं होता, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीवः**] जीव [**करणानि तु**] करणों को [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (करणमय) नहीं होता। [**यथा**] जैसे [**शिल्पी तु**] शिल्पी [**कर्मफलं**] कुण्डल आदि कर्म के फल को (खान-पानादि को) [**भुंक्ते**] भोगता है [**सः तु**] परन्तु वह [**तन्मयः न च भवति**] तन्मय (खान-पानादिमय) नहीं होता, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीवः**] जीव [**कर्मफलं**] पुण्य-पापादि पुद्गलकर्म के फल को (पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादि को) [**भुंक्ते**] भोगता है [**न च तन्मयः भवति**] परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुखदःखादिमय) नहीं होता।

[**एवं तु**] इसप्रकार जो [**व्यवहारस्य दर्शनं**] व्यवहार का मत [**समासेन**] संक्षेप से [**वक्तव्यं**] कहने योग्य है। [**निश्चयस्य वचनं**] (अब) निश्चय का वचन [**श्रृणु**] सुनो [**यत्**] जो कि [**परिणामकृतं तु भवति**] परिणाम विषयक है।

[**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**चेष्टां करोति**] चेष्टारूप कर्म (अपने परिणामरूप कर्म) को करता है [**तथा च**] और [**तस्याः अनन्यः भवति**] उससे अनन्य है, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीवः अपि च**] जीव भी [**कर्म करोति**] (अपने परिणामरूप) कर्म को करता है [**च**] और [**तस्मात् अनन्यः भवति**] उससे अनन्य है। [**यथा**] जैसे [**चेष्टां कुर्वाणः**] चेष्टारूप कर्म करता हुआ [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**नित्यदु:खितः भवति**] नित्य दुःखी होता है [**तस्मात् च**] और उससे (दुःख से) [**अनन्यः स्यात्**] अनन्य है, [**तथा**] उसीप्रकार [**चेष्टमानः**] चेष्टा करता हुआ (अपने परिणामरूप कर्म को करता हुआ) [**जीवः**] जीव [**दु:खी**] दुःखी होता है (और दुःख से अनन्य है)।

टीका :– जैसे – शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्य-परिणामात्मक कर्म करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य-परिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य-परिणामात्मक करणों

परद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिकर्मफलं भुंक्ते च, न त्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। तथात्मापि पुण्यपापादिपुद्‌गलद्रव्य-परिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङमनांसि पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, सुखदुःखादिपुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च, न त्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्म-भोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःख-लक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः॥३४९-३५५॥

(नर्दटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥२११॥

को ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्म का जो ग्रामादि परद्रव्य-परिणामात्मक फल उसको भोगता है; किन्तु अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म, करण आदि से) अन्य होने से तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता; इसलिए निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्व का और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है; इसीप्रकार आत्मा भी पुण्य-पापादि जो पुद्‌गलद्रव्य-परिणामात्मक (पुद्‌गलद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म को करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्‌गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्‌गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और पुण्य-पापादि कर्म के सुख-दुःखादि पुद्‌गलद्रव्य-परिणामात्मक फल को भोगता है, परन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से तन्मय नहीं होता; इसलिए निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही वहाँ कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है।

और जैसे – वही शिल्पी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्म को करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसे आत्म-परिणामात्मक चेष्टारूप कर्मफल को भोगता है, और एक द्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म और कर्मफल से) अनन्य होने से तन्मय (कर्ममय और कर्मफलमय) है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वहीं कर्ता-कर्मपन और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है; उसीप्रकार आत्मा भी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (रागादि-परिणामरूप और प्रदेशों के व्यापाररूप) ऐसा जो आत्म-परिणामात्मक कर्म उसको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसे आत्म-परिणामात्मक चेष्टारूप कर्मफल को भोगता है, और एकद्रव्यत्व के कारण उनसे अनन्य होने से तन्मय है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वहीं कर्ता-कर्मपन का और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है॥३४९-३५५॥

(पृथ्वी)

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम्।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते॥२१२॥

(रथोद्धता)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि॥२१३॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**ननु परिणामः एव किल विनिश्चयतः कर्म**] वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है और [**सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति**] परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता); [**इह कर्म कर्तृशून्यम् न भवति**] और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता, [**च वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न**] तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है); [**ततः तद् एव कर्तृ भवतु**] इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है (यह निश्चय सिद्धान्त है)॥२११॥

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**स्वयं स्फुटत्-अनन्त-शक्तिः**] जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है ऐसी वस्तु [**बहिः यद्यपि लुठति**] अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है [**तथापि अन्य-वस्तु अपरवस्तुनः अन्तरम् न विशति**] तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती, [**यतः सकलम् एव वस्तु स्वभाव-नियतम् इष्यते**] क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि) [**इह**] ऐसा होने पर भी [**मोहितः**] मोहित जीव, [**स्वभाव-चलन-आकुलः**] अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ, [**किम् क्लिश्यते**] क्यों क्लेश पाता है ?

भावार्थ :– वस्तुस्वभाव तो नियम से ऐसा है कि किसी वस्तु में कोई वस्तु नहीं मिलती। ऐसा होने पर भी यह मोही प्राणी, 'परज्ञेयों के साथ अपने को पारमार्थिक सम्बन्ध है' ऐसा मान कर, क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है॥२१२॥

पुनः आगे की गाथाओं का सूचक दूसरा काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**इह च**] इस लोक में [**येन एकम् वस्तु अन्यवस्तुनः न**] एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है, [**तेन खलु वस्तु तत् वस्तु**] इसलिए वास्तव में वस्तु-वस्तु ही है [**अयम् निश्चयः**] यह

(रथोद्धता)

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
किंचनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति
किमपीह निश्चयात्॥२१४॥

निश्चय है। **[कः अपरः]** ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु **[अपरस्य बहिः लुठन् अपि हि]** अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी **[किं करोति]** उसका क्या कर सकती है ?

भावार्थ :– वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को नहीं बदल सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे। इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य को परिणमित नहीं कर सकती वहाँ एक वस्तु ने अन्य का क्या किया ? कुछ नहीं। चेतन-वस्तु के साथ पुद्गल एक-क्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं तथापि वे चेतन को जड़ बनाकर अपने रूप में परिणमित नहीं कर सके; तब फिर पुद्गल ने चेतन का क्या किया ? कुछ भी नहीं।

इससे यह समझना चाहिए कि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होने पर भी परद्रव्य ज्ञायक का कुछ भी नहीं कर सकते और ज्ञायक परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता॥२१३॥

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करने वाला तीसरा काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[वस्तु]** एक वस्तु **[स्वयम् परिणामिनः अन्य-वस्तुनः]** स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तु का **[किञ्चन अपि कुरुते]** कुछ भी कर सकती है **[यत् तु]** ऐसा जो माना जाता है, **[तत् व्यावहारिक-दृशा एव मतम्]** वह व्यवहारदृष्टि से ही माना जाता है। **[निश्चयात्]** निश्चय से **[इह अन्यत् किम् अपि न अस्ति]** इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है (अर्थात् एक वस्तु को अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं) है।

भावार्थ :– एक द्रव्य के परिणमन में अन्य द्रव्य को निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्य ने यह किया' – वह व्यवहारनय की दृष्टि से ही है; निश्चय से तो उस द्रव्य में अन्य द्रव्य ने कुछ भी नहीं किया है। वस्तु के पर्यायस्वभाव के कारण वस्तु का अपना ही एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।

इससे यह समझना चाहिए कि परद्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ उनके भाव से परिणमित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है; वे एक-दूसरे का परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिए यह व्यवहार से ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है' निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है॥२१४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेदः, निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तृ तदेव कर्मेत्युपदिशति –

यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादिः सुवर्णकुण्डलादि कर्म करोति, कैः कृत्वा ? हस्तकुट्टकादि करणैरूपकरणैः हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकुण्डलादिकर्महस्तकुट्टकादि करणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति। तथैवाज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युतः सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति। कैः कृत्वा? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादककरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि कर्मोत्पादककरणान्युपकरणानि संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णाति तथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टंकोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति।

तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादिः सुवर्णकुण्डलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यशनपानादिकं मूल्यं लभते भुंक्ते च तथापि तेनाशनपानादिना सह तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलं बहिरंगेष्टानिष्टाशनपानादिरूपं निजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानंदसुखास्वादमलभमानो भुंक्ते न च तन्मयो भवति। **एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं**

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब व्यवहार से कर्ता-कर्म का भेद है, निश्चय से जो कर्ता है, वही कर्म है ऐसा कहते हैं –

जिसप्रकार लोक में शिल्पी – स्वर्णकार आदि स्वर्ण से कुण्डलादि कर्म (आभूषणों) को करता है। किसके द्वारा करता है ? हथौड़ा आदि साधनों या उपकरणों के द्वारा करता है। उन हथौड़ा आदि उपकरणों को हाथ से ग्रहण करता है, तथापि स्वर्ण-कुण्डलादि कर्म (आभूषणों) तथा हथौड़ा आदि साधनों – उपकरणों के साथ तन्मय नहीं होता है। उसीतरह अज्ञानी जीव भी निष्क्रिय वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से भ्रष्ट होता हुआ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म करता है। किसके द्वारा करता है ? कर्मों को उत्पन्न करनेवाले मन-वचन-काय व्यापार रूप साधनों या उपकरणों के द्वारा करता है। इसी तरह कर्मोदयवशात् मन-वचन-काय व्यापार रूप कर्मोत्पादक साधनों या उपकरणों को संश्लेषरूप (एकक्षेत्रावगाह रूप) से व्यवहारनय से ग्रहण करता है, तथापि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा मन-वचन-काय व्यापार रूप कर्मोत्पादक उपकरणों के साथ टंकोत्कीर्ण ज्ञायकपने से भिन्न होने के कारण तन्मय नहीं होता है। और जैसे वही शिल्पी – स्वर्णकारादि स्वर्ण कुण्डलादि रूप कर्म किए जाने पर जो कुछ भी खान-पान आदि मूल्य प्राप्त करता है और भोगता है, तो भी उन खान-पान आदि के साथ तन्मय नहीं होता है। उसी तरह जीव भी बहिरंग इष्ट-अनिष्ट खान-पान आदि रूप शुभ-अशुभ कर्मफल को, निजशुद्धात्मभावना से उत्पन्न मनोहर आनन्दरूप सुखास्वाद को प्राप्त न करता हुआ, भोगता है परन्तु तन्मय नहीं होता है।

एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दंसणं समासेण इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से चार गाथाओं द्वारा द्रव्यकर्म कर्तृत्व-भोक्तृत्व रूप व्यवहार का दर्शन-निदर्शन, दृष्टान्त अथवा उदाहरण है (वह) हे शिष्य ! संक्षेप में कथन करने योग्य, व्याख्या करने योग्य या कहने योग्य है। **सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि** इसके आगे कहे जाने वाले (अशुद्ध) निश्चय के वचन या व्याख्यान सुनो । जो कैसे हैं? जो परिणाम रागादि विकल्प से रचित हैं। **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो** जैसे स्वर्णकार आदि शिल्पी 'मैं इस-इस प्रकार से कुण्डल आदि करता हूँ' इसप्रकार मन में चेष्टा करता है। इसप्रकार की उस चेष्टा के साथ वह अनन्य या तन्मय होता है ।

समासेण एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्टांतं उदाहरणं। हे शिष्य ! वक्तव्यं व्याख्येयं कथनीयं समासेन संक्षेपेण।

सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि इदं त्वग्रे वक्ष्यमाणं निश्चयस्य वचनं व्याख्यानं शृणु, यत् कथंभूतं? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति। **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो** यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तया चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मय:।

तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो तथैवाज्ञानी जीव: केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूप: कारणसमयसारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्व-रागादिरूपं भावकर्म करोति तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्य: इति भावकर्मकर्तृत्व गाथा गता।

जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि यथा स एव शिल्पी कुंडलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां कुर्वाण: सन् चित्तखेदेन नित्यं दु:खितो भवति। न केवलं दु:खित:। **तत्तो सेय अणण्णो** तस्माद् दु:ख-विकल्पादनुभवरूपेणानन्यश्च स स्यात्। **तह चेट्ठन्तो दुही जीवो** तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य साधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसार: तस्यालाभे सुखदु:खभोक्तृत्वकाले हर्षविषादरूपां चेष्टां कुर्वाण: सन् मनसि दु:खितो भवति इति। तया हर्षविषादचेष्टया सह अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणानन्यश्च भवति इति।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टांतेन व्यवहारनयेन द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च। तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावकर्म चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथासप्तकं गतम्॥३४९-३५५॥

तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो वैसे ही अज्ञानी जीव केवलज्ञानादि व्यक्ति रूप कार्यसमयसार का साधक जो निर्विकल्प समाधिरूप कारणसमयसार है, उसका अभाव होने पर अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध उपादानरूप मिथ्यात्व रागादि रूप भावकर्म को करता है, इसलिए भावकर्म के साथ अनन्य होता है। इसप्रकार भावकर्म के कर्तृत्व रूप गाथा हुई।

जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुक्खिदो होदि जिसप्रकार वही शिल्पी 'मैं कुण्डलादि को इस-इस प्रकार से करता हूँ'– इसप्रकार मन में चेष्टा करता हुआ चित्त में खेद से हमेशा दु:खी होता है। केवल दु:खी ही नहीं होता है अपितु **तत्तो सेय अणण्णो** वह उस दु:खरूप विकल्प के अनुभवरूप से अनन्य होता है।

तह चेट्ठन्तो दुही जीवो उसी तरह अज्ञानी जीव भी विशुद्धज्ञानदर्शनादि व्यक्तिरूप कार्यसमयसार का साधक जो यह निश्चयरत्नत्रयात्मक कारणसमयसार है उसके लाभ के अभाव में सुखदुख भोक्तृत्व के काल में हर्ष-विषाद रूप चेष्टा करता हुआ मन में दु:खी होता है। उस हर्ष-विषाद रूप चेष्टा के साथ अशुद्ध निश्चय नय से अशुद्ध उपादान रूप से अनन्य होता है।

इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञानी जीव निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से भ्रष्ट होकर स्वर्णकार आदि के दृष्टान्त से व्यवहारनय से द्रव्यकर्म करता है और भोगता है। उसीप्रकार अशुद्ध निश्चयनय से भावकर्म को (भी करता है और भोगता है)। इसप्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से छठवें स्थल में सात गाथाएँ हुईं॥३४९-३५५॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु॥३५९॥
एवं तु णिच्छय-णयस्स भासिदं णाण-दंसण-चरित्ते।
सुणु ववहारणयस्य य वत्तव्वं से समासेण॥३६०॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सगेण भावेण॥३६१॥

('खड़िया मिट्टी अर्थात् पोतने का चूना या कलई तो खड़िया मिट्टी ही है' – यह निश्चय है; 'खड़िया-स्वभावरूप से परिणमित खड़िया दीवाल-स्वभावरूप परिणमित दीवाल को सफेद करती है' यह कहना भी व्यवहार कथन है। इसीप्रकार 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'– यह निश्चय है; 'ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित ज्ञायक परद्रव्यस्वभावरूप परिणत परद्रव्यों को जानता है' यह कहना भी व्यवहार कथन है।) ऐसे निश्चय-व्यवहार कथन को अब गाथाओं द्वारा दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट कहते हैं :–

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा॥३५६॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा॥३५७॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा॥३५८॥

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की है, सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा॥३५९॥

यो ज्ञान-दर्शन-चरित विषयक कथन नय परमार्थ का।
सुन लो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का॥३६०॥

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सगेण भावेण॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सगेण भावेण॥३६३॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मादिट्ठी सहावेण॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाण-दंसण-चरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो॥३६५॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निज भाव से॥३६१॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
आत्मा भी त्यों ही देखता, परद्रव्य को निज भाव से॥३६२॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निज भाव से॥३६३॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निज भाव से॥३६४॥

यों ज्ञान-दर्शन-चरित में निर्णय कहा व्यवहार का।
अरु अन्य पर्यय विषय में भी इस प्रकार हि जानना॥३६५॥

गाथार्थ :– (यद्यपि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक, त्याज्य-त्याजक इत्यादि सम्बन्ध है तथापि निश्चय से तो इसप्रकार है –) [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई [**परस्य न**] पर की (दीवाल आदि की) नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञायकः तु**] ज्ञायक (जाननेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] पर का (परद्रव्य का) नहीं है, [**ज्ञायकः**] ज्ञायक [**सः तु ज्ञायकः**] वह तो ज्ञायक ही है॥३५६॥ [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] पर की नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**दर्शकः तु**] दर्शक (देखनेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] पर का नहीं है, [**दर्शकः**] दर्शक [**सः तु दर्शकः**] वह तो दर्शक ही है ॥३५७॥[**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] पर की (दीवाल-आदि की) नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**संयतः तु**] संयत (त्याग करनेवाला, आत्मा)

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु॥३५६॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु॥३५७॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु॥३५८॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु॥३५९॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन॥३६०॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन॥३६१॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं पश्यति जीवोऽपि स्वकेन भावेन॥३६२॥

[**परस्य न**] पर का (परद्रव्य का) नहीं है, [**संयतः**] संयत [**सः तु संयतः**] वह तो संयत ही है॥३५८॥ [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] पर की नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**दर्शनं तु**] दर्शन अर्थात् श्रद्धान [**परस्य न**] पर का नहीं है, [**दर्शनं तत् तु दर्शनं**] दर्शन वह तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान वह तो श्रद्धान ही है॥३५९॥

[**एवं तु**] इसप्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान-दर्शन-चारित्र में [**निश्चयनयस्य भाषितं**] निश्चयनय का कथन है। [**तस्य च**] और उस सम्बन्ध में [**समासेन**] संक्षेप से [**व्यवहारनयस्य वक्तव्यं**] व्यवहारनय का कथन [**शृणु**] सुनो॥३६०॥

[**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] (दीवाल आदि) परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञाता अपि**] ज्ञाता भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**जानाति**] जानता है॥३६१॥ [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीवः अपि**] जीव भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**पश्यति**] देखता है॥३६२॥ [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञाता अपि**] ज्ञाता भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**विजहाति**] त्यागता है॥३६३॥ [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**]

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मन: स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन॥३६३॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मन: स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते सम्यग्दृष्टि: स्वभावेन॥३६४॥
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्य:॥३६५॥

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादे: परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते – यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति, यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकाया: स्वद्रव्योच्छेद:। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेद:। ततो न भवति सेटिका कुड्यादे:। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया: यस्या: सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकाया: किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चय:। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिक: – चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादे: परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते – यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैवभवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितु:

उसीप्रकार [**सम्यग्दृष्टि:**] सम्यग्दृष्टि [**स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**श्रद्धत्ते**] श्रद्धान करता है॥३६४॥ [**एवं तु**] इसप्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान-दर्शन-चारित्र में [**व्यवहारस्य विनिश्चय:**] व्यवहारनय का निर्णय [**भणित:**] कहा है; [**अन्येषु पर्यायेषु अपि**] अन्य पर्याय में भी [**एवं एव ज्ञातव्य:**] इसीप्रकार जानना चाहिए॥३६५॥

टीका :– इस जगत में कलई है वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं' – इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक (पारमार्थिक) सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है – यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, वह प्रथम विचार करते हैं – '**जिसका जो होता है वह वही होता है,** जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है (पृथक् द्रव्य नहीं);' – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (अर्थात् विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार आदि की हो तो कलई वह दीवार आदि ही होगी (अर्थात् कलई दीवार आदि स्वरूप ही होना चाहिए, दीवार आदि से पृथक् द्रव्य नहीं होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद (नाश) हो जायेगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है।

स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यात्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः, ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः। किंच सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते – यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति। यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः – चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति।

(अब आगे और विचार करते हैं –) यदि कलई दीवार आदि की नहीं है, तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई-कलई ही है – यह निश्चय है (इसप्रकार दृष्टान्त कहा)। जैसे यह दृष्टांत है, उसीप्रकार यहाँ यह दार्ष्टान्त है –

इस जगत में चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा है) वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय (ज्ञात होने योग्य) है। अब 'ज्ञायक (जाननेवाला) चेतयिता ज्ञेय जो पुद्गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं' – इसप्रकार यहाँ उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं – यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो इसका प्रथम विचार करते हैं –**'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है'** – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए) ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है।

(अब आगे और विचार करते हैं –) यदि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। इस चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता

तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते – यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धात्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्व-स्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः। अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि-परद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते – यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः।

है ? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर ज्ञायक किसी का नहीं है। ज्ञायक ज्ञायक ही है – यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया है कि –'आत्मा परद्रव्य को जानता है' – यह व्यवहार-कथन है; 'आत्मा अपने को जानता है' – इस कथन में भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; 'ज्ञायक ज्ञायक ही है' – यह निश्चय है।)

और (जिसप्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में दृष्टांत-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसीप्रकार दर्शक के सम्बन्ध में कहा जाता है – इस जगत में कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य (कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ) है। अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत किये जाने योग्य दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं ?' इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक संबंध का यहाँ विचार किया जाता है – यदि कलई दीवार आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, – यह प्रथम विचार करते हैं – **'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है'** – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार आदि की हो तो कलई उन दीवार आदि की ही होनी चाहिए (अर्थात् कलई दीवार आदि स्वरूप ही होनी चाहिए) ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार आदि की नहीं है। (आगे और विचार करते हैं –) यदि कलई दीवार आदि की नहीं है तो कलई किसकी है ? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है। (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है – यह निश्चय है।

न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः – चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते – यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः।

जैसे यह दृष्टांत है, उसीप्रकार यह दार्ष्टान्त है – इस जगत में चेतयिता दर्शन गुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का दृश्य है। अब, 'दर्शक (देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला) चेतयिता, दृश्य (देखने योग्य या श्रद्धान करने योग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्यों का है या नहीं?' – इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार करते हैं :– यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो यह पहले विचार करते हैं – **'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है'** – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिए। (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिए) ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि पुद्गलादि का नहीं है। तो चेतयिता किसका है ? चेतयिता का ही चेतयिता है। (इस) चेतयिता से भिन्न दूसरा ऐसा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर दर्शक किसी का नहीं है, दर्शक दर्शक ही है – यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है' – यह व्यवहार कथन है। 'आत्मा अपने को देखता है अथवा श्रद्धा करता है' – इस कथन में भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; 'दर्शक दर्शक ही है' – यह निश्चय है।)

और (जिसप्रकार ज्ञायक तथा दर्शक के सम्बन्ध में दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से कहा है) इसीप्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले) के सम्बन्ध में कहा जाता है – इस जगत में कलई है वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला

अथ व्यवहारव्याख्यानम् – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेना परिणममानाकुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भर-स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्य-मानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्‌गलादि-परद्रव्यस्वभावेनापरिणमनमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्‌गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेना-त्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते। किंच – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुण-

द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है।) अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं ?' – इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है – यदि कलई दीवार आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं – 'जिसका जो होता है वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है;' – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार आदि की हो तो कलई वह दीवार आदि ही होनी चाहिए, (अर्थात् कलई भींत आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा परन्तु द्रव्य का उच्छेद नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार आदि की नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार आदि की नहीं है तो कलई किसकी है ? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है जिसकी (यह) कलई है ? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है – यह निश्चय है।

जैसे यह दृष्टान्त है, उसीप्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है – इस जगत में जो चेतयिता है वह, जिसका ज्ञान-दर्शनगुण से परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप (त्यागस्वरूप) स्वभाव है ऐसा द्रव्य है। पुद्‌गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का अपोह्य (त्याज्य) है। अब, 'अपोहक (त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (त्याज्य) पुद्‌गलादि परद्रव्य का है या नहीं' – इसप्रकार उन दोनों का तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है – यदि चेतयिता पुद्‌गलादि का हो तो क्या हो, यह पहले विचार करते हैं– 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है' – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत होने से, चेतयिता यदि पुद्‌गलादि का हो तो चेतयिता उस पुद्‌गलादि ही होना चाहिए (अर्थात् चेतयिता पुद्‌गलादि स्वरूप ही होना चाहिए) ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा, परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता क्योंकि एक द्रव्य का अन्यद्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्‌गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं –) यदि चेतयिता पुद्‌गलादि का नहीं है तो चेतयिता किसका है ? चेतयिता का ही चेतयिता

निर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिका-निमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावे-नापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादि-परद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते। अपि च – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना

है। (इस) चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है ? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर अपोहक (त्याग करनेवाला) किसी का नहीं है, अपोहक अपोहक ही है – यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि 'आत्मा परद्रव्य को त्यागता है' – यह व्यवहार कथन है; 'आत्मा ज्ञान-दर्शनमय ऐसा निज को ग्रहण करता है' – ऐसा कहने में भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; 'अपोहक अपोहक ही है' – यह निश्चय है।)

अब व्यवहार का विवेचन किया जाता है – जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त है – ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार-आदि परद्रव्य को, अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है, – ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से जानता है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिसप्रकार ज्ञानगुण का व्यवहार कहा है) इसीप्रकार दर्शनगुण का व्यवहार कहा जाता है – जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदि) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होने वाले दीवार आदि परद्रव्य को अपने (कलई) स्वभाव से श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार

कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादि-परद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते। एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्र-पर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः। एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः॥३५६-३६५॥

दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसे अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को अपने (चेतयिता के) स्वभाव से देखता है अथवा श्रद्धा करता है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन गुण का व्यवहार कहा है) इसीप्रकार चारित्र गुण का व्यवहार कहा जाता है – जैसे श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिनको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार आदि परद्रव्य को, अपने (कलई) के स्वभाव से श्वेत करती है – ऐसा व्यवहार किया जाता है।

इसीप्रकार जिसका ज्ञान-दर्शनगुण से परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप स्वभाव है ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञान-दर्शनगुण से परिपूर्ण पर-अपोहनात्मक (पर के त्यागस्वरूप) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से अपोहता है अर्थात् त्याग करता है – इसप्रकार व्यवहार किया जाता है।

इसप्रकार यह, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायों का निश्चय-व्यवहार प्रकार है। इसीप्रकार अन्य समस्त पर्यायों का भी निश्चय-व्यवहार प्रकार समझना चाहिए।

भावार्थ :– शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ **निश्चयनय से विचार किया जाये तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता,** दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदय:
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जना:॥२१५॥

नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावक का भेद कहना वह भी व्यवहार है। निश्चय से भाव और भाव करनेवाले का भेद नहीं है।

अब व्यवहारनय के सम्बन्ध में – व्यवहारनय से आत्मा को परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्मा के निमित्त-नैमित्तिकभाव है। ज्ञानादि भावों का परद्रव्य निमित्त होता है इसलिए व्यवहारीजन कहते हैं कि आत्मा परद्रव्य को जानता है, परद्रव्य को देखता है, परद्रव्य का श्रद्धान करता है, परद्रव्य का त्याग करता है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार के प्रकार को जानकर यथावत् (जैसा कहा है उसीप्रकार) श्रद्धान करना॥३५६-३६५॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**शुद्ध-द्रव्य-निरूपण-अर्पित-मते: तत्त्वं समुत्पश्यत:**] जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को लगाया है और जो तत्त्व का अनुभव करता है, उस पुरुष को [**एक-द्रव्यं-गतं-किम्-अपि द्रव्य-अन्तरं जातुचित् न चकास्ति**] एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। [**यत् तु ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्ध-स्वभाव-उदय:**] और जो ज्ञान ज्ञेय को जानता है वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। [**जना:**] जब कि ऐसा है तब फिर लोग [**द्रव्य-अन्तर-चुम्बन-आकुलधिय:**] ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुए [**तत्त्वात्**] तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) [**किं च्यवन्ते**] क्यों च्युत होते हैं ?

भावार्थ :– शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं कि 'ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है' यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि यह लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं ?॥२१५॥

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**शुद्ध-द्रव्य-स्वरस-भवनात्**] शुद्ध द्रव्य का (आत्म द्रव्य का) निजरसरूप (ज्ञानादि

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभाव:।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥२१६॥

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभाव:॥२१७॥

स्वभाव में) परिणमन होता है इसलिए, **[शेषम् अन्यत्-द्रव्यं किं स्वभावस्य भवति]** क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है ? (नहीं) **[यदि वा स्वभाव: किं तस्य स्यात्]** अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है ? नहीं। (परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है।) **[ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति]** चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है **[भूमि: तस्य न एव अस्ति]** तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती; **[ज्ञानं ज्ञेयं सदा कलयति]** इसप्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है **[ज्ञेयम् अस्य अस्ति न एव]** तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता।

भावार्थ :– शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। जैसे चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है, किन्तु पृथ्वी चाँदनी की किंचित्मात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है, किन्तु ज्ञेय ज्ञान का किंचित्मात्र भी नहीं होता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है इसलिए उसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकता है, किन्तु ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता॥२१६॥

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[तावत् राग-द्वेष-द्वयम् उदयते]** राग-द्वेष का द्वन्द्व तबतक उदय को प्राप्त होता है **[यावत् एतत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति]** कि जबतक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो **[पुन: बोध्यम् बोध्यतां न याति]** और ज्ञेय ज्ञेयत्व को प्राप्त न हो। **[तत् इदं ज्ञानं न्यक्कृत-अज्ञानभावं ज्ञानं भवतु]** इसलिए यह ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप हो **[येन भाव-अभावौ तिरयन् पूर्णस्वभाव: भवति]** कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्णस्वभाव (प्रगट) हो जाये।

भावार्थ :– जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होता है; इसलिए इस ज्ञान-अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप होओ कि जिससे ज्ञान में जो भाव और अभावरूप दो अवस्थाएँ होती हैं वे मिट जायें और ज्ञान पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाये। यह प्रार्थना है॥२१७॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मयं न भवति इति निश्चयमुख्यत्वेन गाथापंचकम्। तथैव च श्वेत मृत्तिका कुड्यं श्वेतं करोतीति व्यवह्रियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापंचकम्। एवं समुदायेन दशकम्। तद्यथा– यथा लोके श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयो न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति? ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं ब्रह्माद्वैतवादिवत् ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव च श्वेत-मृत्तिकादृष्टांतेन दर्शकः आत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः। एवं सत्तावलोकनदर्शनं दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन संयत आत्मा त्याज्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? संयतः संयत एव निर्विकारनिजमनोहरानंद-लक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन तत्त्वार्थ-

---

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब ज्ञान ज्ञेयवस्तु को जानता है तथापि दीवाल पर सफेद मिट्टी की तरह निश्चय से तन्मय नहीं होता है। इसप्रकार निश्चय की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हैं। उसीतरह सफेद मिट्टी दीवाल को सफेद करती है ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानता है ऐसा व्यवहार है इसतरह व्यवहार की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हैं तथा समूह रूप में दश गाथाएँ हैं। जो इसप्रकार हैं–

जैसे जगत में श्वेतिका अर्थात् सफेद खड़िया मिट्टी निश्चय से परद्रव्य रूप दीवाल की नहीं होती है, उससे तन्मय नहीं होती है किन्तु बाह्यभाग में रहती है – ऐसा अर्थ है। तो क्या होता है ? श्वेतिका तो श्वेतिका ही रहती है। अपने स्वरूप में ही रहती है यह अर्थ है। इसी तरह श्वेत मिट्टी के दृष्टान्त से ज्ञान – आत्मा घट-पट आदि ज्ञेय पदार्थ का निश्चय से ज्ञायक नहीं है, तन्मय नहीं होता है, यह अर्थ है। तो क्या होता है ? ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है, स्वस्वरूप में रहता है ऐसा अर्थ है। इसप्रकार ब्रह्म अद्वैतवादी के समान ज्ञान ज्ञेयरूप से नहीं परिणमता है। इस कथन की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई। और उसीतरह श्वेत मिट्टी के दृष्टान्त से दर्शक आत्मा दृश्य घट आदि पदार्थ का निश्चय से दर्शक नहीं होता है, तन्मय नहीं होता है। तो फिर क्या होता है ? दर्शक तो दर्शक ही रहता है – स्वस्वरूप में रहता है ऐसा अर्थ है। इसप्रकार सत्तावलोकन रूप दर्शन दृश्य पदार्थ रूप से नहीं परिणमता है इस कथन की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई।

उसीप्रकार उस ही सफेद मिट्टी के दृष्टान्त से संयत आत्मा त्याज्य परिग्रह आदि परद्रव्य का निश्चय से त्यागी नहीं होता है, उनसे तन्मय नहीं होता है ऐसा अर्थ है। तो क्या होता है ? संयत तो संयत ही है। निर्विकार निज मनोहर आनन्द लक्षण रूप निज स्वरूप में रहता है ऐसा अर्थ है। इसतरह वीतराग चारित्र की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई। उसीप्रकार उस सफेद मिट्टी के दृष्टान्त से तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन श्रद्धेय रूप बाह्य जीवादि पदार्थ का निश्चय से श्रद्धान कर्ता नहीं होता है, उनसे तन्मय नहीं होता है। तो फिर क्या होता है ? सम्यग्दर्शन तो सम्यग्दर्शन ही है, स्वस्वरूप में रहता है ऐसा अर्थ है। इसतरह तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणरूप सम्यग्दर्शन की मुख्यता से गाथा पूर्ण हुई। **एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते**

श्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारकं न भवति, तन्मयं न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शनं सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनमुख्यत्वेन गाथा गता। **एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते** एवं पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भाषितं व्याख्यानं कृतम्। कस्य संबंधित्वेन ? निश्चयनयस्य। क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रे। **सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं** इदानीं हे शिष्य! शृणु समाकर्णय। किं ? वक्तव्यं व्याख्यानम्। कस्य संबंधित्वेन ? व्यवहारनयस्य। कस्य संबंधिव्यवहारः ? **से** तस्य पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्रत्रयस्य। केन ? **समासेण** संक्षेपेण। इति निश्चयनयेन व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं गतम्।

अथ व्यवहारः कथ्यते – यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्यं कुड्यादिकं व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेतं करोति न च कुड्यादि परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। का कर्त्री ? श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका। केन कृत्वा श्वेतं करोति? स्वकीयश्वेतभावेन। तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तु व्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। कोऽसौ कर्ता ? ज्ञातात्मा। केन जानाति ? स्वकीयज्ञानभावेनेति प्रथम गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन घटादिकं दृश्यं परद्रव्यं व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। कौऽसौ ? ज्ञातात्मा। केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीय गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन परिग्रहादिकं परद्रव्यं

इसप्रकार पूर्वोक्त चार गाथाओं द्वारा कहा गया व्याख्यान किया गया है। किस सम्बन्ध में ? निश्चयनय के सम्बन्ध में । किस विषय में ? ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के विषय में (व्याख्यान किया गया है।)

सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं अब हे शिष्य ! सुनो, ध्यान से सुनो। क्या ? व्याख्यान। किस सम्बन्ध में ? व्यवहार नय के सम्बन्ध में। किससे सम्बन्धित व्यवहार ? उस पूर्वोक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र तीनों से (सम्बन्धित) व्यवहार का व्याख्यान सुनो। किसप्रकार से सुनो ? **समासेण** संक्षेप से। इसप्रकार निश्चयनय से व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथा सूत्र पूर्ण हुए।

अब व्यवहार कहा जाता है – जैसे लोक में जिसप्रकार से श्वेतिका (खड़िया) परद्रव्यरूप दीवाल आदि को व्यवहारनय से सफेद करती है, परन्तु दीवाल आदि परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होती है। कौन (सफेद) करती है ? सफेद मिट्टी या खड़िया मिट्टी (सफेद करती है)। किसके द्वारा सफेद करती है ? अपने सफेद स्वभाव के द्वारा (सफेद करती है)। उसी तरह सफेद मिट्टी के दृष्टान्त के समान आत्मा परद्रव्य घट आदि ज्ञेय वस्तु को व्यवहार से जानता है परन्तु परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है। यह कौन कर्ता (जानता) है, जो तन्मय नहीं होता है ? वह ज्ञातात्मा है। वह ज्ञातात्मा किसके द्वारा जानता है ? वह अपने ज्ञानभाव से जानता है। इसप्रकार प्रथम गाथा पूर्ण हुई।

उसीतरह उस ही सफेद मिट्टी के दृष्टान्त के समान घट आदि दृश्य परद्रव्यों को व्यवहार से देखता है परन्तु परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है। वह ऐसा कौन है जो तन्मय नहीं होता है ? वह ज्ञातात्मा है। वह ज्ञातात्मा किसके द्वारा देखता है ? वह अपने दर्शन भाव से देखता है। इसप्रकार दूसरी गाथा पूर्ण हुई।

उसीतरह उस सफेद मिट्टी के दृष्टान्त के समान परिग्रह आदि परद्रव्य को व्यवहार से त्यागता है परन्तु परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है। वह कौन कर्ता (त्यागता) है ? वह ज्ञातात्मा है। वह किसके द्वारा त्यागता है। स्वकीय निर्विकल्प समाधि परिणाम के द्वारा त्यागता है। इसप्रकार तीसरी गाथा पूर्ण पूर्ण हुई।

व्यवहारेण विरमति त्यजति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। स क: कर्ता ? ज्ञातात्मा। केन कृत्वा त्यजति ? स्वकीयनिर्विकल्पसमाधिपरिणामेनेति तृतीय गाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्दधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। स क: कर्ता? सम्यग्दृष्टि:। केन कृत्वा ? स्वकीयश्रद्धानपरिणामेनेति चतुर्थ गाथा गता। **एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते भणिदो** भणित: कथित:। कोऽसौ कर्मतापन्न:? एष प्रत्यक्षीभूत: पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन निर्दिष्टो विनिश्चय: व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थ:। कस्य संबंधी? व्यवहारनयस्य। क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये। **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** इदमोदनादिकं मया भुक्तं, इदमहिविषकंटकादिकं त्यक्तं, इदं गृहादिकं कृतं च, तत्सर्वं व्यवहारेण। निश्चयेन पुन: स्वकीयरागादिपरिणाम एव कृतो भुक्तश्च। एवमित्याद्यन्येष्वपि पर्यायेषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति। किंच, यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह – यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहार:। यदि पुन: परकीयसुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीयसुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदु:खसंवेदनकाले सुखी दु:खी च प्राप्नोति न च तथा। यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चय: परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति। ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञ: तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह – सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि

उसीतरह उसी सफेद मिट्टी के दृष्टान्त के समान जीवादि परद्रव्य का व्यवहार से श्रद्धान करता है परन्तु परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है। वह कौन (श्रद्धान) कर्ता है ? वह सम्यग्दृष्टि है। किसके द्वारा श्रद्धान कर्ता है ? अपने श्रद्धान परिणाम द्वारा श्रद्धान करता है। इसप्रकार चौथी गाथा पूर्ण हुई।

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते भणिदो कहा गया है। कर्मपने को प्राप्त ऐसा कौन कहा गया है ? यह प्रत्यक्ष रूप में, पूर्वोक्त चार गाथाओं द्वारा निर्दिष्ट निर्णय, व्यवहार के अनुयायी का निश्चय कहा गया है ऐसा अर्थ है। किसके सम्बन्ध में कहा गया है ? व्यवहारनय के। किस विषय में (कहा गया है ?) ज्ञान-दर्शन-चारित्र तीनों के विषय में (कहा गया है।) **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** यह भात आदि मेरे द्वारा खाया गया है, यह सर्प विष, कंटक आदि मेरे द्वारा त्यागा गया है, यह घर आदि मेरे द्वारा बनाया गया है यह सभी व्यवहार से कहा गया है। पुन: निश्चय से अपने रागादि परिणाम को ही किया गया एवं भोगा गया है। इसप्रकार अन्य पर्यायों में भी निश्चय-व्यवहार नय विभाग जानना चाहिए।

इसका स्पष्टीकरण यह है कि यदि व्यवहार से आत्मा परद्रव्य को जानता है तो फिर निश्चय से आत्मा सर्वज्ञ नहीं होता है ऐसा पूर्वपक्ष है ? उसका निराकरण यह है कि जिसप्रकार अपने सुखादि को तन्मय होकर जानता है, उसीप्रकार बाह्य द्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानता है, इस कारण व्यवहार है। फिर यदि परकीय सुखादि को आत्मीक सुखादि की तरह तन्मय होकर जानता है तो जिसप्रकार अपने सुख के संवेदन में सुखी होता है, उसीप्रकार पराये सुख-दुख के संवेदन के काल में सुखी और दुखी अवस्था को प्राप्त हो, परन्तु वैसा नहीं है। यद्यपि अपने सुख संवेदन की अपेक्षा निश्चय है तथा परकीय सुख संवेदन की अपेक्षा व्यवहार है तो भी छद्मस्थजन की अपेक्षा वह भी निश्चय ही है।

अब बौद्धमत का अनुयायी कहता है कि व्यवहार से बुद्ध भी सर्वज्ञ हैं, फिर आपके द्वारा उनको

दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु॥३६६॥
दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि॥३६७॥
दंसण-णाण-चरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु॥३६८॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु॥३७०॥

निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति। यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति तथा सत्यतिप्रसंग:। **एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुन: स्वद्रव्यमेवेति।** तत एतदायाति ग्रामारामादि सर्वं खल्विदं ब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्ति यद् ब्रह्माद्वैतवादिनो वदंति तन्निषिद्धं। यद्यपि सौगतो वदति ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति न च ज्ञानाद्भिन्नं ज्ञेयं किमप्यस्ति तदपि निराकृतं। कथं ? इति चेत्, यदि ज्ञानं ज्ञेयरूपेण परिणमिति तदा ज्ञानाभाव: प्राप्नोति यदि वा ज्ञेयं ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्वं, स च प्रत्यक्षविरोध: एवं निश्चयव्यवहारव्याख्यानमुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशकं गतम्॥३५६-३६५॥

दोष क्यों दिया जाता है ? वहाँ निराकरण करते हैं कि बौद्धमत में जिस तरह निश्चय की अपेक्षा व्यवहार असत्य है, उसीप्रकार व्यवहार से भी व्यवहार सत्य नहीं है। पुन: जैनमत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा से असत्य है, तथापि व्यवहार रूप से सत्य है। यदि लोक व्यवहार रूप से भी सत्य नहीं है तो समस्त ही लोक व्यवहार असत्य होगा, ऐसा होने से अतिप्रसंग का दोष आवेगा। इस तरह आत्मा व्यवहार से परद्रव्य को जानता है, देखता है पुन: निश्चय से स्वद्रव्य को ही जानता तथा देखता है। अत: यह सिद्ध होता है कि 'ग्राम, बगीचा आदि सभी वास्तव में ब्रह्म हैं, ज्ञेय वस्तु कुछ भी नहीं है, ऐसा जो ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं,' उसका निषेध हो गया।

यद्यपि बौद्धमती कहता है कि ज्ञान ही घट-पट आदि ज्ञेयों के आकार रूप से परिणमित होता है और ज्ञान से भिन्न कोई भी ज्ञेय नहीं है, बौद्धमत की इस मान्यता का भी निराकरण हो गया। कैसे निराकरण हो गया ? यदि ज्ञान ज्ञेय रूप से परिणमित होता है तो ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा और यदि ज्ञेय ज्ञानरूप से परिणमित होता है तो ज्ञेय का अभाव होगा। ऐसा होने पर ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों के अभाव का प्रसंग आयेगा, जो कि प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार व्याख्यान की मुख्यता से समूहरूप में सातवें स्थल में दश गाथा सूत्र पूर्ण हुए॥३५६-३६५॥

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ।।३७१।।

दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ।।३६६।।
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि ।।३६७।।
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ।।३६८।।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ।।३६९।।
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ।।३७०।।
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ।।३७१।।

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं, आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि कोई गुण परद्रव्यों में नहीं हैं' ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों के प्रति राग नहीं होता; और राग-द्वेषादि जड़-विषयों में भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशा में प्रवर्तमान जीव के परिणाम हैं। – इस अर्थ की गाथाएँ कहते हैं :–

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन विषय में ?।।३६६।।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्म में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन कर्म में ?।।३६७।।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित् नहिं अचेतन काय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन काय में ?।।३६८।।

है ज्ञान का, सम्यक्त्व का, उपघात चारित्र का कहा।
वहाँ उपघात पुद्गल द्रव्य का नहीं किञ्चित् भी कहा।।३६९।।

जो जीव के गुण हैं नियत वे कोई नहिं परद्रव्य में।
इस हेतु से सद्दृष्टि जीव को राग नहिं है विषय में।।३७०।।

अरु राग, द्वेष, विमोह तो जीव के अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतु से शब्दादि विषयों में नहीं रागादि हैं।।३७१।।

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते; यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते; यत्र च यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते। अथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते;

गाथार्थ :– [**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [**अचेतने विषये तु**] अचेतन विषय में [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अस्ति**] नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**चेतयिता**] आत्मा [**तेषु विषयेषु**] उन विषयों में [**किं हंति**] क्या घात करेगा ?॥३६६॥ [**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [**अचेतने कर्मणि तु**] अचेतन कर्म में [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अस्ति**] नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**चेतयिता**] आत्मा [**तत्र कर्मणि**] उन कर्म में [**किं हंति**] क्या घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता।)॥३६७॥ [**दर्शनज्ञानचारित्रं**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [**अचेतने काये तु**] अचेतन काय में [**किंचित् अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अस्ति**] नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**चेतयिता**] आत्मा [**तेषु कायेषु**] उन कायों में [**किं हंति**] क्या घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता।)॥३६८॥ [**ज्ञानस्य**] ज्ञान का [**दर्शनस्य च**] और दर्शन का [**तथा चारित्रस्य**] तथा चारित्र का [**घातः भणितः**] घात कहा है, [**तत्र**] वहाँ [**पुद्गल द्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्य का [**घातुः तु**] घात [**कः अपि**] किंचित् मात्र भी [**न अपि निर्दिष्टः**] नहीं कहा है। (अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता।)॥३६९॥

(इसप्रकार) [**ये केचित्**] जो कोई [**जीवस्य गुणाः**] जीव के गुण हैं, [**ते खलु**] वे वास्तव में [**परेषु द्रव्येषु**] परद्रव्य में [**न संति**] नहीं हैं, [**तस्मात्**] इसलिए [**सम्यग्दृष्टेः**] सम्यग्दृष्टि के [**विषयेषु**] विषयों के प्रति [**रागः तु**] राग [**न अस्ति**] नहीं है॥३७०॥ [**च**] और [**रागः द्वेषः मोहः**] राग, द्वेष और मोह [**जीवस्य एव**] जीव के ही [**अनन्य परिणामाः**] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [**एतेन कारणेन तु**] इस कारण से [**रागादयः**] रागादिक [**शब्दादिषु**] शब्दादि विषयों में (भी) [**न संति**] नहीं हैं॥३७१॥

(राग-द्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में हैं और न जड़ विषयों में, वे मात्र अज्ञानदशा में रहने वाले जीव के परिणाम हैं।)

टीका :– वास्तव में जो जिसमें होता है वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधार का घात होने पर आधेय का घात हो ही जाता है), जैसे दीपक के घात होने पर (उसमें रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है; तथा जिसमें जो होता है वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् आधेय का घात होने पर आधार का घात हो ही जाता है,) जैसे प्रकाश का घात होने पर दीपक का घात हो जाता है। और जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घड़े का नाश होने पर 'घट-प्रदीप' का नाश नहीं होता; तथा जिसमें जो नहीं होता वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घट-प्रदीप[१] का घात होने पर घट का नाश नहीं होता। (इसप्रकार से न्याय कहा है)

१. घट-प्रदीप – घड़े में रखा हुआ दीपक। (परमार्थतः दीपक घड़े में नहीं है, घड़े में तो घड़े के ही गुण हैं)

एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवंतीत्यायाति; अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एवं ततो ये यावन्तः केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः, अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्। यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ? न कुतोऽपि। तर्हि रागस्य कतरा खानिः? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामाः, ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति। एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो न भवंत्येव॥३६६-३७१॥

अब, आत्मा के धर्म – दर्शन, ज्ञान और चारित्र, पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य का नाश नहीं होता। (यह तो स्पष्ट है); इसलिए इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं' क्योंकि यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात दुर्निवार होने से अवश्य ही घात हो जायेगा। ऐसा होने से जीव के जो जितने गुण हैं वे सब परद्रव्यों में नहीं हैं यह हम भलीभाँति देखते-मानते हैं; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर जीव के गुण का घात होना दुर्निवार होने से अवश्य ही घात हो जायेगा। (किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि जीव के कोई गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं है।)

प्रश्नः– यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है ?

उत्तरः– किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्नः– तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है ?

उत्तरः– राग-द्वेष-मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है) इसलिए वे राग-द्वेष-मोह विषयों में नहीं हैं क्योंकि विषय परद्रव्य हैं और वे सम्यग्दृष्टि में (भी) नहीं है क्योंकि उसके अज्ञान का अभाव है। इसप्रकार राग-द्वेष-मोह, विषयों में न होने से और सम्यग्दृष्टि के (भी) न होने से, (वे) हैं ही नहीं।

भावार्थ :– आत्मा के अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों का घात होता है, किन्तु गुणों के घात होने पर भी अचेतन पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का घात नहीं होता; इसलिए जीव के कोई भी गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। ऐसा जानते हुए सम्यग्दृष्टि को अचेतन विषयों में रागादिक नहीं होते। राग-द्वेष-मोह पुद्गलद्रव्य में नहीं है, वे जीव के ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं; जब अज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते हैं। इसप्रकार राग-द्वेष-मोह न तो पुद्गलद्रव्य में हैं और न सम्यग्दृष्टि में भी होते हैं, इसलिए शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखने पर वे हैं ही नहीं और पर्यायदृष्टि से देखने पर वे जीव को अज्ञान अवस्था में हैं। ऐसा जानना चाहिए॥३६६-३७१॥

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥२१८॥

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इह ज्ञानम् हि अज्ञानभावात् राग-द्वेषौ भवति] इस जगत में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; **[वस्तुत्व-प्रणिहित-दृशा दृश्यमानौ तौ किञ्चित् न]** वस्तुत्व में स्थापित दृष्टि से देखने पर वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं (द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं)। **[ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु]** इसलिए (आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से उन्हें (राग-द्वेष को) स्पष्टतया क्षय करो, **[येन पूर्ण-अचल-अर्चिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति]** कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थ :– राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं हैं, वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीव के अज्ञानभाव से होते हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टि से देखा जाये तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं ऐसा दिखाई देता है और घातिकर्म का नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है॥२१८॥

अब आगे की गाथा में यह कहेंगे कि 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य को गुण उत्पन्न नहीं कर सकता' इसका सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [तत्त्वदृष्ट्या] तत्त्वदृष्टि से देखा जाये तो **[राग-द्वेष-उत्पादकं अन्यत् द्रव्यं किञ्चन अपि न वीक्ष्यते]** राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, **[यस्मात् सर्व-द्रव्य-उत्पत्तिः स्वस्वभावेन अन्तः अत्यन्तं व्यक्ता चकास्ति]** क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है।

भावार्थ :– राग-द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं। अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है, अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती॥२१९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ यावत्कालं निजशुद्धात्मानमात्मत्वेन न जानाति, पंचेंद्रियविषयादिकं परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्ययं जीवस्तावत्कालं रागद्वेषाभ्यां परिणमतीति (आवेदयति)। अथवा बहिरंगपंचेन्द्रियविषयत्याग-सहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायानां विघातं करोम्यहमित्यजानन् स्वसंवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मानं दमयति। तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धान्तं प्रयच्छति – दर्शनज्ञानचारित्रं किमपि नास्ति। केषु ? शब्दादिपंचेंद्रियविषयेषु ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मसु औदारिकादिपंचकायेषु। कथंभूतेषु तेषु ? अचेतनेषु। तस्मात्किं घातयते चेतयिता आत्मा तेषु जडस्वरूपविषयकर्मकायेषु ? न किमपि। किं च, शब्दादिपःेन्द्रियविषयाभिलाषरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबंधकारणभूतः कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादि-परिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घातः कर्तव्यः, ते च शब्दादयो रागादीनां बहिरंगकारणभूतास्त्याज्या इति भावार्थः। तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरणं करोति। तद्यथा – **णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादिपःेन्द्रियाभिलाषरूपेण काय-ममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबंधनिमित्तमनंतानुबंध्यादिरागद्वेषरूपं यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणितः न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च। तथैव मिथ्याचारित्रस्य च। **ण वि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** न च तत्राचेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब जितने समय तक निज-शुद्धात्मा को आत्मपने से नहीं जानता है, पंचेन्द्रिय के विषयादि और परद्रव्य को परपने नहीं जानता है, उतने कालतक यह जीव राग-द्वेष रूप परिणमित होता है (यह कहते हैं) अथवा बहिरंग पंचेन्द्रिय विषयों के त्याग की सहायता से शान्तचित्तरूप भावना से उत्पन्न होने वाले निर्विकार सुखामृत के रसस्वाद के बल से ''मैं विषय, कर्म, शरीरों का घात करता हूँ'' यह न जानता हुआ स्वसंवित्ति रहित कायक्लेश के द्वारा आत्मा का दमन करता है। उसके भेदज्ञान के लिए सिद्धान्त कहते हैं –

दर्शन-ज्ञान-चारित्र कुछ भी नहीं हैं। किसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है ? शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों में, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों में, औदारिक आदि पाँच शरीरों में दर्शन-ज्ञान-चारित्र कुछ भी नहीं हैं। कैसे हैं वे सभी ? अचेतन हैं वे सभी। तो फिर चेतन आत्मा उन जड़स्वरूप विषयों, कर्मों तथा शरीरों में क्या घात करता है ? कुछ भी घात नहीं करता है।

इसका विशेष यह है – शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषा रूप, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मबन्ध के कारणभूत और शरीरों के ममत्वरूप जो यह मिथ्यात्व रागादि परिणाम मन में रहता है, उसका नाश करना कर्त्तव्य है। वे शब्दादि रागादि के बहिरंग कारण रूप हैं, अतः त्याज्य हैं ऐसा भावार्थ है।

उन ही पूर्वोक्त तीन गाथाओं का विशेष विवरण देते हैं। वह इसप्रकार है – **णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों की अभिलाषा रूप से, काया के ममत्व रूप से अथवा ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध के निमित्त रूप से अनन्तानुबंधी आदि रागद्वेषरूप जो मन में मिथ्याज्ञान रहता है, उस मिथ्याज्ञान का निर्विकल्प समाधि के प्रहार से सर्वज्ञ भगवान ने नाश बताया है। मिथ्याज्ञान का ही नाश नहीं अपितु मिथ्यादर्शन का भी नाश कहा है, उसीतरह मिथ्याचारित्र का भी घात कहा है। **ण वि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** वहाँ अचेतन शब्दादि विषय, कर्म, काया रूप पुद्गल द्रव्य में कोई भी घात नहीं कहा गया है।

अण्ण-दविएण अण्ण-दवियस्स णो कीरदे गुणुप्पाओ[1]।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥३७२॥

घातो निर्दिष्टः। किं च, यथा घटाधारभूते प्रदीपे हते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपंचेंद्रियविषये हतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवंति न चान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति। कस्मात्? अतिप्रसंगादिति भावः। **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न संति खलु स्फुटं। **तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु** तस्मात्कारणान्निर्विषयस्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति। **रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्ण परिणामा** रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञानिजीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्नपरिणामः। **एदेन कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** तेन कारणेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपःोन्द्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रांतिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न संति। कस्मात्? शब्दादीनामचेतनत्वात्। ततः स्थितं तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति। इति गाथाषट्कं गतम्॥३६६-३७१॥

इसका स्पष्टीकरण यह है जैसे घड़े के आधार से रहनेवाले दीपक का नाश होने पर घड़े का नाश नहीं होता है, वैसे रागादि के निमित्तभूत शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों का नाश होने पर भी मन में रहने वाले रागादि का नाश नहीं होता है, क्योंकि अन्य का घात करने पर किसी अन्य का घात नहीं होता है। किस कारण से किसी अन्य का घात नहीं होता है ? क्योंकि ऐसा होने में अतिप्रसंग का दोष आता है। **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** क्योंकि जीव के जो कोई भी सम्यक्त्व आदि गुण हैं, वे परद्रव्यों में शब्दादि विषयों में स्पष्ट रूप से नहीं होते हैं। **तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु** इस कारण से निर्विषय स्वशुद्धात्म भावना से उत्पन्न सुख से तृप्त सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग नहीं है। **रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्ण परिणामा** क्योंकि राग-द्वेष-मोह अज्ञानी जीव के अशुद्ध निश्चय से अभिन्न परिणाम हैं। **एदेन कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** इस कारण से अचेतन शब्दादि, मनोज्ञ-अमनोज्ञ पंचेन्द्रिय विषयों में यद्यपि अज्ञानी जीव भ्रांतिज्ञान से रागादि कल्पित करता है, आरोपित करता है तथापि शब्दादि में रागादि नहीं हैं। किस कारण से रागादि नहीं हैं ? क्योंकि शब्दादि अचेतन हैं। इसलिए सिद्ध है कि राग-द्वेष दोनों बहिरात्मा (अज्ञानी) के तब तक ही होते हैं जबतक मन में त्रिगुप्ति रूप स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है। इसप्रकार छह गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३६६-३७१॥

....

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं :–

को द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का करे।
इस हेतु से सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभाव से॥३७२॥

---

१. पाठान्तर = गुणविघादो

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्। तथाहि – मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते, किं मृत्तिकास्वभावेन? यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुष-शरीराकारः कुंभः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुंभकारस्वभावेन नोत्पद्यते, किन्तु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुंभकार-स्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते। एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतर स्वभावेनोत्पद्यंते, किं स्वस्वभावेन? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यन्ते, किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्य-परिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति सर्वद्रव्याणां स्वस्वभावानतिक्रमान्न निमित्तभूतद्रव्यांतराणि स्व-परिणामस्योत्पादकान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणाम-भावेनोत्पद्यन्ते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ।।३७२।।

गाथार्थ :– **[अन्यद्रव्येण]** अन्य द्रव्य से **[अन्यद्रव्यस्य]** अन्य द्रव्य के **[गुणोत्पादः]** गुण की उत्पत्ति **[न क्रियते]** नहीं की जा सकती; **[तस्मात् तु]** इससे (यह सिद्ध हुआ कि) **[सर्वद्रव्याणि]** सर्व द्रव्य **[स्वभावेन]** अपने-अपने स्वभाव से **[उत्पद्यंते]** उत्पन्न होते हैं।

टीका :– और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है; क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाई जा रही है –

मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के ? यदि कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता। क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती; परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती इसलिए, कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।

इसीप्रकार सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से (अर्थात् अपने परिणाम भावरूप से) उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं कि स्वभाव से ? यदि निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हों तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के आकार के होने चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभावरूप से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद दिखाई नहीं देता। जब कि ऐसा है तो सर्वद्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभाव से ही

(मालिनी)

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोध:
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोध:॥२२०॥

उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है। ऐसा होने से, सर्वद्रव्य अपने स्वभाव का उल्लंघन न करते होने से, निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्व द्रव्यों के) परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए, अपने स्वभाव से अपने परिणामभावरूप से उत्पन्न होते हैं।

इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते (मानते) कि जिस पर कोप करें।

भावार्थ :– आत्मा को रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनय से विचार किया जाये तो अन्य द्रव्य रागादि का उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य के गुणपर्याय अन्य द्रव्य उत्पन्न नहीं करता यह नियम है। जो यह मानते हैं – ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं कि 'परद्रव्य ही मुझ में रागादिक उत्पन्न करते हैं', वे नयविभाग को नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है – ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हम राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य पर क्यों कोप करें? राग-द्वेष का उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है॥३७२॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[इह]** इस आत्मा में **[यत् राग-द्वेष-दोष-प्रसूतिः भवति]** जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है **[तत्र परेषां कतरत् अपि दूषणं नास्ति]** उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, **[तत्र स्वयम् अपराधी अयम् अबोधः सर्पति]** वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है; **[विदितम् भवतु]** इसप्रकार विदित हो और **[अबोधः अस्तं यातु]** अज्ञान अस्त हो जाये; **[बोधः अस्मि]** मैं तो ज्ञान हूँ।

भावार्थ :– अज्ञानी जीव परद्रव्य से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि 'यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ'। ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिए इस अज्ञान को नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो; परद्रव्य को राग-द्वेष का उत्पन्न करनेवाला मानकर उस पर कोप न करो॥२२०॥

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धय: ।।२२१।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – एवमेतदायाति शब्दादींद्रियविषया अचेतनाश्चेतन रागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवंति – **अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो** अन्यद्रव्येण बहिरंगनिमित्तभूतेन कुंभकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते। स क: ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात्। **तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण** तस्मात्कारणान्मृत्तिकादि सर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायंते न च कुंभकारादि बहिरंगनिमित्तरूपेण। कस्मात्? इति चेत्, **उपादानकारणसदृशं कार्य भवतीति** यस्मात्। तेन किं सिद्धम्? यद्यपि पंचेंद्रियविषयरूपेण शब्दादीनां बहिरंगनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायंते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुन: शब्दादिरूपा अचेतना भवंतीति भावार्थ:। एवं कोऽपि प्राथमिकशिष्यश्चित्तस्थितरागादीन्न जानाति बहिरंगशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घातं करोमीति निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावाच्चिंतयति तस्य संबोधनार्थं पूर्वं गाथाषट्केन सह सूत्रसप्तकं गतम् ।।३७२।।

अब इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ये तु राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति] जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तत्व (कारणत्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते,) **[ते शुद्ध-बोध-विधुर-अन्ध-बुद्धय:]** वे जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अंध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अंध है ऐसे) **[मोह-वाहिनीं न हि उत्तरन्ति]** मोह नदी को पार नहीं कर सकते।

भावार्थ :– शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है, उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है और उसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्मा के ऐसे स्वरूप का ज्ञान नहीं है वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्मा को जिसप्रकार परिणमन कराता है, उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्य को नहीं हरा सकते), उनके राग-द्वेष नहीं मिटते; क्योंकि राग-द्वेष करने में यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटाने में भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरे के कराये ही राग-द्वेष होता हो तो पर तो राग-द्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँ से मिटा सकेगा ? इसलिए राग-द्वेष अपने किये होते हैं।और अपने मिटाये मिटते हैं – इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यग्ज्ञान है।।२२१।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्दादि – इन्द्रिय विषय अचेतन हैं, वे निश्चय से चेतन के रागादि की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं – **अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो** बहिरंग निमित्त रूप अन्यद्रव्य कुम्भकार आदि के द्वारा अन्य द्रव्य के उपादान रूप मिट्टी आदि को नहीं

णिंदिद-संथुद-वयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूण रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो॥३७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्त-परिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोद-विसयमागदं सद्दं॥३७५॥

किया जाता है। वह क्या नहीं किया जाता है ? वह चेतन के अचेतन रूप से, अचेतन के चेतन रूप से अथवा चेतन-अचेतन के गुणों का घात या विनाश नहीं किया जाता है। **तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण** इस कारण से मिट्टी आदि सभी द्रव्य कर्ता होकर घटादि रूप से उत्पन्न होने वाले द्रव्य अपने उपादान कारण से मिट्टी आदि रूप से उत्पन्न होते हैं, बहिरंग निमित्त कुम्भकार आदि रूप से उत्पन्न नहीं होते हैं। किस कारण से निमित्त रूप से उत्पन्न नहीं होते हैं ? **उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है, ऐसा सिद्धान्त है।** उससे क्या सिद्ध हुआ ? यद्यपि पंचेन्द्रिय विषय रूप शब्दादि के बहिरंग निमित्तमात्र से अज्ञानी जीव के रागादि उत्पन्न होते हैं। तथापि वे रागादि जीवस्वरूप चेतनमय ही हैं परन्तु शब्दादिरूप अचेतन नहीं हैं, यह भावार्थ है।

इसप्रकार कोई भी प्राथमिक शिष्य अपने चित्त में रहनेवाले रागादि को नहीं जानता है, किन्तु ''रागादि भावों को निमित्त मात्र बहिरंग शब्दादि विषयों का मैं घात करता हूँ'' इसप्रकार निर्विकल्प समाधि लक्षण वाले भेदज्ञान के अभाव से चिन्तन करता है, उसको समझाने के लिए पूर्व की छह गाथाओं के साथ सात गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३७२॥

....

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादि रूप परिणमते पुद्गल आत्मा से कहीं यह नहीं कहते हैं कि 'तू हमें जान' और आत्मा भी अपने स्थान से छूटकर उन्हें जानने को नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं। इसप्रकार आत्मा पर के प्रति उदासीन (सम्बन्ध रहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादि को अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है यह उसका अज्ञान है। अब इस अर्थ की गाथाएँ कहते हैं :–

पुद्गलदरब बहु भाँति निंदा-स्तुति वचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष तोष जु जीव करे॥३७३॥

पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध ! रोष तूँ क्यों करे॥३७४॥

असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खु-विसयमागदं रूवं॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाण-विसयमागदं गंधं॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसण-विसयमागदं दु रसं॥३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फाससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं काय-विसयमागदं फासं॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि-विसयमागदं दु गुणं॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि-विसयमागदं दव्वं॥३८१॥

शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तूँ सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्द को॥३७५॥

शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूप को॥३७६॥

शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंध को॥३७७॥

शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चाख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वाद को॥३७८॥

शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्श को॥३७९॥

शुभ या अशुभ गुण कोई भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे॥३८०॥

शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे॥३८१॥

एदं दु जाणिदूण[1] उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो॥३८२॥

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः॥३७३॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः॥३७४॥
अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम्॥३७५॥
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम्॥३७६॥
अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गन्धम्॥३७७॥

यह जानकर भी मूढ जीव पावे नहीं उपशम अरे !
शिव बुद्धि को पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चहे॥३८२॥

गाथार्थ :– [**बहुकानि**] बहुत प्रकार के [**निन्दितसंस्तुतवचनानि**] निन्दा के और स्तुति के वचनरूप में [**पुद्गलाः**] पुद्गल [**परिणमंति**] परिणमित होते हैं; [**तानि श्रुत्वा पुनः**] उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव [**अहं भणितः**] 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर [**रुष्यति तुष्यति च**] रोष और संतोष करता है (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है)॥३७३॥

[**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य [**शब्दत्वपरिणतं**] शब्दरूप से परिणमित हुआ है; [**तस्य गुणः**] उसका गुण [**यदि अन्यः**] यदि (तुझसे) अन्य है, [**तस्मात्**] तो (हे अज्ञानी जीव !) [**त्वं न किंचित् अपि भणितः**] तुझसे कुछ भी नहीं कहा है; [**अबुद्धः**] तू अज्ञानी होता हुआ [**किं रुष्यसि**] क्यों रोष करता है ?॥३७४॥

[**अशुभः वा शुभः शब्दः**] अशुभ अथवा शुभ शब्द [**त्वां न भणति**] तुझसे यह नहीं कहता कि [**माम् श्रृणु इति**] 'तू मुझे सुन' [**सः एव च**] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर) [**श्रोत्रविषयम् आगतं शब्दम्**] श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को [**विनिर्ग्रहीतुं न एति**] ग्रहण करने को (जानने को) नहीं जाता॥३७५॥ [**अशुभं वा शुभं रूपं**] अशुभ अथवा शुभ रूप [**त्वां न भणति**] तुझसे यह नहीं कहता कि [**माम् पश्य इति**] 'तू मुझे देख' [**सः एव च**] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर) [**चक्षुर्विषयम् आगतं**] चक्षु-इन्द्रिय के विषय में आये हुए [**रूपम्**] रूप को [**विनिर्ग्रहीतुं न एति**] ग्रहण करने को नहीं जाता॥३७६॥

---

१. पाठान्तर = जाणिदव्वस्स

अशुभ: शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसम्॥३७८॥
अशुभ: शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं स्पर्शम्॥३७९॥
अशुभ: शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम्॥३८०॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम्॥३८१॥
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढ:।
विनिर्ग्रहमना: परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्त:॥३८२॥

[अशुभ: वा शुभ: गंध:] अशुभ अथवा शुभ गंध **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहती कि **[माम् जिघ्र इति]** 'तू मुझे सूंघ' **[स: एव च]** और आत्मा भी **[घ्राणविषयम् आगतं गंधम्]** घ्राण-इन्द्रिय के विषय में आई हुई गंध को **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** (अपने स्थान से च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता॥३७७॥

[अशुभ: वा शुभ: रस:] अशुभ अथवा शुभ रस **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[माम् रसय इति]** 'तू मुझे चख' **[स: एव च]** और आत्मा भी **[रसनविषयम् आगतं तु रसम्]** रसना-इन्द्रिय के विषय में आये हुये रस को (अपने स्थान से च्युत होकर) **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** ग्रहण करने नहीं जाता॥३७८॥

[अशुभ: वा शुभ: स्पर्श:] अशुभ अथवा शुभ स्पर्श **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[माम् स्पर्श इति]** 'तू मुझे स्पर्श कर' **[स: एव च]** और आत्मा भी **[कायविषयम् आगतं स्पर्शम्]** काय के (स्पर्शेन्द्रिय के) विषय में आये हुए स्पर्श को (अपने स्थान से च्युत होकर) **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** ग्रहण करने नहीं जाता॥३७९॥

[अशुभ: वा शुभ: गुण:] अशुभ अथवा शुभ गुण **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[माम् बुध्यस्व इति]** 'तू मुझे जान' **[स: एव च]** और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर) **[बुद्धिविषयम् आगतं तु गुणम्]** बुद्धि के विषय में आये हुए गुण को **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** ग्रहण करने नहीं जाता॥३८०॥

[अशुभं वा शुभं द्रव्यं] अशुभ अथवा शुभ द्रव्य **[त्वां न भणति]** तुझसे यह नहीं कहता कि **[माम् बुध्यस्व इति]** 'तू मुझे जान' **[स: एव च]** और आत्मा भी, (अपने स्थान से च्युत होकर) **[बुद्धिविषयम् आगतं द्रव्यम्]** बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य को **[विनिर्ग्रहीतुं न एति]** ग्रहण करने नहीं जाता॥३८१॥

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति, न च प्रदीपोप्ययस्कांतोपलाकृष्टायस्सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते। स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते। तथा बहिरर्थाः शब्दो, रूपं, गंधो, रसः, स्पर्शो, गुणद्रव्ये च, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां रसय, मां स्पृश, मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयंति, न चात्माप्ययस्कांतोपलाकृष्टायस्सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते। स्वरूपेणैव जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां

[**एतत् तु ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर भी [**मूढः**] मूढ जीव [**उपशमं न एव गच्छति**] उपशम को प्राप्त नहीं होता [**च**] और [**शिवाम् बुद्धिं अप्राप्तः च स्वयं**] शिव बुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को – सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं [**परस्य विनिग्रहमनाः**] पर को ग्रहण करने का मन करता है॥३८२॥

टीका :– प्रथम दृष्टान्त कहते हैं – इस जगत में बाह्यपदार्थ – घटपटादि, जैसे देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है इसीप्रकार, दीपक को स्वप्रकाशन में (अर्थात् बाह्यपदार्थ को प्रकाशित करने के कार्य में) नहीं लगाता कि 'तू मुझे प्रकाशित कर' और दीपक भी लोहचुम्बक – पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उसे (बाह्यपदार्थ को) प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु वस्तुस्वभाव दूसरे से उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिए तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए, दीपक जैसे बाह्यपदार्थ की असमीपता में अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है, उसीप्रकार बाह्यपदार्थ की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है। (इसप्रकार) अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है ऐसे दीपक को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।

इसीप्रकार दार्ष्टान्त कहते हैं – बाह्य पदार्थ – शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य – जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है, उसीप्रकार आत्मा को स्वज्ञान में (बाह्यपदार्थों के जानने के कार्य में) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान' और आत्मा भी लोह चुम्बक-पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें (बाह्यपदार्थों को) जानने को नहीं जाता; परन्तु वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिए तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए, आत्मा जैसे बाह्यपदार्थों की असमीपता में (अपने स्वरूप से ही जानता है) उसीप्रकार बाह्यपदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है। (इसप्रकार) अपने स्वरूप से ही जानते हुए उस (आत्मा) को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

परिणतिमासादयंत: कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन्। एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थिति:, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानम्॥३७३-३८२॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधो न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीप: प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयी भवंति सहजां मु:ान्त्युदासीनताम्॥२२२॥

इसप्रकार आत्मा दीपक की भाँति पर के प्रति सदा उदासीन (अर्थात् सम्बन्ध रहित; तटस्थ) है – ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो राग-द्वेष होता है सो अज्ञान है।

भावार्थ :– शब्दादिक जड़ पुद्‌गलद्रव्य के गुण हैं। वे आत्मा से कहीं यह नहीं कहते कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)' और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों तब आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। इसीप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। इसप्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले ऐसे आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं करते, जैसे कि अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले दीपक को घटपदादि पदार्थ विकार नहीं करते। ऐसा वस्तुस्वभाव है तथापि जीव शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गंध को सूंघकर, रस का स्वाद लेकर, स्पर्श को छूकर, गुण-द्रव्य को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है॥३७३-३८२॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [पूर्ण-एक-अच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा अयं बोध:] पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध (निर्विकार) ज्ञान की महिमा है ऐसा यह ज्ञायक आत्मा **[बोध्यात्]** ज्ञेय पदार्थों से **[काम् अपि विक्रियां न यायात्]** किंचित्मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, **[दीप: प्रकाश्यात् इव]** जैसे दीपक प्रकाश्य (प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। **[तत: इत:]** तब फिर **[तद्-वस्तुस्थिति-बोध बन्ध्य-धिषणा: एते अज्ञानिन:]** जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव **[किम् सहजाम् उदासीनताम् मुञ्चन्ति, रागद्वेषमयीभवन्ति]** अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा राग-द्वेषमय क्यों होते हैं ? (इसप्रकार आचार्यदेव ने सोच किया है।)

भावार्थ :– जैसे दीपक का स्वभाव घटपटादि को प्रकाशित करने का है, उसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है – ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय को जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। ज्ञेयों को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागी-द्वेषी विकारी होता है जो कि अज्ञान है। इसलिए आचार्यदेव ने सोच किया है कि 'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरारूढचरित्रवैभव-बलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम्॥२२३॥

द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है ? अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता ?' इसप्रकार आचार्यदेव ने जो सोच किया है सो उचित ही है, क्योंकि जबतक शुभराग है तबतक प्राणियों को अज्ञान से दुःखी देखकर करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है॥२२२॥

अब आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[राग-द्वेष-विभाव-मुक्त-महसः]** जिनका तेज राग-द्वेषरूपी विभाव से रहित है, **[नित्यं स्वभाव-स्पृशः]** जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभाव को स्पर्श करनेवाले हैं, **[पूर्व-आगामि-समस्त-कर्म-विकलाः]** जो भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और **[तदात्व-उदयात् भिन्नाः]** जो वर्तमान काल के कर्मोदय से भिन्न हैं, **[दूर-आरूढ-चरित्र-वैभव-बलात् ज्ञानस्य संचेतनाम् विन्दन्ति]** वे (ऐसे ज्ञानी) अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं **[चञ्चत्-चिद्-अर्चिमयीं]** जो ज्ञानचेतना-चमकती हुई चैतन्य ज्योतिमय है और **[स्व-रस-अभिषिक्त-भुवनाम्]** जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रस से समस्त लोक को सींचा है।

भावार्थ :– जिनका राग-द्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभाव को जिन्होंने अंगीकार किया और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्म का ममत्व दूर हो गया है ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यों से अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्र के बल से, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न जो अपनी चैतन्य की परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है; यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है। और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है; उससमय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथम श्रद्धान किया था उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् ज्ञानचेतनारूप[१] हो जाता है॥२२३॥

---

१. केवलज्ञानी जीव के साक्षात् ज्ञानचेतना होती है। केवलज्ञान होने से पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभव के समय जीव के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यदि ज्ञानचेतना के उपयोगात्मकत्व को मुख्य न किया जाये तो, सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना निरंतर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उसका निरन्तर ज्ञान के स्वामित्वभाव से परिणमन होता है, कर्म और कर्मफल के स्वामित्वभाव से परिणमन नहीं होता।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथेन्द्रियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीव: करोतीत्याख्याति – **रूसदि तूसदि य** एकेंद्रियविकलेंद्रियादिदुर्लभपरंपराक्रमेणातीतानंतकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामाधीनतया अत्यंतदुर्लभेन कथंचित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादि श्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च। किं कृत्वा ? **सुणिदूण** श्रुत्वा। पुन: पश्चात् केन रूपेण? **अहं भणिदो** अनेनाहं भणित इति। कानि श्रुत्वा ? **णिंदिदसंथुदवयणाणि** निंदितसंस्तुतवचनानि **ताणि** तानि। किं विशिष्टानि ? **पोग्गला परिणमंति बहुगाणि** भाषावर्गणायोग्यपुद्गला: कर्तारो यानि कर्मतापन्नानि बहुविधानि परिणमंति। ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्गं निश्चयमोक्षमार्गभूतं पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसारं ज्ञात्वा बहिरंगेष्टानिष्ट विषये रागद्वेषौ न करोतीति भावार्थ:। **पुग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं** भाषावर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कर्तृ म्रियस्वेति जीवत्वमितिरूपेण निंदितसंस्तुतशब्दरूपत्वपरिणतं। **तस्स जदि गुणो अण्णो** तस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽन्यो भिन्नो जडरूप: तर्हि जीवस्य किमायातं ? न किमपि। तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहारकारणसमयसारनिश्चयकारणसमयसाररहितस्य संबोधनं क्रियते। कथं ?

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इन्द्रिय तथा मन के विषयों में मिथ्याज्ञान परिणत जीव ही राग-द्वेष करता है ऐसा कहते हैं –

रूसदि तूसदि य एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि की दुर्लभ परम्परा के क्रम से अनन्त भूतकाल में देखे, सुने, अनुभव किए मिथ्यात्व, विषय, कषाय आदि विभाव परिणाम की आधीनता से अत्यन्त दुर्लभ कथंचित्, कालादि लब्धि के वश से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उसी तरह चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय होने पर छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, साततत्त्व, नौ पदार्थ आदि के श्रद्धान ज्ञान तथा रागद्वेष के त्यागरूप भेद रत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग नामक व्यवहार कारणसमयसार से साध्य विशुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधि रूप अनन्त केवलज्ञानादि चतुष्टय की व्यक्ति रूप कार्यसमयसार के उत्पादक निश्चय कारणसमयसार के बिना यथार्थ में अज्ञानी जीव क्रोध करता है और सन्तोष करता है। क्या करके रोष-तोष करता है ? **सुणिदूण** सुनकर करके रोष-तोष करता है। किस रूप से सुनकर रोष-तोष करता है ? **अहं भणिदो** 'इसके द्वारा मुझे कहा गया है।' ऐसा सुनकर रोष-तोष करता है। किसको सुनकर ? **णिंदिदसंथुदवयणाणि** निन्दा या स्तुति रूप वचनों को सुनकर रोष-तोष करता है। वे वचन क्या विशेषता वाले हैं ? **पोग्गला परिणमंति बहुगाणि** भाषावर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य कर्ता होकर, बहुत प्रकार के कर्मपने को प्राप्त होकर परिणमित होते हैं। पुन: ज्ञानी व्यवहारमोक्षमार्ग रूप तथा निश्चय मोक्षमार्ग रूप पूर्वोक्त दो प्रकार के कारणसमयसार को जानकर बाहर में इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग तथा द्वेष नहीं करता है ऐसा भावार्थ है। **पुग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं** भाषा वर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य कर्ता होकर 'मर जाओ, जीते रहो' इत्यादि प्रकार से निन्दा-स्तुति शब्दरूप परिणत होता है। **तस्स जदि गुणो अण्णो** उस पुद्गलद्रव्य के गुण शुद्धात्मस्वरूप से भिन्न हैं, जड़रूप हैं, तो जीव को क्या हानि-लाभ है ? अर्थात् कुछ भी हानि-लाभ नहीं है। पूर्वोक्त व्यवहार कारणसमयसार तथा निश्चय कारणसमयसार से रहित, उस ही अज्ञानी जीव को सम्बोधन किया

इति चेत्, यस्मान्निंदितसंस्तुतवचनेन पुद्गला: परिणमंति **तम्हा ण तुमं भणिदो किंचिवि** तस्मात्कारणात्त्वं न भणित: किंचिदपि **किं रूससे अबुहो** किं रूष्यसि अबुध बहिरात्मन्निति। स चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां रहित: पुनरपि संबोध्यते। हे अज्ञानिन् ! शब्दरूपगंधरसस्पर्शरूपा मनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषया: कर्तार:, त्वां कर्मतापन्नं किमपि न भणंति। किं न भणंति ? हे देवदत्त ! मां कर्मतापन्नं श्रृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां स्वादय, मां स्पृशेति। पुनरप्यज्ञानी ब्रूते एते शब्दादय: कर्तारो मां किमपि न भणंति, परं किंतु मदीयश्रोत्रादि विषयस्थानेषु समागच्छंति? आचार्य उत्तरमाहु: – हे मूढ ! न चायांति विनिर्ग्रहीतुं एते शब्दादिपंचेंद्रियविषया:। कथंभूता: संत:? श्रोत्रेंद्रियादि स्वकीयस्वकीयविषयभावमागच्छंत:। कस्मात् ? इति चेत्, वस्तुस्वभावादिति। यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीव: स पूर्वोक्त-व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां बाह्याभ्यंतररत्नत्रयलक्षणाभ्यां सहित: सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषौ न करोति, किंतु स्वस्थभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थ:। यथा पंचेंद्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियसंकल्पवशेन रागद्वेषौ करोत्यज्ञानी जीव:, तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेद्यरूपे च मनोविषयेऽपि रागद्वेषौ करोति। तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि संबोधनं क्रियते तद्यथा – परकीयगुण: शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा द्रव्यमपि परकीयं कर्तृत्वं कर्मतापन्नं न भणति। हे मनोबुद्धे ! हे अज्ञानिजनचित्त! मां कर्मतापन्नं बुध्यस्व जानीहि। अज्ञानी वदति –

जाता है। किस प्रकार (सम्बोधन किया जाता है)? क्योंकि निन्दा तथा स्तुति वचन रूप से पुद्गल परिणमित होते हैं, **तम्हा ण तुमं भणिदो किंचिवि** इसकारण से तुम्हें कुछ भी नहीं कहा है। **किं रूससे अबुहो** हे अज्ञानी बहिरात्मा ! तू क्रोध क्यों करता है। और व्यवहार-निश्चय कारणसमयसार से रहित वह अज्ञानी जीव पुन: सम्बोधित किया जाता है।

हे अज्ञानी ! शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्श रूप मनोज्ञ तथा अमनोज्ञ पंचेन्द्रिय के विषय कर्ता होकर, कर्मपने को प्राप्त होकर तुमको कुछ भी नहीं कहते हैं। क्या नहीं कहते हैं ? कि हे देवदत्त ! कर्मपने को प्राप्त मुझको सुनो, मुझको देखो, मुझको सूंघो, मुझको चखो, मुझको स्पर्श करो। पुन: अज्ञानी कहता है कि ये शब्दादिक कर्ता होकर मुझको कुछ भी नहीं कहते हैं, परन्तु मेरे कर्ण आदि के विषय स्थानों में आ जाते हैं।

आचार्य उत्तर कहते हैं – हे मूढ़! ये शब्दादि पंचेन्द्रिय विषय तुझे ग्रहण करने के लिए नहीं आते हैं। कैसे होते हुए (ग्रहण करने नहीं आते हैं) ? वे श्रोत्रेन्द्रिय आदि के अपने-अपने विषय भाव को प्राप्त होते हैं। किस कारण से (वे इन्द्रियों के विषय बनते हैं)? क्योंकि उन विषयों का स्वभाव ही ऐसा है (कि वे अपनी-अपनी इन्द्रियों के विषय बनते हैं)। किन्तु जो परम तत्त्वज्ञानी जीव है, वह पूर्वोक्त व्यवहार-निश्चय कारणसमयसार रूप बहिरंग रत्नत्रय लक्षण सहित होकर समागत मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में राग-द्वेष नहीं करता है, किन्तु स्वस्वभाव से शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करता है ऐसा भावार्थ है।

जिसप्रकार पंचेन्द्रिय विषयों में मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय संकल्प के वश अज्ञानी जीव राग-द्वेष करता है, उसीप्रकार परद्रव्य एवं परद्रव्य के गुणों को जानने पर मन के विषयों में भी राग-द्वेष करता है। उस अज्ञानी जीव को पुन: सम्बोधन करते हैं – जैसे शुभ-अशुभ, अथवा चेतन-अचेतन परकीय गुण और परद्रव्य भी कर्ता होकर, कर्मपने को प्राप्त होकर नहीं कहता है कि हे मनोबुद्ध ! हे अज्ञानीजन चित्त ! कर्मपने को प्राप्त मुझको तू जान। अज्ञानी कहता है कि यद्यपि वे ऐसा नहीं कहते हैं किन्तु मेरे मन में परकीय गुणों अथवा द्रव्यों को जानने का विकल्प प्रगट होता है। वहाँ आचार्य उत्तर देते हैं – मनोबुद्धि के विषय में आनेवाला

एवं न ब्रूते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणो द्रव्यं वा परिच्छित्तिसंकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति। तत्रोत्तरं दीयते – स चैव परकीयगुण: परकीयद्रव्यं वा मनोबुद्धिविषयमागतं विनिर्ग्रहीतुं नायाति। कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबंधस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतो: यद्रागद्वेषकरणं तदज्ञानं। यस्तु ज्ञानी स पुन: पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसारं जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थ:। **एवं तु** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपंचेंद्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा, कथंभूतस्य ? **जाणिदव्वस्स** ज्ञातद्रव्यस्य पंचेंद्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थ:। तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूपं ज्ञात्वापि। **उवसमं णेव गच्छदे मूढो** उपशमं नैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वयम्। कथंभूत: ? **णिग्गहमणा** निग्रहमना: निवारणबुद्धि:। कस्य संबंधित्वेन ? **परस्स य** परस्य पंचेंद्रियमनोविषयस्य। कथंभूतस्य ? परकीयशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य। पुनरपि कथंभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य। पुनरपि किं रूपश्चाज्ञानी जीव: ? **सयं च बुद्धि सिवमपत्तो** स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिरूपां बुद्धिमप्राप्त:। वीतरागसहजपरमानंदरूपं शिवशब्दवाच्यं सुखं चाप्राप्त इति। किं च, यथायस्कांतोपलाकृष्टा सूची स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कांतोपलपाषाणसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थम् जीवसमीपं न गच्छंति। जीवोऽपि तत्समीपं न गच्छति निश्चयत: किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति। एवं वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभावं मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति। हे भगवन् ! पूर्व बंधाधिकारे भणितं **'एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं। राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादि एहिं भावेहिं'**

परकीय गुण या परद्रव्य तुझे ग्रहण करने को नहीं आता है। किस कारण से ? **क्योंकि ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध का निषेध करने के लिए (कोई भी) समर्थ नहीं है।** यह हेतु है। **जो रागद्वेष करता है, वह अज्ञान है;** किन्तु जो ज्ञानी है वह पुन: पूर्वोक्त व्यवहार-निश्चय कारणसमयसार को जानता हुआ हर्ष-विषाद नहीं करता है ऐसा भावार्थ है।

एवं तु इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों का, परकीय गुण तथा द्रव्यरूप मन के विषय का (स्वरूप) किसका (स्वरूप है) ? **जाणिदव्वस्स** पंचेन्द्रिय मन के विषयभूत ज्ञात द्रव्य का (स्वरूप है) उस पूर्वोक्त प्रकार के स्वरूप को जानकर भी **उवसमं णेव गच्छदे मूढो** मूढ़, बहिरात्मा जीव, स्वयं उपशम को प्राप्त नहीं होता है। कैसा होता हुआ (उपशम को प्राप्त नहीं होता है)? **णिग्गहमणा** निवारण बुद्धि वाला होता हुआ अर्थात् ज्ञान में ज्ञात विषयों को दूर करनेवाला होता हुआ उपशम को प्राप्त नहीं होता है। किस सम्बन्धी निवारण बुद्धि वाला होता है ? **परस्स य** पंचेन्द्रिय व मन के पर विषयों सम्बन्धी निवारण बुद्धिवाला होता है। पुन: कैसे विषय ? स्वकीय इन्द्रिय गोचर विषयों के निवारण की बुद्धि वाला है। पुन: अज्ञानी जीव कैसा है ? **सयं च बुद्धि सिवमपत्तो** स्वयं शुद्धात्मानुभूति रूप बुद्धि को प्राप्त नहीं करता है। वीतराग सहजपरमानन्द रूप मोक्ष शब्द से वाच्य सुख को प्राप्त नहीं करता है।

कुछ विशेष यह है – चुम्बक पाषाण से खींची हुई लोह सुई अपने स्थान से हटकर चुम्बक पाषाण के समीप जाती है, उसी प्रकार शब्द आदि चित्तक्षोभरूप विकृति करने के लिए जीव के पास नहीं जाते हैं, जीव भी उनके पास नहीं जाता है किन्तु निश्चय से स्वस्थान में स्वस्वरूप से ही रहता है। इसप्रकार वस्तुस्वभाव होने पर भी जो अज्ञानी जीव है, वह समताभाव को छोड़कर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान है।

प्रश्न :– हे भगवन् ! पूर्व बंधाधिकार में कहा गया है– ''**(गाथार्थ –)** इसीप्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होने से रागादिरूप स्वयं नहीं परिणमता है, परन्तु अन्य रागादि दोषों से वह रागी किया जाता है।'' (यह आत्मख्याति गाथा २७९ से मिलती-जुलती है।) इत्यादि ज्ञानी रागादि का अकर्ता है, रागादि

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेय-वित्थर-विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा॥३८४॥

इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादयः इत्युक्तं। अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादयः परेषां शब्दादिपःोन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोधः? **अत्रोत्तरमाह** – तत्र बंधाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिताः। अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादि-पःोन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं। ततः कारणात् पूर्वापरविरोधो नास्ति इति। एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूतं निश्चयकारण-समयसारव्यवहारकारणसमयसारद्वयमजानन् सन्नज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभिः परिणमति। परेषां शब्दादीनां दूषणं नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादशकं गतम्॥३७३-३८२॥

परद्रव्यजनित हैं – ऐसा कहा है। और यहाँ स्वकीय बुद्धिदोष जनित रागादिभाव है, परकीय शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों का दोष नहीं है ऐसा पूर्वापर विरोध है ?

समाधान :– वहाँ बंधाधिकार के व्याख्यान में ज्ञानी जीव की मुख्यता है, ज्ञानी रागादि भाव रूप से परिणमन नहीं करता है, इस कारण से (वहाँ) रागादि को परद्रव्य जनित कहा है। यहाँ अज्ञानी जीव की मुख्यता है। अज्ञानी स्वकीय बुद्धिदोष से परद्रव्य का निमित्तमात्र आश्रय लेकर रागादि रूप से परिणमित होता है, इस कारण से पर-शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयों का दोष नहीं कहा है, इसलिए पूर्वापर विरोध नहीं है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग रूप निश्चय कारणसमयसार तथा व्यवहार कारणसमयसार दोनों को न जानते हुए अज्ञानी जीव स्वकीय बुद्धिदोष से रागादि रूप परिणमित होता है। पर-शब्दादि का दोष नहीं है – ऐसे व्याख्यान की मुख्यता से नववें स्थल में दस गाथाएँ पूर्ण हुईं॥३७३-३८२॥

....

जो अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागतकर्म न करने की प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावों से आगामी कर्म बँधें उन भावों का ममत्व छोड़े) वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय में आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है; सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है। – ऐसे चारित्र का विधान इन गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

शुभ और अशुभ अनेकविध के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्म को, वो आतमा प्रतिक्रमण है॥३८३॥

शुभ अरु अशुभ भावी करम का बंध हो जिन भाव में।
उनसे निवर्ते आत्म को, वो आतमा प्रत्याख्यान है॥३८४॥

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेय-वित्थर-विसेसं।
तं दोसं जो चेददि[१] सो खलु आलोयणं चेदा॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि[२] सो खलु चरित्तं हवदि चेदा॥३८६॥

कर्मं यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्॥३८३॥
कर्मं यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता॥३८४॥
यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम्।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता॥३८५॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता॥३८६॥

शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस काल में।
उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है॥३८५॥

प्रत्याख्यान नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे।
नित्यहि करे आलोचना, वो आत्मा चारित्र है॥३८६॥

गाथार्थ :– [**पूर्वकृतं**] पूर्वकृत [**यत्**] जो [**अनेकविस्तरविशेषम्**] अनेक प्रकार के विस्तारवाला [**शुभाशुभम् कर्मं**] (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभ कर्म है; [**तस्मात्**] उससे [**यः**] जो आत्मा [**आत्मानं तु**] अपने को [**निवर्तयति**] दूर रखता है [**सः**] वह आत्मा [**प्रतिक्रमणम्**] प्रतिक्रमण है॥३८३॥

[**भविष्यत्**] भविष्यकाल का [**यत्**] जो [**शुभम् अशुभं कर्मं**] शुभ-अशुभ कर्म [**यस्मिन् भावे च**] जिस भाव में [**बध्यते**] बँधता है। [**तस्मात्**] उस भाव से [**यः**] जो आत्मा [**निवर्तते**] निवृत्त होता है, [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**प्रत्याख्यानं भवति**] प्रत्याख्यान है॥३८४॥

[**संप्रति च**] वर्तमान काल में [**उदीर्णं**] उदयागत [**यत्**] जो [**अनेकविस्तरविशेषम्**] अनेक प्रकार के विस्तारवाला [**शुभम् अशुभम्**] शुभ और अशुभ कर्म है [**तं दोषं**] उस दोष को [**यः**] जो आत्मा [**चेतयते**] चेतता है – अनुभव करता है – ज्ञाताभाव से जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व – कर्तृत्व को छोड़ देता है), [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**खलु**] वास्तव में [**आलोचनं**] आलोचना है॥३८५॥

[**यः**] जो [**नित्यं**] सदा [**प्रत्याख्यानं करोति**] प्रत्याख्यान करता है, [**नित्यं प्रतिक्रामति च**]

---

१. पाठान्तर = वेददि, चेयइ, २. आलोचेयइ

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति। स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति। स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति। एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयंश्च, पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यंतं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः, स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः॥३८३-३८६॥

(उपजाति)

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः॥२२४॥

सदा प्रतिकमण करता है और [**नित्यम् आलोचयति**] सदा आलोचना करता है, [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**खलु**] वास्तव में [**चरित्रं भवति**] चारित्र है॥३८६॥

टीका :– जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) से हुये भावों से अपने को छुड़ाता है (दूर रखता है), वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है; वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तर कर्मों को (भविष्यकाल के कर्मों को) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है; वही आत्मा, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, आलोचना है। इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मों के कार्यरूप और उत्तरकर्मों के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत होता हुआ, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, अपने में ही – ज्ञानस्वभाव में ही – निरन्तर चरने से (आचरण करने से) चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है)। और चारित्रस्वरूप होता हुआ अपने को – ज्ञानमात्र को चेतता (अनुभव करता) है इसलिए (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है।

भावार्थ :– चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषों से आत्मा को निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्य में दोष लगाने का त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोष से आत्मा को पृथक् करना सो आलोचना है। यहाँ निश्चयचारित्र को प्रधान करके कथन है; इसलिए निश्चय से विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकाल के कर्मों से अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इसप्रकार प्रतिक्रमण स्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरंतर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतना से (अर्थात् ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है॥३८३-३८६॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणतस्तपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति – **णियत्तदे अप्पयं तु जो** इहलोकपरलोकाकांक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूत-भोगाकांक्षालक्षणनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्म-तत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानु भवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मके निर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानंदस्वभावसुखरसास्वाद-समरसीभावपरिणामेन सालंबने भरितावस्थे केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके कारणसमयसारे स्थित्वा यः कर्ता, आत्मानं कर्मतापन्नं निवर्तयति। कस्मात्सकाशात् ?

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं तत्तो शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृतं यत्कर्म तस्मात् **सो पडिक्कमणं** स पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमणं भवतीत्यर्थः। **णियत्तदे जो** अनंतज्ञानादि-स्वरूपात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिस्वरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा यः कर्ता आत्मानं निवर्तयति। कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं तत्तो** शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वरागादिपरिणामे सति बध्यते तस्मात्। **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** स एवं गुणविशिष्टस्तपोधन

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं; जिसमें ज्ञानचेतना तथा अज्ञानचेतना (अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) का फल प्रगट करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [नित्यं ज्ञानस्य संचेतनया एव ज्ञानम् अतीव शुद्धम् प्रकाशते] निरन्तर ज्ञान की संचेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है; **[तु]** और **[अज्ञानसंचेतनया]** अज्ञान की संचेतना से **[बन्धः धावन्]** बंध दौड़ता हुआ **[बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि]** ज्ञान की शुद्धता को रोकता है, अर्थात् ज्ञान की शुद्धता नहीं होने देता।

भावार्थ :– किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसी का अनुभवरूप स्वाद लिया करना वह उसका संचेतन कहलाता है। ज्ञान के प्रति एकाग्र उपयुक्त होकर, उस ओर ही ध्यान रखना वह ज्ञान का संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है। अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोग को करना, उसी की ओर (कर्म और कर्मफल की ओर ही) एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है। उससे कर्म का बन्ध होता है, जो बन्ध ज्ञान की शुद्धता को रोकता है॥२२४॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचनारूप परिणत तपोधन ही अभेद से निश्चयचारित्र होता है ऐसा कहते हैं –

णियत्तदे अप्पयं तु जो इस लोक-परलोक की आकांक्षारूप ख्याति, पूजा, लाभ, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत भोग-आकांक्षा लक्षणरूप निदानबन्ध आदि समस्त परद्रव्यों के अवलम्बन से उत्पन्न शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित, विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव रूप आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुभवरूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प परमसमाधि से उत्पन्न वीतराग-सहज-परमानन्द स्वभावसुख के रसास्वादरूप समरसीभाव परिणाम के आलम्बन से भरितावस्था में केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय की प्रकटता रूप

एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यानं भवतीति विज्ञेयं। **जो वेददि** नित्यानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-रूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखदुखजीवितमरणादिविषये सर्वोपेक्षासंयमे स्थित्वा यः कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति। किं जानाति? **जं** यत्कर्म **तं** तत्। केन रूपेण ? **दोसं** दोषोऽयं मम स्वरूपं न भवति। कथंभूतं कर्म ? **उदिण्णं** उदयागतं पुनरपि कथं भूतं ? **सुहमसुहं** शुभाशुभं। पुनश्च किं रूपम् ? **अणेयवित्थरविसेसं** मूलोत्तरप्रकृति-भेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं **संपडिय** संप्रतिकाले खलु स्फुटं **सो आलोयणं चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचनं भवतीति ज्ञातव्यम्। **णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि णिच्चं आलोचेयदि** निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा यः कर्ता पूर्वोक्तनिश्चयप्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्यं सर्वकालं करोति। **सो हु चरित्तं हवदि चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयचारित्रं भवति। कस्मात्? इति चेत्।

शुद्धात्मस्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात्। एवं निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यान-रूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्।।३८३-३८६।।

कार्यसमयसार के उत्पादक कारणसमयसार में स्थिर होकर जो कर्ता, कर्म से युक्त आत्मा को दूर करता है। किससे दूर करता है? **कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं तत्तो** शुभ-अशुभ मूल प्रकृति तथा उत्तर प्रकृतियों के अनेक भेदरूप विस्तार से विस्तीर्ण पूर्वकृत जो कर्म हैं उनसे (आत्मा को दूर करता है)। **सो पडिक्कमणं** वह आत्मा ही अभेदनय से निश्चय प्रतिक्रमण होता है ऐसा अर्थ है।

णियत्तदे जो अनन्तज्ञानादि स्वरूप आत्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुभूति स्वरूप अभेदरत्नत्रय लक्षणवाले परम सामायिक में स्थिर होकर जो कर्ता आत्मा को दूर करता है। किससे दूर करता है ? **कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं तत्तो** शुभ-अशुभ अनेक विस्तार से विस्तृत भविष्यत कर्मों से जो मिथ्यात्व रागादि परिणाम होने पर बंधते हैं, उनसे आत्मा को दूर करता है। **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** वही गुणविशिष्ट तपोधन ही अभेद नय से निश्चय प्रत्याख्यान होता है ऐसा जानना चाहिए।

जो वेददि नित्यानन्द एक स्वभाव शुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान अनुष्ठानरूप अभेद रत्नत्रयात्मक आत्मा में सुख-दुख, जीवन-मरण आदि विषय में, सर्व उपेक्षा संयम में स्थित होकर जो कर्ता वेदन करता है, अनुभव करता है, जानता है। क्या जानता है ? **जं** जो कर्म है **तं** वह कर्म है। वह किस रूप में है? **दोसं** दोषरूप है, मेरा स्वरूप नहीं है। कैसा कर्म (मेरा स्वरूप नहीं है)? **उदिण्णं** उदयागत कर्म। और कैसा (उदयागत) कर्म ? **सुहमसुहं** शुभाशुभ कर्म। **अणेयवित्थरविसेसं** मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार से विस्तृत **संपडिय** वर्तमान काल में स्पष्ट रूप से **सो आलोयणं चेदा** वह आत्मा ही अभेदनय से निश्चय आलोचना है ऐसा जानना चाहिए।

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि णिच्चं आलोचेयदि निश्चयरत्नत्रय लक्षण रूप शुद्धात्मस्वरूप में स्थित होकर जो पूर्वोक्त निश्चय प्रत्याख्यान-प्रतिक्रमण-आलोचना अनुष्ठान नित्य करता है। **सो हु चरित्तं हवदि चेदा** वह आत्मा ही अभेदनय से निश्चय चारित्र होता है। किससे होता है ? **शुद्धात्मस्वरूप में चरण करना चारित्र है** ऐसे आगम वचन से होता है। इस तरह निश्चय प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचना रूप चारित्र के व्याख्यान रूप से आठवें स्थल में चार गाथाएँ पूर्ण हुईं।।३८३-३८६।।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥३८८॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥३८९॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्॥३८७॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्॥३८८॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम्॥३८९॥

अब इसी को गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

जो कर्मफल को वेदता जीव कर्मफल निजरूप करे।
वो पुनः बाँधे अष्टविध के कर्म को – दुःखबीज को॥३८७॥

जो कर्मफल को वेदता जाने 'करमफल मैं किया'।
वो पुनः बाँधे अष्टविध के कर्म को – दुःखबीज को॥३८८॥

जो कर्मफल को वेदता जीव सुखी दुःखी होय है।
वो पुनः बाँधे अष्टविध के कर्म को– दुःखबीज को॥३८९॥

गाथार्थ :– [**कर्मफलम् वेदयमानः**] कर्म के फल का वेदन करता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलम्**] कर्मफल को [**आत्मानं करोति**] निजरूप करता (मानता) है, [**सः**] वह [**पुनः अपि**] फिर से भी [**अष्टविधम् तत्**] आठ प्रकार के कर्म को [**दुखस्य बीजं**] दुःख के बीज को [**बध्नाति**] बांधता है॥३८७॥

[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्म के फल का वेदन करता हुआ [**यः तु**] जो आत्मा [**कर्मफलम् मया कृतं जानाति**] यह जानता (मानता) है कि 'कर्मफल मैंने किया है,' [**सः**] वह [**पुनः अपि**] फिर से [**अष्टविधम् तत्**] आठ प्रकार के कर्म को [**दुःखस्य बीजं**] दुःख के बीज को [**बध्नाति**] बांधता है॥३८८॥

[**कर्मफलं वेदयमानः**] कर्म फल को वेदन करता हुआ [**यः चेतयिता**] जो आत्मा [**सुखितः दुःखितः च**] सुखी और दुःखी [**भवति**] होता है, [**सः**] वह [**पुनः अपि**] फिर से भी [**अष्टविधम् तत्**] आठ प्रकार के कर्म को [**दुःखस्य बीजं**] दुःख के बीज को [**बध्नाति**] बांधता है॥३८९॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा – कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना; ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा तु समस्तापि संसारबीजं; संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या ।।३८७-३८९।।

तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति –

आर्या)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ।।२२५।।

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे

टीका :– ज्ञान से अन्य में (ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना (अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ' सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकार की है – कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें, ज्ञान से अन्य में (अर्थात् ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ' वह कर्मचेतना है और ज्ञान से अन्य में ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ' वह कर्मफलचेतना है; (इसप्रकार अज्ञानचेतना दो प्रकार से है।) वह समस्त अज्ञानचेतना संसार का बीज है; क्योंकि संसार के बीज जो आठ प्रकार के (ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मों का बन्ध होता है)। इसलिए मोक्षार्थी पुरुष को अज्ञानचेतना का प्रलय करने के लिए सकल कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को तथा सकल कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवती एक ज्ञानचेतना को ही सदा ही नचाना चाहिए।

इसमें पहले, सकल कर्मों के संन्यास की भावना नचाते हैं। (वहाँ प्रथम, काव्य कहते हैं :–)

श्लोकार्थ :– [त्रिकालविषयं] त्रिकाल के (अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत काल संबंधी) **[सर्वं कर्म]** समस्त कर्म को **[कृत-कारित-अनुमननैः]** कृत-कारित-अनुमोदना से और **[मनः-वचन-कायैः]** मन-वचन-काय से **[परिहृत्य]** त्याग करके **[परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे]** मैं परम नैष्कर्म्य का (उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का) अवलम्बन करता हूँ। (इसप्रकार, समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।)।।२२५।।

(अब टीका में प्रथम, प्रतिक्रमण-कल्प अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि कहते हैं :–)

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि :–)

जो मैंने (अतीतकाल में कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (कर्म करना, कराना और अन्य करनेवाले का अनुमोदन करना वह संसार का बीज है – यह जानकर उस दुष्कृत के प्रति हेयबुद्धि आई तब जीव ने उसके प्रति

दुष्कृतमिति।२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं मनसा च , तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।६। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।७। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।८। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।९। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१०। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।११। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या

का ममत्व छोड़ा, यही उसका मिथ्या करना है) ॥१॥ जो मैंने (अतीतकाल में कर्म) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२॥ जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३॥ जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४॥ जो मैंने (अतीतकाल में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥५॥ जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥६॥ जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥७॥

जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥८॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से और काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥९॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१०॥

जो मैंने (अतीतकाल में) किया और कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥११॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१२॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१३॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१४॥ जो मैंने (पूर्व में) किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१५॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१६॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१७॥ जो मैंने (पूर्व में) किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१८॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥१९॥ जो मैंने

मे दुष्कृतमिति।१२। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१४। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१५। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१६। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१७। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१८। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१९। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२०। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२१। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२३। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२४। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२६। यदहमकार्षं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२७। यदहमचीकरं, यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२८। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२९। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च

(अतीतकाल में) किया और कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२०॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२१॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२२॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२३॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२४॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२५॥ जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२६॥

जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२७॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२८॥ जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से, वचन से तथा काया से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥२९॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३०॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३१॥ जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३२॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३३॥ जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३४॥ जो मैंने (पूर्व में) किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३५॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३६॥ जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३७॥ जो मैंने (पूर्व में) किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३८॥

कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३०। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३१। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३२। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३३। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३४। यदहमकार्षं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३५। यदहमचीकरं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३६। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३७। यदहमकार्षं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३८। यदहमचीकरं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३९। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४०। यदहमकार्षं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४१। यदहमचीकरं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४२। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४३।

जो मैंने (पूर्व में) कराया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥३९॥ जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या है॥४०॥

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४१॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४२॥ जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४३॥ जो मैंने (पूर्व में) किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४४॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४५॥ जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४६॥ जो मैंने (पूर्व में) किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४७॥ जो मैंने (पूर्व में) कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४८॥ जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो॥४९॥

(इन ४९ भंगों के भीतर, पहले भंग में कृत, कारित, अनुमोदना – ये तीन लिये हैं और उन पर मन, वचन, काय – ये तीन लगाये हैं। इसप्रकार बने हुए इस एक भंग को[१] '३३' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २ से ४ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाए हैं। इसप्रकार बने हुए तीनों भंगों को[२] '३२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ५ से ७ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन तीनों भंगों को '३१' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाए हैं। इन तीनों भंगों को '२३' की संज्ञा वाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। ११ से १९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर

---

१. कृत, कारित, अनुमोदना – यह तीनों लिये गये हैं सो उन्हें बताने के लिए पहले '३' का अंक रखना चाहिए; और फिर मन, वचन, काय – यह तीन लिये हैं सो इन्हें बताने के लिए उसी के पास दूसरा '३' का अंक रखना चाहिए। इसप्रकार '३३' की संज्ञा हुई।

२. कृत, कारित, अनुमोदना तीनों लिये हैं यह बताने के लिए पहले '३' का अंक रखना चाहिए; और फिर मन, वचन, काय में से दो लिये हैं यह बताने के लिये '३' के पास '२' का अंक रखना चाहिए। इसप्रकार '३२' की संज्ञा हुई।

यदहमकार्षं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४४। यदहमचीकरं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४५। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४६। यदहमकार्षं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४७। यदहमचीकरं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४८। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४९।

(आर्या)

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥२२६॥

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः।

उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '२२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन नौ भंगों को '२१' की संज्ञा वाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीनों भंगों को '१३' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ३२ से ४० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं इन नौ भंगों को '१२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन नौ भंगों को '११' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। इसप्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुये।)

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[यद् अहम् मोहात् अकार्षम्]** मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से (भूतकाल में) कर्म किये हैं, **[तत् समस्तम् अपि कर्म प्रतिक्रम्य]** उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके **[निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते]** मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (निज से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इसप्रकार ज्ञानी अनुभव करता है)।

भावार्थ :– भूतकाल में किये गये कर्म को ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करने वाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे, इसकी यह विधि है। 'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इसप्रकार हैः– जैसे, किसी ने पहले धन कमाकर घर में रख छोड़ा था और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा; उससमय, भूतकाल में जो धन कमाया था वह नहीं कमाने के समान ही है; इसीप्रकार, जीव ने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था वह नहीं बाँधने के समान मिथ्या ही है॥२२६॥

इसप्रकार प्रतिक्रमण-कल्प (अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि) समाप्त हुआ।

न करोमि, न कारयामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।२। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।३। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।४। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।५। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि,वाचा चेति।६। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।७। न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।८। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।९। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१०। न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा चेति।११। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।१२। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।१३। न करोमि, न कारयामि, मनसा च कायेन चेति।१४। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।१५। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।१६। न करोमि, न कारयामि, वाचा च कायेन चेति।१७। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।१८। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन

(अब टीका में आलोचनाकल्प कहते हैं :–)

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से॥१॥

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से॥२॥ मैं (वर्तमान में) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काय से॥३॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काय से॥४॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से॥५॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से॥६॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, काया से॥७॥

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, मन से, वचन से तथा काया से॥८॥ मैं न तो करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काया से॥९॥ मैं न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काया से॥१०॥

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मन से, वचन से॥११॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से॥१२॥ न तो मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से॥१३॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मन से तथा काया से॥१४॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काया से॥१५॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काया से॥१६॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचन से तथा काया से॥१७॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काया से॥१८॥

चेति।१९। न करोमि, न कारयामि, मनसा चेति।२०। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।२१। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।२२। न करोमि, न कारयामि, वाचा चेति।२३। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।२४। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।२५। न करोमि, न कारयामि, कायेन चेति।२६। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।२७। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।२८। न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति।२९। न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३१। न करोमि मनसा च वाचा चेति।३२। न कारयामि मनसा च वाचा चेति।३३। न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति।३४। न करोमि मनसा च कायेन चेति।३५। न कारयामि मनसा च कायेन चेति।३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति।३७। न करोमि वाचा च कायेन चेति।३८। न कारयामि वाचा च कायेन चेति।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति।४०। न करोमि मनसा चेति।४१। न कारयामि मनसा चेति।४२। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति।४३। न करोमि वाचा चेति।४४। न कारयामि वाचा चेति।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति।४६। न करोमि कायेन चेति।४७। न कारयामि कायेन चेति।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति।४९।

न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काया से॥१९॥ न तो मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मन से॥२०॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से॥२१॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से॥२२॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचन से॥२३॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से॥२४॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से॥२५॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, काया से॥२६॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, काया से॥२७॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, काया से॥२८॥ न मैं करता हूँ मन से, वचन से तथा काया से॥२९॥ न मैं कराता हूँ, मन से, वचन से तथा काया से॥३०॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से, वचन से तथा काया से॥३१॥ न तो मैं करता हूँ, मन से तथा वचन से॥३२॥ न मैं कराता हूँ, मन से तथा वचन से॥३३॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से॥३४॥ न मैं करता हूँ, मन से तथा काया से॥३५॥ न मैं कराता हूँ, मन से तथा काया से॥३६॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काया से॥३७॥ न मैं करता हूँ, वचन से तथा काया से॥३८॥ न मैं कराता हूँ, वचन से तथा काया से॥३९॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काया से॥४०॥ न मैं करता हूँ, मन से॥४१॥ न मैं कराता हूँ, मन से॥४२॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से॥४३॥ न मैं करता हूँ, वचन से॥४४॥ न मैं कराता हूँ, वचन से॥४५॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से॥४६॥ न मैं करता हूँ, काया से॥४७॥ न मैं कराता हूँ, काया से॥४८॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, काया से॥४९॥

(इसप्रकार, प्रतिक्रमण के समान आलोचना में भी ४९ भंग कहे।)

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः।

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।२। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।४। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।७। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।८। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।९। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१०। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा चेति।११। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।१२। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला कहता है कि) [**मोह विलास-विजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म**] मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म [**सकलम् आलोच्य**] उस सबकी आलोचना करके (उन सर्व कर्मों की आलोचना करके) [**निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते**] मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ :– वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है उसके विषय में ज्ञानी, यह विचार करता है कि पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं है। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।।२२७।। इसप्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

(अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि कहते हैं :–)

(प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि –) मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से।।१।। मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचन से।।२।। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा काय से।।३।। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय सै।।४।। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न

चेति।१३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च कायेन चेति।१४। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।१५। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।१६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा च कायेन चेति।१७। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।१८। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।१९। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा चेति।२०। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।२१। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।२२। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा चेति।२३। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२४। न कारयिष्यामि, न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, कायेन चेति।२६। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।२७। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।२८। न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।२९। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३१। न

अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से॥५॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से॥६॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, काय से॥७॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से, वचन से तथा काय से॥८॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से॥९॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से॥१०॥

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से तथा वचन से॥११॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचन से॥१२॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचन से॥१३॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से तथा काय से॥१४॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा काय से॥१५॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा काय से॥१६॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचन से तथा काय से॥१७॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय से॥१८॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय से॥१९॥

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से॥२०॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से॥२१॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से॥२२॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचन से॥२३॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से॥२४॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से॥२५॥ मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, काय से॥२६॥ मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, काय से॥२७॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, काय से॥२८॥

मैं न तो करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से॥२९॥ मैं न तो कराऊँगा, मन से, वचन से, काय से॥३०॥ मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से, वचन से तथा काय से॥३१॥

करिष्यामि मनसा च वाचा चेति।३२। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति।३३। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति।३४। न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति।३५। न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति।३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।३७। न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति।३८। न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति।४०। न करिष्यामि मनसा चेति।४१। न कारयिष्यामि मनसा चेति।४२। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति।४३। न करिष्यामि वाचा चेति।४४। न कारयिष्यामि वाचा चेति।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति।४६। न करिष्यामि कायेन चेति।४७। न कारयिष्यामि कायेन चेति।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति।४९।

(आर्या)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२८।।

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः।

मैं न तो करूँगा मन से तथा वचन से।।३२।। मैं न तो कराऊँगा मन से तथा वचन से।।३३।। मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा वचन से।।३४।। मैं न तो करूँगा मन से तथा काय से।।३५।। मैं न तो कराऊँगा मन से तथा काय से।।३६।। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा काय से।।३७।। मैं न तो करूँगा वचन से तथा काय से।।३८।। मैं न तो कराऊँगा वचन से तथा काय से।।३९।। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से तथा काय से।।४०।।

मैं न तो करूँगा मन से।।४१।। मैं न तो कराऊँगा मन से।।४२।। मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से।।४३।। मैं न तो करूँगा वचन से।।४४।। मैं न तो कराऊँगा वचन से।।४५।। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से।।४६।। मैं न तो करूँगा काय से।।४७।। मैं न तो कराऊँगा काय से।।४८।। मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा काय से।।४९।।

(इसप्रकार, प्रतिक्रमण के समान ही प्रत्याख्यान में भी ४९ भंग कहे।)

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि) **[भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय]** भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (त्याग) करके, **[निरस्त सम्मोहः निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते]** जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ :– निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान विधान ऐसा है कि समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है। इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।

(उपजाति)

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ।।२२९।।

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति –

(आर्या)

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ।।२३०।।

यहाँ तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिए – व्यवहारचारित्र में तो प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है। यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है इसलिए शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म आत्मा के दोषस्वरूप हैं। उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का – तीनों काल के कर्मों का प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करने के सम्मुख होता है। यह, ज्ञानी का कार्य है।।२२८।।

इसप्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ।

अब समस्त कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को नचाने के सम्बन्ध का कथन समाप्त करते हुए, कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (शुद्धनय का अवलंबन करनेवाला कहता है कि) [**इति एवम्**] पूर्वोक्त प्रकार से [**त्रैकालिकं समस्तम् कर्म**] तीनों काल के समस्त कर्मों को [**अपास्य**] दूर करके-छोड़कर, [**शुद्धनय-अवलंबी**] शुद्धनयावलंबी (अर्थात् शुद्धनय का अवलंबन करनेवाला) और [**विलीन-मोह:**] विलीन मोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं [**अथ**] अब [**विकारै: रहितं चिन्मात्रम् आत्मानम्**] (सर्व) विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का [**अवलम्बे**] अवलम्बन करता हूँ।।२२९।।

अब समस्त कर्मफल-संन्यास की भावना को नचाते हैं :–

(उसमें प्रथम, उस कथन के समुच्चय-अर्थ का काव्य कहते हैं :–)

श्लोकार्थ :– (समस्त कर्मफल की संन्यास भावना करनेवाला कहता है कि) [**कर्म-विष-तरु-फलानि**] कर्मरूपी विष वृक्ष के फल [**मम भुक्तिम् अन्तरेण एव**] मेरे द्वारा भोगे बिना ही, [**विगलन्तु**] खिर जायें; [**अहम् चैतन्य-आत्मानम् आत्मानम् अचलं सञ्चेतये**] मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलतया संचेतन – अनुभव करता हूँ।

भावार्थ :– ज्ञानी कहता है कि जो कर्म उदय में आता है उसके फल को मैं ज्ञाता-दृष्टारूप से जानता-देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिए मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें; मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञाता-दृष्टा ही होऊँ। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि अविरत, देशविरत

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२। नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३। नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५। नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६। नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७। नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८। नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९। नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११। नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२। नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३। नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४। नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१५। नाहमसातावेदनीयकर्म-

---

तथा प्रमत्तसंयत दशा में तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है।।२३०।।

(अब टीका में समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं :–)

मैं (ज्ञानी होने से) मतिज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ। (यहाँ 'चेतना' अर्थात् अनुभव करना, वेदना, भोगना। 'सं' उपसर्ग लगने से, 'संचेतना' अर्थात् 'एकाग्रतया अनुभव करना' ऐसा अर्थ यहाँ समस्त पाठों में समझना चाहिए।)।।१।। मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन – अनुभव करता हूँ।।२।। मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३।। मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४।। मैं केवलज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५।।

मैं चक्षुदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६।। मैं अचक्षुदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७।। मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८।। मैं केवलदर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९।। मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।१०।। मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।११।। मैं प्रचलादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।१२।। मैं प्रचलाप्रचला दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।१३।। मैं स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा

फलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१६। नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१७। नाहं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१८। नाहं सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१९। नाहमनंतानुबंधिक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२०। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२१। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२२। नाहं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२३। नाहमनंतानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव संचेतये।२४। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव संचेतये।२५। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव संचेतये।२६। नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२७। नाहमनंतानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२८। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।२९। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३०।

का ही संचेतन करता हूँ॥१४॥ मैं सातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१५॥ मैं असातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१६॥ मैं सम्यक्त्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१७॥ मैं मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१८॥ मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१९॥ मैं अनन्तानुबन्धिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२०॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२१॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय-क्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२२॥ मैं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२३॥ मैं अनन्तानुबन्धिमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२४॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२५॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२६॥ मैं संज्वलनमानकषाय वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२७॥ मैं अनन्तानुबन्धिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२८॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥२९॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥३०॥ मैं संज्वलनमायाकषाय वेदनीय

नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३१। नाहमनंतानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३२। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३३। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३४। नाहं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३५। नाहं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३६। नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३७। नाहमरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३८। नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।३९। नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४०। नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४१। नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४२। नाहं पुंवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४३। नाहं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४४। नाहं नरकायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४५। नाहं तिर्यगायुः

मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३१।। मैं अनन्तानुबन्धिलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३२।। मैं अप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३३।। मैं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३४।। मैं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३५।। मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३६।। मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३७।। मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३८।। मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।३९।। मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४०।। मैं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४१।। मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४२।। मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४३।। मैं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४४।। मैं नरक-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४५।। मैं तिर्यंच-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४६।। मैं मनुष्य-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४७।। मैं देव-आयु कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप

कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४६। नाहं मानुषायु:कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४७। नाहं देवायु:कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४८। नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।४९। नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५०। नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५१। नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५२। नाहमेकेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५३। नाहं द्वींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५४। नाहं त्रींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५५। नाहं चतुरिंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५६। नाहं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५७। नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५८। नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।५९। नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६०। नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६१। नाहं कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६२। नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६३। नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६४। नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६५। नाहमौदारिक-

---

आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४८।। मैं नरकगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।४९।। मैं तिर्यंचगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५०।। मैं मनुष्यगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५१।। मैं देवगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५२।। मैं एकेन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५३।। मैं द्वीन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५४।। मैं त्रीन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५५।। मैं चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५६।। मैं पंचेन्द्रियजाति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५७।। मैं औदारिकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५८।। मैं वैक्रियिकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।५९।। मैं आहारकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६०।। मैं तैजसशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६१।। मैं कार्मणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६२।। मैं औदारिकशरीर-अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६३।। मैं वैक्रियिकशरीर-अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६४।। मैं आहारकशरीर-अंगोपांग नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६५।। मैं औदारिकशरीर-बन्धन नामकर्म के फल को नहीं भोगता,

शरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६६। नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६७। नाहमाहारकशरीरबंधननाकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६८। नाहं तैजसशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।६९। नाहं कार्मणशरीर-बंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७०। नाहमौदारिकशरीरसंघातनामककर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७१। नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७२। नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७३। नाहं तैजस-शरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७४। नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७५। नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७६। नाहं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७७। नाहं स्वातिसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७८। नाहं कुब्जकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।७९। नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८०। नाहं हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८१। नाहं वज्रर्षभ-नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८२। नाहं वज्रनाराचसंहनननामकर्मफलं

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६६।। मैं वैक्रियिकशरीर-बन्धन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६७।। मैं आहारकशरीर-बंधन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६८।। मैं तैजसशरीर-बन्धन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।६९।। मैं कार्मणशरीर-बन्धन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७०।। मैं औदारिकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७१।। मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७२।। मैं आहारकशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७३।। मैं तैजसशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७४।। मैं कार्मणशरीरसंघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७५।। मैं समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७६।। मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७७।। मैं स्वाति संस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७८।। मैं कुब्जकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।७९।। मैं वामनसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८०।। मैं हुंडकसंस्थान नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८१।। मैं वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८२।। मैं वज्रनाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८३।। मैं नाराचसंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८४।। मैं अर्धनाराचसंहनन

भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८३। नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव संचेतये।८४। नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८५। नाहं कीलिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८६। नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनन-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८७। नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मा-नमात्मानमेव संचेतये।८८। नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।८९। नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९०। नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९१। नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९२। नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९३। नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९४। नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९५। नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९६। नाहमाम्लरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९७। नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९८। नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।९९। नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१००। नाहं सुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०१। नाहमसुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०२। नाहं शुक्लवर्ण-

---

नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८५।। मैं कीलिकासंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८६।। मैं असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८७।। मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८८।। मैं रूक्षस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।८९।। मैं शीतस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९०।। मैं उष्णस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९१।। मैं गुरुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९२।। मैं लघुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९३।। मैं मृदुस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९४।। मैं कर्कशस्पर्श नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९५।। मैं मधुररस नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९६।। मैं आम्लरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९७।। मैं तिक्तरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९८।। मैं कटुकरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।९९।। मैं कषायरस नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।१००।। मैं सुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।१०१।। मैं असुरभिगंध नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।।१०२।। मैं शुक्लवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता

नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०३। नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०४। नाहं पीतवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०५। नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०६। नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०७। नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलंभुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०८। नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनाम-कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११०। नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१११। नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११२। नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११३। नाहमुपघात-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव संचेतये।११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११६। नाहमुद्योत-नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव संचेतये।११८। नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।११९। नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२०। नाहं साधारणशरीर-

---

हूँ॥१०३॥ मैं रक्तवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१०४॥ मैं पीतवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१०५॥ मैं हरितवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१०६॥ मैं कृष्णवर्ण नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१०७॥ मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१०८॥ मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१०९॥ मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११०॥ मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१११॥ मैं निर्माण नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११२॥ मैं अगुरुलघु नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११३॥ मैं उपघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११४॥ मैं परघात नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११५॥ मैं आतप नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११६॥ मैं उद्योत नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११७॥ मैं उच्छ्वास नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११८॥ मैं प्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥११९॥ मैं अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२०॥ मैं साधारणशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२१॥ मैं प्रत्येकशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२२॥ मैं स्थावर नामकर्म के फल को नहीं भोगता,

नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२१। नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२२। नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२३। नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२५। नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२७। नाहं दु:स्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२८। नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१२९। नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३०। नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३१। नाहं बादरशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३५। नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३६। नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३७। नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१३८। नाहं यश:कीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेवसंचेतये।१३९। नाहम यश:कीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-

---

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२३॥ मैं त्रस नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२४॥ मैं सुभग नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२५॥ मैं दुर्भग नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२६॥ मैं सुस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२७॥ मैं दुःस्वर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२८॥ मैं शुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१२९॥ मैं अशुभ नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३०॥ मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३१॥ मैं बादरशरीर नामकर्म कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३२॥ मैं पर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३३॥ मैं अपर्याप्त नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३४॥ मैं स्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३५॥ मैं अस्थिर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३६॥ मैं आदेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३७॥ मैं अनादेय नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३८॥ मैं यशःकीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१३९॥ मैं अयशःकीर्ति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४०॥ मैं तीर्थंकर नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४१॥ मैं उच्चगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४२॥ मैं नीचगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता,

मात्मानमेव संचेतये।१४०। नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४१। नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४२। नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४३। नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४४। नाहं लाभांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४५। नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४६। नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४७। नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये।१४८।

(वसंततिलका)

निःशेष-कर्मफल-संन्यसनान्ममैवं सर्वक्रियांतर-विहार-निवृत्त-वृत्तेः।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता॥२३१॥

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४३॥ मैं दानांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४४॥ मैं लाभांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४५॥ मैं भोगान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४६॥ मैं उपभोगांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४७॥ मैं वीर्यांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ॥१४८॥ (इसप्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना कहता है।)

(यहाँ भावना का अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव-सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थावाले जीव के ज्ञान-श्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके एकाग्रचित्त से ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभाव से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।'))॥३८७-३८९॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि –) [**एवं**] पूर्वोक्त प्रकार से [**निःशेष-कर्म-फल-संन्यसनात्**] समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से [**चैतन्य-लक्ष्म आत्मतत्त्वं भृशम् भजतः सर्वक्रियान्तर-विहार-निवृत्त-वृत्तेः**] मैं चैतन्य लक्षण

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपात-काल-रमणीय-मुदर्क-रम्यं निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः॥२३२॥

(स्रग्धरा)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु॥२३३॥

आत्मतत्त्व को अतिशयतया भोगता हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य सर्व क्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य जो उपयोग की क्रिया – विभावरूप क्रिया उसमें मेरी परिणति विहार – प्रवृत्ति नहीं करती); [**अचलस्य मम**] इसप्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल ऐसे मुझे, [**इयम् काल–आवली**] यह काल की आवली जो कि [**अनन्ता**] प्रवाहरूप से अनन्त है वह, [**वहतु**] आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे;) (उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी न जाये)।

भावार्थ :– ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधनरूप है और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है, वह मोक्ष का उपाय नहीं है॥२३१॥

अब पुनः काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विषद्रुमाणां फलानि यः न भुंक्ते**] पहले अज्ञानभाव से उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फलों को जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और [**खलु स्वतः एव तृप्तः**] वास्तव में अपने से ही (आत्मस्वरूप से ही) तृप्त है, [**सः आपात-काल-रमणीयम् उदर्क-रम्यम् निष्कर्म-शर्ममयम् दशान्तरम् एति**] वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है और भविष्यकाल में भी जिसका फल रमणीय है ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशांतर को प्राप्त होता है।(अर्थात् जो पहले संसार अवस्था में कभी नहीं हुई थी ऐसी भिन्न प्रकार की कर्म रहित स्वाधीन सुखमयदशा को प्राप्त होता है।)

भावार्थ :– ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है। उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है – अन्य तृष्णा नहीं रहती और भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मों से रहित मोक्ष-अवस्था को प्राप्त होता है॥२३२॥

'पूर्वोक्त रीति से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना करके अज्ञानचेतना के प्रलय को प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभाव को पूर्ण करके, ज्ञानचेतना को नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो' – इस उपदेश का दर्शक काव्य कहते हैं :–

(वंशस्थ)

इत: पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ।।२३४।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ मिथ्यात्वरागादि परिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिकं गुणप्रच्छादकं कर्म बंधं जनयतीति प्रतिपादयति – ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद् द्विविधा भवति। इयं तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते– उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीव: स्वस्थभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति। मया कृतं कर्मेति च यो भणति। स जीव: पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं ? बीजं कारणं। कस्य ? दु:खस्य। इति

श्लोकार्थ :– [अविरतं कर्मण: तत्फलात् च विरतिम् अत्यन्तं भावयित्वा] ज्ञानीजन, अविरतपने से कर्म से और कर्मफल से विरति को अत्यन्त भाकर, (अर्थात् कर्म और कर्मफल के प्रति अत्यन्त विरक्त भाव को निरन्तर भाकर,) **[अखिल-अज्ञान-संचेतनाया: प्रलयनम् प्रस्पष्टं नाटयित्वा]** (इस भाँति) समस्त अज्ञानचेतना के नाश को स्पष्टतया नचाकर, **[स्व-रस-परिगतं स्वभावं पूर्णं कृत्वा]** निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके, **[स्वां ज्ञानसञ्चेतनां सानन्दं नाटयन्त: इत: सर्व-कालं प्रशमरसम् पिबन्तु]** अपनी ज्ञानचेतना को आनन्द पूर्वक नचाते हुए अब से सदाकाल प्रशमरस को पिओ अर्थात् कर्म के अभावरूप आत्मिकरस को – अमृतरस को अभी से लेकर अनन्तकाल तक पिओ। (– इसप्रकार ज्ञानीजनों को प्रेरणा की है।)

भावार्थ :– पहले तो त्रिकाल सम्बन्धी कर्म के कर्तृत्वरूप कर्मचेतना के त्याग की भावना (४९ भंग पूर्वक) कराई। और फिर १४८ कर्म प्रकृतियों के उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई। इसप्रकार अज्ञानचेतना का प्रलय कराकर ज्ञानचेतना में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभाव के अनुभवरूप है। ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो – ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है ।।२३३।।

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिये ज्ञान को कर्तृत्व-भोक्तृत्व से भिन्न बताया; अब आगे की गाथाओं में अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को भिन्न बतायेंगे। पहले उन गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इत: इह] यहाँ से अब (इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आगे की गाथाओं में यह कहते हैं कि –) **[समस्त-वस्तु-व्यतिरेक-निश्चयाद् विवेचितं ज्ञानम्]** समस्त वस्तुओं के भिन्नत्व के निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, **[पदार्थ-प्रथन-अवगुण्ठनात् कृते: बिना]** पदार्थ के विस्तार के साथ गुथित होने से (अनेक पदार्थों के साथ, ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध के कारण; एक जैसा दिखाई देने से) उत्पन्न होनेवाली (अनेक प्रकार की) क्रिया उनसे रहित **[एकम् अनाकुलं ज्वलत्]** एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (सर्व आकुलता से रहित) और दैदीप्यमान **[अवतिष्ठते]** निश्चल रहता है।

भावार्थ :– आगामी गाथाओं में ज्ञान को स्पष्टतया सर्व वस्तुओं से भिन्न बतलाते हैं।।२३४।।

गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्मचेतना व्याख्याता। **कर्मचेतना कोऽर्थः** ? इति चेत्, मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत् सा बंधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते। उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपाचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयनिमित्तेन यः सुखितो दुखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं ? बीजं कारणं। कस्य ? दुःखस्य। इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता। **कर्मफलचेतना कोऽर्थः** ? इति चेत्, स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासंभवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेण हर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत्, सा बंधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते। इयं कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपापि त्याज्या बंधकारणत्वादिति। तत्र तयोर्द्वयोः कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनास्वरूपं यत्पूर्वं व्याख्यातं तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासंन्यासभावनां नाटयति। कर्मचेतनात्यागभावनां कर्मबंधविनाशार्थं करोतीत्यर्थः। तद्यथा – यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषम्। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति षड्संयोगेनैकभंगः। यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषम्। केन? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पंचसंयोगेन, एकैकापनयनेन भंगत्रयं भवति। संयोगेनेत्याद्यक्षसंचारेणैकोनपंचाशद्भंगा भवंतीति टीकाभिप्रायः। अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यंते। कथं ? इति चेत्, कृतं कारितमनुमतमिति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति। कृतकारितद्वयं कृतानुमतद्वयं

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब मिथ्यात्व रागादि परिणत जीव के अज्ञान चेतना होती है जो केवलज्ञानादि गुण का प्रच्छादन करने वाले कर्मबन्ध को उत्पन्न करती है यह कहते हैं –

प्रथम तो ज्ञान अज्ञान के भेद से चेतना दो प्रकार की होती है। प्रथम यह अज्ञान चेतना तीन गाथाओं द्वारा कहते हैं। उदयागत शुभ अशुभ कर्म का वेदन या अनुभव करते हुए अज्ञानी जीव स्वस्वभाव से भ्रष्ट होकर 'कर्म मेरे हैं' ऐसा कहता है। मेरे द्वारा कर्म किए जाते हैं ऐसा जो कहता है। वह जीव पुनः भी आठ प्रकार के कर्मों को बांधता है। कैसा है (वह कर्म) ? बीज अथवा कारण है। किस का कारण है? दुख का कारण है। इसप्रकार दो गाथाओं द्वारा अज्ञानरूप कर्मचेतना का व्याख्यान हुआ। **कर्मचेतना का क्या अर्थ है ?** ''कर्म मेरा है, कर्म मेरे द्वारा किया जाता है'' इसप्रकार अज्ञान भाव से वीतराग शुद्धात्मानुभूति से रहित जीव का इच्छापूर्वक इष्ट-अनिष्ट भाव से मन, वचन तथा काय की जो चेष्टा या व्यापार-क्रिया है, वह बन्ध की कारण कर्मचेतना कही गई है। उदयागत कर्मफल को वेदन करता हुआ तथा शुद्धात्मस्वरूप को वेदन न करता हुआ मनोज्ञ-अमनोज्ञ इंद्रिय विषयों के निमित्त से जो सुखी-दुखी होता है, वह जीव पुनः आठ प्रकार के कर्म को बाँधता है। कैसा है वह कर्म ? मूलकारण है। किसका कारण है ? दुख का कारण है। इस प्रकार एक गाथा द्वारा कर्मफल चेतना का व्याख्यान हुआ। **कर्मफल चेतना का क्या अर्थ है?** स्वस्वभाव से रहित अज्ञान भाव से यथासंभव व्यक्त-अव्यक्त स्वभाव से ईहापूर्वक इष्ट-अनिष्ट विकल्प रूप से हर्ष-विषादमय जो सुख-दुःख का अनुभव है, वह बन्ध की कारणभूत कर्मफल चेतना कही है। वहाँ यह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों ही रूप त्याज्य हैं, क्योंकि वे दोनों बन्ध की कारण हैं।

वहाँ उन दोनों कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना के मध्य में प्रथम तो निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना स्वरूप जो पूर्व में कहा गया है। वहाँ स्थित होकर शुद्धज्ञानचेतना के बल से कर्मचेतना के त्याग की भावना को नचाते हैं, भाते हैं। कर्मचेतना के त्याग की भावना को कर्मबन्ध के विनाश के लिए करते हैं ऐसा अर्थ है।

कारितानुमतद्वयमिति द्विसंयोगेन च भंगत्रयं जातम्। कृतकारितानुमतत्रयमिति त्रिसंयोगेनैको भंग इति सप्तभंगी। तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति। मनोवचनद्वयं मन:कायद्वयं वचनकायद्वयमिति द्विसंयोगेन भंगत्रयं जातम्। मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसंयोगेनैको भंग इयमपि सप्तभंगी। कृतं मनसा सह, कृतं वाचा सह, कृतं कायेन सह, कृतं मनोवचनद्वयेन सह, कृतं मन:कायद्वयेन सह, कृतं वचनकायद्वयेन सह, कृतं मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभंगी जाता यथा। तथा कारितेऽपि, तथा अनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमतद्वयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तभंगी योजनीया। एवं एकोनपंचाशद्भंगा भवंतीति प्रतिक्रमणकल्प: समाप्त:।

इदानीं प्रत्याख्यानकल्प: कथ्यते – तथाहि यदहं करिष्यामि, यदहं कारयिष्यामि, यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैको भंग:। यथा यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि। केन ? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पंचसंयोगेन भंगत्रयं भवति। एवं पूर्वोक्तक्रमेणएकोनपंचाशद्भंगा ज्ञातव्या:। इति प्रत्याख्यानकल्प: समाप्त:।

वह इस प्रकार है – **(अब प्रतिक्रमण कल्प का वर्णन करते हैं –)**

जो मैंने भूतकाल में किया, जो मैंने (दूसरों से) कराया तथा जो मैंने अन्य करते हुए प्राणी की अनुमोदना की। किसके द्वारा ? मन, वचन, काय के द्वारा, वह सभी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो – इसप्रकार छहों के संयोग रूप एक भंग हुआ। जो मैंने भूतकाल में किया, जो मैंने (दूसरों से) कराया तथा जो मैंने अन्य करते हुए प्राणी की अनुमोदना की। किसके द्वारा ? मन तथा वचन के द्वारा, वह सभी मेरा दुष्कृत मिथ्या हो – इसप्रकार एक-एक को कम करने से पंचसंयोगी तीन भंग हुए। इसप्रकार संयोग रूप आद्य अक्षसंचार से ४९ भंग होते हैं – इसप्रकार टीका का आशय है। अथवा उस ही को सरल तरीके से कहते हैं– कैसे? कृत, कारित, अनुमोदना ऐसे प्रत्येक (असंयोगी) तीन भंग हुए। कृत तथा कारित दोनों, कृत तथा अनुमोदना दोनों, कारित तथा अनुमोदना दोनों – इसप्रकार द्विसंयोगी तीन भंग हुए। कृत, कारित तथा अनुमोदना त्रिसंयोगी एक भंग हुआ – इसप्रकार एक सप्तभंगी हुई।

उसीप्रकार मन, वचन, काया प्रत्येक के (अंसयोगी) तीन भंग होते हैं। मन तथा वचन दोनों, मन तथा काया दोनों, वचन तथा काया दोनों इसप्रकार द्विसंयोगी तीन भंग हुए। मन, वचन और काया त्रिसंयोगी एक भंग हुआ – इस प्रकार यह दूसरी सप्तभंगी हुई।

मन के साथ किया, वचन के साथ किया, काया के साथ किया ऐसे प्रत्येक के (असंयोगी) तीन भंग हुए। मन और वचन दोनों के साथ, मन और काया दोनों के साथ, वचन और काया दोनों के साथ तथा मन, वचन, काया तीनों के साथ किया – इसप्रकार कृत सम्बंधी तीसरी सप्तभंगी हुई।

कृत की तरह कारित पर भी, अनुमोदना पर भी, तथा कृत-कारित दोनों पर भी, कृत-अनुमोदना इन दोनों पर भी, कारित-अनुमोदना इन दोनों पर भी तथा कृत-कारित-अनुमोदना इन तीनों पर भी प्रत्येक की इसी क्रम से सप्तभंगी लगा लेना चाहिए। इसप्रकार ये सब ७ सप्तभंगी मिल कर ४९ भंग होते हैं। यह प्रतिक्रमण कल्प समाप्त हुआ।

इदानीमालोचनाकल्प: कथ्यते। तद्यथा – यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि। केन? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैकभंग:। तथा यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि। केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति एकैकापनयनेन पंचसंयोगेन भंगत्रयं भवति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपंचाशद्भंगा ज्ञातव्या:। इत्यालोचनाकल्प: समाप्त:। कल्प: पर्वपरिच्छेदोऽधिकारोऽध्याय: प्रकरणमित्याद्येकार्था ज्ञातव्या:। एवं निश्चयप्रतिक्रमण-निश्चयप्रत्याख्यान-निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना समाप्ता।

इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनाबलेन कर्मफलचेतनासंन्यासभावनां नाटयति करोतीत्यर्थ:। तद्यथा – नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। सम्यगनुभवे इत्यर्थ:। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। नाहं मन:पर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। इति पंचप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता।

अब प्रत्याख्यान कल्प का वर्णन करते हैं – जो मैं भविष्य में करूँगा, जो मैं भविष्य में कराऊँगा, जो मैं भविष्य में अन्य के करने की अनुमोदना करूँगा। किसके द्वारा ? मन, वचन तथा काया के द्वारा, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। इस तरह पहले के समान छहों के संयोग से एक भंग हुआ। इसीप्रकार जो मैं भविष्य में करूँगा, जो मैं भविष्य में कराऊँगा तथा जो मैं भविष्य में अन्य करते हुए की अनुमोदना करूँगा। किसके द्वारा ? मन तथा वचन के द्वारा। वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, इसप्रकार पूर्ववत् एक-एक को हटाने से पंचसंयोगी तीन भंग होते हैं। इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से ४९ भंग जानना चाहिए । इसप्रकार प्रत्याख्यान कल्प पूर्ण हुआ।

अब आलोचना कल्प कहते हैं, वह इसप्रकार है – वर्तमान काल में जो मैं करता हूँ, जो मैं कराता हूँ तथा जो मैं अन्य करते हुए की अनुमोदना करता हूँ। किसके द्वारा ? मन, वचन, काया के द्वारा, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। इसप्रकार पूर्ववत् छह के संयोग से एक भंग हुआ। तथा जो मैं करता हूँ, जो मैं कराता हूँ और जो मैं करते हुए अन्य की अनुमोदना करता हूँ। किसके द्वारा ? मन तथा वचन के द्वारा, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। इसप्रकार एक-एक को हटाने से पंचसंयोगी तीन भंग होते हैं। इसप्रकार पूर्वोक्त प्रकार से ४९ भंग जानना चाहिए। इसतरह आलोचना कल्प पूर्ण हुआ। **कल्प, पर्व, परिच्छेद, अधिकार, अध्याय तथा प्रकरण ये सभी एकार्थवाची जानना चाहिए।** इस तरह निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान तथा निश्चय आलोचना के भेद से शुद्ध ज्ञानचेतना भावना रूप से दो गाथाओं के कथन द्वारा कर्मचेतना संन्यास (त्याग) भावना पूर्ण हुई।

अब शुद्ध ज्ञानचेतना की भावना के बल से कर्मफलचेतना के त्याग की भावना को नचाते हैं, करते हैं। जैसे कि मैं मतिज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ ? मैं शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा का ही संचेतन करता हूँ अर्थात् सम्यक् अनुभव करता हूँ। मैं श्रुतज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ ? मैं शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। मैं अवधिज्ञानावरण

नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयफलं भुंजे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये। एवं टीकाकथितक्रमेण–

पण णव दु अट्ठवीसा चउ तिय णउदीय दुण्णि पंचेव।
बावण्णहीण वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा।।

इमां गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थः।

किंच, जगत्त्रयकालत्रयसंबंधि मनोवचनकायकृतकारितानुमतख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीभावानुभवसालंबनेन भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्यकार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टंभेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना कर्मफलचेतनासंन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः। एवं गाथाद्वयं कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन गाथैका कर्मफलचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतम्।।३८७-३८९।।

कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ? मैं शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। मैं मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ ? मैं शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। मैं केवलज्ञानावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ? शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। इसप्रकार पाँच प्रकार के ज्ञानावरण कर्मरूप से कर्मफल चेतना के त्याग की भावना कही गई।

मैं चक्षुदर्शनावरण कर्म के फल को नहीं भोगता हूँ। तो फिर क्या करता हूँ ? शुद्धचैतन्यस्वभावी आत्मा का ही अनुभव करता हूँ। इसप्रकार टीका में कहे गये क्रम से ''पण णव दु... इत्यादि गाथा कथित ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, २ वेदनीय, २८ मोहनीय ४ आयुकर्म, ९३ नामकर्म, २ गोत्रकर्म तथा ५ अंतराय कर्म की सभी ५२ कम २०० अर्थात् १४८ कर्म प्रकृतियाँ हैं – इन्हें नाश करके सिद्ध होते हैं।'' इस गाथा का आशय लेकर १४८ संख्या वाली कर्म की उत्तरप्रकृतियों के कर्म फल के त्याग की भावना नचाने का कर्तव्य है, ऐसा अर्थ है।

कुछ विशेष – तीन लोक, तीन काल से सम्बन्धित मन, वचन और काया, कृत, कारित और अनुमोदना तथा ख्याति, पूजा, लाभ तथा देखे, सुने और अनुभव किए भोगों की आकांक्षा रूप निदानबन्ध आदि सब परद्रव्य के आलम्बन से उत्पन्न होने वाले शुभ-अशुभ विकल्पों से रहित अर्थात् चिदानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न होने वाले वीतराग सहज परमानन्दमय सुखरस के आस्वाद वाले, परमसमरसी भाव के अनुभव के आलम्बन से भरित (पूर्ण) अवस्था वाले, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के व्यक्तिरूप साक्षात् उपादेय भूत कार्यसमयसार को उत्पन्न करनेवाले, निश्चय कारणसमयसार वाले शुद्धज्ञानचेतना की भावना का आलम्बन करके कर्म चेतना की त्याग भावना और कर्मफल चेतना के त्याग की भावना मोक्षार्थी पुरुष द्वारा की जानी चाहिए। यह भावार्थ है। इसप्रकार दो गाथाओं द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना की मुख्यता से तथा एक गाथा द्वारा कर्मफलचेतना के त्याग की भावना की मुख्यता से दसवें स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।।३८७-३८९।।

सत्थं णाणं ण हवदि जम्हा सत्थं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा बेंति॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा बेंति॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवदि जम्हा रूवं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा बेंति॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवदि जम्हा वण्णो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा बेंति॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवदि जम्हा गंधो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा बेंति॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं रसं च अण्णं जिणा बेंति॥३९५॥
फासो ण हवदि णाणं जम्हा फासो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा बेंति॥३९६॥

अब इसी अर्थ की गाथाएँ कहते हैं :–

रे ! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य प्रभु कहें॥३९०॥
रे ! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य प्रभु कहें॥३९१॥
रे ! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य प्रभू कहें॥३९२॥
रे ! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य प्रभू कहें॥३९३॥
रे ! गंध है नहिं ज्ञान, क्योंकि गंध कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य प्रभू कहें॥३९४॥
रे ! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य रस जिनवर कहें॥३९५॥

कम्मं णाणं ण हवदि जम्हा कम्मं ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा बेंति॥३९७॥
धम्मो णाणं ण हवदि जम्हा धम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा बेंति॥३९८॥
णाणमधम्मो ण हवदि जम्हाधम्मो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा बेंति॥३९९॥
कालो णाणं ण हवदि जम्हा कालो ण याणदे किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा बेंति॥४००॥
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणदे किंचि।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा बेंति॥४०१॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं॥४०२॥

रे ! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य प्रभू कहें॥३९६॥
रे ! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य जिनवर कहें॥३९७॥
रे ! धर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य-जिनवर कहें॥३९८॥
रे ! अधर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, अधर्म अन्य जिनवर कहें॥३९९॥
रे ! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य, रु काल अन्य प्रभू कहें॥४००॥
आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
इस हेतु से आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य प्रभु कहें॥४०१॥
रे ! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकि अचेतन रूप है।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है॥४०२॥

जम्हा जाणदि णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणगादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना ब्रुवन्ति ॥३९०॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना ब्रुवन्ति ॥३९१॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना ब्रुवन्ति ॥३९२॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना ब्रुवन्ति ॥३९३॥

रे ! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है।
अरु ज्ञान है ज्ञायक से अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥४०३॥
सम्यक्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो।
धर्माधरम, दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञान को ॥४०४॥

गाथार्थ :– [**शास्त्रं**] शास्त्र [**ज्ञानं न भवति**] ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**शास्त्रं किंचित् न जानाति**] शास्त्र कुछ जानता नहीं है (वह जड़ है), [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**शास्त्रं अन्यत्**] शास्त्र अन्य है [**जिनाः ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं ॥३९०॥ [**शब्दः ज्ञानं न भवति**] शब्द ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**शब्दः किंचित् न जानाति**] शब्द कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**शब्दं अन्यं**] शब्द अन्य है [**जिनाः ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं ॥३९१॥ [**रूपं ज्ञानं न भवति**] रूप ज्ञान नहीं है [**यस्माद्रूपं न जानाति किंचित्**] क्योंकि रूप कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**रूपं अन्यत्**] रूप अन्य है [**जिनाः ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं ॥३९२॥ [**वर्णः ज्ञानं न भवति**] वर्ण ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**वर्णः किंचित् न जानाति**] वर्ण कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**वर्णं अन्यं**] वर्ण अन्य है [**जिनाः ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं ॥३९३॥ [**गंधः ज्ञानं न भवति**] गंध ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**गंधः किंचित् न जानाति**] गंध कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**गंधं अन्यं**] गंध अन्य है [**जिनाः ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं ॥३९४॥ [**रसः तु ज्ञानं न भवति**] रस ज्ञान नहीं है [**यस्मात् तु**] क्योंकि [**रसः किंचित् न जानाति**] रस कुछ जानता

गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना ब्रुवन्ति ॥३९४॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना ब्रुवन्ति ॥३९५॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना ब्रुवन्ति ॥३९६॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना ब्रुवन्ति ॥३९७॥
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना ब्रुवन्ति ॥३९८॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना ब्रुवन्ति ॥३९९॥
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना ब्रुवन्ति ॥४००॥

नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**रसं च अन्यं**] रस अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥३९५॥ [**स्पर्श: ज्ञानं न भवति**] स्पर्श ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**स्पर्श: किंचित् न जानाति**] स्पर्श कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**स्पर्शं अन्यत्**] स्पर्श अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥३९६॥ [**कर्म ज्ञानं न भवति**] कर्म ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म किंचित् न जानाति**] कर्म कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**कर्म अन्यत्**] कर्म अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥३९७॥ [**धर्म: ज्ञानं न भवति**] धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**धर्म: किंचित् न जानाति**] धर्म कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**धर्मं अन्यत्**] धर्म अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥३९८॥ [**अधर्म: ज्ञानं न भवति**] अधर्म (अर्थात् अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**अधर्म: किंचित् न जानाति**] अधर्म कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**अधर्मं अन्यं**] अधर्म अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥३९९॥ [**काल: ज्ञानं न भवति**] काल ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**काल: किंचित् न जानाति**] काल कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**कालं अन्यं**] काल अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥४००॥ [**आकाशम् अपि ज्ञानं न**] आकाश भी ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**आकाशं किंचित् न जानाति**] आकाश कुछ जानता नहीं है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानं अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**आकाशम् अन्यं**] आकाश अन्य है [**जिना: ब्रुवन्ति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥४०१॥

आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित्।
तस्मादाकाशमन्यमन्यज्ज्ञानं जिना ब्रुवन्ति॥४०१॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात्।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत्॥४०२॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम्॥४०३॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं च सूत्रमंगपूर्वगतम्।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः॥४०४॥

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः। न रसो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाधर्मयो-

---

[**अध्यवसानम् ज्ञानम् न**] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**अध्यवसानम् अचेतनं**] अध्यवसान अचेतन है, [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञानम् अन्यत्**] ज्ञान अन्य है, [**तथा अध्यवसानं अन्यत्**] तथा अध्यवसान अन्य है (ऐसा जिनदेव कहते हैं)॥४०२॥ [**यस्मात्**] क्योंकि [**नित्यं जानाति**] (जीव) निरन्तर जानता है [**तस्मात्**] इसलिए [**ज्ञायकः जीवः तु**] ज्ञायक ऐसा जीव [**ज्ञानी**] ज्ञानी (ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, [**ज्ञानं च**] और ज्ञान [**ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं**] ज्ञायक से अव्यतिरिक्त है ('अभिन्न' है, जुदा नहीं है) [**ज्ञातव्यम्**] ऐसा जानना चाहिए॥४०३॥

[**बुधाः**] बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानी जन) [**ज्ञानं**] ज्ञान को ही [**सम्यग्दृष्टिं तु**] सम्यग्दृष्टि, [**संयमं**] (ज्ञान को ही) संयम, [**अंगपूर्वगतम् सूत्रम् च**] अंगपूर्वगत सूत्र, [**धर्माधर्मं च**] और धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) [**तथा प्रव्रज्याम्**] तथा दीक्षा [**अभ्युपयांति**] मानते हैं॥४०४॥

टीका :– श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिये ज्ञान के और श्रुत के व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है। शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्य[1] की पर्याय है) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और शब्द के व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है। रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रूप के व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं)। वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और वर्ण के व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है) गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और गंध के व्यतिरेक (भेद, भिन्नता) है। रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और रस के व्यतिरेक है। स्पर्श ज्ञान नहीं है,

---

१. भाषा वर्गणा

व्यतिरेकः। न कालो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं, चेतनत्वात्; ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः। न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः। एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानघनस्वभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमवस्थितं द्रष्टव्यम्॥३९०-४०४॥

क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्य का गुण है) अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और स्पर्श के व्यतिरेक है। कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और कर्म के व्यतिरेक है। धर्म (धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और धर्म के व्यतिरेक है। अधर्म (अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और अधर्म के व्यतिरेक है। काल (कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है; इसलिए ज्ञान के काल के व्यतिरेक है। आकाश (आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और आकाश के व्यतिरेक है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिए ज्ञान के और (कर्मोदय की प्रवृत्तिरूप) अध्यवसान के व्यतिरेक है। इसप्रकार यों ज्ञान का समस्त परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चय से सिद्ध हुआ समझना – अनुभव करना चाहिए)।

अब, जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान के और जीव के अव्यतिरेक (अभेद) है। और ज्ञान का जीव के साथ व्यतिरेक किंचित्मात्र भी शंका करने योग्य नहीं है (अर्थात् ज्ञान की जीव से भिन्नता होगी ऐसी जरा भी शंका करने योग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीव से अभिन्न) होने से, ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चयचारित्र) है – इसप्रकार ज्ञान का जीवपर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना – अनुभव करना) चाहिए। अब, इसप्रकार सर्व परद्रव्यों के साथ व्यतिरेक के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अव्यतिरेक के द्वारा अतिव्याप्ति को और अव्याप्ति को दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप) पर समय को दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूप को प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभाव को प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थितिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, मोक्षमार्ग को अपने में ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव को प्राप्त किया है ऐसा, त्याग-ग्रहण से रहित, साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से अनुभव करना) चाहिए।

भावार्थ :– यहाँ ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बताया है, इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये। आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग में ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिए वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है और अपनी सर्व अवस्थाओं में है, इसलिए अव्याप्ति वाला नहीं है। – इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते। यहाँ ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षण से ही आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमें कितने ही तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं है। उन धर्मों के कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को कैसे पहिचान सकता है ? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमें से कितने ही तो – अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो – अन्य द्रव्यों के साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं, इसलिए उनके कहने से पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता और कितने ही (धर्म) परद्रव्य के निमित्त से हुये हैं उन्हें कहने से परमार्थभूत आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है ? इसलिए ज्ञान के कहने से ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहिचान सकता है। यहाँ ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है, इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षा में गुण-गुणी का अभेद होने से, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षा में चाहे ज्ञान कहो या आत्मा – कोई विरोध नहीं है; इसलिए यहाँ ज्ञान कहने से आत्मा ही समझना चाहिए। टीका के अन्त में यह कहा गया है कि जो, अपने में अनादि अज्ञान से होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमय को प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में अपने को परिणमित करके, जो सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव को प्राप्त हुआ है और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात्, समयसार स्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध पूर्ण ज्ञान को (पूर्ण आत्मद्रव्य को) देखना चाहिए। यहाँ 'देखना' तीन प्रकार से समझना चाहिए।

१. शुद्धनय का ज्ञान करके पूर्ण ज्ञान का श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकार का देखना है। वह अविरत आदि अवस्था में भी होता है। २. ज्ञान-श्रद्धान होने के बाद बाह्य सर्व परिग्रह का त्याग करके उसका (पूर्ण ज्ञान का) अभ्यास करना, उपयोग को ज्ञान में ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जाना – श्रद्धान किया था, वैसा ध्यान में लेकर चित्त को एकाग्र-स्थिर करना और पुनःपुनः उसी का अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकार का देखना है इसप्रकार का देखना अप्रमत्तदशा में होता है। जहाँ तक उस प्रकार के अभ्यास से केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखने का दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है। और ३. जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है सो यह तीसरे प्रकार का देखना है। उस स्थिति में ज्ञान सर्व विभावों से रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-दृष्टा है, इसलिए यह तीसरे प्रकार का देखना पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है॥३९०-४०४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्त-विभागमुक्त-सहजस्फार-प्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत् तथात्तमादेयमशेषतस्तत्।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥

अब इस अर्थ कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम्**] अन्य द्रव्यों से भिन्न, [**आत्म-नियतं**] अपने में ही नियत, [**पृथक्-वस्तुताम्-बिभ्रत्**] पृथक् वस्तुत्व को धारण करता हुआ (वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक होने से स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकता को धारण करता हुआ) [**आदान-उज्झन-शून्यम्**] ग्रहण त्याग से रहित, [**एतत् अमलं ज्ञानं**] यह अमल (रागादिक मल से रहित) ज्ञान [**तथा-अवस्थितम् यथा**] इसप्रकार अवस्थित (निश्चल) अनुभव में आता है कि जैसे [**मध्य-आदि-अंत-विभाग-मुक्त-सहज-स्फार-प्रभा भासुरः अस्य शुद्ध-ज्ञान-घनः महिमा**] आदि मध्य अन्तरूप विभागों से रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभा के द्वारा दैदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा [**नित्योदितः तिष्ठति**] नित्य-उदित रहे। (शुद्ध ज्ञान की पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे।)

भावार्थ :– ज्ञान का पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणों से सहित प्रगट होता है; इसलिए उसकी महिमा को कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है॥२३५॥

'ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का आत्मा में धारण करना सो यही ग्रहण करने योग्य सब कुछ ग्रहण किया और त्यागने योग्य सब कुछ त्याग किया है' – इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**संहृत-सर्व-शक्तेः पूर्णस्य आत्मनः**] जिसने सर्व शक्तियों को समेट लिया है (अपने में लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्मा का [**आत्मनि इह**] आत्मा में [**यत् सन्धारणम्**] धारण करना [**तत् उन्मोच्यम् अशेषतः उन्मुक्तम्**] वही छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ा है [**तथा**] और [**आदेयम् तत् अशेषतः आत्तम्**] ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है।

भावार्थ :– पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियों का समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मा में धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागने योग्य था उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है॥२३६॥

'ऐसे ज्ञान को देह ही नहीं है' – इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

(अनुष्टुभ्)

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ।।२३७।।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथेदानीं व्यावहारिक जीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टंकोत्कीर्णज्ञायकैकपारमार्थिकपदार्थसंज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रैः शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादि विकल्पोपाधिरहितं सदानन्दैक-लक्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति – ''न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्.........संधारणमात्मनीह ।।''[१] गद्यपद्यादिग्रन्थरचनारूपं **शास्त्रं**, श्रवणेन्द्रियविषयः **शब्दः**, रूपशब्देनाभिधेया वाच्या स्पर्शरसगन्धवर्णवती या मूर्तिः कृष्णनीलरक्तपीतश्वेतपंचभेदभिन्नो वर्णः, सुरभिदुरभिरूपो गन्धः। कटुकतिक्तकषायाम्लमधुरभेदभिन्नो **रसः**। शीतोष्ण-स्निग्धरूक्षगुरूलघुमृदुकठिनभेदभिन्नः **स्पर्श :**। ज्ञानावरणाद्यष्टमूलप्रकृतिभेदोऽष्टाधिकचत्वारिंशदधिकशतसंख्योत्तरप्रकृति-भेदभिन्नं **कर्म**। धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायकालाकाशसंज्ञानि ज्ञेयद्रव्याणि च। तान्येतानि सर्वाणि पूर्वोक्तानि शास्त्रादीनि ज्ञानं न संभवंति। कस्मात् ? अचेतनत्वात्। यस्मादचेतनानि तस्मात् ज्ञानमन्यत् एतान्यन्यानीति जिना वदन्ति जानन्ति ब्रुवन्ति कथयन्ति व शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानरूपेण रागादिविकल्परूपाण्यध्यवसानान्यपि ज्ञानं न भवन्ति। कस्मात्? अचेतनत्वात्। तस्मादन्यत्ज्ञानमध्यवसानं चान्यदिति जिना वदन्ति। तर्हि किं ज्ञानमिति चेत्? **जम्हा जाणदि णिच्चं**

श्लोकार्थ :– [एवं ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्] इसप्रकार (पूर्वोक्त रीति से) ज्ञान परद्रव्य से पृथक् अवस्थित (निश्चल रहा हुआ) है; **[तत् आहारकं कथम् स्यात् येन अस्य देहः शङ्क्यते]** वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्मनोकर्मरूप आहार करने वाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देह की शंका की जा सके ? (ज्ञान के देह हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसके कर्म-नोकर्मरूप आहार ही नहीं है।)।।२३७।।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब यहाँ जो व्यावहारिक जीवादि नवपदार्थों से भिन्न होने पर भी, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक पारमार्थिक पदार्थ नाम वाला है तथा गद्य-पद्य आदि विचित्र रचना रचित शास्त्रों से और शब्दादि पंचेन्द्रिय विषय प्रभृति परद्रव्यों से रहित होने पर भी, रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित सदा आनन्दमय एक लक्षण सुखामृत रसास्वाद से भरित अवस्था वाले परमात्मतत्त्व को प्रगट करते हैं –

''न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्.........संधारणमात्मनीह ।।''[१] गद्य-पद्य आदि ग्रन्थ रचना रूप शास्त्र, कर्णेन्द्रिय के विषय रूप शब्द; रूपशब्द के द्वारा वाच्य स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाली मूर्ति; काला-नीला-लाल-पीला-सफेद इन पाँच भेदवाला वर्ण; सुगन्ध तथा दुर्गन्ध रूप गन्ध; कड़ुवा, चरपरा, कषायला, खट्टा और मीठा भेदवाला रस; ठंडा, गरम, चिकना, रूखा, भारी, हल्का, कोमल तथा कठोर भेदवाला स्पर्श; ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों के भेदवाला कर्म; धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल तथा आकाश नामक ज्ञेय द्रव्य हैं। ये सभी पूर्वोक्त शास्त्र आदि ज्ञान नहीं हो सकते हैं। किस कारण से ? अचेतन होने के कारण से (ज्ञान नहीं हो सकते हैं) । चूंकि ये अचेतन हैं, इसलिए ज्ञान से भिन्न हैं। ये भिन्न हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं, जानते हैं।

---

१. यह तात्पर्यवृत्ति में उद्धृत आत्मख्याति टीका है, इस ग्रंथ में आत्मख्याति टीका अखण्डरूप में दी ही गई है, अतः उसे यहाँ पुनः नहीं दिया गया है।

यस्मात् जानाति ज्ञेयं वस्तु नित्यं सर्वकालम्। **तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी** तस्मात् जानातीति ज्ञायक: ज्ञानमस्यास्तीतिज्ञानी। कोऽसौ ? जीव:। **णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं** ज्ञानं पुन: ज्ञायकात् जीवात् संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन यद्यपि भिन्नं तथापि निश्चयेनाभिन्नमग्नेरुष्णगुणवदिति। किं चापवादव्याख्यानं – **अब्भुवंति** अभ्युपगच्छन्ति मन्यन्ते। किं ? कर्तार:। **बुहा** बुधा: पण्डिता:। किम् ? कर्मतापन्नम्। **णाणं** ज्ञानभेदेनात्मस्वरूपम्। किं किं ज्ञानं मन्यन्ते? **सम्मादिट्ठि** सम्यग्दृष्टिरभेदेनसम्यक्त्वं जीवगुणलक्षणम्। **संजमं** बहिरंगेन्द्रियप्राणसंयमबलेन शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावसंयमम्। **सुत्तमंगपुव्वगदं** अगंपूर्वविषये शुद्धात्मादिपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतम्। **धम्माधम्मं च तहा** भावपुण्यपापस्वरूपं च तथा। **पव्वज्जं** रागादीच्छानिरोधलक्षणं स्वरूपप्रतपनस्वभावम्। तपश्चरणं च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञानं मन्यते ? इति चेत्, मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तस्वकीय-स्वकीयगुणस्थानयोग्य शुभाशुभ-शुद्धोपयोगाविनाभूतविवक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति। तत: स्थितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्ध-द्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिकनवपदार्थेभ्यो भिन्नमादिमध्यांतमुक्तमेकमखंडप्रतिभासमयं निजनिरंजन-सहजशुद्धपरमसमयसाराभिधानं सर्वप्रकारोपादेयभूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यमिति। एवं व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तव: स्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशस्थले पंचदशगाथा गता:। किंच – मत्यादिसंज्ञानपंचकं पर्यायरूपं तिष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूप:। जीवपदार्थो

शुद्धनिश्चय नय से शुद्ध उपादान रूप से रागादि विकल्प रूप अध्यवसान भी ज्ञान नहीं है। किस कारण से (ज्ञान नहीं है) ? अचेतन होने के कारण (ज्ञान नहीं है)। इसलिए ज्ञान अन्य है और अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। तो फिर ज्ञान क्या है ? **जम्हा जाणदि णिच्चं** जो ज्ञेय वस्तु को सदाकाल जानता है वह ज्ञान है। **तम्हा जीवो दु जाणगो णाणी** जानता है इसलिए ज्ञायक है। ज्ञान जिसका है वह ज्ञानी है। ऐसा कौन है ? ऐसा जीव है। **णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेदव्वं** पुन: ज्ञान ज्ञायक जीव से संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के भेद से यद्यपि भिन्न है, तथापि निश्चय से अभिन्न है, जिस प्रकार अग्नि अपने उष्ण गुण से अभिन्न होती है।

इसके अतिरिक्त अपवाद व्याख्यान यह है। **अब्भुवन्ति** स्वीकारते हैं, मानते हैं। कौन कर्ता मानते हैं ? **बुह:** बुधजन पण्डित (मानते हैं)। क्या मानते हैं ? जो कर्मपने को प्राप्त हैं, **(णाणं)** वे ज्ञान के भेदरूप ज्ञान को आत्मस्वरूप मानते हैं। वे किस-किस को ज्ञान मानते हैं ? **सम्मादिट्ठी** सम्यग्दृष्टि अभेदनय से जीव गुण लक्षण स्वरूप सम्यक्त्व को (ज्ञान मानते हैं)। **(संजमं)** इन्द्रिय संयम तथा प्राणी संयम रूप बाह्यसंयम के बल से प्रगट शुद्धात्मानुभूति लक्षण वाले भावसंयम को (ज्ञान मानते हैं) **सुत्तमंगपुव्वगदं** अंगपूर्व ज्ञान के बल से प्रगट शुद्धात्मा आदि की परिच्छित्तिरूप भावश्रुत ज्ञान को (ज्ञान मानते हैं) **धम्माधम्मं च तहा** भावपुण्य पाप स्वरूप को तथा **पव्वज्जं** रागादि रूप इच्छा के निरोध लक्षण से युक्त, स्वरूप प्रतपन स्वभाव को, स्वरूपलीनता की भावनारूप प्रव्रज्या को (निश्चय से ज्ञान मानते हैं)। जो तपश्चरण है उन सबको किस नय से ज्ञान मानते हैं ?

मिथ्यादृष्टि आदि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त अपने अपने गुणस्थान योग्य शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभाव है, वह विवक्षित अशुद्ध निश्चय से अशुद्ध उपादानरूप से (उन सबको ज्ञान मानते हैं)। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध पारिणामिक परमभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिक नय से शुद्ध उपादानरूप से जीवादि व्यावहारिक नवपदार्थों से भिन्न, आदि मध्य तथा अन्त से रहित, एक अखण्ड प्रतिभासमय, निज

हि न च केवलं द्रव्यं, न च पर्याय:, किंतु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधारभूतो धर्मी। तत्रेदानीं – **केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते** – केवलज्ञानं तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति। अवधिमन:पर्ययज्ञानद्वयं च **'रूपिष्ववधे:। तदनंतभागे मन:पर्ययस्य'** इति वचनात् मूर्तविषयत्वादेव मूर्त: मोक्षकारणं न भवति। तत: सामर्थ्यादेव बहिर्विषयमतिज्ञान-श्रुतज्ञानसंज्ञं विकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षणं **निश्चयनिर्विकल्पभावरूपमानसमतिज्ञानश्रुत-ज्ञानसंज्ञं पंचेंद्रियाविषयत्वेनातीन्द्रियं** शुद्धपारिणामिकभावविषये तु या भावना तद्रूपं निर्विकारस्वसंवेदनशब्दवाच्यं संसारिणां क्षायिकज्ञानाभावात् **क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञानं मुक्तिकारणं भवति।** कस्मात् ? इति चेत्, समस्तमिथ्यात्वरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाल्हादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादैकाकारपरमसमरसी-भावपरिणामेन कार्यभूतस्यानंतज्ञानसुखादिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति। तथा चोक्तं (आत्मख्याति ग्रंथे) –

भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा: बद्धा ये किल केचन॥१३१॥ ॥३९०-४०४॥

निरंजन सहज शुद्ध, परम समयसार नामक, सर्वप्रकार से उपादेय स्वरूप, शुद्धज्ञान स्वभावी शुद्धात्मतत्त्व ही श्रद्धेय, ज्ञेय और ध्यान करने योग्य है। इस प्रकार व्यावहारिक नव पदार्थों में भूतार्थ नय से एक शुद्धजीव ही वास्तव में स्थित है। इसप्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारहवें स्थल में १५ गाथाएँ पूर्ण हुईं।

कुछ विशेष ऐसा है मति आदि पाँच सम्यग्ज्ञान पर्यायरूप हैं, किन्तु शुद्धपारिणामिक भाव द्रव्यरूप है। वास्तव में जीव पदार्थ न तो केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप है अपितु परस्पर सापेक्ष द्रव्यपर्याय रूप धर्म के आधाररूप धर्मी है। **वहाँ अब किस ज्ञान से मोक्ष होता है यह विचार किया जाता है। केवलज्ञान पर्याय रूप फल भविष्य में होगा। अवधिज्ञान तथा मन:पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान हैं और ''रूपिष्ववधे:, तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य'' इस आगम वचन से मूर्त पदार्थ को विषय करनेवाले हैं इसलिए मूर्त हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं।**

इसलिए सामर्थ्य से ही यह बात सिद्ध हुई कि बाह्य विषयक मतिज्ञान श्रुतज्ञान के विकल्प से रहितपने के द्वारा निज शुद्धात्मा के सन्मुख जानने के लक्षण वाले, निश्चय से निर्विकल्प भावरूप मानस मतिज्ञान श्रुतज्ञान नामवाले तथा पंचेन्द्रिय विषयों को विषय नहीं करने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान रूप शुद्ध पारिणामिक भाव के सम्बन्ध में जो भावना है उस रूप निर्विकार स्वानुभूति शब्द से वाच्य, संसारी जनों के क्षायिक ज्ञान का अभाव होने के कारण, क्षायोपशमिक होने पर भी विशिष्ट भेदज्ञान ही मुक्ति का कारण है। किस कारण से (मुक्ति) का कारण है? समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्पों की उपाधि रहित, निज शुद्धात्मभावना से उत्पन्न होने वाले परम आह्लाद रूप एक लक्षण के सुखामृत रस के आस्वादन से एकाकार परम समरसी भाव से कार्यभूत अनन्तज्ञानसुखादि रूप मोक्षफल के विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप कारणपने से (ज्ञान) मुक्ति का कारण है। ऐसा (आत्मख्याति श्लोक १३१ में) **कहा गया है।**

अर्थ – **''जो (भी) सिद्ध हुए हैं वे (सभी) भेद विज्ञान से सिद्ध हुए हैं, और जो कर्म से बंधे हुए हैं वे (सभी) भेदविज्ञान के अभाव में बंधे हुए हैं।''**॥३९०-४०४॥

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारगो हवदि एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पोग्गलमओ दु॥४०५॥
ण वि सक्कदि घेत्तुं जं ण वि मोत्तुं[1] जं च जं परद्दव्वं।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि॥४०६॥
तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा सो णेव गेण्हदे किंचि।
णेव विमुंचदि किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं॥४०७॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम्।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु॥४०५॥
नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम्।
स कोऽपि च तस्य गुणः प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि॥४०६॥
तस्मात्तु या विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित्।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः॥४०७॥

अब इस अर्थ को गाथाओं में कहते हैं :–

यों आत्मा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे॥४०५॥

जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है॥४०६॥

इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो! परद्रव्य जीव अजीव में॥४०७॥

गाथार्थ :– [**एवम्**] इसप्रकार [**यस्य आत्मा**] जिसका आत्मा [**अमूर्तः**] अमूर्तिक है [**सः खलु**] वह वास्तव में [**आहारकः न भवति**] आहारक नहीं है; [**आहारः खलु**] आहार तो [**मूर्तः**] मूर्तिक है [**यस्मात्**] क्योंकि [**सः तु पुद्गलमयः**] वह पुद्गलमय है ॥४०५॥ [**यत् परद्रव्यम्**] जो परद्रव्य है [**न अपि शक्यते ग्रहीतुं यत्**] वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; [**न विमोक्तुं यत् च**] और छोड़ा नहीं जा सकता [**सः कः अपि च**] ऐसा ही कोई [**तस्य**] उसका (आत्मा का) [**प्रायोगिकः वा अपि वैस्रसः गुणः**] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है ॥४०६॥ [**तस्मात् तु**] इसलिये [**यः विशुद्धः चेतयिता**] जो विशुद्ध आत्मा है [**सः**] वह [**जीवाजीवयोः**] जीव और अजीव द्रव्यों में (परद्रव्यों में) [**किंचित् न एव गृह्णाति**] कुछ भी ग्रहण नहीं करता [**किंचित् अपि न एव विमुञ्चति**] तथा कुछ भी त्याग नहीं करता ॥४०७॥

---

१. पाठान्तर = मुच्चदि चेव, मुच्चदे चेव, मुंचिदुं चेव

ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुंचति च, प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात्। परद्रव्यं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहार:। ततो ज्ञानं नाहारकं भवति। अतो ज्ञानस्य देहो न शङ्कनीय: ॥४०५-४०७॥

(अनुष्टुभ्)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥२३८॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अत: परमेवं सति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यतीत्युपदिशति – **अत्ता जस्स अमुत्तो** आत्मा यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेण मूर्तो न भवति **ण हु सो आहारगो हवदि एवं** स एवममूर्तत्वे सति हु स्फुटं तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणाहारको न भवति। **आहारो खलु मुत्तो** आहार:। कथंभूत:? खलु स्फुटं मूर्त:। **जम्हा सो पुग्गलमओ दु** यस्मात् स नोकर्माद्याहार: पुद्गलमय:। **सो कोवि य तस्स गुणो** स कोऽपि तस्य गुणोऽस्त्यात्मन:। कथं ? **पाउग्गिय विस्ससो वावि** प्रायोगिको वैस्रेसिकश्चेति। प्रायोगिक: कर्मसंयोगजनित:। वैस्रसिक: स्वभावज:। येन गुणेन किं करोति ? **ण वि सक्कदि घेत्तुं जे ण मुंचिदुं चेव जं परं दव्वं** परद्रव्यमाहारादिकं ग्रहीतुं मोक्तुं च न शक्नोति। अहो हे भगवन् ! कर्मजनितप्रायोगिकगुणेन आहारं गृह्णन्तस्ते च कथमनाहारका भवंति इति ? हे शिष्य! भद्रमुक्तं त्वया परं किंतु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारनय:। इदं तु निश्चयव्याख्यानमिति। **तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा** यस्मान्निश्चयनयेनानाहारक: तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चेतयितात्मा। **सो**

टीका :– ज्ञान परद्रव्य को किंचित् मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्त से उत्पन्न) गुण की सामर्थ्य से तथा वैस्रसिक (अर्थात् स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य का ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है। और (जो कर्म-नोकर्मादिरूप) परद्रव्य है, वह ज्ञान का – अमूर्तिक आत्मद्रव्य का – आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; (और अमूर्तिक के मूर्तिक आहार नहीं होता)। इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है। अत: ज्ञान के देह की शंका नहीं करनी चाहिए।

(यहाँ 'ज्ञान' से 'आत्मा' समझना चाहिए; क्योंकि, अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार किया जाता है। इस न्याय से टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को ज्ञान ही कहते आये हैं।)

भावार्थ :– ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है; इसलिए परमार्थतः आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है। और आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्य को कदापि ग्रहण नहीं करता; स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो। अपने ही परिणाम का ग्रहण-त्याग होता है, परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो किंचित्मात्र भी नहीं होता। इसप्रकार आत्मा के आहार न होने से उसके देह ही नहीं है॥४०५-४०७॥

जब कि आत्मा के देह है ही नहीं, इसलिये पुद्गलमय देहस्वरूप लिंग (वेष, बाह्य चिह्न) मोक्ष का कारण नहीं है – इस अर्थ का आगामी गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [एवं शुद्धस्य ज्ञानस्य देह: एव न विद्यते] इसप्रकार शुद्धज्ञान के देह ही नहीं है; **[तत: ज्ञातु: देहमयं लिंग मोक्षकारणम् न]** इसलिये ज्ञाता को देहमय चिह्न मोक्ष का कारण नहीं है ॥२३८॥

पासंडी-लिंगाणि व गिहि-लिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥४०८॥
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देह-णिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसण-णाण-चरित्ताणि सेवंति॥४०९॥

पाषण्डिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति॥४०८॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते॥४०९॥

णेव गिण्हदे किंचि णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-लेप्याहार-ओजाहार-मानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणां मध्ये सचित्ताचित्ताहारं नैव किंचिद् गृह्णाति न मुंचति। ततः कारणान्नोकर्माहारमयं शरीरं जीवस्वरूपं न भवति। शरीराभावे **शरीरमयं द्रव्यलिंगमपि जीवस्वरूपं न भवति** इति। एवं **निश्चयेन जीवस्याहारो नास्ति,** इति व्याख्यानमुख्यत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रयं गतम्॥४०५-४०७॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसके बाद ऐसा होने पर शुद्ध-बुद्ध एकस्वभावी परमात्म तत्त्व के देह ही नहीं है, तब उसके आहार कैसे होगा ? यह उपदेश देते हैं – **अत्ता जस्स अमुत्तो** जिस शुद्धनय के अभिप्राय से आत्मा मूर्तिक नहीं है। **ण हु सो आहारगो हवदि एवं** वह (आत्मा) इस प्रकार अमूर्तिक होने पर स्पष्टतः उस शुद्धनय के अभिप्राय से आहारक नहीं है। **आहारो खलु मुत्तो** आहार कैसा है ? स्पष्ट रूप से मूर्तिक है। **जम्हा सो पुग्गलमओ दु** क्योंकि वह नोकर्म आदि आहार पुद्‌गलमय है। **सो कोवि य तस्स गुणो** वह कोई उस आत्मा का गुण है। कैसा (गुण है) ? **पाउग्गिय विस्ससो वावि** प्रायोगिक और वैस्रसिक गुण है। प्रायोगिक गुण कर्म संयोग जनित है तथा वैस्रसिक स्वाभाविक गुण है। उस गुण से आत्मा क्या करता है ? **ण वि सक्कदि घेत्तुं जे ण मुंचिदुं चेव जं परं दव्वं** उससे आत्मा आहारादि परद्रव्य को ग्रहण नहीं कर सकता और छोड़ नहीं सकता है।

हे भगवन् ! कर्मजनित प्रायोगिक गुण से आहार को ग्रहण करते हुए वे (आत्मा) अनाहारक कैसे होते हैं ? हे शिष्य ! तुमने ठीक कहा है। परन्तु निश्चय से (आत्मा) तन्मय नहीं होता है, वह (तन्मय होना) व्यवहार नय से कहा है। किन्तु यह तो निश्चय का व्याख्यान है। **तम्हा दु जो विसुद्धो चेदा** जिस कारण से निश्चय नय से (आत्मा) अनाहारक है, उसी कारण से जो विशेष रूप से रागादि रहित चेतयिता आत्मा शुद्ध है। **सो णेव गिण्हदे किंचि णेव विमुंचदि किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं** कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार, तथा मानस आहार रूप जीव अजीव द्रव्यों में से सचित्त अचित्त आहार को (आत्मा) न तो किंचित् ग्रहण करता है और न ही छोड़ता है। इस कारण से नोकर्म आहारमय शरीर जीव का स्वरूप नहीं है। शरीर के अभाव में शरीरमय द्रव्यलिंग भी जीव का स्वरूप नहीं है। इसप्रकार निश्चय से जीव के आहार नहीं है, ऐसे व्याख्यान की मुख्यता से बारहवें स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं॥४०५-४०७॥

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते। तदनुपपन्नम्; सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां, शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात्, तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ॥४०८-४०९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैवं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमय देहो नास्ति। देहाभावे **देहमयं द्रव्यलिंगं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति** प्रतिपादयति – पाखंडिलिंगानि गृहस्थलिंगानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदंति मूढाः। किं वदंति ? इदं द्रव्यमयलिंगमेव मुक्तिकारणम्। कथंभूताः संतः? रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमसमाधिरूपं भावलिंगमजानंतः। **ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं** भावलिंगरहितं द्रव्यलिंगं केवलं मोक्षमार्गो न भवति। कस्मात्? इति चेत्, **जं** यस्मात्कारणात् **देहणिम्ममा अरिहा** अर्हन्तो भगवंतो देहनिर्ममाः संतः। किं कुर्वन्ति ? **लिंगं मुइत्तु** लिंगाधारं यच्छरीरं तस्य शरीरस्य यन्ममत्वं तन्मनोवचनकायैर्मुक्त्वा। पश्चात् **दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तानि सेवंते भावयन्तीत्यर्थः ॥४०८-४०९॥

अब इसी अर्थ को गाथाओं द्वारा कहते हैं :–

मुनिलिंग को अथवा गृहस्थीलिंग को बहुभाँति के।
ग्रहकर कहत है मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तिमार्ग है' ॥४०८॥

वह लिंग मुक्तिमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देह में।
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते ॥४०९॥

गाथार्थ :– [**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकार के [**पाषंडिलिंगानि वा**] मुनिलिंगों को [**गृहिलिंगानि वा**] अथवा गृहीलिंगों को [**गृहीत्वा**] ग्रहण करके [**मूढाः**] मूढ (अज्ञानी) जन [**वदंति**] यह कहते हैं कि [**इदं लिंगम्**] यह (बाह्य) लिंग [**मोक्षमार्गः इति**] मोक्षमार्ग है ॥४०८॥

[**तु**] परन्तु [**लिंगं**] लिंग [**मोक्षमार्गः न भवति**] मोक्षमार्ग नहीं है; [**यत्**] क्योंकि [**अर्हंतः**] अर्हन्तदेव [**देहनिर्ममाः**] देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए [**लिंगम् मुक्त्वा**] लिंग को छोड़कर [**दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं ॥४०९॥

टीका :– कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही ग्रहण करते हैं। यह (द्रव्यलिंग को मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान अर्हंतदेवों के, शुद्धज्ञानमयता होने से द्रव्यलिंग के आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होता है इसलिये, शरीराश्रित द्रव्यलिंग के त्याग से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की मोक्षमार्गरूप से उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में सेवन करते हुए देखे जाते हैं)।

भावार्थ :– यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्ष का कारण होता तो अर्हन्तदेव आदि देह का ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन क्यों करते ? द्रव्यलिंग से मोक्ष प्राप्त कर लेते ! इससे यह निश्चय हुआ कि देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है ॥४०८-४०९॥

अथैतदेव साधयति –

ण वि एस मोक्ख-मग्गो पासंडी-गिहि-मयाणि लिंगाणि।
दंसण-णाण-चरित्ताणि मोक्ख-मग्गं जिणा बेंति॥४१०॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना ब्रुवन्ति॥४१०॥

न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः, शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात्॥४१०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इस प्रकार विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी परमात्मा के नोकर्म आहार आदि के अभाव होने पर आहारमय देह नहीं है। देह का अभाव होने पर देहमय द्रव्यलिंग निश्चय से मुक्ति का कारण नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं –

पाखण्डी लिंग और गृहस्थ लिंग आदि बहुत प्रकार के (लिंग) ग्रहण कर अज्ञानी जीव कहते हैं। क्या कहते हैं ? यह द्रव्यमयलिंग ही मुक्ति का कारण है। किस प्रकार होते हुए (अज्ञानी ऐसा कहते हैं)? रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम समाधिरूप भावलिंग को जानने से (अज्ञानी ऐसा मानते हैं।) **ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं** भावलिंग रहित केवल द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है। किस कारण से (केवल द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है) ? **जं** जिस कारण से **देहणिम्ममा अरिहा** अरिहन्त भगवान देह से निर्ममत्व होते हैं। (अर्हन्त भगवान) क्या करते हैं ? **लिंगं मुइत्तु** लिंग के आधारभूत जो शरीर है, उस शरीर के ममत्व से मन-वचन-काय से मुक्त होते हैं, पश्चात् **दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** चिदानन्द रूप एक स्वभावी शुद्धात्मतत्त्व के विषय में जो श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र है उसका सेवन करते हैं, उसकी भावना करते हैं॥४०८-४०९॥

....

अब यही सिद्ध करते हैं (कि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है।) :–

मुनिलिंग अरु गृहिलिंग – ये नहिं लिंग मुक्तीमार्ग है।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान को बस मोक्षमार्ग प्रभू कहे॥४१०॥

गाथार्थ :– **[पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि]** मुनियों और गृहस्थ के लिंग (चिह्न) **[एषः]** यह **[मोक्षमार्गः न अपि]** मोक्षमार्ग नहीं है; **[दर्शनज्ञानचारित्राणि]** दर्शन-ज्ञान-चारित्र को **[जिनाः]** जिनदेव **[मोक्षमार्ग ब्रुवन्ति]** मोक्षमार्ग कहते हैं।

टीका :– द्रव्यलिंग वास्तव में मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) शरीराश्रित होने से परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य हैं।

भावार्थ :– जो मोक्ष है सो सर्व कर्मों के अभावरूप आत्मपरिणाम (आत्मा का परिणाम) है, इसलिये उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिए। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के परिणाम हैं; इसलिए निश्चय

यत् एवम् –

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

तस्मात् जहित्वा लिंगानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥४११॥

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्ग:, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव मोक्षमार्गत्वात्, आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥४११॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथैतदेव व्याख्यानं विशेषेण दृढयति – **ण वि एस मोक्खमग्गो** न चैष मोक्षमार्गः। एषः कः ? **पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिंगान्निरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखंडिगृहिमयानि द्रव्यलिंगानि। कथंभूतानि ? निर्ग्रन्थकोपीनग्रहणरूपाणि बहिरंगाकारचिन्हानि। तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत्, **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा वेंति** शुद्धबुद्धैकस्वभाव एव परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदंति कथयंति ॥४१०॥

से वही मोक्ष का मार्ग है। जो लिंग है सो देहमय है; जो देह है वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिए आत्मा के लिए देह मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थ से अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता – ऐसा नियम है ॥४१०॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इस ही कथन को विशेषरूप से दृढ़ करते हैं –

ण वि एस मोक्खमग्गो यह मोक्षमार्ग नहीं है। यह कौन (मोक्षमार्ग नहीं है) ? **पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्प समाधिरूप भावलिंग से निरपेक्ष या रहित जो पाखण्डी तथा गृहस्थ द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है। कैसा है द्रव्यलिंग ? निर्ग्रंथरूप लंगोटी ग्रहणरूप बहिरंग चिन्हरूप (लिंग मोक्षमार्ग नहीं है)। तो फिर मोक्षमार्ग कौन है ? **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा वेंति** शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव रूप ही परमात्मतत्त्व के श्रद्धान ज्ञान अनुभवरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवान कहते हैं ॥४१०॥

....

जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इसप्रकार (निम्नप्रकार) से करना चाहिए – यह उपदेश है :–

यों छोड़कर सागार या अनगार धारित लिंग को।
दृग-ज्ञान-चारित्र मोक्षपथ में जोड़ तू निज-आत्म को ॥४११॥

गाथार्थ :– [**तस्मात्**] इसलिये [**सागारैः**] सागारों द्वारा (गृहस्थों द्वारा) [**अनगारकैः वा**] अथवा अणगारों के द्वारा (मुनियों के द्वारा) [**गृहीतानि**] ग्रहण किये गये [**लिंगानि**] लिंगों को [**जहित्वा**] छोड़कर, [**दर्शनज्ञानचारित्रे**] दर्शन-ज्ञान-चारित्र में [**मोक्षपथे**] जो कि मोक्षमार्ग है उसमें [**आत्मानं युंक्ष्व**] तू आत्मा को लगा।

टीका :– क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, इसलिये समस्त द्रव्यलिंग का त्याग करके दर्शन-

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – यत एवं – **तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे** यस्मात्कारणात् पूर्वोक्त-प्रकारेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिनाः प्रतिपादयंति तस्मात्त्यक्त्वा। कानि ? निर्विकारस्वसंवेदनरूपभाव-लिंगरहितानि सागारानगारवर्गैः समूहैः गृहीतानि बहिरंगाकारद्रव्यलिंगानि। पश्चात् किं कुरु? **दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य ! आत्मानं योजय संबंधं कुरुष्व। क्व ? केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे॥४११॥

ज्ञान-चारित्र में ही, (वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र) मोक्षमार्ग होने से, आत्मा को लगाना योग्य है – ऐसी सूत्र की अनुमति है।

भावार्थ :– यहाँ द्रव्यलिंग को छोड़कर आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगाने का वचन है वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि-श्रावक के व्रतों के छुड़ाने का उपदेश है। परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाने का उपदेश दिया है कि वेश मात्र से (बाह्यव्रत मात्र से) मोक्ष नहीं होता। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्मा के परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वही है। व्यवहार आचारसूत्र के कथनानुसार जो मुनि-श्रावक के बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं; उन व्रतों को यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन व्रतों का भी ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से मोक्ष होता है, केवल वेशमात्र से – व्रतमात्र से मोक्ष नहीं होता॥४११॥

अब इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाली आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [आत्मनः तत्त्वम् दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रय-आत्मा] आत्मा का तत्त्व दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रयात्मक है (अर्थात् आत्मा का यथार्थरूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र के त्रिकस्वरूप है); **[मुमुक्षुणा मोक्षमार्गः एकः एव सदा सेव्यः]** इसलिये मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है॥२३९॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसलिए आचार्य देव कहते हैं– **तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे** इस कारण पूर्वोक्त प्रकार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तों ने प्रतिपादन किया है। इसलिए छोड़कर, किसको छोड़कर? निर्विकार स्वसंवेदन रूप भावलिंग से रहित सागार तथा अनगार समूह के ग्रहण किये गये बहिरंग आकार वाले द्रव्यलिंग को छोड़कर पश्चात् क्या करें ? **दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य ! पश्चात् आत्मा को जोड़ो, सम्बन्ध करो। कहाँ जोड़े ? केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय स्वरूप शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप अभेद रत्नत्रय लक्षणवाले मोक्षपथ में – मोक्षमार्ग में (आत्मा को) जोड़ो॥४११॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्ण-दव्वेसु॥४१२॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु॥४१२॥

आसंसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि, स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापयातिनिश्चलमात्मानं; तथा समस्तचिन्तांतरनिरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्यायस्व; तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञान-चारित्राण्येव चेतयस्व; तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षणविजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर; तथा ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः ॥४१२॥

अब इसी उपदेश को गाथा द्वारा कहते हैं :–

तू स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में॥४१२॥

गाथार्थ :– (हे भव्य !) [**मोक्षपथे**] तू मोक्षमार्ग में [**आत्मानं स्थापय**] अपने आत्मा को स्थापित कर, [**तं च एव ध्यायस्व**] उसी का ध्यान कर, [**तं चेतयस्व**] उसी को चेत –अनुभव कर [**तत्र एव नित्यं विहर**] और उसी में निरन्तर विहार कर; [**अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः**] अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।

टीका :– (हे भव्य !) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के (बुद्धि के) दोष से परद्रव्य में – राग-द्वेषादि में निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्र में निरन्तर स्थापित कर, तथा समस्त अन्य चिन्ता के निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग द्वारा शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही चेत – अनुभव कर; तथा द्रव्य के स्वभाव के वश से (अपने को) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा अर्थात् (परिणामीपने के द्वारा) तन्मय परिणामवाला (दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहार कर; तथा ज्ञानरूप एक को अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होने से उपाधिस्वरूप हैं ऐसे सर्व ओर से फैलते हुए समस्त परद्रव्यों में किंचित् मात्र भी विहार मत कर।

भावार्थ :– परमार्थरूप आत्मा के परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वही मोक्षमार्ग है। उसी में (दर्शन-ज्ञान-चारित्र में) आत्मा को स्थापित करना चाहिए, उसी का ध्यान करना चाहिए, उसी का अनुभव करना चाहिए और उसी में विहार (प्रवर्तन) करना चाहिए, अन्य द्रव्यों में प्रवर्तन नहीं करना चाहिये। यहाँ परमार्थ से यही उपदेश है कि निश्चय मोक्षमार्ग का सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहार में ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए॥४१२॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥२४०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युता:।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥२४१॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [दृग्-ज्ञप्ति-वृत्ति-आत्मक: य: एष: एक: नियत: मोक्षपथ:] दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है **[तत्र एव य: स्थितिम् एति]** उसी में जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है, अर्थात् स्थित रहता है **[तम् अनिशं ध्यायेत्]** उसी का निरन्तर ध्यान करता है **[तं चेतति]** उसी को चेतता है – उसी का अनुभव करता है, **[च द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् तस्मिन् एव निरन्तरं विहरति]** और अन्य द्रव्यों को स्पर्श न करता हुआ उसी में निरन्तर विहार करता है **[स: नित्य-उदयं समयस्य सारम् अचिरात् अवश्यं विन्दति]** वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समय के सार को (अर्थात् परमात्मा के रूप को) अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है।

भावार्थ :– निश्चय मोक्षमार्ग के सेवन से अल्प काल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह नियम है ॥२४०॥

'जो द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने समयसार को अर्थात् शुद्ध आत्मा को नहीं जाना' – इसप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं। यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [ये तु एनं परिहृत्य संवृति-पथ-प्रस्थापितेन आत्मना द्रव्यमये लिंगे ममतां वहन्ति] जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार मोक्षमार्ग में स्थापित अपने आत्मा के द्वारा द्रव्यमय लिंग में ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा,) **[ते तत्त्व-अवबोध: च्युता अद्य अपि समयस्य सारम् न पश्यन्ति]** वे पुरुष तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से रहित होते हुए अभी तक समय के सार को (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) नहीं देखते – अनुभव नहीं करते। वह समयसार शुद्धात्मा कैसा है ? **[नित्य -उद्योतम्]** नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतीपक्षी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता), **[अखण्डम्]** अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से खण्ड नहीं होते), **[एकम्]** एक है अर्थात् पर्यायों से अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्व को नहीं छोड़ता, **[अतुल-आलोकं]** अतुल (उपमा रहित) प्रकाशवाला है

पासंडी-लिंगेसु व गिहि-लिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहि ण णादं समयसारं॥४१३॥

पाषंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वंति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः॥४१३॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति– **मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि** हे भव्य ! आत्मानं स्थापय। क्व विषये ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे। **चेदयहि** तमेव मोक्षपथं चेतयस्व परमसमरसीभावेन अनुभवस्व **झायहि तं चेव** तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय। **तत्थेव विहर णिच्चं** तत्रैव विहर वर्तना परिणतिं कुरु। नित्यं सर्वकालं **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्पेषु मा विहार्षीः, मा गच्छ, मा परिणतिं कुर्विति॥४१२॥

(क्योंकि ज्ञानप्रकाश को सूर्यादि के प्रकाश की उपमा नहीं दी जा सकती), **[स्वभाव-प्रभा-प्राग्भारं]** स्वभाव प्रभा का पुंज है (अर्थात् चैतन्यप्रकाश का समूहरूप है), **[अमलं]** अमल है (रागादि-विकाररूपी मल से रहित है)॥२४१॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निश्चयरत्नत्रयस्वरूप शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला मोक्षमार्ग मोक्षार्थी जीव द्वारा सेवन योग्य है, ऐसा उपदेश देते हैं –

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि हे भव्य ! आत्मा को स्थापित करो। किसमें (स्थापित करो) ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभाववाले आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् आचरण रूप अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में (आत्मा को स्थापित करो) । **चेदयहि** उस ही मोक्षमार्ग का संचेतन करो। अर्थात् परमसमरसी भाव से अनुभव करो **झायहि तं चेव** और उसका ही ध्यान करो। अर्थात् निर्विकल्प समाधि में स्थिर होकर भावना करो। **तत्थेव विहर णिच्चं** वहाँ पर ही नित्य विहार करो। **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** सदा देखे, सुने, अनुभव किए भोगों की आकांक्षा रूप निदानबन्ध आदि परद्रव्य के आलम्बन से उत्पन्न शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों में विहार मत करो, विकल्पों में मत लगो, उनकी परणति मत करो॥४१२॥

....

(इसप्रकार, जो द्रव्यलिंग में ममत्व करते हैं उन्हें निश्चय-कारणसमयसार का अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसार की प्राप्ति कहाँ से होगी ? अब इस अर्थ की गाथा कहते हैं –)

बहुभाँति के मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो।
ममता करे, उनमें न जाना, वह 'समय के सार' को॥४१३॥

गाथार्थ :– **[ये]** जो **[बहुप्रकारेषु]** बहुत प्रकार के **[पाषंडिलिंगेषु वा]** मुनिलिंगों में **[गृहिलिंगेषु वा]** अथवा गृहस्थलिंगों में **[ममत्वं कुर्वंति]** ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही मोक्ष का दाता है), **[तैः समयसारः न ज्ञातः]** उन्होंने समयसार को नहीं जाना।

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वंति तेऽनादिरूढ-व्यवहारमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न पश्यंति ।।४१३।।

(वियोगिनी)

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम् ।।२४२।।

(स्वागता)

द्रव्यलिंगममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ।।२४३।।

टीका :– जो वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ' – इसप्रकार द्रव्यलिंग में ममत्वभाव के द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़ (अनादिकाल से समागत) व्यवहार में मूढ़ (मोही) होते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थसत्य (जो परमार्थ से सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसार को नहीं देखते – अनुभव नहीं करते।

भावार्थ :– अनादिकालीन परद्रव्य के संयोग से होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'कि बाह्य महाव्रतादिरूप वेश ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा'; परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चय को वे नहीं जानते। ऐसे पुरुष सत्यार्थ, परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसार को नहीं देखते।।४१३।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [व्यवहार-विमूढ़-दृष्टयः जनाः परमार्थं नो कलयन्ति] जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहार में ही मोहित है ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते, **[इह तुष-बोध-विमुग्ध-बुद्धयः तुषं कलयन्ति, न तण्डुलम्]** जैसे जगत में जिनकी बुद्धि तुष के ज्ञान में ही मोहित है (मोह को प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तंदुल (चावल) को नहीं जानते।

भावार्थ :– जो धान के छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हीं को कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलों को जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादि की क्रिया में ममत्व किया करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवरूप परमार्थ को जाना ही नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्मा के स्वरूप को जानते ही नहीं।।२४२।।

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [द्रव्यलिंग-ममकार-मीलितैः समयसारः एव न दृश्यते] जो द्रव्यलिंग में ममकार के द्वारा अंध – विवेक रहित हैं, वे समयसार को ही नहीं देखते; **[यत् इह द्रव्यलिंगम् किल अन्यतः]** कारण कि इस जगत में द्रव्यलिंग तो वास्तव में अन्य द्रव्य से होता है, **[इदम् ज्ञानम् एव हि एकम् स्वतः]** मात्र यह ज्ञान ही निज से (आत्मद्रव्य से) होता है।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण-इच्छदि[1] मोक्खपहे सव्व-लिंगाणि ॥४१४॥

व्यावहारिक: पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिङ्गानि ॥४१४॥

य: खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकार: स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थ:, तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्; यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसचेतनं परमार्थ:, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्। ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्धया चेतयंते, ते समयसारमेव न संचेतयंते; य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयंते, ते एव समयसारं चेतयंते ॥४१४॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिंगरहिता ये द्रव्यलिंगे ममतां कुर्वन्ति तेऽद्यापि समयसारं न जानंतीति प्रकाशयति – **पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं** वीतरागस्वसंवेदनज्ञानलक्षणभावलिंगरहितेषु निर्ग्रन्थरूपपाखंडिद्रव्यलिंगेषु कौपीनचिन्हादिगृहस्थद्रव्यलिंगेषु बहुप्रकारेषु ये ममतां कुर्वन्ति। **तेहिं ण णादं समयसारं** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनसमुत्पन्न शुभाशुभसंकल्पविकल्परहित: शून्य: चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसी भावपरिणामेन सालंबन: पूर्णकलशवद् भरितावस्थ: केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसार: स खलु तैर्न ज्ञात इति ॥४१३॥

भावार्थ :– जो द्रव्यलिंग में ममत्व के द्वारा अंध हैं उन्हें शुद्धात्मद्रव्य का अनुभव ही नहीं है, क्योंकि वे व्यवहार को ही परमार्थ मानते हैं इसलिए परद्रव्य को ही आत्मद्रव्य मानते हैं ॥२४३॥

....

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब सहजशुद्ध परमात्मा की अनुभूति रूप भावलिंग से रहित जो आत्मा द्रव्यलिंग में ममता करते हैं, वे आज भी समयसार नहीं जानते हैं ऐसा प्रगट करते हैं–

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप भावलिंग से रहित निर्ग्रन्थ रूप मुनि के द्रव्यलिंग रूप तथा लंगोटी चिन्हादिरूप बहुत प्रकार के गृहस्थ लिंगों में ममता करते हैं। **तेहिं ण णादं समयसारं** वे कारणसमयसार को नहीं जानते। कारणसमयसार कैसा है? तीनलोक, तीनकाल सम्बन्धी ख्याति, पूजा-लाभ, मिथ्यात्व, काम, क्रोधादि समस्त परद्रव्य के अवलम्बन से उत्पन्न शुभाशुभ संकल्प-विकल्प से रहित, चिदानन्द एक स्वभाव रूप शुद्धात्मतत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूप अभेद रत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न, वीतराग, सहज, अपूर्व परम आह्लाद रूप सुख रस के अनुभव परमसमरसी भाव परिणाम के आलम्बन से पूर्ण कलश के समान भरी हुई अवस्था वाले, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की व्यक्तिरूप साक्षात् उपादेय रूप कार्यसमयसार को उत्पन्न करनेवाला जो ऐसा निश्चय कारणसमयसार है वे उसे नहीं जानते हैं ॥४१३॥

---

१. पाठान्तर = णेच्छदि

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पै-र्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरस-विसर-पूर्णज्ञान-विस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥२४४॥

'व्यवहारनय ही मुनिलिंग को और श्रावकलिंग को – दोनों को मोक्षमार्ग कहता है, निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता'– यह गाथा द्वारा कहते हैं :–

व्यवहारनय, इन लिंग द्वय को मोक्ष के पथ में कहे।
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपंथ में ॥४१४॥

गाथार्थ :– [**व्यावहारिकः नयः पुनः**] व्यवहारनय [**द्वे लिंगे अपि**] दोनों लिंगों को [**मोक्षपथे भणति**] मोक्षमार्ग में कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहिलिंग को मोक्षमार्ग कहता है); [**निश्चयनयः**] निश्चयनय [**सर्वलिंगानि**] सभी लिंगों को [**मोक्षपथे न इच्छति**] मोक्षमार्ग में नहीं मानता।

टीका :– श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं – इसप्रकार का जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् इसप्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवनस्वरूप है इसलिए उसको परमार्थता का अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रान्त, दर्शन-ज्ञान में प्रवृत्त परिणति मात्र (मात्रदर्शन-ज्ञान में प्रवर्तित हुई परिणतिरूप) शुद्ध ज्ञान ही एक है – ऐसा जो निष्तुष (निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है, क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवनस्वरूप होने से उसी के परमार्थत्व है। इसलिए जो व्यवहार को ही परमार्थबुद्धि से (परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थबुद्धि से अनुभव करते, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

भावार्थ :– व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिये वही परमार्थ है। इसलिये, जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं वे समयसार का अनुभव नहीं करते; जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं वे ही समयसार का अनुभव करते हैं (इसलिये वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं) ॥४१४॥

'अधिक कथन से क्या ? एक परमार्थ का ही अनुभवन करो'– इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**अतिजल्पैः अनल्पैः दुर्विकल्पैः अलम् अलम्**] बहुत कथन से और बहुत दुर्विकल्पों से बस होओ, बस होओ; [**इह**] यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि [**अयम् परमार्थः एकः नित्यम् चेत्याम्**] इस एकमात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो; [**स्व-रस-विसर-पूर्ण-ज्ञान-**

(अनुष्टुभ्)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत्॥२४५॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथ निर्विकारशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणभावलिंगसहितं निर्ग्रन्थयतिलिंगं कौपीनकरणादिबहुभेद-सहितं गृहिलिंगं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते। निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिंगानि न मन्यत इत्याख्याति–

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे व्यावहारिकनयो द्वे लिंगे मोक्षपथे मन्यते। केन कृत्वा? निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणभावलिंगस्य बहिरंगसहकारिकारणत्वेनेति। **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे**

विस्फूर्ति-मात्रात् समयसारात् उत्तरं खलु किञ्चित् न अस्ति] क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार (परमात्मा) उससे उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है (समयसार के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)।

भावार्थ :– पूर्णज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिए; इसके अतिरिक्त वास्तव में दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है॥२४४॥

अब अन्तिम गाथा में यह समयसार, ग्रन्थ के अभ्यास इत्यादि का फल कहकर आचार्यभगवान इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है :–

श्लोकार्थ :– [आनन्दमयम् विज्ञानघनम् अध्यक्षताम् नयत्] आनन्दमय विज्ञानघन को (शुद्ध परमात्मा को, समयसार को) प्रत्यक्ष करता हुआ, **[इदम् एकम् अक्षयं जगत्-चक्षुः]** यह एक (अद्वितीय) अक्षय चक्षु (समयप्राभृत) **[पूर्णताम् याति]** पूर्णता को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूप से तथा ज्ञानरूप से – दोनों प्रकार से जगत को अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घट-पटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है, उसीप्रकार समयप्राभृत आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है॥२४५॥

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब निर्विकार शुद्धात्मानुभूति लक्षणरूप भावलिंग सहित निर्ग्रन्थ मुनिलिंग तथा लंगोटी उपकरण आदि बहुत भेद सहित गृहस्थ लिंग दोनों को भी मोक्षमार्ग में व्यवहार नय से माना जाता है किन्तु निश्चयनय सभी द्रव्यलिंगों को (मोक्षमार्ग) नहीं मानता है यह कहते हैं –

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे व्यवहार नय से दो लिंग मोक्षमार्ग में माने जाते हैं। किस कारण से (माने जाते हैं) ? निर्विकार स्वानुभूति लक्षणवाले भावलिंग के बहिरंग सहकारी कारण होने से (माने जाते हैं)। **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि** किन्तु निश्चयनय निर्विकल्प समाधिरूप, त्रिगुप्तिगुप्त बल से 'मैं निर्ग्रन्थ मुनि हूँ' मैं लंगोटी धारी (ऐलक) हूँ, इत्यादि मन में समस्त द्रव्यलिंग के विकल्पों को रागादि विकल्पों की तरह मोक्षमार्ग में नहीं चाहता है। किस कारण से (नहीं चाहता है)? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधि-स्वभावरूप होने के कारण (नहीं चाहता है)।

सव्वलिंगाणि निश्चयनयस्तु निर्विकल्पसमाधिरूपत्रिगुप्तिगुप्तबलेन अहं निर्ग्रन्थलिंगी, कौपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिंगविकल्पं रागादिविकल्पवन्नेच्छति। कस्मात् ? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्वभावत्वात् इति। किं च, अहो शिष्य! **पाखंडीलिंगाणि य** इत्यादि गाथासप्तकेन द्रव्यलिंगं निषिद्धमेवेति त्वं मा जानाहि किंतु निश्चयरत्नत्रयात्मक-निर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगरहितानां यतीनां संबोधनं कृतम्। कथम् ? इति चेत्, अहो तपोधना:! द्रव्यलिंगमात्रेण संतोषं मा कुरुत किंतु द्रव्यलिंगाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपभावनां कुरुत। ननु भवदीयकल्पनेयं द्रव्यलिंगनिषेधो न कृत इति अत्र ग्रंथे पुनर्लिखितमास्ते **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं इत्यादि।** नैवं, **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि** वचनेन भावलिंगरहितं द्रव्यलिंगं निषिद्धं, न च भावलिंगसहितं। कथं ? इति चेत्,

द्रव्यलिंगाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं। न च द्रव्यलिंगं निषिद्धं। केन रूपेण ? इति चेत्, पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसंगपरित्याग एव कृतो न च देहत्याग:। कस्मात् ? देहाधारेण ध्यानज्ञानानुष्ठानं भवति इति हेतो:। न च देहस्य पृथक्त्वं कर्तुमायाति शेषपरिग्रहवदिति **वीतरागध्यानकाले पुनर्मदीयो देहोऽहं लिंगीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्य:** । देहनिर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते ? इति चेत्, **जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** इत्यादि वचनेनेति। न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति। अभ्यंतरतुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव। अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति

इसका कुछ स्पष्टीकरण करते हैं – अहो शिष्य! **पाखंडीलिंगाणि य** 'पाखण्डी लिंगाणि' इत्यादि सात गाथाओं द्वारा द्रव्यलिंग सर्वथा निषिद्ध ही है, ऐसा तुम नहीं जानना। किन्तु निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि रूप भावलिंग रहित यतियों को सम्बोधन किया है। किस प्रकार (सम्बोधन किया है) ? कि हे तपोधनो ! द्रव्यलिंग मात्र से संतोष मत करो किन्तु द्रव्यलिंग के आधार से निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावना करो। यह आपकी कल्पना है कि द्रव्यलिंग का निषेध नहीं किया गया है, परन्तु यहाँ ग्रन्थ में पुन: लिखा है कि **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं** इत्यादि। ऐसा नहीं है **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगमित्यादि** इत्यादि वचन से **भावलिंग रहित द्रव्यलिंग का निषेध है परन्तु भावलिंग सहित द्रव्यलिंग का (निषेध) नहीं है।** कैसे निषिद्ध नहीं है? द्रव्यलिंग के आधारभूत देह के ममत्व का निषेध है, द्रव्यलिंग का निषेध नहीं है, किसप्रकार से ? पहले दीक्षा के काल में समस्त परिग्रह का त्याग ही किया था परन्तु देह का त्याग नहीं किया था। किस कारण से (देह का त्याग नहीं किया था) ? क्योंकि देह के आधार से ध्यान, ज्ञान का अनुष्ठान होता है और शेष परिग्रह की तरह देह को पृथक् नहीं किया जा सकता है। वीतराग ध्यान के काल में पुन: यह मेरा देह है, मैं लिंग (मुनि/ऐलक) हूँ इत्यादि विकल्प व्यवहार से भी नहीं करना चाहिए। देह का ममत्व छोड़ दिया गया है, यह कैसे जाना जाता है ?

जं देहणिम्ममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते इत्यादि वचन से जाना जाता है क्योंकि शालितन्दुल के बहिरंगतुष के विद्यमान होने पर अन्तरंग तुष का त्याग करने में नहीं आता है। अन्तरंगतुष के त्याग होने पर नियम से बहिरंगतुष का त्याग होता ही है। इस न्याय से समस्त परिग्रह के परित्याग रूप बहिरंग द्रव्यलिंग के होने पर भावलिंग हो अथवा न हो, नियम नहीं है; परन्तु अभ्यन्तर भावलिंग के होने पर समस्त परिग्रह के त्यागरूप द्रव्यलिंग होता ही है, (ऐसा नियम है)। हे भगवन् ! **(प्रश्न)** भावलिंग के होने पर बहिरंग द्रव्यलिंग होता है ऐसा नियम नहीं है ? क्योंकि **''साहारणासाहारणेत्यादि''** ऐसा वचन है।

भावलिंगं भवति, न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति। हे भगवन्! भावलिंगे सति बहिरंगे द्रव्यलिंगं भवतीति नियमो नास्ति, **साहारणासाहारणेत्यादि** वचनादिति। परिहारमाह– कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढ़स्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात् ? इति चेत्, **बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पांडवादिवत्।** येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता **भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि** निर्ग्रन्थरूपेणैव। परं किंतु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानंति स्तोककालत्वादिति भावार्थः। एवं भावलिंगरहितानां द्रव्यलिंगमात्रं मोक्षकारणं न भवति। भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यान-मुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकम् गतम्। अत्राह शिष्यः – केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति। कस्मात्? इति चेत्, **सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो** इति वचनात् इति ? नैवं, छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वं। तद्यथा – यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्व-रागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं। अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबंधि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः। अथ मतं सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्धं न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति। कस्मात् ? छद्मस्थानां ज्ञानं यद्यप्येकदेशेन निरावरणं तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति। अथाभिप्रायः पारिणामिकभावशुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते।

इसका निराकरण कहते हैं – कोई भी तपस्वी ध्यानस्थ है। उसके किसी ने दुष्टभाव से वस्त्र लपेट दिए अथवा आभूषणादि पहना दिए तो भी वह निर्ग्रन्थ ही है। किस कारण से (निर्ग्रन्थ) है ? बुद्धिपूर्वक ममत्व के अभाव से। पाण्डव आदि की तरह। भरतचक्रवर्ती आदि भी दो घड़ी में मोक्ष पधारे वे भी निर्ग्रन्थरूप से ही (मोक्ष पधारे) ! परन्तु उनके परिग्रह त्याग को थोड़ा काल होने से लोग नहीं जानते हैं ऐसा भावार्थ है। इस प्रकार भावलिंग रहित द्रव्यलिंग मात्र मोक्ष का कारण नहीं है। पुन: भावलिंग सहित (द्रव्यलिंग) सहकारी कारण होता है इस तरह व्याख्यान की मुख्यता से तेरहवें स्थल में सात गाथाएँ पूर्ण हुईं।

यहाँ शिष्य फिर पूछता है – केवलज्ञान शुद्ध है और छद्मस्थ का ज्ञान अशुद्ध है, वह (छद्मस्थ का अशुद्ध ज्ञान) केवलज्ञान का कारण नहीं है। किसलिए (कारण नहीं है) ? **सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो** इति अर्थात् शुद्ध को जानता हुआ जीव शुद्धात्मा को प्राप्त होता है ऐसा आगम का वचन है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि छद्मस्थ का ज्ञान कथंचित् शुद्ध तथा अशुद्ध है। वह इस प्रकार है – यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा शुद्ध नहीं है तथापि मिथ्यात्व रागादि से रहितपने के कारण वीतराग सम्यक्त्व चारित्र सहितपने के कारण शुद्ध है। अभेदनय से पुन: छद्मस्थों सम्बन्धी भेदज्ञान आत्मस्वरूप ही होता है, इसलिए एकदेश व्यक्तिरूप उस ज्ञान के द्वारा सर्वदेश व्यक्तिरूप केवलज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें दोष नहीं है। इस पर भी यदि आपका ऐसा अभिप्राय है कि (छद्मस्थ का ज्ञान) आवरण सहित अथवा क्षायोपशमिक होने से शुद्ध नहीं है, इसलिए मोक्ष भी नहीं है। किस कारण से (शुद्ध नहीं है) ? छद्मस्थों का ज्ञान यद्यपि एकदेश रूप से निरावरण है तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा नियम से आवरण सहित ही है, क्षायोपशमिक ही है और यदि आपका यह अभिप्राय है कि पारिणामिक भाव शुद्ध है, उससे मोक्ष होगा, वह भी घटित नहीं होता है। किस कारण (घटित नहीं होता है) ? केवलज्ञान पर्याय प्रगट होने के पहले से पारिणामिक भाव का शक्ति रूप से शुद्धपना है, परन्तु प्रगट रूप से शुद्धपना नहीं है। इसका विस्तार ऐसा है – जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व रूप से पारिणामिक भाव तीन प्रकार है। वहाँ प्रथम तो अभव्यत्व (पारिणामिक) भाव मुक्ति का

जो समयपाहुडमिणं पढिदूण अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाही[१] चेदा सो होही[२] उत्तमं सोक्खं।।४१५।।

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम्।।४१५।।

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य, विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपमात्मानं निश्चिन्वन्

कस्मात् ? इति चेत्, केवलज्ञानात्पूर्वम् पारिणामिकभावस्य शक्तिमात्रेण शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति। तथाहि – जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वरूपेण त्रिविधो हि पारिणामिकः। तत्र तावदभव्यत्वं मुक्तिकारणं न भवति। यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वयं तस्य द्वयस्य तु यदायं जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्वं। तच्च शुद्धत्वं औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य संबंधिमुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति। तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बंधमोक्षस्य कारणरहितत्वं पंचास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते – **''मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः। बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः।।१।।''** तत एव स्थितंनिर्विकल्प-शुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यं क्षायोपशमिकमपि **भाव-श्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवतीति।** शुद्धपारिणामिकभावः पुनरेकदेशव्यक्तिलक्षणायां कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्य-पर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति न च ध्यानपर्यायरूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति।।४१४।।

कारण नहीं है। पुनः जो जीवत्व तथा भव्यत्व दो भाव हैं, जब ये जीव दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय के लाभ होने से वीतराग सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इन तीनों रूप से परिणमित होता है तब शुद्धपना होता है और वह शुद्धपना मुख्यरूप से औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन तीनों भाव सम्बन्धी है तथा गौण रूप से पारिणामिक भाव का है। वहाँ भी शुद्धपारिणामिक भाव के बन्ध मोक्ष के कारण रहितपने से पंचास्तिकाय में कहा है –

''मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः।।''

श्लोकार्थ – ''उपशम, क्षयोपशम अथवा मिश्र तथा क्षायिकभाव मोक्ष को करते हैं, औदयिक भाव बन्ध को करता है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है। न बंध करता है और न मोक्ष करता है।''

इससे यह सिद्ध हुआ कि निर्विकल्प शुद्धात्म परिच्छित्ति (शुद्धात्मानुभव) रूप वीतराग सम्यक्त्व चारित्र का अविनाभावी अभेदनय से वह ही शुद्धात्म शब्द से वाच्य क्षायोपशमिक भाव होने पर भी भावश्रुतज्ञान मोक्ष का कारण है और एकदेश व्यक्ति लक्षणरूप कथंचित् भेद अभेद रूप, द्रव्यपर्यायात्मक, जीवपदार्थ की शुद्धभावनारूप अवस्था में शुद्धपारिणामिक भाव ध्येय भूत द्रव्यरूप से रहता है, परन्तु ध्यान पर्याय रूप से नहीं है। किस कारण से ध्यान पर्याय रूप नहीं है ? क्योंकि ध्यान विनाशीक है।।४१४।।

---

१. पाठान्तर = ठाहिदि, २. पाठान्तर = होहिदि, पावदि,

अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य, अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्दवाच्य-मुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति ॥४१५॥

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं, इसलिए उसकी महिमा के रूप में उसके अभ्यास इत्यादि का फल इस गाथा में कहते हैं :—

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्व से।
ठहरे अरथ में जीव जो वो, सौख्य उत्तम परिणमे ॥४१५॥

गाथार्थ :— [**यः चेतयिता**] जो आत्मा (भव्य जीव) [**इदं समयप्राभृतम् पठित्वा**] इस समयप्राभृत को पढ़कर, [**अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा**] अर्थ और तत्त्व से जानकर, [**अर्थे स्थास्यति**] उसके अर्थ में स्थित होगा, [**सः**] वह [**उत्तमं सौख्यम् भविष्यति**] उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

टीका :— समयसारभूत भगवान परमात्मा को — जो कि विश्व का प्रकाशक होने से विश्व-समय है उसका प्रतिपादन करता है, इसलिये जो स्वयं शब्दब्रह्म के समान है ऐसे इस शास्त्र को जो आत्मा भलीभांति पढ़कर, विश्व को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्मा का निश्चय करता हुआ (इस शास्त्र को) अर्थ से और तत्त्व से जानकर, उसी के अर्थभूत भगवान एक पूर्ण विज्ञानघन परमब्रह्म में सर्व उद्यम से स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाले एक चैतन्यरस से परिपूर्ण स्वभाव में सुस्थित और निराकुल (आकुलता बिना का) होने से जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्द से वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता-लक्षणयुक्त है ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जायेगा।

भावार्थ :— इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय का अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा। उसका कहनेवाला यह शास्त्र है। और आत्मा तो समस्त पदार्थों का प्रकाशक है। ऐसे विश्वप्रकाशक आत्मा को कहता हुआ होने से यह समयप्राभृत शब्दब्रह्म के समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थों का कहनेवाला होता है उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांग शास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृत शास्त्र को भी शब्दब्रह्म की उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृत शास्त्र) परब्रह्म को (अर्थात् शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्र को पढ़कर उसके यथार्थ अर्थ में स्थित होगा, वह परब्रह्म को प्राप्त करेगा; और उससे जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है ऐसे उत्तम, स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुख को प्राप्त करेगा। इसलिये हे भव्यजीवो ! तुम अपने कल्याण के लिये इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसी का स्मरण और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है॥४१५॥

अब इस सर्वविशुद्धज्ञान के अधिकार की पूर्णता का कलशरूप श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम्।।२४६।।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽङ्कः।

श्लोकार्थ :– [इति इदम् आत्मनः तत्त्वं ज्ञानमात्रम् अवस्थितम्] इसप्रकार यह आत्मा का तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूतस्वरूप) ज्ञानमात्र निश्चित हुआ **[अखण्डम्]** कि जो (आत्मा का) ज्ञानमात्र तत्त्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों से और प्रतिपक्षी कर्मों से यद्यपि खण्ड-खण्ड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्र में खण्ड नहीं है), **[एकम्]** एक है (अर्थात् अखण्ड होने से एकरूप है), **[अचलं]** अचल है (अर्थात् ज्ञानरूप से चलित नहीं होता – ज्ञेयरूप नहीं होता), **[स्वसंवेद्यम्]** स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपने से ही ज्ञात होने योग्य है), **[अबाधितम्]** और अबाधित है। (अर्थात् किसी मिथ्यायुक्ति से बाधा नहीं पाता।)

भावार्थ :– यहाँ आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है इसका कारण यह है कि आत्मा में अनन्त धर्म हैं; किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिये वे अतिव्याप्तियुक्त हैं, उनसे आत्मा को पहिचाना नहीं जा सकता; और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित हैं – किसी अवस्था में होते हैं और किसी अवस्था में नहीं होते, इसलिए वे अव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा नहीं पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्मा का (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है, तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञान में भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिये उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिये यहाँ इस ज्ञान को ही प्रधान करके आत्मा का तत्त्व कहा है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है इसलिये इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मा में नहीं हैं' – ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करने से तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों का और वेदान्तियों का मत आ जाता है; इसलिये ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय से कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्मा का – ज्ञानमात्र का – ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायों के कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये, किन्तु मोक्ष का साधन तो नहीं होता। इसलिये स्याद्वाद से यथार्थ समझना चाहिए।।२४६।।

(सवैया)

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्य-भाव को,
मूरतअमूरत जे आन-द्रव्य लोकमाँहिं ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभाव को;
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूँ भजै सदीव ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगाव को,
कर्म कर्मफलरूप चेतना कूँ दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्धभाव को।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में सर्वविशुद्धज्ञान का प्ररूपक नवमाँ अंक समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति टीका – अथेदं शुद्धात्मतत्त्वं निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुखं प्राप्नोतीत्युपदिशति, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः समयसारग्रंथसमाप्तिं कुर्वन्तः फलं दर्शयन्ति। तद्यथा – **'जो समयपाहुणमिणं पडिदूण य'** यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पूर्वं पठित्वा न केवलं पठित्वा **अत्थतच्चदो णादुं** ज्ञात्वा च। कस्मात् ? ग्रंथार्थतः, न केवलं ग्रन्थार्थतः ? तत्त्वतो भावपूर्वेण **अत्थे ठाहिदि** पश्चादुपादेयरूपे शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति। **चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं** स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते। किं लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपं –

(स्रग्धरा)

''आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालम्,
वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वंद्व भावम्।
अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपमममितं शाश्वतं सर्वकालम्,
उत्कृष्टानंतसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्।'' इति

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – अब इस शुद्धात्मतत्त्व को निर्विकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से भावना करता हुआ आत्मा परम अक्षय सुख को प्राप्त करता है ऐसा उपदेश है, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार ग्रन्थ को समाप्त करते हुए फल को दिखाते हैं। वह इसप्रकार है –

जो समयपाहुणमिणं पडिदूण य जो जीव इस समयप्राभृत नामक शास्त्र को पहले तो पढ़कर, न केवल पढ़कर अपितु **अत्थतच्चदो णादुं** जानकर, किससे (जानकर) ? ग्रन्थ से जानकर, न केवल ग्रन्थ से अपितु ग्रन्थ के अर्थ से, तत्त्वत: भावरूप से **अत्थे ठाहिदि** पश्चात् उपादेय रूप शुद्धात्मरूप अर्थ में निर्विकल्प समाधि रूप से स्थापित करता है। **चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं** वह आत्मा भविष्यकाल में प्राप्त करता है। क्या (प्राप्त करता है) ? वीतराग सहज अपूर्व परम आह्लादरूप आत्मा को पाता है। जैसा कि सिद्ध भक्ति के निम्न पद्य में कहा है–

श्लोकार्थ – ''वह सिद्ध आत्मा परमसुख को प्राप्त करता है। वह परमसुख अपने आत्मा से ही उत्पन्न होता है, स्वयं अतिशय सहित है, सब बाधाओं से रहित है, विशाल है अर्थात् उससे अच्छा सुख दूसरा कोई नहीं है, हानि वृद्धि से रहित है, विषयों की वासना से रहित है, प्रतिद्वन्द्वता के भाव से रहित है, अन्य द्रव्यों की अपेक्षा रखनेवाला नहीं है, (स्वतन्त्र है), अनुपम है, अनन्त है, शाश्वत है, सर्वकाल रहनेवाला है, उत्कृष्ट है, अनन्तसार वाला है।

अब यहाँ शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! आपने निरन्तर अतीन्द्रिय सुख की बात कही लेकिन लोग उसको नहीं जानते हैं ? आचार्य भगवान कहते हैं - कोई भी देवदत्त (नामक पुरुष) स्त्री-सेवन आदि पंचेन्द्रिय के विषयसुख के व्यापार से रहित अवस्था में निराकुल चित्त से बैठा है। उससे किसी ने पूछा कि हे देवदत्त, आप सुख से तो हो? तब उसने कहा सुख से हूँ। तो यह सुख अतीन्द्रिय सुख है। किस कारण से (अतीन्द्रिय है) ? क्योंकि सांसारिक सुख विषयों के सेवन से पैदा होता है और यहाँ पंचेन्द्रिय के विषयों के व्यापार का अभाव होने पर भी जो सुख दिखाई देता है, वह सामान्य से अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। पुन: जो पाँच इन्द्रिय एवं मनोजनित समस्त विकल्प समूह से रहित समाधि में स्थित परमयोगियों के विशेष रूप

अत्राह शिष्यः – हे भगवन् ! अतीन्द्रियसुखं निरंतरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते ? भगवानाह-कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपंचेन्द्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्टः भो देवदत्तः! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति ? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतींद्रियं। कस्मात् ? इति चेत्, सांसारिकसुखं पंचेन्द्रियप्रभवं। यत्पुनरतीन्द्रियसुखं तत्पंचेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत् इदं तावत्सामान्येनातींद्रियसुखमुपलभ्यते। यत्पुनः पंचेन्द्रिय-मनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतींद्रियसुखं तद्विशेषेणेति। यच्च मुक्तात्मनाम-तीन्द्रियसुखं तदनुमानगम्यमागमगम्यं च। तथाहि – मुक्तानामिन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतीन्द्रियसुखमस्तीति **पक्षः**। कस्मात् ? इति चेत्, इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनींद्राणां स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति **हेतुः**। एवं पक्षहेतुरूपेण द्वयंगमनुमानं ज्ञातव्यम्।

आगमे तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादि वचनेन। अतः कारणात् अतींद्रियसुखे संदेहो न कर्तव्य इति। उक्तं च –

यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम्। निर्विशंति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्॥१॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम्। भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकम्॥२॥
अनंतगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्। एकस्मिन् समये भुंक्ते तत्सुखं परमेश्वरः॥३॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण **विष्णुकर्तृत्व**निराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकम्। तदनंतरमन्यः करोति अन्यो भुंक्ते-इति **बौद्धमतैकांत**निराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयम्। ततः परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति **सांख्यमत**-निराकरणरूपेण सूत्रपंचकम्। ततः परं कर्मैव सुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि **सांख्यमतैकांत**निराकरणमुख्यत्वेन

से स्वसंवेदनगम्य अतीन्द्रिय सुख है और जो मुक्त आत्मा का अतीन्द्रिय सुख है, वह अनुमानगम्य तथा आगमगम्य है। उसका खुलासा ऐसा है – मुक्त जीवों के इन्द्रियों के विषयों में व्यापार का अभाव होने पर भी अतीन्द्रिय सुख है यह **पक्ष** है। किस कारण से यह पक्ष है ? क्योंकि इस समय (वर्तमान में) उनके (मुक्त जीवों के द्वारा) विषयों के व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि में मग्न परम मुनीन्द्रों के स्वसंवेदन रूप आत्मसुख की उपलब्धि है यह **हेतु** है। इस प्रकार पक्ष और हेतु दोनों अनुमान के अंग है ऐसा जानना चाहिए। आगम में तो (सिद्धभक्ति के ७ वें श्लोक में) यह बात प्रसिद्ध है कि ''आत्मोपादान सिद्धं'' इत्यादि वचन है। इसलिए अतीन्द्रिय सुख में सन्देह नहीं करना चाहिए। कहा भी है कि –

श्लोकार्थ – ''जो देव तथा मनुष्य हैं वे सभी निरर्गल रूप से अपनी इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाला इन्द्रिय जन्य तथा ऋद्धि आदि से प्राप्त सुख को भोग रहे हैं और पहले भूतकाल में देव और मनुष्यों ने जो महर्द्धिक सुख भोगा है तथा ऋद्धि आदि से प्राप्त सुख को भोग रहे हैं, आगे भविष्यत् काल में होने वाले देव और मनुष्य इन्द्रिय जन्य स्वादिष्ट और मनोरंजक सुख को भोगेंगे, उस समस्त सुख से भी अनन्तगुणा अपने स्वभाव से उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख परमेश्वर सिद्धभगवान एक समय में भोगते हैं।''

इसतरह पूर्वोक्त प्रकार से विष्णु के कर्तृत्व के निराकरण की मुख्यता से ७ गाथाएँ हैं। तदनन्तर अन्य कर्ता है अन्य भोगता है इसप्रकार के एकान्त बौद्धमत के निराकरण की मुख्यता से ४ गाथाएँ हैं। इसके आगे परमात्मा रागादि भावकर्म का कर्ता नहीं है, इस सांख्यमत के निराकरण रूप ५ गाथाएँ हैं। इसके आगे कर्म ही सुखी आदि करता है, आत्मा कुछ नहीं करता है ऐसे एकान्त रूप सांख्यमत के निराकरण की मुख्यता से १३ गाथाएँ हैं। इसके आगे चित्तस्थ राग का घात करने के कर्त्तव्य को न जानने वाला ''बहिरंग शब्दादि विषयों

गाथात्रयोदशकम्। तदनंतरं चित्तस्थरागस्य घातः कर्तव्य इत्यजानन्बहिरंगशब्दादिविषयाणां घातं करोमीति योऽसौ चिंतयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकम्। तदनंतरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकम्। ततः परं **ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति** कथनरूपेण सूत्रदशकम्।

तदनंतरं शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयम्। तदनंतरं पंचेंद्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकम्।

तदनंतरं कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपणमुख्यत्वेन गाथात्रयम्। ततः परं शास्त्रेंद्रियविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादनरूपेण गाथापंचदशकम्। ततः परं शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिकं निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयम्। तदनंतरं शुद्धात्मभावनारूपं भावलिंगनिरपेक्षं द्रव्यलिंग मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथा सप्तकम्। तदनंतरं सुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्॥४१५॥

इति **श्रीजयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** समुदायेन षडधिकनवति-गाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः समयसारचूलिकाभिधानो **सर्वविशुद्धज्ञाननामा** दशमोऽधिकारः **समाप्तः** ॥१०॥

का घात मैं करता हूँ'' ऐसा जो चिन्तन करता है, उसे समझाने के लिए ७ गाथाएँ हैं। इसके बाद व्यवहार नय से द्रव्यकर्म करता है, निश्चयनय से भावकर्म करता है, इस कथन की मुख्यता से ७ गाथाएँ हैं। इसके आगे ज्ञान ज्ञेयरूप से परिणमन नहीं करता है – ऐसा कथन करनेवाली १० गाथाएँ हैं। उसके बाद शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना तथा निश्चय चारित्र की मुख्यता से ४ गाथाएँ हैं। उसके बाद पाँच इन्द्रिय और मन के विषय निरोध के कथनरूप १० गाथाएँ हैं। इसके आगे कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना के विनाश के निरूपण की मुख्यता से ३ गाथाएँ हैं। उसके बाद शास्त्र और इन्द्रिय आदि ज्ञान नहीं हैं, इसका कथन करनेवाली १५ गाथाएँ हैं। उसके बाद शुद्धात्मा कर्म-नोकर्म आदि को निश्चय से ग्रहण नहीं करता है, इस कथन की मुख्यता से ३ गाथाएँ हैं। उसके पश्चात् शुद्धात्मभावनारूप भावलिंग से निरपेक्ष द्रव्यलिंग मुक्ति का कारण नहीं है, ऐसे कथन की मुख्यता से ७ गाथाएँ हैं। उसके बाद सुखरूप फल दिखाने की मुख्यता से एक गाथा है॥४१५॥

इसप्रकार श्री जयसेनाचार्यकृत शुद्धात्मानुभूतिलक्षणवाली तात्पर्यवृत्ति नामक समयसार की व्याख्या में समुदायरूप से ९६ गाथाओं का १३ अधिकारों द्वारा समयसार चूलिका नामक सर्वविशुद्धज्ञान नामक दशवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

जिन्ह के मिथ्यामति नहीं, ग्यान कला घट माहिं।
परचै आतमराम सौं, ते अपराधी नाहिं॥

समयसार नाटक, पृष्ठ २३०, छन्द ३०

सुद्धातम अनुभव क्रिया, सुद्ध ज्ञान द्रिग दौर।
मुकति पंथ साधन यहै, वागजाल सब और॥

समयसार नाटक, पृष्ठ ३०५, छन्द १२६

परिशिष्टम्

१०
स्याद्वाद-अधिकार

(अनुष्टुभ्)

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते ॥२४७॥

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि

(यहाँ तक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य की ४१५ गाथाओं का विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने किया है और उस विवेचन में कलशरूप तथा सूचनिकारूप से २४६ काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि इस शास्त्र में ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं, इसलिये कोई तर्क करे कि 'जैनमत तो स्याद्वाद है; तब क्या आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं हो जाता? अर्थात् स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता ? और एक ही ज्ञान में उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व – दोनों कैसे घटित होते हैं ?' ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए टीकाकार आचार्यदेव यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के अन्त में परिशिष्ट रूप से कुछ कहते हैं। उसमें प्रथम श्लोक इसप्रकार है :–

श्लोकार्थ :– [**अत्र**] यहाँ [**स्याद्वाद-शुद्धि-अर्थं**] स्याद्वाद की शुद्धि के लिये [**वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिः**] वस्तुतत्त्व की व्यवस्था [**च**] और [**उपाय-उपेय-भावः**] (एक ही ज्ञान में उपाय-उपेयत्त्व कैसे घटित होता है यह बतलाने के लिये) उपाय-उपेयभाव का [**मनाक् भूयः अपि**] जरा फिर से भी [**चिन्त्यते**] विचार करते हैं।

भावार्थ :– वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक अनेक-धर्मस्वरूप होने से वह स्याद्वाद से ही सिद्ध किया जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धता (प्रामाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्मलता, अद्वितीयता) सिद्ध करने के लिये इस परिशिष्ट में वस्तुस्वरूप का विचार किया जाता है। (इसमें यह भी बताया जायेगा कि इस शास्त्र में आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है फिर भी स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।) और दूसरे, एक ही ज्ञान में साधकत्व तथा साध्यत्व कैसे बन सकता है यह समझाने के लिये ज्ञान का उपाय-उपेयभाव अर्थात् साधक-साध्यभाव भी इस परिशिष्ट में विचार किया जावेगा ॥२४७॥

(अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूप के विचार द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं :–)

न तत्परिकोप:, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुन: स्वयमेवानेकांतत्वात्। तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांत:। तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनंतज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात्, परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव। ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुन: स्वयमेवानेकांत प्रकाशते, तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेना-

---

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करनेवाला, अर्हत् सर्वज्ञ का एक अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) 'सर्व अनेकान्तात्मक है' इसप्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तुएँ अनेकान्त-स्वभाववाली हैं। ('सर्व वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं' इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता, परन्तु जैसा वस्तु का अनेकान्त स्वभाव है वैसा ही कहता है।)

यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञानमात्रता से उपदेश करने पर भी स्याद्वाद का कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ (अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि) जो (वस्तु) तत् है वही अतत् है, जो (वस्तु) एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है – इसप्रकार **''एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।''** इसलिये अपनी आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्त्व-असत्त्व और नित्यत्व-अनित्यत्व प्रकाशित ही है; क्योंकि उसके (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) अन्तरंग में चकचकित (प्रकाशते) ज्ञानस्वरूप के द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते अनन्त ज्ञेयत्व को प्राप्त, स्वरूप से भिन्न ऐसे पररूप के द्वारा (ज्ञानस्वरूप से भिन्न ऐसे परद्रव्य के रूप द्वारा) अतत्पना है (अर्थात् ज्ञान उस रूप नहीं है); सहभूत (साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशों के समुदायरूप अविभाग द्रव्य के द्वारा एकत्व है और अविभाग एक द्रव्य में व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशरूप (चैतन्य के अनन्त अंशों रूप) पर्यायों के द्वारा अनेकत्व है; अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपने के द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होने से) सत्त्व है और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होने की शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपने के द्वारा असत्त्व है; अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप से परिणतपने के द्वारा नित्यत्व है और क्रमशः प्रवर्तमान, एक समय की मर्यादावाले अनेक वृत्ति-अंशोंरूप से परिणतपने के द्वारा अनित्यत्व है। (इसप्रकार ज्ञानमात्र आत्मवस्तु को भी, तत्-अतत्पना इत्यादि दो-दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती हैं, इसलिये अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है।)

(प्रश्न) :– यदि आत्मवस्तु को, ज्ञानमात्रता होने पर भी, स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है, तब फिर अर्हन्त भगवान उसके साधन के रूप में अनेकान्त का (स्याद्वाद का) उपदेश क्यों देते हैं ?

ऽनुशास्यतेऽनेकांत: ? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूम:। न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति। तथाहि – इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरे विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव।

तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भाव: शेषभावै: सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसंबंधतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति।१। यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति, तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।२। यदानेकज्ञेयाकारै: खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति, तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।३। यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।४। यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य

(उत्तर) :– अज्ञानियों के ज्ञानमात्र आत्मवस्तु की प्रसिद्धि करने के लिये उपदेश देते हैं, ऐसा हम कहते हैं। वास्तव में अनेकान्त (स्याद्वाद) के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती। इसी को इसप्रकार समझाते हैं :–

स्वभाव से ही बहुत भावों से भरे हुए इस विश्व में सर्व भावों का स्वभाव से अद्वैत होने पर भी, द्वैत का निषेध करना अशक्य होने से समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति के द्वारा दोनों भावों से अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूप में प्रवर्तमान होने से और पररूप से भिन्न रहने से प्रत्येक वस्तु में दोनों भाव रह रहे हैं)। वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र भाव (आत्मा) शेष (बाकी के) भावों के साथ निजरस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध के कारण और अनादिकाल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञानतत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब (उसे ज्ञानमात्र भाव का) स्वरूप से (ज्ञानरूप से) तत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप से ही है ऐसा प्रगट करके), ज्ञातारूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही (स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है – नाश नहीं होने देता॥१॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' इसप्रकार अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से (ज्ञानरूप से) मानकर – अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (सर्व जगत को निजरूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत् से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है यह प्रगट करके) विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (ज्ञानमात्र भाव का) नाश नहीं करने देता॥२॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा (ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना सकल, (अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान-आकार खण्डित (खण्ड-खण्डरूप) हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है – नष्ट नहीं होने देता॥३॥

नाशमुपैति, तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।५। यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।६। यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।७। यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति, तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।८। यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।९। यदा त्वार्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति,

और जब वह ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।।४।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आनेवाले ऐसे परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्यरूप से मानकर – अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब, (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वद्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है – नष्ट नहीं होने देता।।५।।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ (अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)' इसप्रकार परद्रव्य को ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर – अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (अर्थात् आत्मा परद्रव्यरूप से नहीं है, इसप्रकार प्रगट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।।६।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर – अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है – नष्ट नहीं होने देता।।७।।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में होने के लिये (रहने के लिये, परिणमन के लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञान में जो परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों का आकार आता है उनका त्याग करके) ज्ञान को तुच्छ करता हुआ नाश करता है, तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकाररूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से (उस ज्ञानमात्र भाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता।।८।।

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालंबित पदार्थों के विनाशकाल में (पूर्व में जिनका आलम्बन किया था ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय) ज्ञान का असत्पना मानकर – अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वकाल से (ज्ञान के काल से) सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है – नष्ट नहीं होने देता।।९।।

तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।१०। यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।११। यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।१२। यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति, तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति।१३। यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा ज्ञानविशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति।१४।

भवंति चात्र श्लोकाः –

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थों के आलम्बन काल में ही (मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्पना मानकर – अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परकाल से (ज्ञेय के काल से) असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता॥१०॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायकस्वभाव को परभावरूप से मानकर अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्व-भाव से सत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है – नष्ट नहीं होने देता॥११॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व भाव मैं ही हूँ' इसप्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर – अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) परभाव से असत्पना प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता॥१२॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्य ज्ञानविशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) ज्ञानसामान्यरूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है – नष्ट नहीं होने देता॥१३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञानसामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञानविशेषों के त्याग के द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करके अपने को नष्ट करता है), तब (ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञानविशेषरूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता॥१४॥

(यहाँ तत्-अतत् के २ भंग, एक-अनेक के २ भंग, सत्-असत् के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ८ भंग और नित्य-अनित्य के २ भंग इसप्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए। इन चौदह भंगों में यह बताया है कि एकान्त से ज्ञानमात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहता है; अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।)

यहाँ निम्न प्रकार से (चौदह भंगों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं – उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलशरूप काव्य इसप्रकार है :–

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥२४८॥

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्टवा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥२४९॥

श्लोकार्थ :– [**बाह्य-अर्थैः परिपीतम्**] बाह्य पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया [**उज्झित-निज-प्रव्यक्ति-रिक्तीभवत्**] अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देने से रिक्त (शून्य) हुआ, [**परितः पररूपे एव विश्रान्तं**] सम्पूर्णतया पररूप में ही विश्रांत (अर्थात् पररूप के ऊपर ही आधार रखता हुआ) ऐसे [**पशोः ज्ञानं**] पशु का ज्ञान (पशुवत् एकान्तवादी का ज्ञान) [**सीदति**] नाश को प्राप्त होता है; [**स्याद्वादिनः तत् पुनः**] और स्याद्वादी का ज्ञान तो, [**'यत् तत् तत् इह स्वरूपतः तत्' इति**] जो तत् है वह स्वरूप से तत् है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को – वस्तु को स्वरूप से तत्पना है) ऐसी मान्यता के कारण [**दूर-उन्मग्न-घन-स्वभाव-भरतः**] अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभाव के भार से, [**पूर्णं समुन्मज्जति**] सम्पूर्ण उदित (प्रगट) होता है।

भावार्थ :– कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि घटज्ञान घट के आधार से ही होता है इसलिये ज्ञान सबप्रकार से ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा माननेवाले एकान्तवादी के ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। स्याद्वादी तो ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता। ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझ के कारण स्याद्वादी को ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है। इसप्रकार स्वरूप से तत्पने का भंग कहा है ॥२४८॥

अब दूसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [**'विश्वं ज्ञानम्' इति प्रतर्क्य**] 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)' ऐसा विचार करके [**सकलं स्वतत्त्व-आशया दृष्ट्वा**] सबको (समस्त विश्व को) निजतत्त्व की आशा से देखकर [**विश्वमयः भूत्वा**] विश्वमय (समस्त ज्ञेय-पदार्थमय) होकर, [**पशुः इव स्वच्छंदम् आचेष्टते**] पशु की भांति स्वच्छंदतया चेष्टा करता है – प्रवृत्त होता है; [**पुनः**] और [**स्याद्वाददर्शी**] स्याद्वाद का देखनेवाला तो यह मानता है कि [**'यत् तत् तत् पररूपतः न तत् इति'**] 'जो तत् है वह पररूप से तत् नहीं है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्व को स्वरूप से तत्पना होने

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लस-
ज्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन्पशुर्नश्यति।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसय-
न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित्॥२५०॥

पर भी पररूप से अतत्पना है),' इसलिये [**विश्वात् भिन्नम् अविश्वविश्वघटितं**] विश्व से भिन्न ऐसे तथा विश्व से (विश्व के निमित्त से) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओं के आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तु से भिन्न ऐसा) [**तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत्**] अपने तत्त्व का स्पर्श – अनुभव करता है।

भावार्थ :– एकान्तवादी यह मानता है कि विश्व (समस्त वस्तुएँ) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप हैं। इसप्रकार निज को और विश्व को अभिन्न मानकर, अपने को विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशु की भाँति हेय-उपादेय के विवेक के बिना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है। स्याद्वादी तो यह मानता है कि जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है; इसलिये ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है, परन्तु पर ज्ञेयों के स्वरूप से अतत्स्वरूप है अर्थात् पर ज्ञेयों के आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है। इसप्रकार पररूप से अतत्पने का भंग कहा है॥२४९॥

अब तीसरे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [**बाह्य–अर्थ ग्रहण-स्वभाव-भरतः**] बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने के (ज्ञान के) स्वभाव की अतिशयता के कारण, [**विष्वग्-विचित्र-उल्लसत्-ज्ञेयाकार-विशीर्ण-शक्तिः**] चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकार के ज्ञेयाकारों से जिसकी शक्ति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो गई है ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयों के आकार ज्ञान में ज्ञात होने पर ज्ञान की शक्ति को छिन्न-भिन्न-खण्डरूप-हो गई मानकर) [**अभितः त्रुट्यन्**] सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खण्ड-खण्डरूप, अनेकरूप होता हुआ) [**नश्यति**] नष्ट हो जाता है; [**अनेकान्तवित्**] और अनेकान्त का जानकार तो, [**सदा अपि उदितया एक द्रव्यतया**] सदा उदित (प्रकाशमान) एक द्रव्यत्व के कारण [**भेदभ्रमं ध्वंसयन्**] भेद के भ्रम को नष्ट करता हुआ अर्थात् ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में सर्वथा भेद पड़ जाता है ऐसे भ्रम को नाश करता हुआ, [**एकम् अबाधित-अनुभवनं ज्ञानम्**] जो एक है (सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्बाध है ऐसे ज्ञान को [**पश्यति**] देखता है – अनुभव करता है।

भावार्थ :– ज्ञान है वह ज्ञेयों के आकाररूप परिणमित होने से अनेक दिखाई देता है, इसलिये सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञान को सर्वथा अनेक – खण्ड-खण्डरूप देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निज का

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वत:क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित्॥२५१॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचित:
स्वद्रव्यानवलोकनेन परित: शून्य: पशुर्नश्यति।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्य: समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति॥२५२॥

नाश करता है और स्याद्वादी तो ज्ञान को, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्व के द्वारा एक देखता है। इसप्रकार एकत्व का भंग कहा है॥२५०॥

अब चौथे भंग का कलशरूप काव्य कहा जाता है :–

श्लोकार्थ :– **[पशु:]** पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, **[ज्ञेयाकार-कलङ्क-मेचक-चिति प्रक्षालनं कल्पयन्]** ज्ञेयाकाररूपी कलङ्क से (अनेकाकाररूप) मलिन ऐसा चेतन में प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतन की अनेकाकाररूप मलिनता को धो डालने की कल्पना करता हुआ), **[एकाकार-चिकीर्षया स्फुटम् अपि ज्ञानं न इच्छति]** एकाकार करने की इच्छा से ज्ञान को – यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकाररूप से प्रगट है तथापि – नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञान को सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञान का अभाव करता है); **[अनेकान्तवित्]** और अनेकान्त का जाननेवाला तो, **[पर्यायै: तद्-अनेकतां परिमृशन्]** पर्यायों से ज्ञान की अनेकता को जानता (अनुभवता) हुआ, **[वैचित्र्ये अपि अविचित्रताम् उपगतं ज्ञानम्]** विचित्र होने पर भी अविचित्रता को प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होने पर भी एकरूप) ऐसे ज्ञान को **[स्वत: क्षालितं]** स्वतः क्षालित (स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध) **[पश्यति]** अनुभव करता है।

भावार्थ :– एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञान को मलिन जानकर, उसे धोकर – उसमें से ज्ञेयाकारों को दूर करके, ज्ञान को ज्ञेयाकारों से रहित एक आकाररूप करने को चाहता हुआ, ज्ञान का नाश करता है; और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभाव को जानता है, इसलिये ज्ञान का स्वरूप से ही अनेकाकारपना मानता है। इसप्रकार अनेकत्व का भंग कहा है॥२५१॥

अब पाँचवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[पशु:]** पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, **[प्रत्यक्ष-आलिखित-स्फुट-स्थिर-परद्रव्य-अस्तिता-वञ्चित:]** प्रत्यक्ष [१]आलिखित ऐसे प्रगट (स्थूल) और स्थिर (निश्चल) परद्रव्यों

१.आलिखित - आलेखन किया हुआ; विचित्र; स्पर्शित; ज्ञात।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासित:
स्वद्रव्यभ्रमत: पशु: किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत्॥२५३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठ: सदा
सीदत्येव बहि: पतंतमभित: पश्यन्पुमांसं पशु:।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभस: स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन्॥२५४॥

के अस्तित्व से ठगाया हुआ, [**स्वद्रव्य अनवलोकनेन परित: शून्य:**] स्वद्रव्य को (स्वद्रव्य के अस्तित्व को) नहीं देखता होने से सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ [**नश्यति**] नाश को प्राप्त होता है; [**स्याद्वादी तु**] और स्याद्वादी तो, [**स्वद्रव्य-अस्तितया निपुणं निरूप्य**] आत्मा को स्वद्रव्यरूप से अस्तिपने से निपुणतया देखता है इसलिये [**सद्य: समुन्मज्जता विशुद्ध-बोध-महसा पूर्ण: भवन्**] तत्काल प्रगट विशुद्ध ज्ञानप्रकाश के द्वारा पूर्ण होता हुआ [**जीवति**] जीता है – नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– एकान्ती बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्व को मानता है, परन्तु अपने आत्मद्रव्य को इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता इसलिये उसे शून्य मानकर आत्मा का नाश करता है। स्याद्वादी तो ज्ञानरूपी तेज से अपने आत्मा का स्वद्रव्य से अस्तित्व अवलोकन करता है इसलिये जीता है – अपना नाश नहीं करता। इसप्रकार स्वद्रव्य-अपेक्षा से अस्तित्व का (सत्पने का) भंग कहा है॥२५२॥

अब छट्ठे भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशु:**] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [**दुर्वासना-वासित:**] दुर्वासना से वासित होता हुआ [**पुरुषं सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य**] आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, [**स्वद्रव्य-भ्रमत: परद्रव्येषु किल विश्राम्यति**] (परद्रव्यों में) स्वद्रव्य के भ्रम से परद्रव्यों में विश्राम करता है; [**स्याद्वादी तु**] और स्याद्वादी तो, [**समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन्**] समस्त वस्तुओं में परद्रव्यस्वरूप से नास्तित्व को जानता हुआ, [**निर्मल-शुद्ध-बोध-महिमा**] जिसकी शुद्धज्ञान महिमा निर्मल है ऐसा वर्तता हुआ, [**स्वद्रव्यम् एव आश्रयेत्**] स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है।

भावार्थ :– एकान्तवादी आत्मा को सर्वद्रव्यमय मानकर, आत्मा में जो परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व है उसका लोप करता है; और स्याद्वादी तो समस्त पदार्थों में परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व मानकर निजद्रव्य में रमता है। इसप्रकार परद्रव्य की अपेक्षा से नास्तित्व का (असत्पने का) भंग कहा है॥२५३॥

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥२५५॥

अब सातवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [**भिन्न-क्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः**] भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयपदार्थों में जो ज्ञेयज्ञायक सम्बन्धरूप निश्चित व्यापार है उसमें प्रवर्तता हुआ, [**पुमांसम् अभितः बहिः पतन्तम् पश्यन्**] आत्मा को सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्र में) पड़ता देखकर (स्वक्षेत्र से आत्मा का अस्तित्व न मानकर) [**सदा सीदति एव**] सदा नाश को प्राप्त होता है; [**स्याद्वादवेदी पुनः**] और स्याद्वाद के जानने वाले तो [**स्वक्षेत्र-अस्तितया निरुद्ध रभसः**] स्वक्षेत्र से अस्तित्व के कारण जिसका वेग रुका हुआ है ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्वक्षेत्र में वर्तता हुआ), [**आत्म-निखात-बोध्य-नियत-व्यापार-शक्तिः भवन्**] आत्मा में ही आकाररूप हुए ज्ञेयों में निश्चित व्यापार की शक्तिवाला होकर, [**तिष्ठति**] टिकता है – जीता है (नाश को प्राप्त नहीं होता)।

भावार्थ :– एकान्तवादी भिन्न क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को जानने के कार्य में प्रवृत्त होने पर आत्मा को बाहर पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्र से अस्तित्व न मानकर), अपने को नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, 'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में रहा हुआ आत्मा स्वक्षेत्र से अस्तित्व धारण करता है' ऐसा मानता हुआ टिकता है – नाश को प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार स्वक्षेत्र से अस्तित्व का भंग कहा है॥२५४॥

अब आठवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, [**स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध-परक्षेत्र-स्थित-अर्थ-उज्झनात्**] स्वक्षेत्र में रहने के लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों को छोड़ने से, [**अर्थैः सह चिद् आकारान् वमन्**] ज्ञेय पदार्थों के साथ चैतन्य के आकारों का भी वमन करता हुआ (अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के निमित्त से चैतन्य में जो आकार होता है उनको भी छोड़ता हुआ) [**तुच्छीभूय**] तुच्छ होकर [**प्रणश्यति**] नाश को प्राप्त होता है; [**स्याद्वादी तु**] और स्याद्वादी तो [**स्वधामनि वसन्**] स्वक्षेत्र में रहता हुआ, [**परक्षेत्रे नास्तितां विदन्**] परक्षेत्र में अपना नास्तित्व जानता हुआ [**त्यक्त-अर्थः अपि**] (परक्षेत्र में रहे हुए) ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता हुआ भी [**परान् आकारकर्षी**] वह पर पदार्थों में से चैतन्य के आकारों को खींचता है (अर्थात् ज्ञेयपदार्थों के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता) [**तुच्छताम् अनुभवति न**] इसलिये तुच्छता को प्राप्त नहीं होता।

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि॥२५६॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्॥२५७॥

भावार्थ :– 'परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के आकाररूप चैतन्य के आकार होते हैं उन्हें यदि मैं अपना बनाऊँगा तो स्वक्षेत्र में ही रहने के स्थान पर परक्षेत्र में भी व्याप्त हो जाऊँगा' ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेय पदार्थों के साथ ही साथ चैतन्य के आकारों को भी छोड़ देता है; इसप्रकार स्वयं चैतन्य के आकारों से रहित तुच्छ होता है, नाश को प्राप्त होता है। और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्र में रहता हुआ, परक्षेत्र में अपने नास्तित्व को जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़कर भी चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता; इसलिये वह तुच्छ नहीं होता, नष्ट नहीं होता। इसप्रकार परक्षेत्र की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है॥२५५॥

अब नवमें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[पशुः]** पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, **[पूर्व-आलम्बित-बोध्य-नाश-समये ज्ञानस्य नाशं विदन्]** पूर्वालम्बित ज्ञेय पदार्थों के नाश के समय ज्ञान का भी नाश जानता हुआ, **[न किञ्चन अपि कलयन्]** और इसप्रकार ज्ञान को कुछ भी (वस्तु) न जानता हुआ (अर्थात् ज्ञानवस्तु का अस्तित्व ही नहीं मानता हुआ), **[अत्यन्त-तुच्छः]** अत्यन्त तुच्छ होता हुआ **[सीदति एव]** नाश को प्राप्त होता ही है; **[स्याद्वादवेदी पुनः]** और स्याद्वाद का ज्ञाता तो **[अस्य निज-कालतः अस्तित्वं कलयन्]** आत्मा का निज काल से अस्तित्व जानता हुआ, **[बाह्यवस्तुषु मुहुः भूत्वा विनश्यत्सु अपि]** बाह्य वस्तुएँ बारम्बार होकर नाश को प्राप्त होती हैं, फिर भी **[पूर्णः तिष्ठति]** स्वयं पूर्ण रहता है।

भावार्थ :– पहले जिन ज्ञेय पदार्थों को जाने थे, वे उत्तर काल में नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञान का भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्मा का नाश करता है। और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता। इसप्रकार स्वकाल की अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है॥२५६॥

अब दशवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [**अर्थ-आलम्बन-काले एव ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन्**] ज्ञेयपदार्थों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ, [**बहिः ज्ञेय-आलम्बन-लालसेन मनसा भ्राम्यन्**] बाह्य ज्ञेयों के आलम्बन की लालसावाले चित्त से (बाहर) भ्रमण करता हुआ [**नश्यति**] नाश को प्राप्त होता है; [**स्याद्वादवेदी पुनः**] और स्याद्वाद का ज्ञाता तो [**पर-कालतः अस्य नास्तित्वं कलयन्**] पर काल से आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ, [**आत्म-निखात-नित्य-सहज-ज्ञान-एक-पुञ्जीभवन्**] आत्मा में दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ [**तिष्ठति**] टिकता है – नष्ट नहीं होता।

भावार्थ :– एकान्तवादी ज्ञेयों के आलम्बन काल में ही ज्ञान का सत्पना जानता है, इसलिये ज्ञेयों के आलम्बन में मन को लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है। स्याद्वादी तो पर ज्ञेयों के काल से अपने नास्तित्व को जानता है, अपने ही काल से अपने अस्तित्व को जानता है; इसलिये ज्ञेयों से भिन्न ऐसा ज्ञान के पुंजरूप वर्तता हुआ नाश को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार परकाल की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है॥२५७॥

अब ग्यारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [**परभाव-भाव-कलनात्**] परभावों के भवन (अस्तित्व – परिणमन) को ही जानता है (अर्थात् परभाव से ही अपना अस्तित्व मानता है,) इसलिये [**नित्यं बहिः वस्तुषु विश्रान्तः**] सदा बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ, [**स्वभाव-महिमनि एकान्त-निश्चेतनः**] (अपने) स्वभाव की महिमा में अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ, [**नश्यति एव**] नाश को प्राप्त होता ही है; [**स्याद्वादी तु**] और स्याद्वादी तो [**नियत-स्वभाव-भवन-ज्ञानात् सर्वस्मात् विभक्तः भवन्**] (अपने) नियत स्वभाव के भवनस्वरूप (परिणमनस्वरूप) ज्ञान के कारण सब (परभावों) से भिन्न वर्तता हुआ, [**सहज-स्पष्टीकृत-प्रत्ययः**] जिसने सहज स्वभाव का प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट-प्रत्यक्ष-अनुभवरूप किया है ऐसा होता हुआ, [**नाशम् एति न**] नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ :– एकान्तवादी परभावों से ही अपना सत्पना मानता है, इसलिये बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है; और स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभाव का स्वभाव से अस्तित्व जानता हुआ, आत्मा का नाश नहीं करता। इसप्रकार स्व-भाव की (अपने भाव की) अपेक्षा से अस्तित्व का भंग कहा है॥२५८॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युत:
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभय: स्वैरं पशु: क्रीडति।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढ: परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपित: ।।२५९।।

प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहज्ज्ञानांश-नानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतित: प्राय: पशुर्नश्यति।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमा ज्ञानं भवन् जीवति ।।२६०।।

अब बारहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[पशु:]** पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, **[सर्व-भाव-भवनं आत्मनि अध्यास्य शुद्ध-स्वभाव-च्युत:]** सर्व भावरूप भवन का आत्मा में अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेय पदार्थों के भावरूप है – ऐसा मानकर) शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ, **[अनिवारित: सर्वत्र अपि स्वैरं गतभय: क्रीडति]** किसी परभाव को शेष रखे बिना सर्व परभावों में स्वच्छन्दता पूर्वक निर्भयता से (निःशंकतया) क्रीड़ा करता है; **[स्याद्वादी तु]** और स्याद्वादी तो **[स्वस्य स्वभावं भरात् आरूढ़:]** अपने स्वभाव में अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ, **[परभाव-भाव-विरह-व्यालोक-निष्कम्पित:]** परभावरूप भवन के अभाव की दृष्टि के कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्यों के भावोंरूप से नहीं है – ऐसा जानता होने से) निष्कम्प वर्तता हुआ, **[विशुद्ध: एव लसति]** शुद्ध ही विराजित रहता है।

भावार्थ :– एकान्तवादी सर्व परभावों को निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावों में) स्वेच्छाचारिता से निःशंकतया प्रवृत्त होता है; और स्याद्वादी तो, परभावों को जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव को सर्व परभावों से भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है। इसप्रकार परभाव की अपेक्षा से नास्तित्व का भंग कहा है।।२५९।।

अब तेरहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[पशु:]** पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, **[प्रादुर्भाव-विराम-मुद्रित-वहत्-ज्ञान-अंश-नाना-आत्मना निर्ज्ञानात्]** उत्पाद्-व्यय से लक्षित ऐसे बहते (परिणमित होते) हुए ज्ञान के अंशरूप अनेकात्मक के द्वारा ही (आत्मा का) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ, **[क्षणभङ्ग-संग-पतित:]** [१]क्षणभंग के संग में पड़ा हुआ, **[प्राय: नश्यति]** बहुलता से नाश को प्राप्त होता है, **[स्याद्वादी तु]** और स्याद्वादी तो **[चिद्-आत्मना चिद्-वस्तु नित्य-उदितं परिमृशन्]** चैतन्यात्मकता के द्वारा चैतन्य वस्तु को नित्य-उदित अनुभव करता हुआ, **[टंकोत्कीर्ण-घन-स्वभाव-महिमा ज्ञानं भवन्]** टंकोत्कीर्णघनस्वभाव

---

१. क्षणभंग – क्षण-क्षण में होता हुआ नाश; क्षणभंगुरता; अनित्यता।

(शार्दूलविक्रीडित)

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृंशश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात्॥२६१॥

(अनुष्टुभ्)

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते॥२६२॥

(टंकोत्कीर्ण पिंडरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है – ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ [**जीवति**] जीता है।

भावार्थ :– एकान्तवादी ज्ञेयों के आकारानुसार ज्ञान को उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर, अनित्य पर्यायों के द्वारा आत्मा को सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपने को नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी, चैतन्यभाव का नित्य उदय – अनुभव करता हुआ जीता है – नाश को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार नित्यत्व का भंग कहा है॥२६०॥

इसप्रकार चौदहवें भंग का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**पशुः**] पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, [**टंकोत्कीर्ण-विशुद्ध-बोध-विसर-आकार-आत्म-तत्त्व-आशया**] टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञान के विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य) आत्मतत्त्व की आशा से, [**उच्छलत्-अच्छ-चित्परिणतेः भिन्नं किञ्चन वाञ्छति**] उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणति से भिन्न कुछ (आत्मतत्त्व को) चाहता है (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं), [**स्याद्वादी**] और स्याद्वादी तो, [**चिद्-वस्तु-वृत्ति-क्रमात् तद्-अनित्यतां परिमृशन्**] चैतन्य वस्तु की वृत्ति के (परिणति के, पर्याय के) क्रम द्वारा उसकी अनित्यता का अनुभव करता हुआ, [**नित्यम् ज्ञानं अनित्यता परिगमे अपि उज्ज्वलम् आसादयति**] नित्य ऐसे ज्ञान को अनित्यता से व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल (निर्मल) मानता है – अनुभव करता है।

भावार्थ :– एकान्तवादी ज्ञान को सर्वथा एकाकार – नित्य प्राप्त करने की वाँछा से, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणति से पृथक् कुछ ज्ञान को चाहता है; परन्तु परिणाम के अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता। स्याद्वादी तो यह मानता है कि यद्यपि द्रव्यापेक्षा से ज्ञान नित्य है तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्यपरिणति के क्रम के कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तुस्वभाव है। इसप्रकार अनित्यत्व का भंग कहा है॥२६१॥

'पूर्वोक्त प्रकार से अनेकांत, अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है – समझा देता है' अब इस अर्थ का काव्य कहा जाता है :–

(अनुष्टुभ्)

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥२६३॥

नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्धया लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थम्। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं, तदसाधारणगुणत्वात्। तेन ज्ञानप्रसिद्धया तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः। ननु किमनया लक्षणप्रसिद्धया, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम्। नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः।

श्लोकार्थ :– [**इति**] इसप्रकार [**अनेकान्तः**] अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद [**अज्ञान-विमूढ़ानां ज्ञानमात्रं आत्मतत्त्वम् प्रसाधयन्**] अज्ञानमूढ़ प्राणियों को ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ [**स्वयमेव अनुभूयते**] स्वयमेव अनुभव में आता है।

भावार्थ :– ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है। परन्तु अनादिकाल से प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवाद का उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व सम्बन्धी अनेक प्रकार से पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवों को) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का अनेकान्त स्वरूपपना प्रगट करता है – समझाता है। यदि अपने आत्मा की ओर दृष्टिपात करके – अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वाद के उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। इसलिए हे प्रवीण पुरुषो ! तुम ज्ञान को तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से सत्स्वरूप आदि, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीति में लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है॥२६२॥

'पूर्वोक्त प्रकार से वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय होने से अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ' इस अर्थ का काव्य अब कहा जाता है :–

श्लोकार्थ :– [**एवं**] इसप्रकार [**अनेकान्तः**] अनेकान्त [**जैनम् अलङ्घ्यं शासनम्**] कि जो जिनदेव का अलंघ्य (किसी से तोड़ा न जाये ऐसा) शासन है वह [**तत्त्व-व्यवस्थित्या**] वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा [**स्वयम् स्वं व्यवस्थापयन्**] स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ [**व्यवस्थितः**] स्थित हुआ – निश्चित हुआ – सिद्ध हुआ।

भावार्थ :– अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूप को यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया। वह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थिति को कहनेवाला है। कहीं किसी ने असत् कल्पना से वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है। इसलिये हे निपुण पुरुषो ! भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाण से अनुभव कर देखो॥२६३॥

यहाँ आचार्यदेव अनेकान्त के सम्बन्ध में विशेष चर्चा करते हैं :–

ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्। तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभाग:? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृत:। प्रसिद्धं हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा। ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैक: खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेश:।

प्रश्न :– आत्मा अनेकान्तमय है फिर भी यहाँ उसका ज्ञानमात्र से क्यों व्यपदेश (कथन, नाम) किया जाता है ? (यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है तथापि उसे ज्ञानमात्ररूप से क्यों कहा जाता है ? ज्ञानमात्र कहने से तो अन्यधर्मों का निषेध समझा जाता है।)

उत्तर :– लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिये आत्मा का ज्ञानमात्ररूप से व्यपदेश किया जाता है। आत्मा का ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है (अन्य द्रव्यों में ज्ञानगुण नहीं है)। इसलिये ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उसके लक्ष्य की – आत्मा की – प्रसिद्धि होती है।

प्रश्न :– इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है ? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्धि करने योग्य है (इसलिये लक्षण को प्रसिद्ध किये बिना मात्र लक्ष्य को ही – आत्मा को ही – प्रसिद्ध क्यों नहीं करते ?)

उत्तर :– जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (अर्थात् जो लक्षण को नहीं जानता ऐसे अज्ञानी जन को) लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। (इसलिये अज्ञानी को पहले लक्षण बतलाते हैं उसके बाद वह लक्ष्य को ग्रहण कर सकता है।)

प्रश्न :– ऐसा कौन – सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उससे (ज्ञान से) भिन्न प्रसिद्ध होता है ?

उत्तर :– ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है।

प्रश्न :– तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिये किया गया है ?

उत्तर :– प्रसिद्धत्व और [१]प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्र को स्वसंवेदन से सिद्धपना है (अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियों को स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है); वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान, तद्-अविनाभूत (ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मों का समुदायरूप मूर्ति आत्मा है। (ज्ञान प्रसिद्ध है; और ज्ञान के साथ जिनका अविनाभावी सम्बन्ध है ऐसे अनन्त धर्मों का समुदायस्वरूप आत्मा उस ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान है।) इसलिये ज्ञानमात्र में अचलितपने से स्थापित दृष्टि के द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, तद्-अविनाभूत

---

१. प्रसाध्यमान – जो प्रसिद्ध किया जाता हो। (ज्ञान प्रसिद्ध है और आत्मा प्रसाध्यमान है।)

ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मन: कथं ज्ञानमात्रत्वम् ? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांत:पातिन्योऽनंता: शक्तय: उत्प्लवंते।

आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्ति:।१। अजडत्वात्मिका चितिशक्ति:।२। अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति:।३। साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति:।४। अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्ति:।५। स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्ति:।६। अखण्डितप्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्ति:।७। सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्ति:।८। विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्व-

---

(ज्ञान के साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्तधर्मसमूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब उतना वास्तव में एक आत्मा है। इसी कारण से यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है।

प्रश्न :– जिसमें क्रम और अक्रम से प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रता किसप्रकार है?

उत्तर :– परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मों के समुदायरूप से परिणमित जो एक जाननक्रिया है इस जाननक्रियामात्र भावरूप से स्वयं ही है इसलिये) आत्मा के ज्ञानमात्रता है। इसलिये इसके ज्ञानमात्र एकभाव की अन्त:पातिनी (ज्ञानमात्र एक भाव के भीतर आ जानेवाली) अनंत शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्मा के जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेद से भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्मा के एक परिणाम में सभी धर्मों का परिणमन रहता है। इसलिये आत्मा के एक ज्ञानमात्र भाव के भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिये ज्ञानमात्र भाव में – ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मा में अनन्त शाक्तियाँ उछलती हैं।) उनमें से कितनी ही शक्तियाँ निम्नप्रकार हैं:–

आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भाव का धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्य के कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राण का धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भाव में – आत्मा में उछलती है) ॥१॥ अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति। (अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है ऐसी चितिशक्ति) ॥२॥ अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी – सत्तामात्र पदार्थ में उपयुक्त होनेरूप – दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।)॥३॥ साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थों के विशेषरूप आकारों में उपयुक्त होती है ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।) ॥४॥ अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुखशक्ति ॥५॥ स्वरूप की (आत्मस्वरूप की) रचना की सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति ॥६॥ जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसी से खण्डित नहीं किया जा सकता ऐसे स्वातंत्र्य से (स्वाधीनता से) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्वशक्ति ॥७॥ सर्व भावों में व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावों में व्याप्त होता है।)॥८॥ समस्त विश्व के सामान्य भाव को देखनेरूप से (अर्थात् सर्व पदार्थों के समूहरूप लोकालोक को सत्तामात्र ग्रहण करनेरूप से) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति ॥९॥ समस्त विश्व के विशेष भावों को जाननेरूप से परिणमित ऐसे

शक्तिः।९। विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः।१०। नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः।११। स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः।१२। क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकाशत्वशक्तिः।१३। अन्याक्रियमाणान्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणत्वशक्तिः।१४। परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः।१५। अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः।१६। षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः।१७। क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः।१८। द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः।१९। कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः।२०। सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः।२१। सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रा-

---

आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति॥१०॥ अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार प्रकाशित होते हैं।)॥११॥ स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी (स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति॥१२॥ क्षेत्र और काल से अमर्यादित ऐसे चिद्विलास स्वरूप (चैतन्य के विलासस्वरूप) असंकुचितविकाशत्वशक्ति॥१३॥ जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति। (जो अन्य का कार्य नहीं है और अन्य का कारण नहीं है ऐसा जो एकद्रव्य उस-स्वरूप अकार्य- कारणत्वशक्ति)॥१४॥ पर और स्व जिनके निमित्त हैं ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारों को ग्रहण करने के और ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति। (पर जिनके कारण हैं ऐसे ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के और स्व जिनका कारण है ऐसे ज्ञानाकारों को ग्रहण कराने के स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति।)॥१५॥ जो कम-बढ़ नहीं होता ऐसे स्वरूप में नियतत्वरूप (निश्चित्तया यथावत् रहनेरूप) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति॥१६॥ षट्स्थानपतित वृद्धि-हानिरूप से परिणमित, स्वरूपप्रतिष्ठत्व का कारणरूप (वस्तु के स्वरूप में रहने के कारणरूप) जो विशिष्ट (खास) गुण है उस-स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति। (इस षट्स्थानपतित वृद्धि-हानि का स्वरूप 'गोम्मटसार' ग्रन्थ से जानना चाहिए। अविभाग-प्रतिच्छेदों की संख्यारूप षट्स्थानों में पतित समाविष्ट – वस्तुस्वभाव की वृद्धि-हानि जिससे (जिस गुण से) होती है और जो (गुण) वस्तु को स्वरूप में स्थिर होने का कारण है ऐसा कोई गुण आत्मा में है; उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्वशक्ति भी आत्मा में है।) ॥१७॥ क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्त्तन जिसका लक्षण है ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति। (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पाद-व्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है।) ॥१८॥ द्रव्य के स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पाद से आलिंगित (स्पर्शित), सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति॥१९॥ कर्मबन्ध के अभाव से व्यक्त किये गये, सहज स्पर्शादिशून्य (स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से रहित) ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति॥२०॥ समस्त कर्मों के द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्र भिन्न जो परिणाम उन

तिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः।२२। सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः।२३। आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः।२४। सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः।२५। स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः।२६। विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्वशक्तिः।२७। तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः।२८। तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः।२९। अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः।३०। अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः।३१। एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः।३२। भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः।३३। शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः ।३४। भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः ।३५। अभवत्पर्यायोदयरूपा

परिणामों के करण के [१]उपरमस्वरूप (उन परिणामों को करने की निवृत्तिस्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति। (जिस शक्ति से आत्मा ज्ञातृत्व के अतिरिक्त कर्मों से किये गये परिणामों का कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मा में है)॥२१॥ समस्त कर्मों से किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न परिणामों के अनुभव की (भोक्तृत्व की) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति॥२२॥ समस्त कर्मों के उपरम से प्रवृत्त आत्मप्रदेशों की निस्पन्दतास्वरूप (अकम्पतास्वरूप) निष्क्रियत्वशक्ति। (जब समस्त कर्मों का अभाव हो जाता है तब प्रदेशों का कम्पन मिट जाता है इसलिए निष्क्रियत्व शक्ति भी आत्मा में है।)॥२३॥ जो अनादि संसार से लेकर संकोच-विस्तार से लक्षित है और जो चरम शरीर के परिमाण से कुछ न्यून परिमाण से अवस्थित होता है ऐसा लोकाकाश के माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है ऐसी नियतप्रदेशत्वशक्ति। (आत्मा के लोक परिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही हैं। वे प्रदेश संसार अवस्था में संकोच-विस्तार को प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्था में चरमशरीर से कुछ कम परिमाण से स्थित रहते हैं।)॥२४॥ सर्व शरीरों में एकस्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति। (शरीर के धर्मरूप न होकर अपने-अपने धर्मों में व्यापनेरूप शक्ति सो स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।)॥२५॥ स्व-पर के समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकार के भावों के धारणस्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति॥२६॥ विलक्षण (परस्पर भिन्न लक्षणयुक्त) अनन्त स्वभावों से भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति॥२७॥ तदरूपमयता और अतदरूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति॥२८॥ तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन चेतनरूप से रहता है – परिणमित होता है।) ॥२९॥ अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा तत्स्वरूप नहीं परिणमनेरूप अतत्त्वशक्ति आत्मा में है। इस शक्ति से चेतन जड़रूप नहीं होता।)॥३०॥ अनेक पर्यायों में व्यापक ऐसी एकद्रव्यमयतारूप एकत्वशक्ति॥३१॥ एक द्रव्य से व्याप्य जो अनेक पर्यायें उसमयपनेरूप अनेकत्वशक्ति॥३२॥ विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो, उसरूप भावशक्ति)॥३३॥ शून्य (अविद्यमान) अवस्थायुक्ततारूप अभावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उसरूप अभावशक्ति) ॥३४॥ होती हुई (प्रवर्त्तमान) पर्याय के व्ययरूप

---

१. उपरम - निवृत्ति; अन्त; अभाव।

अभावभावशक्तिः ।३६। भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः ।३७। अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः ।३८। कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः ।३९। कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः ।४०। प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः ।४१। भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः ।४२। भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः ।४३। स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदानशक्तिः ।४४। उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः ।४५। भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः ।४६। स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः ।४७।

(वसंततिलका)

इत्याद्यनेक-निजशक्ति-सुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥२६४॥

भावाभावशक्ति ॥३५॥ नहीं होती हुई (अप्रवर्तमान) पर्याय के उदयरूप अभावभावशक्ति ॥३६॥ होती हुई (प्रवर्तमान) पर्याय के भवनरूप भावभावशक्ति ॥३७॥ नहीं होती हुई (अप्रवर्तमान) पर्याय के अभवनरूप अभावाभावशक्ति ॥३८॥ (कर्त्ता, कर्म आदि) कारकों के अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (होनेमात्रमयी) भावशक्ति ॥३९॥ कारकों के अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति ॥४०॥ प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव उसमयी कर्मशक्ति ॥४१॥ होनेपनरूप और सिद्धरूप भाव के भावकत्वमयी कर्तृशक्ति ॥४२॥ होते हुये (प्रवर्तमान) भाव के भवन के (होने के) साधकतमपनेमयी (उत्कृष्ट साधकत्वमयी, उग्र साधनत्वमयी) करणशक्ति ॥४३॥ अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमयी (उसे प्राप्त करने के योग्यपनामयी, उसे लेने के पात्रपनामयी) सम्प्रदानशक्ति ॥४४॥ उत्पाद-व्यय से आलिंगित भाव का अपाय (हानि, नाश) होने से हानि को प्राप्त न होनेवाले ध्रुवत्वमयी अपादानशक्ति ॥४५॥ भाव्यमान (अर्थात् होने में आते हुए) भाव के आधारत्वमयी अधिकरणशक्ति ॥४६॥ स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति। (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है – ऐसे सम्बन्धमयी सम्बन्धशक्ति)॥४७॥

'इत्यादि अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है, तथापि वह ज्ञानमात्रता को नहीं छोड़ता' – इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [इत्यादि-अनेक-निज-शक्ति-सुनिर्भरः अपि] इत्यादि (पूर्व कथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि) अनेक निज शक्तियों से भलीभाँति परिपूर्ण होने पर भी **[यः भावः ज्ञानमात्रमयतां न जहाति]** जो भाव ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़ता, **[तद्]** ऐसा वह, **[एवं क्रम-अक्रम-विवर्ति-विवर्तचित्रम्]** पूर्वोक्त प्रकार से क्रमरूप और अक्रमरूप से वर्तमान विवर्त्त से (रूपान्तर से, परिणमन से) अनेक प्रकार का **[द्रव्य-पर्ययमयं]** द्रव्य पर्यायमय **[चिद्]** चैतन्य (अर्थात् ऐसा वह चैतन्य भाव – आत्मा) **[इह]** इस लोक में **[वस्तु अस्ति]** वस्तु है।

भावार्थ :– कोई यह समझ सकता है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है इसलिये वह एक स्वरूप

(वसंततिलका)

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानी भवंति जिननीतिमलंघयन्तः॥२६५॥

अथास्योपायोपेयभावश्चिंत्यते –

आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभय-परिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञान-चारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात् संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्ष [1]मकरिका-

ही होगा, किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तु का स्वरूप द्रव्य-पर्यायमय है। चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्य-पर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकार के परिणामों के विकारों के समूहरूप अनेकाकार होता है, फिर भी ज्ञान को जो कि असाधारणभाव है, उसे नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ – परिणाम – पर्याय ज्ञानमय ही हैं॥२६४॥

'इस अनेकस्वरूप – अनेकान्तमय – वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं'– इस आशय का, स्याद्वाद का फल बतलानेवाला काव्य कहते हैंः–

श्लोकार्थ :– [इति वस्तु-तत्त्व-व्यवस्थितिम् नैकान्त-संगत-दृशा स्वयमेव प्रविलोकयन्तः] ऐसा (अनेकान्तात्मक) वस्तु तत्त्व की व्यवस्थिति को अनेकान्त-संगत (अनेकान्त के साथ सुसंगत, अनेकान्त के साथ मेलवाली) दृष्टि के द्वारा स्वयमेव देखते हुए, **[स्याद्वाद-शुद्धिम् अधिकाम् अधिगम्य]** स्याद्वाद की अत्यन्त शुद्धि को जानकर, **[जिन-नीतिम् अलंघयन्तः]** जिन नीति का (जिनेश्वरदेव के मार्ग का) उल्लंघन न करते हुए **[सन्तः ज्ञानी भवन्ति]** सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

भावार्थ :– जो सत्पुरुष अनेकान्त के साथ सुसंगत दृष्टि के द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थिति को देखते हैं, वे इसप्रकार स्याद्वाद की शुद्धि को प्राप्त करके – जान करके जिनदेव के मार्ग को – स्याद्वादन्याय को उल्लंघन न करते हुए ज्ञानस्वरूप होते हैं॥२६५॥

इसप्रकार स्याद्वाद के सम्बन्ध में कहकर, अब आचार्यदेव उपाय-उपेयभाव के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं –

अब इसके (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के) [2]उपाय-उपेयभाव विचारा जाता है अर्थात् आत्मवस्तु के ज्ञानमात्र

१. मकरा एव मकरिका मर्यादा इत्यर्थः। २. उपेय अर्थात् प्राप्त करने योग्य और उपाय अर्थात् जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे। आत्मा का शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है और मोक्षमार्ग उपाय है।

धिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानं ज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति। एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैक-वस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः। ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तयः साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभाव-भाजनं भवंति। ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभंते ते नित्यमज्ञानिनो भवंतो ज्ञान-मात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यंतो जानंतोऽनुचरंतश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवंतोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव।

है, फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं सो इसका विचार किया जाता है :–

आत्मवस्तु को ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय-उपेयभाव (उपाय-उपेयपना) है ही, क्योंकि वह एक होने पर भी [1]स्वयं साधकरूप से और सिद्धरूप से – दोनों प्रकार से परिणमित होता है। उसमें जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय है। इसलिये अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा स्वरूप से च्युत होने के कारण संसार में भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पाक के प्रकर्ष की परम्परा से क्रमशः स्वरूप में आरोहण कराये जाते इस आत्मा को, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विशेषपने के द्वारा स्वयं साधकरूप से परिणमित होता हुआ तथा परम प्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित जो सकल कर्म के क्षय उससे प्रज्ज्वलित (दैदीप्यमान) हुये जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूप से परिणमता है – ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ :– यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि की परम्परा से क्रमशः जब से स्वरूपानुभव करता है तब से ज्ञान साधकरूप से परिणमित होता है, क्योंकि ज्ञान में निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रारम्भ से लेकर स्वरूपानुभव की वृद्धि करते-करते जबतक निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता न हो, तबतक ज्ञान का साधक रूप से परिणमन है। जब निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता से समस्त कर्मों का नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष होता है तब ज्ञान सिद्ध रूप से परिणमित होता है; क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट दैदीप्यमान हुआ है। इसप्रकार साधक रूप से और सिद्ध रूप से – दोनों रूप से परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तु की उपाय-उपेयता को साधित करता है।

इसप्रकार दोनों में (उपाय तथा उपेय में) ज्ञानमात्र की अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है; इसलिये सदा अस्खलित एक वस्तु का (ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का) निष्कम्प ग्रहण करने से, मुमुक्षुओं को, कि जिन्हें अनादि संसार से भूमिका की प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिका की प्राप्ति होती है; फिर उसी में नित्य मस्ती करते हुए (लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान

१. आत्मा परिणामी है और साधकत्व तथा सिद्धत्व ये दोनों परिणाम हैं।

(वसंततिलका)

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहा:।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति॥२६६॥

(वसंततिलका)

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरह: स्वमिहोपयुक्त:।
ज्ञान-क्रिया-नय-परस्पर-तीव्र-मैत्री-
पात्रीकृत: श्रयति भूमिमिमां स एक:॥२६७॥

अनेक अन्त की (अनेक धर्म की) मूर्तियाँ हैं वे साधकभाव से उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्ष की [१]कोटिरूप सिद्धिभाव के भाजन होते हैं; परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं ऐसे एक ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमि को जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भाव का स्वरूप से अभवन और पररूप से भवन देखते (श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभाव से अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसार में परिभ्रमण ही करते हैं।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**ये**] जो पुरुष [**कथम् अपि-अपनीत-मोहा:**] किसी भी प्रकार से जिनका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ [**ज्ञानमात्र-निज-भावमयीम् अकम्पां भूमिं**] ज्ञानमात्र निज भावमय अकम्प भूमिका का (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस-मय निश्चल भूमिका का) [**श्रयन्ति**] आश्रय लेते हैं [**ते साधकत्व अधिगम्य सिद्धा: भवन्ति**] वे साधकत्व को प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; [**तु**] परन्तु [**मूढा:**] जो मूढ़ (मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं वे [**अमूम् अनुपलभ्य**] इस भूमिका को प्राप्त न करके [**परिभ्रमन्ति**] संसार में परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थ :– जो भव्य पुरुष, गुरु के उपदेश से अथवा स्वयमेव काललब्धि को प्राप्त करके मिथ्यात्व से रहित होकर ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं; वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र – निज को प्राप्त नहीं करते, वे संसार में परिभ्रमण करते हैं॥२६६॥

इस भूमिका का आश्रय करनेवाला जीव कैसा होता है, सो अब कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**य:**] जो पुरुष [**स्याद्वाद-कौशल-सुनिश्चल-संयमाभ्यां**] स्याद्वाद में प्रवीणता तथा (रागादिक अशुद्ध परिणति के त्यागरूप) सुनिश्चल संयम – इन दोनों के द्वारा [**इह उपयुक्त:**] अपने

---

१. कोटि – अन्तिमता; उत्कृष्टता; ऊँचे में ऊँचा बिन्दु; हद।

(वसंततिलका)

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहास:
शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभात:।
आनंद-सुस्थित-सदास्खलितैक-रूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥

में उपयुक्त रहता हुआ (अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग को लगाता हुआ) [**अह: अह: स्वम् भावयति**] प्रतिदिन अपने को भाता है (निरन्तर अपने आत्मा की भावना करता है) [**स: एक:**] वही एक (पुरुष) [**ज्ञान-क्रिया-नय-परस्पर-तीव्र-मैत्री-पात्रीकृत:**] ज्ञाननय और क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्ररूप होता हुआ [**इमाम् भूमिम् श्रयति**] इस (ज्ञानमात्र निजभावमय) भूमिका का आश्रय करता है।

भावार्थ :– जो ज्ञाननय को ही ग्रहण करके क्रियानय को छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुष को इस भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो क्रियानय को ही ग्रहण करके ज्ञाननय को नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्म से संतुष्ट पुरुष को भी इस निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं हुई है। जो पुरुष अनेकान्तमय आत्मा को जानता है (अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयम में प्रवृत्त है (रागादिक अशुद्ध परिणति का त्याग करता है) और इसप्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिका का आश्रय करनेवाला है॥२६७॥

(ज्ञाननय और क्रियानय के ग्रहण-त्याग का स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय संग्रह' ग्रन्थ के अन्त में कहा है, वहाँ से जानना चाहिए।)

इसप्रकार जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है, वही अनन्त चतुष्टयमय आत्मा को प्राप्त करता है – इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [**तस्य एव**] (पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष इस भूमिका का आश्रय लेता है) उसी के, [**चित्-पिण्ड-चण्डिम-विलासि-विकास-हास:**] चैतन्यपिंड के निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्यपुंज का अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है) [**शुद्ध-प्रकाश-भर-निर्भर-सुप्रभात:**] शुद्ध प्रकाश की अतिशयता के कारण जो सुप्रभात के समान है [**आनन्द-सुस्थित-सदा-अस्खलित-एक-रूप:**] आनन्द में सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है [**च**] और [**अचल-अर्चि:**] जिसकी ज्योति अचल है ऐसा [**अयम् आत्मा उदयति**] यह आत्मा उदय को प्राप्त होता है।

भावार्थ :– यहाँ 'चित्पिंड' इत्यादि विशेषणों से अनन्तदर्शन का प्रगट होना, शुद्धप्रकाश इत्यादि विशेषण से अनन्तज्ञान का प्रगट होना, 'आनन्दसुस्थित' इत्यादि विशेषण से अनन्तसुख का प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषण से अनन्तवीर्य का प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमिका का आश्रय लेने से ही ऐसे आत्मा का उदय होता है॥२६८॥

(वसंततिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः।।२६९।।

चित्रात्म-शक्ति-समुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः।
तस्माद-खंडम-निराकृत-खंडमेक-
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि।।२७०।।

अब, यह कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो :–

श्लोकार्थ :– [स्याद्वाद-दीपित-लसत्-महसि] स्याद्वाद द्वारा प्रदीप्त किया गया जगमगाहट करता जिसका तेज है और **[शुद्ध-स्वभाव-महिमनि]** जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है ऐसा **[प्रकाशे उदिते मयि इति]** यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदय को प्राप्त हुआ है, वहाँ **[बन्ध-मोक्ष-पथ-पातिभिः अन्य-भावैः किम्]** बंध-मोक्ष के मार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या प्रयोजन है ? **[नित्य-उदयः परम् अयं स्वभावः स्फुरतु]** मुझे तो मेरा नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्तचतुष्टयरूप) स्वभाव ही स्फुरायमान हो।

भावार्थ :– स्याद्वाद से यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद उसका फल पूर्ण आत्मा का प्रगट होना है। इसलिये मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि मेरा पूर्ण स्वभाव आत्मा मुझे प्रगट हो; बन्ध-मोक्षमार्ग में पड़नेवाले अन्य भावों से मुझे क्या काम है ?।।२६९।।

'यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधित होता है तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयों में तो परस्पर विरोध भी है, इसलिये मैं नयों का विरोध मिटाकर आत्मा का अनुभव करता हूँ' – इस अर्थ का काव्य कहते हैं।

श्लोकार्थ :– [चित्र-आत्मशक्ति-समुदायमयः अयम् आत्मा] अनेक प्रकार की निज शक्तियों का समुदायमय यह आत्मा **[नय-ईक्षण-खण्ड्यमानः]** नयों की दृष्टि से खण्ड-खण्डरूप किये जाने पर **[सद्यः]** तत्काल **[प्रणश्यति]** नाश को प्राप्त होता है; **[तस्मात्]** इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि **[अनिराकृत-खण्डम् अखण्डम्]** जिसमें से खण्डों को [१]निराकृत नहीं किया गया है तथापि जो अखण्ड है, **[एकम्]** एक है, **[एकान्त-शान्तम्]** एकान्त शान्त है (अर्थात् जिसमें कर्मोदय का लेशमात्र भी नहीं है ऐसा अत्यन्त शान्त भावमय है) और **[अचलम्]** अचल है (अर्थात् कर्मोदय से चलायमान – च्युत नहीं होता) ऐसा **[चिद् महः अहम् अस्मि]** चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ।

---

१. निराकृत – बहिष्कृत; दूर; निषेध

न द्रव्येण खंडयामि, न क्षेत्रेण खंडयामि, न कालेन खंडयामि, न भावेन खंडयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रो भावोऽस्मि।

(शालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ।।२७१।।

भावार्थ :– आत्मा में अनेक शक्तियाँ हैं और एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है; इसलिये यदि नयों की एकान्त दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा का खण्ड-खण्ड होकर उसका नाश हो जाये ऐसा होने से स्याद्वादी, नयों का विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तु को अनेक शक्ति समूहरूप, सामान्य-विशेषरूप, सर्वशक्ति मय एक ज्ञानमात्र अनुभव करता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है, इसमें विरोध नहीं है।।२७०।।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है इसप्रकार आचार्यदेव गद्य में कहते हैं :–

(ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि –) मैं अपने शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ अर्थात् उसमें भेद नहीं देखता हूँ, न क्षेत्र से खण्डित करता हूँ, न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूँ; सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।

भावार्थ :– यदि शुद्धनय से देखा जाये तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता। इसलिये ज्ञानी अभेद ज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता।

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है – इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यः अयं ज्ञानमात्रः भावः अहम् अस्मि सः ज्ञेय-ज्ञानमात्रः एव न ज्ञेयः] जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयों का ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिए; **[ज्ञेय-ज्ञान-कल्लोल-वल्गन्]** (परन्तु) ज्ञेयों के आकार से होनेवाले ज्ञान की कल्लोलों के रूप में परिणमित होता हुआ वह **[ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमत्-वस्तुमात्रः ज्ञेयः]** ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिए। (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता – इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिए।)

भावार्थ :– ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होने से ज्ञानस्वरूप है और वह स्वयं ही निम्न प्रकार से ज्ञेयरूप है। बाह्य ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकार दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञान की ही तरंगें हैं। वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञान के द्वारा ज्ञात होती हैं। इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है और स्वयं ही अपना जाननेवाला होने से ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है। इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीनों भावों से युक्त सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है। 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' – इसप्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है।।२७१।।

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत्॥२७२॥

(पृथ्वी)

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम्॥२७३॥

आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेक प्रकार से दिखाई देता है, तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मल ज्ञान को नहीं भूलता – इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– (ज्ञानी कहता हैः–) **[मम तत्त्वं सहजम् एव]** मेरे तत्त्व का ऐसा स्वभाव ही है कि **[क्वचित् मेचकं लसति]** कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (अनेकाकार, अशुद्ध) दिखाई देता है **[क्वचित् मेचक-अमेचकं]** कभी मेचक-अमेचक (दोनोंरूप) दिखाई देता है, **[पुनः क्वचित् अमेचकं]** और कभी अमेचक (एकाकार शुद्ध) दिखाई देता है; **[तथापि]** तथापि **[परस्पर-सुसंहत-प्रगट शक्ति-चक्रं स्फुरत् तत्]** परस्पर सुसंहत (सुमिलित, सुग्रथित) प्रगट शक्तियों के समूहरूप से स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व **[अमल मेधसां मनः]** निर्मल बुद्धिवालों के मन को **[न विमोहयति]** विमोहित (भ्रमित) नहीं करता।

भावार्थ :– आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होने से किसी अवस्था में कर्मोदय के निमित्त से अनेकाकार अनुभव में आता है; किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्ध अनुभव में आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल के कारण भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता॥२७२॥

आत्मा का अनेकान्तस्वरूप (अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (आश्चर्यकारक) है – इस अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [अहो आत्मनः तद् इदम् सहजम् अद्भुतं वैभवम्] अहो ! आत्मा का तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि **[इतः अनेकतां गतम्]** एक ओर से देखने पर वह अनेकता को प्राप्त है और **[इतः सदा अपि एकताम् दधत्]** एक ओर से देखने पर सदा एकता को धारण करता है, **[इतः क्षण-विभंगुरम्]** एक ओर से देखने पर क्षणभंगुर है और **[इतः सदा एव उदयात् ध्रुवम्]** एक ओर से देखने पर सदा उसका उदय होने से ध्रुव है, **[इतः परम-विस्तृतम्]** एक ओर से देखने पर परम विस्तृत है और **[इतः निजैः प्रदेशैः धृतम्]** एक ओर से देखने पर अपने प्रदेशों से ही धारण कर रखा हुआ है।

(पृथ्वी)

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ।।२७४।।

भावार्थ :– पर्यायदृष्टि से देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखने पर एकरूप; क्रमभावी पर्यायदृष्टि से देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है और सहभावी गुणदृष्टि से देखने पर ध्रुव; ज्ञान की अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टि से देखने पर परम विस्तार को प्राप्त दिखाई देता है और प्रदेशों की अपेक्षावाली दृष्टि से देखने पर अपने प्रदेशों में ही व्याप्त दिखाई देता है। ऐसा द्रव्य-पर्यायात्मक अनन्तधर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। वह (स्वभाव) अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भव सी बात है ! यद्यपि ज्ञानियों को वस्तुस्वभाव में आश्चर्य नहीं होता, फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानन्द होता है और इसलिये आश्चर्य भी होता है।।२७३।।

पुनः इसी अर्थ का काव्य कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– **[एकतः कषाय-कलिः स्खलति]** एक ओर से देखने पर कषायों का क्लेश दिखाई देता है और **[एकतः शान्तिः अस्ति]** एक ओर से देखने पर शांति (कषायों के अभावरूप शांतभाव) है; **[एकतः भव-उपहतिः]** एक ओर से देखने पर भव की (सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और **[एकतः मुक्तिः अपि स्पृशति]** एक ओर से देखने पर (संसार के अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; **[एकतः त्रितयम् जगत् स्फुरति]** एक ओर से देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (प्रकाशित होता है, दिखाई देता है) और **[एकतः चित् चकास्ति]** एक ओर से देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। **[आत्मनः अद्भुतात् अद्भुतः स्वभावमहिमा विजयते]** (ऐसी) आत्मा की अद्भुत से भी अद्भुत स्वभाव महिमा जयवन्त वर्तती है। (अर्थात् किसी से बाधित नहीं होती।)

भावार्थ :– यहाँ भी २७३वें श्लोक के भावार्थानुसार ही जानना चाहिए। आत्मा का अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियों को भारी आश्चर्य होता है। उन्हें इस बात में विरोध भासित होता है। वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभाव की बात को अपने चित्त में न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं। यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्था में उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि 'अहो ! यह जिनवचन महा-उपकारी हैं, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बतानेवाले हैं, मैंने अनादिकाल ऐसे यथार्थ स्वरूप के ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है।' वे इसप्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं।।२७४।।

अब टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मङ्गल के अर्थ इस चित्त्चमत्कार को ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।

श्लोकार्थ :– **[सहज-तेजः पुञ्ज-मज्जत्-त्रिलोकी-स्खलत्-अखिल-विकल्पः अपि**

(मालिनी)

जयति सहजतेज:पुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप:।
स्वरस-विसर-पूर्णाच्छिन्न-तत्त्वोपलंभ:
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एष:॥२७५॥

(मालिनी)

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं नि:सपत्नस्वभावम्॥२७६॥

एक: एव स्वरूप:] सहज (अपने स्वभावरूप) तेजपुञ्ज में त्रिलोक के पदार्थ मग्न हो जाते हैं इसलिये जिसमें अनेक भेद होते हुए दिखाई देते हैं तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्व पदार्थ झलकते हैं इसलिये जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एकस्वरूप ही है) **[स्व-रस-विसर-पूर्ण-अच्छिन्न-तत्त्व-उपलम्भ:]** जिसमें निजरस के विस्तार से पूर्ण अछिन्न तत्त्वोपलब्धि है (अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म का अभाव हो जाने से जिसमें स्वरूपानुभव का अभाव नहीं होता।) **[प्रसभ-नियमित-अर्चि:]** और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्तवीर्य से निष्कम्प रहता है) **[एष: चित्-चमत्कार: जयति]** ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्य चमत्कार जयवन्त वर्तता है। (किसी से बाधित नहीं किया जा सकता ऐसा सर्वोत्कृष्टरूप से विद्यमान है)।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथन में जो चैतन्यचमत्कार का सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मङ्गल है)॥२७५॥

अब श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव आत्मा को आशीर्वाद देते हैं और साथ ही अपना नाम भी प्रगट करते हैं :–

श्लोकार्थ :– [अविचलित-चिदात्मनि आत्मनि आत्मानम् आत्मना अनवरत-निमग्नं धारयत्] जो अचल चेतनास्वरूप आत्मा में आत्मा को अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती), **[ध्वस्त-मोहम्]** जिसने मोह का (अज्ञानाधंकार का) नाश किया है, **[नि:सपत्नस्वभावम्]** जिसका स्वभाव निःसपत्न (प्रतिपक्षी कर्मों से रहित) है, **[विमल-पूर्णं]** जो निर्मल है और पूर्ण है; ऐसी **[एतत् उदितम् अमृतचन्द्र-ज्योति:]** यह उदय को प्राप्त अमृतचन्द्र ज्योति (अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) **[समन्तात् ज्वलतु]** सर्वतः जाज्वल्यमान रहो।

भावार्थ :– जिसका न तो मरण होता है और न जिससे दूसरे का नाश होता है वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट (मीठा) होता है उसे लोग रूढ़ि से अमृत कहते हैं। यहाँ ज्ञान को – आत्मा

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल ॥२७७॥

को – अमृतचन्द्रज्योति (अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत् का लोप होकर अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है।

(यदि 'वत्' न रखकर '**अमृतचन्द्रस्वरूप ज्योति**' अर्थ किया जाये तो भेदरूपक अलङ्कार होता है। और '**अमृतचन्द्ररूपज्योति**' ही आत्मा का नाम कहा जाये तो अभेदरूपक अलङ्कार होता है।)

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि '**ध्वस्तमोह**' विशेषण अज्ञानांधकार का दूर होना बतलाता है, '**विमलपूर्ण**' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है; '**निःसपत्नस्वभाव**' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है और 'समंतात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्वकाल में प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है।

इस श्लोक में टीकाकार आचार्यदेव ने अपना '**अमृतचन्द्र**' नाम भी बताया है। समास बदलकर अर्थ करने से '**अमृतचन्द्र**' के और '**अमृतचन्द्रज्योति**' के अनेक अर्थ होते हैं जो कि यथासंभव जानने चाहिए ॥२७६॥

अब श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव दो श्लोक कहकर इस समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं।

'अज्ञानदशा में' आत्मा स्वरूप को भूलकर राग-द्वेष में प्रवृत्त होता था, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता बनता था, क्रिया के फल का भोक्ता होता था, इत्यादि भाव करता था; किन्तु अब ज्ञानदशा में वे भाव कुछ भी नहीं हैं ऐसा अनुभव किया जाता है। – इसी अर्थ का प्रथम श्लोक कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [यस्मात्] जिससे (अर्थात् जिस पर संयोगरूप बन्धपर्याय जनित अज्ञान से) **[पुरा]** प्रथम **[स्व-परयोः द्वैतम् अभूत्]** अपना और पर का द्वैत हुआ (अर्थात् स्व-पर के मिश्रितपनारूप भाव हुआ), **[यतः अत्र अन्तरं भूतं]** द्वैतभाव होने से जिससे स्वरूप में अन्तर पड़ गया (अर्थात् बन्धपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), **[यतः राग-द्वेष परिग्रहे सति]** स्वरूप में अन्तर पड़ने पर जिससे राग-द्वेष का ग्रहण हुआ, **[क्रिया-कारकैः जातं]** राग-द्वेष का ग्रहण होने पर जिससे क्रिया के कारक उत्पन्न हुए (अर्थात् क्रिया और कर्त्ता-कर्मादि कारकों का भेद पड़ गया), **[यतः च अनुभूतिः क्रियायाः अखिलं फलं भुञ्जाना खिन्ना]** कारक उत्पन्न होने पर जिससे अनुभूति क्रिया के समस्त फल को भोगती हुई खिन्न हो गई **[तत्**

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥२७८॥

विज्ञान-घन-ओघ-मग्नम्] वह अज्ञान अब विज्ञानघन समूह में मग्न हुआ (अर्थात् ज्ञानरूप में परिणमित हुआ) **[अधुना किल किञ्चित् न किञ्चित्]** इसलिये अब यह सब वास्तव में कुछ भी नहीं है।

भावार्थ :– परसंयोग से ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था; इसलिये अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ कि वहाँ वह (अज्ञान) कुछ भी नहीं रहा। अज्ञान के निमित्त से राग-द्वेष-क्रिया के कर्तृत्व, क्रिया के फल का (सुख-दुःख का) भोक्तृत्व आदि भाव हुए थे वे भी विलीन हो गये हैं; एकमात्र ज्ञान ही रह गया है। इसलिये अब आत्मा स्व-पर के त्रिकालवर्ती भावों को ज्ञाता-दृष्टा होकर जानते-देखते ही रहो ॥२७७॥

'पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानदशा में पर की क्रिया अपनी भासित न होने से, इस समयसार की व्याख्या करने की क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है' – इस अर्थ का, समयसार की व्याख्या करने के अभिमानरूप कषाय के त्याग का सूचक श्लोक अब कहते हैं :–

श्लोकार्थ :– [स्व-शक्ति-संसूचित-वस्तु-तत्त्वैः शब्दैः] जिनने अपनी शक्ति से वस्तु तत्त्व (यथार्थ स्वरूप) को भलीभाँति कहा है ऐसे शब्दों ने **[इयं समयस्य व्याख्या]** इस समय की व्याख्या (आत्मवस्तु का व्याख्यान अथवा समयप्राभृत शास्त्र की टीका) **[कृता]** की है; **[स्वरूप-गुप्तस्य अमृतचन्द्रसूरेः]** स्वरूप गुप्त (अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूप गुप्त) अमृतचन्द्रसूरि का (इसमें) **[किञ्चित् एव कर्तव्यम् न अस्ति]** कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है।

भावार्थ :– शब्द तो पुद्गल हैं। वे पुरुष के निमित्त से वर्ण-पद-वाक्यरूप से परिणमित होते हैं; इसलिये उनमें वस्तुस्वरूप को कहने की शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्द का और अर्थ का वाचक-वाच्य सम्बन्ध है। इसप्रकार द्रव्यश्रुत की रचना शब्दों ने की है यही बात यथार्थ है। आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप है; इसलिये वह मूर्तिक पुद्गल की रचना कैसे कर सकता है ? इसीलिये आचार्यदेव ने कहा है कि 'इस समयप्राभृत की टीका शब्दों ने की है, मैं तो स्वरूप में लीन हूँ, उसमें (टीका करने में) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है।' यह कथन आचार्यदेव की निरभिमानता को भी सूचित करता है।

अब यदि निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुष ने यह अमुक कार्य किया है। इस न्याय से यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही। इसलिये पढ़ने-सुनने वालों को उनका उपकार मानना भी युक्त है; क्योंकि इसके पढ़ने-सुनने से पारमार्थिक आत्मा का स्वरूप ज्ञात होता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्याज्ञान-श्रद्धान-आचरण दूर होता है और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥२७८॥

इति श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता।

इसप्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमत्-अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका समाप्त हुई।

(अब पण्डित जयचन्द्रजी भाषा टीका पूर्ण करते हुए कहते हैं :–)

(सवैया)

कुन्दकुन्द मुनि कियो गाथाबद्ध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूँ,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं;
देश की वचनिका में लिखि जयचन्द्र पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्प-बुद्धि कूँ पावनूँ,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानन्द दरसावनूँ।।१।।

(दोहा)

समयसार अविकार का, वर्णन कर्ण सुनन्त।
द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखन्त।।२।।

इसप्रकार इस समयप्राभृत (अथवा समयसार) नामक शास्त्र की आत्मख्याति नाम की संस्कृत टीका की देशभाषामय वचनिका लिखी है। इसमें संस्कृत टीका का अर्थ लिखा है और अति संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है। संस्कृत टीका में न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं। यदि उनका विस्तार किया जाये तो अनुमान प्रमाण के पांच अंगपूर्वक – प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन पूर्वक स्पष्टता से व्याख्या करने पर ग्रन्थ बहुत बढ़ जाये; इसलिये आयु, बुद्धि, बल और स्थिरता की अल्पता के कारण, जितना बन सका है उतना, संक्षेप से प्रयोजनमात्र लिखा है। इसे पढ़कर भव्यजन पदार्थ को समझना। किसी अर्थ में हीनाधिकता हो तो बुद्धिमानजन मूल ग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थ के गुरुसम्प्रदाय का (गुरुपरम्परागत उपदेश का) व्युच्छेद हो गया है, इसलिये जितना हो सके उतना यथाशक्ति अभ्यास हो सकता है। तथापि जो स्याद्वादमय जिनमत की आज्ञा मानते हैं; उन्हें विपरीत श्रद्धान नहीं होता। यदि कहीं अर्थ को अन्यथा समझना भी हो जाये तो विशेष बुद्धिमान का निमित्त मिलने पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमत के श्रद्धालु हठग्राही नहीं होते।

अब अन्तिम मङ्गल के लिये पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके ग्रन्थ को समाप्त करते हैं :–

मङ्गल श्री अरहन्त घातिया कर्म निवारे,
मङ्गल सिद्ध महन्त कर्म आठों परजारे,
आचारज उवज्झाय मुनि मङ्गलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनि कूँ तारे;

अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं,
मैं नमूँ पंचगुरुचरणकूँ मङ्गल हेतु करार हैं।।१।।

जैपुर नगर माँही तेरापंथ शैली बड़ी
बड़े-बड़े गुनी जहाँ पढ़ैं ग्रन्थसार है,
जयचन्द्र नाम मैं हूँ तिनि में अभ्यास किछू
कियो बुद्धिसारू धर्मरागतें विचार है;
समयसार ग्रन्थ ताको देश के वचनरूप
भाषा करी पढ़ो सुनौ करो निरधार है,
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय
गहो शुद्ध आतमकूँ, यहै बात सार है।।२।।

(दोहा)

संवत्सर विक्रम तणूँ, अष्टादश शत और।
चौसठि कातिक बदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर।।३।।

इसप्रकार श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत समयप्राभृत नामक प्राकृतगाथाबद्ध परमागम की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका अनुसार पण्डित श्री जयचन्द्रजी कृत संक्षेप भावार्थ मात्र देशभाषामय वचनिका के आधार से पण्डित श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

स्वपर प्रकाशक शक्ति हमारी।
तातैं वचन-भेद भ्रम भारी।।
ज्ञेय दशा दुविधा परगासी।
निजरूपा पररूपा भासी।।४६।।

निजरूपा आतम सकति, पररूपा पर वस्त।
जिन लखि लीनौ पैंच यह, तिन लखि लियौ समस्त।।४७।।

समयसार नाटक, पृष्ठ ३५७-३५८

अमृतचन्द्र मुनिराज कृत, पूरन भयौ गिरन्थ।
समयसार नाटक प्रगट, पंचम गति कौ पंथ।।५६।।

समयसार नाटक, पृष्ठ ३६३

तात्पर्यवृत्ति - अथ स्याद्वादाधिकार:

अत्र स्याद्वादसिद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति:।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते।।

चिंत्यते विचार्यते कथ्यते **मनाक्** संक्षेपेण **भूय:** पुनरपि। काऽसौ ? **वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति:** ? वस्तुतत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्याख्या। किमर्थम् ? **स्याद्वादशुद्ध्यर्थम्** स्याद्वादनिश्चयार्थम्। अत्र समयसारव्याख्याने समाप्तिप्रस्तावे न केवलं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चिन्त्यते, उपायोपेयभावश्च। **उपायो** मोक्षमार्गः **उपेयो** मोक्ष इति।

अतः परं **स्याद्वादशब्दार्थ: क:** ? – इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः – **स्यात् कथंचित् विवक्षित-प्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्प: कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वाद**ः स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनमित्यर्थः। तच्च भगवतः शासनं किं करोति ? सर्वं वस्तु, अनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति।

अनेकांत इति कोऽर्थ: ? इति चेत्, एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्पर-विरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादनं स्यादनेकांतो भण्यते। स चानेकांतः किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ **भावो** जीवपदार्थः शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेकात्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादिस्वभावात्मको भवतीति कथयति।

श्लोकार्थ – अब यहाँ स्याद्वाद की सिद्धि के लिये, वस्तुतत्त्व की व्यवस्थिति (व्याख्या) और उपायभाव एवं उपेयभाव का संक्षेप में पुन: विचार किया जाता है।

चिन्त्यते अर्थात् विचार करते हैं – कहते हैं। **मनाक्** संक्षेप में। **भूय:** फिर से। क्या विचार करते हैं? **वस्तुतत्त्वव्यवस्थिति:** वस्तु तत्त्व की अर्थात् वस्तुस्वरूप की व्यवस्थिति अर्थात् व्याख्या का विचार करते हैं। किसलिये? **स्याद्वादशुद्ध्यर्थं** अर्थात् स्याद्वाद की शुद्धि या निश्चय के लिये। यहाँ समयसार व्याख्यान के समाप्ति प्रस्ताव में न केवल वस्तु तत्त्व व्यवस्था का अपितु उपाय-उपेय भाव का भी विचार किया जाता है। उपाय मोक्षमार्ग है तथा उपेय मोक्ष है। इसके बाद स्याद्वाद **शब्दार्थ: क: ?** अर्थात् स्याद्वाद शब्द का क्या अर्थ है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं **– स्यात् कथंचित् विवक्षित प्रकारेणानेकान्तरूपेण वदनं वादो जल्प: कथनं प्रतिपादमिति स्याद्वाद:।** स्यात् अर्थात् कथंचित् या विवक्षित प्रकार से या अनेकांतरूप से कहना और वाद अर्थात् जल्प या कथन करना या प्रतिपादन करना ही स्याद्वाद है। और वह स्याद्वाद भगवान अरहंत का शासन अर्थात् उपदेश है। वह भगवान का शासन (उपदेश) क्या करता है ? भगवान का वह शासन सब वस्तुओं को अनेकान्तात्मक बतलाता है।

प्रश्न – अनेकान्त: इति कोऽर्थ: ? अनेकान्त का क्या अर्थ है ?

उत्तर – एक वस्तु में वस्तुपने को सिद्ध करने वाली अस्तित्व-नास्तित्वद्वय आदि स्वरूप परस्पर विरुद्ध सापेक्ष दो शक्तियों का जो प्रतिपादन है, उसको अनेकान्त कहते हैं।

प्रश्न – वह अनेकान्त क्या करता है ?

उत्तर – (वह अनेकान्त) ज्ञानमात्र जो यह भाव अर्थात् जीवपदार्थ, शुद्धात्मा है, वह ततूरूप-अततूरूप, एकात्मक-अनेकात्मक, सतूरूप-असतूरूप, नित्य-अनित्य स्वभावात्मक है – ऐसा कथन करता है। जैसे यह (आत्मा) ज्ञानरूप से ततूरूप है और (बाह्य पर) ज्ञेयरूप से अततूरूप है। द्रव्यार्थिक नय से एकरूप है,

तथाहि – ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति। ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति। द्रव्यार्थिकनयेनैकः। पर्यायार्थिकनयेनानेकः। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूपः। परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः। द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः। पर्यायार्थिकनयेनानित्यः। पर्यायार्थिकनयेन भेदात्मकः द्रव्यार्थिकनयेनाभेदात्मको भवतीत्याद्यनेकधर्मात्मक इति। तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समंतभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते – (स्वयंभूस्तोत्रे)

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः। सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते॥१०१॥
सर्वथा नियमत्यागी यथा दृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्॥१०२॥
अनेकांतोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात्॥१०३॥
धर्मिणोऽनंतरूपत्वं धर्माणां न कथंचन। अनेकांतोप्यनेकांत इति जैनमतं ततः॥

तात्पर्यवृत्ति टीका – एवं कथंचिच्छब्देन वाचकस्यानेकांतात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थः संक्षेपेण ज्ञातव्यः। तत्रैवमनेकांतव्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थः एकानेकात्मको जातः। तस्मिन्नेकानेकात्मके जाते सति

पर्यायार्थिक नय से अनेकरूप है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चतुष्टयरूप से सत्रूप है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चतुष्टयरूप से असत् रूप है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य है, पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। पर्यायार्थिक नय से भेदरूप है, द्रव्यार्थिक नय से अभेदरूप है। इत्यादि प्रकार से अनेक धर्मात्मक है यह आत्मा और उस ही स्याद्वादरूप को श्री समन्तभद्राचार्यदेव द्वारा (स्वयंभूस्तोत्र में) कहा गया है –

अर्थ – सत्, एक, नित्य और वक्तव्य तथा इनके विपरीत असत्, अनेक, अनित्य और अवक्तव्यरूप जो नय हैं, वे सर्वथा विशेषण लगाने से दोषपूर्ण होते हैं अर्थात् वस्तुस्वरूप को सदोष बनाते हैं और स्यात् अर्थात् कथंचित् विशेषण लगाने से वे परस्पर पोषक होते हैं अर्थात् वस्तु स्वरूप को पुष्ट करते हैं॥१०१॥

अर्थ – हे सर्वज्ञ भगवान ! आपके न्याय में स्यात् शब्द सर्वथा एकान्त का त्यागी है, जैसा कि प्रत्यक्ष देखने में आता है। परन्तु जो स्वयं ही स्वयं के शत्रु हैं ऐसे अन्य (एकान्तवादी) आत्म-विद्वेषियों के यहाँ यह स्यात् शब्द नहीं है॥१०२॥

अर्थ – हे भगवान ! आपके मत में अनेकान्त भी प्रमाण और नयरूप साधनों से युक्त होने के कारण अनेकान्तस्वरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्तस्वरूप है और विवक्षित नय की अपेक्षा एकान्त स्वरूप है अर्थात् वह अनेकान्त भी सर्वथा एकान्तरूप नहीं है, उसमें भी कथंचित् एकान्त और कथंचित् अनेकान्त सिद्ध होता है जो प्रमाण और नय द्वारा साधा जाता है॥१०३॥

अर्थ – धर्मी (आत्मा) में अनन्तरूपत्व है अर्थात् अनंतधर्म हैं किन्तु प्रत्येक धर्म अनंतरूप नही है, अनेकान्त में भी अनेकान्त है – यह जैनमत है।

तात्पर्यवृत्ति हिन्दी – इसप्रकार कथंचित् शब्द से वाचक स्यात् शब्द है जो अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादक है, यह संक्षेप में समझना चाहिये। वहाँ इस प्रकार अनेकान्त के व्याख्यान से ज्ञानमात्र भाववाला जीव पदार्थ भी एकात्मक-अनेकात्मक सिद्ध हुआ। उसके एकात्मक-अनेकात्मक की सिद्धि होने पर ज्ञानमात्र भावस्वरूप जीव पदार्थ का नय-विभाग से भेदाभेद रत्नत्रयात्मक निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गद्वयरूप से उपायभूत साधकरूप घटता है और मोक्षरूप से उपेयभूत साध्यरूप घटता है – ऐसा जानना चाहिये।

ज्ञानमात्रभावस्य जीवपदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूतं साधकरूपं घटते। मोक्षरूपेण पुनरुपेयभूतं साध्यरूपं च घटत इति ज्ञातव्यम्। अथ प्राभृताध्यात्मशब्दयोरर्थः कथ्यते। तद्यथा –

यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थम् किंचित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्माराधक पुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम्। कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः। रागादिपरद्रव्यनिरालंबनत्वेन निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्।

इदं प्राभृतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यम् ? **सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं,** निजनिरंजनशुद्धात्मसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूति-मात्रलक्षणेन स्वसंवेदनेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यो **भरितावस्थोऽहं।** रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभपंचेन्द्रियविषयव्यापार-मनोवचनकायव्यापारभावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्व-विभावपरिणामरहितः **शून्योऽहं।** जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवाः। इति निरन्तरं भावना कर्तव्या। इति स्याद्वादोऽधिकारः।

अब प्राभृत एवं अध्यात्म शब्द का अर्थ कहते हैं। वह इस प्रकार है –

जैसे कोई भी देवदत्त नामक पुरुष राजा के दर्शन के लिये जाता है और कुछ सारभूत वस्तु राजा को देता है उसे प्राभृत या भेंट कहते हैं। वैसे ही परमात्मा के आराधक पुरुष के निर्दोष परमात्मरूप राजा के दर्शन के लिये यह शास्त्र भी प्राभृत अर्थात् भेंट है। किस कारण से यह प्राभृत है ? सारभूत होने के कारण यह प्राभृत भेंट है। इस प्रकार प्राभृत शब्द का अर्थ है। **रागादि परद्रव्य के आलंबन से रहित विशुद्ध आधारभूत निज शुद्धात्मा में अनुष्ठान (लीनता – स्थिरता) करना ही अध्यात्म है।**

प्रश्न – इस प्राभृत शास्त्र को जानकर क्या करना चाहिये ?

समाधान – ऐसी निरंतर भावना करना चाहिये कि –

१. मैं सहजशुद्ध ज्ञानानन्द एक स्वभाव स्वरूप हूँ।

२. मैं निर्विकल्प हूँ।

३. मैं उदासीन हूँ।

४. मैं निज निरंजन शुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप सुखानुभूति लक्षणवाले स्वसंवेदन से संवेद्य, गम्य, प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) भरितावस्थ (परिपूर्ण – भरा हुआ) हूँ।

५. मैं राग-द्वेष-मोह, क्रोध-मान-माया-लोभ, पंचेन्द्रिय विषय व्यापार मन-वचन-काय व्यापार, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म, ख्याति-पूजा-लाभ, दृष्ट-श्रुत-अनुभूत भोगाकांक्षारूप निदान-माया-मिथ्यात्व शल्यत्रयादि सर्वविभाव परिणामों से शून्य हूँ।

६. तीनों लोकों में तथा तीनों कालों में भी मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध निश्चयनय से सर्व जीव उसी तरह शुद्ध हैं (जैसा मैं शुद्ध हूँ)।

इस प्रकार स्याद्वाद अधिकार समाप्त हुआ।

अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता। वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थम्। तेन कारणेन लिंग-वचन-क्रिया-कारक-सन्धि-समास-विशेष्य-विशेषण-वाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः। शुद्धात्मादि-तत्त्वप्रतिपादनविषये यदज्ञानात् किंचिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति।

जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
बुद्धि सिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स॥१॥
जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ जिणसासणं सुइरं॥२॥

यश्चाभ्यस्यति संश्रृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात्।
तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतम्॥
शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलं ज्ञानात्मकं केवलम्।
संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते॥३॥

इति श्री कुन्दकुन्ददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्य संबंधिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिकारैरेकोन-चत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृतिः समाप्ता।

(भव्य जीवों को) सुगमता से तत्त्व-बोध हो जाय इस प्रयोजन से यहाँ इस ग्रंथ में प्रचुरता से पदों की संधि नहीं की गई है और वाक्य भी भिन्न-भिन्न रखे गये हैं। इसी कारण से यदि लिंग-वचन-क्रिया-कारक-संधि-समास-विशेष्य-विशेषण-वाक्यसमाप्ति आदि (के विषय में कोई) दोष (रह गया) हो तो विवेकीजनों को वह दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये तथा शुद्धात्मा आदि तत्त्वों के प्रतिपादन के विषय में यदि अज्ञान से जो किंचित् विस्मृत हुआ हो (विस्मरण हो जाने से कुछ लिखना रह गया हो – छूट गया हो) तो क्षमा कर देना चाहिये।

गाथार्थ – वे पद्मनन्दि महर्षि (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) जयवन्त वर्तें, जिन्होंने महातत्त्व प्राभृतरूपी पर्वत को अपने बुद्धिरूपी सिर से उठाकर भव्यजीवों के लिये समर्पित किया है॥१॥

जिसका आश्रय लेकर भव्यजीव अनंत संसार सागर को पार कर जाते हैं, वह समस्त जीवों को शरणभूत रहने वाला जिनशासन सुचिरकाल तक जयवन्त वर्तें।

श्लोकार्थ – आत्मस्वरूप के रसिकजनों द्वारा वर्णित इस तात्पर्यवृत्ति नामक प्राभृत शास्त्र को जो कोई भी आदरपूर्वक भलीभाँति सुनेगा, पढ़ेगा, अभ्यास करेगा और इसकी प्रभावना करेगा, वह जीव शाश्वत निर्मल अदभुत् सकलज्ञान स्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके उसके आगे सदा के लिये मुक्तिरूपी ललना में अर्थात् मोक्षलक्ष्मी में आसक्त (लीन) रहेगा।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसारप्राभृत नामक ग्रन्थ से सम्बन्धित (जो) चार सौ उनचालीस गाथायें हैं, उसकी श्री जयसेनाचार्य द्वारा दस अधिकारों में लिखित तात्पर्यवृत्ति (संस्कृत टीका) समाप्त हुई। (और इस तात्पर्यवृत्ति टीका का हिन्दी भाषा में यह अनुवाद समाप्त हुआ।)

समाप्त

गाथाओं की वर्णानुक्रमणिका

	गाथा	पृष्ठ
अ		
अज्झवसाणणिमित्तं	२६७	४८९
अज्झवसिदेण बंधो	२६२	४८२
अट्ठवियप्पे कम्मे	१८२	३५७
अट्ठविहं पि य कम्मं	४५	११०
अण्णदविएण	३७२	६४९
अण्णाणमओ भावो	१२७	२५७
अण्णाणमया भावा	१२९	२६०
अण्णाणमया भावा	१३१	२६२
अण्णाणमोहिदमदी	२३	६८
अण्णाणस्स स उदओ	१३२	२६५
अण्णाणी कम्मफलं	३१६	५७२
अण्णाणी पुण रत्तो	२१९	४२५
अण्णो करेदि अण्णो	३४८	६१४
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	७०६
अपडिक्कमणं दुविहं	२८३	५१५
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे	२८४	५१५
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०	४१०
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११	४११
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२	४१३
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३	४१५
अपरिणमंतह्मि सयं	१२२	२४८
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं	३०७	५५५
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	१८७	३६७
अप्पाणमयाणंता	३९	१०२
अप्पाणमयाणंतो	२०२	३९४
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो	३४२	६०१
अप्पाणं झायंतो	१८९	३६७
अरसमरूवमगंधं	४९	११५
अवरे अज्झवसाणेसु	४०	१०२
असुहं सुहं व दव्वं	३८१	६५४
असुहं सुहं व रूवं	३७६	६५४
असुहो सुहो व गंधो	३७७	६५४
असुहो सुहो व गुणो	३८०	६५४
असुहो सुहो व फासो	३७९	६५४
असुहो सुहो व रसो	३७८	६५४
असुहो सुहो व सद्दो	३७५	६५३
अह जाणओ दु भावो	३४४	६०१
अह जीवो पयडी तह	३३०	५९३
अह ण पयडी ण जीवो	३३१	५९३
अह दे अण्णो कोहो	११५	२३९
अहमेक्को खलु सुद्धो दंसण	३८	९६
अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्म	७३	१६१
अहमेदं एदमहं	२०	६४
अहवा एसो जीवो	३२९	५९३
अहवा मण्णसि मज्झं	३४१	६०१
अह सयमप्पा परिणमदि	१२४	२४८
अह संसारत्थाणं	६३	१३८
अह सयमेव हि परिणमदि	११९	११९
आ		
आउक्खयेण मरणं	२४८	४७०
आउक्खयेण मरणं	२४९	४७०
आऊदयेण जीवदि	२५१	४७२
आऊदयेण जीवदि	२५२	४७२
आदह्मि दव्वभावे	२०३	३९८
आदा खु मज्झ णाणं	२७७	५०५
आधाकम्मं उद्देसियं	२८७	५१९
आधाकम्मादीया	२८६	५१९
आभिणिसुदोधिमण	२०४	४००
आयारादी णाणं	२७६	५०५
आयासं पि ण णाणं	४०१	६९६
आसि मम पुव्वभेदं	२१	६४
इ		
इणमण्णं जीवादो	२८	७६
इय कम्मबंधणाणं	२९०	५२७

	गाथा	पृष्ठ
उ		
उदओ असंजमस्स दु	१३३	२६५
उदयविवागो विविहो	१९८	३८८
उप्पण्णोदयभोगो	२१५	४१८
उप्पादेदि करेदि य	१०७	२३१
उम्मग्गं गच्छंतं	२३४	४४८
उवओगस्स अणाई	८९	१९७
उवओगे उवओगो	१८१	३५७
उवघादं कुव्वंतस्स	२३९	४५८
उवघादं कुव्वंतस्स	२४४	४६३
उवभोगमिंदियेहि	१९३	३७९
ए		
एक्कं च दोण्णि तिण्णि	६५	१४०
एकस्स दु परिणामो	१४०	२७१
एकस्स दु परिणामो	१३८	२७०
एदह्मि रदो णिच्चं	२०६	४०५
एदाणि णत्थि जेसिं	२७०	४९५
एदाहि य णिव्वत्ता	६६	१४०
एदे अचेदणा खलु	१११	२३४
एदे सव्वे भावा	४४	१०६
एदेण कारणेण दु	८२	१८०
एदेण कारणेण दु	१७६	३४१
एदेण दु सो कत्ता	९७	२१३
एदेसु य उवओगो	९०	१९९
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५	२६५
एदेहिं य सम्बन्धो	५७	१३०
एदं तु अविवरीदं	१८३	३५७
एमादि एदु विविहे	२१४	४१६
एमेव कम्मपयडी	१४९	३००
एमेव जीवपुरिसो	२२५	५८८
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६	११३
एमेव य ववहारो	४८	४३३
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७	६५५
एयं तु जाणिऊण	३८२	४८९
एयत्तणिच्छयगओ	३	१२
एयं तु असब्भूदं	२२	६४
एवमलिये अदत्ते	२६३	४८४
एवमिह जो दु जीवो	११४	२३९
एवह्मि सावराहो	३०३	५४८
एवं जाणदि णाणी	१८५	३६३
एवं ण कोवि मोक्खो	३२३	५८३
एवं णाणी सुद्धो	२७९	५०९
एवं तु णिच्छयणयस्स	३६०	६२८
एवं पराणि दव्वाणि	९६	२१०
एवं पोग्गलदव्वं	६४	१३८
एवं बंधो उ दुण्हं पि	३१३	५६८
एवं मिच्छादिट्ठी	२४१	४५८
एवं ववहारणओ	२७२	५००
एवं ववहारस्स उ	३५३	६२१
एवं ववहारस्स दु	३६५	६२९
एवं विहा बहुविहा	४३	१०२
एवं संखुवएस	३४०	६०१
एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं	२००	३९१
एवं सम्मादिट्ठी	२४६	४६४
एवं हि जीवराया	१८	५७
एसा दु जा मदी दे	२५९	४८०
क		
कणयमयाभावादो	१३०	२६२
कम्मइयवग्गणासु य	११७	२४३
कम्मं जं पुव्वकयं	३८३	६६३
कम्मं जं सुहमसुहं	३८४	६६३
कम्मं णाणं ण हवदि	३९७	६९६
कम्मं पडुच्च कत्ता	३११	५६३
कम्मं बद्धमबद्धं	१४२	२७५
कम्ममसुहं कुसीलं	१४५	२९४
कम्मस्स अभावेण य	१९२	३७२
कम्मस्स य परिणामं	७५	१६८
कम्मस्सुदयं जीवं	४१	१०२
कम्मे णोकम्मह्मि य	१९	५५
कम्मेहि दु अण्णाणी	३३२	५९९

	गाथा	पृष्ठ
कम्मेहि भमाडिज्जइ	३३४	५९९
कम्मेहि सुहाविज्जइ	३३३	५९९
कम्मोदएण जीवा	२५४	४७४
कम्मोदएण जीवा	२५५	४७४
कम्मोदएण जीवा	२५६	४७५
कहसो घिप्पइ अप्पा	२९६	५३८
कालो णाणं ण हवदि	४००	६९६
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४५	६१४
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४६	६१४
को णाम भणिज्ज बुहो	२०७	४०७
को णाम भणिज्ज	३००	५४६
कोहादिसु वट्टंतस्स	७०	१५३
कोहुवजुत्तो कोहो	१२५	२४८
ग		
गंधरसफासरूवा	६०	१३१
गंधो णाणं ण हवइ	३९४	६९५
गुणसण्णिदा दु एदे	११२	२३५
च		
चउविह अणेयभेयं	१७०	३३६
चारित्तपडिणिबद्धं	१६३	३१८
चेया उ पयडीअट्ठं	३१२	५६८
छ		
छिंददि भिंददि य तहा	२३८	४५८
छिंददि भिंददि य तहा	२४३	४६३
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२०९	४०९
ज		
जइ ण वि कुणदि	२८९	५२७
जइ जीवेण सह च्चिय	१३७	२७०
जइया इमेण जीवेण	७१	१५६
जइया स एव संखो	२२२	४२८
जं कुणदि भावमादा	९१	२००
जं कुणदि भावमादा	१२६	२५६
जं भावं सुहमसुहं	१०२	२२४
जं सुहमसहुमुदिण्णं	३८५	६६४
जदि जीवो ण सरीरं	२६	७३
जदि पोग्गलकम्ममिणं	८५	१८७
जदि सो परदव्वाणि य	९९	२१९
जदि सो पुग्गलदव्वी	२५	६८
जदा विमुःाए चेदा	३१५	५६९
जह कणयमग्गितवियं	१८४	३६३
जह कोवि णरो जंपदि	३२५	५८८
जह चेट्ठं कुव्वंतो	३५५	६२१
जह जीवस्स अणण्णुवओगो	११३	२३९
जह णवि सक्कमणज्जो	८	२२
जह णाम को वि पुरिसो राया	१७	५७
जह णाम को वि पुरिसो पर	३५	८९
जह णाम को वि पुरिसो	१४८	३००
जह णाम को वि पुरिसो	२३७	४५८
जह णाम को वि पुरिसो	२८८	५२७
जह परदव्वं सेडदि	३६१	६२८
जह परदव्वं सेडदि	३६२	६२९
जह परदव्वं सेडदि	३६३	६२९
जह परदव्वं सेडदि	३६४	६२९
जह पुण सो चिय	२२६	४३३
जह पुण सो चेव णरो	२४२	४६३
जह पुरिसेणाहारो	१७९	३५२
जह फलिहमणी सुद्धो	२७८	५०९
जह बंधे चिंतंतो	२९१	५२९
जह बंधे छित्तूण य	२९२	५३१
जह मज्जं पिवमाणो	१९६	३८५
जह राया ववहारा	१०८	२३२
जह विसमुवभुजंतो	१९५	३८३
जह सिप्पि उ कम्मफलं	३५२	६२०
जह सिप्पिओ दु कम्मं	३४९	६२०
जह सिप्पिओ दु करणाणि	३५१	६२०
जह सिप्पिओ दु करणेहिं	३५०	६२०
जह सिप्पिओ दु चिट्ठं	३५४	६२१
जह सेडिया दु	३५६	६२८

	गाथा	पृष्ठ		गाथा	पृष्ठ
जह सेडिया दु	३५७	६२८	जो इंदिये जिणित्ता	३१	८०
जह सेडिया दु	३५८	६२८	जो कुणदि वच्छलत्तं	२३५	४४९
जह सेडिया दु	३५९	६२८	जो चत्तारि वि पाए	२२९	४३३
जह्मा कम्मं कुव्वदि	३३५	५९९	जो चेव कुणदि	३४७	६१४
जह्मा घादेदि परं	३३८	६००	जो जह्मि गुणे दव्वे	१०३	२२६
जह्मा जाणदि णिच्चं	४०३	६९७	जो ण करेदि दुगुंछ	२३१	४४५
जह्मा दु अत्तभावं	८६	१८९	जो ण कुणदि अवराहे	३०२	५४८
जह्मा दु जहण्णादो	१७१	२५७	जो ण मरदि ण य दुहिदो	२५८	४७८
जा एस पयडीअट्ठं चेया	३१४	५६९	जो दु ण करेदि कंखं	२३०	४४४
जावं अपडिक्कमणं	२८५	५१५	जोधेहिं कदे जुद्धे	१०६	२३०
जावण वेदि विसेसंतरं	६९	१५३	जो पस्सदि अप्पाणं	१४	४३
जिदमोहस्स दु जइया	३३	८४	जो पस्सदि अप्पाणं	१५	५०
जीवणिबद्धा एदे	७४	१६३	जो पुण णिरवराधो	३०५	५५१
जीव परिणामहेदुं	८०	१८०	जो पोग्गल दव्वाणं	१०१	२२२
जीवह्मि हेदुभूदे	१०५	२२९	जो मण्णदि जीवेमि य	२५०	४७१
जीवस्स जीवरूवं	३४३	६०१	जो मण्णदि हिंसामि य	२४७	४६८
जीवस्स जे गुणा केइ	३७०	६४३	जो मरदि जो य दुहिदो	२५७	४७८
जीवस्स णत्थि केई	५३	१२१	जो मोहं तु जिणित्ता	३२	८२
जीवस्स णत्थि रागो	५१	१२१	जो वेददि वेदिज्जदि	२१६	४२०
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२	१२१	जो समयपाहुडमिणं	४१५	७२२
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०	१२१	जो सव्वसंगमुक्को	१८८	३६७
जीवस्स दु कम्मेण य	१३९	२७१	जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२३३	४४७
जीवस्साजीवस्स दु	३०९	५६३	जो सुदणाणं सव्वं	१०	२४
जीवादीसद्दहणं	१५५	३१०	जो सो दु णेहभावो तम्हि	२४०	४५८
जीवे कम्मं बद्धं	१४१	२७४	जो सो दु णेहभावो	२४५	४६४
जीवे ण सयं बद्धं	११६	२४३	जो हवदि असम्मूढो	२३२	४४६
जीवो कम्मं उहयं	४२	१०२	जो हि सुएणहिगच्छइ	९	२४
जीवो चरित्तदंसण	२	९	**ण**		
जीवो चेव हि एदे	६२	१३६	ण कुदोचि वि उप्पण्णो	३१०	५६३
जीवो ण करेदि घडं	१००	२२०	णज्झवसाणं णाणं	४०२	६९६
जीवो परिणामयदे	११८	२४३	णत्थि दु आसवबंधो	१६६	२५२
जीवो बंधो य तहा	२९४	५३४	णत्थि मम को वि मोहो	३६	९१
जीवो बंधो य तहा	२९५	५३७	णत्थि मम धम्मआदी	३७	९४
जो अप्पणा दु मण्णदि	२५३	४७३	ण दु होदि मोक्खमग्गो	४०९	७०८

	गाथा	पृष्ठ
ण मुयदि पयडिमभव्वो	३१७	५७३
णयरम्मि वण्णिदे जह	३०	७८
ण य रायदोसमोहं	२८०	५११
ण रसो दु हवइ णाणं	३९५	६९५
ण वि एस मोक्खमग्गो	४१०	७१०
णवि कुव्वदि कम्मगुणे	८१	१८०
णवि कुव्वइ णवि वेयइ	३१९	५७७
णवि परिणमदि ण गिह्णदि	७६	१७२
णवि परिणमदि ण गिह्णदि	७७	१७४
ण वि परिणमदि ण गिह्णदि	७८	१७६
ण वि परिणमदि ण गिह्णदि	७९	१७८
णवि सक्कदि घित्तुं जं	४०६	७०६
णवि होदि अप्पमत्तो	६	१८
स सयं वद्धो कम्मे	१२१	२४८
णाणं सम्मादिट्ठिं	४०४	६९७
णाणगुणेण विहीणा	२०५	४०३
णाणमधम्मो ण हवदि	३९९	६९६
णाणमया भावाओ	१२८	२६०
णाणस्स दंसणस्स य	३६९	६४३
णाणस्स पडिणिबद्ध	१६२	३१८
णाणावरणादीयस्स	१६५	३२६
णाणी रागप्पजहो	२१८	४२५
णादूण आसवाणं	७२	१५८
णिदिदसंथुयवयणाणि	३७३	६५३
णिच्चं पच्चक्खाणं	३८६	६६४
णिच्छयणयस्स	८३	१८३
णियमा कम्मपरिणदं	१२०	२४३
णिव्वेयसमावण्णो	३१८	५७५
णेव य जीवट्ठाणा	५५	१२३
णो ठिदिबंधट्ठाणा	५४	१२२
त		
तं एयत्तविहत्तं	५	१६
तं खलु जीवणिबद्धं	१३६	२६५
तं णिच्छये ण जुज्जदि	२९	७७
तं जाणं जोगउदयं	१३४	२६५
तत्थ भवे जीवाणं	६१	१३४
तह जीवे कम्माणं	५९	१३१
तह णाणिस्स दु पुव्वं	१८०	३५२
तह णाणिस्स वि विविहे	२२१	४२८
तह णाणी वि हु जइया	२२३	४२८
तह वि य सच्चे दत्ते	२६४	४८४
तह्मा दु जो विशुद्धो	४०७	७०६
तह्मा जहित्तु लिंगे	४११	७११
तह्मा ण कोवि जीवो	३३७	६००
तह्मा ण कोवि जीवो	३३९	६००
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा	३२७	५८८
तह्मा दु कुसीलेहिं य	१४७	२९९
तिविहो एसुवओगो	९४	२०६
तिविहो एसुवओगो	९५	२०८
तेसिं पुणो वि य इमो	११०	२३४
तेसिं हेऊ भणिदा	१९०	३७१
थ		
थेयादी अवराहे	३०१	५४८
द		
दंसणणाणचरित्तं	१७२	३३८
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६६	६४३
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६७	६४३
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६८	६४३
दंसणणाणचरित्ताणि	१६	५४
दव्वगुणस्स य आदा	१०४	२२७
दवियं जं उप्पज्जइ	३०८	५६३
दव्वे उवभुंजते	१९४	३८१
दिट्ठी जहेव णाणं	३२०	५७८
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६६	४८८
दुक्खिदसुहिदे सत्ते	२६०	४८०
दोण्हवि णयाण भणियं	१४३	२८४
ध		
धम्माधम्मं च तहा	२६९	४९२
धम्मो णाणं ण हवदि	३९८	६९६

	गाथा	पृष्ठ
प		
पंथे मुस्संतं पस्सिदूण	५८	१३१
पक्के फलह्मि पडिए	१६८	३३२
पज्जत्तापज्जत्ता	६७	१४२
पडिकमणं पडिसरणं	३०६	५५५
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा	२९७	५३९
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा	२९९	५४२
पण्णाए घित्तव्वो दट्ठा	२९८	५४२
परमट्ठबाहिरा जे	१५४	३०८
परमट्ठह्मि दु अठिदो	१५२	३०५
परमट्ठो खलु समओ	१५१	३०३
परमप्पाणं कुव्वं	९२	२०२
परमप्पाणमकुव्वं	९३	२०४
परमाणुमित्तयं पि हु	२०१	३९४
पासंडीलिंगाणि व	४०८	७०८
पासंडीलिंगेसु व	४१३	७१५
पुढवीपिंडसमाणा	१६९	३३४
पुरिसित्थियाहिलासी	३३६	६००
पुरिसो जह को वि	२२४	४३३
पोग्गलकम्मं कोहो	१२३	२४८
पोग्गलकम्मं मिच्छं	८८	१९६
पोग्गलकम्मं रागो	१९९	३८९
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं	३७४	६५३
फ		
फासो ण हवइ णाणं	३९६	६९५
ब		
बंधाणं च सहावं	२९३	५३३
बंधुवभोगणिमित्ते	२१७	४२२
बुद्धी ववसाओ वि य	२७१	४९८
भ		
भावो रागादिजुदो	१६७	३३१
भुंजंतस्स वि विविहे	२२०	४२८
भूदत्थेणाभिगदा	१३	३६
म		
मज्झं परिग्गहोजदि	२०८	४०८
मारिमि जीवावेमि य	२६१	४८१
मिच्छत्तं अविरमणं	१६४	३२६
मिच्छत्तं जइ पयडी	३२८	५९३
मिच्छत्तं पुण दुविहं	८७	१९४
मोक्खं असद्दहंतो	२७४	५०२
मोक्खपहे अप्पाणं	४१२	७१३
मोत्तूण णिच्छयट्ठं	१५६	३१२
मोहणकम्मस्सुदया	६८	१४४
र		
रत्तो बंधदि कम्मं	१५०	३०१
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव	३७१	६४४
रागो दोसो मोहो य	१७७	३४६
रागह्मि य दोसह्मि य	२८१	५१३
रागह्मि य दोसह्मि य	२८२	५१४
राया हु णिग्गदो त्तिय	४७	११३
रूवं णाणं ण हवइ	३९२	६९५
ल		
लोयसमणाणमेयं	३२२	५८३
लोयस्स कुणइ विण्हू	३२१	५८३
व		
वंदित्तु सव्वसिद्धे	१	५
वण्णो णाणं ण हवइ	३९३	६९५
वत्थस्स सेदभावो	१५७	३१४
वत्थस्स सेदभावो	१५८	३१४
वत्थस्स सेदभावो	१५९	३१४
वत्थुं पडुच्च जं पुण	२६५	४८५
वदणियमाणि धरन्ता	१५३	३०६
वदसमिदीगुत्तीओ	२७३	५०१
ववहारणओ भासदि	२७	७४
ववहारभासिदेण	३२४	५८८
ववहारस्स दरीसण	४६	१११
ववहारस्स दु आदा पोग्गल	८४	१८५

	गाथा	पृष्ठ
ववहारिओ पुण णओ	४१४	७१७
ववहारेण दु आदा करेदि	९८	२१८
ववहारेण दु एदे	५६	१२९
ववहारेणुवदिस्सइ	७	२०
ववहारोऽभूदत्थो	११	२८
विज्जारहमारूढ़ो	२३६	४५०
वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं	३८७	६६८
वेदंतो कम्मफलं मए	३८८	६६८
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो	३८९	६६८
स		
संता दु णिरुवभोज्जा	१७५	३४१
संसिद्धिराधसिद्धं	३०४	५५१
सत्थं णाणं ण हवइ	३९०	६९५
सद्दहदि य पत्तेदि य	२७५	५०४
सद्दो णाणं ण हवइ	३९१	६९५
सम्मत्तपडिणिबद्धं	१६१	३१८
सम्मदिट्ठी जीवा	२२८	४३७
सम्मद्दंसणणाणं	१४४	२८६
सव्वण्हुणाणदिट्ठो	२४	६८
सव्वे करेदि जीवो	२६८	४९२
सव्वे पुव्वणिबद्धा	१७३	३४१
सव्वे भावे जह्मा	३४	८७
सामण्णपच्चया खलु	१०९	२३४
सुदपरिचिदाणुभूदा	४	१४
सुद्धं तु वियाणंतो	१८६	३६४
सुद्धो सुद्धादेसो	१२	३०
सेवंतो वि ण सेवदि	१९७	३८६
सोवण्णियं पि णियलं	१४६	२९८
सो सव्वणाणदरिसी	१६०	३१७
ह		
हेउअभावे णियमा	१९१	३७१
हेदू चदुवियप्पो	१७८	३४६
होदूण णिरुवभोज्जा	१७४	३४१

तात्पर्यवृत्ति अतिरिक्त गाथाओं की वर्णानुक्रमणिका

	गाथा	पृष्ठ
आदा खु मज्झ णाणे	३	५४
आधाकम्मं उद्देसियं	२६	५२३
आधाकम्मादीया	२५	५२३
उवदेसेण परोक्खं रूवं	११	३७०
कत्ता आदा भणिदो	६	१७१
कम्मं हवेइ किट्टं	१६	४२७
कह एस तुज्झ ण	१३	३९१
कायेण दुक्खवेमिय सत्ते	१९	४९१
कायेण च वाचा वा	२३	४९२
को विदिदच्छो साहू	१२	३७०
जं कुणदि भावमादा	५	६३
जह संखो पोग्गलदो	१८	४३२
जा संकप्पवियप्पो ता	२४	४९७
जीवे व अजीवे वा	४	६३
जो आद भावणमिणं	२	२७
जो धम्मं तु मुइत्ता	१०	२५५
जो मोहं तु मुइत्ता	९	२५५
जो संगं तु मुइत्ता	८	२५४
झाणं हवेइ अग्गी	१७	४२७
णागफणीए मूलं	१५	४२७
णाणम्मि भावना खलु	१	२७
धम्मच्छि अधम्मच्छि	१४	४१३
पुग्गलकम्मणिमित्तं जह	७	१९३
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते	२१	४९१
वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते	२०	४९१
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते	२२	४९१
सम्मत्ता जदि पयडी	२७	५९७

कलशों की वर्णानुक्रमणिका

	कलश	पृष्ठ
अ		
अकर्ता जीवोऽयं	१९५	५६५
अखंडितमनाकुलं	१४	५१
अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव	१४४	४०६
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति	१४१	४०२
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव	५७	२१४
अज्ञानमयभावानामज्ञानी	६८	२६३
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	४७६
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया	५८	२१५
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	२१७
अज्ञानी प्रकृति स्वभाव	१९७	५७३
अतो हताः प्रमादिनो	१८८	५५७
अतः शुद्धनयायत्तं	७	३५
अत्यंतं भावयित्वा विरति	२३३	६८९
अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं	२४७	७२८
अथ महामदनिर्भरमंथरं	११३	३२५
अद्वैतापि हि चेतना	१८३	५४४
अध्यास्य शुद्धनय	१२०	३४८
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५९	७४०
अनंतधर्मणस्तत्त्वं	२	३
अनवरतमनंतै-	१८७	५५२
अनाद्यनंतमचलं	४१	१४६
अनेनाध्यवसायेन	१७१	४९०
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं	२३५	७०२
अयि कथमपि मृत्वा	२३	७१
अर्थालंबनकाल एव कलयन्	२५७	७३८
अलमलमतिजल्पै-	२४४	७१८
अवतरति न यावद	२९	९०
अविचलितचिदात्म	२७६	७५६
अस्मिन्ननादिनि	४४	१४८
आ		
आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	९३	२८७
आत्मनश्चिंतयैवालं	१९	५६
आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६	१९२
आत्मस्वभावं परभावभिन्नम्	१०	४१
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	२१७
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि-	२०८	६१६
आत्मानुभूतिरिति	१३	४७
आसंसारत एव धावति	५५	१९१
आसंसारविरोधिसंवर	१२५	३५६
आसंसारात्प्रतिपदममी	१३८	३९६
इ		
इति परिचिततत्त्वै	२८	८५
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी	१७६	५११
इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी	१७७	५१२
इति सति सह	३१	९५
इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४६	७२४
इतः पदार्थप्रथनावगुंठना-	२३४	६९०
इतो गतमनेकतां	२७३	७५४
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना	४५	१४८
इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५	४०९
इत्यज्ञानविमूढानां	२६२	७४१
इत्याद्यनेकनिजशक्ति	२६४	७४७
इत्यालोच्य विवेच्य	१७८	५२१
इत्येवं विरचय्य संप्रति	४८	१५८
इदमेकं जगच्चक्षु-	२४५	७१९
इदमेवात्र तात्पर्यं	११२	३५३
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	२८३

	कलश	पृष्ठ
उ		
उदयति न नयश्री-	९	४०
उन्मुक्तमुन्मोच्यशेषतस्तत्	२३६	७०२
उभयनयविरोध-	४	३२
ए		
एकज्ञायकभावनिर्भर-	१४०	३९९
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	८५
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	३४
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९	३९९
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४	५४५
एकस्य कर्ता	७४	२७९
एकस्य कार्यं	७९	२८०
एकस्य चेत्यो	८६	२८२
एकस्य चैको	८१	२८१
एकस्य जीवो	७६	२७९
एकस्य दुष्टो	७३	२७९
एकस्य दृश्यो	८७	२८२
एकस्य नाना	८५	२८२
एकस्य नित्यो	८३	२८१
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०	२७७
एकस्य भातो	८९	२८२
एकस्य भावो	८०	२८०
एकस्य भोक्ता	७५	२७९
एकस्य मूढो	७१	२७८
एकस्य रक्तो	७२	२७८
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	५९०
एकस्य वाच्यो	८४	२८१
एकस्य वेद्यो	८८	२८२
एकस्य सांतो	८२	२८१
एकस्य सूक्ष्मो	७७	२८०
एकस्य हेतु	७८	२८०
एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं	१६०	४४१
एक: परिणमति सदा	५२	१९०
एक: कर्ता चिदहमिह	४६	१५२
एको दूरात्त्यजति मदिरां	१०१	२९४
एको मोक्षपथो य एष	२४०	७१४
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	७०७
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३	७४२
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा	१५	५२
एषैकैव हि वेदना	१५६	४३९
क		
कथमपि समुपात्त	२०	५९
कथमपि हि लभंते	२१	६२
कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९	२९०
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	२९०
कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२	४३१
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०९	६१७
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९४	५६२
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	३०२
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकै:	२०४	५९६
कषायकलिरेकत:	२७४	७५५
कांत्यैव स्नपयंति य	२४	७३
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	५९५
कृतकारितानुमननै	२२५	६६९
क्लिश्यंतां स्वयमेव	१४२	४०२
क्वचिल्लसति मेचकं	२७२	७५४
घ		
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०	१७३
च		
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व	३६	११९
चित्पिंडचंडिमविलासिविकास	२६८	७५१
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२७०	७५२

	कलश	पृष्ठ
चिरमिति नवतत्त्व	८	३८
चित्स्वभावभरभावितभावा	९२	२८५
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६	३५९
ज		
जयति सहजतेजः	२७५	७५६
जानाति यः स न करोति	१६७	४६७
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	२३३
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	१०१
जीवादजीवमिति	४३	१४७
ट		
टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा	२६१	७४१
टंकोत्कीर्णस्वरसनिचित्त	१६१	४४२
त		
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	३८२
तथापि न निरर्गलं	१६६	४६६
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	२५३
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	४३५
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	५५८
त्यजतु जगदिदानीं	२२	६६
द		
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा	२३९	७१२
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा	१६	५५
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः	१७	५५
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४	२८८
द्रव्यलिंगममकारमीलितै-	२४३	७१६
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच	१८०	५२६
ध		
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने	१२३	३५३
न		
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	४६१
न जातु रागादि	१७५	५१०
ननु परिणाम एव किल	२११	६२३
नमः समयसाराय	१	१
न हि विदधति बद्ध	११	४६
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	३८५
नास्ति सर्वोऽपि संबंधः	२००	५८४
निजमहिमरतानां	१२८	३६८
नित्यमविकारसुस्थित	२६	७९
निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्	३८	१४१
निःशेषकर्मफल	२३१	६८८
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	३०२
नीत्वा सम्यक् प्रलय	१९३	५६२
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	१९१
नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव	२६५	७४८
नोभौ परिणामतः खलु	५३	१९१
प		
पदमिदं ननु कर्मदुरासदं	१४३	४०४
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	५४७
परपरिणतिहेतो	४	३२
परपरिणतमुज्झत्	४७	१६०
परमार्थेन तु व्यक्त	१८	५६
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२२	६५८
पूर्वबद्धनिजकर्म	१४६	४१७
पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये	२५६	७३८
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१	३४८
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	५३६
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर	२५२	७३५
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	६७८
प्रमादकलितः कथं भवति	१९०	५५८
प्राकारकवलितांबर	२५	७८
प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं	१५९	४४०
प्रादुर्भावविराममुद्रित	२६०	७४०

	कलश	पृष्ठ
ब		
बंधच्छेदात्कलयदतुलं	१९२	५५९
बहिर्लुठति यद्यपि	२१२	६२४
बाह्याथग्रहणस्वभावभरतो	२५०	७३४
बाह्यार्थै:परिपीतमुज्झित	२४८	७३३
भ		
भावयेद्भेदविज्ञान	१३०	३७४
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५	३३५
भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४	३३३
भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण	१८२	५४१
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य	२५४	७३६
भूतं भांतमभूतमेव	१२	४७
भेदज्ञानोच्छलन	१३२	३७५
भेदविज्ञानत: सिद्धा:	१३१	३७४
भेदोन्मादं भ्रमरसभरा	११२	३२२
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९६	५७१
म		
मग्ना: कर्मनयावलंबनपरा	१११	३२१
मज्जंतु निर्भरममी	३२	९७
मा कर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	६०७
मिथ्यादृष्टे: स एवास्य	१७०	४७९
मोक्षहेतुतिरोधानाद	१०८	३१३
मोहविलासविजृम्भित	२२७	६७६
मोहाद्यदहमकार्षं	२२६	६७३
य		
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६९	२७७
यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	६२५
यत्सन्नाशमुपैति तत्र नियतं	१५७	४३९
यदि कथमपि धारावाहिना	१२७	३६५
यदिह भवति रागद्वेष	२२०	६५१
यदेतद् ज्ञानात्मा	१०५	३०७
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८९	५५७
यस्माद् द्वैतमभूत्परा	२७७	७५७
य: करोति स करोति केवलं	९६	२८९
य: परिणमति स कर्ता	५१	१९०
य: पूर्वभावकृतकर्म	२३२	६८९
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	४२६
यावत्पाकमुपैति कर्मविरति	११०	३२०
ये तु कर्तारमात्मानं	१९९	५८०
ये तु स्वभावनियमं	२०२	५९०
ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	७१४
ये ज्ञानमात्रनिजभावमयी	२६६	७५०
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७१	७५३
र		
रागजन्मनि निमित्ततां	२२१	६५२
रागद्वेषद्वयमुदयते	२१७	६३९
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२३	६५९
रागद्वेषविमोहानां	११९	३४४
रागद्वेषा विहहि भवति	२१८	६४७
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या	२१९	६४७
रागादयो बंधनिदानमुक्ता	१७४	५०७
रागादीनामुदयमदयं	१७९	५२२
रागादीना झगिति विगमात्	१२४	३५४
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३	३७८
रागोद्गारमहारसेन सकलं	१६३	४५७
रुंधन् बंधं नवमिति	१६२	४५३
ल		
लोक कर्म: ततोऽस्तु	१६५	४६५
लोक: शाश्वत एक एष	१५५	४३८
व		
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु	३९	१४१
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	३७	१२६

	कलश	पृष्ठ
वर्णाद्यै: सहितस्तथा	४२	१४६
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	६२४
विकल्पक: परं कर्ता	९५	२८९
विगलंतु कर्मविषतरु	२३०	६७९
विजहति न हि सत्तां	११८	३४४
विरम किमपरेणाकार्य	३४	१०८
विश्रांत: परभावभावकलना	२५८	५६६
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा	१७२	४९४
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य	२४९	७३३
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	३१३
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६	३१३
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं	२०७	६०९
वेद्यवेदकविभावचलत्वाद	१४७	४२१
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३७	७०३
व्यवहरणनय: स्याद्यद्यपि	५	३३
व्यवहारविमूढदृष्टय:	२४२	७१६
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	१६९
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	६१८
श		
शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित	२१५	६३८
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं	२१६	६३९
स		
सकलमपि विहायाह्नाय	३५	११९
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२९	६७९
संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६	३३९
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०९	३१९
संपद्यते संवर एष	१२९	२८८
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४	४३५
सम्यग्दृष्टय: स्वयमयमहं	१३७	३९२
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	३८७

	कलश	पृष्ठ
सर्वत स्वरसनिर्भरभावं	३०	९२
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	४९८
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	७३६
सर्वस्यामेव जीवत्यां	११७	३४०
सर्वं सदैव नियतं	१६८	४७६
सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्त	१८५	५४७
स्थितेति जीवस्य निरंतराया	६५	२५०
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४	२४५
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल	२६७	७५०
स्याद्वाददी पितलसन्महसि	२६९	७५२
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै	२७८	७५८
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध	२५५	७३७
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प	९०	२८३
स्वं रूपं किल वस्तुनो-	१५८	४४०
ह		
हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	२९६
क्ष		
क्षणिकमिदमिहैक:	२०६	६०८
ज्ञ		
ज्ञप्ति: करोतौ न हि	९७	२८९
ज्ञानमय एव भाव:	६६	२५९
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९	४२३
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्य	२२४	६६५
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो	६०	२१६
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९	२१६
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	४३०
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	४२३
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता:	६७	२६१
ज्ञानी करोति न	१९८	५७६
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	१७९
ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति	२५१	७३५